भाषा टीकासहित

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

(प्रथम भाग)

श्रीमद्गोपालभट्टगोस्वामी।

मूल्य ५) रुपया

श्रीश्रीराधा-मदनगोपालदेवो जयति ।

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः ।

श्रीमत् श्रीकृष्णचैतन्य-चरणसरसीरुह-चञ्चरीक गौड़ेश्वराचार्य्य—

श्रीमद्गोपालभट्टगोस्वामि विरचितः ।

श्रीकन्हैयालाल मिश्रकृत भाषा-टीकया समेतः ।

एवं

भागवतभूषणोपाधिक-

श्रीकृष्णचन्द्र शर्म्मणा संशोधितः ।

(पूर्व्वार्द्ध)

छत्रपुराधीश्वर-

श्रीमन्महाराज विश्वनाथसिंह बाहादुरस्य—

सम्पूर्ण साहाय्येन

श्रीधाम वृन्दावनस्थ

" श्रीमदनगोपाल " नामक यन्त्रे—

श्रीविश्वम्भरनाथशर्म्म व्रजवासिना

मुद्रितः प्रकाशितश्च ।

सम्वत् १९६५

निवेदन ।

यदि वा इस देश के मनुष्यगण—समस्तशास्त्ररूपी वृक्ष के मूलस्वरूप सनातन-वेदानुवर्त्ती पुराण-तन्त्र प्रभृति में अपने अपने इष्टों की उपासना-भेद से—वैष्णव, शाक्त, शैव और गाणपत्यादिरूप विविध उपाधि स्वीकार करके पृथक् पृथक् ग्रन्थानुसार विहित नित्य-नैमित्तिक क्रिया-कलाप का अनुष्ठान किया करते हैं; तब भी वैष्णव विना और सब सम्प्रदाय के मनुष्यही अपने अपने वर्णाश्रमोचित दैव-पित्रादि कर्म्म—स्मार्त्त-शूलपाणि, हेमाद्रि, रघुनन्दन-प्रभृति महामहोपाध्याय निवन्धकारगणों के बनाए हुए निवन्ध-ग्रन्थों से निर्व्वाह किया करते हैं। परन्तु गौड़ीय श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य-देव की सम्प्रदाय के वैष्णव-गण, अनान्यव्यवस्थापक ग्रन्थ रहने से भी उपासना-घटित और आश्रमोचित निखिल कर्म्मों को अच्छी तरह से सम्पादन करने की इच्छा से, सब से उत्तम "श्रीमद्हरिभक्तिविलास" ग्रन्थ का ही अवलम्बन करके नित्य-नैमित्तिक दैव-पित्रादि कार्य्यों का अनुष्ठान करते हैं। जो "श्रीहरिभक्तिविलास" ग्रन्थ सर्व्वाश्रमी भगवद्भक्तों का आवश्यकीय (जरूरी) नित्य-नैमित्तिकादि कृत्य देखने का स्वच्छ (साफ) दर्पणस्वरूप है; अतएव सर्व्वाश्रमी वैष्णवों को, विशेष करके गृहस्थ वैष्णवों को देवता के तुल्य इस ग्रन्थ को अपने अपने घर में रखकर पूजा करनी उचित है। षड्-संख्यक (छै) आचार्य्यों के बीच में इस ग्रन्थ के प्रथम निवन्धकर्त्ता (इकट्ठे करने वाले) श्रीमद्गौड़ेश्वर-"श्रीचैतन्य महाप्रभु" के सम्प्रदाय के एकतम आचार्य्य तदीय चरणानुचर पूज्यपाद "श्रीमद्गोपाल भट्ट गोस्वामी"; इन नें पहिले संक्षेप से इस ग्रन्थ को निवद्ध करके, उक्त सम्प्रदाय के आचार्य्य-शिरोमणि सर्व्वज्येष्ठ पूज्यपाद "श्रीमत् सनातन गोस्वामी" को शोधन करने के लिये अर्पण किया; पीछे उन (श्रीसनातन गोस्वामी) नें इस ग्रन्थ को बढ़ाकर अपनी टीका में वैष्णव सिद्धान्तों का आविष्कार करके, कलि-मलकलुषित-चित्त मनुष्यों का परम उपकार किया है। प्रतिष्ठात्यागी महात्मा श्रीसनातन गोस्वामिपाद नें ग्रन्थ के प्रथम निवन्धकर्त्ता के नाम से ही इस ग्रन्थ का प्रचार किया है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थ-कर्त्ता का जैसा हरिभक्तिपरायणत्व और असाधारण पाण्डित्य प्रकाशित हुआ है, वैसा और किसी निवन्ध-ग्रन्थ में भी दिखाई नहीं देता।

इस ग्रन्थ में—श्रीगुरुपादाश्रय, गुरुशिष्य-परीक्षा, दीक्षा, वैष्णवगणों की नित्य पूजादि—अवश्यकर्त्तव्य नित्य-कृत्यादि, श्रीएकादशी, श्रीजन्माष्टमी-व्रत प्रभृति मास-कृत्यानुष्ठान, श्रीमूर्त्ति-निर्म्माण, तत्प्रतिष्ठादि—उपासना सम्बन्धीय कामों की विधि (ग्रन्थ के सूची-पत्र में सम्पूर्ण विवरण देखिये) यथाक्रम से संग्रह करके ग्रन्थ-कर्त्ता नें वैष्णव-समाज का महोपकार साधन किया है।

हाल में यह ग्रन्थ—कलकत्ता प्रभृति वङ्गदेश में वङ्गला अक्षरों में बहुत छपा है, परन्तु देवाक्षर में (हिन्दी अक्षरों में) अभी तक कहीं भी किसी नें नहीं छपवाया है, इसी लिये दरिद्र और क्षुद्रमति होकर भी मैंने—श्रीचैतन्य-सम्प्रदायभुक्त सदाशय श्रीहरिभक्तिपरायण वदान्यप्रवर छत्रपुराधीश्वर श्रील श्रीमन्महाराज—"विश्वनाथसिंह" बाहादुर के सम्पूर्ण अर्थ-साहाय्य और उत्साह से पुराने पुराने वहुत से ग्रन्थ संग्रह करके उसी सम्प्रदाय के पण्डित-द्वारा मूल-संशोधन कराकर, सर्व्वसाधारण का सहज में वोध होने के लिये मूल-टीका के अनुसार भाषा-टीकासहित यह ग्रन्थ प्रकाशित किया है। भाषा—अनुवादक नें भ्रमवशतः बहुत सी जगह अनुवाद छोड़ दिया था, कहीं कहीं अर्थ का भी व्यतिक्रम कर दिया था और कितनी ही जगह पर टिप्पणी (नोट) भी नहीं करीथी; परन्तु जहाँ तक सम्भव—पण्डित-प्रवर श्रीयुक्त कृष्णचन्द्र शर्म्म भागवतभूषण (इस ग्रन्थ के संशोधक) महाशय ने और स्वनाम-धन्य देश-पूज्य महामहोपाध्याय प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय नीलमणि गोस्वामि-प्रभुपाद के ज्येष्ठपुत्र पण्डित-प्रवर श्रीयुक्त गौरगोपाल गोस्वामि-प्रभुपाद, कनिष्ठपुत्र हरिगोपाल गोस्वामि-प्रभुपाद महाशय नें अत्यन्त परिश्रम स्वीकारपूर्व्वक वह सब अभाव पूरण किया है; इस लिये मैं इन महाशयों के निकट चिरकृतज्ञ हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि,—हरि-भक्तगण अपनी स्वाभाविक उदारतागुण से इस ग्रन्थ में मुद्राकर के भ्रमजनित (भूल से हुए) जितने दोष हैं, "सूर्पवद्दोषमुत्सृज्य गुणं गृह्णन्ति साधवः" इसी प्रकार वह सब क्षमा कर, ग्रन्थ के उद्देश्य और सारांश को ग्रहण करके अनुगृहीत करियेगा और स्वयं भी कृतार्थ होइयेगा। अलमतिपल्लवितेन।

श्रीधाम वृन्दावन। } श्रीविश्वम्भरनाथ शर्म्म व्रजवासी।

* ॐ श्रीगुरवे नमः *
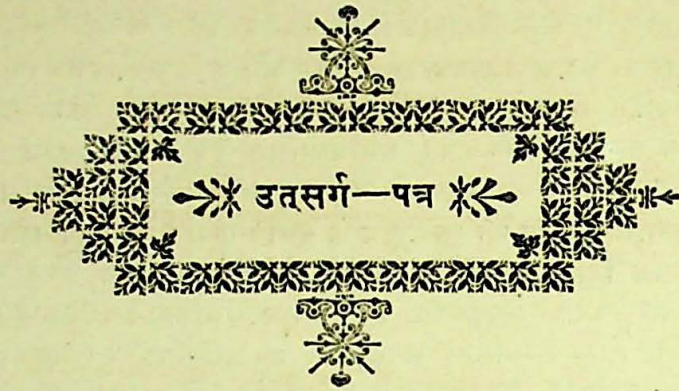
श्रीमदद्वैतकुल-रत्न—परम पूज्यपाद श्रील श्रीयुक्त नीलकान्त गोस्वामि—
प्रभुपाद महाशय-श्रीमच्चरण-सरसीरुहराजेषु

प्रभो !

मेरे प्रति आपका जो असीम वात्सल्य-स्नेह और अपार करुणा विद्यमान है—वह वाक्य-द्वारा प्रकाश करने को विलकुल असमर्थ हूँ; परन्तु मैं ऐसा भाग्यहीन हूँ कि,—किसी प्रकार से अपनी हृदय की कृतज्ञता-तक प्रकाश करने का भी कोई सुयोग (मौका) अव तक न लाभ कर सका और मेरे सदृश दुर्भाग्यवान् व्यक्ति की यह कामना भी आकाश—कुसुमवत् है यह भी मैं जानता हूँ, तथापि आज एक महानुभव के अनुग्रह से जो सुयोग उपस्थित हुआ है, इसका लोभ-सम्वरण नहीं करसका।

मैं भक्तिहीन हूँ; आपकी कृपा लाभ की आशा किसी प्रकार से नहीं कर सक्ता, मैं दरिद्र हूँ; अर्थाभाव हेतु आपकी सेवा (आर्थिक वस्तु द्वारा) नहीं कर सक्ता, मेरे ज्ञान के अभाव से मैं आपका उपदेश हृदयङ्गम नहीं कर सक्ता; इस अवस्था में आपकी कृपा-लाभ किस प्रकार से हो सक्ती है ? परन्तु एकमात्र यही भरोसा है कि,—आप पतितपावन-श्रीसीतानाथ के वंशधर हैं, मो—सम पतित को अवश्य ही आपका—चरणाश्रय देकर "पतितपावन" नाम की महिमा बढ़ावेंगे। इसी भरोसे पर आज—छत्रपुराधीश्वर—श्रीमन्महाराज "विश्वनाथ सिंह" वाहादुर के सम्पूर्ण अर्थ-साहाय्य से मेरे बहुत दिनों के उद्योग का फलस्वरूप "श्रीहरिभक्ति-विलास" ग्रन्थ लेकर प्रभुपादकी सेवा में उपस्थित होता हूँ, आशा है कि—यह स्वनामधन्य ग्रन्थ को स्वीय करकमलों में स्थान देकर, इस दास का मनोभिलाष पूर्ण करने में किञ्चिन्मात्र भी द्विधा न करेंगे। यद्यपि मैं ज्ञान-हीन हूँ, भक्ति-हीन हूँ और आपकी सेवा में प्रवृत्त होने की मेरी किसी प्रकार से शक्ति भी नहीं है, तव-भी आशा करता हूँ कि,—यह ग्रन्थ अपनी असाधारण महिमा से और आपकी गुणग्राहिता से आपके करकमलों में स्थान प्राप्त होगा। निवेदनमिति। अलमतिपल्लवितेन।

भवदीय-चरणाश्रित—

श्रीविश्वम्भरनाथ शर्म्म व्रजवासी।

श्रीराधा-मदनगोपाल देवो जयतितराम्।

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

प्रथम विलासः

श्रीश्रीगोविन्दाय नमः

अथ मङ्गलाचरणम्।

चैतन्यदेवं भगवन्तमाश्रये श्रीवैष्णवानां प्रमुदेऽञ्जसा लिखन्।
आवश्यकं कर्म विचार्य साधुभिः सार्द्धं समाहृत्य समस्त शास्त्रतः ॥ १ ॥

भक्तेर्विलासांश्चिनुते प्रवोधानन्दस्य शिष्यो भगवत्प्रियस्य।
गोपालभट्टो रघुनाथदासं सन्तोषयन् रूप-सनातनौ च ॥ २ ॥

भाषा टीका।

साधु पुरुषों * के सहित बिचार करके वैष्णवों के समस्त कर्त्तव्य कर्मों का निखिल शास्त्रों से आहरण करके उन्हीं के सुख वर्द्धनार्थ अनायास से लिखने के लिये श्रीमद्भगवान् चैतन्यदेव का आश्रय लेता हूं ॥ १ ॥

भगवत्-प्रिय प्रवोधानंद के शिष्य गोपालभट्ट रघुनाथदास और रूप सनातन को प्रसन्न करने के निमित्त भक्ति का विलास + संग्रह करता हूं ॥ २ ॥

* साधु पुरुषों के अर्थात् सदाचार शील वैष्णवों के

+ भक्ति का बिलास अर्थात् परम वैभवरूप भेद-समूह।

मथुरानाथ-पादाब्ज—प्रेमभक्ति-विलासतः।
जातं भक्तिविलासाख्यं तद्भक्ताः शीलयन्त्विमम् ॥ ३ ॥

जीयासुरात्यन्तिकभक्तिनिष्ठाः श्रीवैष्णवा माथुरमण्डलेऽत्र।
काशीश्वरः कृष्णवने चकास्तु श्रीकृष्णदासश्च सलोकनाथः ॥ ४ ॥

तत्र लेख्य-प्रतिज्ञा ॥

आदौ सकारणं लेख्यं श्रीगुर्वाश्रयणं ततः।
गुरुः शिष्यः परीक्षादिर्भगवान् मनवोऽस्य च ॥
मन्त्राधिकारी सिद्धादि-शोधनं मन्त्र—संस्क्रिया।
दीक्षा नित्यं ब्राह्मकाले शुभोत्थानं पवित्रता ॥
प्रातः-स्मृत्यादि कृष्णस्य वाद्याद्यैश्च प्रवोधनम्।
निर्माल्योत्तारणाद्यादौ मङ्गलारात्रिकं ततः ॥
मैत्रादिकृत्यं शौचाचमनं दन्तस्य धावनम्।
स्नानं तान्त्रिकसन्ध्यादि देव—सद्मादि-संस्क्रिया ॥
तुलस्याद्याहृतिर्गेहस्नानमुष्णोदकादिकम्।
वस्त्रं पीठं चोर्द्ध्वपुण्ड्रं श्रीगोपीचन्दनादिकम् ॥
चक्रादिमुद्रा माला च गृह-सन्ध्यार्चनं गुरोः।
माहात्म्यञ्चाथ कृष्णस्य द्वारवेश्मान्तरार्चनं ॥
पूजार्थासनमर्घ्यादि-स्थापनं विघ्नवारणम्।
श्रीगुर्वादिनतिर्भूतशुद्धिः प्राण—विशोधनम् ॥

भाषा टीका।

मथुराधीश्वर हरि के चरणकमलों में गोपालभट्ट की जो प्रेमभक्ति है—उस भक्ति के विलास से ही 'भक्ति विलास, नामक ग्रंथ उत्पन्न हुआ है। अत एव श्रीकृष्ण के भक्त इसका अभ्यास करें * ॥ ३ ॥

मथुरापुर में मथुरेश्वर के पाद—पद्म-भक्तिरासिकों के सुख निवास द्वारा ही उक्त ग्रंथ की शोभा संपादन स्वभाव से ही संपन्न होती है-इत्यादि अभिप्राय से प्रार्थना करते हैं) आत्यन्तिकभक्तिनिष्ठ श्रीवैष्णव—गण मथुरा मण्डल में सुख से वास करके श्रीमद्भगवद् भक्ति प्रवर्त्तनादिरूप निज उत्कर्ष आविष्कार करें अर्थात् सब मनुष्यों को भक्ति मार्ग में उपदेशदें। और काशीश्वर लोकनाथ के सहित उस कृष्णकानन वृन्दावन में विहार करें अर्थात् श्रवण कीर्तन स्मरणादि भक्ति द्वारा सुखसे वास करें। (इस श्लोक के तात्पर्य में काशीश्वर और लोकनाथ दोनों की परस्पर आत्यन्तिकी प्रीति ही सूचित हुई। और यह भी समझा जाता है कि जिस समय वृन्दावन में उनका वास था-उसी समय यह ग्रंथ रचा गया है।) ॥ ४ ॥

* यहां मूल में शीलयन्तु के स्थान में शोभयन्तु पद दिखाई देता है-वहां ऐसा अर्थ होगा कि सदा श्रवण-कीर्तन-प्रचारणादि द्वारा अलंकृत करें।

न्यासा मुद्रापञ्चकञ्च कृष्णध्यानान्तरर्चने।
पूजापदानि श्रीमूर्त्तिशालग्रामशिलास्तथा॥
द्वारकोद्भवचक्राणि शुद्धयः पीठ-पूजनम्।
आवाहनादि तन्मुद्रा आसनादि—समर्पणम्॥
स्नपनं शंख घण्टादि—वाद्यं नामसहस्रकम्।
पुराण-पाठो वसनमुपवीतं विभूषणम्॥
गन्धः श्रीतुलसीकाष्ठचन्दनं कुसुमानि च।
पत्राणि तुलसी चाङ्गोपाङ्गावरणपूजनम॥
धूपो दीपश्च नैवेद्यं पानं होमो वलिक्रिया।
अवगण्डूषाद्यास्यवासो दिव्यगन्धादिकं पुनः॥
राजोपचारा गीतादि महानीराजनं तथा।
शंखादिवादनं साम्बुशंख नीराजनं स्तुतिः॥
नतिः प्रदक्षिणा कर्माद्यर्पणं जपयाचने।
आगः-क्षमापणं नानाऽऽगांसि निर्माल्यधारणम्॥
शंखाम्बुतीर्थं तुलसी-पूजा तन्मृत्तिकादि च।
धात्री स्नाननिषेधस्य कालो वृत्तेरुपार्जनम्॥
मध्याह्ने वैश्वदेवादिश्राद्धं चानर्प्यमुच्यते।
विनार्चामशने दोषास्तथानर्पितभोजने॥
नैवेद्य-भक्षणं सन्तः सत्सङ्गोऽसदसङ्गतिः।
असद्गतिर्वैष्णवोपहासनिन्दादि—दुष्फलम्॥
सतां भक्तिर्विष्णुशास्त्रं श्रीमद्भागवतं तथा।
लीलाकथा च भगवद्धर्माः सायं निज-क्रियाः॥
कर्मपातपरीहारस्त्रिकालार्चा बिशेषतः।
नक्तं कृत्यान्यथो पूजाफलसिध्यादि-दर्शनम्॥
विष्ण्वर्थदानं विविधोपचारा न्यूनपूरणम्।
शयनं महिमार्चायाः श्रीमन्नाम्नस्तथाद्भुतः॥
नामापराधा भक्तिश्च प्रेमाथाश्रयणादयः।
पक्षेष्वेकादशी साङ्गा श्रीद्वादश्यष्टकं महत॥

कृत्यानि मार्गशीर्षादिमासेषु द्वादशस्वपि।
पुरश्चरणकृत्यानि मन्त्र–सिद्धस्य लक्षणम्॥
मूर्त्त्याविर्भावनं मूर्ति–प्रतिष्ठा कृष्णमन्दिरम्।
जीर्णोद्धृतिः श्रीतुलसी–विवाहोऽनन्यकर्म च॥ ९—२२॥

भाषा टीका।

इस ग्रंथ में उल्लेख्य विषय की प्रतिज्ञा यथा,– इस ग्रंथ की आदि में सकारण श्रीगुरु का आश्रय ग्रहण अर्थात् जिस प्रकार से गुरु देव के शरणापन्न होना चाहिये-वह लिखा जायगा। फिर गुरु लक्षण-शिष्यलक्षण-गुरु और शिष्य की परीक्षादि— भगवान् और भगवान् के मंत्र का माहात्म्य, मन्त्र का अधिकारी-सिद्धादि शोधन—मंत्र संस्कार- नित्य दीक्षा-नित्य ब्राह्म काल में शुभ उत्थान, (१) नित्य पवित्रता(२) श्रीकृष्ण का प्रातः स्मरणादि-(३) वाद्यादि द्वारा प्रबोधन (४)आगे निर्माल्योत्तारण—और पछि माङ्गलिक स्तुति—पाठादि—मैत्रादि कृत्य (५) शौच— आचमन-दन्तधावन-स्नान-तान्त्रिक संध्यादि (६)-देवायतनादि संस्कार (७) अर्थात् देव मंदिर आदि का मार्जन करना-तुलस्यादि आहरण(८)-गेहस्नान(९)-उष्णोदकादि व्यवस्था स्नान के अनन्तर अपने पहरने के वस्त्र, पीठ (१०) ऊर्द्ध पुण्ड्र और गोपीचंदनादि-चक्रादिमुद्रा-माला – घर में सन्ध्या गुरु की पूजा और माहात्म्य – फिर श्रीकृष्णके द्वार और घरकी पूजा – पूजाके निमित्त अपने बैठने को आसन – अर्घ्यादिस्थापन-विघ्न-निवारण – गुरु इत्यादि को नमस्कार –भूतशुद्धि—प्राण विशोधन अर्थात् प्राणायाम – न्यास – वेणु वनमालादि पांच मुद्रा – श्रीकृष्ण का ध्यान –अन्तः पूजा – अर्थात् कृष्ण का अन्तर्याग – पूजास्थान – श्रीमूर्त्ति और शालग्राम शिला तथा उसके लक्षणादि – द्वारकोद्भव चक्रसमूह — (गोमतीचक्रादि) क्षालनादि द्वारा श्रीमूर्त्यादि की शुद्धि —पीठ पूजा–आवाहनादि- (११) आवाहनादिकी मुद्रा-आसनादि समर्पण (१२)स्नपना-

(१) शुभ उत्थान।—शुभ कर्मार्थ 'कृष्ण कृष्ण' इस प्रकार कीर्तनादि द्वारा शय्या त्याग।

(२) नित्य पवित्रता।—हाथ पैरों का धोना। दन्तधावन और आचमनादि द्वारा शुचित्व।

(३ प्रातः स्मरणादि।—स्मरण—कीर्तन—नमस्कार और विज्ञापनादि।

(४) वाद्यादि द्वारा प्रबोधन।—वाद्य और स्तव पाठादि द्वारा कृष्ण का प्रबोधित करना (जगाना)।

(५) निजमल विसर्जनादि कर्म।

(६) तान्त्रिक संध्यादि।—यहां आदि शब्द से जल में भगवत् पूजा अर्थात् तान्त्रिकी संध्योपासना और जल में भगवान् की पूजा है।

(७) देवायतनादि संस्कार।—यहां आदि शब्द से भगवत्—गृह का मार्जन-स्वस्तिक निर्माण—ध्वजा वा पताकादि रोपण—पीठ पात्र और वस्त्रादि संस्क्रिया समझनी चाहिये।

(८) तुलस्यादि आहरण।—यहां आदि शब्द से पुष्पादि–समझने चाहिये। अर्थात् तुलसी और पुष्पादि का लाना।

(९) गेहस्नान।–स्वीय गृह में स्नान विधि अर्थात् बहिर्भाग में तीर्थ न होने के कारण वा श्रीमंदिरादि संस्कार के पीछे अर्चनार्थ घर में फिर स्नान की व्यवस्था—उष्णोदकादि व्यवस्था। उष्णजल और आमलकादि जल में स्नानविधि।

(१०) पीठ।–आचमनादिके लिये स्वीय आसन।

(११) आवाहनादि—यहां आदि शब्द से संस्थापन संनिधापनादि (सुख पूर्वक स्थिति) सात समझने चाहिये।

(१२) आसनादि समर्पण।–यहां आदि शब्दसे स्वाग-

भाषा टीका।

४ शंख और घंटादि वजाने का माहात्म्य, स्नपन× सहस्र नाम—पुराणाध्ययन, वसन, उपवीत, विभूषण, गंध तुलसीकाष्ठका चंदन, (१) कुसुम, विल्वादिका पत्र, तुलसी अंग, उपाङ्ग और आवरणकी पूजा (२) धूप, दीप, नैवेद्य, पान, होम, वलि क्रिया (३) अवगण्डूषादि (४) आस्यवास लवंग (लौंग) ताम्बूलादि मुखवास, पुनर्वार दिव्य गंधादि, राजोपचार गीतादि (५) महानीराजन, शंखादिवादन (६) सजल शंखद्वारा नीराजन, स्तुति, प्रणामादि, प्रदक्षिणा, कर्मादि-समर्पण, जप, याचन अर्थात् प्रार्थना, अपराधक्षमापन अनेक प्रकार के अपराध, निर्माल्यधारण (७) श्री-भगवन्नीराजित शंखजल, तीर्थ अर्थात् चरणोदक, तुलसी वन में श्रीकृष्ण और तुलसी की पूजा, तुलसी की मृत्तिका और काष्ठादि, आमलकी—माहात्म्य, स्नान का निषिद्ध काल, जीविकोपार्जन, मध्याह्न काल में कर्त्तव्य वैश्वदेवादि, वैष्णवगणों के कर्त्तव्य श्राद्ध-विधि, भगवान् अच्युत को अर्पण के अयोग्य द्रव्य, भगवान् को विना अर्पण किये भक्षण, और अनिवे-दित द्रव्य-भोजन का दोष, नैवेद्य-सेवन, श्रीमद्भगव-द्भक्त, साधु-संग, असत्-संगत्याग, असज्जन की गति, वैष्णवों की हंसी और निन्दादि से उत्पन्न कुफल, साधुजनों की भक्ति (८) विष्णुशास्त्र, श्रीमद्भागवत, लीलाकथा श्रवण-कीर्त्तनादि, और इसके त्याग में दोष, भगवद्धर्म, सायं संध्योपासनादि क्रिया, वैष्णवों के कर्म-पातकादि-परीहार अर्थात् तद्दोष-निराकरण सिद्धान्त, विशेषतः त्रिकालार्चन अर्थात् तीन काल में पूजा की विधि, रात्रिकृत्य, पूजा-फलसिद्ध्यादि (९) पूजा किम्वा श्रीमूर्ति का दर्शन, श्रीहरि की प्रीति के अर्थ (कपिलादि) प्रदान, नाना विध उपचार, अलब्ध-उपचार के समाधान, स्वयि शयनविधि, भगवत् अर्चना और श्रीमन्नाम की महिमा, अद्भुत (१०) नामाप राध, भक्ति (११) प्रेमसम्पत्ति-लक्षण, शरणागति, पक्षों में अंगयुक्त एकादशी, महाद्वादश्यष्टक, अगहन इत्यादि वारह मास का कृत्य, पुरश्चरणक्रिया, मंत्र और मंत्रसिद्धि का लक्षण, भगवन्मूर्त्यादि गठन, मूर्त्ति-प्रतिष्ठा, कृष्ण-मन्दिर निर्म्माण, जर्णिमंदिर का पुनरुद्धार अर्थात् पुराने मंदिर को ठीक कराना, तुलसी परिणय, और एकान्त भक्तों का कृत्य, यह सब लिखाजायगा ॥५-२२॥

तान्तर पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, पुनराचमनीय इत्यादि का अर्पण समझना चाहिये।

× स्नपन--यहां स्नपन शब्दसे स्नानके अंगत्व वशतः अभ्यङ्ग—द्रव्य, पंचामृत और उद्वर्त्तनादि द्रव्य समझने चाहिये।

(१) चंदन गंधमें परिणत होने परभी तुलसी काष्ठके चंदन का पृथक् उल्लेख होनसे माहात्म्य विशेष सूचित होता है।

(२) अंग—मंत्रवर्णादि। उपाङ्ग—वेणु इत्यादि। आवरण—गोपकुमारादि।

(३) वलि क्रिया-विष्वक्सेनादि भक्तों को भगवान् का उच्छिष्टांश अर्पण।

(४) अवगण्डूषादि-अवगण्डूष अर्थात् गण्डूषार्थजल। यहां आदि शब्द से दन्त-शोधन, पुनराचमन, श्रीमुख-मार्जनादि समझना चाहिये।

(५) राजोपचार--छत्र चामरादि। गीतादि-गीत एवं आदि शब्दसे वाद्य और नृत्य समझना चाहिये।

(६) पूर्व में जो शंखादि वजाने का उल्लेख हुआ है, वह स्नान विषयक है, यहां महानीराजन विषयक समझना चाहिये।

(७) निर्माल्य-मस्तक में भगवान् के चरणों से उतरी हुई तुलसी आदि का धारण करना।

(८) साधुजनों की भक्ति—साधु सामाज में जाकर हरि-भक्ति करना और स्तव द्वारा साधुओं का सन्मान।

(९) रात्रि-कृत्य—गीत वाद्यादि पूर्वक भगवान् की शयनोपचार--कल्पनादि। पूजाफल-सिद्ध्यादि—जिस प्रकार पूजा संपूर्ण होतीहै-उसको पूजाफल-सिद्धि कहते है। यहां आदि शब्द द्वारा असमर्थ मनुष्य की पूजाफल-प्राप्ति का उपाय भी समझना।

(१०) अद्भुत। अर्थात भगवान् के नाम माहात्म्य में अर्थवादकी कल्पना अत्यन्त दोषावह है।

(११) भक्ति—यहां भक्ति शब्द से भगवद्भक्ति की दुर्लभत्वादि महिमा और उसका लक्षण है।

तत्र श्रीगुरूपसात्ति-कारणम् ।

कृपया कृष्णदेवस्य तद्भक्तजन-सङ्गतः ।
भक्तेर्माहात्म्यमाकर्ण्य तामिच्छन् सद्गुरुं भजेत् ॥ २३ ॥

अत्रानुभूयते नित्यं दुःख-श्रेणी परत्र च ।
दुःसहा श्रूयते शास्त्रात्तितीर्षेद्पि तां सुधीः ॥ २४ ॥

तथा चोक्तमेकादशस्कन्धे—भगवता श्रीदत्तेन ।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं वहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ २५ ॥

स्वयं श्रीभगवता च —

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारं ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥ २६ ॥

अथ श्रीगुरूपसत्तिः ।

तत्रैव श्रीप्रबुद्धयोगेश्वरोक्तौ—

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम् ॥ २७ ॥

भाषा टीका ।

(अव) यहां श्रीगुरु की शरण ग्रहण करने का कारण कहा जाता है ।- देवाधिदेव श्रीकृष्ण की कृपा वशतः उनके भक्तों के संग से भक्ति का माहात्म्य श्रवण पूर्वक उस भक्ति प्राप्ति की अभिलाष होने पर सद्गुरु की भजना करे अर्थात् उनका आश्रय ग्रहण करे ॥ २३ ॥

(यह बात पूछी जा सकती है कि विषय सुखासक्त जनों को उक्त ज्ञान अतीव दुर्घट है, सुतरां उनको भक्ति की इच्छा क्यों होगी ? इसका उत्तर यह है कि दुःख सागर से तरने की इच्छा से भक्ति में स्पृहा होने पर सद्गुरुकी अपेक्षा अवश्यही करनी चाहिये—इस विषय में लिखा जाता है) इस लोक में नित्यही दुःखों को भोगना पड़ता है, और शास्त्र में भी सुना जाता है कि—परलोक में भी दुःसह दुःख-परम्परा भोगना पड़ता है । अतएव बुद्धिमान् पुरुष उस दुःख-श्रेणी से उत्तीर्ण होने की अभिलाष करें ॥ २४ ॥

इस विषयमें एकादश स्कन्ध में भगवान् श्रीदत्तात्रेयजी ने कहा है ।ःधीर पुरुष बहुत जन्मों के पीछे अति दुर्लभ परमार्थप्रद अनित्य मानव-देह पाकर जब तक मृत्यु न आवे, तव तक सर्वथा मोक्ष लाभार्थ शीघ्र यत्नवान् हों, क्यों कि, विषय, पुनर्वार पशु इत्यादि की योनि में भी प्राप्त हो सकता है ॥ २५ ॥

भगवान्ने स्वयं भी कहा है जो मनुष्य अनुकूल वायुरूप मेरे द्वारा प्रेरित आद्य (फल भाग का मूल) सुलभ (यदृच्छा प्राप्त) गुरुरूपी कर्णधार (मल्लाह) युक्त अतीव दुर्लभ पटुतर मनुष्यदेहरूपी तरणी (नाव) पाकर भी संसार सागर से उत्तीर्ण नहीं होता उसीको आत्मघाती कहा गया है ॥ २६ ॥

अव गुरूपसत्ति अर्थात् गुरु के आश्रय ग्रहण करने की विधि कही जातीहै । एकादश स्कंध में प्रबुद्ध

स्वयं श्रीभगवदुक्तौ—

मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ २८ ॥

क्रमदीपिकायाश्च ।—

विप्रं प्रध्वस्तकामप्रभृतिरिपुघटं निर्मलाङ्गं गरिष्ठं
भक्तिं कृष्णाङ्घ्रिपङ्केरुहयुगल-रजोरागिणीमुद्वहन्तम् ।
वेत्तारं वेदशास्त्रागमविमलपथां सम्मतं सत्सु दान्तं
विद्यां यः संविवित्सुः प्रवणतनुमना देशिकं संश्रयेत ॥

श्रुतावपि—

तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समितपाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्म-निष्ठम् । आचार्यवान् पुरुषो वेद ॥ २९ ॥

अथ गुरूपसत्ति-नित्यता ।

श्रीभागवते दशमस्कन्धे श्रुति-स्तुतौ ।—

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज ! सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥ ३० ॥

भाषा टीका ।

योगेश्वर की उक्ति है—यथा सुतरां जो मोक्षरूप परम कल्याण की कामना करें, वह वेदाख्य शब्द ब्रह्मकी न्यायतः व्याख्या में पारदर्शी और पर ब्रह्म श्रीकृष्ण में भक्तियोग परायण श्रीगुरुदेव का आश्रय ग्रहण करें ॥ २७ ॥

भगवान् ने स्वयं भी कहा है कि—मदभिज्ञ—अर्थात् मेरे भक्तिभाव को सम्यक्तया जानने वाले मदात्मक शान्त गुरु की ही उपासना करे * ॥ २८ ॥

* मदभिज्ञ ।—जो मेरी भक्ति वात्सल्यादि अनुभव करके मुझ से परिज्ञात हैं ।

मदात्मक ।—जिनका चित्त मुझ में सन्निविष्ट है ।

शान्त-अर्थात् जिनकी प्रकृति प्रशान्त है ।

क्रम दीपिका में भी लिखा है—जो विद्या अर्थात सांसारिक दुःख से तरने का उपायस्वरूप मंत्र जानने की इच्छा करते हैं, वह विनीतमना होकर वैसे ही नततनु चित्तकामादिरिपु—कुलजयी निर्मलाङ्ग (व्याधिहीन) कृष्ण के चरणकमलों की रज से रंजित भक्तियुक्त, वेद शास्त्र और आगम समूह का बिमल पथ जानने वाले, साधु गणों के आदरणीय, दान्त (जितेन्द्रिय) ब्राह्मण गुरु का आश्रय करें। श्रुति में भी कहा है कि उस परम वस्तु को जानने के लिये समित्पाणि होकर ब्रह्म-निष्ठ, वेदवित्, सद्गुरु के समीप उपस्थित होवे । आचार्यवान् पुरुषही अर्थात जिसका गुरु हैं वही इसको जानता है ॥ २९ ॥

अब गुरु के आश्रय ग्रहण की नित्यता लिखी जाती है—भागवत-दशमस्कन्ध की वेदस्तुति में

श्रुतौ च —

नैषा तर्केण मतिरपनेया प्रोक्तान्येनैव-
सुज्ञानाय प्रेष्ठा ॥ ३१ ॥

अथ विशेषतः श्रीगुरोर्लक्षणानि—मन्त्रमुक्तावल्यां।—
अवदातान्वयः शुद्धः स्वोचिताचारतत्परः।
आश्रमी क्रोधरहितो वेदवित् सर्वशास्त्रवित्।
श्रद्धावाननसूयुश्च प्रियवाक् प्रियदर्शनः।
शुचिः सुवेशस्तरुणः सर्वभूत-हिते रतः।
धीमाननुद्धतमतिः पूर्णोऽहन्ता विमर्शकः।
सगुणोऽर्चासु कृतधीः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः ॥ ३२ ॥
निग्रहानुग्रहे शक्तो होममन्त्र-परायणः।
ऊहापोहप्रकारज्ञः शुद्धात्मा यः कृपालयः।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तो गुरुः स्याद्गरिमानिधिः ॥ ३३ ॥

भाषा टीका।

लिखी है—जो इस लोक में श्रीगुरु के चरण परित्याग पूर्वक इन्द्रिय गण और प्राण समूह को वशीभूत करके अदमित (जो मन दमन नहीं किया गया है) मनोरूप अश्व को संयत करने में यत्नवान् होते हैं, वह मनुष्य मल्लाह हीन तरणी में जाते हुए वणिक गणों के समुद्र गर्भ में गिरने के समान उपाय क्लिष्ट (कठिन उपाय साधन) और बहुत दुःख से व्याकुल होकर भवसागर में डूब जाते हैं ॥ ३० ॥

श्रुति में भी लिखा है कि—शोभन ज्ञानार्थ परम योग्य प्रियतमा इस मति को तर्क द्वारा अर्थात् स्वकृत युक्ति द्वारा पूर्व कथित विधि से कुपथ में प्रवेश न करावे ॥ ३१ ॥

अब विशेष प्रकार से गुरु के लक्षणों का वर्णन किया जाता है। मन्त्रमुक्तावली में लिखा है—जो वंश-पातित्यादि दोषविहीन, अपने विहित आचार में निरत, आश्रमी × क्रोधहीन, वेदवित, सर्वशास्त्रज्ञ, श्रद्धावान् असूयाहीन, प्रियवादी, प्रियदर्शन, शुचि, अर्थात् शुद्धाचारवान्, सुवेशधारी, युवा, सब प्राणियों के हित में निरत, धीमान्, स्थिरमति, पूर्ण ※ हिंसा से पराङ्मुख, विवेचक, वात्सल्यादिगुणवान्, भगवत् पूजा में कृतबुद्धि, कृतज्ञ, शिष्यवत्सल, निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ, होममंत्र-परायण, वितर्क और सिद्धान्त के प्रकार का जानने वाला और जो शुद्ध चित्त तथा कृपा का धाम है इत्यादि लक्षणों से युक्त गुरुही गरिमा का निधि स्वरूप हैं ॥ ३२—३३ ॥

+ आश्रमी।—गृही।

※ पूर्ण।—जिसको किसी प्रकार की आकांक्षा न हो।

—०—

अगस्त्यसंहितायां च—

देवतोपासकः शान्तो विषयेष्वपि निस्पृहः ।
अध्यात्मविद्ब्रह्मवादी वेदशास्त्रार्थकोविदः ॥
उद्धर्त्तुं चैव संहर्त्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः ।
तत्त्वज्ञो यन्त्रमन्त्राणां मर्म्मभेत्ता रहस्यवित् ॥
पुरश्चरणकृद्धोममन्त्रसिद्धप्रयोगवित् ।
तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥ ३४ ॥

विष्णुस्मृतौ—

परिचर्यायशोलाभलिप्सुः शिष्याद्गुरुर्नहि ।
कृपासिंधुः सुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः ॥
निस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः ॥
सर्व-संशयसंच्छेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः ॥ ३५ ॥

श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीभगवन्नारदसम्वादे ॥

ब्राह्मणः सर्वकालज्ञः कुर्यात् सर्वेष्वनुग्रहम् ।
तदभावाद्द्विजश्रेष्ठ ! शान्तात्मा भगवन्मयः ॥
भावितात्मा च सर्वज्ञः शास्त्रज्ञः सत्क्रियापरः ।
सिद्धित्रयसमायुक्त आचार्यत्वेऽभिषेचितः ॥

भाषा टीका ।

अगस्त्यसंहिता में भी लिखा है कि — देवोपासक, शान्त, विषयों में निस्पृह, अध्यात्मवेत्ता, ब्रह्मवादी, (वेदाध्यापक) वेदशास्त्र के अर्थ में विशारद, मंत्रोद्धार और मंत्रसंहार में समर्थ, ब्राह्मणश्रेष्ठ, यंत्र-मंत्र-तत्ववित अर्थात यंत्र-मंत्र का तत्व जानने वाला, मर्म-भेत्ता (१) रहस्यवित, पुरश्चरणशील, होममंत्रसिद्ध, मंत्रादि के प्रयोग का ज्ञाता, तपस्वी, सत्यभाषी और गृही पुरुष ही गुरु कहा गया है ॥ ३४ ॥

विष्णुस्मृति में भी लिखा है कि—जो शिष्य के निकट से परिचर्या (सेवा) यश और धनादि लाभ की कामना करता है, वह गुरु पद के उपयुक्त नहीं है । जो कृपासिंधु, सुसंपूर्ण, सर्वभूतों की उपकारी, निस्पृह, सम्यक् प्रकारासिद्ध, सर्वविद्याविशारद, सर्वसंशयच्छेत्ता, और आलस्यहीन हैं, वेही गुरुनाम से अभिहित होते हैं ॥ ३५ ॥

नारदपंचरात्र के भगवन्नारदसंवाद में भी कहा है कि—सर्वकालज्ञ (१) ब्राह्मण संपूर्ण वर्णों के प्रति ही अनुग्रह (मंत्रदानादिरूप) प्रकाश करें । हे द्विजसत्तम ! उसके अभाव में शान्तात्मा, भगवत्-स्वरूप, भावितात्मा, (विशुद्धचित्त) सबप्रकार दीक्षा-विधानवित, शास्त्रवेत्ता, सत्क्रियापरायण, तीन सिद्धि से युक्त (२) क्षत्रिय को आचार्यत्व में अभिषिक्त

(१) मर्मभेत्ता ।— संशयग्रंथिच्छेत्ता ।

(१) सर्वकालज्ञ—पंचरात्र विधानोक्त पंचकालवित ।

(२) तीन सिद्धि—पुरश्चरणादि द्वारा मंत्रसाधन, गुरुसाधन और देवसाधन ।

क्षत्र-विट्-शूद्रजातीनां क्षत्रियोऽनुग्रहे क्षमः ।
क्षत्रियस्यापि च गुरोरभावादीदृशो यदि ॥
वैश्यः स्यात्तेन कार्यश्च द्वयोर्नित्यमनुग्रहः ।
सजातीयेन शूद्रेन तादृशेन महामते ! ।
अनुग्रहाभिषेकौ च कार्यौ शूद्रस्य सर्वदा ॥ ३६ ॥

किञ्च—

वर्णोत्तमे ऽथ च गुरौ सति वा विश्रुतेऽपि च ।
स्वदेशतोऽथ वान्यत्र नेदं कार्यं शुभार्थिना ॥ ३७ ॥
विद्यमाने तु यः कुर्यात् यत्र तत्र विपर्ययम् ।
तस्येहामुत्र नाशः स्यात्तस्माच्छास्त्रोक्तमाचरेत् ।
क्षत्रविट्शूद्रजातीयः प्रातिलोम्यं न दीक्षयेत् ॥ ३८ ॥

पाद्मे च—

महाभागवतश्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम् ।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः ॥ ३९ ॥
महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः ॥ ४० ॥

भाषा टीका ।

करें । क्षत्रिय गुरु होने से वह क्षत्रिय – वैश्य और शूद्र—इन तीन जाति के प्रति अनुग्रह करने अर्थात् मंत्र देने में समर्थ होता है । यदि क्षत्रिय न मिले — तो उसी प्रकार गुणसम्पन्न वैश्य इस दो जाति के प्रति नित्य अनुग्रह करे । हे महामते ! इसी प्रकार गुणशाली शूद्र भी सजातीय शूद्र के प्रति मंत्र दानादिरूप अनुग्रह और अभिषेक कर सकता है ॥ ३६ ॥

और भी लिखा है कि—पूर्व कथित गुणसम्पन्न वर्णश्रेष्ठ गुरु स्वदेश में वा अन्यदेश में बर्त्तमान होने पर कल्याणाकांक्षी हीनवर्ण पुरुष मंत्र दानादिरूप अनुग्रहादि न करे ॥ ३७ ॥

वर्णश्रेष्ठ के वर्त्तमान रहते जो जहां तहां इस के विपरीत आचरण करता है उस की ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के अर्थ की हानि होती है, इस कारण शास्त्रोक्त विधि का ही प्रतिपालन करना उचित है । क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र — यह प्रतिलोमानुसार दीक्षाप्रदान न करे, अर्थात् निकृष्टवर्ण होकर उत्तम वर्ण को दीक्षित न करे ॥ ३८ ॥

पद्म पुराण में भी लिखा है कि — महाभागवत और भगवत्माहात्म्यादि का जानने वाला ब्राह्मण ही लोकमात्र का गुरु है। वह संपूर्ण लोकों में हरिवत् पूज्य है ॥ ३९ ॥

महाकुलोत्पन्न, सर्वयज्ञों में दीक्षित और सहस्र-शाखाध्यायी ब्राह्मण भी अवैष्णव होने पर गुरु के चरणों में अभिषिक्त नहीं हो सक्ता ॥ ४० ॥

गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः ।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः ॥ ४१ ॥

अथ अगुरुलक्षणं तत्त्वसागरे—

वह्वाशी दीर्घसूत्री च विषयादिषु लोलुपः ।
हेतुवादरतो दुष्टोऽवाग्वादी गुणनिन्दकः ॥
अरोमा वहुरोमा च निन्दिताश्रमसेवकः ।
कालदन्तोऽसितौष्ठश्च दुर्गन्धिश्वासवाहकः ॥
दुष्टलक्षणसम्पन्नो यद्यपि स्वयमीश्वरः ।
वहुप्रतिग्रहासक्त आचार्यः श्रीक्षयावहः ॥ ४२ ॥

अथ शिष्यलक्षणानि मंत्रमुक्तावल्यां—

शिष्यः शुद्धान्वयः श्रीमान् विनीतः प्रियदर्शनः ।
सत्यवाक् पुण्यचरितोऽदभ्रधीर्दम्भवर्जितः ॥
कामक्रोधपरित्यागी भक्तश्च गुरुपादयोः ।
देवताप्रवणः कायमनोवाग्भिर्दिवानिशम् ।
नीरुजो निर्जिताशेषपातकः श्रद्धयान्वितः ।
द्विजदेवपितॄणाञ्च नित्यमर्चापरायणः ।
युवा विनियताशेषकरणः करुणालयः ।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तः शिष्यो दीक्षाधिकारवान् ॥ ४३ ॥

भाषा टीका ।

जो पुरुष विष्णु मंत्र में दीक्षित और विष्णु—पूजा-परायण है—उसी को वैष्णव कहा जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति अवैष्णव कहा गया है ॥ ४१ ॥

अब निन्दित गुरु के लक्षण कहे जाते हैं। तत्व-सागर में लिखा है कि वह्वाशी (अत्यन्तभोजन करने वाला) दीर्घसूत्री, विषयादि में आसक्त, हेतु-बाद में रत, (१) दुष्ट, अवाच्यपर, पापादि वक्ता (कहने के अयोग्य जो दूसरे के पाप आदि आचरण हैं—उनका कहने वाला) गुणनिन्दक, अरोम (रोमहीन) बहुत रोमयुक्त, निन्दित आश्रम की सेवा में परा-यण, कृष्ण वर्ण दांत युक्त, श्याम वर्ण ओष्ठ संपन्न, दुर्गन्धपूर्ण निश्वासवाही, दुष्टलक्षणयुक्त और स्वयं दानादि करने में समर्थ होकर भी जो गुरु बहुत प्रतिग्रह में निरत है अथात् स्वयं कुछ भी दान न करके जो बहुत सा दान लेता है—वह श्री का क्षय करता है ॥ ४२ ॥

अब शिष्य के लक्षण कहे जाते हैं — मंत्रमुक्ता-बली में कहा है कि — शिष्य शुद्धकुलोत्पन्न, श्रीमान, विनयवान, प्रियदर्शन, सत्यभाषी, पवित्रचरित, महामति, दम्भहीन, कामक्रोधरहित, गुरु के दोनों

(१) हेतुवादरत । —प्रतिकूलतर्क — परायण ।

एकादशस्कन्धे च।—

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ४४ ॥

अथोपेक्ष्याः – अगस्त्यसंहितायां।—

अलसा मलिनाः क्लिष्टा दाम्भिकाः कृपणास्तथा।
दरिद्रा रोगिणो रुष्टा रागिणो भोगलालसाः।
असूयामत्सरग्रस्ताः शठाः परुषवादिनः।
अन्यायोपार्जितधनाः परदाररताश्च ये।
विदुषां वैरिणश्चैव अज्ञाः पण्डितमानिनः।
भ्रष्टव्रताश्च ये कष्टवृत्तयः पिशुनाः खलाः।
वह्वाशिनः क्रूरचेष्टा दुरात्मानश्च निन्दिताः।
इत्येवमादयोऽप्यन्ये पापिष्ठाः पुरुषाधमाः ॥ ४५ ॥
अकृत्येभ्योऽनिवार्याश्च गुरुशिक्षाऽसहिष्णवः।
एवम्भूताः परित्याज्याः शिष्यत्वेनोपकल्पिताः ॥ ४६ ॥

भाषा टीका।

चरणों का भक्त, काय मनों वाक्य से दिन रात देवताप्रवण अर्थात् देवता के प्रति अनुरक्त, नीरोग, अशेषपातक — जयी, श्रद्धावान्, नित्य देवता, विप्र और पितृलोकों की पूजा में रत, युवा, सब इन्द्रियें का जीतने वाला और करुणानिधान हो। उल्लिखित लक्षणयुक्त शिष्यही दीक्षा का अधिकारी होता है। ॥ ४३ ॥

एकादश स्कंध में भी लिखा है कि—अभिमान और मात्सर्य हीन, दक्ष (निरलस) निर्मम (भार्यादि में ममताहीन) गुरु के प्रति दृढ़ सौहार्दयुक्त, असत्वर (अव्यग्र) तत्त्वजिज्ञासु, असूयाहीन और अमोघवाक् (व्यर्थालापहीन) पुरुषही शिष्य के उपयुक्त है ॥ ४४ ॥

अब परित्याग योग्य शिष्य के लक्षण लिखे जाते हैं। अगस्त्यसंहिता में प्रकाशित किया गया है कि— जो आलसी, मलीन, वृथा क्लेशदाता, दांभिक, कृपण, दरिद्र, रोगी, क्रुद्ध, विषयासक्त, भोगलोलुप, असूयावान्, मत्सरग्रस्त, शठ, परुषभाषी, अन्याय रीतिसे धन उपार्जन करने वाला, परदारपरायण, (पराई स्त्री में रत) विद्वान् पुरुषों का शत्रु, अज्ञ, पण्डितम्मन्य, (मूर्ख होकर भी अपने आप को पण्डित मानने वाला) भ्रष्टव्रत, कष्ट से जीविका निर्वाह करने वाला, पर—दोषसूचक, अर्थात् पराये दोषों का प्रकट करने वाला, खल, (दूसरों को दुःख देने वाला) वहुभोजी, (बहुत भोजन करने वाला) क्रूरकर्मा, दुरात्मा और निन्दित;-इत्यादि तथा अपरापर पापिष्ठ पुरुषाधम और जिनको कुकार्य से निवारण नही किया जाता, और जो मनुष्य गुरु का उपदेश सहने में असमर्थ है—ऐसे मनुष्यों को त्याग दे; उनको शिष्यत्व में दीक्षित न करे॥४५—४६॥

———

यद्येते ह्युपकल्पेरन् देवताक्रोशभाजनाः।
भवन्तीह दरिद्रास्ते पुत्रदारविवर्जिताः।
नारकाश्चैव देहान्ते तिर्य्यञ्चःप्रभवन्ति ते॥ ४७॥

हयशीर्षपञ्चरात्रे।—

जैमिनिः सुगतश्चैव नास्तिको नग्न एव च।
कपिलश्चाक्षपादश्च षडेते हेतुवादिनः।
एतन्मतानुसारेण वर्त्तन्ते ये नराधमाः।
ते हेतुवादिनः प्रोक्तास्तेभ्यस्तन्त्रं न दापयेदिति॥४८

तयोः परीक्षा चान्योन्यमेकाब्दं सहवासतः।
व्यवहारस्वभावानुभवेनैवाभिजायते॥ ४९॥

अथ परीक्षणम्। मन्त्रमुक्तावल्यां—

तयोर्वत्सरवासेन ज्ञातान्योन्यस्वभावयोः।
गुरुता शिष्यता चेति नान्यथैवेति निश्चयः॥

श्रुतिश्च—नासम्वत्सरवासिने देयात्।

सारसंग्रहेऽपि—

सद्गुरुं स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत्॥ ५०॥
राज्ञि चामात्यजा दोषाः पत्नीपापं स्वभर्त्तरि।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुः प्राप्नोति निश्चितम्॥

भाषा टीका।

जो (लोभादि के वशीभूत होकर) इन सब मनुष्यों को दीक्षित करते हैं, वे इस लोक में देवता के क्रोध के भाजन, दरिद्र, और पुत्र कलत्र हीन होते हैं और देह के अंत में नरक भोगने पर तिर्य्यग्योनि को प्राप्त होते हैं॥ ४७॥

हयशीर्ष पंचरात्र में भी लिखा है—जैमिनि-सुगत—नास्तिक—नग्न—कपिल और गौतम—यह छै मनुष्य हेतुवादियों में गिने गये हैं—जो पुरुषाधम उन्हों के मतानुगामी होकर कार्य करते हैं—उनको भी हेतुवादी कहते हैं—सुतरां उनको मंत्र शिक्षा नहीं देवे॥ ४८॥

एक वर्ष के सहवास द्वारा परस्पर—चेष्टा और स्वभाव को जानने पर गुरु शिष्य की परीक्षा होती है॥ ४९॥

अब परीक्षा करण अर्थात् परीक्षा करने की विधि कही जाती है—मंत्रमुक्तावली में लिखा है कि—एक वर्ष के सहवास (एकत्र स्थिति) द्वारा परस्पर का स्वभाव विदित होने पर दोनो की गुरुता और शिष्यता ज्ञात होसक्ता है—अन्य प्रकार से नहीं जानी जा सक्ती—यह स्थिर है। श्रुति में भी लिखा है कि—एकवर्ष विना सहवास किये उसको मंत्र न देवे। सारसंग्रह में भी प्रकाशित है कि—सद्गुरु एकवर्ष तक निज—आश्रित शिष्य की परीक्षा करें॥ ५०॥

क्रमदीपिकायान्तु—

सन्तोषयेदकुटिलार्द्रतरान्तरात्मा
तं स्वैर्धनैः स्ववपुषाप्यनुकूलवाण्या ॥
अब्दत्रयं कमलनाभधियातिधीर-
स्तुष्टे विवक्षतु गुरावथ मन्त्रदीक्षाम् ॥ ५१ ॥

अथ विशेषतः श्रीगुरुसेवाविधिः। कौर्मे श्रीव्यासगीतायां।—

उदकुम्भं कुशान् पुष्पं समिधोऽस्याहरेत् सदा ।
मार्जनं लेपनं नित्यमङ्गानां वाससां चरेत् ॥
नास्य निर्माल्यशयनं पादुकोपानहावपि ।
आक्रामेदासनं छायामासन्दीं वा कदाचन ।
साधयेद्दन्तकाष्ठादीन् कृत्यं चास्मै निवेदयेत् ॥ ५२ ॥

अनापृच्छ्य न गन्तव्यं भवेत् प्रियहिते रतः ।
न पादौ सारयेदस्य सन्निधाने कदाचन ॥
जृम्भाहास्यादिकञ्चैव कण्ठप्रावरणं तथा ।
वर्जयेत् सन्निधौ नित्यमथास्फोटनमेव च ॥ ५३ ॥

भाषा टीका।

अमात्यगण के दोष—जिस प्रकार राजा में और भार्या के पातक जिस प्रकार उस के पति को प्राप्त होते हैं—वैसेही गुरुदेव भी शिष्य का किया हुआ पाप को प्राप्त होते हैं—इस में संदेह नहीं। क्रमदीपिका में भी लिखा है कि—अति धीर शिष्य अकुटिल (निष्कपट) और आर्द्रान्तःकरण (जिस का अन्तःकरण दया से आर्द्र हो) होकर तीनवर्ष तक अपने धन, अपने देह, और अनुकूल वचन द्वारा भगवद्बुद्धि से गुरु को संतुष्ट करे। श्री गुरुदेव के प्रसन्न होने पर मंत्र दीक्षा के लिये उन के समीप प्रार्थना करे ॥ ५१ ॥

अब विशेष प्रकार से गुरु सेवाकी विधि कही जाती है। कूर्म पुराण को व्यास गीता में लिखा है कि—सदा श्रीगुरुजी के जलपात्र, (कलश) कुश, कुसुम, और समिधा (यज्ञकाष्ठ) लावे, सदा अङ्ग और वस्त्र का मार्जन, तथा लेपन करे अर्थात् सदा श्रीगुरु के मन्दिर का मार्जन (झाड़ना बुहारना) एवं देह में चन्दन लेपन करे। और वस्त्रों को धोवे । श्रीगुरु की निर्माल्य, शय्या, काष्ठपादुका, (खड़ांऊ) उपानह (चर्मपादुका) आसन, छाया और आसन्दी × का कभी उलंघन न करे। गुरु के लिये दँतोन इत्यादि लावे। और अपने किये—सब कर्मों को उन के निकट निवेदन करे ॥ ५२ ॥

गुरु की विना आज्ञा लिये कहीं न जाय, गुरुदेव के प्रिय और हितानुष्ठान में तत्पर रहे। उनके समीप कभी पैर न फैलावै। और गुरु के समीप जृम्भण, (जँभाई लेना) हास्यादि अर्थात् हँसी और ऊंचे स्वर से बातें करना, उत्तरीय वस्त्र द्वारा कण्ठावरण अर्थात् गले में डुपट्टे का लपेटना, और अँगूलियों का चटकाना सदा परित्याग करे ॥ ५३ ॥

+ आसन्दी।—भोजनपात्राधार त्रिपदिका।

किञ्च—

श्रेयस्तु गुरुवद्वृत्तिर्नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरु-पुत्रेषु दारेषु गुरोश्चैव स्ववन्धुषु ॥ ५४ ॥
उत्सादनं वै गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न-कुर्यात् गुरुपुत्रस्य पादयोः शौचमेव च ॥
गुरुवत् परिपूज्याश्च सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥
अभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानाञ्च प्रसाधनम् ॥ ५५ ॥

देव्यागमे श्रीशिवोक्तौ—

गुरु-शय्यासनं यानं पादुके पादपीठकम् ।
स्नानोदकं तथा च्छायां लंघयेन्न कदाचन ॥
गुरोरग्रे पृथक् पूजामद्वैतञ्च परित्यजेत् ।
दीक्षां व्याख्यां प्रभुत्वञ्च गुरोरग्रे विवर्जयेत् ॥ ५६ ॥

श्रीनारदोक्तौ—

यत्र यत्र गुरुं पश्येत् तत्र तत्र कृताञ्जलिः ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ॥
गुरोर्वाक्यासनं यानं पादुकोपानहौ तथा ।
वस्त्रच्छायां तथा शिष्यो लंघयेन्न कदाचन ॥ ५७ ॥

भाषा टीका ।

और भी लिखा है कि गुरु पुत्र, गुरु की भार्या और गुरुदेव की ज्ञाति और संवन्धी गणों के प्रति भी नित्य गुरु की समान हिताचरण करे ॥ ५४ ॥

गुरु पुत्र का अंग मार्जन उसको स्नान कराना वा धोना, उसका उच्छिष्ट खाना और चरण धोना यह सव न करे । गुरुदेव का सवर्णपत्नी की गुरुवत पूजा करे और असवर्णा भार्या की केवल मात्र प्रत्युत्थान (अर्थात् नम्र भाव से खड़े होकर) तथा अभिवादन (प्रणाम) द्वारा सन्मान करना चाहिये । गुरुदेव की भार्या के अंग में तेल लगाना, उसको स्नान कराना, उसका अंगमार्जन (अँगोछे से शरीर का पौंछना) और वालों का सुधारना, यह सव कार्य करने अनुचित है ॥ ५५ ॥

देवीतंत्र में भी शिवजी ने कहा है कि—श्रीगुरुदेव की शय्या, आसन, यान, पादुका, पादपीठ (पैर धरने की चौकी) स्नान का जल और छाया कभी लंघन न करे। और गुरु देव के सन्मुख पृथक् पूजा तथा अभेदोक्ति * वर्जन करे । और उनके सन्मुख मंत्र - दान, व्याख्या और प्रभुत्व प्रकाश न करे ॥५६॥

नारद जी ने भी कहा है कि—जहां २ गुरु का दर्शन हो-उसी २ स्थान में हाथ जोड़ छिन्नमूल वृक्ष

* अभेदोक्ति ।—अर्थात् गुरुके सहित मेरा कुछ प्रभेद नहीं—

मनुस्मृतौ—

नोदाहरेद्गुरोर्नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गति-भाषण-चेष्टितम् ॥ ५८ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चाविसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ॥ ५९ ॥

श्रीनारदपञ्चरात्रे—

यथा तथा यत्र तत्र न गृह्णीयाञ्च केवलम् ।
अभक्त्या न गुरोर्नाम गृह्णीयाञ्च यतात्मवान् ॥
प्रणवः श्रीस्ततो नाम विष्णुशब्दोऽप्यनन्तरम् ।
पादशब्दसमेतः स्यान्नतमूर्द्धाञ्जलीयुतः ॥ ६० ॥

किञ्च—

न तमाज्ञापयेन्मोहात्तस्याज्ञां न च लंघयेत् ।
नानिवेद्य गुरोः किञ्चिद्भोक्तव्यं वा गुरोस्तथा ॥

अन्यत्र च—

आयान्तमग्रतो गच्छेद्गच्छन्तं तमनुव्रजेत् ।
आसने शयने वापि न तिष्ठेदग्रतो गुरोः ॥

भाषा टीका ।

के समान भूतल में दण्डवत् प्रणाम करे। शिष्य कभी गुरुदेव की आज्ञा, आसन, वाहन, खड़ाऊं. चर्म पादुका, वस्त्र और छाया न उलांघे ॥ ५७ ॥

मनुस्मृति में भी लिखा है कि—गुरु के पीछे में भी केवल मात्र गुरुका नाम उच्चारण न करे और श्रीगुरु के गति, स्वर और चेष्टा का अनुकरण न करे ॥ ५८ ॥

श्रीगुरु के गुरुदेव समीप होनेपर उनके प्रति गुरुदवके समान आचरण करे। गुरुकी आज्ञा न मिलनेपर अपने पिता माता इत्यादि गुरुजनकी वन्दना न करे ॥ ५९ ॥

नारदपंचरात्र में भी लिखा है — यतात्मवान् पुरुष जहां तहां चाहे जैसे हो, अभक्ति से गुरुदेव का नाम उच्चारण न करे । मस्तक झुकाय हाथजोड़ प्रणव श्री अमुक और इसके पीछे विष्णुपादयुक्त करके नाम उच्चारण करना चाहिये । अर्थात् (ओम् श्री अमुक विष्णुपाद) इस प्रकार कहे ॥ ६० ॥

और भी लिखा है कि—मोह के वशहोकर भी गुरुको किसी विषयमें अनुमति प्रदान न करे, अथवा उनकी आज्ञा उल्लंवन न करे । श्रीगुरुदेव को विना निवेदन किये कोई वस्तु भोजन न करे, तथा गुरुकी भी कोई वस्तु आज्ञाके विना भोजन नहीं करनी चाहिये । ग्रंथान्तर में भी लिखा है कि— गुरुजी को आवाहुआ देखनेपर उनके आगे गमन न करे— उनक गमन करने पर उनका अनुगामी होवे । उनके सन्मुख आसन वा शय्यापर अवस्थित न हो। अन्नपानादि-

यत्किञ्चिदन्नपानादि प्रियं द्रव्यं मनोरमम्।
समर्प्य गुरवे पश्चात् स्वयं भुञ्जीत प्रत्यहम्॥

विष्णुस्मृतौ—

न गुरोरप्रियं कुर्यात् ताडितः पीडितोऽपि वा।
नावमन्येत तद्वाक्यं नाप्रियं हि समाचरेत॥
आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा स याति परमां गतिम्॥ ६१॥

अन्यथा द्वयोरपि महादोषः। श्रीनारदपञ्चरात्रे —

यो वक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः।
तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम्॥ ६२॥

अथ शिष्यप्रार्थना॥ वैष्णवतन्त्रे।—

त्रायस्व भो! जगन्नाथ! गुरो! संसारवह्निना।
दग्धं मां कालदष्टञ्च त्वामहं शरणङ्गतः॥ ६३॥
तत्र श्रीवासुदेवस्य सर्वदेवशिरोमणेः।
पादाम्बुजैकभागेव दीक्षा ग्राह्या मनीषिभिः॥ ६४॥

भाषा टीका॥

जोकुछ मनोरम प्रिय वस्तु है पहिले तो वह गुरुदेव को निवेदन करके पीछे स्वयं भोजन करे। विष्णुस्मृतिमें भी लिखा है कि–गुरु के द्वारा ताड़ित वा पीड़ित होकर भी उनका अप्रिय साधन न करे। उनके बचन में उदासीनता और उनका अहिताचरण न करे। जो मनुष्य कर्मद्वारा, मनद्वारा, वाक्य द्वारा, प्राणद्वारा और धनद्वारा आचार्य (गुरु) का प्रिय साधन करते हैं– वह परमां गति को प्राप्त होते हैं॥ ६१॥

जिस प्रकार कहा गया इसके अन्यथा होने पर अर्थात् परीक्षा के विना गुरु-शुश्रूषा और मंत्र ग्रहण करने से गुरु एवं शिष्य दोनों को ही महादोष उपस्थित होता है। इस विषय का वर्णन नारदपंचरात्र में लिखा है–जो मनुष्य अन्याय से उपदेश प्रदान करता है और जो पुरुष अन्याय से सुनता है, वे दोनों ही अनन्त कालके लिये भयंकर नरक में जाते हैं॥ ६२॥

इसके अनन्तर शिष्यप्रार्थना कही जाती है- वैष्णवतंत्र में लिखा है कि–हे जगन्नाथ! हे गुरो! संसार अग्निद्वारा मुझ दग्ध और काल से डसे हुऐ की रक्षा करो। मैं आप की शरणागत हुआ हूं॥ ६३॥

ग्रहण करनो योग्य दीक्षा में, जो दीक्षा सर्वदेवशिरोमणि श्रीवासुदेव के चरणकमल का आश्रय करती है मनीषिगण उसी दीक्षा को ग्रहण करें॥ ६४॥ *

* यहां मनीषिगण कहने से यह समझा जाता है कि इस प्रकार के अन्यथा होने से ही निर्बुद्धिता प्रकाशित होती है।

अथ श्रीभगवन्माहात्म्यम्॥ प्रथमस्कन्धे।—

सत्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै —
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि-विरिञ्चि-हरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः॥ ६५॥

किञ्च—

अथापि यत्पाद-नखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थः॥ ६६॥

श्रीदशमस्कंधे —

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः क्षेमो यतोऽभयम्॥ ६७॥

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये यम-ब्राह्मणसम्बादे—

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते॥ ६८॥

भाषा टीका।

अनन्तर भगवन्माहात्म्य कथित होता है।- प्रथम स्कंध में लिखा है कि- सत्व, रज और तम- यह तीन प्रकृति के गुण हैं। एक मात्र परम पुरुष उक्त तीनों गुणों से युक्त होकर इस जगत् की स्थिति, सृष्टि, संहार के निमित्त हरि, ब्रह्मा और शिव, यह भिन्न भिन्न नाम धारण करते हैं-यह सत्य है; किन्तु तोभी सत्वतनु हरि से ही मनुष्यों को कल्याण लाभ होता है॥ ६५॥

और भी लिखा है कि-जिन के पद-नख से ब्रह्मा कर्तृक उपहृत (अर्थात विधाता द्वारा धोऐ हुए) अर्घ्योदक विनिर्गत होकर महेश्वर के सहित विश्व संसार को पवित्र करता है; उन मुकुन्द के अतिरिक्त और कौन, लोक में भगवत् पद का वाच्य होसक्ता है ? ॥ ६६॥

दशमस्कंध में भी लिखा है कि ऋषियों ने (भृगु कथित भगवन्माहात्म्य) श्रवण पूर्वक विस्मित और छिन्न संशय हो, जिनसे कल्याण वा शान्ति और अभय उत्पन्न होता है, उन विष्णु के प्रति ही महत् श्रद्धा करनी आरंभ की॥ ६७॥

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में यम ब्राह्मण

नारसिंहे—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुतक्षिप्य भुजमुच्यते ।
वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति न देवः केशवात् परः ॥ ६९ ॥

यतः पाद्मे —

अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्मतां व्रजेत् ।
सुप्रसन्ने हृषीकेशे विपरीते विपर्ययः ॥

तत्रैव श्रीभगवद्वाक्यम् —

मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्माय कल्पते ।
मामनादृत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥

अतएवोक्तं स्कान्दे श्रीब्रह्मनारदसम्वादे —

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते ।
स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वन्दते हि सः ॥

तत्रैवान्यत्र—वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते ।
त्यक्त्वामृतं स मूढात्मा भुङ्क्ते हालाहलं विषम् ॥ ७० ॥

महाभारते—

यस्तु विष्णुं परित्यज्य मोहादन्यमुपासते ।
स हेमराशिमुतसृज्य पांशुराशिं जिघृक्षति ॥

भाषा टीका ।

सम्वाद में लिखा है कि—तत्तत् पुराण और सर्व शास्त्र समूह चराचर जगत को मोह उत्पन्न कराने के लिये कल्पावधि तत्तद्देवता को प्रधान कह कर वर्णन करते हैं, सो करें, किन्तु संपूर्ण शास्त्रों के प्रयोजन का विचार करने से स्पष्ट ही स्थिर होगा कि एकमात्र विष्णु भगवान् ही को सब से श्रेष्ठ कह कर सिद्धान्त किया गया है ॥ ६८ ॥

नरसिंह पुराण में लिखा है कि—मैं भुजा उठाकर वारंवार (अर्थात तीनवार सत्य संभाषण पूर्वक) कहता हूं कि जैसे वेद से श्रेष्ठ शास्त्र और नहीं है, तैसे ही केशव से भी प्रधान देवता दूसरा दिखाई नहीं देता ॥ ६९ ॥

पद्म पुराण में भी लिखा है कि—वासुदेव के सन्तुष्ट होने पर शत्रु-मित्र, विष-पथ्य, और अधर्म भी धर्म होता है एवं उनके प्रसन्न न होने पर इन सब के विपरीत होता है। अर्थात् मित्र-शत्रु, पथ्य-विष और धर्म-अधर्म होता है। इसी पद्म पुराण में भगवान् ने भी स्वयं कहा है—कि मेरे उद्देश से किया पातक भी धर्म होता है और मेरा अनादर करने पर मेरे प्रभाव से धर्म भी पातक होजाता है अतएव स्कन्द पुराण के ब्रह्मनारद संवाद में कहा है कि—जो मनुष्य वासुदेव को छोड़कर अन्य देवता की आराधन करता है। वह अपनी माता को छोड़ कर श्वपची (चाण्डाली) की वंदना करता है। इसी स्कन्द पुराण के दूसरे स्थान में भी लिखा है कि—जो पुरुष वासुदेव को छोड़कर अन्य देवता की आराधना करता है—वह मूढ़ात्मा अमृत त्याग कर हालाहल विष पान करता है, इसमें संदेह नहीं ॥७०॥

महाभारत में लिखा है कि—जो मनुष्य मोहके

अनादृत्य तु यो बिष्णुमन्यदेवं समाश्रयेत् ।
गङ्गाम्भसः स तृष्णार्त्तो मृगतृष्णां प्रधावति ॥ ७१ ॥

पञ्चरात्रे--

यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेन दुर्मतिः ।
साधारणं सकृद्ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यजः ॥ ७२ ॥

वैष्णवतन्त्रे—

न लभेयुः पुनर्भक्तिं हरेरैकान्तिकीं जडाः ।
एकाग्रमनसश्चापि बिष्णुसामान्यदर्शिनः ॥

अन्यत्र च--

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म रुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेत् सदेति ॥ ७३ ॥

सहस्रनामस्तोत्रादौ श्लोकौघाः सन्ति चेदृशाः ।
बिशेषतः सत्वनिष्ठैः सेव्यो विष्णुर्नचापरः ॥

तथा च हरिवंशे श्रीशिववाक्यम् ।

हरिरेव सदाराध्यो भवद्भिः सत्वसंस्थितैः ।
विष्णुमन्त्रं सदा विप्राः पठध्वं ध्यात केशवमिति ॥

ईदृङ्माहात्म्यवाक्येषु संगृहीतेषु सर्वतः ।
ग्रन्थबाहुल्यदोषः स्याल्लिख्यन्तेऽपेक्षितानि तत् ॥ ७४ ॥

भाषा टीका ।

कारण विष्णुको परित्याग करके अन्य देवता की आराधना करता है वह सुवर्ण-राशि त्याग कर पांशुराशि (धूल का ढेर) ग्रहण करने का अभिलाषी होता है। जो मनुष्य वासुदेव का अनादर करके दूसरे देवताकी शरणागत होता है वह प्यास से आर्त होकर गंगाजल परित्याग पूर्वक मरीचिकाकी ओर दौडता है ॥ ७१ ॥

पंचरात्र में लिखा है कि — जो मूढमति मोह वशतः एक वार मात्र भी अन्य हीन देवों के सहित विष्णुकी तुलना करते हैं वह अन्त्यज यथार्थ में ही अन्त्यज हैं—चाण्डालादि अन्त्यज नहीं हैं ॥ ७२ ॥

वैष्णव तन्त्र में लिखा है कि — जो जड़ बुद्धि विष्णु के प्रति सामान्यदर्शी हैं अर्थात् अन्य देवताओं को विष्णु के समान जानते हैं वे एकाग्र चित्त होने पर भी पुनर्वार ऐकान्तिकी श्रीहरिभक्ति के प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते । अन्य स्थान में भी लिखा है कि—जो मनुष्य नारायण देवको ब्रह्म-रुद्रादि देवताओं के सहित तुल्य समझकर दर्शन करता है वह निरन्तर पाषण्डी होता है ॥ ७३ ॥

सहस्रनाम स्तोत्रादि में ऐसे अनेक श्लोक विद्यमान हैं कि-सत्वनिष्ठ मनुष्यगण विशेष प्रकार से विष्णुकी उपासना करें उनके अतिरिक्त अन्य किसी देवता की आराधना न करें । हरिवंश में

अथ श्रीवैष्णवमन्त्र-माहात्म्यम् । आगमे—

मन्त्रान् श्रीमन्त्रराजादीन् वैष्णवान् गुर्वनुग्रहात् ।
सर्वैश्वर्यं जपन् प्राप्य याति विष्णोः परं पदम् ॥
पुण्यं वर्ष-सहस्रैर्यैः कृतं सुविपुलं तपः ।
जपन्ति वैष्णवान्मन्त्रान्नरास्ते लोकपावनाः ॥

वैष्णवे च—

प्रजपन् वैष्णवान्मन्त्रान् यं यं पश्यति चक्षुषा ।
पदा वा संस्पृशेत् सद्यो मुच्यतेऽसौ महाभयादिति ॥ ७५ ॥
लिख्यते विष्णु-मन्त्राणां महिमाथ विशेषतः ।
तात्पर्यतः श्रीगोपाल-मन्त्रमहात्म्य-पुष्टये ॥ ७६ ॥
तत्र द्वादशाक्षराष्टाक्षरयोर्माहात्म्यम् ॥ ७७ ॥

पद्मपुराणे देवदूतविकुण्डल-सम्वादे —

साङ्गं समुद्रं सन्यासं सऋषिच्छन्ददैवतम् ।
सदीक्षाविधि सध्यानं सयन्त्रं द्वादशाक्षरम् ॥
अष्टाक्षरञ्च मन्त्रेशं ये जपन्ति नरोत्तमाः ।
तान् दृष्ट्वा ब्रह्महा शुध्येत्ते यतो विष्णवः स्वयम् ॥

भाषा टीका ।

शिवजी ने भी कहा है कि—हे ब्राह्मण गण ! तुम सब सात्विक भाव से सदा हरि की आराधना करो, सदा विष्णु-मंत्र का जप करो, और केशव का ध्यान करो । संपूर्ण शास्त्रों से इस प्रकार भगवन्माहात्म्यसूचक वाक्य-संग्रह करने पर ग्रंथ-वाहुल्य दोष होता, इस कारण जो सब वचन आवश्यक है-वे ही लिखते हैं ॥ ७४ ॥

अव वैष्णवमंत्र का माहात्म्य कहा जाता है।—आगम में लिखा है कि जो मनुष्य गुरुदेव की कृपा से श्रीमंत्रराजादि वैष्णवमंत्र जपते जपते समस्त ऐश्वर्य लाभ करके विष्णु के परम पद में गमन करते हैं, जिन मनुष्यों ने हजार वर्ष तक विपुल पवित्र तपस्या का अनुष्ठान किया है— वेही सब लोकपावन मनुष्य वैष्णवमंत्र जपते हैं । वैष्णवतंत्र में भी कहा है कि—वैष्णवमंत्र जपते जपते जिसको जिसको देखा जाय अथवा जिस जिसको चरण से स्पर्श किया जाय वह तत्काल महाभय से छूटजाता है ॥ ७५ ॥

अब विशेष प्रकार से विष्णु मंत्रों की महिमा लिखी जाती है, इन सब के तात्पर्य में श्रीगोपाल देव की महिमा ही पुष्टि को प्राप्त होगी ॥ ७६ ॥

तिन में द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर मंत्र का माहात्म्य वर्णित होता है।— पद्म पुराण के देव-दूत विकुण्डल संवाद में लिखा है—कि जो नरोत्तम अङ्ग, मुद्रा, न्यास, ऋषि, छन्द, देवता, दीक्षाविधि ध्यान, यंत्र—इन सब के साहित द्वादशाक्षर और अष्टाक्षरमंत्रराज का जप करते हैं—उन का

शङ्खिनश्चक्रिणो भूत्वा ब्रह्मायुर्वनमालिनः ।
वसन्ति वैष्णवे लोके विष्णुरूपेण ते नराः ॥ ७८ ॥

तत्रैव द्वादशाक्षरस्य ॥ ७९ ॥ चतुर्थस्कन्धे ध्रुवं प्रति श्रीनारदोक्तौ—

जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ! ।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥ ८० ॥

श्रीविष्णुपुराणे—

गत्वा गत्वा निवर्त्तन्ते चन्द्र-सूर्यादयो ग्रहाः ।
अद्यापि न निवर्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः ।

अष्टाक्षरस्य यथा-नारदपंचरात्रे—

त्रयो वेदाः षडङ्गानि च्छन्दांसि विविधाः सुराः ।
सर्वमष्टाक्षरान्तःस्थं यच्चान्यदपि वाङ्मयम् ॥
सर्ववेदान्तसारार्थः संसारार्णवतारणः ।
गतिरष्टाक्षरो नृणां नपुनर्भवकाङ्क्षिणाम् ॥
यत्राष्टाक्षरसंसिद्धो महाभागो महीयते ।
न तत्र सञ्चरिष्यन्ति व्याधि-दुर्भिक्ष-तस्कराः ।
देव-दानव-गन्धर्वाः सिद्ध-विद्याधरादयः ।
प्रणमन्ति महात्मानमष्टाक्षरविदं नरम् ॥
व्यक्तं हि भगवानेव साक्षान्नारायणः स्वयम् ।
अष्टाक्षरस्वरूपेण मुखेषु परिवर्त्तते ॥ ८१ ॥

भाषा टीका ।

दर्शन करने पर ब्रह्मघाती मनुष्य भी विशुद्ध होता है, क्यों—कि वह स्वयं विष्णुस्वरूप हैं । वह सब मनुष्य शंख, चक्र और वनमाला से विभूषित हो ब्रह्माजी की परमायु लाभ कर विष्णुरूप से वैष्णव लोक में वास करते हैं ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

तिन में ही द्वादशाक्षर मंत्र का माहात्म्य कहा जाता है ॥ ७९ ॥

चौथे स्कन्ध में ध्रुवजी से नारदजी ने कहा है कि—हे नृपात्मज ! परमगुप्त मंत्र मुझ से सुनो यह मंत्र सात रात्रि जपने से मनुष्य खेचरादि को देख सकता है । विष्णुपुराण में लिखा है कि—चन्द्रसूर्यादि ग्रह-कुल वारंवार गमन कर के लौटते हैं—किन्तु द्वादशाक्षर मंत्र की चिन्ता करने वालों ने अभी तक संसार में पुनरागमन नहीं किया है । अष्टाक्षरमंत्र के माहात्म्य सम्बन्ध में नारदपंचरात्र इस प्रकार लिखा है—वेदत्रय (१) षड़ङ्ग (२) छन्दःसमूह (३) संपूर्ण देवता और अन्यान्य

(१) वेदत्रय-साम,यजुः, ऋक् । (२) षडंग-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त. छन्द, ज्योतिष । (३) छन्दः समूह—काव्य इत्यादि ।

पाद्मोत्तरखण्डे—

एवमष्टाक्षरो मन्त्रो ज्ञेयः सर्वार्थसाधकः ।
सर्वदुःखहरः श्रीमान् सर्वमन्त्रात्मकः शुभः ॥ ८२ ॥

लिङ्गपुराणे—

किमन्यैर्वहुभिर्मन्त्रैः किमन्यैर्वहुभिर्व्रतैः ।
"नमो नारायणाये"ति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु "नमो नारायणे"ति यः ।
जपेत् स याति विप्रेन्द्र ! विष्णु-लोकं सवान्धवः ॥

भविष्यपुराणे—

अष्टाक्षरो महामन्त्रः सर्वपापहरः परः ।
सर्वेषां विष्णुमन्त्राणां राजत्वे परिकीर्त्तितः ।

श्रीशुक-व्याससम्वादे च ।

"नमो नारायणाये"ति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
भक्तानां जपतां तात ! स्वर्ग-मोक्ष-फलप्रदः ॥
एष एव परो मोक्ष एष स्वर्ग उदाहृतः ।
सर्ववेद-रहस्येभ्यः सार एष समुद्धृतः ।

भाषा टीका ।

वाङ्मय जो कुछ है—वह सभी अष्टाक्षर मंत्र के मध्य में स्थित है, संपूर्ण वेदान्त का सारार्थस्वरूप, संसारसागर की नौकास्वरूप अष्टाक्षर— मंत्र मुक्तिकामी मनुष्यों की एक मात्र गति है । अष्टाक्षर—मंत्रसिद्ध महाभाग मनुष्य जिस स्थान में वास करता है, वहां व्याधि, दुर्भिक्ष और तस्कर भ्रमण करने में समर्थ नहीं होते । देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधर इत्यादि सभी अष्टाक्षरमंत्रवित् महात्मा को प्रणाम करते हैं । साक्षात् भगवान् नारायण स्वयं अष्टाक्षरमंत्ररूप से मनुष्यों के मुख में प्रादुर्भूत होते हैं । यह स्पष्ट ही प्रत्यक्ष होता है ॥ ८०—८२ ॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में लिखा है कि एवंविध सर्वार्थसाधक, सर्वदुःखनाशक, श्रीमान् (४) सर्वमंत्रात्मक, कल्याणस्वरूप अष्टाक्षरमंत्र को परिज्ञात होना चाहिये ॥ ८२ ॥

लिंगपुराण में लिखा है कि अन्य वहुत से मंत्रों का क्या प्रयोजन है, वा अन्य वहुत से व्रतों का ही क्या आवश्यकता है, " नमो नारायणाय " यही मंत्र सर्वार्थ—साधक है, अतएव जो मनुष्य सदा (नमो नारायणाय) जप करता है, हे विप्र-श्रेष्ठ ! वह सवांधव विष्णु पुर में जाता है। भविष्य-पुराण में लिखा है कि-अष्टाक्षर महामंत्र ही सर्व पापनाशक और श्रेष्ठ है । सव विष्णु—मंत्रों में ही यह मंत्रराज कहा जाता है। श्रीशुक—व्याससंवाद

(४) श्रीमान् ।— श्रीप्रद अर्थात उपासक को श्री जनक ।

विष्णुना वैष्णवानान्तु हिताय मनुना पुरा।
कीर्तितः सर्वपापघ्नः सर्वकाम-प्रदायकः॥
"नारायणाय नम" इत्ययमेव सत्यं संसार घोरविष-संहरणाय मंत्रः।
शृण्वन्तु सत्यमतयो मुदितास्तरागा उच्चैस्तरामुपदिशाम्यहमूर्द्धवाहुः॥
भूत्वोर्द्धवाहुरद्याहं सत्यपूर्वं ब्रवीमि वः।
हे पुत्र! शिष्याः! शृणुत न मन्त्रोऽष्टाक्षरात् परः॥ ८३॥

अतएवोक्तं गारुडे—

आसीनो वा शयानो वा तिष्ठानो यत्र तत्र वा।
"नमो नारायणाये" ति मन्त्रैकशरणो भवेत्॥ ८४॥

अथ श्रीनारसिंहानुष्टुभमन्त्रराजस्य॥

तापनीयश्रुतिषु—

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् "तस्य आनुष्टुभमन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूही"ति। स होवाच प्रजापतिः। य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स आदित्यपूतो भवति, सोऽग्निपूतो भवति, स वायुपूतो भवति, स सूर्यपूतो भवति, स चन्द्रपूतो भवति, स सत्यपूतो भवति, स ब्रह्मपूतो भवति, स विष्णुपूतो भवति, स रुद्रपूतो भवति, स सर्वपूतो भवति। तत्रैवान्ते—अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समं, उपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं, गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं, वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं, यतीनान्तु शतं पूर्णरुद्रजापकेन तत्समं, रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वाङ्गिरसशाखाध्यापकेन तत्समं, अथर्वाङ्गिरसशाखाध्यपकशतमेकमेकेन मन्त्रा-

---

भाषा टीका।

में लिखा है कि—(नमोनारायणाय) यह मंत्र सर्वार्थ साधक है। हे तात? यह मंत्र; जपने वाले भक्तों पक्ष में स्वर्ग और मोक्ष का फल देने वाला है। यही परम मोक्ष, और यही स्वर्ग कहकर उदाहृत होता है। विष्णु जी ने वैष्णवगणों के हितार्थ सर्व वेदों के रहस्य से यह मंत्ररूप सार समुद्धृत किया है। पूर्वकाल में मनुने भी सर्वपापनाशक सर्वकामप्रद इस मंत्र का जप कियाथा। सत्य परायण विरक्त मनुष्यगण श्रवण करें, मैं उद्धवाहु हो अर्थात् भुजा उठाकर उच्चस्वर से यह उपदेश करता हूं (नारायणाय नमः) यही;—घोर संसाररूप विष नाशन का प्रकृत मंत्र है। हे पुत्र! हे शिष्यगण! इस समय में ऊर्द्धवाहु हो सत्य करके मैं तुम से कहता हूं सुनो,—अष्टाक्षर मंत्र की अपेक्षा श्रेष्ठ मंत्र और नहीं है॥ ८३॥

अतएव गरुड़पुराण में कहा है कि—बैठा हो, सोते हो अथवा जहां तहां अवस्थित हो, केवल मात्र (नमो नारायणाय) इसी मंत्र की शरणागत होवे॥ ८४॥

अब नारसिंह आनुष्टुभ मंत्रराज का माहात्म्य वर्णित होता है,—तापनीय श्रुति में लिखा है कि देवताओं ने स्पष्ट वचनों के द्वारा प्रजापति से कहा, हे प्रजापते! आनुष्टुभ नारसिंहमंत्रराज

राजाध्यापकेन तत्समं । तद्वा एतत् परं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न दुःखादि, यत्र न सूर्यो भाति, यत्र न वायुर्वाति, यत्र न चन्द्रमास्तपति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति, यत्र नाग्निर्दहति, यत्र न मृत्युः प्रविशति, यत्र न दोषः । तत् सदानंदं शाश्वतं शान्तं सदाशिवं ब्रह्मादि-वान्दितं योगि-ध्येयं, यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः । तदेतदृचाभ्युक्तं तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥

अथ श्रीराममन्त्राणां माहात्म्यम् ।

अगस्त्यसंहितायाम्—

सर्वेषु मन्त्रवर्गेषु श्रेष्ठं वैष्णवमुच्यते ।
गाणपत्येषु शैवेषु शाक्त-शौरेष्वभीष्टदम् ॥
वैष्णवेष्वपि मन्त्रेषु राममन्त्राः फलाधिकाः ।
गाणपत्यादिमन्त्रेषु कोटिकोटिगुणाधिकाः ॥
विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र ! पुरश्चर्यां विनैव हि ।
विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः ॥
मन्त्रेष्वष्टस्वनायासफलदोऽयं षड़क्षरः ।
षड़क्षरोऽयं मन्त्रस्तु महाघौघनिवारणः ॥

भाषा टीका ।

का फल हमारे निकट वर्णन करो । तब प्रजापति ने कहा—जो मनुष्य इस आनुष्टभ नारसिंह मन्त्र—राज का अध्ययन करता है—वह देवपूत होता है, अग्निपूत होता है, वायुपूत होता है, सूर्यपूतं होता है, चन्द्रपूत होता है, सत्यपूत होता है, ब्रह्मपूत होता है, विष्णुपूत होता है, रुद्रपूत होता है, और वह सर्वपूत होता है । इसी तापनीयश्रुति के शेष में भी लिखा है कि—शतसंख्यक अनुपनीत (जिस का यज्ञोपवीत आदि संस्कार न हुआ हो) मनुष्य एक उपनीत मनुष्य के तुल्य, एक सौ उपनीत मनुष्य एक गृहस्थ के तुल्य, एक सौ गृहस्थ एक वानप्रस्थ के तुल्य, एक सौ वानप्रस्थ—एक यति (भिक्षुकाश्रमी) के तुल्य, एक सौ यति पूर्णरुद्रजापक के तुल्य, एक सौ रुद्रजापक एक आथर्व और आङ्गिरस—शाखाध्यापक के तुल्य, और एक सौ आथर्व एवं आङ्गिरस—शाखाध्यायी एक नृसिंहमंत्र—राजाध्यापक के तुल्य है । और भी लिखा है कि जो मनुष्य नारसिंह मंत्रराज का अध्ययन करता है वह जिस स्थान में वास करता है वही परम धाम है । जिस स्थान में दुःखादि नहीं, जिस स्थान में सूर्य ताप नहीं देते, जिस स्थान में वायु प्रवाहित नहीं होता, जहां निशानाथ (चंद्रमा का) ताप नहीं है, जिस स्थान में नक्षत्रसमूह प्रकाशित नहीं होते, जहां अग्नि दग्ध करने में समर्थ नहीं है, जहां मृत्यु प्रवेश करने में समर्थ नहीं है, और जिस स्थान में कोई दोष नहीं है, (वह उसी परम धाम में वास करता है) वह स्थान सदानन्दमय, शाश्वत, शान्तिपूर्ण सदा कल्याणमय

मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः।
दैनन्दिनन्तु दुरितं पक्षमासर्त्तुवर्षजम् ॥
सर्वं दहति निःशेषं तूलाचलमिवानलः।
ब्रह्महत्या-सहस्राणि ज्ञानाज्ञानकृतानि च ॥
स्वर्णस्तेयसुरापानगुरुतल्पयुतानि च।
कोटिकोटिसहस्राणि ह्युपपापानि यान्यपि।
सर्वाण्यपि प्रणश्यन्ति राममन्त्रानुकीर्त्तनात् ॥

तापनीयश्रुतिषु च—

य एतत्तारकं ब्रह्मणो नित्यमधीते स पाप्मानं तरति, स मृत्युं तरति, स भ्रूणहत्यां तरति, स सर्वहत्यां तरति, स संसारं तरति, स सर्वं तरति, विमुक्ताश्रितो भवति, सोऽमृतत्वञ्च गच्छति।

भाषा टीका।

ब्रह्मादिवंदित और योगियों का ध्येय अर्थात ध्यान करने योग्य है, वहां योगिगण गमन करने पर फिर नहीं लौटते, जिस प्रकार आकाश में विस्तृत अर्थात् वाधाहीन नेत्र स्पष्टरूप से समस्त दर्शन करते हैं; उसी प्रकार योगिगण विष्णु का वेदकथित एवं विदित प्रधान स्वर्ग स्थान नेत्रगोचर (दर्शन) करते हैं। मेधावी विशेष प्रकार से स्तवकारी और प्रमादहीनता के कारण शब्दार्थविषय में—जागरूक (१) सुधीगण विष्णु के परमपद को सम्यक् प्रकार प्रकाशित करते हैं।

अव राममंत्र का माहात्म्य कहा जाता है। अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि—गाणपत्य, शैव, शाक्त, सौर इत्यादि सव मंत्रों में वैष्णवमंत्र ही श्रेष्ठ, और अभीष्ट—फलदायक कहा गया है। वैष्णवमंत्रों में राममंत्र ही अधिकतर फलप्रद। और वह गाणपत्यादि मंत्रसमूह से करोड़ करोड़—गुण श्रेष्ठ है। हे विप्रसत्तम! दीक्षा के विना भी केवल मात्र जप द्वारा ही राममंत्र सिद्धिदायक होता है। आठप्रकार के राममंत्र में षड़क्षर मंत्र ही (२) अनायासफलदायक है। यह षड़क्षर मंत्र महापाप निवारक एवं मंत्रराज कह कर आभिहित, और वह सव मंत्रों में उत्तमोत्तम है। अग्नि जिस प्रकार तूलाचल (रुई का पर्वत) भस्म करती है, वैसे ही यह षड़क्षरमंत्र दैनन्दिन पाप (प्रतिदिन का पाप) पक्ष का पाप, मास का पाप, ऋतु का पाप और वर्ष का पाप इत्यादि सव पापों को ही निःशेषरूप से भस्मकरता है। राममंत्र—कीर्त्तन करने से ज्ञानाज्ञानकृत अर्थात जानकर वा विना जानकर करी हुई सहस्र सहस्र ब्रह्महत्या, सुवर्ण की चोरी, सुरापान, गुरु—भार्यागमन और सहस्र सहस्र करोड़ करोड़ जो सव उपपातक हैं— वे सव नाश को प्राप्त होते हैं। तापनीय श्रुति में भी लिखा है कि–जो ब्राह्मण यह रक्षाकारक राममंत्र नित्य अध्ययन करते हैं— वे पापों से उत्तीर्ण होते हैं, और मृत्यु के हात से रक्षा पाते हैं, वे भ्रूणहत्या के पाप से उत्तर्णि होते हैं, वे सवप्रकार हत्याजनित पाप से रक्षा पाते हैं, वे संसार से उत्तर्णि होते हैं, वे सव विषयों से

(१) शब्दार्थ विषय में जागरूक अर्थात् जो शब्द का यथार्थ अर्थ जानने में समर्थ है।

(२) षडक्षर राममंत्र यथा—"ओं नमो रामाय"।

अथ श्रीगोपालदेव-मन्त्रमाहात्म्यम् ।

मन्त्रास्तु कृष्णदेवस्य साक्षाद्भगवतो हरेः ।
सर्वावतारवीजस्य सर्वतो वीर्यवत्तमाः ॥ ८५ ॥

तथा च वृहद्गौतमीये श्रीगोविन्दवृन्दावनाख्ये—

सर्वेषां मन्त्रवर्य्याणां श्रेष्ठो वैष्णव उच्यते ।
विशेषात् कृष्णमनवो भोगमोक्षैकसाधनम् ॥
यस्य यस्य च मन्त्रस्य यो यो देवस्तथा पुनः ।
अभेदात्तन्मनूनाञ्च देवता सैव भाष्यते ॥
कृष्ण एव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः ।
स्मृतिमात्रेण तेषां वै भुक्तिमुक्तिफलप्रदः । इति ॥
तत्रापि भगवत्तां स्वां तन्वतो गोपलीलया ।
तस्य श्रेष्ठतमा मन्त्रास्तेष्वप्यष्टादशाक्षरः ॥ ८६ ॥

अथ अष्टादशाक्षर-माहात्म्यम् । तापनीयश्रुतिषु—

ओम् मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः—कः परमो देवः कुतो मृत्युर्विभेति, कस्य ज्ञानेनाखिलं ज्ञातं भवति, केनेदं विश्वं संसरतीति । तानुहोवाच ब्राह्मणः—कृष्णो वै परमं दैवतं गोविन्दान्मृत्युर्विभेति । गोपीजनवल्लभज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति, स्वाहयेदं संसरति । तमुहोचुः—

भाषा टीका ।

उत्तीर्ण होते हैं, वे मुक्त भगवद्भक्तों का आश्रय लाभ करते हैं, और अमृतत्व अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होते हैं ।

अव श्रीगोपालदेव के मंत्र का माहात्म्य कहा जाता है,— सव अवतारों के वीजस्वरूप साक्षात भगवान् हरि श्रीकृष्णदेव के मंत्र सर्व मंत्रों से अधिक वीर्यशाली हैं ॥ ८५ ॥

वृहद्गौतमीयतंत्र के श्रीगोविन्दवृन्दावनाख्य स्थान में लिखा है कि—सव श्रेष्ठमंत्रों में वैष्णव मंत्र ही प्रधान कहा गया है । विशेषतः कृष्णमंत्र समस्त ही भोग और मोक्ष का एकमात्र साधन है । जिस जिस मंत्र का जो जो देवता है—ऐक्यतावोधक श्रीकृष्ण ही तत्तद्देवता के मंत्रवर्गों को देवतारूप में कीर्तित होते हैं । श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्दमूर्त्ति परब्रह्म हैं, उनके स्मरणमात्र से ही वे उक्त मंत्रों के पक्ष में भुक्ति-मुक्तिफलप्रद होते हैं अर्थात इन सव मंत्रों को भुक्ति मुक्ति फल देने में समर्थ करते हैं । द्वारकानाथ दैवतादि मंत्रों से भी श्रीकृष्ण ने जिस रूप में गोपलीला—द्वारा अपनी भगवत्ता विस्तार की है;—उसी रूप के मंत्र समूह ही सम्यक् प्रकार से प्रधान हैं; अर्थात सव कृष्णमंत्रों में गोपालदेव का मंत्र ही प्रधानतम है । परन्तु उन सव से फिर अष्टादशाक्षरमंत्र श्रेष्ठ है ॥ ८६ ॥

अव अष्टादशाक्षर मंत्र का महात्म्य कहा जाता है तापनीय श्रुति में लिखा है कि—सनकादिक तपस्वियों ने ब्रह्माजी के निकट स्पष्ट रूपसे पूछा कि—परमदेवता कौन हैं ? किस पुरुष से मृत्यु का भय होता है ? किसको जानने से सव कुछ जाना जा सकता है ? किस पुरुष के द्वारा यह संसार प्रव-

कः कृष्णो, गोविन्दः कोऽसाविति, गोपीजनवल्लभः कः, का स्वाहेति। तानुवाच ब्राह्मणः—पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो वेदिता गोपीजनाविद्याकलाप्रेरकस्तन्माया चेति स सकलं परं ब्रह्म तद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति। ते होचुः—किं तद्रूपं किं रसनं कथं हो तद्भजनं तत् सर्वं सुविविदिषतामाख्याहीति। तदुहोवाच हैरण्यः। गोपवेशमभ्राभ तरुणं कल्पद्रुमाश्रितमित्यादि। किञ्च—तत्रैवाग्रे। भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन्मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्यं, कृष्णं तं वहुधा विप्रा यजन्ति, गोविन्दं सन्तं वहुधा धारयन्ति, गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्रे, स्वाहाश्रितो जगदेजयत् स्वरेताः। वायुर्यथैवापघनं प्रविष्टो जन्ये जन्ये पञ्चरूपो वभूव। कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदोऽवभातीति।

किञ्च तत्रैवोपासनाविधिकथनानन्तरम्—

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् वहुधा योऽवभाति। तं पीठस्थं येऽनुयजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। नित्यो नित्यानां

भाषा टीका।

र्तित होता है? तव ब्रह्माजी ने तपस्वियों के प्रति स्पष्ट रूपसे कहा—श्रीकृष्णही परम देवता हैं, श्रीगोविन्द से मृत्युको भय होता है, श्रीगोपीजनवल्लभ को जानने से ही सव विषय जाना जा सकता है। और स्वाहा द्वारा यह संसार प्रवर्तित होता है। उन तपस्वियों ने फिर स्पष्ट रूप से ब्रह्माजी को पूछा "श्रीकृष्ण कौन है? गोविन्द कौन हैं? गोपीजनवल्लभ कौन हैं? और स्वाहा कौन हैं?" तव ब्रह्माजी ने उनसे कहा—"पापकर्षणार्थ कृष्ण हैं। जो स्वर्ग में, भूमि में और वेद में प्रसिद्ध है, और इन सवसे परिज्ञात हैं—इस अर्थ से गोविन्द हैं। गोपीजन शब्द से अज्ञानांश–समझा जाता है, उसका वल्लभ है। स्वाहा अर्थ से माया–यह सव पर ब्रह्म हैं। जो मनुष्य उनका ध्यान करता है, कीर्त्तनादि द्वारा आस्वादन और भजना करता है, वह अमृत अर्थात मुक्त होता है"। तपस्वियों ने (फिर) स्पष्टरूप से पूछा, "उनका रूप कैसा है? उनका आस्वादन क्या है? और भजना किस प्रकार है? यह सव हम उत्तम प्रकार से जानने की इच्छा करते हैं, अतएव उसको वर्णन कीजिये" तव ब्रह्मा जी ने इस विषय को स्पष्टरूप से कहा "जो गोपवेशधारी, नवनिमेघ की समान श्यामल, तरुणवयस्क, कल्पतरु की मूल में स्थित" इत्यादि। इसी गोपाल तापनीय श्रुति के कुछ आगे और भी लिखा है कि—इन श्रीकृष्ण की भक्ति को ही भजन कहते हैं, इसके पछि दोनों लोक की उपाधि विसर्जन कर श्रीकृष्ण में जो मन की धारणाहै,—वही भक्ति कहकर निर्दिष्ट है, और इस भक्ति को ही कर्म सून्यता कहते हैं। ब्राह्मणगण उन्हीं श्रीकृष्ण की नानारूप में अर्चना करते हैं, नित्यस्वरूप श्रीगोविन्द का अनेक रूप में ध्यान करते हैं, श्रीगोपीजनवल्लभ संपूर्ण भुवन की रक्षा करते हैं, और स्वाहा को आश्रय पूर्वक अपने उत्पन्न किये जगत् को प्रवर्त्तित किया है। जिस प्रकार वायु देह में प्रविष्ट होकर प्रतिदेह में प्राणादि पंचरूपता को प्राप्त हुआ है—इसी प्रकार श्रीकृष्ण एक मात्र होकर भी विश्व के हितार्थ पंचपद में विभक्त होकर (१) विराजमान रहते हैं। और भी इस गोपालतापनी में उपासनाविधि-वर्णन के पछि लिखा है कि———

(१) पंचपद में विभक्त होकर अर्थात् अष्टादशाक्षर के पंचपद में विभक्त होकर। यथा,—क्लीं, कृष्णाय, गोविन्दाय, गोपीजनवल्लभाय, स्वाहा।

चेतनश्चेतनानां,-मेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तं पीठगं येऽनुयजन्ति विप्रा,-स्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषां। एतद्धि विष्णोः परमं पदं ये, नित्योद्युक्ताः संयजन्ते न कामात्। तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात, प्रकाशयेदात्मपदं तदेव। यो ब्राह्मणं[1] विदधाति पूर्वं यो, विद्यास्तस्मै गापयाति स्म कृष्णः। तं प्रेमात्मबृत्तिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजेत्। ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति, गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं तं। तस्म चासौ दर्शयेदात्मरूपं, तथा मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै। तस्मादन्ये पञ्चपदादभूवन्, गोविन्दस्य मनवो मानवानां। दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत्।

किञ्च तत्रैव —

तदुहोवाच ब्राह्मणोऽसावनवरतं मे ध्यातः स्तुतः परार्द्धान्ते सोऽवबुध्यत गोपवेशो मे

(१) "ब्रह्माणं" इति पाठो बहुत्र।

भाषा टीका।

परब्रह्म श्रीकृष्ण एक वशी, सर्वग, कृष्ण—ईड्य और वह एक होकर भी बहुधा प्रतिभात होते हैं। (१) जो समस्त धीरगण उन श्रीकृष्ण को पीठस्थ दर्शनपूर्वक एकाग्रचित्त से पूजा करते हैं,—उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है। किन्तु उनके अतिरिक्त अन्यान्य मनुष्यों को अर्थात् भगवद्भक्तिहीन मनुष्यों को उस सुख की आशा नहीं है। जो नित्यसमूह में नित्य, चेतन पदार्थों में चेतन और जो एक होकर भी बहुत जनों की कामना पूरण करते हैं, जो धीरगण उनको पीठस्थ दर्शन पूर्वक आराधना करते हैं,—उन्हींको शाश्वती सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यान्य मनुष्यों को अर्थात् तदुपासनाविमुख मनुष्यों को उस सिद्धि के प्राप्त होने की आशा नहीं है। जो मनुष्य नित्य यत्नवान् और निष्काम होकर सम्यक् प्रकार से विष्णु के परम पदकी उपासना करते हैं—उनके यत्न निबन्धन अर्थात भक्तिरूप यत्न के परवश गोपरूपी श्रीकृष्ण शीघ्र उनको शास्त्रप्रसिद्ध आत्मपद का दर्शन कराते हैं। जिन श्रीकृष्ण ने पूर्व में सृष्टि के समय ब्रह्माजी को उत्पन्न किया था, और जिन्होंने उन ब्रह्माजी के गोपालविद्यारूप वेदसमूह का अध्ययन किया था। मुमुक्षगण उन्हीं प्रेमात्मवृत्ति — प्रकाशक (२) श्रीकृष्णदेव की शरण ग्रहण करें। जो गोविन्द का यह पंचपद मनु (मंत्र) ओंकार पुटित करके जपते हैं, श्रीकृष्ण उनको आत्मरूप दिखाते हैं, सुतरां मुमुक्षु मनुष्य अविनश्वर शान्ति सुख के लिये इस मंत्र का अभ्यास करें। इस पंचपद अष्टादशाक्षर मंत्र के अतिरिक्त श्रीगोविंद के दशाक्षरादि अन्यान्य मंत्र भी हैं। ऐश्वर्य की कामना करने वाले इन्द्रादिदेवता यथावत इन सब मंत्रों की उपासना करते हैं।

गोपाल तापनी में और भी लिखा है कि-ब्रह्माजीने स्पष्टरूप से कहा था कि–निरतरं इनका ध्यान और स्तुतिवाद करने

(१) एक—सजातीय, विजातीय, और स्वगत भेद शून्य। वशी—सब जिसके वशीभूत। सर्वग—देश, काल और द्रव्य से अपरिच्छिन्न। ईड्य — ब्रह्मादि देवताओं के कर्त्तृक स्तवनीय। एक होकर भी बहुधा प्रतिभात होते हैं—अर्थात् विश्व संसार की रक्षा के लिये देहान्तर्गत वायुवत् पूर्वोक्त पंचरूप में प्रकाशित होते हैं।

(२) प्रेमात्मवृत्ति प्रकाशक — प्रेमद्वारा—आत्मबुद्धिप्रकाशक अर्थात् स्वप्रकाशक देव।

पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव। ततः प्रणतेन मयानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णं स्वरूपं सृष्टये दत्तान्तर्हितः, पुनः सिसृक्षा मे प्रादुरभूत्, तेष्वक्षरेषु भविष्यज्जगद्रूपं प्राकाशयत्। तदिह कात् आपो, लात् पृथिवी, ईतोऽग्निः, बिन्दोरिन्दुः, तन्नादादर्क इति क्लींकारादसृजं, कृष्णादाकाशं याद्वायुरित्युत्तरात् सुरभिं विद्यां प्रादुरकार्षं तदुत्तरात् स्त्रीपुमादि चेदं सकलमिदमिति।

तथा च गौतमीयतन्त्रे—

'क्लीं' कारादसृजद्विश्वमिति प्राह श्रुतेः शिरः।
'ल' कारात पृथिवी जाता 'क' काराज्जलसम्भवः॥
'ई' काराद्वह्निरुत्पन्नो नादाद्वायुरजायत।
'बिन्दो' राकाशसम्भूतिरिति भूतात्मको मनुः॥
'स्वा' शब्देन च क्षेत्रज्ञो 'हे'ति चित्प्रकृतिः परा।
तयोरैक्यसमुद्भूतिर्मुखवेष्टनवर्णकः।
अतएव हि विश्वस्य लयः स्वाहार्णके भवेत्॥

पुनश्च सा श्रुतिः—

एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयित्वा ओंकारान्तरालकं मनुमावर्त्त-

भाषा टीका।

से वह परार्द्धकाल पीछे जाग्रत होकर गोपरूपी पुरुष मेरे सन्मुख प्रकट हुए थे। इसके पीछे मेरे कर्त्तृक प्रणत होने पर वह कृपायुक्तचित्त से मुझको सृष्टि करने के लिये अष्टादशवर्णमय स्वरूप अर्पण करके अन्तर्धान होगये। इसके उपरान्त पुनर्वार मेरी सृजनेच्छा होने पर (मेरे सन्मुख प्रकट हुए और पुनः स्तुत होकर अर्थात् मेरे द्वारा स्तुति किये जाने पर) उन्होंने भी उन समस्त वर्णों में भविष्यत् जगत् का रूप प्रकाश किया—तब ककार से अप् (जल) लकार से क्षिति, (पृथ्वी) ईकार से अग्नि, बिन्दुसे चंद्र और तन्नाद से सूर्य उत्पन्न हुए। इस प्रकार 'क्लीं' से यह सब सृजन किया। 'कृष्ण' शब्द से आकाश, 'य'कार से वायु, तत्परस्थित 'गोविन्दाय' से सुरभि अर्थात् गोजाति, तत्परवर्ती 'गोपीजन' शब्द से चतुर्दशविद्या, और तत्परस्थित 'वल्लभाय' इस शब्द से स्त्रीपुरुषादि सब प्रकाशित हुए।

इसी प्रकार गौतमीयतंत्र में भी लिखा है; यथा—प्रधानश्रुति ने यह कहा है कि— 'क्लीं' कारसे विश्वको उत्पन्न किया, 'ल'कार से पृथ्वी उत्पन्न हुई है 'क'कार से जल उत्पन्न हुआ है, 'ई'कार से अग्नि उत्पन्न हुई है, 'नाद से वायु उत्पन्न हुआ, बिन्दुसे व्योम (आकाश) की' उत्पत्ति हुई है, सुतरां मनु ही भूतात्मक अर्थात् मंत्र ही भूतसमूहका उपादान है। 'स्वा' शब्द से क्षेत्रज्ञ (जीव) एवं 'हा' शब्द से—चिन्मयी परमा प्रकृति समझीजाती है। मुखवेष्टनवर्ण—इनदोनों की ऐक्य समुद्भूति है, सुतरां 'स्वाहा' इस दो वर्ण से विश्व का लय निश्चित होता है।

फिर उक्त श्रुति ने कहा है कि—चंद्रशेखर शिव इस पंचपद अष्टादशाक्षर मंत्र की उपासना द्वारा विगतमोह आत्मा को विदित हुए थे, एवं प्रणवपुटित करके

यत् सङ्गरहितोऽभ्यानयत्। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततं। तस्मादेनं नित्यमभ्यसेदित्यादि।

तत्रैवाग्रे। तदत्र गाथा —

यस्य पूर्वपदाद्भूमिर्द्वितीयात् सलिलोद्भवः।
तृतीयत्तेज उद्भूतं चतुर्थाद्गन्धवाहनः॥
पञ्चमादम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसन्।
चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम्॥
ततो विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
यत्तत् पदं पञ्चपदं तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं स-मरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामीति।

किञ्च स्तुत्यनन्तरम्—

अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्त्तयेद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्।
अनेजदेकं मनसो जवीयो न यद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शात्॥ इति॥ ८७॥

तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेत्तं यजेदित्योम् तत् सदिति।

भाषा टीका।

यह मंत्र जप और निष्काम हो समपि आनयन किया था अर्थात् अप्रत्यक्ष परमात्मा को भी प्रत्यक्ष किया था। जिस प्रकार आकाश में विस्तृत नेत्र स्पष्टरूप से द्रव्यादि निरीक्षण करते हैं, ऐसे ही ज्ञानी मनुष्य निरंतर विष्णु के इस परम पद का दर्शन करते हैं, अतएव सदा उसका अभ्यास करे। इत्यादि।

सुतरां गोपालतापनी के आगे इस विषय में यह गाथा है कि —— जिस के प्रथमपद से भूमि, दूसरे पद से अप, (जल) तीसरे पद से अग्नि, चौथे पद से वायु, पञ्चम पद से अम्बर (आकाश) उत्पन्न हुए हैं। चन्द्रध्वज महादेवजी ने एक मात्र वही अष्टादशाक्षर मंत्र जपकर विष्णु के अव्यय परम पद में पयान किया है। अतएव विशुद्ध, विमल, विशोक, लोभादिरहित, निरस्तसंग पंचपद तत्पद स्वरूप है, और वही वासुदेवस्वरूप है, उन वासुदेव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। मैं मरुदगणों के संग मिलकर उन पंचपदमय वृन्दावन के मध्यस्थ कल्पतरु की मूल में समासीन नित्यानन्दमूर्ति अद्वितीय गोविन्द को परम स्तव द्वारा सदा प्रसन्न करताहूं।

स्तुति के पिछे और भी लिखा है कि—जो मनुष्य यह पंचपद मंत्र आवृत्ति करता है; — वह अनायास से विशुद्ध परम पद को लाभ करता है। जो पद निश्चल, अद्वितीय, और मन से भी वेगयुक्त जिस को देवगणों ने विचार में भी नहीं लाभ किया था॥ ८७॥

सुतरां कृष्ण ही परम देव हैं, उनका ध्यान करें, कीर्तनादि द्वारा उनका आस्वादन करें और उनकी

त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे च। देवीं प्रति श्रीमहादेवोक्ता(व)ष्टादशाक्षरप्रसङ्ग एव।—

धर्मार्थ-काम-मोक्षाणामीश्वरो जगदीश्वरः।
सन्ति तस्य महाभागा अवताराः सहस्रशः।
तेषां मध्येऽवताराणां बालत्वमतिदुर्लभम्।
अमानुषाणि कर्माणि तानि तानि कृतानि च।
शापानुग्रहकर्तृत्वे येन सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तस्य मन्त्रं प्रवक्ष्यामि साङ्गोपाङ्गमनुत्तमम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण नरः सर्वज्ञतामियात्।
पुत्रार्थी पुत्रमाप्नोति धनार्थी लभते धनम्।
सर्वशास्त्रार्थपारज्ञो भवत्येव न संशयः।
त्रैलोक्यञ्च वशीकुर्यात् व्याकुलीकुरुते जगत्।
मोहयेत् सकलं सोऽपि मारयेत् सकलान् रिपून्।
बहुना किमिहोक्तेन मुमुक्षुर्मोक्षमाप्नुयात्॥
यथा चिन्तामणिः श्रेष्ठो यथा गौश्च यथा सती।
यथा द्विजो यथा गङ्गा तथासौ मन्त्र उत्तमः॥
यथावदखिलश्रेष्ठं यथा शास्त्रन्तु वैष्णवम्।
यथा सुसंस्कृता वाणी तथासौ मन्त्र उत्तमः॥ ८८॥

भाषा टीका।

पूजा करें, वही निःसंदेह सत् हैं। (१) त्रैलोक्यसम्मोहन तंत्र में अष्टादशाक्षर मंत्र प्रसंग में देवी से महादेवजी ने कहा है यथा—जगदीश्वर कृष्ण ही धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के ईश्वर हैं। उनके सहस्र सहस्र महैश्वर्यपूर्ण अवतार विद्यमान हैं, उन सब अवतारों में बालत्व (बाल भाव वा चंचलता) अतीव दुर्लभ है। जिस बालभाव में जगद्विदित अनेकप्रकार के अमानुष कर्म संपादित हुए हैं, जिसके हेतु यह-विश्व, दण्ड और अनुग्रह—इन दोनों कार्यों में ही प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। मैं उसी बाल भाव के साङ्गोपाङ्ग अतिउत्तम मंत्र वर्णन करता हूं। जिसके विशेष रूप ज्ञान होनेसे मनुष्य सर्वज्ञता को लाभ करे। इसके प्रसाद से पुत्र की चाहना करने वाला पुत्र को प्राप्त होता है, धन की इच्छा करने वाला धन प्राप्त होता है, और मनुष्य सबशास्त्रों के अर्थ में पारदर्शी होता है, इस में सन्देह नहीं। इसके प्रसाद से तीन लोक को वशीभूत कर—शक्ता है-जगत् को व्याकुल करने में समर्थ होता है, सब को मोहित कर—शक्ता है, शत्रु-कुलके संहार करने में समर्थ होता है, अधिक क्या-मुमुक्षु मनुष्य मुक्ति प्राप्त होता है। जिस प्रकार मणियों में चिन्तामणि, जिस प्रकार सब गायों में कामधेनु, जिस प्रकार सब स्त्रियों में, सती, जिस प्रकार वर्ण में द्विजाति और जैसे सब नदियों में गंगा प्रधान है, उसी प्रकार सब मंत्रों में यह मंत्रही श्रेष्ठ है। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रही सब शास्त्रों से श्रेष्ठ है, जिस प्रकार सुसंस्कृत वाणीही वाक्यसमूह में प्रधान है, उसी प्रकार सब मंत्रों में यह मंत्र ही अति उत्तम है॥ ८८॥

(१) सत्।—अस्तित्वसम्पन्न वस्तुविशेष।

किञ्च—

अतो मया सुरेशानि ! प्रत्यहं जप्यते मनुः ।
नैतेन सदृशः कश्चिज्जगत्यस्मिन् चराचरे ॥

श्रीसनत्कुमारकल्पेऽपि—

गोपालबिषया मन्त्रास्त्रयस्त्रिंशत् प्रभेदतः ।
तेषु सर्वेषु मन्त्रेषु मंत्रराजमिमं शृणु ॥
सुप्रसन्नमिमं मन्त्रं तन्त्रे सम्मोहनाह्वये ।
गोपनीयस्त्वया मन्त्रो यत्नेन मुनिपुङ्गव ! ॥
अनेन मन्त्रराजेन महेन्द्रत्वं पुरन्दरः ।
जगाम देवदेवेशो विष्णुना दत्तमञ्जसा ॥
दुर्वाससः पुरा शापादसौभाग्येन पीड़ितः ।
स एव सुभगत्वं वै तेनैव पुनराप्तवान् ॥
बहुना किमिहोक्तेन पुरश्चरणसाधनैः ।
बिनापि जपमात्रेण लभते सर्वमीप्सितम् ॥ इति ॥ ८९ ॥
प्रभुं श्रीकृष्णचैतन्यं तं नतोऽस्मि गुरूत्तमम् ।
कथञ्चिदाश्रयाद्यस्य प्राकृतोऽप्युत्तमो भवेत् ॥ ९० ॥

भाषा टीका ।

और भी कहता हूं, हे देवेशानि ! इसी कारण मैं नित्य यह मंत्र जपता हूं, इस का समान मंत्र इस चराचर जगत में दूसरा नहीं है । श्रीसनत्कुमारकल्प में भी लिखा है कि गोपालविषयक मंत्र—समूह रूप—भेद में तैंतीस प्रकार के हैं— इन सब मंत्रों में इस मंत्रराज को सुनो । सम्मोहनाख्य तन्त्र में यह मंत्र वांछितप्रद कहा गया है—हे मुनिपुङ्गव नारद ! तुम यत्न के सहित इस मंत्र को गुप्त रखना । देवदेवेश्वर पुरन्दर ने इस मंत्रराज के प्रसाद से विष्णुदत्त महेन्द्रपद सहज में ही पाया था । पूर्वकाल में देवराज; दुर्वासा के शाप से असौभाग्य द्वारा पीड़ित होकर इस मंत्रराज के प्रसाद से फिर सौभाग्य को प्राप्त हुए थे । इस विषय में अधिक और क्या कहूं, पुरश्चरणसाधन के विना भी इस मंत्र के केवल जप से ही सब प्रकार का वांछित लाभ किया जाता है ॥ ८९ ॥

(इस प्रकार ग्रंथप्रणेता तत्तन्मंत्र—महिमा वर्णन विषय में अपनी अयोग्यता जान भगवान् के महा-माहात्म्य—द्वारा योग्यत्व की सम्भावना करके परम गुरु श्रीभगवान् को प्रणाम करते हैं—) जिनके किंचित मात्र आश्रय से प्राकृत मनुष्य भी उत्तम होता है; मैं उन्हीं गुरूत्तम श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु को प्रणाम करता हूं ॥ ९० ॥

अथाधिकारि-निर्णयः।

तान्त्रिकेषु च मन्त्रेषु दीक्षायां योषितामपि।
साध्वीनामधिकारोऽस्ति शूद्रादीनाञ्च सद्धियाम्॥

तथा च स्मृत्यर्थसारे पाद्मे च वैशाखमाहात्म्ये श्रीनारदाम्वरीष-सम्वादे—

आगमोक्तेन मार्गेण स्त्रीशूद्रैश्चैव पूजनम्।
कर्त्तव्यं श्रद्धया बिष्णोश्चिन्तयित्वा पतिं हृदि॥
शूद्राणां चैव भवति नाम्ना वै देवतार्च्चनम्।
सर्वे चागममार्गेण कुर्य्युर्वेदानुसारिणा॥
स्त्रीणामप्यधिकारोऽस्ति बिष्णोराराधनादिषु।
पति-प्रियहितानाञ्च श्रुतिरेषा सनातनी॥

अगस्त्यसंहितायां श्रीराम-मन्त्रराजमुद्दिश्य।—

शुचिव्रततमाः शूद्रा धार्म्मिका द्विजसेवकाः।
स्त्रियः पतिव्रताश्चान्ये प्रतिलोमानुलोमजाः।
लोकाश्चाण्डालपर्य्यन्ताः सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः। इति॥ ९१॥

गुरुश्च सिद्धसाध्यादि मन्त्रदाने बिचारयेत्।
स्वकुलान्यकुलत्वञ्च वाल-प्रौढत्वमेव च॥
स्त्री-पुं-नपुंसकत्वञ्च राशि-नक्षत्र-मेलनम्।
सुप्त-प्रबोधकालञ्च तथा ऋण-धनादिकं॥ ९२॥

भाषा टीका।

अव अधिकारी का निर्णय होता है।— तान्त्रिक मंत्र और दीक्षा में साध्वी स्त्री और सद्बुद्धि (१) शूद्रादि का भी अधिकार है। स्मृत्यर्थसार और पद्म पुराण के वैशाखमाहात्म्य में नारदाम्वरीष—सम्वाद में भी इस विषय में लिखा है कि—नारी-जाति और शूद्र-गण पति को (२) हृदय के भीतर चिन्ता करके श्रद्धासहित, आगम में कहे विधान से विष्णु की पूजा कर सक्ते हैं। नाम—मात्र उच्चारण द्वारा शूद्र का देवार्चन होता है। और सब लोक ही वेदानुसारी आगम—मार्ग द्वारा पूजा करैं। इस प्रकार सनातनी श्रुति है कि—पति का प्रिय करने बाली और हित—साधन करने बाली स्त्रियों को विष्णु की आराधनादि में अधिकार है। अगस्त्यसंहिता में श्रीराम — मंत्रराज को उद्देश करके लिखा है, यथा— पवित्रव्रतप्रवण, धर्मनिष्ठ, विप्र --- सेवापरायण, शूद्र—गण; पतिव्रता स्त्रियों एवं अन्यान्य प्रतिलोमज और अनुलोमज चाण्डाल प्रभृति सभी इस में अधिकारी हो शकते हैं॥ ९१॥

गुरु;—मंत्र देने में सिद्धा साध्यादि, स्वकुल, अन्य-कुल, राशिशुद्धि, वालत्व, प्रौढ़त्व, स्त्रीत्व, पुंस्त्व, नपुंसकत्व, राशि और नक्षत्रों का मेलन, सुप्त-प्रबोधन काल और ऋण धनादि विचार करके मंत्र दान करैं॥ ९२॥

---

१ सद्बुद्धि—अर्थात् द्विज-शुश्रूषादिपरायण।

(२) 'पति' शब्द, स्त्री जाति के विषय में समझना चाहिये।

अथ सिद्धसाध्यादि-शोधनम्।

सारदातिलके—

प्राक्-प्रत्यगग्रा रेखाः स्युः पञ्च याम्योत्तराग्रगाः।
तावत्यश्च चतुष्कोष्ठचतुष्कमण्डलं भवेत् ॥ ९३ ॥

इन्द्वग्नि-रुद्र-नव-नेत्र-युगेन-दिक्षु ऋत्वष्ट-षोड़श-चतुर्दश-भौतिकेषु।
पाताल-पञ्चदश-वह्नि-हिमांशु-कोष्ठे वर्णाल्लिखे-ल्लिपिभवान् क्रमशस्तु धीमान् ॥९४॥

भाषा टीका।

अब सिद्धिसाध्यादि—शोधन कथित होता है। सारदातिलक में लिखा है कि—प्रथम पांच पूर्व-पाश्चिमाभिमुख (पश्चिम की ओर को सीधी) ऊर्द्ध रेखा अंकित करके उस के ऊपर पांच उत्तर दक्षिणाभिमुख (उत्तर और दक्षिण की ओर को सीधी) रेखा लिखना चाहिये। इस प्रकार करने से चतुष्कोण चतुष्क (सोलह कोष्ठका) एक मण्डल होगा अर्थात् मध्यभाग में चार मण्डल चतुष्क विशिष्ट (अर्थात् चोकोर एक २ कोष्ठक) एक मन्डल दिखाई देगा ॥ ९३ ॥

(इस मण्डल में जिस प्रकार जो लिखना चाहिये-सो कहा जाता है-) बुद्धिमान् मनुष्य इन्दु (१) अग्नि(३)नव, नेत्र(२)युग(४)इन(१२) दिक् (१०) ऋतु (६) अष्ट, षोड़श, चतुर्दश, भौतिक (५) पाताल(७) पञ्चदश, वह्निहिमांशु (१३) इन सोलह कोठों में यथाक्रम लिपिभव वर्ण अर्थात् अकारादि क्षकारान्त * सब वर्ण क्रमशः विन्यास करे × ॥ ९४ ॥

* यहां क्षकारान्त शब्द से क्ष परित्याग करके 'ह' पर्यन्त ऊनपञ्चाशद्वर्ण (४९ अक्षर) समझने चाहिये। क्योंकि 'क्ष' यह वर्ण और 'ष'—इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुआ है।

× इस का तात्पर्य, यथा-इन्दु-१, अग्नि-३, रुद्र-११, नव-९, नेत्र-२, युग-४, इन-१२, दिक्-१०, ऋतु-६, अष्ट-८, षोड़श-१६, चतुर्दश -१४, भौतिक-५, पाताल-७, पंचदश-१५, वह्नि हिमांशु-१३, ॥ १॥ इस प्रकार साङ्केतिक कोठे में यथाक्रम अकारादि-वर्ण लिखे। अर्थात् प्रथम कोठे में अ. तीसरे कोठे में आ. ग्यारहवें में कोठे इ. नवें में ई. दूसरे घर में उ. चौथे घर में ऊ. वारहवें घर में ऋ. दशवें घर में ॠ. छठे घर में ऌ. आठवें घर में ॡ. सोलहवें घर में ए. चौदहवें घर में ऐ. पांचवे घर में ओ. सातवें घर में औ. पन्द्रहवें घर में अं. तेरहवें घर में अः। पुनर्वार पहिले घर में क, तीसरे घर में ख, ग्यारहने घर में ग, इस प्रकार सोलह कोठो में वर्ण लिखकर जवतक ऊनपञ्चाशद्वर्ण (४९ अक्षर) शेष नहीं तवतक ऐसेही पुनर्वार प्रथम से उक्त नियम द्वारा वर्ण—विन्यास करै तो—चतुष्कोष्ठ चतुष्कमण्डल होगा।यही सिद्धादि-शोधन का यंत्र है। सर्वसाधारण को सम्यक् वोध होने के लिये परपृष्ठा में यंत्र की आकृति लिखी जाती है।

जन्मर्क्षाक्षरतो वीक्ष्य यावन्मन्त्रादिमाक्षरम् ।
चतुर्भिः कोष्ठकैस्त्वेकमिति कोष्ठचतुष्टये ॥
पुनः कोष्ठककोष्ठेषु सव्यतो जन्मभाक्षरात् ।
सिद्ध-साध्य-सुसिद्धारिक्रमाज्ज्ञेया बिचक्षणैः ॥ ९५ ॥
सिद्धः सिद्ध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः ।
सुसिद्धो ग्रहमात्रेण अरिर्मूलनिकृन्तनः ॥ ९६ ॥

भाषा टीका ।

फिर शिष्य का जो नाम जन्म नक्षत्राश्रित है, उस नाम के प्रथम वर्णयुक्त कोठे से आरम्भ करके जिस कोठे में मंत्र का प्रथम वर्ण है, उसी कोठे तक सिद्ध—साध्यादि की गणना करे । बुद्धिमान् मनुष्य प्रथम सोलह छोटे कोठों के चार कोठों में एक कोठा जान कर इन चार कोठों में दूसरे इन चारों कोठों के प्रतिकोठे में जन्मऋक्ष (जन्मनक्षत्र) के अक्षर को बामगति से गणना करके शिष्य के संवंध में उस मंत्र को क्रमानुसार सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, और अरि इत्यादि जाने ॥ ९५ ॥

(यह गणना द्वारा मंत्र का आदि वर्ण सिद्धादि-स्थान को प्राप्त होने पर जिस प्रकार फल होता है, अव वही कहते हैं-) सिद्ध, मंत्रकाल में अर्थात् तन्त्रनिरूपित समय में, साध्य, — मंत्र-जप और होम द्वारा एवं सुसिद्ध, —मंत्र के ग्रहण मात्र से ही सिद्ध होता है । अरि,—मूल अर्थात् मंत्र वीज ध्वंश कर देता है ॥ ९६ ॥

(क) पूर्व (ख)

उत्तर — दक्षिण

इन्दु १ अ क थ ह	नेत्र २ उ. ङ. प.	अग्नि ३ आ. ख. द.	युग ४ ऊ. च. फ.
भौतिक ५ ओ. ड. व.	ऋतु ६ ऌ. झ. म.	पाताल ७ औ. ढ श	अष्ट ८ ॡ ञ य
नव ९ ई घ. न.	दिक् १० ऋ. ज. भ.	रुद्र ११ इ. ग. ध.	इन १२ ॠ. छ. व
वह्नि-हिमांशु १३ अः त. स.	चतुर्दश १४ ऐ. ठ. ल.	पंचदश १५ अं. ण. ष.	षोड़श १६ ए. ट. र.

(ग) पश्चिम (घ)

सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाध्यकः ।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति वान्धवान् ॥
साध्यसिद्धो द्विगुणिकः साध्यसाध्यो ह्यनर्थकः ।
तत्सुसिद्धस्त्रिगुणितात् साध्यारिर्हन्ति गोत्रजान् ॥
सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात्तत्साध्यस्तु गुणाधिकात् ।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारिः स्व-गोत्रहा ॥
अरिसिद्धः सुतान् हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाः ।
तत्सुसिद्धस्तु पत्नीस्तदरिर्हन्ति साधकम् ॥ इति ॥ ९७ ॥
अस्य च मन्त्र-विशेषेऽपवादः ॥ ९८ ॥

तथा च तन्त्रे—

नृसिंहार्कवराहाणां प्रासादप्रणवस्य च ।
वैदिकस्य च मन्त्रस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥
स्वप्न-लब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे ।
एकाक्षरे तथा मन्त्रे सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥

भाषा टीका ।

इस प्रकार बड़े चार कोठों की व्यवस्था द्वारा फल का उल्लेख करके अब उनके मध्यवर्त्ती सोलह कोष्ठ की व्यवस्था द्वारा पूर्वापर के सहित सिद्धादि चतुष्टय का परस्पर संयोग से फल वर्णन करते हैं—सिद्धसिद्ध यथोक्त काल में अर्थात् तंत्र—निर्दिष्ट काल में, सिद्धसाध्य इस की अपेक्षा दूने काल में और सिद्धसुसिद्ध मंत्र अर्द्ध जप से सिद्ध होता है। सिद्धारि मंत्र बांधव—गण को ध्वंश कर देता है। साध्यसिद्ध मंत्र दूने समय में सिद्ध होता है। साध्यसाध्य मंत्र व्यर्थ होता है, साध्यसुसिद्ध-मंत्र तिगुने समय में सिद्ध होता है, और साध्यारि मंत्र गोत्रज—गण (परिवार का) नाश करता है। सुसिद्धसिद्ध मंत्र अर्द्ध जप से, (१) सुसिद्ध-साध्य मंत्र दूने जप से और साध्यसुसिद्ध मंत्र ग्रहण मात्र से ही सिद्ध होता है। एवं सुसिद्धारि मंत्र स्व-गोत्र को ध्वंश करता है। अरिसिद्ध मंत्र पुत्रों को, अरिसाध्य कन्याओं को, अरिसुसिद्ध भार्या को और अरि अरि मंत्र साधक को विनाश करता है ॥९७॥

मंत्रविशेष में इसका अपवाद है, अर्थात् मंत्र-भेद में सिद्धादि-शोधन का विशेष नियम है-वही इस समय वर्णन करते हैं; तंत्र में लिखा है कि—नृसिंह-मंत्र का सूर्य-मंत्र का, वराह-मंत्र का, प्रासाद-मंत्र का,(२) प्रणव और वैदिक मंत्र का सिद्धादि शोधन न करे। स्वप्न-प्राप्त मंत्र, स्त्रीजाति का दिया मंत्र, माला मंत्र, त्र्यक्षर मंत्र (तीन अक्षर का मंत्र) एकाक्षर मंत्र—इन सबका सिद्धादि शोधन करना नहीं होता। स्वकुल परकुल (निजकुल क्रमागत अथवा परकुल के कृपालब्ध हुए)

(१) अर्द्धजप से अर्थात् जपकी जो संख्या निर्दिष्ट है, उसकी अर्द्धसंख्या काल में सिद्ध होता है।

(२) प्रासादमंत्र—'हौं' यह शिवमंत्र ।

सकुलान्यकुलत्वादि विज्ञेयं चागमान्तरात्।
न बिस्तर-भयादत्र व्यर्थत्वादपि लिख्यते॥ ९९॥

श्रीमद्गोपालदेवस्य सर्व्वैश्वर्य्यप्रदर्शिनः।
तादृक्शक्तिषु मन्त्रेषु नहि किञ्चिद्विचार्य्यते॥ १००॥

तथा च क्रमदीपिकायां—

सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु।
दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एषः॥ १०१॥

त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे च—अष्टादशाक्षरमन्त्रमधिकृत्य श्रीशिवेनोक्तम्—

न चात्र शात्रवा दोषा नर्णस्वादिबिचारणा।
ऋक्ष-राशिविचारो वा न कर्त्तव्यो मनौ प्रिये!॥

केचिच्छिन्नाश्च रुद्धाश्च केचिन्मदसमुद्धताः।
मलिनाः स्तम्भिताः केचित् कीलिता दूषिता अपि।
एतैर्दोषैर्युतो नायं यतस्त्रिभुवनोत्तमः॥ इति॥ १०२॥

सामान्यतश्च यथा बृहद्गौतमीये—

अथ कृष्ण-मनून वक्ष्ये दृष्टादृष्टफलप्रदान्।
यान् वै विज्ञाय मुनयो लेभिरे मुक्तिमञ्जसा॥

भाषा टीका।

प्रभृति मंत्रभेद आगमान्तर से जानना चाहिये बृथा और वाहुल्य के भय से यहां नहीं लिखा गया॥९९॥

अणिमादि अष्ट—ऐश्वर्य-प्रदर्शक श्रीमान् गोपाल-देव की समान उनके मंत्रों में भी ऐश्वर्य प्रदान करने की शक्ति विद्यमान है, अतएव इन सब मंत्रों के संवंध में कोई विचार न करै॥ १००॥

क्रमदीपिका में भी इस विषय में लिखा है कि—सर्व-वर्ण, सब आश्रम, नारीजाति और जिन सब मनुष्यों के नाम और जन्म नक्षत्र के आद्य वर्ण के सहित मंत्र के आदि अक्षर का मिलन नहीं है; उनके संवंध में यह गोपाल—मंत्र शीघ्र वांछितफल-दाता होता है॥१०१॥

महादेवजी ने त्रैलोक्यसम्मोहनतंत्र में अष्टादशा-क्षर मंत्र अधिकार करके कहा है कि—हे प्रियतमे! इस अष्टादशाक्षर गोपालमंत्र में सिद्धादि—शोधन कथित शात्रवदोष नहीं है, इस में ऋण धनादि का और नक्षत्र राशि के विचार का भी प्रयोजन नहीं है, मंत्र-समूह में कोई कोई मंत्र छिन्न, कोई कोई मंत्र रुद्ध, कोई कोई मंत्र मदोन्मत्त, कोई कोई मंत्र मलिन, कोई कोई मंत्र स्तंभित, कोई कोई मंत्र कीलित और कोई कोई मन्त्र दूषित है, किन्तु यह अष्टादशाक्षरात्मक गोपाल-मंत्र इन सब दोषों में लिप्त नहीं है, सुतरां यही त्रिलोकी में अति उत्तम है॥ १०२॥

साधारणतः वृहद्गौतमीयतंत्र में लिखा है कि—अब दृष्टादृष्ट फलप्रद कृष्णमंत्र कहता हूं, तापसगण इसे जानकर सहज में ही मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, इस मंत्र में क्या गृही, क्या वानप्रस्थ, क्या यति, क्या ब्रह्मचारी, क्या स्त्रीजाति, क्या शूद्रादि—सभी

गृहस्था बनगाश्चैव यतयो ब्रह्मचारिणः ।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव सर्वे यत्राधिकारिणः ॥
नात्र चिन्त्यं विशुद्ध्यादि (१) नारिमित्रादिलक्षणम् ।
न वा प्रयासबाहुल्यं साधने न परिश्रमः ॥
अज्ञानतूल-राशेश्च अनलः (२) क्षणमात्रतः ।
सिद्धसाध्यसुसिद्धारिरूपा नात्र विचारणा ॥
सर्वेषां सिद्धमन्त्राणां यतो ब्रह्माक्षरो मनुः ।
प्रजापतिरवापाग्र्यं देव-राज्यं शची-पतिः ॥
अवापुस्त्रिदशाः स्वर्गं वागीशत्वं बृहस्पतिः । इत्यादि ।

तथात्रैवान्ते—

विष्णु-भक्त्या विशेषेण किं न सिध्यति भूतले ।
कीटादि (३) ब्रह्मपर्यन्तं गोविन्दानुग्रहान्मुने ! ॥
सर्वसम्पत्ति-निलयाः सर्वत्राप्यकुतोभयाः ।
इत्यादिकाथितं किञ्चिन्माहात्म्यं वो मुनीश्वराः ! ॥
आकाशे तारका यद्वत् सिन्धोः सैकतसृष्टिवत् ।
एतद्विज्ञानमात्रेण लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम् ॥

---

(१) 'नात्र चिन्त्योऽरिशुद्ध्यादिः' इति वा पाठः ।(२) 'ज्वलनं' वा पाठः ।
(३) 'कीटास्तु' इति वा पाठः ।

भाषा टीका ।

अधिकारी हो शकते हैं। इस मंत्र में अरि—शुद्ध्यादि वा अरि—मित्रादि लक्षण का विचार करना नहीं होता। इसके साधन में प्रयास—वाहुल्य (कठिन समारोह) वा परिश्रम भी नहीं है। यह मंत्र आशु अज्ञानरूपी रुई के ढेर को अग्नि स्वरूप है, इस में सिद्ध साध्य, सुसिद्ध और अरि—विचार ने का प्रयोजन नहीं होता, क्यों कि—संपूर्ण सिद्ध मंत्रो में यह मंत्र ही अक्षर ब्रह्म अर्थात इसके सव वर्ण ब्रह्म—स्वरूप है। इस मंत्र के प्रसाद से प्रजापति ने सव में प्रधानता, इन्द्र ने सुर—राज्य, देवताओंने स्वर्ग और वृहस्पति ने वाचस्पतित्व लाभ किया है ॥

इस तंत्र के थोड़ी ही दूर और भी लिखा है कि—हे मुने ! विशेषतः विष्णुभक्ति द्वारा पृथ्वी-तल में कौनसा कार्य सिद्ध नहीं हो शकता ? श्रीगोविन्द के अनुग्रह से कीटादि ब्रह्म-पर्यन्त सभी प्राणी सर्व सम्पत्ति के आधार और सर्वत्र निर्भय होते हैं । हे मुनिश्रेष्ठगण ! तुम्हारे निकट यह किंचित मात्र महिमा कही गई । क्योंकि—आकाश-मार्ग में स्थित नक्षत्र और सिन्धु-तीरस्थ वालुकासृष्टि [रेती—समुदाय]

एतदन्येषु मन्त्रेषु दोषाः सन्ति परे च ये।
तदर्थं मन्त्रसंस्कारा लिख्यन्ते तन्त्रतो दश॥ १०३॥

अथ मन्त्र—संस्काराः।

सारदातिलके—

जननं जीवनञ्चेति ताड़नं बोधनं तथा।
अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः॥
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्र-संस्क्रियाः।
मन्त्राणां मातृका-मध्यादुद्धारो जननं स्मृतम्॥
प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत् सुधीः।
एतज्जीवनमित्याहुर्मन्त्र—तन्त्रविशारदाः॥
मनोर्व्वर्णान् समालिख्य ताड़येच्चन्दनाम्भसा।
प्रत्येकं वायुना मन्त्री ताड़नं तदुदाहृतम्॥
बिलिख्य मन्त्रं तं मन्त्री प्रसूनैः करवीरजैः।
तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्याद्यत्तेन बोधनम्॥
स्व-तन्त्रोक्तविधानेन मन्त्रो मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थ-पल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद्विशुद्धये॥

भाषा टीका।

की समान इस का संपूर्ण माहात्म्य अगण्य और अनिर्वचनीय है। इस मंत्र के ज्ञान—मात्र ही चार प्रकार की मुक्ति (१) प्राप्त होजाती है। इस मंत्र के अतिरिक्त अपरापर मंत्र-वर्ग में जो अन्यान्य दोष विद्यमान हैं, वे सब दोष दूर होने के लिये तंत्र से संग्रह कर के दशविध मंत्र—संस्कार लिखा जाता है॥ १०३॥

मंत्र—संस्कार,—सारदातिलक में लिखा है कि—(१) जनन (२) जीवन (३) ताड़न (४) बोधन (५) अभिषेक (६) विमलीकरण (७) आप्यायन (८) तर्पण (९) दीपन और (१०) गुप्ति,—यह दश प्रकार मंत्र संस्क्रिया है। मातृका—मध्य से अर्थात मातृका वर्ण के मध्य से मंत्र-समूह का उद्धार ही 'जनन' कहा गया है। बुद्धिमान् मनुष्य मंत्र के सब अक्षरों को ओंकार समन्वित करके जप करै, मंत्रतंत्र-विशारद महात्माओं ने इसी को 'जीवन' कहा है। मंत्री अर्थात् मंत्रवित साधक, मंत्र के सब वर्ण लिखकर वायु—वीज [यं] उच्चारण पूर्वक चन्दनोदक से प्रत्येक मंत्र—वर्ण को आघाव करे, यही 'ताड़न' कहा गया है। मंत्री व्यक्ति मंत्र लिखकर मंत्रवर्ण की संख्या के समसंख्यक (अर्थात गणना में मंत्र के जित ने अक्षर हों उतने ही) करवीर (कनेर) कुसुमद्वारा यत्नपूर्वक इस मंत्रको ताड़ना करै इसको ही 'वोधन' कहते हैं। मंत्री मनुष्य मंत्र की

(१) चतुर्विधमुक्ति।—सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य।

संचिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत् ।
मन्त्रो मूलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं त्विदम् ॥
तार-व्योमाग्नि-मनुयुग्दण्डी ज्योतिर्मनुर्मतः ।
कुशोदकेन जतेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ॥
तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनं स्मृतम् ।
मन्त्रेण वारिणा यन्त्रे तर्पणं-तर्पणं स्मृतम् ॥
तार-माया-रमा-योगो मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥
बलित्वात् कृष्ण-मन्त्राणां संस्कारापेक्षणं नहि ।
सामान्योद्देशमात्रेण तथाप्येतदुदीरितम् ॥ १०४ ॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते भगवद्भक्ति-
विलासे गौरवो नाम
प्रथमो विलासः ।

भाषा टीका ।

वर्णसंख्या के समसंख्यक अश्वत्थपल्लवद्वारा स्वीय तंत्र-कथित विधान से विशुद्धि के लिये मंत्रको अभिषिक्त करें (इसीका नाम अभिषेक है)। मंत्री मन में मंत्र की चिन्ता करके ज्योतिर्मन्त्रद्वारा मन्त्र-मध्यवर्ती मूलत्रय (तीन मूलों को) दाहन करै,- इसी का नाम 'विमलीकरण, है। तार (प्रणव) व्योम (आकाश अग्नि और मंत्रयुक्त दण्डी अर्थात 'ओं हं रं औं, इसी को ज्योतिर्मन्त्र कहते हैं । जप्त कुशोदकद्वारा मंत्र के प्रतिअक्षर को तन्मंत्र सहित विधिपूर्वक प्रोक्षण करने को ही 'आप्यायन' कहा जाता है। मंत्रोच्चारण-सहित जलद्वारा यंत्र में तर्पण करने को ही 'तर्पण' कहते हैं । मंत्र में तार प्रणव—(ॐ) माया—(ह्रीँ) एवं लक्ष्मी-(श्रीं) वीज को मिलाने से ही उसका नाम। ही 'दीपन' है। जप्यमान अर्थात् 'जिसका जप करता है' उस मंत्रके अप्रकाश को ही गोपन (गुप्ति) कहते हैं बलशालिता के कारण कृष्ण-मंत्रों का संस्कार की अपेक्षा नहीं करता, तथापि सामान्यरीति से अपना जो अभिप्राय है वह कहा गया ॥ १०४ ॥

इति श्रीगोपालभट्टविरचिते भगवद्भक्तिविलासे
भाषाटीकायां गौरवो नाम
प्रथमो विलासः ॥ १ ॥
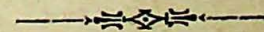
श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

अथ द्वितीयविलासः।

तं श्रीमत्कृष्णचैतन्यदेवं वन्दे जगद्‌गुरुम्।
यस्यानुकम्पया श्वापि महाब्धिं सन्तरेत् सुखम् ॥ १ ॥

अथ दीक्षा-विधिः।

दीक्षा-विधिर्लिख्यतेऽत्रानुसृत्य क्रमदीपिकाम्।
विना दीक्षां हि पूजायां नाधिकारोऽस्ति कस्यचित् ॥ २ ॥

अथ दीक्षा-नित्यता। आगमे—

द्विजानामनुपेताना स्व-कर्माध्ययनादिषु।
यथाधिकारो नास्तीह स्याच्चोपनयनादनु ॥
तथात्रादीक्षितानान्तु मन्त्रदेवार्चनादिषु ॥
नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्य्यादात्मानं शिवसंस्तुतम्।

स्कान्दे कार्त्तिकप्रसङ्गे श्रीब्रह्मनारदसम्वादे—

ते नराः पशवो लोके किं तेषां जीवने फलम् ॥
यैर्न लब्धा हरेर्दीक्षा नार्च्चितो वा जनार्द्दनः ॥ ३ ॥

भाषा टीका।

जिनकी कृपा से सारमेय [कुत्ता] भी सुखपूर्वक महासागर से उत्तीर्ण हो सकता है; उन्हीं जगद्‌गुरु श्रीकृष्णचैतन्यदेव की वंदना करता हूं ॥ १ ॥

अब दीक्षाविधि वर्णित होती है।— क्रमदीपिकाख्य ग्रन्थ के मतानुसार दीक्षा—विधि लिखीजाती है। दीक्षा के बिना किसी मनुष्य का पूजा में अधिकार नहीं होता ॥ २ ॥

अनन्तर दीक्षा का नित्यता—आगम में लिखा है, जगत में जिस प्रकार अनुपनीत ब्राह्मण का स्वीय कर्तव्य कर्म अध्ययनादि में अधिकार नहीं रहता; किन्तु उपनयन [जनेऊ] के पीछे अधिकार होता है, इसी प्रकार अदीक्षित मनुष्यों का भी अर्चनादि में अधिकार नहीं है। इस कारण आत्मा को शिव-संस्तुत [दीक्षित] करें।

स्कन्दपुराण के कार्त्तिकप्रसंग में श्रीब्रह्मनारद-संवाद में लिखा है कि—जो विष्णु दीक्षा को प्राप्त नहीं होते, अथवा जो जनार्दन की पूजा नहीं

तत्रैव श्रीरुक्माङ्गद-मोहिनीसम्वादे विष्णुयामले च —

अदीक्षितस्य वामोरु ! कृतं सर्वं निरर्थकम् ।
पशु-योनिमवाप्नोति दीक्षाविरहितो जनः ॥ ४ ॥

विशेषतो विष्णुयामले—

स्नेहाद्वा लोभतो वापि यो गृह्णीयाददीक्षया ।
तस्मिन् गुरौ सशिष्ये तु देवता-शाप आपतेत् ॥ ५ ॥

विष्णुरहस्ये च ।

अविज्ञाय विधानोक्तां हरि-पूजाविधिक्रियाम् ।
कुर्व्वन् भक्त्या समाप्नोति शत-भागं विधानतः ॥ ६ ॥

अथ दीक्षा-माहात्म्यम् ।

विष्णुयामले—

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्य्यात् पापस्य संक्षयम् ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः ॥

भाषा टीका ।

करते, लोक में उन्ही को पशु कहा जाता है । उनके जीवनधारण में क्या फल है ? ॥ ३ ॥

इसी स्कन्दपुराण में श्रीरुक्माङ्गदमोहिनीसम्वाद में और विष्णुयामल में भी लिखा है कि—हे वामोरु ! अदीक्षित मनुष्य जिस किसी कार्य का अनुष्ठान करे, वही निरर्थक अर्थात विफल होता है। दीक्षाहीन मनुष्य पशुयोनि को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

विष्णुयामल में विशेषरूप से लिखा है कि, जो गुरु, स्नेह वा लोभ के वश हो दीक्षा के विना शिष्यग्रहण करते हैं, उस गुरु में और उस के उस शिष्य में संपूर्ण देवताओं का शाप गिरता है ॥ ५ ॥

विष्णुरहस्य में लिखा है यथा—(यह प्रश्न हो सकता है कि—"यथाकथञ्चित—जिस प्रकार हो सके उस प्रकार से भगवान हरि को अर्चना करने पर महाफल होता है, ऐसा सुना है; तो गुरु के समीप दीक्षाग्रहण में इतना आग्रह करने की क्या आवश्यकता है" ? इसका उत्तर लिखते हैं) श्रीगुरुदेव के मुख से पूजन के विधान को सुन कर उस विधान से उपदिष्ट हरि-पूजा विधि का क्रियानुष्ठान विशेष रूप से न जानकर यथोक्तविधि से भक्तिपूर्वक अर्चना करने पर भी पूजाफल के शतांश का केवल एकांश फल प्राप्त होता है (१) ॥ ६ ॥

अव दीक्षा का माहात्म्य वर्णित होता है। विष्णु यामल में लिखा है कि—जो दिव्यज्ञान प्रदान करती है और पापसमूह का नाश करती है, इस कारण तत्त्वकोविद गुरुजनों ने उसका 'दीक्षा' यह नाम निर्देश किया है। इसी निमित्त श्रीगुरु को

(१) इसका तात्पर्य यही है कि गुरु की अनपेक्षा करने से और पूर्व पूर्व शिष्टजनों के दिखाये मार्ग का अनादर करने से सम्यक् प्रकार पूजा का फल नहीं होता है।

अतो गुरुं प्रणम्यैवं सर्वस्वं विनिवेद्य च ।
गृह्णीयाद्वैष्णवं मन्त्रं दीक्षा-पूर्वं विधानतः ॥

स्कान्दे तत्रैव श्रीब्रह्म-नारदसम्वादे—

तपस्विनः कर्मनिष्ठाः श्रेष्ठास्ते वै नरा भुवि ॥
प्राप्ता यैस्तु हरेर्दीक्षा सर्वदुःख-विमोचनी ।

तत्वसागरे च ।—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रस-विधानतः ।
तथा दीक्षा-विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

अथ दीक्षा-कालः । तत्र मास-शुद्धिः । आगमे—

मन्त्र-स्वीकरणं चैत्रे वहुदुःखफलप्रदम् ।
वैशाखे रत्न-लाभः स्याज्ज्यैष्ठे तु मरणं ध्रुवम् ॥
आषाढ़े वन्धु-नाशाय श्रावणे तु भयावहम् ।
प्रजा-हानिर्भाद्रपदे सर्वत्र शुभमाश्विने ॥
कार्त्तिके धनवृद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे शुभप्रदम् ।
पौषे तु ज्ञानहानिः स्यान्माघे मेधाविवर्द्धनम् ।
फाल्गुणे सर्ववश्यत्वमाचार्यः परिकीर्त्तितम् ॥ ७ ॥

भाषा टीका ।

इस प्रकार प्रणाम करके उनको सर्वस्व निवेदन पूर्वक यथाविधि दीक्षा पुरःसर वैष्णव मंत्र ग्रहण करें ।

स्कन्दपुराण के उसी कार्त्तिक प्रसंग का श्री-ब्रह्मनारद संवाद में लिखा है कि—जिन्होंने सर्व-दुःखहारिणी हरि की दीक्षा लाभ की है, भूमण्डल में वही सब पुरुष—तपस्वी, वही-कर्मनिष्ठ और वही श्रेष्ठ हैं (२)।

तत्वसागर में भी लिखा है कि—जिस प्रकार रस विधान द्वारा कांसी भी कांचनता को प्राप्त होती है, अर्थात यथा विधि पारे के संयोग से कांसी भी सुवर्णता प्राप्त करता है। इसी प्रकार दीक्षा विधि से मनुष्यों को भी द्विजत्व उत्पन्न होता है।

अनन्तर दीक्षा का समय निरूपित होता है, तिस में प्रथम आगम कथित मासशुद्धि कही जाती है। चैत्र मास में मंत्र-ग्रहण करना वहुत दुखः-दायक कहा गया है, वैशाख में मंत्र—ग्रहण करने से रत्नलाभ, और ज्येष्ठ में मंत्र ग्रहण करने से निःसन्देह मृत्यु होती है, । आषाढ़ मास में मंत्रस्वीकार करने से वंधुनाश, श्रावण में भयसञ्चार, भाद्र—पद में सन्तान का क्षय, आश्विन में सब विषयों में शुभ, कार्तिक में धनवृद्धि, और अगहन में मंत्रग्रहण करने से शुभदायक होता है। पौषमास में मंत्र ग्रहण करने

(२) श्रेष्ठ—ज्ञानादिनिष्ठ पुरुषों से परमोत्कृष्ट ।

क्वचिच्च ।

समृद्धिः श्रावणे नूनं ज्ञान स्यात् कार्त्तिके तथा।
फाल्गुणेऽपि समृद्धिः स्यान्मलमासं परित्यजेत् ॥

गौतमीये—

मन्त्रारम्भस्तु चैत्रे स्यात् समस्तपुरुषार्थदः ।
वैशाखे रत्न-लाभः स्याज्ज्यैष्ठे तु मरणं ध्रुवम् ।
आषाढ़े वन्धु-नाशः स्यात् पूर्णायुः श्रावणे भवेत् ॥
प्रजा-नाशो भवेद्भाद्रे आश्विने रत्नसञ्चयः ।
कार्त्तिके मन्त्र—सिद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे तथा भवेत् ॥
पौषे तु शत्रुपीड़ा स्यान्माघे मेधाविवर्द्धनम् ।
फाल्गुणे सर्वकामाः स्युर्मलमासं परित्यजेत् ॥

स्कान्दे तत्रैव श्रीरुक्माङ्गद-मोहिनीसम्वादे—

कार्त्तिके तु कृता दीक्षा नृणां जन्म-निकृन्तनी ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दीक्षां कुर्वीत कार्त्तिके ॥ इति ॥ ८ ॥

भाषा टीका ।

से ज्ञान-लोप, माघ में बुद्धि की वृद्धि, और फाल्गुण मास में मंत्र-ग्रहण करने से सब को वश में करने की शक्ति प्राप्त होती है। आचार्यों ने इस प्रकार कहा है ॥ ७ ॥

ग्रन्थान्तर में (१) लिखा है कि—श्रावण के महीने में मंत्र-स्वीकार करने से निःसन्देह समृद्धि, और कार्तिक में मंत्रग्रहण करने से ज्ञानलाभ होता है। और फाल्गुण के महीने में भी मंत्रग्रहण करने से समृद्धि होती है; किन्तु मलमास त्याग दे अर्थात मलमास में मंत्रग्रहण करना अनुचित है।

गौतमीयतन्त्र में लिखा है कि—चैत में मंत्रग्रहण करने से वह मंत्र समस्त पुरुषार्थप्रद होता है। वैशाख में मंत्रग्रहण करने से रत्नलाभ, और ज्यैष्ठ में मंत्र ग्रहण करने से निःसन्देह मृत्यु होती है, आषाढ़ में मंत्र-स्वीकार करने से वन्धुनाश,श्रावण में पूर्णायुः प्राप्ति, भाद्र में सन्तान-क्षय, आश्विन में रत्नसञ्चय, कार्तिक और मार्गशीर्ष में मंत्रसिद्धि, पौष में शत्रु की पीड़ा, माघ में बुद्धि की वृद्धि, और फाल्गुन के महीने में मंत्रग्रहण करने से संपूर्ण कामना-प्राप्ति होती है, किन्तु मलमास त्याग देना चाहिये।

स्कन्दपुराण के इसी कार्तिकप्रसङ्ग में श्रीरुक्माङ्गद-मोहिनीसम्वाद में लिखा है कि—कार्त्तिक के महीने में दीक्षा ग्रहण करने से मनुष्यों का जन्म-बंधन कट जाता है, सुतरां सर्वथा यत्नसहित कार्तिकमास में दीक्षाग्रहण करे ॥ ८ ॥

(१) यहां ग्रन्थान्तर कहने से अगस्त्यसंहिताद्यनुसारी श्रीरामार्चनचंद्रिका समझनी चाहिये।

श्रीमद्गोपाल-मन्त्राणां दीक्षायान्तु न दूष्यति।
चैत्रमासे यदुक्ता तद्दीक्षा तत्रैव देशिकैः ॥ ९ ॥

अथ वार-शुद्धिः।

रवौ गुरौ तथा सोमे कर्त्तव्यं बुध-शुक्रयोः ॥

अथ नक्षत्र-शुद्धिः। नारदतन्त्रे।—

रोहिणी श्रवणार्द्रा च धनिष्ठा चोत्तरा-त्रयम्।
पुष्यं शतभिषश्चैव दीक्षा-नक्षत्रमुच्यते ॥

क्वचिच्च —

अश्विनी-रोहिणी-स्वाति-विशाखा-हस्त-भेषु च।
ज्येष्ठोत्तरा-त्रयेष्वेव कुर्य्यान्मन्त्राभिषेचनम् ॥ १० ॥

अथ तिथि-शुद्धिः। सारसंग्रहे।—

द्वितीया पञ्चमी चैव षष्ठी चैव विशेषतः।
द्वादश्यामपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यामथापि च ॥

क्वचिच्च।—

पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया सप्तमी तथा
त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ता सर्वकामदा ॥ इति ॥
एवं शुद्धे दिने शुक्लपक्षे शुक्रगुरूदये।
सल्लग्ने चन्द्र-तारानुकूले दीक्षा प्रशस्यते ॥ ११ ॥

भाषा टीका।

इस से पहिले जो चैत के महीने में दीक्षा-ग्रहण का निषेध लिखा गया है, वह गोपाल मंत्र के ग्रहण करने में दूषणीय नहीं है; क्यों-कि देशिक गणों ने चैत्रमास में ही गोपालमंत्र की दीक्षा निर्देश की है ॥ ९ ॥

अब वार-शुद्धि कही जाती है।—रवि, गुरु, सोम, बुध और शुक्र इन कई वार में दीक्षा श्रेष्ठ है।

अब नक्षत्र-शुद्धि कही जाती है।—नारदतंत्र में लिखा है,—रोहिणी, श्रवणा, आर्द्रा, धनिष्ठा; उत्तरात्रय; (अर्थात् उत्तराफाल्गुणी, उत्तराषाढ़ा और उत्तराभाद्र-पद) पुष्य और शतभिषा—यह सब नक्षत्र दीक्षा-नक्षत्र कहे गये हैं; अर्थात् इन सब नक्षत्रों में दीक्षा कर्त्तव्य है। स्थानान्तर में लिखा है कि-अश्विनी, रोहिणी; स्वाती, विशाखा, हस्ता, ज्येष्ठा और उत्तरात्रय,—इन सब नक्षत्रों में ही मंत्राभिषेक करै ॥ १० ॥

अब तिथि-शुद्धि कहते हैं।— सारसङ्ग्रह में लिखा है—द्वितीया, पञ्चमी, षष्ठी, विशेषतः द्वादशी और त्रयो-दशी में भी दीक्षा श्रेष्ठ है। स्थानान्तर में लिखा है—पूर्णिमा; पञ्चमी, द्वितीया सप्तमी, त्रयोदशी, और दशमी, यह सब तिथि दीक्षा कार्य में प्रशस्त और सर्व-काम-प्रद हैं।

अथात्रापवादः ।

रुद्रयामले—

सत्तीर्थेऽर्क-विधु-ग्रासे तन्तुदामनपर्वणोः ।
मन्त्र-दीक्षां प्रकुर्व्वीत मासर्क्षादि न शोधयेत् ॥ १२ ॥
सुलग्न-चन्द्र-तारादि-वलमत्र सदैव हि ।
लब्धोऽत्र मन्त्रो दीर्घायुः-सम्पत्-सन्ततिवर्द्धनः ॥ १३ ॥

अन्यत्र —

सूर्यग्रहणकालेन समानो नास्ति कश्चन ।
तत्र यद्यत् कृतं सर्वमनन्तफलदं भवेत् ।
न मास - तिथिवारादि-शोधनं सूर्य-पर्वणि ॥ १४ ॥

तत्त्वसागरे च—

दुर्ल्लभे सद्गुरूणाञ्च सकृत् सङ्ग उपस्थिते ।
तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान् ॥
ग्रामे वा यदि वारण्ये क्षेत्रे वा दिवसे निशि ।
आगच्छति गुरुर्दैवाद्यदा दीक्षा तदाज्ञया ॥

भाषा टीका ।

इस प्रकार शुद्ध दिन में, शुक्ल पक्ष में, शुक्र और गुरु के उदयकाल में, शुभ लग्न में और चन्द्र तारा के अनुकूल होने पर ही दीक्षा प्रशस्त होती है ॥ ११ ॥

अब इस दीक्षा के विषय में अपवाद—अर्थात विशेष व्यवस्था कथित होती है । रुद्रयामल में लिखा है—सत्तीर्थ में (१) सूर्य चन्द्र के ग्रहण काल में, तन्तु—पर्व (२) में,—दामन पर्व (३) में मंत्र-दीक्षा करे, उस में मास और नक्षत्रादि-शोधन की आवश्यकता नहीं है ॥ १२ ॥

यह सत्तीर्थादि में लग्न, चन्द और तारादि शुभ—सूचक है, एवं नित्य ही वलवान् है । इन सब सत्तीर्थादि में लब्ध मंत्र दीर्घायुः, सम्पद् और सन्तान की वृद्धि कर देता है ॥ १३ ॥

अन्य स्थान में भी लिखा है कि—सूर्यग्रहण के समय की समान समय और नहीं है; इस समय में जो जो कर्म किये जाते हैं, वे सब अनन्त फलदायक होते हैं । सूर्य पर्व में मास, तिथि. वार—इत्यादि शोधने की आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

तत्वसागर में लिखा है कि—सद्गुरु का दुर्लभ संग एक वार मात्र होने से जिस समय में उनकी आज्ञा प्राप्त हो, उसी समय दीक्षा की प्रशस्त काल जाने । क्या ग्राम में, क्या वन में, क्या क्षेत्र मे, क्या दिन में, क्या रात्रि में; जिस समय गुरुदेव दैवात् समागत हों अर्थात् आजांय—उनकी आज्ञा

यह सत्तीर्थादि में सब लग्न चन्द्र और तारादि

(१)सत्तीर्थ में प्रधान तीर्थ में ।

(२) तन्तुपर्व—श्रावणमास के शुक्लद्वादशी मे-पवित्रारोपणोत्सव ।

(३) दामनपर्व--चैत्रमासके शुक्लद्वादशी में'दमनका रोपणोत्सव, ।

यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः।
न तीर्थं न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया।
दीक्षायाः कारणं किन्तु स्वेच्छाप्राप्ते तु सद्गुरौ ॥ १५ ॥

अथ मण्डपनिर्माण-विधिः।

क्रियावत्यादिभेदेन मन्त्रदीक्षा चतुर्विधा।
तत्र क्रियावती दीक्षा संक्षेपेणैव लिख्यते ॥ १६ ॥

भूमिं संस्कृत्य तस्यां चार्च्चयित्वा वास्तुदेवताः।
सप्तहस्तमितं कुर्यान्मण्डपं रम्यवेदिकम् ॥ १७ ॥

अष्टध्वजं चतुर्द्वारं क्षीरपादपतोरणम्।
त्रिगुणीकृतसूत्राढ्यकुशमालाभिवेष्टितम् ॥ १८ ॥

अथ कुण्डनिर्माण-विधिः।

तस्मिंश्च दिशि कौवेर्य्यां चतुष्कोणं त्रिमेखलम्।
कुण्डं कुर्य्याच्चतुर्विंशत्यङ्गुलिप्रमितं बुधः ॥ १९ ॥

भाषा टीका।

से उसी समय में दीक्षा हो सकती है। जिस समय गुरु की इच्छा हो, उनकी आज्ञानुसार उसी समय में दीक्षा हो सकती है। सद्गुरु के अपनी इच्छा से आने पर—तीर्थ, व्रत, होम, स्नान, जप-क्रिया प्रभृति कोई दीक्षा के प्रति कारण न हो सकता है ॥ १५ ॥

अब मण्डप निर्माण करने की विधि लिखी जाती है,—क्रियावत्यादि भेद से दीक्षा चतुर्विध (*) है, तिन में यहां क्रियावती दीक्षा ही संक्षेप से लिखते हैं ॥ १६ ॥

भूमिसंस्कारपूर्वक अर्थात् तूष, केश, अङ्गार, अस्थि, शर्करा—इत्यादि दोष के अपसारण द्वारा अर्थात भूमि के ऊपर से कूड़ा, वाल, राख, हड्डी और रेत आदि सब को, संस्कार करके वास्तुदेवता की अर्चना कर मनोहरवेदी-युक्त सप्त हस्त-परिमित (सात हाथकी बराबर) मण्डप बनावे ॥१७॥

यह मण्डप अष्टध्वज, चतुर्द्वार, क्षीरिपादप * (गूलर) से निर्म्मिततोरणयुक्त और त्रिगुणीकृतसूत्र-संयुक्त (तीन तार के डोरे से युक्त हुआ) कुश-माला से वेष्टित होगा ॥ १८ ॥ (१)

अब कुण्डनिर्माण करने की विधि लिखते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य उस मण्डप के उत्तर भाग में चतुष्कोण मेखलात्रय-विशिष्ट [१] चौबीस अंगुलि परि-माण कुण्ड [२] निर्माण करे ॥ १९ ॥

---

* दीक्षाचतुर्विध (१) क्रियावती वा क्रियामयी। २ कलात्मा। (३) वर्णमयी। और (४) वेधमयी।

* जिस से दुग्धवत् रस निर्गत होय।

(१) इसका अर्थ यह है कि-मण्डप के आठों ओर आठध्वजा, चार ओर चार द्वार, प्लक्षादि क्षीर-युक्त पादप के चार वहिर्द्वार करे। और तीन तार सूत्रसे युक्त कुश-माला द्वारा वेदी को परिवेष्टित करे।

(१) मेखला। प्राचीर। (२) कुण्ड-खात।

खातं त्रिमेखलोच्छ्रायसहितं तावदाचरेत् ।
तस्मात् खाताद्बहिः कुर्य्यात् कुण्डमेकाङ्गुलं ध्रुवम् ॥ २० ॥
तत्राद्यमेखलोच्छ्रायविस्तारौ चतुरङ्गुलौ ।
त्र्यङ्गुलौ तौ द्वितीयायास्तृतीयाया युगाङ्गुलौ ॥ २१ ॥
योनिश्च पश्चिमे भागे मेखला-त्रितयोपरि ।
षड़ङ्गुलाश्च विस्तारे दैर्घ्ये च द्वादशाङ्गुला ॥
एकाङ्गुलां तथोच्छ्राये मध्ये छिद्रसमन्विताम् ।
गजाधराकृतिं कुर्य्याद्विधिवन्मेखलान्विताम् ॥ २२ ॥
शतार्द्धहोमे कुण्डं स्यादूर्द्ध्वमुष्टिकरोन्मितम् ।
शतहोमेऽरत्निमात्रं सहस्रे पाणिना मितम् ॥ २३ ॥
लक्षे चतुर्भिर्हस्तैश्च कोटौ तैरष्टभिर्मितम् ।
चतुरस्रं कुण्ड-खातं कुर्व्वीताधश्च तादृशम् ॥ २४ ॥

भाषा टीका ।

खात को तीन मेखला की उच्चता-सहित एकत्रित करके उतने ही प्रमाण करना होगा; अर्थात् चौवीस अङ्गुलि की वरावर होगा । (इस प्रकार करने से ही मेखलात्रय नवाङ्गुलिपरिमित होंगी, सुतरां खात पन्द्रह अंगुलि प्रमाण होगा) इस खात के वहिर्भाग में [१] निश्चित एकांगुलप्रमाण कण्ठ [२] करना होगा ॥ २० ॥

इस कुण्ड में प्रथम मेखला चतुरंगुली परिमित उच्चता और विस्तृतियुक्त, दूसरी मेखला तीन अंगुलि-परिमित उच्चता और विस्तृतियुक्त, और तीसरी मेखला दो अंगुलीप्रमाण—उच्चता एवं विस्तार—युक्त होगी ॥ २१ ॥

तीनों मेखला के ऊपर पश्चिम की ओर यथाविधि [३] छै-अंगुल विस्तीर्ण, वारह अंगुल दीर्घ, ऊंचाई में एक अंगुल की वरावर मध्यभाग में छिद्रयुक्त, हाथी के अधर (होठ) की समान आकृतियुक्त और चारों ओर मेखलायुक्त योनि की कल्पना करै ॥ २२ ॥

शतार्द्ध होम के स्थान में अर्थात् जहां पंचाशत (पचास) होम करना चाहिये, वहां ऊर्द्ध मुष्टि वद्ध कर—(ऊपर को मुट्ठी वांधकर हाथ का जैसा आकार होता है) तत प्रमाण कुण्ड होगा, शतहोम के स्थान में अरत्निमित, (४) सहस्र होम

(१) खात के वहिर्भाग में अर्थात् उपरोक्त पंद्रह अंगुलि के उर्द्धभाग में ।

[२] कण्ठ-रेखा ।

[३] यथाविधि कहने का तात्पर्य यह है कि-पूर्व भाग में योनि का मुख करना चाहिये । उसके चारों ओर मेखला का प्रमाण एकाङ्गुली होगा । योनि का अग्रदेश एक अंगुलि—प्रमाण कुण्ड के भीतर प्रविष्ट रहेगा और योनिमूल करि-कुंभवत् (हाथी के गण्ड-स्थल की सदृश) दो वृत्त अर्थात् गोलाकार करै ।

(४) अरत्निमित—कनिष्ठाङ्गुलि के अग्रभागपर्यंत हस्तप्रमाण ।

होमस्त्वधिकसंख्याकः कुण्डे वै न्यूनसंख्यया ।
कृते कार्यो न च न्यूनसंख्याकः संख्ययाधिके ॥ २५ ॥
यथाविध्येव कर्त्तव्यं कुण्डं यत्नेन धीमता ।
अन्यथा वहवो दोषा भवेयुर्वहुदुःखदाः ॥ २६ ॥

तदुक्तं तान्त्रिकैः—

एवं लक्षणसंयुक्तं कुण्डमिष्टफलप्रदम् ।
अनेकदोषदं कुण्डं यत्र न्यूनाधिकं भवेत् ॥
तस्मात् सम्यक् परीक्ष्यैव कर्त्तव्यं शुभमिच्छता ।
हस्तमात्रं स्थण्डिलं वा संक्षिप्ते होमकर्मणि ॥

हारीतेनापि ।

विस्ताराधिक्य–हीनत्वे अल्पायुर्जायते ध्रुवम् ॥
खाताधिक्ये भवेद्रोगी हीने तु धन–संक्षयः ।
कुण्डे वक्रे च सन्तापो मरणं छिन्नमेखले ।
शोकस्तु मेखलोनत्वे तदाधिक्ये पशु—क्षयः ॥
भार्या–नाशो योनिहीने कण्ठहीने शुभक्षयः ॥ २७ ॥

भाषा टीका ।

के स्थान में एक हस्त परिमित लक्ष होम के स्थान में चारहस्तपरिमित और करोड होम के स्थान में आठहस्तपरिमाण—कुण्ड करना चाहिये । कुण्ड की लम्बाई और चौड़ाई के समान अधोभाग भी होगा ॥ २३ ॥ २४ ॥

(अन्य कोई विशेष विधि लिखी जाती है) होम–संख्या से न्यूनसंख्यापरिमित कुण्ड में कुण्ड—संख्या की अपेक्षा अधिक संख्यक होम किया जाता है । किन्तु होम—संख्या की अपेक्षा अधिक संख्यापरिमित कुण्ड में कुण्डसंख्या की अपेक्षा न्यून संख्यक होम नहीं किया जाता ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य यथाविधि यत्न के सहित कुण्ड की रचना करें, अन्यथा वहुत दुःख देने वाले अनेक दोष उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

इसी कारण तान्त्रिकों ने भी कहा है—इस प्रकार लक्षणयुक्त कुण्ड ही इष्ट—फलदायक होता है । जिस स्थान में कुण्ड न्यूनाधिक (१) होता है,—वहां वह अनेक दोषप्रद होता है । इस कारण शुभाकांक्षी पुरुष सम्यक् प्रकार परीक्षा करके कुण्ड की रचना करें । संक्षिप्त होम–कर्म के स्थल में एकहस्त प्रमाण स्थण्डिल (२) करना चाहिये ।

हारीत ने भी कहा है कि—कुण्ड अधिक–विस्तृत वा न्यून–विस्तृत होने से अल्पायु होना होताहै, इस में सन्देह नहीं । खात की अधिकता होने से

(१) न्यूनाधिक अर्थात् जो शास्त्र—विहित प्रमाण से रचित नहीं है ।

[२] स्थण्डिल—वालुकाद्वारा विरचित–होमीय अग्निस्थल ।

अङ्गुलि-परिमाणं चोक्तम् ।

तिर्य्यग्‌यवोदराण्यष्टावूर्द्ध्वा वा व्रीहयस्त्रयः ।
ज्ञेयमङ्गुलिमानं तु मध्यमा-मध्यपर्व वा ॥ इति ॥

विशेषोऽपेक्षितोऽन्यत्र स्रुक्‌स्रुव-प्रक्रियादिकः ।
ज्ञेयो ग्रन्थान्तरात् सोऽत्राधिक्यभीत्या न लिख्यते ॥ २८ ॥

अथ दीक्षा-मण्डलविधिः ।

अथोक्षिते पञ्चगव्यैर्गन्धाम्भोभिश्च मण्डपे ।
यथाविधि लिखेद्दीक्षा-मण्डलं वेदिकोपरि ॥ २९ ॥

तन्मध्ये चाष्टपत्राब्जं वहिर्वृत्त-त्रयं ततः ।
ततो राशींस्ततः पीठं चतुष्पादसमन्वितम् ॥

तस्माद्वहिश्चतुर्दिक्षु लिखेद्वीथीचतुष्टयम् ।
शोभोपशोभाकोणाढ्यं ततो द्वारचतुष्टयम् ॥३०॥

भाषा टीका ।

रोगी और हीनता होने से धनक्षय होता है । कुण्ड के वक्र (टेढ़ा) होने से सन्ताप, छिन्नमेखला होने (प्राचीर टूटने) से मृत्यु, मेखला की न्यूनता होने से शोक, मेखला की अधिकता होने से पशु--नाश, कुण्ड की योनी हीन होने से भार्या नाश और कण्ठरहित होने से कल्याण की हानि होती हैं ॥ २७ ॥

अंगुलिमान भी कहा गया है; यथा—यदि अष्ट-यवोदर प्रस्थ में अथवा व्रीहित्रय (तीन धान्य) ऊर्द्ध में हो—तो उसको अंगुलीमान जानना चाहिये, किम्वा यह अंगुलीमान—मध्यमाङ्गुलि की मध्यपर्व को जानना चाहिये । इस कुण्डनिर्माण प्रकरण में स्रुक् स्रुव् प्रक्रियादि और अपरापर जो सब विषय--अपेक्षित रहे अर्थात नहीं लिखे गये—वे ग्रंथान्तर से जानें, ग्रंथ वढ़ने के भय--से इस स्थान में नहीं लिखे गये ॥ २८ ॥

अब दीक्षा—मण्डल की विधि लिखते हैं —अनन्तर पञ्चगव्य [१] और गन्धजल द्वारा प्रोक्षण किये हुए मण्डप में वेदी के ऊपर यथाविधि दक्षा-मण्डल अंकित करे ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् उस में अष्टदल पद्म, उस पद्म के वहिर्देश में वृत्तत्रय [२] वृत्तत्रय के वहिर्भाग में मेषादि वारह—राशि, उस के वहिर्भाग में चारपाद-युक्त पीठ [३] पीठ के वहिर्देश में चारों ओर चार पथ और उस के पीछे शोभा, उपशोभा और कोण-युक्त चार द्वार लिखैं; अर्थात् चार द्वार के प्रति द्वार के दो—पार्श्व में शोभा—फिर उपशोभा—और इसके पीछे चार कोण अंकित करे ॥ ३० ॥

[१] पञ्चगव्य—दधि, दुग्ध, घृत, गोमय, गोमूत्र ।

[२] वृतत्रय—तीन गोलाकार मण्डल ।

[३] पीठ—आसन ।

अथ दीक्षाङ्गपूजा ।

प्रातः-कृत्यं गुरुः कृत्वा यथास्थानं न्यसेत्ततः ।
शङ्खं पूजोपचारांश्च पुरो-लेख्यप्रकारतः ॥ ३१ ॥

तत्रादौ कुम्भस्थापन—विधिः ।

गुरून् गणेशं चाभ्यर्च्य पीठ-पूजां विधाय च ।
पद्म-मध्ये न्यसेत् शालींस्तण्डुलांश्च कुशांस्तथा ॥ ३२ ॥

वह्नेर्दशकला यादिवर्णाद्याश्च कुशोपरि ।
न्यस्याभ्यर्च्य जपंस्तारं न्यसेत् कुम्भं यथोदितम् ॥ ३३ ॥

भाषा टीका ।

अव दीक्षाङ्ग पूजा लिखी जाती है । गुरुदेव प्रातः-कृत्य--(१) समापनपूर्वक पहिले लेख्य अर्थात् वक्ष्यमाण नियमानुसार यथोचित स्थान में शंख और समस्त पूजोपचार स्थापन करें (२) ॥ ३१ ॥

इस विषय में प्रथम कलस स्थापन की विधि लिखी जाती है ।—गुरु और गणपति देव की पूजा करके पीठपूजापूर्वक मध्य में धान्य, आतप तण्डुल [असिद्ध-तण्डुल] और-कुशाओं को स्थापन करे (३) ॥ ३२ ॥

तदनन्तर जिनकी आदि में यकारादि क्षकारान्त वर्ण समूह हैं, वह्नि की उन दशकला को कुशाओं पर विन्यास करके गंधादिद्वारा अर्चनापूर्वक—ओंकार का जप करते करते उन कुशाओं के ऊपर यथायोग्य कलश स्थापन करे (४) ॥ ३३ ॥

---

(१) प्रातःकृत्य--प्रातस्नान से आत्मार्पणान्त (आत्मदेह को भगवदर्पण कर) भगवतपूजादि नित्यक्रिया ।

(२) इसका तात्पर्य वा स्पष्ट अर्थ यह है कि-श्रीगुरुदेव दीक्षा—मण्डल के सामने पूर्वाभिमुख से अपने आसन पर विराजमान हो दीक्षासम्बन्धीय संकल्प और मातृकान्यास कर अपने बाईं और पहिले शंख, पूजोपचार और अर्घ्य इत्यादि सामग्री स्व-स्व-पात्र में रखकर यथोत्तर (एक के पीछे दूसरी) स्थापन करें और दक्षिणभाग में पुष्पादि विन्यास करें ।

(३) इसका स्पष्ट अर्थ; यथा—सब गुरु अर्थात् निज-गुरु और परमगुरु इत्यादि और श्रीनारदादि अन्यान्य पूर्वसिद्ध भागवतगण प्रथमतो मण्डल के अन्तर्गत पीठ के उत्तर भाग में वायुकोण से ईशानकोण तक 'गुरुवे नमः' 'परमगुरवे नमः' इत्यादि मन्त्र से गंधादि द्वारा उक्त गुरुआदि को पूजा करके प्रणाम-मुद्रा दिखावे । फिर गुरु इत्यादि की आज्ञा लेकर उनके दक्षिण भाग में यथाविधि गणपति को अर्चना पूर्वक निर्विघ्नता की प्रार्थना करे । और प्रथम लिखे हुए विधान से मण्डल में पीठ पूजा करे । इसके बाद मण्डलान्तर्वर्त्ती अंकित पद्म में कर्णिकोपरि एक आढ़क (तोल विशेष) प्रमाण धान्य और तिस का अष्टमांस शुक्र तण्डुल (सफेद चामल) रखकर फिर कुशत्रयघटित ब्रह्मग्रंथियुक्त कुशाओं को फैलावे । कोई कोई कहते हैं—एक मुट्ठी कुशाभी फैला सकता है ।

(४) स्पष्टार्थ, यथा,—शास्त्र जानने वालों के मतानुसार रक्तवर्ण नूतन छिद्रहीन कलसको कन्या के हस्तद्वारा प्रस्तुत मनोहर तिवले कपास के डोरे से तीन वार वेष्टन करे । "फट्" यह मंत्र पढ़ कर वेष्टन करना चाहिये । इस प्रकार करके उस को अगर और धूप धूम समन्वित करके स्थापन करे ।

ताश्चोक्ताः—

धूम्रार्च्चिरुष्मा ज्वलनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी ।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्य—कव्यवहे अपि ॥ इति ॥ ३४ ॥
काद्यैष्ठान्तैर्युता भाद्यैर्डान्तैश्चार्णैर्विलोमगैः ।
सूर्य्यस्य च कलाः कुम्भे द्वादश न्यस्य पूजयेत् ॥

ताश्चोक्ताः—

तपनी तापनी धूम्रा भ्रामरी ज्वालिनी रुचिः ।
सुषुम्ना भोगदा विश्वा वोधिनी धारिणी क्षमा ॥ इति ॥ ३५ ॥
कुम्भान्तर्निक्षिपेन्मूलमन्त्रेण कुसुमं सितम् ।
साक्षतं ससितं स्वर्णं सरत्नं च कुशांस्तथा ॥ ३६ ॥
कुम्भञ्च विधना तीर्थाम्बुना शुद्धेन पूरयेत् ।
जले चेन्दुकला न्यस्य सस्वराः षोड़शार्च्चयेत् ॥ ३७ ॥

भाषा टीका ।

वह्नि की दश कला कथित होती हैं,—यथा—धूम्रार्च्चि, उष्मा, ज्वलनी, ज्वालिनी, विस्फुलिङ्गिनी सुश्री, सुरूपा, कपिला, हव्यवहा, और कव्यवहा ॥ ३४ ॥

अनुलोम—क्रम से कादि ठान्त एवं विलोम क्रम से भादि डान्त वर्ण—समूह के सहित युक्त करके सूर्य की वारह कला इस कलस में विन्यास करके पूजा करनी चाहिये। सूर्य की वारह कला कथित होती है, यथा—तपनी, तापनी, धूम्रा, भ्रामरी, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, वोधिनी, धारिणी और क्षमा (१)॥ ३५ ॥

उक्त प्रकार से आधार-स्वरूप अग्नि और कुंभ-रूपी सूर्य की चिन्ता करके मंत्र—पाठ पूर्वक कुम्भ में शर्करा, अक्षत, सफेदपुष्प, तथा रत्नसहित सुवर्ण और कुश निक्षेप करने चाहिये ॥ ३६ ॥

इस के पीछे यथाविधान से (२) विशुद्ध तीर्थ के—जल से कुम्भ को पूर्ण करना चाहिये। फिर—उस कलस के जल में सोलह स्वरयुक्त सोलह इन्दु-कला विन्यास करके अर्चना करे॥ ३७ ॥

(१) कं भं तपन्यै नमः। खं वं तापन्यै नमः। गं फं धूम्रायै नमः। घं पं भ्रामर्य्यै नमः"। इत्यादि रीत्यनुसार सूर्य की वारह कलाप्रयोग के मंत्र समझनी चाहिये।

(२) यथाविधान से कहने का तात्पर्य यह है कि—पीठ और कुम्भ को एक विचार—विलोम—पठित क्षकारादि अकारान्त मातृकाक्षरस्वरूप मूलमंत्र तीन-वार जप कर केवल विमल तीर्थोदक (तीर्थ जल) से कुम्भ परिपूर्ण करै। सामर्थ्य होने से कर्पूरादि वासित जलद्वारा, गायके दूधद्वारा, पंचगव्य द्वारा, सर्व्वौषधि--जल द्वारा, क्षीरद्रुमादि—क्काथजल अर्थात वट इत्यादि वृक्ष के क्काथ द्वारा, अन्यजल द्वारा अथवा महौषधि—जलद्वारा कुम्भ परिपूर्ण करना होगा।

ताश्चोक्ताः —

अमृता मानदा पूषा तुष्टिःपुष्टी रतिर्धृतिः ।
शशिनी चान्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ।

पूर्णा पूर्णामृता च ॥ इति ॥ ३८ ॥

अथ शंखस्थापन-विधिः ।

शुद्धाम्बुपूरिते शंखे क्षिप्त्वा गन्धाष्टकं कलाः ।
आवाह्य सर्वास्ताः प्राण-प्रतिष्ठामाचरेत् क्रमात्॥ ३९ ॥

गन्धाष्टकश्चोक्तं —

उशीरं कुङ्कुमं कुष्ठं वालकं चागुरुर्मुरा ।
जटामांसी चन्दनश्चेतीष्टं गन्धाष्टकं हरेः ॥ इति ॥ ४० ॥
कैश्चिच्चन्दन-कर्पूरा-ऽगुरु-कुङ्कुम-रोचनाः ।
कक्कोल-कपि-मांस्यश्च गन्धाष्टकमिदं मतम् ॥ ४१ ॥
तथैवाकारजा वर्णैः कादिभिर्दशभिर्द्दश ।
उकारजाष्टकाराद्यैः पकाराद्यैर्मकारजाः ॥

भाषा टीका ।

चन्द्र की सोलह कला कथित होती हैं ।— यथा— (१)अमृता, (२) मानदा, (३) पूषा, (४) तुष्टि, (५) पुष्टि, (६) रति, [७] धृति, [८] शशिनी, [९] चान्द्रिका, [१०] कान्ति, [११] ज्योत्स्ना, [१२] श्री, [१३] प्रीति, (१४) अङ्गदा, [१५] पूर्णा और [१६] पूर्णामृता [१] ॥ ३८ ॥

अब शंखस्थापन की विधि कथित होती है— विशुद्धजलपूर्ण शंख में गंधाष्टक निक्षेपपूर्वक उस शंख के जल से उन समस्त—चन्द्र—कला का आह्वान करके क्रमानुसार उनकी प्राण—प्रतिष्ठा करे ॥ ३९ ॥

गंधाष्टक का विषय कथित होता है, यथा—उशीर, कुंकुम, कुष्ठ, वालक, अगरु, मुरा, जटामांसी और चंदन—इन आठ को गंधाष्टक कहते हैं, यह श्रीहरि को प्रसन्न करने वाले हैं (२) ॥ ४० ॥

कोई कोई महात्मा चंदन, कर्पूर, अगुरु; कुंकुम, रोचना, कक्कोल, कपि [३] और जटामांसी [बालछड] इन कई द्रव्य को गंधाष्टक कहकर स्वीकार करते हैं ॥ ४१ ॥

उक्त प्रकार से ही 'क' कारादि दशवर्ण के सहित

(१) इन सब का प्रयोग यथा,—"अं अमृतायै नमः" इत्यादि अर्थात पूजा काल में इस प्रकार नियम से मंत्रप्रयोग करे ।

(२) उशीर-खस । कुङ्कम—जाफरान । कुष्ठ-कूट । वालक—वाला । मुरा-तालपर्णी । चन्दन—श्वेतचंदन ।

(३) कपि—शिह्लक अर्थात् शिलारस ।

चतस्रो विन्दुजाः षाद्यैश्चतुर्भिर्नादजाः कलाः।
स्वरैः षोड़शभिर्युक्ता न्यसेच्छङ्खे च षोड़श।

ताश्चोक्ताः—

सृष्टिर्ऋद्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मी धृतिः स्थिरा।
स्थितिः सिद्धिरकारोत्थाः कला दश समीरिताः॥

जरा च पालिनी शान्तिरैश्वरी रति-कामिके।
वरदा ह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घा चोकारजाः कलाः॥

तीक्ष्णा रौद्रा भया निद्रा तन्त्री क्षुत् क्रोधनी क्रिया।
उत्कारी चैव मृत्युश्च मकाराक्षरजाः कलाः॥
विन्दोरपि चतस्रः स्युः पीता श्वेतारुणासिता॥ ४२॥
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च।
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा।
सूक्ष्मा-ऽसूक्ष्मा मृता ज्ञाना-ऽज्ञाना चाप्यायनी तथा।
व्यापिनी व्योमरूपा च अनन्ता नादसम्भवाः॥ इति॥॥ ४३॥
न्यासं कलानां सर्वासां कुर्य्यादेकैकशः क्रमात्।
नामोच्चार्य्य चतुर्थ्यन्तं तत्तद्वर्णैर्नमोऽन्तकम्॥ ४४॥

भाषा टीका।

'अ' कार—जात दशकला, 'ट' कारादि दशवर्ण के सहित 'उ' कार—जात दशकला, 'प' कारादि दशवर्ण के सहित 'म' कार-जात-दशकला, 'ष' कारादि वर्णचतुष्टय [चारवर्ण] के सहित चार विन्दुज कला; और सोलह संख्यक स्वरवर्ण के सहित नादज (शब्दोत्पन्न) सोलह कला संयुक्त करके उस शङ्ख में विन्यास करे। कला सब कथित हैं; यथा—सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कांति, लक्ष्मी, धृति, स्थिरा, स्थिति और सिद्धि, यह दश अकारोत्थ कला अर्थात (अकार से उत्पन्न) कही गई हैं॥ जरा, पालिनी, शान्ति, ऐश्वरी, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति और दीर्घा, यह—दश उकारोत्थ; तीक्ष्णा, रौद्रा, भया, निद्रा, तन्त्री, क्षुत, क्रोधनी, क्रिया, उत्कारी और मृत्यु,-यह दश कला मकारोत्थ हैं। एवं पीता, श्वेता, अरुणा और असिता,-यह चार विन्दुज अर्थात् अनुस्वारजात कला कही गई हैं॥ ४२॥

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शांति, इन्धिका, दीपिका, रेचिका, मोचिका, सूक्ष्मा, असूक्ष्मा, मृता, ज्ञाना; अज्ञाना, आप्यायनी, व्यापिनी, और व्योमरूपा—यह सोलह कला स्वरसंयुक्त और नादोत्थ अर्थात् चन्द्रबिन्दु से उत्पन्न हैं॥ ४३॥

तत्तद्वर्ण के सहित चतुर्थ्यन्त नाम उच्चारण पूर्वक अन्त में 'नमः' शब्द मिलाकर एक एक यह सब कला न्यास करे अर्थात आगे जो सब वर्ण कहे गये हैं उन सब के सहित चतुर्थी विभक्ति-युक्त नाम समूह

पूर्वं प्राण-प्रतिष्ठायास्तासामावाहनात् परम्।
ऋचः पञ्च यथास्थानं पठेत्ताश्चार्चयेत् कलाः।
"हंसः शुचिषदित्यादौ "प्रतद्विष्णु"स्ततः परम्।
"त्रियम्बकं" "तत् सवितु" "विष्णुर्योनि" मिति क्रमात॥ ४५॥

तच्च शंखोदकं कुम्भे मूलमंत्रेण निक्षिपेत्
पिदध्यात्तन्मुखं शक्रवल्ली-चूतादि पल्लवैः॥ ४६॥
शरावेणाथ पुष्पादि-युक्तेनाच्छाद्य तत् पुनः।
संवेष्ट्य वस्त्र-युग्मेन ततः कुम्भञ्च मण्डयेत्॥ ४७॥

अथ कुम्भे श्रीभगवत् पूजा-विधिः।

तस्मिन्नावाह्य कलसे परं तेजो यथाविधि॥
सकलीकृत्य चाचार्य्यः पूजयेदासनादिभिः।

भाषा टीका।

उच्चारण पूर्वक अन्त में 'नमः' शब्द मिलाय एक एक करके सब कला स्थापत करनी चाहिये (१) ॥ ४४ ॥

इन सब का आवाहन करने के पीछे और प्राण-प्रतिष्ठा के पहिले यथा स्थान में ऋक् पंच पाठ और कला-समूह की अर्चना करे। प्रथमतः "हंसः शुचिषत्" फिर "प्रतद्विष्णुः" फिर "त्रियम्वकं" तदनन्तर "तत्सवितुः" "फिर विष्णुर्योनिं" क्रमानुसार यह ऋक् पंच उच्चारण करना चाहिये (२) ॥४५॥

मूल मंत्रोच्चारण सहित वह शंखोदक (शंखका जल) कुंभ में डालदे। कुंभ का मुख शक्रवल्ली (इन्द्र-वेल) आम्र और अश्वत्थप्रभृति का पल्लव से ढकना चाहिये ॥ ४६ ॥

फिर पुष्पादि—युक्त शरावे के द्वारा पुनर्वार कुंभका मुख ढककर दो वस्त्रों से वेष्टनपूर्वक फिर कुसुम चन्दन इत्यादि द्वारा) कुंभ को (अलंकृत) करे ॥ ४७ ॥

अनन्तर कुम्भ में भगवत्—पूजा की विधि कहते

(१) प्रयोग यथा—"ॐ कं सृष्टयै नमः;; "खं ऋद्धयै नमः,, इत्यादि प्रकार से न्यास करे। कोई कोई पाण्डित केवलमात्र प्रथम प्रणवसंयुक्त करके ही इन सब का न्याय करते हैं। अपर अनेक महात्मा—पादद्वय स्कन्ध के अग्र में (चरणों के ऊपरी उन्नत भाग में) अकारजात कला का, करद्वय स्कंध के अग्र में (हाथों के अग्रभाग में) उकार – जात कला का, गुह्यादि दश अङ्ग में मकारजात कला का, कंठ-चिबुक और दोनों—भाओं में विन्दुजात कला का, तत्तत् न्यासस्थानों में नादज कला का न्यास करते हैं। क्रमदीपिका के टीकादि—ग्रंथ में इन सबकी प्रतिष्ठादि विधि विस्तार सहित लिखी हैं।

(२) इस श्लोक में यथास्थान में कहने का तात्पर्य यह है कि- शंख के जल से अकारजात कला का आवाहन करने के पीछे और प्राणप्रतिष्ठा के पहिले "हंसःशुचिषत्"; उकारजकला का आवाहन करने के पीछे और प्राण प्रतिष्ठा के पहिले "प्रत-द्विष्णुः ,, ; मकाराज कला का आवाहन करने के पीछे और प्राण प्रतिष्ठा के पहिले "त्रियम्यकं,, ; विन्दजात कला का आवाहन करने के पीछे और प्राण प्रतिष्ठा के पहिले "तत्सवितुः" एवं नादोत्थ कला का आवाहन करने के पीछे और प्राणप्रतिष्ठा के पहले "विष्णु-र्योनिं" क्रमानुसार यह ऋक-पंच पाठ करना चाहिये।

सकलीकरणं चोक्तम्।

देवताङ्गे षड़ङ्गानां न्यासः स्यात् सकलीकृतिः ॥ ४८ ॥
केचिच्चाहुः करन्यास-पीठन्यासौ विनाखिलैः।
न्यासैस्तत्तेजसः साङ्गीकरणं सकलीकृतिः ॥ ४९ ॥
एवञ्च कुम्भे तं साङ्गोपाङ्गं सावरणं प्रभुम्।
अग्रतो लेख्य-विधिनार्चयेद्भोज्यार्पणावधि ॥ ५० ॥
नैवेद्यार्पणतः पश्चान्मण्डलस्य च सर्वतः।
सद्दीपान् पैष्टिकान् न्यस्येत् सवीजाङ्कुरभाजनान् ॥ ५१ ॥

अथ दीक्षाहोम—विधिः।

ततो दीक्षाङ्गहोमार्थं कुण्डं प्राग्विहितं गुरुः।
सम्मार्ज्य दर्भमार्जन्या यथाविध्युपलेपयत्।
विकीर्य सर्षपांस्तत्र गव्यैः संप्रोक्ष्य पञ्चभिः।
मध्ये संपूजयेद्वास्तुपुरुषं दिक्षु तत्पतीन् ॥ ५२ ॥

भाषा टीका।

है—गुरुदेव उस कुम्भ में यथाविधि—(१) नराकृति परब्रह्म श्री कृष्ण का आवाहनपूर्वक सकलीकरण कर आसनादि उपचार द्वारा पूजा करें। सकलीकरण कथित है; यथा—देवता के अंग में षड़ङ्गन्यास ही सकलीकरण कहा गया है॥ ४८ ॥

कोई कोई कहते हैं कि;—करन्यास और पीठ-न्यास के अतिरिक्त अन्यान्य संपूर्ण न्यास द्वारा उस परब्रह्मस्वरूप तेज की ध्यानयोग से साकारता प्रतिपादन को ही सकलीकरण कहा जाता है ॥ ४९॥

इस प्रकार आवाहनादि द्वारा—अङ्ग,—उपाङ्ग और आवरणसहित प्रभु श्रीकृष्ण की आगे लिखे विधान से इस प्रकार आवाहनादि नैवेद्यार्पणान्त उपकरण द्वारा अर्चना करे॥ ५० ॥

नैवेद्य—समर्पण के पीछे मण्डल के सब ओर वीजाङ्कुर—पात्रसमन्वित उत्तम दीप पैष्टिक में विन्यस्त करे (२)॥ ५१ ॥

अनन्तर दीक्षा की होमविधि कही जाती है—तदनन्तर—गुरुदेव दीक्षाङ्ग होम के निमित्त कुश-निर्मित सम्माजनी (बुहारी) द्वारा पूर्वविहित कुण्ड

(१) यथाविधि अर्थात् मूलमंत्र द्वारा श्रीमूर्ति की चिन्ता कर दोनों हाथों में पुष्पाञ्जलि ले उस पुष्पाञ्जलि में प्रवहमान नासापुट द्वारा हृतप्रदेश से ब्रह्म तेजः आनयन कर—कलसादि में कल्पित मूर्त्ति में तन्मन्त्र द्वारा आवाहन करे।

(२) इसका तात्पर्य यह है कि—मण्डल के चारों ओर वीजाङ्कुरपात्रसहित उत्तम—गव्यघृतादि-साधित (गव्य से सुसंपन्न किया) सम्यक् उज्ज-लित (शुद्ध श्वेत) दीप स्थापन करे। यह सब दीप अर्थात् वर्त्तिका (वत्तियें) यवचूर्णनिर्मित पात्र (जो के आटे के बने दीपक) में स्थापित होगी। पैष्टिक शब्द से पिष्टयवचूर्णादि द्वारा निर्म्मित पात्र।

शोषणादीनि कुण्डस्य कृत्वा प्रोक्ष्य कुशाम्बुभिः ।
उल्लिख्य चास्मिन् योन्यादिसहितं मण्डलं लिखेत् ॥ ५३ ॥
श्रीवीजं मध्ययोनौ च विलिख्याभ्युक्ष्य पूजयेत् ।
निधाय तत्र पुष्पादिविष्टरं साधु कल्पयेत् ॥ ५४ ॥
तत्र लक्ष्मीमृतुस्नातां विष्णुश्चावाह्य पूजयेत् ।
ताम्रादिपात्रेणानीयाग्रतोऽग्निं स्थापयेच्छुभम् ॥ ५५ ॥
गन्धादिनाग्निमभ्यर्च्य विष्णोः संक्रीड़तः श्रिया।
रेतोरूपं विचिन्त्यामुं कुण्डं तारेण चार्चयेत् ॥ ५६ ॥

भाषा टीका।

को यथाविधि (१) संमार्जन और उपलेपन करें । फिर यथाविधि उस कुण्ड में सरषों वखेर कर (२) पञ्चगव्य द्वारा प्रोक्षणपूर्वक मध्यभाग में वास्तुपुरुष की और दशों दशाओं में दश दिकूपति की (३) पूजा करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

तदनन्तर (पूजाप्रकरण के लिखित नियमानुसार) कुण्ड का शोषणादि अर्थात् शोषण, दहन, प्लावन और काठिन्य इत्यादि करके कुशोदक द्वारा प्रोक्षण-पूर्वक विलिखन कर इस कुण्ड में योन्यादि के सहित मण्डल आंकित करे ॥ ५३ ॥

(अव अग्निसंस्कार वर्णन करने के लिये प्रथम उसकी प्रतिष्ठा—विधि लिखी जाती है) योनि के मध्यभाग में श्रीवीज लिखकर [उसको जल से] अभ्युक्षणपूर्वक अर्चना करे। उस के ऊपर पुष्पादि (४) स्थापन करके उत्तमप्रकार से विष्टर अर्थात् शय्या की कल्पना करे ॥ ५४ ॥

फिर उस में ऋतुस्नाता लक्ष्मी और विष्णु का आवाहन करके पूजा करे। तदनन्तर ताम्रादि पात्र में शुभ (५) अग्नि लायकर सन्मुख-भाग में स्थापन करे ॥ ५५ ॥

फिर गंधादिद्वारा अग्नि की पूजा करके इस अग्नि की,—लक्ष्मी-सहित विहारकारी विष्णु का रेतः-स्वरूप चिन्ता कर प्रणव सह कुण्ड की अर्चना करे ॥ ५६ ॥

(१) यहां यथाविधि कहने का तात्पर्य यह है कि—संमार्जनी के ऊपर वायुवीज जप कर अग्नि कोंण से आरंभ कर के प्रादक्षिण्यक्रम से संमार्जन करै। और इसी प्रकार—वरुणवीज द्वारा लेपन करना चाहिये।

(२) अस्त्रमंत्र अर्थात् "फट्" यह मंत्र जप कर सरषों वखेरे।

(३) दश दिकूपति; यथा—इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुवेर, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त ।

(४) पुष्पादि—यहां आदि शब्द से पुष्प, अक्षत और कूर्च समझना चाहिये। कोई कोई—महात्मा इस श्लोकमध्यस्थ 'पुष्पादिविष्टरं' का एक पद करके पुष्पादि द्वारा निर्मित शय्या इस प्रकार अर्थ करते हैं।

(५) शुभ—उभयकाष्ठ के घर्षण से अग्नि उत्पादन कर अथवा आहिताग्नि ब्राह्मण के घर से अग्नि लाकर कुश द्वारा प्रज्वलित करके यत्न-पूर्वक स्थापन करे।—यही विधि है।

"वैश्वानरे" ति मन्त्रेणाच्छाद्याग्निं तं सदिन्धनैः ।
"चित्पिङ्गले" ति प्रज्वाल्योपतिष्ठे "दग्नि" मित्यमुम् ॥ ५७ ॥

जिह्वा न्यसेत् सप्त तस्मिन्नप्यङ्गेष्वङ्गदेवताः ।

षट्सु षट् न्यस्य मूर्त्तीश्च न्यस्याष्टाभ्यर्चयेच्च ताः ॥ ५८ ॥

सप्त जिह्वाश्चोक्ताः —

हिरण्या गगना रक्ता तथा कृष्णा च सुप्रभा ।
बहुरूपाऽतिरूपा च सप्तजिह्वा वसोरिमाः ॥ ५९ ॥

अथाङ्ग-देवताः ।

सहस्रार्चिः स्वस्तिपूर्ण उत्तिष्ठपुरुषस्तथा ।
धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्द्धर इति स्मृतः ॥

अष्टमूर्त्तयश्च ।

जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहन एव च ।
अश्वोदरजसंज्ञश्च तथा वैश्वानरोऽपरः ॥
कौमारतेजाश्च तथा विश्वदेवमुखाह्वयौ ॥इति ॥ ६० ॥

भाषा टीका ।

[इस प्रकार अग्नि की प्रतिष्ठा-विधि लिख कर अव उपस्थान की विधि लिखी जाती है] 'वैश्वानर' इत्यादि मंत्र द्वारा उस अग्नि को ढक,- 'चितपिङ्गल' इत्यादि मंत्र-पाठ सहित यथाविहित काष्ठद्वारा प्रज्वलित करके 'अग्निम्' इत्यादि मंत्र से इस अग्नि की उपासना (पूजा) करे ॥ ५७ ॥

[अनन्तर अग्निसंस्कार के अर्थ प्रथम न्यासादि- लिखे जाते हैं] इसके पीछे उस अग्नि में अग्नि की सप्त जिह्वा और छय अंग में छैं अंग देवता का न्यास करके उस अग्नि को अष्टमूर्ति भी स्थापन पूर्वक उन सव की पूजा करे ॥ ५८ ॥

अग्नि की सप्त जिह्वा कथित हैं; यथा—हिरण्या, गगना, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, वहुरूपा और अतिरूपा. यह सात अग्नि की जिह्वा कही गई हैं (१) ॥ ५९ ॥

अव अग्नि के अंगदेवता कहीं जाती हैं ।— सहस्रार्चिः, स्वस्तिपूर्ण, उत्तिष्ठपुरुष, धूमव्यापी, सप्तजिह्वा, धनुर्द्धर । अग्नि की आठ मूर्ति; यथा— जातवेदाः, सप्तजिह्व, हव्यवाहन, अश्वोदरज, वैश्वानर, कौमारतेजाः; विश्वमुख और देवमुख ॥ ६० ॥

---

(१) हिरण्यादि सप्त जिह्वा के नामों में 'गगना' इस नाम के परिवर्त्तन में 'कनका'; 'अतिरूपा' इस के परिबर्तन में 'अतिरिक्ता' पाठ भी ग्रंथान्तर में दिखाई देता है । मतान्तर में अग्नि की सप्त जिह्वा; यथा-पद्मरागा, सुपर्णा, कराली, धूमिनी, श्वेता, लोहिता महालोहिता । मतान्तर में,—काली, कराली, मनाजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी आर शुचिस्मिता ।

ततो वह्निं परिस्तीर्य संस्कृत्याज्यं यथाविधि।
हुत्वा च व्याहृतीः पश्चात्त्रीन् वारान् जुहुयात् पुनः॥
ततोऽस्य गर्भाधानादीन् विवाहान्तान् यथाक्रमम्।
संस्कारानाचरेदुक्तमन्त्रेणाष्टाहुतैस्तथा॥ ६१॥
इत्थं हि संस्कृते वह्नौ पीठमभ्यर्च्य तत्र च।
देवमावाह्य गन्धादिदीपान्तविधिनार्चयेत्॥ ६२॥
तच्चाग्निं देवरसनां सङ्कल्प्याष्टोत्तरं बुधः।
सहस्रं जुहुयात् सर्पिः शर्करापायसैर्युतैः॥ ६३॥
हुत्वाज्येनाथ महतीर्व्याहृतीर्विधिना कृती।
ग्रहर्क्षकरणादिभ्यो बलिं दद्याद्यथोदितम्॥

अथ होमद्रव्य—परिमाणं।

कर्षमात्रं घृतं होमे शुक्तिमात्रं पयः स्मृतं॥
उक्तानि पञ्चगव्यानि तत्समानि मनीषिभिः।
तत्समं मधुदुग्धान्नमक्षमात्रमुदाहृतम्॥
दधि प्रसृतिमात्रं स्यात् लाजाः स्युर्मुष्टिसम्मिताः॥ इत्यादि॥ ६४॥

भाषा टीका।

फिर चारों दिशा में [कुशाङ्करादिद्वारा] अग्नि का परिस्तरण [विस्तार] करके यथाविधि [तापन, अभिद्योतन इत्यादिद्वारा] घृत-शोधनपूर्वक पीछे विधिसहित व्याहृति होम करे [वैश्वानर इत्यादि अग्नि के मूलमंत्र से] फिर तीन वार होम करे। इसके उपरान्त शास्त्रविहित मंत्र से आठ आहुति देकर क्रमशः अग्नि के गर्भाधानादि विवाहान्त सब संस्कार करे॥ ६१॥

इस प्रकार से अग्नि के संस्कृत होने पर उस में पीठ—पूजापूर्वक उस पीठ में देवता का आवाहन कर गन्धार्पणादि दीपदानान्त शास्त्रविधि के अनुसार अर्चना करे॥ ६२॥

बुद्धिमान् मनुष्य उस अग्नि को भगवान् की जिह्वा-रूप में कल्पना करके घृत, शर्करा और पायस (खीर) द्वारा अष्टोत्तर सहस्र होम करे॥६३॥

फिर कर्म—कर्त्ता यथाविधि घृतद्वारा महाव्याहृति होम करके ग्रह, नक्षत्र और करणादि को (१) शास्त्र—लिखित विधान से (मण्डल के मध्य राशि स्थान में तत्तन्मंत्र द्वारा तत्तत्क्रमानुसार होम से बची हुई पायस के तृतीयांश द्वारा) बलि प्रदान करे।

अव होम द्रव्यों का परिमाण कथित होता है-

(१) यहां आदि शब्द द्वारा सिंह, व्याघ्र, वराह, खर, गज, वृषभादि की बलि भी समझनी चाहिये। और मण्डल के दक्षिण भाग में गोवर से लिपे स्थान में तेजोऽधिपति अग्नि के उद्देश्य से और विष्णु—पार्षदों के उद्देश्य से चतुर्थांशपायसद्वारा वलि दे। जल, गंध और पुष्पदान में नमोन्तमन्त्र और बलिदान में स्वाहान्त मंत्र प्रयोग करना चाहिये। पुनर्वार जल दान में 'तृप्यन्तां' उच्चारण करे।

अथ नत्वाम्बु पानार्थं प्रदायाचमनाय च।
आत्मार्पणान्तमन्यच्च लेख्येन विधिनाचरेत्॥ ६५॥

अथ गुरु-शिष्यनियमादि।

व्रतस्थं वाग्यतं शिष्यं प्रवेश्याथ यथाविधि।
तद्देहे मातृकां साङ्गां न्यस्याथोपदिशेच्च तां॥ ६६॥

देवं सावरणं कुम्भगतं चानुस्मरन् गुरुः।
जप्त्वाष्टोत्तरसाहस्रं शयीत प्राश्य किञ्चन॥ ६७॥
दर्भोपर्य्यजिने त्वैणे निविष्टो मातृकां स्मरन्।
गुरुञ्च शिष्यो निद्रान्तं तां शयीत जपन् व्रती॥ ६८॥

इति पूर्वदिन-कृत्यं।

अथ तद्दिन-कृत्यानि।

प्रातःकृत्यं गुरुः कृत्वा कुम्भं चाभ्यर्च्य पूर्ववत्।
हुत्वा दत्त्वा वलिं कर्मान्यत्कुर्यात् स्वार्पणावधि॥ ६९॥

भाषा टीका।

मनीषि-गण होम कार्य में घृत—कर्षपरिमित, (एक तोला; दूध-शुक्तिमित (चार) तोला, पंचगव्य-तत्सम प्रत्येक एक एक तोला, मधु तत्सम एक तोला, दुग्धान्न अर्थात् पायस अक्षपरिमित [एक तोला,] दही-प्रसृति परिमाण (गण्डूष—प्रमाण) और लाजों [खीलों] का मुष्टि परिमाण होना कहते हैं॥ ६४॥

फिर वलिदान के पीछे प्रणाम करके पानार्थ (सुसंस्कृत) जल और आचमनार्थ जल प्रदानपूर्वक आत्मार्पणान्त-तक अपरापर कार्य्य लिखे हुइ विधान से करे॥ ६५॥

अव गुरु-शिष्य के नियमादि कहे जाते हैं।— अनन्तर गुरुदेव व्रतस्थ (उपवास-परायण) वाग्यत (मौनी) शिष्य को यथाविधि[१] [पूर्व शिष्यों के सहित वा उनके द्वारा] प्रवेश कराकर उसके देह में अङ्ग-युक्त मातृका न्यास-करके विधान से (ध्यानपूर्विका) यह मातृका उपदेश करें॥ ६६॥

फिर श्रीगुरु आवरण सहित भगवान् की स्थापित कुंभ-मध्यगत (घटमध्यवर्ती भगवान् की) चिन्ता करके (उस कलस का जल स्पर्श पूर्वक) अष्टोत्तर सहस्र जप कर (पुष्पाञ्जलि लेकर प्रणाम करने के पीछे) पंचगव्यादि किंचित् सेवन करके [पवित्र-शय्या पर] शयन करें॥ ६७॥

व्रतवान् (उपवास—परायण) शिष्य भी दर्भोपरि अर्थात् कुशाओं के ऊपर मृग—चर्म विछाय उसके ऊपर बैठ मातृका और गुरुदेव की चिन्ता कर और निद्रा पर्यन्त उस मातृका जप पूर्वक (पूर्वशिराः वा उत्तरशिराः होकर) शयन करे। यह सव पूर्व दिनके कृत्य हैं॥ ६८॥

अनन्तर तद्दिन—कृत्य अर्थात दीक्षा ग्रहण करने के दिन का कृत्य कहते है;— गुरुदेव प्रातःस्नान से आत्मसमर्पण पर्यन्त समस्त कर्म सम्पादन पूर्वक पूर्ववत् कुम्भ की (कुम्भस्थ भगवान् की)

(१) यथाविधि कहने का तात्पर्य यह है कि—शिष्य से प्रणाम कराकर 'फट्' मंत्र उच्चारण पूर्वक प्रोक्षणी जल द्वारा उस पर छींटे दे किंचित पंचगव्य सेवन कराय उसकी देह में न्यास करें।

संहार-मुद्रया कृष्णे संयोज्यावृतिदेवताः।
तच्चामृतमयं ध्यात्वा स्वस्मिंश्चाग्निं विलापयेत् ॥ ७० ॥
ध्वज-तोरण-दिक्-कुम्भ-मण्डपाद्यधिदेवताः।
सर्वा विभाव्य चिद्रूपाः कुम्भे संयोज्य पूजयेत् ॥ ७१ ॥
अतो गुरुं गणेशञ्च विष्वक्सेनञ्च पूजयेत्।
उद्वास्य कलसं स्पृष्ट्वा शतमष्टोत्तरं जपेत् ॥ ७२ ॥
कृतोपवासः शिष्योऽथ प्रातःकृत्यं विधाय सः।
शुक्लवस्त्रः सुवेशः सन् विप्रान् द्रव्येन तोषयेत् ॥ ७३ ॥
गुरुञ्च भगवद्दृष्ट्या परिक्रम्य प्रणम्य च।
दत्त्वोक्तां दक्षिणां तस्मै स्व-शरीरं समर्पयेत् ॥ ७४ ॥

तथा च दशमस्कन्धे।

इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्त्तव्यं गुरु-निष्कृतम्।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥ ७५ ॥

भाषा टीका।

पूजा, होम और वलिदान कर (पानार्थ जलसमर्पणादि) आत्मसमर्पण पर्यन्त अन्यान्य कर्म (कुम्भ में)सम्पादन करें ॥ ६९ ॥

तदनन्तर संहार मुद्रा (१) द्वारा आवरण देवताओं की श्रीकृष्ण मे योजना कर-अर्थात् "कृष्ण में विलीन हुए हैं" इस प्रकार चिन्ता कर अन्त में उन कृष्ण को निष्कल पूर्णानन्द रूप मे अवस्थित ध्यान कर अपनपे को अग्नि विलीन करें। अर्थात् इस प्रकार चिन्ता करे कि— "मुझ में अग्नि मिश्रित हुई है" ॥ ७० ॥

फिर ध्वज, तोरण, दिग्- कुम्भ, मण्डप इत्यादि के अर्थात् मण्डल कुण्डादि के अधिष्ठात्री देवता की चिद्रूप (ब्रह्मस्वरूप) चिन्ता करके कुम्भ में संयोजन पूर्वक पूजा करे ॥ ७१ ॥

इसके पीछे गुरुदेव गणेश और विष्वक्सेन की पूजा करे, और विसर्जन पूर्वक कलस स्पर्श करके अष्टोत्तर शत (१०८) जप करें ॥ ७२ ॥

तदनन्तर कृतोपवास वह (दीक्षार्थी) शिष्य प्रातःकृत्य अर्थात् स्नानादि आवश्यक कर्म समापन पूर्वक दो सफेद वस्त्र और सुवेश धारण कर (होम करने वाले) ब्राह्मणों को (गो, भूमि, वस्त्र, धान्य इत्यादि) द्रव्य द्वारा संतुष्ट करे ॥ ७३ ॥

गुरुदेव की भगवद्बुद्धि से प्रदक्षिणा और प्रणाम करके शास्त्र विहिता (२) दक्षिणा दे आत्म—शरीर उनको समर्पण करे ॥ ७४ ॥

दशम स्कन्ध में लिखा है; यथा—विशुद्धभाव से गुरुदेव को जो स्वीय सर्वार्थ और आत्मसमर्पण

(१) ऊर्द्धमुखस्थ दक्षिण हस्त को अधोमुखस्थ वामहस्त के ऊपर स्थापन पूर्वक दोनों हाथ की फैली हुई अँगुलियों को परस्पर ग्रन्थन अर्थात् संयुक्त कर उलटानें से ही उस को संहार—मुद्रा कहते हैं।

(२) शास्त्र-विहित दक्षिणा अर्थात् शक्ति के अनुसार अपने वित्त (धन) का अर्द्धांश, चतुर्थांश वा द्वादशांश प्रदान करना चाहिये। यही गुरु के संतोषार्थ प्रथम दक्षिणा है।

अथाभिषेचनविधिः ।

याागालयादुत्तरस्यामाशायां स्नानमण्डपे ।
पीठे निवेश्य तं शिष्यं कारयेच्छोषणादिकम् ॥ ७६ ॥

पीठ—न्यासान्तमखिलं मातका—न्यास पूर्वकम् ।
न्यासं शिष्य—तनौ कृत्वा पीठमन्त्रेण पूजयेत् ॥ ७७ ॥

सदूर्वाक्षतपुष्पाञ्च मूर्द्धनि शिष्यस्य रोचनाम् ।
निधाय कलसं तस्यान्तिके वाद्यादिना नयेत् ॥ ७८ ॥

श्रीकृष्णमथ संप्रार्थ्य गुरुः कुम्भस्य वाससा ।
नीराज्य शिष्यं तन्मूर्द्धनि न्यसेत्तत्पल्लवादिकम् ॥ ७९ ॥

तदुक्तं —

विधिवत् कुम्भमुद्धृत्य तन्मुखस्थान् सुरद्रुमान् ।
शिशोः शिरसि विन्यस्य मातृकां मनसा जपेत् ॥ ८० ॥

भाषा टीका

है—वही सत् शिष्य का गुरु के समीप कर्त्तव्य प्रत्युपकार है ॥ ७५ ॥

अनन्तर अभिषेक-विधि का वर्णन करते हैं,—यागालय के उत्तर स्नानमण्डप में तत्रस्थ पीठ के ऊपर इस शिष्य को वैठाल कर शोषणादि करें [१] ॥ ७६ ॥

इस के पीछे शिष्य के देह में मातृकान्यासादि पठिन्यासान्त संपूर्ण न्यास करके पीठमंत्र द्वारा अर्चना करे अर्थात् शिष्य के शरीर में ही भगवान् को उद्देश्य करके कुसुमाञ्जलि प्रदान करे ॥ ७७ ॥

फिर शिष्य के मस्तक में दूर्वा, अक्षत और पुष्प-सहित गोरोचना स्थापन पूर्वक उस के समीप वाद्यादि सहित (पूर्वसंस्कृत) कलश मँगावें (२) ॥ ७८ ॥

फिर गुरुदेव श्रीकृष्ण के समीप प्रार्थना कर के कुंभ के वस्त्रद्वारा शिष्य को नीराजनपूर्वक उस के मस्तक में इस कुंभ के पल्लवादि स्थापन करें अर्थात् गुरुदेव श्रीकृष्ण के समीप इस प्रकार प्रार्थना करें कि—"हे प्रभो ! मेरे अन्तःकरण में विशेष प्रकार से वास करके साधुगुणयुक्त इस शिशु [बालक] के प्रति अनुग्रह कीजिये" इस प्रकार प्रार्थना पूर्वक स्वयं उत्तराभिमुख हो वाम हस्त से कुंभ धारण और कुंभ-मुखस्थित वस्त्रद्वारा शिष्य को नीराजन कर कुंभमध्यस्थ पल्लवादि उस के मस्तक में अर्पण करें ॥ ७९ ॥

इस विषय में कहा है,—यथाविधान से कुंभ के उठाकर उसके मुख में स्थित हुए अश्वत्थ-पल्लव समूह शिशु [शिष्य] के मस्तक प्रदेश में स्थापन करके मन मन में मातृका का जप करें ॥ ८० ॥

[१] इसका तात्पर्य यह है कि--प्रथमतो गुरुदेव गोवर द्वारा लिपे, जनशून्य वा पवित्र, चन्द्रातप (चंदोवे) द्वारा अलंकृत मण्डप में पद्म स्वस्तिकादि रचना करके उस में पीठ स्थापन करें । फिर शिष्य को उसी पीठ पर पूर्वाभिमुख वैठाल कर उस के सन्मुख स्वयं वैठ शोषण, दहन और प्लावनादिरूप भूतशुद्धि सम्पादन करावें ।

(२) वाद्य यंत्र (वाजे) वजा कर विश्वस्त साधु मनुष्य के हाथ से कलस मँगाना चाहिये । कोई कोई महात्मा मस्तक में गोरोचना न देकर उसके द्वारा ललाट में तिलक देते हैं ।

ततः कुम्भाम्भसा शिष्यं प्रोक्ष्य त्रिर्मूलमन्त्रतः।
विप्राशीर्मङ्गलोद्घोषैरभिषिञ्चेन्मनून पठन् ॥ ८१ ॥

अथाभिषेक-मन्त्राः।

वशिष्ठसंहितायाम् —

सुरास्त्वामाभिषिञ्चन्तु ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।
वासुदेवो जगन्नाथस्तथा सङ्कर्षणो विभुः ॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च भवन्तु विभवाय ते।
आखण्डलोऽग्निर्भगवान् यमो वै निर्ऋतिस्तथा ॥
वरुणः पवनश्चैव धनाध्यक्षस्तथा शिवः।
ब्रह्मणा सहिता ह्येते दिक्पालाः पान्तु वः सदा ॥
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया गतिः।
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिर्माया निद्रा च भावना ॥
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु राहुः केतुश्च पूजिताः।
देव-दानव-गन्धर्वा यक्ष-राक्षस-पन्नगाः ॥
ऋषयो मुनयो गावो देवमातर एव च।
देव-पत्न्यो ध्रुवा नागा दैत्या अप्सरसां गणाः ॥
अस्त्राणि सर्वशस्त्राणि राजानो वाहनानि च।
औषधानि च रत्नानि कालस्यावयवाश्च ये ॥

भाषा टीका।

फिर मूलमंत्र पढ़ कुंभ के जल से शिष्य को तीन बार प्रोक्षण कर मंत्रसमूह उच्चारण करते करते ब्राह्मणों के आशीर्वचन और मंगल शब्द सहित अभिषेक करें ॥ ८१ ॥

अनन्तर अभिषेक-मंत्र कहते हैं; यथा—वशिष्ठ-संहिता में लिखा है कि—ब्रह्मा, बिष्णु, महादेव इत्यादि देवतागण तुम्हारा अभिषेक करें। वासुदेव, जगन्नाथ, विभु, सङ्कर्षण, प्रदयुम्न और अनिरुद्ध तुम्हारा कल्याण करें। देवेन्द्र, वह्नि, भगवान्—यम, निर्ऋति, वरुण, पवन, कुवेर, और शिव;—ब्रह्मा के सहित यह सब दिक्पाल निरन्तर तुम्हारी रक्षा करें कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, गति, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, माया, निद्रा और भावना; तथा राहु और केतु,—यह सब पूजित होकर तुम्हारा अभिषेक करें। देव, दानव, (दनु-पुत्र) गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग, ऋषि, मुनि, गो, देवताओं की माता, देवताओं की स्त्रियें, ध्रुवगण, समस्त नाग और दैत्य-गण [दिति-पुत्र] अप्सरा, शरादि अस्त्रसमूह खड्गादि सब शस्त्र नृपगण समस्तवाहन औषधि रत्नसमूह,

सरितः सागराः शैलास्तीर्थानि जलदा नदाः ।
एते त्वामभिषिञ्चन्तु धर्मकामार्थ-सिद्धये ॥ ८२ ॥

अथ मन्त्र—कथनविधिः ।

परिधायांशुके शिष्य आचान्तो यागमण्डपे ।
गत्वा भक्त्या गुरुं नत्वा गुरोरासीत दक्षिणे॥ ८३ ॥

गुरुः समर्प्य गन्धादीन् पुरुषाहारसंमितम् ।
निवेद्य पायसं कृष्णे कुर्यात् पुष्पाञ्जलिं ततः ॥ ८४ ॥

साम्प्रदायिकमुद्रादिभूषितं तं कृताञ्जलिम् ।
पञ्चाङ्गप्रमुखैर्न्यासैः कुर्यात् श्रीकृष्णसाच्छिशुम् ॥ ८५ ॥

न्यस्य पाणि-तलं मूर्द्धनि तस्य कर्णे च दक्षिणे ।
ऋष्यादियुक्तं विधिवन्मन्त्रं वारत्रयं वदेत् ॥ ८६ ॥

भाषा टीका ।

मुहूर्त्तादि काल के अवयव, सरित-समूह, सागर, पर्वत, समस्ततीर्थ, मेघ और नद समूह; यह धर्म कामार्थ—सिद्धि के निमित्त तुम्हारा अभिषेक करें ॥ ८२ ॥

अनन्तर मंत्र कथन की विधि कही है,—शिष्य दो वस्त्र अर्थात् पहरने का वस्त्र और उत्तरीय वस्त्र [डुपट्टा] धारण करने के पीछे आचमन करके याग मण्डप में जाय भक्ति—सहित गुरु को प्रणाम कर- गुरुदेव के दक्षिण पार्श्व में बैठे [१] ॥ ८३ ॥

[१] नूतन और सफेद दो वस्त्र धारण करके पहिले धारण किये हुए स्नान वस्त्र को फिर स्पर्श न करे। फिर याग मण्डप में जाय आचमन कर भक्तिसहित भगवद्बुद्धि से गुरुदेव को अष्टाङ्ग प्रणाम करे। अनन्तर पूर्व से ही प्रणायाम और षडङ्ग न्यासादिक करके पूर्वाभिमुख से विराजमान गुरुदेव के दक्षिणभाग में तद्गताचित्त, तदाभिमुख (उन्ही की ओर को मुख) कर और बद्धाञ्जलि होकर बैठे।

इस के पीछे गुरुदेव गंधादि—अर्थात् गंध, पुष्प, धूप, दीपादि अर्पणपूर्वक जिस से एक मनुष्य का भोजन हो—सके इतनी पायस (खीर) श्रीकृष्ण को निवेदन कर कुसुमाञ्जलि समर्पण करें ॥ ८४ ॥

श्रीगुरु, गुरुपरम्परा—सिद्ध मुद्रादि अर्थात् तिलक माला और स्वर्णाङ्गुरीयक (सुवर्ण की अंगूठी) इत्यादि द्वारा विभूषित बद्धाञ्जलि उस शिशु के पंचांग—प्रमुख न्यास करके श्रीकृष्णसात करें अर्थात् श्रीकृष्ण को अर्पण करें ॥ ८५ ॥

फिर उस के शिर—पर पाणि-तल [हथेली] रख कर उसके दक्षिण कर्ण में यथाविधि ऋष्यादि समान्वित मंत्र तीन वार उच्चारण करें [२] बड़ा मंत्र होने पर जब तक उसका शिष्य को अभ्यास नहो—तव तक उच्चारण करें । तथा शिष्य भी गुरु देवता और मंत्र का अभेद चिन्तनपूर्वक उसको पाठ करे ॥ ८६ ॥

(२) यथाविधि कहने का तात्पर्य यह है कि—गुरुदेव वस्त्र द्वारा अपना अंग आच्छादन कर निमीलित- नेत्र शिष्य से कहें—‘ दिव्यदृष्टि से भगवान् का दर्शन करो „ । फिर सुवर्ण की शलाका से शिष्य के

दीर्घमन्त्रश्च शिष्यस्य यावदाग्रहणं पठेत् ।
गुरुदैवतमन्त्रैक्यं शिष्यस्तं भावयन् पठेत् ॥
साक्षतं गुरुरादाय वारि शिष्यस्य दक्षिणे ।
करेऽर्पयेद्वदन्मन्त्रोऽयं समोऽस्त्वावयोरिति ॥ ८७ ॥
स्वस्माज्ज्योतिर्मयीं विद्यां गच्छन्तीं भावयेद्गुरुः ।
आगतां भावयेच्छिष्यो धन्योऽस्मीति विशेषतः ॥ ८८ ॥
महाप्रसादं शिष्याय दत्त्वा तत् पायसं गुरुः ।
निदध्यादक्षतान्मूर्द्धनि तस्य यच्छन् शुभाशिषः ॥
गुरुणा कृपया दत्तं शिष्यश्चावाप्य तं मनुम् ।
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा समयान् शृणुयात्ततः ॥ ८९ ॥

अथ समयाः । श्रीनारदपञ्चरात्रे—

स्व-मन्त्रो नोपदेष्टव्यो वक्तव्यश्च न संसदि ।
गोपनीयं तथा शास्त्रं रक्षणीयं शरीरवत् ॥

भाषा टीका ।

फिर "यह मंत्र तुम्हारे और मेरे—दोनों के संबंध में समान फलदायक हो" गुरुदेव यह कहकर शिष्य के दक्षिण हस्त में अक्षत—सहित जल अर्पण करें ॥ ८७ ॥

वक्षःस्थल का स्पर्श करें। इस के पीछे शिष्य एक महाफल (नारियल) अर्पण करके कहे—"मुझ पर प्रसन्न होओ-दोनों नेत्रों द्वारा दर्शन करो" यह कह कर—"अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" यह मंत्र भी उच्चारण करे। तदनन्तर शिष्य के नयन मूंद लेने पर गुरुदेव उन्मीलितनेत्र शिष्य के देह में भगवान् को आविर्भूत विचार कर गंधादि द्वारा अलंकृत और पञ्चोपचार से पूजा करके शुभ मुहूर्त्त में गीतवाद्यादि मंगल शब्द—सहित शिष्य के मस्तक में हथेली रक्खें; एवं ऋषि, छन्द और देवतादि का उपदेश करके दक्षिण कर्ण में तीनवार मूलमंत्र उच्चारण करें।

"अपने देह से ज्योतिर्मयी मन्त्रात्मिका विद्या शिष्य के देह में जाती है" गुरुदेव इस प्रकार चिन्ता करें और शिष्य भी गुरु के देह से अपने देह में उस विद्या को समागत विचार कर "मैं धन्य हुआ" विशेष प्रकार से इस को चिन्ता करे ॥ ८८ ॥

गुरुदेव शिष्य को वह (भगवन्निवेदित एक पुरुष के आहार योग्य) महाप्रसादरूप पायस प्रदान करके शुभाशीर्वाद—अर्थात "तुम को आयुः, आरोग्य, ऐश्वर्य, जय, सौभाग्य इत्यादि प्राप्त हो" इस प्रकार उच्चारण पूर्वक उसके मस्तक में अक्षत समर्पण करें। गुरुदेव कृपा करके जो मंत्र अर्पण करें। शिष्य भी वह मंत्र लाभ कर अष्टोत्तर शत जप करके फिर सब समय अर्थात् आचार, न्यास, ध्यानादि और अन्यान्य वैष्णव धर्म श्रवण करे ॥ ॥ ८९ ॥

अब सब समय कहते हैं। श्रीनारदपंचरात्र में लिखा है—गुरुदेव स्वीय गुरूपदिष्ट मंत्र अर्थात् अपने गुरु के दिये मंत्र का किसी को भी उपदेश न दें, वा

वैष्णवानां परा भक्तिराचार्य्याणां विशेषतः ।
पूजनञ्च यथाशक्ति तानापन्नांश्च पालयेत ॥ ९० ॥

प्राप्तमायतनाद्विष्णोः शिरसा प्रणतो वहेत् ।
निःक्षिपेदम्भसि ततो न पतेदवनौ यथा ॥ ९१ ॥

सोम-सूर्य्यान्तरस्थञ्च गवाश्वत्थाग्निमध्यगं ॥
भावयेद्दैवतं विष्णुं-गुरु-विप्र-शरीरगम् ।
यत्र यत्र परीवादो मात्सर्याच्छ्रूयते गुरोः ॥
तत्र तत्र न वस्तव्यं निर्यायात् संस्मरन् हरिम् ।
यैः कृता च गुरोर्निन्दा विभोः शास्त्रस्य नारद ! ॥
नापि तैः सह वस्तव्यं वक्तव्यं वा कथञ्चन ।
प्रदक्षिणे प्रयाणे च प्रदाने च विशेषतः ॥
प्रभाते च प्रवासे च स्व-मन्त्रं बहुशः स्मरेत् ।
स्वप्ने वाक्षि-समक्षं वा आश्चर्यमतिहर्षदम् ।
अकस्माद्यदि जायेत न ख्यातव्यं गुरोर्विना ॥ ९२ ॥

पञ्चरात्रान्तरे—

समयांश्च प्रवक्ष्यामि संक्षेपात् पाञ्चरात्रिकात् ।
न भक्षयेन्मत्स्य-मांसं कूर्म्मशूकरकांस्तथा ॥ ९३ ॥

भाषा टीका ।

[साधारण] मनुष्यों के निकट प्रकाश न करें, स्वीय देहवत रक्षा करें । तथा शास्त्र अर्थात् श्रीमद्भागवतादि अथवा पूजादि संबधीय ग्रंथ भी गुप्त रक्खें । और अपने देह की समान उसकी रक्षा करें । वैष्णवगणों के प्रति विशेषतः आचार्य वर्ग के प्रति भक्ति दिखाना, यथाशक्ति उनका पूजन और विपद्ग्रस्त होने पर उनकी रक्षा करे ॥ ९० ॥

हरि-मंदिर से निर्माल्यादि के प्राप्त होने पर प्रणाम पूर्वक उस को मस्तक पर धारण करे । फिर उस को जल में डालदें; जिस से भूमि में न गिरे ॥ ९१ ॥

बिष्णुदेव को चंद्र-सूर्य के मध्यवर्ती गौ अश्वत्थ और अग्नि के मध्यगत एवं गुरु और ब्राह्मण के देह मध्यस्थ रूप में चिन्ता करे । जहां मात्सर्य-वशतः गुरु की निन्दा सुनी जाय,—वहां अवस्थान न करे, हरि को स्मरण कर वहां से चला जाय । हे नारद ! जो मनुष्य गुरु की निन्दा, भगवान् की निन्दा, और शास्त्र की निन्दा करते हैं; उनके संग कभी बास वा बात चीत न करे । विशेष कर प्रद-क्षिणा के समय, गमन-काल में, दान-काल में, प्रातः-स्नान के समय और परदेश रहने के समय बारं-बार अपना मंत्र स्मरण करे । स्वप्न में वा नेत्रों के समक्ष सहसा यदि कोई अतिहर्षप्रद आश्चर्य उप-स्थित हो, तो गुरु के अतिरिक्त दूसरे के निकट प्रकाश न करे ॥ ९२ ॥

पंचरात्रान्तर में लिखा है । यथा—पंचरात्रि से

कांस्य-पात्रे न भुञ्जीत न प्लक्ष-वट-पत्रयोः ॥
देवागारे न निष्ठीवेत् क्षुतं चात्र विवर्जयेत् ।
न सोपानत्कचरणः प्रविशेदन्तरं क्वचित् ॥ ९४ ॥
एकादश्यां न चाश्नीयात् पक्षयोरुभयोरपि ।
जागरं निशि कुर्वीत विशेषाच्चार्चयेद्विभुम् ॥ ९५ ॥

सम्मोहनतन्त्रे च—

गोपयेद्देवतामिष्टां गोपयेद्गुरुमात्मनः ।
गोपयेच्च निजं मन्त्रं गोपयेन्निजमालिकाम् ॥ इति ॥ ९६ ॥
चतुर्युक्शतसंख्येषु प्राग्गुरोः समयेषु च ।
शिष्येणाङ्गीकृतेष्वेव दीक्षा कैश्चन मन्यते ॥ ९७ ॥

तथा च विष्णुयामले—

गुरुः परीक्षयेच्छिष्यं संवत्सरमतन्त्रितः ।
नियमान् विहितान् वर्ज्यान् श्रावयेच्च चतुःशतम् ॥ ९८ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थानं महाविष्णोः प्रबोधनम् ।
नीराजनञ्च वाद्येन प्रातःस्नानं विधानतः ॥

भाषा टीका ।

संक्षेपतः सब समय वर्णन करता हूं;—मत्स्य, मांस, कूर्म और शूकर भोजन न करे (१) ॥ ९३ ॥

कांसी के पात्र में, पीपल के पत्ते पर अथवा वड पत्र पर भोजन न करें। देवागार में निष्ठीवन (खखार) त्याग न करे, वहां क्षुत (हुचकी) न ले और उपानह अर्थात्—जूता और पादुका खडाऊं पहिरे कभी देव गृह के भितर प्रवेश न करे ॥ ९४ ॥

---

(१) कूर्म और शूकर भी मांस में गिना जाता है। एकवार मांस की निषेध लिखकर फिर कूर्म और शूकर का उल्लेख करने से—यह समझा जाता है कि—"पीड़ा इत्यादि की शान्ति के निमित्त चिकित्सार्थ मांसभक्षण की विधि होने पर भी कभी कूर्म्म वा शूकर का मांस भक्षण न करे।

शुक्ल और कृष्ण,—दोनों पक्ष की एकादशी में ही भोजन न करे। विशेषतः एकादशी की रात्रि में जागरण करे; और सर्वव्यापक विष्णु भगवान् की पूजा करे ॥ ९५ ॥

सम्मोहन तंत्र में लिखा है कि इष्टदेवता को गुप्त रक्खे, अपने गुरु को गुप्त रक्खे, अपने मंत्र को गुप्त रक्खे और अपनी माला गुप्त रक्खे ॥ ९६ ॥

"प्रथम शिष्य गुरुदेव के एक सो चार नियम अंगीकार करने से ही दक्षिा होसकती है" कोई कोई ऐसा मत प्रकाश करते हैं ॥ ९७ ॥

इस विषय में विष्णुयामल में लिखा है, कि—गुरुदेव निरालस्य होकर एक वर्ष—तक शिष्य की परीक्षा करें, और एक सौ चार विहित और परित्याज्य (त्याग ने योग्य) नियम सुनावें ॥ ९८ ॥

अब वही सब नियम कथित होते हैं।) (१) ब्राह्ममुहूर्त्त में गात्रोत्थान अर्थात् उठना, (२) महा-

विशुद्धाहतयुग्वस्त्रधारणं देवतार्चनम् ।
गोपीचन्दनमृत्स्नायाः सर्वदा चोर्द्धपुण्ड्रकम् ।
पञ्चायुधानां विधृतिश्चरणामृत-सेवनम् ।
तुलसीमणिमालादि-भूषाधारणमन्वहम् ।
निर्माल्योद्वासनं विष्णोस्तच्चन्दनविलेपनम् ॥
शालग्रामशिला—पूजा प्रतिमासु च भक्तितः ।
निर्म्माल्यतुलसी-भक्षस्तुलस्यवचयो विधेः ॥
विधना तान्त्रिकी सन्ध्या शिखावन्धो हि कर्मणि ।
विष्णु—पादोदकेनैव पितॄणां तर्पणाक्रिया ॥
महाराजोपचारैश्च शक्त्यां संपूजनं हरेः ।
विष्णु—भक्त्याविरोधेन नित्य—नैमित्तिकी क्रिया ॥
भूत-शुद्धयादिकरणं न्यासाः सर्वे यथाविधि ।
नवीनफल-पुष्पादेर्भक्तितः संनिवेदनम् ॥
तुलसी-पूजनं नित्यं श्रीभागवत-पूजनम् ।

भाषा टीका ।

विष्णु का प्रवोधन, (३) वाजों के सहित नीराजन, (४) विधिपूर्वक प्रातःस्नान, (५) विशुद्ध नूतन वस्त्रद्वय अर्थात परिधेय और उत्तरीय वस्त्र धारण, (१) (६) देवार्चन अर्थात् तर्पणादिद्वारा जल में निज इष्टदेवता का पूजन, (१ गोपीचंदन मृत्तिका द्वारा सदा ऊर्द्धपुण्ड्र लगाना, (८) नित्य आयुधपंचक धारण अर्थात यथायोग्य अंग में शंख, चक्र, गदा, खड्ग और सशरासन शार्ङ्गाख्य धनुः-धारण, (९) चरणामृतसेवन, (१०) नित्य तुलसी का मणि से उत्पन्न हुया मालादि विभूषण-धारण, (११) निर्माल्यो-द्वासन अर्थात् विष्णु-निर्माल्य का दूर करना, (१२) देह में विष्णु को निर्माल्य-चंदन लेपन, [१३] शालग्राम—शिला और प्रतिमाओं में भक्तिसहित अभीष्टदेवता की अर्चना, (१४) निर्माल्यतुलसी-भक्षण,[२](१५) यथाविधि तुलसी-चयन, (१६) यथा-विधि तान्त्रिकी संध्या की उपासना, (१७) धर्म-कार्य में शिखा-वन्धन, (१८) विष्णु-पादोदक (चरणा-मृत,) द्वारा ही पितरों की तर्पण-क्रिया, (१९) सामर्थ्य होने पर महाराजोपचार से श्रीहरि का पूजन, (२०) विष्णु-भक्ति के अविरोध में अर्थात जो विष्णु-भक्ति के सहित विरुद्ध नहीं है,—ऐसी नित्य-नैमित्तिकी क्रिया का अनुष्ठान, (२१) भूतशुद्धयादि और विधान से सव न्यास संपादन. (२२) भगवान् को भक्ति-सहित नवीन फल-पुष्पादि निवेदन, (२३ नित्य तुलसी-

(१) कोई कोई " विशुद्धाहृतयुग्वस्त्र-धारणं " इस प्रकार पाठ करते हैं। उस स्थल में " पवित्र मनुष्य के द्वारा लाये हुए दो वस्त्र धारण " इस प्रकार अर्थ होगा ।

[२] कोई कोई " निर्माल्यतुलसी—भूषा तुलस्यव-चयो विधेः " ऐसा पाठ करते हैं । यहां " मस्तकादि में निर्माल्यतुलसीरूप भूषण धारण „ इस प्रकार अर्थ होगा ।

त्रिकालं विष्णु-पूजा च पुराण-श्रुतिरन्वहम् ॥
विष्णोर्निवेदितानां वै वस्त्रादीनाञ्च धारणम् ।
सर्वेषां पुण्यकार्याणां स्वामि-दृष्ट्या प्रवर्त्तनम् ॥
गुर्वाज्ञा-ग्रहणं तत्र विश्वासो गुरुणोदिते ।
यथास्वमुद्रा-रचनं गीतनृत्यादि भक्तितः ॥
शङ्खादि-ध्वनिमाङ्गल्यं लीलाद्यभिनयो हरेः ।
नित्यं होम-विधानञ्च वलि-दानं यथाविधि ॥
साधूनां स्वागतं पूजा शेषनैवेद्य-भोजनम् ।
ताम्बूल—शेषग्रहणं वैष्णवैः सह संगमः ।
विशिष्टधर्म-जिज्ञासा दशम्यादिदिनत्रये ।
व्रते नियमतः स्वास्थ्यं सन्तोषो येन केन वै ।
पर्वयात्रादि-करणं वासराष्टक-सद्विधिः ।
विष्णोः सर्वर्त्तुचर्य्या च महाराजोपचारतः ।
सर्वेषां वैष्णवानाञ्च व्रतानां परिपालनम् ।
गुरावीश्वर-भावश्च तुलसी—संग्रहः सदा ।
शयनाद्युपचारश्च रामादीनाञ्च चिन्तनम् ॥

भाषा टीका ।

पूजन, (२४) नित्य श्रीभागवत-पूजन, (२५) प्रतिदिन तीनों काल में विष्णु की अर्चना, (२६) नित्य श्रीभागवतादि पुराण सुनना, (२७) विष्णु-निवेदित वस्त्रादि धारण, [२८] भगवान् का आदेश समझ ; वा भगवान् ने जिस प्रकार नियुक्त किया है, उसी प्रकार कर्म करता हूं-यह जान, अथवा भगवान् के दास भाव से संपूर्णपुण्य कार्यों में प्रवृत्त होना, (२९) गुरु की आज्ञा ग्रहण, (३०) गुरु के कहे वचन में विश्वास, (३१) निजमंत्र-देवतानुसार मुद्रा-बंधन अर्थात तिलक रचना, (३२) भक्तिसहित गीत, (३३) और भक्ति सहित नृत्यादि, (३४) श्रीहरि के संबंध में शंखादि की मंगलध्वनि, (३५) लीला का अनुकरण, (३६) यथाविधि नित्य होम करना, (३७) नित्य यथाविधि नैवेद्य अर्पण, (३८) साधुगणों का स्वागत और पूजा, (३९) शेष नैवेद्य-भक्षण, (४०) ताम्बूल शेषग्रहण, [४१] वैष्णव-संगम, [४२] विशिष्ट धर्म का अर्थात् वैष्णव-कृत्य का वा भगवद्धर्म का पूछना, [४३] एकादशी द्वादशी और दशमी,-इन तीन दिन में विहित व्रत—विषय में यथानियम श्रद्धासहित स्थैर्य्य-धारण, (४४) जिस किसी प्रकार की ही अवस्था क्यों न हो-सदा ही सन्तोष, (४५) पर्व और यात्रादि करना (१) (४६) विधि पूर्वक अष्टमहाद्वादशी-प्रतिपालन, (२) (४७) वसन्तादि सब ऋतु में (तत्तत्-

[१] पर्व ।—जन्माष्टम्यादि महोत्सव। यात्रा ।—देवालयादि में जाना। यात्रादि कहने से अर्थात् आदि शब्द प्रयोग करने से तुलसी—पुष्पवाटिकादि का विधान समझा जाता है।

[२] अष्टमहाद्वादशी यथा । —उन्मीलनी, वञ्जुली, त्रिस्पृशा, पक्षवर्द्धिनी, जया, विजया, जयन्ती और पापनाशिनी ।

सन्ध्ययोः शयनं नैव न शौचं मृत्तिकां विना।
तिष्ठताचमनं नैव तथा गुर्व्वासनासनम् ॥
गुर्वग्रे पाद-विस्तारश्छायाया लङ्घनं गुरोः।
शक्तौ स्नानक्रिया-हानिर्देवतार्चनलोपनम् ॥
देवतानां गुरूणाञ्च प्रत्युत्थानाद्यभावनम्।
गुरोः पुरस्तात् पाण्डित्यं प्रौढ़पादक्रिया तथा ॥
अमन्त्रतिलकाचामौ नीलीवस्त्र-विधारणम्।
अभक्तैः सह मैत्र्यादि असच्छास्त्र-परिग्रहः ॥
तुच्छसङ्ग-सुखासक्तिर्मद्यमांसानिषेवणम्।
मादकौषध-सेवा च मसूराद्यन्नभोजनम्।
शाकं तुम्बीकलञ्चादि तथाऽभक्तान्न-संग्रहः।
अवैष्णवव्रतारम्भस्तथा जप्यमवैष्णवम् ॥
अभिचारादिकरणं शक्त्या गौणोपचारकम्।
शोकादि-पारवश्यञ्च दिग्विद्धैकादशी-व्रतम् ॥
शुक्ला-कृष्णा-विभेदश्चासद्व्यापारो व्रते तथा।
शक्तौ फलादि-भुक्तिश्च श्राद्धं चैकादशी-दिने ॥

भाषा टीका।

कालीन पुष्पादि द्वारा) महाराजोपचार (१) से विष्णु की परिचर्या (सेवा) वा दोलान्दोलनादि-क्रिया, (हिंडोले आदि द्वारा झुलाना) (४८) संपूर्ण वैष्णव व्रतों का परिपालन, (४९) गुरु में ईश्वर भाव अर्थात् ईश्वर-बुद्धि, (५०) सदा तुलसी-संग्रह, (५१) शयनादि उपचार अर्थात् शय्या-प्रदान और पाद-सम्वाहनादि, (५२) (शयनकाल में) रामादि(२) का चिन्तन,-यह सब करना चाहिये [३] (५३) दोनों संध्या में शयन नहीं करना, (५४) मृत्तिका के विना शौच नहीं करना, (५५) खड़े होकर आचमन नहीं करना, (५६) गुरुदेव के आसन पर नहीं बैठना, (५७) गुरुदेव के सन्मुख पैर नहीं फैलाना, (५८) और गुरुदेव की छाया को नहीं उलांघना, (५९] शक्ति विद्यमान होने पर स्नान-क्रिया की हानि नहीं करना, '६०' देव-पूजा विलुप्त नहीं करना, '६१' देवता और गुरुजनों का अप्रत्युत्थानादि अर्थात गुरु के आने पर उनका अशिष्टाचार न करना, '६२' गुरुदेव के सन्मुख पाण्डित्य-प्रकाश नहीं करना, '६३' प्रोढ़पाद-क्रिया अर्थात् ऊर्द्धजानु होकर नहीं बैठना, '६४' मंत्र के विना तिलक रचना और आच-

(१) महाराजोपचार-'शक्ति होने पर' यह समझना चाहिये।

[२] रामादि-अर्थात् "राम, स्कन्द, हनूमान्, गरुड़, बृकोदर" शयन काल में यह सब नाम स्मरण करने से दुःस्वप्न नष्ट होता है। यथा-"रामं स्कन्दं हनूमन्तं वैनतेयं वृकोदरं। शयने यः स्मरेन्नित्यं दुःस्वप्नस्तस्य नश्यति ॥

[३] यहां तक वामन- ५२, विहित समय वर्णन करके अवशिष्ट वामन- ५२, वर्ज्य नियम कथित होते हैं।

द्वादश्याश्च दिवा-स्वापस्तुलस्यवचयस्तथा।
तत्र विष्णोर्दिवास्नानं श्राद्धं हर्यनिवेदितैः॥

वृद्धावतुलसीश्राद्धं तथा श्राद्धमवैष्णवम्।
चरणामृतपानेऽपि शुद्ध्यर्थाचमनक्रिया॥

काष्ठासनोपविष्टेन वासुदेवस्य पूजनम्।
पूजा कालेऽसदालापः करवीरादि-पूजनम्॥

आयसं धूप—पात्रादि तिर्यक्पुण्ड्रं प्रमादतः।
पूजा चासंस्कृतैर्द्रव्यैस्तथा चञ्चलचित्ततः॥

एकहस्तप्रणामादि अकाले स्वामि—दर्शनम्।
पर्य्युषितादि—दुष्टानामन्नादीनां निवेदनम्।

भाषा टीका।

मन नही करना, '६५' नीलीवस्त्र धारण नही करना '६६' अभक्त अर्थात् हरि—पराङ्मुख मनुष्यों से मित्रतादि नही करना, '६७' असत शास्त्र—ग्रहण नही करना, '६८' तुच्छ संग और तुच्छ सुख में आसक्ति नही करना, '६९' मद्य-मांस सेवन नही करना (७०) मादकौषधि सेवन नहीं करना, '७१ मसूरादि अर्थात् मसूर और दग्धअन्नादि 'भुने अन्नादि' भोजन नही करना, '७२ शाक भोजन नहीं करना, '७३ 'तुम्बी, कलञ्ज '१' और वृन्ताकादि भक्षण नहीं करना, '७४' अभक्त अर्थात अवैष्णव मनुष्यों के निकट से अन्नसंग्रह नही करना, '२' '७५' विष्णुसंवन्ध के अतिरिक्त व्रतान्तर 'अन्यव्रत' का आचरण नही करना, '७६' विष्णु—मंत्र के अतिरिक्त अन्य मंत्र का जप नही करना [७७] अभिचारादि अर्थात उच्चाटन वशीकरण इत्यादि कर्म नहीं करना, '७८' शक्ति विद्यमान रहते गौणोपचार अर्थात न्यून कल्प में उपचार प्रदान नहीं करना, '७९' शोकादि के वशीभूत नहीं होना, '८०' दशमी-विद्धा एकादशी का व्रत नहीं करना, '८१' शुक्र और कृष्ण इन दोनों पक्ष की एकादशी का प्रभेद नहीं करना, '८२' व्रत धारणपूर्वक द्यूतक्रीड़ादि नहीं करना, '८३' शक्तिविद्यमान रहते व्रत के दिन फलादि भक्षण नहीं करना, '८४' एकादशी के दिन में श्राद्ध नहीं करना, '८५' द्वादशी को दिवाभाग में नहीं सोना '८६' और तुलसी—चयन नहीं करना, '८७' द्वादशी के दिन में विष्णु को स्नान नहीं करना, '८८' हरि को विना निवेदित किये अन्न से श्राद्ध नहीं करना, '८९' वृद्धिश्राद्ध में तुलसी के विना श्राद्ध-क्रिया नहीं करना, '९०' अवैष्णव श्राद्ध नहीं करना अर्थात् वैष्णवपुरोहित—रहित अथवा विष्णुनिर्माल्य-रहित श्राद्ध नहीं करना, '९१' चरणामृत—पान के विद्यमान होने पर भी शुद्धि के अर्थ अन्यजल द्वारा आचमन नहीं करना, '९२' काष्ठ के आसन-पर वैठ कर वासुदेव की पूजा नहीं करना, '९३' पूजा के समय असदालाप नहीं करना, '९४' गृह कर-वीर और आक के फूलों से भगवान् की पूजा नहीं करना, '९५' लोहे के बने धूप—पात्रादि का व्यवहार नहीं करना, '९६' भूल कर भी वक्र पुण्ड्र (धारण) नहीं करना, '९७' असंस्कृत द्रव्य द्वारा और चंचल-चित्त से भगवान् की पूजा नहीं करना, '९८' एक

'१' कलञ्ज—विषाक्त शरद्वारा विद्ध मृगपक्षी।
'२' जिस से भूखे मनुष्य का केवल उदर पूर्ण हो जाय उतने अन्न-ग्रहण का नाम संग्रह है।

संख्यां विना मन्त्र-जपस्तथा मन्त्र—प्रकाशनम् ॥
सदा शक्त्यां मुख्य-लोपो गौणकाल-परिग्रहः।
प्रसादाग्रहणं विष्णोर्वर्ज्जयेद्वैष्णवः सदा।
चतुः-शतं विधीनेतान् निषेधान् श्रावयेद्गुरुः ॥ ९९—११९ ॥
अङ्गीकारे कृते वाढ़ं तन्नीराजनपूर्वकम्।
देव-पूजां कारयित्वा दक्ष-कर्णे मनुं जपेत् ॥ इति ॥ १२० ॥
ततश्चोत्थाय पूर्णात्मा दण्डवत् प्रणमेद्गुरुम्।
तत्पादपङ्कजं शिष्यः प्रतिष्ठाप्य स्व—मूर्द्धनि ॥ १२१ ॥
अथ न्यासान् गुरुः स्वस्मिन् कृत्वान्तर्यजनं तथा।
साष्टं सहस्रं तन्मन्त्रं स्व-शक्त्यक्षतये जपेत् ॥
शिष्यः कुम्भादि तत सर्व्वं द्रव्यमन्यच्च शक्तितः।
दत्त्वाभ्यर्च्य गुरुं नत्वा विप्रान् सम्पूज्य भोजयेत् ॥ १२२ ॥
श्रीगुरोर्ब्राह्मणानाञ्च शुभाशीर्भिः समेधितः।
तानलुज्ञाप्य गुर्वादीन् भुञ्जीत सह वन्धुभिः ॥ १२३ ॥

भाषा टीका।

हस्त द्वारा प्रणाम और एकवार मात्र प्रदक्षिणादि नहीं करना, '९९' अकाल में भगवान् का दर्शन नहीं करना, '१००' पर्युषितादि 'वासी' दुष्ट अन्न इत्यादि निवेदन नहीं करना, '१०१' संख्या के विना मंत्र का जप नहीं करना, '१०२' और मंत्र—प्रकाश नहीं, करना, '१०३' शक्ति—विद्यमान '१' रहते मुख्य काल का लोप सुतरां गौण काल का ग्रहण नहीं करना, '१०४' और विष्णु के प्रसाद लेले में अस्वीकार न करना—यह एक सौ चार वैष्णव-कर्त्तव्य समय-विधि गुरुदेव शिष्य को सुनावें ॥ ९९—११९ ॥ शिष्य के 'वाढ़' शब्द से अंगीकार करने पर गुरुदेव उस से नीराजन—पूर्वक देवार्चना कराकर उस के दक्षिण कर्ण में मंत्र का जप करें ॥ १२० ॥ इस के पीछे शिष्य प्रफुल्लितचित्त से उठे और गुरु के चरणकमल अपने मस्तक—पर (वहुत देर तक भक्ति-सहित) रख कर दण्डवत गुरुदेव को प्रणाम करे ॥ १२१ ॥ फिर गुरुदेव अपने में संपूर्ण न्यास और अन्तर्यजन करके स्व-शक्तिरक्षार्थ (२) यह मंत्र अष्टोत्तर सहस्र जप करे। शिष्य भी (दीक्षार्थ आनीत मण्डपस्थित) वह कुम्भादि समस्त द्रव्य और शक्ति के अनुसार [मंत्र—दक्षिणादि—रूप] अन्यान्य द्रव्य गुरु को अर्पण करे तथा अर्चना और प्रणाम करके ब्राह्मणों की शक्ति के अनुसार सम्यक् पूजा—पूर्वक भोजन करावें ॥ १२२ ॥ फिर श्रीगुरु और

(१) इस श्लोका के 'सदा शक्त्यां' स्थल में कोई कोई 'कदाशक्त्या' पाठ करते हैं; वहां ऐसा अर्थ करना होगा कि—कुत्सित कर्मादि में अभिनिवेश-वशतः मुख्य काल का लोप और गौण काल का ग्रहण न करना।

[२] अन्तर्यजन शब्द से मन में अर्चना। स्वशक्तिरक्षार्थ कहने का तात्पर्य्य यह है कि—शिष्य को मंत्रदान करने के कारण अपने शरीर में उस दिये हुए मंत्र की शक्ति का किसी प्रकार ह्रास न हो—इस निमित्त।

इति दीक्षा-विधानेन यो मन्त्रं लभते गुरोः।
स भाग्यवान् चिरञ्जीवी कृतकृत्यश्च जायते ॥ १२४ ॥

तथा च सम्मोहनतन्त्रे। श्रीशिवोमा-सम्वादे—

एवं यः कुरुते मर्त्त्यः करे तस्य विभूतयः।
अतः परं महाभागे ! नान्यत् कर्मास्ति भूतले।
यस्याचरणमात्रेण साक्षात् कृष्णः प्रसीदति ॥ १२५ ॥
प्रायः प्रपञ्चसारादावुक्तोऽयं तान्त्रिको विधिः।
दीक्षाया लिख्यते दिव्यो विधिः पौराणिकोऽधुना ॥ १२६ ॥

अथ वराहपुराणोक्तदीक्षा-विधिः।

इदानीं शृणु मे देवि ! पञ्चपातकनाशनम्।
यजनं देवदेवस्य विष्णोः पुत्र-वसुप्रदम् ॥ १२७ ॥
इह जन्मनि दारिद्र्य-व्याधि-कुष्ठादि-पीड़ितः।
अलक्ष्मीवानपुत्रस्तु यो भवेत् पुरुषो भुवि।
तस्य सद्यो भवेल्लक्ष्मीरायुर्वित्तं सुताः सुखम् ॥ १२८ ॥

भाषा टीका।

ब्राह्मणों की शुभाशीर्वचनो से सम्यक् वर्द्धित हो गुरुदेव और उन सब ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर बन्धुवर्ग के सहित भोजन करे ॥ १२३ ॥ जो इस प्रकार कही हुई दीक्षा—विधि के अनुसार गुरु के समीप से मंत्र लाभ करते हैं,—वे भाग्यवान्, चिर-जीवी और कृतकृत्य होते हैं ॥ १२४ ॥ सम्मोहन तन्त्र में श्रीशिवपार्वती—सम्वाद में भी इस विषय में लिखा है, यथा—जो मनुष्य इस कहे—हुए प्रकार से कर्म करता है,—समस्त विभूति उस के हस्तगत होती हैं। हे महाभागे ! पृथ्वी-तल में इस की अपेक्षा श्रेष्ठ कर्म और नहीं है, इस की आचरण—मात्र से ही साक्षात् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं ॥ १२५ ॥ यह लिखित विधि प्रपञ्चसारादि (तन्त्रोक्ता-नुसारी) ग्रंथ में उक्त है, सुतरां वह प्रायः—तान्त्रिक है। अब पुराणोक्त दिव्य दीक्षा—विधि लिखी जाती है ॥ १२६ ॥

अनन्तर वराहपुराणोक्त दीक्षाविधि कहते है।—(वराहरूपी भगवान् ने पृथ्वीदेवी का उद्धार करके कहा था–) हे देवि ! अब पांच पापों की नाशक (१) पुत्रधनप्रद देव-देव-विष्णु की पूजा-विधि मुझ से सुनों ॥ १२७ ॥

इस जन्म में पृथ्वी-पर जो पुरुष दारिद्र, व्याधि और कुष्ठादि-द्वारा पीड़ित, लक्ष्मीवान् और पुत्र-हीन हैं; शीघ्र उन को लक्ष्मी, आयुः, धन, पुत्र और सुख प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

[१] ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरु-भार्या-गमन, और वे सब पापी का संसर्ग,-इन कई को पांच पाप कहा है।

दृष्ट्वा तु मण्डले देवि ! दव देव्या समन्वितम् ।
नारायणं परं देवं यः पश्यति विधानतः ॥
पूजितं नवनाभे तु षोड़शाष्टदले तथा ।
आचार्यदर्शितं देवं मन्त्रमूर्त्तिमयोनिजम् ॥ १२९ ॥
कार्त्तिके मासि शुक्लायां द्वादश्यान्तु विशेषतः ।
सर्वासु च यजेद्देवं द्वादशीषु विधानतः ॥
संक्रान्तौ च महाभागे ! चन्द्र-सूर्यग्रहेऽपि वा ।
यः पश्यति हरिं देवं पूजितं गुरुणा शुभ !
तस्य सद्यो भवेत्तुष्टिः पाप-ध्वंसोऽप्यशेषतः ॥ १३० ॥
स सामान्यो हि देवानां भवतीति न संशयः ॥ १३१ ॥
ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणाञ्च परीक्षणम् ।
सम्वत्सरं गुरुः कुर्य्याज्जाति-शौच-क्रियादिभिः ॥ १३२ ॥
उपसन्नांस्ततो ज्ञात्वा हृदये नावधारयेत् ।
तेऽपि भक्तिमतो ज्ञात्वा आत्मनः परमेश्वरम् ॥

भाषा टीका ।

(यह वात पूछी जा-सकती है कि-लक्ष्मी आदि किस प्रकार प्राप्त होती है ? इस का उत्तर कहते हैं,-) हे देवि ! जो यथाविधि (सर्वतोभद्रमण्डल में) लक्ष्मीसहित परम देव नारायण-देव का दर्शन करते हैं, वा नवनाभ षोड़शार चक्र में अथवा अष्टदल कमल में आचार्योपदिष्ट अयोनिज मंत्रमूर्ति-स्वरूप देव की पूजा करते हैं, 'उन्हीं को यह लक्ष्मी आदि प्राप्त होती है, ॥ १२९ ॥

[अव दीक्षा का काल कथित होता है-] विशेष-रूप से कार्तिक मास की शुक्लपक्षीय द्वादशी तिथि में और अन्यान्य सव द्वादशीयों में भी विधिपूर्वक श्रीकृष्णदेव की पूजा करे । हे महाभागे ! हे कल्याणि ! जो संक्रान्ति में (१) चन्द्र-सूर्य्य के ग्रहणकाल में श्रीहरि देव को गुरु-कर्त्तृक पूजित देखते हैं; शीघ्र उनको तुष्टि-लाभ होती है । और संपूर्ण पापों का नाश होता है। वह पुरुष ब्रह्मादि देवताओं के समान होता है-इस में संदेह नहीं ॥ १३० ॥ १३१ ॥

गुरुदेव क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इत्यादि कों की जाति शौच अर्थात् शुद्धाचार और क्रियादि-सव के द्वारा सम्वत्सर काल [एकवर्ष) परीक्षा करें [२] ॥१३२॥

फिर उन को निकटगत जान कर अर्थात् सम्वत्सर के पीछे जात्यादि से ज्ञात होकर मन मन में दीक्षा के योग्यायोग्यत्व का विचार करें। (अथवा सहवासादि द्वारा निकटवर्ती इन सब को जान कर व्यवहारादि से परीक्षा करता अपनी बुद्धि से दीक्षा का योग्य-

[१] अन्याय सव द्वादशी कहने से अगहन वा माघ, फाल्गुण, चैत, वैशाख, श्रावण, और आश्विन-इन सात महीनों की शुक्लद्वादशी, और संक्रान्ति कहने से भी उक्त महीनों की संक्रान्ति समझनी चाहिये ग्रंथान्तर मे इस का विशेष प्रमाण है ।

(२) कोई कोई इस श्लोक का प्रथमार्द्ध "ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां भक्तानाञ्च परीक्षणम्" इस प्रकार पाठ करते हैं,—वहां भी अर्थ एकसा ही है अर्थात् भक्त शब्द से शूद्र समझना चाहिये ।

सम्वत्सरं गुरोर्भक्तिं कुर्य्युर्विष्णाविवाचलाम् ॥ १३३ ॥
सम्वत्सरे ततः पूर्णे गुरुञ्चैव प्रसादयेत् ॥ १३४ ॥
" भगवंस्त्वत्प्रसादेन संसारार्णवतारणम् ।
इच्छामस्त्वैहिकीं लक्ष्मीं विशेषेण तपोधन ! ॥ १३५ ॥
एवमभ्यर्थ्य मेधावी गुरुं बिष्णुमिवाग्रतः ।
अभ्यर्च्य तदनुज्ञातो दशम्यां कार्तिकस्य तु ॥
क्षीरवृक्ष-समुद्भूतं मन्त्रितं परमेष्ठिना ।
भक्षयित्वा शयीतोर्व्व्यां देव-देवस्य सन्निधौ ॥ १३६ ॥
स्वप्नान् दृष्ट्वा गुरोरग्रे श्रावयेत विचक्षणः ॥
ततः शुभाशुभं तद्बदालपेत् परमो गुरुः ।
एकादश्यामुपोष्याथ स्नात्वा देवालयं व्रजेत ॥ १३७ ॥
गुरुश्च मण्डलं भूमौ कल्पितायान्तु वर्त्तयेत् ।
लक्षणैर्विविधैर्भूमिं लक्षयित्वा विधानतः ॥
षोड़शारं लिखेच्चक्रं नवनाभमथापि वा ।
अष्टपत्रमथो वापि लिखित्वा दर्शयेद्बुधः ॥ १३८ ॥

भाषा टीका।

योग्यत्व स्थिर करे; वा उन को उपसन्न अर्थात दीक्षाधिकारी जान कर—मन मन में मंत्रदान के योग्य अवधारण करें। वह भी भक्तिनिष्ठ अपने पक्ष में गुरु को परमेश्वर जान-कर संवत्सर तक गुरुदेव के प्रति विष्णु की समान अचलभक्ति करें अथवा भक्तियुक्त होकर गुरुदेव को अपना अपना परमेश्वर जान कर एक वर्ष-तक उन के प्रति विष्णु की समान अटलभक्ति प्रदर्शन करें ॥ १३३ ॥

फिर संवत्सर पूर्ण होने पर गुरुदेव को प्रसन्न करावे अर्थात उन में जो परीक्षित शिष्य है-वही प्रसन्न करावे ॥ १३४ ॥

किस प्रकार गुरु को प्रसन्न कराना होता है-वही कहते-हैं " हे भगवन् ! हे तपोधन ! आप के प्रसाद से भवसागर उद्धार और ऐहिकी लक्ष्मी विशेष रूप से प्राप्त होने की इच्छा करता हूं ॥ १३५ ॥

बुद्धिमान् शिष्य इस प्रकार प्रार्थना कर-के प्रथमतो विष्णुवत गुरु की पूजा करे अर्थात् धनादि द्वारा सन्मान करे, इस के पीछे उन की आज्ञा ग्रहणपूर्वक कार्तिक मास की शुक्ला दशमी तिथि में (सायं-संध्यावसान में) क्षीरयुक्तवृक्षोद्भूत, मंत्र-द्वारा अभिमंत्रित, दन्त काष्ठ-भक्षण करके देव-देव के समीप धराशय्या पर शयन करे ॥ १३६ ॥

बुद्धिमान् शिष्य (रात्रि में) स्वप्नदर्शन पूर्वक गुरु के समीप सुनावे, फिर परमगुरुदेव उस स्वप्न के अनुसार शुभाशुभ की अलोचना करें। (१) फिर शिष्य एकादशी के दिन उपवासी रह कर द्वादशी में स्नान पूर्वक देवगृह में जाय ॥ १३७ ॥

विचक्षण गुरुदेव संस्कृत भूमि में मण्डल की रचना करें। इस के पीछे विविधलक्षणद्वारा भूमिनिर्दिष्ट

(१) क्रूर स्वप्न दीखने पर दीक्षा अधम, अदुष्ट स्वप्न दीखने पर मध्यम और उत्तम स्वप्न दीखने पर दीक्षा सर्वोत्तम कही गई है।

नेत्र-वन्धं प्रकुर्वीत सितवस्त्रेण यत्नतः।
वर्णानुक्रमतः शिष्यान् पुष्पहस्तान् प्रवेशयेत ॥ १३९ ॥
नवनाभं यदा कुर्यान्मण्डलं वर्णकैर्बुधः।
तदानीं पूर्वतो देवमिन्द्रमैन्द्र्यां तु पूजयेत् ॥ १४० ॥
लोकपालमथाग्नेय्यामग्निं संपूजयेद्द्विजः।
यमं तदनु याम्यायां नैर्ऋत्यां निर्ऋतिं न्यसेत ॥
वारुण्यां वरुणं चैव वायव्यां पवनं यजेत ॥ १४१ ॥
धनदं चोत्तरे न्यस्य रुद्रमैशानगोचरे।
संपूज्यैवं विधानेन दिक्पत्रेषु विशेषतः।
मध्यपत्रे तथा विष्णुमर्चयेत्परमेश्वरम् ॥ १४२ ॥
पूर्वपत्रे बलं पूज्यं प्रद्युम्नं दाक्षिणे तथा ॥

भाषा टीका।

करें, विधिपूर्वक षोड़शार वा नवनाभ चक्र अंकित करें, वा अष्टदल पदूम लिख कर दिखावें ॥ १३८ ॥

यत्न-सहित सफेद वस्त्र से शिष्य-गण के नेत्र वाँधे और पुष्प हाथ में देकर वर्णानुसार प्रवेश करावे ॥१३९॥

शास्त्रदर्शी गुरु जिस समय पंचवर्ण चूर्ण द्वारा नवनाभ मण्डल करें, तव इन्द्रसंवंधीय पूर्वदिशा में इन्द्र की पूजा करें (१) ॥ १४० ॥

गुरुदेव लोकपाल अग्नि की अग्निकोण में, फिर यम की दक्षिण दिशा में, निर्ऋति की नैर्ऋत कोण में, वरुण की पश्चिम दिशा में और पवन को वायु-कोण में अर्चना करें ॥ १४१ ॥

धनद कुवेर की उत्तर दिशा में और रुद्र की ईशान कोण में-इस प्रकार दिक्पत्र-समूह में विशेषरूप से विधिपूर्वक पूजा करके (२) मध्यपत्र में परमेश्वर विष्णु की पूजा करे ॥ १४२ ॥

अनन्तर (वीच में रक्खे कलस के) पूर्वपत्र में

(१) विधान यथा—नवनाभ मण्डल में पूर्वादि क्रम से आठ दिशा में आठ कलस और वीच में एक,—इन सव समेत नौ कलस—दधि, अक्षत, वस्त्रद्वय, पुष्प-माला और गंधद्वारा अलंकृत करके यव और धान्य के ऊपर स्थापन करे। सव कलस समान आकृति और छिद्रादि रहित हों, एवं सव में पंचपल्लव, सप्त मृत्तिका और तीर्थोदक भरा रहे। कलसों के मुख में यव वा शालिधान्य-पूर्ण सदीप शराव रहे। इस प्रकार नौ कलस स्थापन पूर्वक वचि के कलस में मूल मंत्र से भगवान् को आवाहन कर गन्धपुष्पान्त उपचार से पूजा करे। फिर इन्द्र की पूर्व दिशा में और अग्नि इत्यादि की स्व-स्व-दिशा में क्रमानुसार अर्चना करे।

(२) इस स्थान में विधिपूर्वक पूजा करने का तात्पर्य यह है कि—व्याहृति अर्थात "भूर्भुवः स्वः" उच्चारण पूर्वक सफेद चावल निक्षेप करता हुआ "इन्द्र!आगच्छ" इत्यादि वाक्य से आवाहन, फिर देवताओं के नाम चतुर्थीविभक्ति-युक्त ओंकार-पूर्व और नमः शब्दान्त करके गंधपुष्पादि उपचार से उनकी शक्ति, परिवार, आयुध और वाहनसहित पूजा करनी चाहिये।

अनिरुद्धं तथा पूज्यं पश्चिमे चोत्तरे तथा।
पूजयेद्वासुदेवं तु सर्वपातक-शान्तिदम् ॥ १४३ ॥
ऐशान्यां विन्यसेच्छङ्खमाग्नेय्यां चक्रमेव च।
सौम्यायान्तु गदा पूज्या वायव्यां पद्ममेव च ॥
नैर्ऋत्यां मूषलं पूज्यं दक्षिणे गरुड़ं तथा।
वामतो विन्येसल्लक्ष्मी देव-देवस्य बुद्धिमान् ॥
धनुश्चैव च खड्गञ्च देवस्य पुरतो न्यसेत्।
श्रीवत्सं कौस्तुभञ्चैव देवस्य पुरतोऽर्चयेत् ॥
एवं पूज्य यथान्यायं देव-देवं जनार्द्दनम्।
दिङ्मण्डलेषु (च) विन्यस्य चाष्टौ कुम्भान् विधानतः॥
वैष्णवं कलसञ्चैव नवमं तत्र कल्पयेत् ॥ १४४ ॥
स्नापयेन्मुक्ति-कामांस्तु वैष्णवेन घटेन तु।
श्री-कामान् स्नापयेत्तद्वदैन्द्रेणाथ घटेन तु ॥
जय-प्रताप-कामांस्तु आग्नेयेनाभिषेचयेत।
मृत्युञ्जयविधानेन याम्येन स्नपनं तथा ॥
दुष्ट-प्रध्वंसनायालं नैर्ऋतेन विधीयते।
शान्तये वारुणेनाथ पाप-नाशाय वायवम् ॥
द्रव्य-सम्पत्ति-कामस्य कौवेरेण विधीयते।
रौद्रेण ज्ञानहेतुस्तु लोकपाल-घटास्त्विमे ॥ १४५ ॥

भाषा टीका।

संकर्षण की, दक्षिणपत्र में प्रद्युम्न, की पश्चिम पत्र में अनिरुद्ध की और उत्तर पत्र में सब पातकों का नाश करने वाले वासुदेव की पूजा करे ॥ १४३ ॥

ईशान कोण में शंख की, अग्नि कोण में चक्र की, उत्तर में गदा की, वायु कोण में पद्म की नैर्ऋत में मूषल की और दक्षिण में गरुड़ की पूजा करके श्रेष्ठबुद्धि गुरु, देवदेव के वाम भाग में लक्ष्मी की, सन्मुख में धनुः खड्ग एवं श्रीवत्स और कौस्तुभ की पूजा करे। इस प्रकार से यथा योग्य देवदेव जनार्द्दन की पूजा करके यथाविधि आठ दिशा में आठ कलस स्थापनपूर्वक वहां विष्णुसंबंधीय नवम कुंभ स्थायन करे ॥ १४४ ॥

तदनन्तर धूपदीपादि उपचार से भगवान् और इन्द्रादि देवताओं की पूजापूर्वक शिष्य को मण्डल दिखा कर पुष्पाञ्जलि प्रदान और प्रणाम कराय वैष्णवादि नव कलस से शिष्य को स्नान करावे। कलसभेद से स्नान द्वारा फल भेद होता है—वही कहते हैं।) वैष्णव—कलस से मुक्ति की कामना करने वाले को स्नान करावे। इसी प्रकार श्री-की कामना

एकैकेन नरः स्नातः सर्वपापविवर्जितः।
भवेदव्याहतज्ञानः श्रीमांश्च पुरुषः सदा।
किं पुनर्नवभिः स्नातो नरःपातकवर्जितः॥
जायते विष्णुसदृशः सद्यो राजाथवा पुनः॥ १४६॥
अथवा दिक्षु सर्वासु यथासंख्येन लोकपान्।
पूजयेत् स्व-स्व-नाम्ना तु षड्भिन्नेन विधानतः॥ १४७॥
एवं संपूज्य देवांस्तु लोकपालान् प्रसन्नधीः।
पश्चात् परीक्षितान् शिष्यान् बद्धनेत्रान् प्रवेशयेत्॥
आग्नेयधारणादग्धान् वायुना विधुतांस्ततः।
सोमेनाप्यायितान् पश्चाच्छ्रावयेन्नियमान् बुधः॥ १४८॥
"न निन्देद्ब्राह्मणान्देवान् विष्णुं ब्रह्माणमेव च।
रुद्रमादित्यमग्निश्च लोकपालान् ग्रहांस्तथा॥
वन्देत वैष्णवं चापि पुरुषं पूर्वदीक्षितम्"॥ १४९॥

भाषा टीका।

करने वाले को इन्द्रघट द्वारा, जय की इच्छा करने वाले और प्रताप की चाहना करने वाले को आग्नेय कलस द्वारा, मृत्यु-जय की अभिलाष करने वाले को यम-कुंभ द्वारा, दुष्ट का वध करने की आकांक्षा करने वाले को नैर्ऋत कलस द्वारा, शान्ति-कामी को वारुण कलस द्वारा, पातक—नाश की इच्छा करने वाले को वायव्य कलस द्वारा, द्रव्य सम्पत्ति की अभिलाष करने वाले को कौवेर घट द्वारा और ज्ञान-लाभ की इच्छा करने वाले को रौद्र कुंभ द्वारा स्नान करावे—यह सब लोकपालों का घट है॥ यह सब घटों का एक एक घट से स्नान करने पर वह पुरुष सदा सब पापों से मुक्त, अव्याहत ज्ञानी और श्रीमान् होता है। नव कलस-द्वारा स्नान होने पर उसकी वात और क्या कहूं—वह पातक-हीन होता है और शीघ्र विष्णु की सदृश अथवा राजा होता है॥ १४५॥१४६॥

(अव पूजा-विषय में पक्षान्तर कथित होता है) अथवा संपूर्ण दिशाओं में यथासंख्या स्व-स्व-नाम-मंत्र द्वारा लोकपाल-गणों की हृदयादिक्रमानुसार षड्ङ्ग भेद से पूजा करे अर्थात् इन्द्रादि लोकपालों की स्व-स्व-नाम उच्चारणपूर्वक षड्ङ्ग पूजा करे॥ १४७॥

प्रसन्नमना गुरुदेव इस प्रकार देवताओं की पूजा करके फिर परीक्षित बद्धनेत्र शिष्य को प्रवेश करावें अर्थात शुक्ल नूतन परिधेयवस्त्र और तादृश उत्तरीय-धारी, आचान्त, अलंकृत, शुक्लवस्त्र-द्वारा बद्धनेत्र शिष्य को मण्डल में प्रदक्षिण कराकर प्रवेश करावें। फिर (शिष्य के पूर्वमुख से वैठने पर) गुरुदेव अग्नि, वायु और वरुण-वीज-द्वारा कृतभूतशुद्धि उन सब शिष्यों को (वक्ष्यमाण) सब नियमें सुनावें॥१४८॥

ब्राह्मण, देवता, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, सूर्य, वह्नि, लोकपाल, ग्रह और पूर्वदीक्षित अर्थात् दक्षानियमानुसार ज्येष्ठ वैष्णव—इन सब की निन्दा न करे, वंदना करे अर्थात् वंदनादि-द्वारा सन्मान करे,॥ १४९॥

एवन्तु समयान् श्राव्य पश्चाद्धोमं तु कारयेत् ।
तत्त्वानि शिष्य-देहेषु विन्यस्य च विशोधयेत् ॥
"ओं (नमो) भगवते विष्णवे सर्वरुपिणे हुं स्वाहा" ।
षोड़षाक्षरमन्त्रेण होमयेज्ज्वलितानलः ॥
गर्भाधानादिकाश्चैव क्रियाः सर्वाश्च कारयेत् ।
त्रिभिस्त्रिभिराहुतिभिर्देव-देवस्य सन्निधौ ॥
ततोऽपनीय दृग्बन्धं पुरः शिष्यं निवेश्य च ।
प्रायः पूर्वोक्तविधिना मन्त्रं तस्मै गुरुर्द्दिशेत् ॥ १५० ॥

भाषा टीका ।

गुरुदेव इस प्रकार सब नियम सुना कर—इस के पीछे अर्थात् शिष्य के सहर्ष वह सब नियम अंगीकार करने पर होम करें और शिष्य के देह में (क्रमदीपिकादिग्रंथ—कथित) सब तत्त्व-न्यास करके शोधन करें। फिर अग्नि प्रज्वलित कर—"ओम् (नमो) भगवते विष्णवे सर्वरूपिणे हुं स्वाहा" इस षोड़शाक्षर मंत्र से होम करें और देव-देवके समीप तीन आहुतिद्वारा गर्भाधानादि समस्त क्रिया-सम्पादन करें। फिर गुरुदेव नेत्र बंधन खोल कर शिष्य को सन्मुख बैठाय प्रायः—पूर्व-कथित विधान से उस को मंत्र का उपदेश दें (१) ॥ १५० ॥

(१) गर्भाधानादि कहने से पुंसवन, सीमन्तोन्नयन,--जातकर्म,-- नामकरण,-अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, स्नान, विवाह,—यह कई संस्कार समझना चाहिये। षोड़शार चक्र में वा अष्टदल कमल में पीठ पूजा करके आवाहनादि उपचार द्वारा भगवान की अर्चना पूर्वक स्व--गृह्योक्त विधान से पूर्वलिखित वत् अग्निस्थापनादि कर्म करता हुआ 'ओं [नमो] भगवते विष्णवे सर्वरूपिणे हुं स्वाहा" इस षोड़शाक्षर मन्त्र से अग्नि के गर्भाधानादि—संस्कार सम्पादन करे। उहां प्रत्येक संस्कार में तीन तीन आहुति देनी चाहिये । फिर आज्यभाग के अंत में मूलमन्त्र द्वारा अग्नि में देवता को आवाहनपूर्वक गंधादि उपचार से पूजा करके षोड़शाक्षर मंत्रपाठ सहित सुसंस्कृत आज्यद्वारा सहस्र वा शत होम करें । अनन्तर शिष्टिकृतादि होम शेष समापनपूर्वक पूर्णाहुति दे—प्रणवादि नमान्त वैश्वानर मंत्र पाठसहित गंधादि उपचार द्वारा पूजा करके शिष्य से प्रणाम करावे । फिर मण्डल की ईशान दिशा में पुष्पादि—विभूषित भूमि में विरचित भद्रपीठ रख कर अस्त्रमंत्रादि द्वारा अभिमंत्रित पुष्पद्वारा संभावित कर पाश—निराकरण—बुद्धि से शिष्य का नेत्रबंधन—वस्त्र खोल कर ज्ञानरूप हेम शलाका से उस के नेत्र खोले और उस के हाथ में पुष्पाञ्जलि देने पर शिष्य भी "अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।"—इस मंत्र से गुरु के दोनों चरण कमल में पुष्पाञ्जलि देवे। तब सन्मुख भद्रपीठ में—बैठे गुरुदेव अपने बिछाये आसन पर शिष्य को बैठाल कर इस प्रकार चिन्ता करें कि—"स्वीय मध्यमनाड़ी शक्त्युच्छलनमार्ग से शिष्य की मध्यमनाड़ी में प्रवेश करती है,-उस के हृदय में शक्ति समुल्लसित होती है और अपने हृदय से परमा विद्या वर्णरूप से चिदानन्दस्फुलिङ्गमाला की समान उस के वदन में प्रवेश करती है"। इसप्रकार चिन्ता करके शिष्य के कान में तीनवार मूलमंत्र सुनावें। फिर अर्घ्य पात्र से जल लेकर "अमुक ऋषि अमुक

होमान्ते दीक्षितः पश्चाद्दापयेद्‌गुरुदक्षिणाम्।
हस्त्यश्वरत्नकटकं हेमग्रामादिकं नृपः॥
दापयेद्‌गुरवे प्राज्ञो मध्यमो मध्यमां तथा।
दापयेदितरो युग्मं सहिरण्यं यथाविधि॥ १५१॥
एवं कृते तु यत् पुण्यं माहात्म्यं जायते धरे!
तदशक्यं तु गदितुमपि वर्ष-शतैरपि॥ १५२॥
दीक्षितात्मा गुरोर्भूत्वा वाराहं शृणुयाद्यदि।
तेन वेदाः पुराणानि सर्वे मन्त्राः सुसंग्रहाः।
जताः स्युः पुष्करे तीर्थे प्रयागे सिन्धु-सागरे।
देवहूते कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां विशेषतः।
ग्रहणे विषुवे चैव यत् फलं जपतां भवेत्।
तत् फलं द्विगुणं तस्य दीक्षितो यः शृणोति च।
देवा अपि तपः कृत्वा ध्यायन्ति च वदन्ति च।
"कदा मे भारते वर्षे जन्म स्याद्‌भूतधारिणि!।
दीक्षिताश्च भविष्यामो वाराहं शृणुमः कदा।
वाराहं षोड़शात्मानं युक्त्वा देहे कदाचन।
पश्यामः परमं स्थानं यद्‌गत्वा न पुनर्भवेत्"॥ १५३॥

भाषा टीका।

इस प्रकार बुद्धिमान् शिष्य दीक्षित हो—होम के पीछे गुरुदक्षिणा देवे अर्थात होम के अंत में पुण्याह उच्चारण के पीछे दक्षिणा देवे। शिष्य राजा की समान शक्तिमान् होने पर गुरु को—हाथी, घोड़े, रत्न-कटक (वलय) सुवर्ण और ग्राम इत्यादि की दक्षिणा देवे। मध्यम मनुष्य होने पर मध्यम दक्षिणा और इस के अतिरिक्त अन्यान्य मनुष्य यथाविधि सुवर्णसहित दो वस्त्र अर्पण करें॥ १५१॥

(अब दीक्षा-फल कहते हैं) हे पृथ्वी! इस प्रकार कार्य करने से जो पुण्य और माहात्म्य होता है वह सौ—वर्ष में भी वर्णन करने को समर्थ नहीं हूं॥१५२॥

शिष्य गुरु के समीप दीक्षात्मा होकर यदि बराह पुराण सुनें—तो उसी के द्वारा उस के संपूर्ण वेद, संपूर्ण पुराण और समस्त मंत्र-संग्रह होते हैं। और पुष्कर तीर्थ में, प्रयाग धाम में, सागरसंगम में, देवहूत में (नैमिषारण्य में) कुरुक्षेत्र में, विशेषतः वाराणसी धाम में जप करने से जो फल होता है-वही फल प्राप्त होता है। चंद्र-सूर्य के ग्रहण में, और विषुव संक्रान्ति में जप करने से जो फल होता है,—जो

च्छन्दः और अमुक देवता का यह मंत्र अमुकनामा मदंशस्वरूप-तुम को प्रदान किया; यह मंत्र हम दोनों के संबंध में समानफलदायक हो" यह कह कर वह जल शिष्य के हाथ में छोड़दे। शिष्य भी गुरु, देवता और मंत्र को अभेद चिन्तन—पूर्वक उसको जपे।

एवं जल्पन्ति विबुधा मनसा चिन्तयन्ति च।
वाराहयागं कार्त्तिक्यां कदा द्रक्ष्यामहे धरे ! ॥१५४॥
एष ते विधिरुद्दिष्टो मया ते भूतधारिणि !।
देव-गन्धर्व-यक्षाणां सर्वथा दुर्लभो ह्यसौ ॥
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन यश्च पश्यति मण्डलम्।
यश्चेमं शृणुयाद्देवि ! सर्वे मुक्ता इति श्रुतिः ॥ १५५ ॥

अथ संक्षिप्तदीक्षा।

संक्षिप्तश्चाथ दीक्षाया विधिरेष विलिख्यते।
मुख्यकल्पे ह्यशक्तस्य जनस्य स्याद्धिताय यः।
सुमुहूर्त्तेऽथ संप्राप्ते सर्वतोभद्रमण्डले ॥
नूतनं गन्ध-पुष्पादि-मण्डितं कलसं न्यसेत्।
वस्त्रावृतं पयः-पूर्णं पञ्चपल्लवसंयुतम् ॥
सर्वौषधि-पञ्चरत्न-मृत्स्नासप्तक-गर्भितम्।

भाषा टीका।

पुरुषदीक्षित होकर वराह पुराण सुनता है—उस को तिस की अपेक्षा दूना फल होता है। हे भूतधारिणी पृथ्वी ! देवता भी तपस्या का आचरण कर के इस प्रकार ध्यान करते हैं, और कहते हैं कि—"भारतवर्ष में कब हमारा जन्म होगा ? कब हम वहां दीक्षित होंगे ? कब वराह पुराण सुनेंगे ? और कब हम भागवत के अतिरिक्त पद्म पुराणादि सोलह पुराणों के आश्रय - स्वरूप वराहपुराण को शरीर में संयुक्त कर अर्थात श्रवणादिद्वारा उस की पूजा कर—जहां जाने से फिर पुनर्जन्म नहीं होता, उस परम स्थान का दर्शन करेंगे ? (अथवा कब हम सोलह तत्त्व के अधिष्ठाता किम्वा षोड़श यज्ञमूर्त्ति-स्वरूप वराहरूपी भगवान् को देह में अर्थात् मनः प्रधान में वा इन्द्रियात्मक में ध्यानादि द्वारा साक्षात् स्फुरित कर जिस स्थान में जाने से पुनर्जन्म नहीं होता—वही परम स्थान देखेंगे ?) ॥ १५३॥

हे धरे ! देवता मन मन में इस प्रकार चिन्ता करते हैं कि—कब हम कार्त्तिकी पौर्णमासी में वाराह याग का दर्शन करेंगे ? ॥ १५४ ॥

हे भूतधारिणि ! मैं ने संक्षेप से तुम्हारे निकट इस विधि का वर्णन किया। यह देवता, गंधर्व, यक्ष,-सब के पक्ष में सर्वथा दुर्लभ है। हे देवि ! इस प्रकार सुना है कि—जो तत्त्वत यह सब जानते हैं, जो मण्डल-दर्शन करते हैं और जो इस को सुनते हैं—वह सबही मुक्त होते हैं ॥ १५५ ॥

अनन्तर संक्षिप्तदीक्षा।—जो मुख्य कल्प में असमर्थ मनुष्य के संबंध में हितकारक है वही संक्षिप्तदीक्षा विधि लिखी जाती है।—सुमुहूर्त (शोभनकाल) प्राप्त होने पर सर्वतोभद्रमण्डल में गंधपुष्पादि मण्डित, वस्त्रावृत, जलपूर्ण, पंचपल्लवसंयुक्त, सर्वौषधि (२) पञ्चरत्न(३)

(१) पञ्चपल्लव।- आम, जामन, कैथ, दाड़िम और वेल। मतान्तर में—पीपल, वट, आम, प्लव वा अशोक और गूलर। तंत्र के मत से कांठाल, (वृक्ष-विशेष) आम, वट, पपिल और वकुल।

मृत्तिकाश्च सप्तोक्ताः —

अश्व-स्थानाद्गज-स्थानाद्वल्मीकाच्च चतुष्पथात् ।
राज-द्वाराच्च गोष्ठाच्च नद्याः कूलान्मृदः स्मृताः । इति ॥
कृष्णमभ्यर्च्य तं कुम्भं कुशकूर्चेन देशिकः ।
देयमन्त्रेण साष्टन्तु सहस्रमभिमन्त्रयेत् ॥ १५६ ॥

तदद्भिः पूर्ववच्छिष्यमभिषिच्य दिशेन्मनुम् ।
शिष्योऽर्च्चयेद्गुरुं भक्त्या यथाशक्ति द्विजानपि ॥ १५७ ॥

अथोपदेशस्तत्त्वसारे ।

अत्राप्यशक्तः कश्चिच्चेदब्जमभ्यर्च्य साक्षतम् ॥
तदम्भसाभिषिच्याष्ट-वारान्मूलेन के करम् ।
निधायास्य जपेत् कर्णे उपदेशे त्वयं विधिः ॥
चन्द्र-सूर्य्य-ग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये ।
मन्त्रमात्र-प्रकथनमुपदेशः स उच्यते ॥ १५८ ॥

भाषा टीका ।

और सप्त प्रशस्त मृत्तिका - गर्भ नूतन कलस स्थापन करे । सप्तमृत्तिका कथित हैं, यथा—अश्वशाला, (घुड़ शाला,) गज-शाला, (हाथीखाना) वाल्मीक (बंबई) चौराहा, राजद्वार, गोष्ठ और नदी का तट—इन सात स्थानों से संगृहीत मृत्तिका का नाम सप्त-मृत्तिका है । श्रीगुरुदेव मंत्रद्वारा कुश की ब्रह्म ग्रंथि-सहित अष्टोत्तर सहस्रवार उस कलस को मंत्रित करें अर्थात् उस कलस के ऊपर देय मंत्र एक सहस्र आठ वार जपें ॥ १५६ ॥

फिर इस कलस के जल - द्वारा पूर्वोक्त विधान से शिष्य का अभिषेक कर मंत्रोपदेश करें । शिष्य भी यथाशक्ति भक्ति-सहित गुरु और ब्राह्मणों की पूजा करें ॥ १५७ ॥

तत्त्वसार में इस प्रकार उपदेश है कि—यदि कोई इस में भी असमर्थ हो तो एक साक्षत अब्ज (शंख) की पूजा करके उसके जलद्वारा मूलमंत्रपाठ सहित शिष्य का आठ वार अभिषेक करें । फिर शिष्य के मस्तक पर हाथ रख कर कान में मूल मंत्र जपें,—उपदेश में यह विधि कही गई है । चंद्र - ग्रहण काल में, सूर्य-ग्रहण के समय में, तीर्थ स्थान में, सिद्धक्षेत्र में, अथवा—शिवालय में, केवल मात्र मंत्रदान करने को ही उपदेश कहते हैं ॥१५८॥

(२) सर्वौषधि—मुरा, (मुरैठी) वालछड़, वच, कुष्ठ, शैलज (पहाड़ी) हलदी, कुंकुम, शटी, चम्पा और नागर मोथा ।

(३) पञ्चरत्न । काञ्चन, हीरा, नीलकान्तमणि, पद्मराग और मोती ।

तत्र तत्रैव विशेषः श्रीनारदपञ्चरात्रे—

वित्त-लोभाद्विमुक्तस्य स्वल्पवित्तस्य देहिनः।
संसार-भयभीतस्य विष्णुभक्तस्य तत्त्वतः॥
अग्नावाज्यान्विते वीजैः सलिलैः केवलैश्च वा।
द्रव्य-हीनस्य कुर्वीत वचसानुग्रहं गुरुः॥ १५९॥
यः समः सर्वभूतेषु विरागो वीतमत्सरः।
जितेन्द्रियः शुचिर्दक्षः सर्वाङ्गावयवान्वितः॥
कर्मणा मनसा वाचा भीते चाभयदः सदा।
समबुद्धि-पदं प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मयः॥
पञ्चकालपरश्चैव पञ्चरात्रार्थवित्तथा।
विष्णु-तत्त्वं परिज्ञाय एकं चानेकभेदगम्॥
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसन्नताम्॥ १६०॥

अथ मन्त्रदान-माहात्म्यम्।

स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे —

इह कीर्त्तिं वदान्यत्वं प्रजा-बृद्धिं धनं सुखम्।
विद्या-दानेन लभते सात्विको नात्र संशयः।
यथा सुराणां सर्वेषां परमः परमेश्वरः॥
तथैव सर्वदानानां विद्या-दानं परं स्मृतम्॥ १६१॥

भाषा टीका।

श्रीनारदपंचरात्र में पूर्वलिखित विस्तीर्णदीक्षा और संक्षिप्तदीक्षा-विधि की उत्तमता दिखाई गई है। लोभ हीन, संसार-भय-भीत, यथार्थ विष्णु-भक्त, स्वल्प-वित्त, द्रव्यहीन, मनुष्य के संबंध में गुरुदेव घृतयुक्त अग्नि में यवादि-वीज द्वारा वा केवलमात्र जल द्वारा अथवा केवल वाक्य द्वारा होम करके उस के प्रति मंत्र-प्रदानरूप अनुग्रह करें॥ १५९॥

जो सर्वभूत में समज्ञानी, विषयादि में वीतराग मात्सर्यहीन, जितेन्द्रिय, पवित्र, दक्ष, समस्तदेहावयव-संयुक्त अर्थात जिस के किसी अंग की हानि नहीं हुई है, जो कर्म-द्वारा मन-द्वारा और वाक्य द्वारा भीत पुरुष को सदा अभय देता है, जिस पुरुष ने ज्ञानियों का पद पाया है,—वह पद पाकर जिस के अन्तर और बाहर में भगवत् स्वरूप की स्फूर्त्ति होती है, जो पंचकाल को सब क्रियाओं में तत्पर है, जो पंचरात्र ग्रंथ का अर्थ जानने वाला है,-ऐसा मनुष्य अनेक भेद प्राप्त; अथ च एक विष्णु-तत्त्व से विदित होकर आश्रित भक्त जनों की बात तो दूर रहे, संपूर्ण पृथ्वी को ही दीक्षित कर सकता है॥ १६०॥

अनन्तर मंत्रदान का माहात्म्य—स्कन्द पुराण के ब्रह्मनारद सम्वाद में लिखा है, । सात्विक

यावच्च पातकं तेन कृतं जन्म-शतैरपि।
तत्सर्वं नाशमाप्नोति विद्या-दानेन देहिनाम्॥
विद्या-दानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
येन दत्तेन चाप्नोति शिवं परमकारणम्॥ १६२॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते
भगवद्भक्तिविलासे
दैक्षिको नाम
द्वितीयो
विलासः

भाषा टीका।

(निष्कपट और श्रद्धाशील) पुरुष इस लोक में विद्यादान-द्वारा कीर्ति, (प्रतिष्ठा) वदान्यत्व, (दान-शीलता) सन्तति-वर्द्धन, धन और सुख को प्राप्त होते हैं,—इस में संदेह नहीं है। [१] परमेश्वर विष्णु जिस प्रकार सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं, वैसे ही सब प्रकार के दानों में विद्या दान ही श्रेष्ठ कहा गया है॥ १६१॥

देहधारियों को विद्यादान करने से उस दाता का किया सौ जन्म का पाप नष्ट होता है। जिस दान-द्वारा मंगलस्वरूप (अथवा परम सुखात्मक) परमकारण (ब्रह्म) श्रीकृष्ण को प्राप्त किया जाय, उस विद्या दान से श्रेष्ठदान-न हुआ और न होगा।१६२।

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते भगवद्भक्तिविलासे
भाषाटीकायां दैक्षिको नाम
द्वितीयो विलासः॥ २

(१) कोई कोई इस स्थल में कीर्त्ति और वदान्यत्व का पृथक् अर्थ न करके 'वदान्यतारूप कीर्त्ति' ऐसा अर्थ करते हैं।

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

तृतीयविलासः।

वन्देऽनन्ताद्भुतैश्वर्य्यं श्रीचैतन्यं महाप्रभुम्।
नीचोऽपि यत्प्रसादात् स्यात् सदाचारप्रवर्त्तकः॥ १॥
पुंसो गृहीतदीक्षस्य श्रीकृष्णं पूजयिष्यतः।
आचारो लिख्यते कृत्यः श्रुतिस्मृत्यनुसारतः॥ २॥

अथ दीक्षितस्य पूजाया नित्यता।

आगमे।

लब्ध्वा मन्त्रन्तु यो नित्यं नार्चयेन्मन्त्रदेवताम्।
सर्वकर्म-फलं तस्यानिष्टं यच्छति देवता॥ इति॥

अथ सदाचारः।

न किञ्चित् कस्यचित् सिध्येत् सदाचारं विना यतः।
तस्मादवश्यं सर्वत्र सदाचारो ह्यपेक्ष्यते॥ ३॥

भाषा टीका।

सदाचार लिखने में असमर्थ होने पर भी भगवान् की कृपा से उस विषय में अधिकार और सामर्थ्य हो सकता है—उसी के प्रकाशार्थ प्रणाम करते हैं। जिन के प्रसाद से नीच जन भी (लिखनादि द्वारा) सदाचार—प्रवर्त्तक हो सकता है,—मैं उन्ही अनन्त और अवितर्क्यप्रभावशाली महाप्रभु (परमेश्वर) श्रीकृष्ण-चैतन्य की वंदना करता हूं॥ १॥

जो दीक्षित पुरुष (१) श्रीकृष्ण की अर्चना करेंगे मैं उन के लिये श्रुति-स्मृति के अनुसार कर्त्तव्य आचार लिखता हूं॥ २॥

अनन्तर दीक्षित व्यक्ति के पूजा की नित्यता आगम में लिखी है, कि—जो पुरुष मंत्र-लाभ करके नित्य मंत्र-देवता की पूजा नहीं करता; उस के सब कार्य निष्फल होते हैं और मंत्रदेवता उस का अनिष्टसाधन करता है॥ इसके पीछे सदाचार लिखते हैं।—("पूजाविधि ही लिखी जाय-गी, अन्य आचार लिखने का क्या प्रयोजन है?" इस प्रश्न की आशंका करके प्रथम सदाचार की नित्यता लिखी जाती है—) जो कि सदाचार के विना किसी का भी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता,—सुतरां सर्वत्र अवश्य निश्चित ही सदाचार अपेक्षा होता है,—अर्थात सब विषयों में ही सदाचार का आवश्यकता है॥ ३॥

---

(१) स्त्रियों का अधिकार रहने पर भी इस स्थल में पुरुष का उल्लेख करने से पुरुष जाति की प्रधानता ही सूचित होती है।

अथ सदाचारस्य नित्यता ।

मार्कण्डेयपुराणे। श्रीमदालसालर्कसम्वादे —

गृहस्थेन सदा कार्यमाचार-परिपालनम् ॥
न ह्याचारविहीनस्य सुखमत्र परत्र च ।
यज्ञ-दान-तपांसीह पुरुषस्य न भूतये ॥
भवन्ति यः सदाचारं समुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते ॥ ४ ॥

भविष्योत्तरे च श्रीकृष्ण-युधिष्ठिरसम्वादे ।—

आचार-हीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीता सह षड्भिरङ्गैः ।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीड़ं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥ ५ ॥

कपालस्थं यथा तोयं श्व-दृतौ वा यथा पयः ।
दुष्टं स्यात् स्थानदोषेण वृत्तहीने तथा शुभम् ॥
आचाररहितो राजन्नेह नामुत्र नन्दति ॥ इति ॥
लेख्येन स्मरणादीनां नित्यत्वेनैव सेतस्यति ।
स्मरणाद्यात्मकस्यापि सदाचारस्य नित्यता ॥ ६ ॥

अथ सदाचारमहात्म्यम् ।

विष्णुपुराणे तत्रैव गृहि-धर्मप्रसङ्गे ।
सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि ॥ ७ ॥

भाषा टीका ।

अब सदाचारको नित्यता लिखते हैं ।--मार्कण्डेयपुराण के अलर्क-मदालसा-सम्वाद में लिखा है, गृही मनुष्य सदा आचार का पालन करे । इस लोक और परलोक में कहीं भी आचार-हीन को सुख नहीं है, । जो मनुष्य सदाचार को उल्लंघन करके कार्य में प्रवृत्ति होता है,--उस की यज्ञ, दान और तपस्या इस लोक में मङ्गल का निमित्त नहीं होती ॥ ४ ॥

भविष्योत्तरपुराण के श्रीकृष्ण-युधिष्ठिरसम्वाद में लिखा है,--वेद-समूह यदि षड़ङ्ग-सहित भी अध्ययन किये जांय—तथपि आचारहीन पुरुष को पवित्र करने में समर्थ नहीं होते । पक्ष (पर) निकल आने पर पक्षि-गण अपने अपने नीड़ (घोंसलों) को जिस प्रकार त्याग देते हैं, इसी प्रकार संपूर्ण वेद भी मरण काल में उस का परित्याग करते हैं, अर्थात वेद-समूह भी परलोक में उसको किसी प्रकार का फल देने में समर्थ नही होते ॥ ५ ॥

जैसे नर-कपालस्थ अथवा कुक्कुर—चर्म्म निर्मित पात्रस्थ जल वा दूध दूषित होता है—वैसे ही सदाचार-हीन पूरुष का तीर्थ-भ्रमणादि पुण्य-कर्म दूषित होता है । हे राजन् ! आचार-हीन पुरुष,—क्या इस, क्या पर—किसी लोक में भी आनंद लाभ नहीं कर सकता । लेख्य (वक्ष्यमाण) पुराणादि की अवश्य कर्त्तव्यता द्वारा ही प्रतिपादित होता है कि—सदाचार का अवश्य प्रतिपालन करना चाहिये क्यों कि स्मरणादि ही सदाचार है ॥ ६ ॥

अनन्तर सदाचार-माहात्म्य--विष्णुपुराण में गृहस्थ

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥ ८ ॥

काशीखण्डे स्कन्दागस्त्यसम्वादे।—

अनध्ययनशीलञ्च सदाचारविलङ्घिनम्।
सालस्यञ्च दुरन्नादं ब्राह्मणं वाधतेऽन्तकः॥
ततोऽभ्यसेत् प्रयत्नेन सदाचारं सदा द्विजः।
तीर्थान्यप्यभिलष्यन्ति सदाचारसमागमम् ॥ ९ ॥

भविष्योत्तरे च तत्रैव—

आचारप्रभवो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः।
साधूनाञ्च यथा वृत्तं स सदाचार इष्यते ॥
तस्मात् कुर्यात् सदाचारं य इच्छेद्गतिमात्मनः।
सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान्नृप!॥
श्रद्दधानोऽनसूयश्च सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ १० ॥

किञ्च—

आचार एव धर्मस्य मूलं राजन्! कुलस्य च।
आचाराद्विच्युतो जन्तुर्न कुलीनो न धार्मिकः॥

किञ्च।—

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्त्तिवर्द्धनः।
आचाराद्वर्द्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ११ ॥

भाषा टीका।

धर्मप्रसंग में लिखा है कि—सदाचारवान् पुरुष ही इस लोक और परलोक,—दोनों ही को जीतता है ॥७॥

(सदाचार के लक्षण कहते हैं) दोष-हीन व्यक्ति ही साधु है "सत" शब्द साधुवाचक है, साधु-गणों का आचरण ही सदाचार कहा गया है ॥ ८ ॥

काशीखण्ड के स्कंद और अगस्त्य-सम्वाद में लिखा है। जिस का चित्त वेदादि के पाठ में न लगता हो, जो सदाचार विलंघी, आलस्यप्रकृति और दुष्टान्न-भोजी है,—उस ब्राह्मण को कृतान्त बाधा देते हैं, अर्थात् दण्डप्रदान करते हैं। अतएव ब्राह्मण-गण यत्नसहित सदैव सदाचार का अभ्यास करें। संपूर्ण तीर्थ भी सदाचारवान् के समागम की कामना करते हैं॥ ९ ॥

भविष्यपुराण के उत्तर खण्ड में भी इस सदाचार—प्रसंग में लिखा है,—धर्म आचार से उत्पन्न है, साधुगण सदाचारविशिष्ट और साधु पुरुषों का जिस प्रकार आचार है-वही सदाचार कह कर गिना जाता है। अतएव जो मनुष्य अपनी शुभगति की कामना करे—उस को सदाचार का पालन करना चाहिये। हे नृप! श्रद्धावान्, असूयाहीन, सदाचारशील मनुष्य सर्वलक्षणहीन होने पर भी संपूर्ण अभीष्ट (फल) प्राप्त करता है ॥ १० ॥

और भी लिखा है कि—हे राजन्! आचार ही धर्म और कुल का मूल है, आचार-भ्रष्ट पुरुष कुलीन

आचार एव नृप-पुङ्गव ! सेव्यमानो धर्मार्थकाम-फलदो भवितहे पुंसाम् ॥
तस्मात् सदैव विदुषावहितेन राजन् ! शास्त्रोदितो ह्यनुदिनं परिपालनीयः ॥ १२ ॥

अथ तत्र नित्य-कृत्यानि ।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय "कृष्ण कृष्णे"ति कीर्त्तयन् ।
प्रक्षाल्य पाणि-पादौ च दन्त-धावनमाचरेत् ॥ १३ ॥
आचम्य वसनं रात्रेस्त्यक्त्वान्यत् परिधाय च ।
पुनराचमने कुर्य्याल्लिख्येन विधिनाग्रतः ॥ १४ ॥
अथेच्छन् परमां शुद्धिं मूर्द्ध्नि ध्यात्वा गुरोः पदौ ।
स्तुत्वा च कीर्त्तयन् कृष्णं स्मरंश्चैतदुदीरयेत् ॥ १५ ॥

अथ प्रातःस्मरण-कीर्त्तने ।

जयति जन-निवासो देवकी-जन्मवादो
यदुवर-परिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिर-चर-वृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन ।
व्रज-पुर-वनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥ १६ ॥

भाषा टीका ।

कह कर परिगणित नहीं होता और धार्मिक भी नहीं कहा जा सकता। और भी लिखा है, कि—आचार से ऐश्वर्य उत्पन्न होता है, आचार कीर्त्ति बढ़ाता है, आचार से परमायु की वृद्धि प्राप्त होती है और आचार अलक्षण (दारिद्र्य वा अपमृत्यु इत्यादि) का नाश कर देता है ॥ ११ ॥

हे नृपपुङ्गव ! आचार अनुष्ठित होने पर वह सदाचार ही इस लोक में मनुष्य को धर्मार्थ काम-फलप्रद होता है। अतएव हे राजन् ! विद्वान् मनुष्य सदा ही सावधान होकर प्रतिदिन शास्त्रोक्त आचार का पालन करे ॥ १२ ॥

अब तिस में नित्य-कृत्य कहते हैं—(ग्रंथसमाप्ति तक नित्य-कर्म, पक्ष-कृत्य, मासादि-कृत्य,—जो कुछ लिखा जायगा,—समस्त ही सदाचार है, तिस में प्रथम नित्य-कृत्य लिखते हैं) ब्राह्ममुहूर्त में 'कृष्ण कृष्ण"—यह नाम कीर्तन करते करते गात्रोत्थान पूर्वक हाथ और पांव धोकर दतोंन करें ॥ १३ ॥

फिर आचमन करके रात्रि के पहिरे वस्त्र त्याग और दूसरे वस्त्र पहर कर आगे लिखे विधान से दो वार आचमन करें ॥ १४ ॥

फिर परमा शुद्धि अर्थात् अन्तःशुद्धि और वाह्य-शुद्धि की इच्छा कर मस्तक में श्रीगुरु के चरणकमलों का ध्यान (१) और उन का स्तव (उत्कर्ष-कीर्त्तन) करके श्रीकृष्ण नाम कीर्त्तन और स्मरण पूर्वक वक्ष्यमाण श्लोक पढ़े ॥ १५ ॥

अनन्तर प्रातः-स्मरण और कीर्तन ।—जो अन्तर्यामी रूप से सर्वजीवों में अवस्थित हैं; देवकी के गर्भ से जिस का जन्म हुआ है—यही जिनका अपवाद है,

(१) श्रीगुरु का इस प्रकार से ध्यान करना चाहिये, यथा—व्याख्यामुद्राधारी, द्विनेत्र, द्विभुज, पीतवर्ण, संपूर्ण-सिद्धिप्रद, परमात्मा गुरुदेव ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्र-दलशोभित कमल में विराजमान रहते हैं।

स्मृते सकलकल्याण-भाजनं यत्र जायते ।
पुरुषं तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥ १७ ॥
विदग्धगोपाल-विलासिनीनां सम्भोग-चिह्नाङ्कितसर्वगात्रम् ।
पवित्रमाम्नायगिरामगम्यं ब्रह्म प्रपद्ये नवनीत-चौरम् ॥ १८ ॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थन-शब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥ इति १९ ॥
पठेत् पुनश्च साधूनां सम्प्रदायानुसारतः ।
चतुःश्लोकीमिमां सर्वदोष-शान्त्यै शुभाप्तये ॥ २० ॥

भाषा टीका।

यदुवंशीयगण ही जिनके सभा-सेवक रूप हैं, इच्छा मात्र से विनाश समर्थ होने पर भी जिन्होंने वाहु-वल से अधर्म का नाश किया है, जो (अधिकारि-विशेष की अपेक्षा न करके) वृन्दावनस्थ स्थिर, चर, तरु, गवादि का भी संसार-दुःख नाश करते हैं, और जिन्होंने स्मित (सुहास्ययुक्त) श्रीमुख द्वारा व्रज-वनिताओं का और पुर-वनिताओं का कामदेव वर्द्धित किया है अर्थात् परम प्रेम का वृद्धि करते हैं—वह श्रीकृष्ण जययुक्त हों ॥ १६ ॥

(इस प्रकार मंगलाचरण करके सर्वकर्म-सिद्ध्यर्थ एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण की ही शरण ग्रहण करे;—इसी अभिप्राय से कहते हैं) जिनको स्मरण करने से सब प्रकार कल्याण का भाजन हो जाता है-उन्हीं अज (प्राकृतजन्महीन) नित्यपुरुष हरि की शरण ग्रहण करे ॥ १७ ॥

पवित्र वेद-वाक्य के अगम्य पर-ब्रह्म होकर भी विदग्धा गोप-विलासिनियों के चिह्न(नखदन्तक्षतादि) द्वारा जो अंकितसर्वगात्र हैं,— उन्ही नवनीत चोर अर्थात् हृत नवनीत से चिह्नित श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता हूं ॥ १८ ॥

(इस प्रकार से साक्षात् भगवान् का कीर्त्तन और स्मरण वर्णनपूर्वक प्रियजन प्रेम द्वारा भी कीर्त्तन स्मरण विशेष लिखा जाता है) अरविन्दनेत्र श्रीकृष्ण के कीर्त्तनादि रूप गान में तत्पर व्रजाङ्गना-कुल की कंठ-ध्वनि दधि-मथन से उठी हुई ध्वनि के सहित मिल-कर नभो-मण्डल स्पर्श करती है, उस शब्द से सब दिशाओं का अर्थात् दशदिकस्थित जीवगणों का (ऐहिक और आमुष्किक) अमंगल विनाश को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ (१)

(इस के पीछे लिखे हुए चारों श्लोक में श्री-गोपालदेव का कीर्त्तन विशेष वा स्मरण विशेष नहीं है; किन्तु तो-भी बहुत शिष्टाचारापेक्षा से इनका पाठ करना उचित है—इसी विषय में लिखते हैं) साधुगणों की सम्प्रदाय के अनुसार (दुःस्वप्न, बंधन, पीड़ा इत्यादि) सर्व दोष शान्ति के लिये और शुभ लाभार्थ पुनर्वार इन चार श्लोकों का पाठ करे ॥२०॥

(१) अमङ्गल शब्द से विष्णुरूप मंगल अथवा परममङ्गल भी समझना चाहिये। अकार का अर्थ विष्णु—इसी प्रकार मंगल अतएव विष्णुरूप मंगल। अथवा (न विद्यते मङ्गलं यस्मात) अर्थात् जिस से अधिक मंगल दूसरा नहीं-इस अर्थ से परममंगल समझा जाता है—इस दो प्रकार से अर्थ करने पर (तत्तत) तात्पर्य यही समझना चाहिये कि, व्रजा-ङ्गनाओं की वह ध्वनि दशों दिशाओं के जीवों को विष्णुरूप मंगल अथवा परममंगल आस्वादन कराती है। इस स्थान में (निरस्यते) क्रिया का अर्थ दूरी-कृत वा विनष्ट होता है—नहीं तो आस्वाद करा-देती है—होगा।

प्रातः स्मरामि भव-भीतिमहार्त्ति-शान्त्यै नारायणं गरुड़वाहनमब्जनाभम् ।
ग्राहाभिभूतवरवारण-मुक्तिहेतुं चक्रायुधं तरुणवारिज-पत्रनेत्रम् ॥
प्रातर्नमामि मनसा वचसा च मूर्द्धा पादारविन्दुयुगलं परमस्य पुंसः ।
नारायणस्य नरकार्णवतारणस्य पारायण-प्रवणविप्रपरायणस्य ॥
प्रातर्भजामि भजतामभयङ्करं तं प्राक्सर्वजन्मकृतपाप-भयावहत्यै ।
यो ग्राह-वक्त्रपतिताङ्घ्रिगजेन्द्र-घोरशोक-प्रणाशमकरोद्धृतशङ्खचक्रः ॥
श्लोकत्रयमिदं पुण्यं प्रातः प्रातः पठेत्तु यः ।
लोकत्रय-गुरुस्तस्मै दद्यातात्म-पदं हरिः ॥ इति ॥
तदेतल्लिखितं कुत्र-कुत्रचिद्व्यवहारतः ।
किन्तु स्वाभीष्टरूपादि श्रीकृष्णस्य विचिन्तयेत् ॥
इत्थं विदध्याद्भगवत्कीर्त्तन-स्मरणादिकम् ।
सर्वतीर्थाभिषेकं वै वहिरन्तर्विशोधनम् ॥ २१ ॥

तथा च स्कान्दे स्कन्दं प्रति श्रीशिवोक्तौ—

सकृन्नारायणेत्युक्त्वा पुमान् कल्प-शतत्रयम् ।
गङ्गादिसर्वतीर्थेषु स्नातो भवति पुत्रक ! ॥ २२ ॥

भाषा टीका ।

मैं भव—भयरूप महापीड़ा के उपशमार्थ अर्थात नष्ट होने को गरुड़वाहन पद्मनाभ नक्र (कुम्भिर) द्वारा अभिभूत वारणराज (गजेन्द्र) के मोक्ष का कारण स्वरूप चक्रास्त्रधारी नवीन पद्म-पलाशलोचन नारायण को प्रातःकाल में स्मरण करता हूं । जो पारायण (वेदाध्ययन) में तत्पर ब्राह्मण के एकमात्र आश्रय हैं, अथवा जो पारायण द्वारा प्रणत ब्राह्मण के परम आश्रय स्वरूप हैं, मैं प्रातःकाल में मनः-द्वारा, वाक्य-द्वारा और मस्तक द्वारा उन्हीं नरकार्णव-तारण परम पुरुष नारायण के दोनों चरण कमलों में प्रणाम करता हूं । कुंभीर (नाके) के मुख में पैर गिरने से वारण-राज घोर शोक में अभिभूत होने पर जिन्हों ने शंखचक्रधारी होकर गजराज का शोक दूर किया था—मैं पूर्व पूर्व जन्म-कृत संपूर्ण पाप-भय विनाशार्थ भजनशील पुरुषों के अभयदाता उन देव का प्रातः काल में भजन करता हूं ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रभात के समय यह पवित्र तीन श्लोक पढ़ते हैं—त्रिलोक-गुरु हरि उनको आत्मपद प्रदान करते हैं । पूर्व में जो लिखा गया है—किसी किसी स्थान में व्यवहारानुसार लिखा गया है, किन्तु अपनी अभिलाषानुसार कृष्ण के रूपादि की चिन्ता करे अर्थात जिसकी जैसी अभिलाष हो वह उसी प्रकार चिन्ता करे, इस प्रकार से भगवान् के नाम-कीर्त्तन और नामों का स्मरण आदि करे, ऐसा होने से ही सर्व तीर्थाभिषेक का फल होता है, एवं वहिः-शुद्धि और अन्तर-शुद्धि होती है ॥ २१ ॥

इस विषय में स्कन्दपुराण में कार्तिकेय के प्रति शिवोक्ति है; यथा—हे पुत्र ! तीन सौ कल्प सदा गंगादि सब तीर्थों में स्नान करने से जो फल होता है—एकबार मात्र "नारायण" यह शब्द उच्चारण करने से मनुष्य उसी फल को प्राप्त हो सकता है ॥२२॥

अन्यत्र च—

शयनादुत्थितो यस्तु कीर्त्तयेन्मधुसूदनम् ।
कीर्त्तनात्तस्य पापानि नाशमायान्त्यशेषतः॥ इति ॥ २३ ॥

माहात्म्यं कीर्त्तनस्याग्रे लेख्यं मुख्यप्रसङ्गतः ।
स्मरणस्य तु माहात्म्यमधुना लिख्यते कियत् ॥ २४ ॥

तत्रादौ तस्य नित्यता ।

पाद्मे बृहत्सहस्रनामस्तोत्रे—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधि-निषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ॥ २५ ॥

स्कान्दे कार्त्तिकप्रसङ्गे श्रीमदगस्त्योक्तौ—

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजड़मूकता ।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ॥

काशीखण्डे च श्रीध्रुवचरिते —

इयमेव पराहानिरुपसर्गोऽयमेव च ।
अभाग्यं परमं चैतद्वासुदेवं न यत् स्मरेत् ॥
ये मुहूर्त्ताः क्षणा ये च याः काष्ठा ये निमेषकाः ।
ऋते विष्णुस्मृतेर्यातास्तेषु मुष्टो यमेन सः ॥ इति ॥ २६ ॥

भाषा टीका ।

अन्यत्र भी लिखा है कि—जो मनुष्य शय्या से उठ कर मधुसूदन के नाम कीर्त्तन करता है—केवल मात्र उसी कीर्त्तन के फल से उसके सब पाप नाश को प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

आगे मुख्य प्रसंग में कीर्त्तन—माहात्म्य लिखा जायगा। अब कुछेक स्मरण-माहात्म्य लिखते हैं॥ २४ ॥

प्रथमतः स्मरण की नित्यता पद्मपुराण के वृहत सहस्रनामस्तोत्र में लिखा है,-सदा विष्णु को स्मरण करे, कभी न भूले । अखिल विधि (तत्कृतपुण्य) एवं समस्त निषेध (तत्कृतपातक) इन दोनों के ही अधीन अर्थात् तत्कृतपुण्य—स्मृति का और तत्कृत पाप—विस्मृति का अनुगामी होता है ॥ २५ ॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिकप्रसंग में श्रीमान् अगस्त्य की उक्ति है, यथा—जो मुहूर्त्त वा जो क्षण वासुदेव की चिन्ता में व्यतीत न हो-वही हानि, वही महत छिद्र, वही अंधता, जड़ता और मूकता-स्वरूप है । काशीखण्ड के ध्रुवचरित में लिखा है, कि—वासुदेव को स्मरण न करने से—वही परम हानि, वही उपसर्ग और वही परम अभाग्यस्वरूप है । विष्णु-स्मरण के विना जो सब मुहूर्त्त, जो समस्त क्षण, जो समस्त काष्ठा और जो सब निमेष वीतते हैं

नित्यत्वेऽप्यस्य माहात्म्यं विचित्रफलदानतः ।
ज्ञेयं शास्त्रोदितं दर्शपौर्णमासादिवद्बुधैः ॥ २७ ॥

अथ स्मरण-माहात्म्यम् ।

(तत्र सर्वतीर्थस्नानाधिकत्वम्)

उक्तञ्च स्मार्त्तैरपि—

मान्त्रं पार्थिवमाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसं चेति स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥
"शन्न आप"स्तु वै 'मान्त्रं' मृदालम्भस्तु 'पार्थिवम्' ।
भस्मना स्नान'माग्नेयं' स्नानं गोरजसा'ऽनिलम्' ॥
आतपे सति वा वृष्टि'र्दिव्यं' स्नानं तदुच्यते ।
वहिर्नद्यादिषु स्नानं 'वारुणं' प्रोच्यते बुधैः ॥
ध्यानं यन्मनसा विष्णो 'र्मानसं' तत् प्रकीर्त्तितम् ॥ २८ ॥

किञ्च ।—

"असामर्थ्येन कायस्य काल-देशाद्यपेक्षया ।
तुल्यफलानि सर्वाणि स्यु" रित्याह पराशरः ॥
स्नानानां 'मानसं' स्नानं मन्वाद्यैः परमं स्मृतम् ।
कृतेन येन मुच्यन्ते गृहस्था अपि वै द्विजाः ॥ २९ ॥

भाषा टीका ।

विष्णु-स्मरणहीन पुरुष उन सब मुहूर्तादि में यम-कर्तृक वंचित होता है ॥ २६ ॥

दर्श पौर्णमास और अग्निहोत्रादिवत् विष्णुस्मृति का नित्यत्व होने पर भी नानारूप फलदान के कारण पण्डितों ने शास्त्र में इस का माहात्म्य वर्णन किया है ॥ २७ ॥

अनन्तर स्मरण-माहात्म्य ।—भगवद्भक्तिपर स्मार्त्त-गणों ने सर्व तीर्थ-स्नान को अपेक्षा स्मरण के माहात्म्य की अधिकता कीर्तन की है, अर्थात् प्रातः-स्मरण भगवद्भक्तों को अवश्यकर्त्तव्य है, इस में संदेह नहीं । मान्त्र, पार्थिव, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस, —यह सप्तविध स्नान कहा गया है। "शन्न आपः" इत्यादि मंत्रोच्चरणपूर्वक स्नान को 'मान्त्र' स्नान, मृत्तिका-स्पर्शपूर्वक स्नान को 'पार्थिव' स्नान, भस्मद्वारा स्नान को 'आग्नेय' स्नान, गोधूलि द्वारा स्नान को 'वायव्य' स्नान और आतप (धूप) विद्यमान रहते वृष्टि होने पर तद्द्वारा स्नान को 'दिव्य' स्नान कहते हैं। वहिर्नद्यादि में स्नान को ही पण्डितों ने 'वारुण' स्नान कहा है; मन मन में विष्णु का ध्यान ही मानस स्नान कहा जाता है ॥ २८ ॥

और भी लिखा है; पराशर ने कहा है कि—देह का असामर्थ्य होने पर, एवं काल, देश और अधिकारी की अपेक्षा करके सब प्रकार के स्नान का ही तुल्य फल होता है। मनु इत्यादि अनेकों ने कहा है कि—

(परमशोधकत्वम्)

गारुड़े श्रीनारदोक्तौ विष्णुधर्में च पुलस्त्योक्तौ—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं सवाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ३० ॥
यद्यप्युपहतः पापैर्मनसात्यन्तदुस्तरैः।
तथापि संस्मरन् विष्णुं सवाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ३१ ॥

(पापोन्मूलनत्वम्।)

श्रीविष्णुपुराणे—

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥ ३२ ॥
कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते।
प्रायश्चित्तन्तु तस्यैकं हरि-संस्मरणं परम् ॥ ३३ ॥

भाषा टीका।

जो स्नान करने से गृहस्थाश्रमी द्विज-गण मुक्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात विशुद्धि लाभ करते हैं,—वह 'मानस' स्नान ही सव प्रकार के स्नानों में प्रधान है, (अथवा हे द्विजगण! जिस स्नान के करने से गृहस्थमात्र ही विशुद्ध हो—वह 'मानस' स्नान ही सव प्रकार के स्नानों में श्रेष्ठ है) ॥ २९ ॥

'मानस' स्नान का परमशोधकत्व।—गरुड़पुराण की नारदोक्ति में और विष्णुधर्म में पुलस्त्य के वाक्य में है, यथा—अपवित्र हो, अथवा पवित्र हो, वा सव प्रकार—अर्थात जिस किसी अवस्था में हो,-पुण्डरीकाक्ष को स्मरण करने से वह वाहर में (शरीरादि द्वारा) और भीतर में (मन-इत्यादि द्वारा) शुद्ध होते हैं ॥ ३० ॥

मन मत में भी गणना कर के जिस का अंत नहीं किया जा सकता—ऐसी पाप-राशि से दूषित होने पर भी विष्णु का स्मरण करने से वह व्यक्ति का वाहर और भीतर पवित्र होता है। (अथवा—साक्षात प्रायश्चित्तकर्मानुष्ठान दूर रहे, मनःसङ्कल्पित शत प्रायश्चित्त द्वारा भी अपरिहार्य पातक-पुंज में लिप्त व्यक्ति विष्णु-स्मरण करने से वाह्य और आभ्यन्तर शुद्ध होता है। अथवा अत्यन्त दुस्तर पातक-समूह से कलुषित होकर भी मन मन में विष्णु को स्मरण करने से—वह व्यक्ति वाह्य और आभ्यन्तर में शुद्ध होता है) ॥ ३१ ॥

विष्णु-स्मरण का पापोन्मूलनत्व।—विष्णुपुराण में लिखा है कि,—सव प्रकार के प्रायश्चित्त, तपस्या, दान, जप और व्रतादि में कृष्ण-स्मरण ही सव की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥

पापाचरण करने के पीछे जिस व्यक्ति को पश्चात्ताप उत्पन्न होता है—एक मात्र हरि-स्मरण ही उस के पक्ष में परम प्रायश्चित्त है ॥ ३३ ॥

किञ्च ।—

कलि-कल्मषमत्युग्रं नरकार्त्तिप्रदं नृणाम् ।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृत् यत्रानुसंस्मृते ॥ ३४ ॥

कौर्म्मे श्रीभगवदुक्तौ—

ये मां जनाः संस्मरन्ति कलौ सकृदपि प्रभुम् ।
तेषां नश्यति तत् पापं भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥ ३५ ॥

बृहन्नारदीये शुक्र-वलिसम्वादे—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥

तत्रैव प्रायश्चित्त-प्रसङ्गान्ते—

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः ।
सर्वैर्विमुच्यते सद्यो यस्य विष्णु-परं मनः ॥

ब्रह्मवैवर्त्ते—

कर्म्मणा मनसा वाचा यः कृतः पाप-सञ्चयः ।
सोऽप्यशेषः क्षयं याति स्मृत्वा कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥

अतएवोक्तं स्कान्दे कार्त्तिकप्रसङ्गे श्रीपराशरेण—

यम-मार्गं महाघोरं नरकांश्च यमं तथा ।
स्वप्नेऽपि न नरः पश्येद्यः स्मरेद्गरुड़ध्वजम् ॥ ३६ ॥

भाषा टीका ।

(हरिस्मरण, जो परम दुष्परिहार्य (अनिवार्य) कलि-कलुष है उस का भी दूर करता है, अब उसी का वर्णन किया जाता है) और भी लिखा है कि-श्रीहरि को एकवार मात्र स्मरण करने से ही मनुष्यों का नरक-यातना दायक अत्युग्र कलि-कलुष तत्काल विलुप्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

कूर्मपुराण में श्रीभगवान् की उक्ति है यथा—कलिकाल में जो एकवार मात्र भी प्रभुस्वरूप मुझ को स्मरण करता है,—पुरुषोत्तम मुझ में भक्तिनिष्ठ, उन सब मनुष्यों के तत्कालीन कलिसुदुस्तर पाप (अथवा उस कलि के पाप) तत्काल विनाश को प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥

बृहन्नारदीयपुराण के शुक्र-वलिसंवाद में लिखा है कि,-दुष्टचित्त मनुष्यों के स्मरण करने पर भी हरि उन की पाप-राशि हरण करते हैं। क्यों कि-अनिच्छा से स्पर्श करने पर भी अग्नि दग्ध करती है। इसी पुराण में प्रायश्चित्त-प्रसंग के अंत में लिखा

षष्ठस्कन्धे च श्रीशुकेन--

सकृन्मनः कृष्ण-पदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥ ३७॥

(सर्वापद्विमोचकत्वम्)

श्रीविष्णुपुराणे प्रह्लादोक्तौ--

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः शीर्णा यदेते न वलं ममैतत् ।
महाविपत्पातविनाशनोऽयं जनार्द्दनानुस्मरणानुभावः ॥

वामनपुराणे--

विष्टयो व्यतिपाताश्च येऽन्ये दुर्नीतिसम्भवाः ।
ते सर्वे स्मरणाद्विष्णोर्नाशमायान्त्युपद्रवाः ॥

पाद्मे माघमाहात्म्ये देवद्युतिस्तुतौ-

यस्य स्मरणमात्रेण न मोहो न च दुर्गतिः ।
न रोगो न च दुःखानि तमनन्तं नमाम्यहम् ॥

भाषा टीका ।

है कि-महापातक-युक्त हो वा सर्वपाप-युक्त हो, जिस का मन विष्णुपरायण है—वह तत्क्षण पातक से विशेष रूप मुक्त होता है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में लिखा है कि, कर्मद्वारा, मनद्वारा, और वाक्यद्वारा जो पाप-समूह इकट्ठे होते हैं, कृष्ण के चरण-कमलों का स्मरण करने से वह सव पातक भी क्षय हो जाते हैं। इसी कारण स्कन्दपुराण के कार्त्तिक प्रसंग में पराशर ने कहा है कि—जो पुरुष गरुड़ध्वज हरि को स्मरण करता है—उसको स्वप्न में भी महाघोर यममार्ग, नरक-समूह और यम का दर्शन करना नहीं पड़ता ॥ ३६ ॥

षष्ठ स्कन्ध में श्रीशुक ने कहा है, यथा—जो भगवद्गुणादि में अनुरागी अपने मन को श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में एकवार मात्र लगाते हैं, उन को स्वप्न में भी यम वा पाशधारी यम-दूतों का दर्शन नहीं होता। क्यों कि—भगवान् में मन लगाने से ही उन के सव प्रायश्चित्त हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

विष्णु-स्मरण का सर्वापद्विमोचकत्व, यथा।-विष्णु पुराण में प्रह्लाद की उक्ति है कि—हाथियों के दांत वज्र की समान कठिन है-वह सव भी जव भग्न होते हैं,तो—वह मेरा वल नहीं टूटते हैं—महाविपत पात के संहार करने वाले जनार्द्दन का स्मरण प्रभाव ही उस का कारण है। वामन पुराण में लिखा है कि,—विष्टि, व्यतीपात और अन्यान्य दुर्नीति से उत्पन्न हुए सव उपद्रव विष्णु के स्मरण-मात्र से नाश को प्राप्त हो जाते हैं। पद्मपुराण के माघ-माहात्म्य में देवद्युति के स्तव में है, यथा—जिस के स्मरण मात्र से मोह नहीं रहता दुर्गति नहीं रहती रोग और दुःख भी नहीं रहता, मैं उन्हीं अनन्त को नमस्कार करता हूं।

विष्णु-स्मरण को दुर्वासना का उन्मूलनत्व। श्री मद्भागवत का द्वादश स्कंध में लिखा है कि—जिस

(दुर्वासनोन्मूलनत्वम्)

द्वादशस्कन्धे—

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दौर्वर्ण्यं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥ ३८॥

(सर्वमङ्गलकारित्वम्)

पाण्डवगीतायाम्—

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्द्दनः॥

सर्वसत्कर्म्मफलदत्वम्

स्कान्दे कार्त्तिकप्रसङ्गेऽगस्त्योक्तौ—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु तीर्थेषु व्रतेषु चैव।
इष्टेषु पूर्त्तेषु च यत् प्रदिष्टं नृणां स्मृते तत् फलमच्युते च॥

(कर्मसाद्गुण्यकारित्वम्)

बृहन्नारदीये—

न्यूनातिरिक्तता सिद्धा कलौ वेदोक्तकर्मणाम्।
हरि-स्मरणमेवात्र सम्पूर्णफलदायकम्॥ ३९॥

स्मृतौ च।—

प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।

भाषा टीका।

प्रकार अग्नि सुवर्ण में स्थित होकर ताम्रादिधातु-जनित दौर्वर्ण्य (मलिनता) दूर करती है, वैसे ही विष्णु आत्मगत (मन मन में स्मृत) होकर योगियों की अशुभ चित्त वा अभिप्राय के विनाश करते हैं॥३८॥

विष्णु-स्मरण का सर्वमंगलकारित्व पाण्डव गीता में लिखा है, कि—इन्दीवर-श्यामल अर्थात् नीले कमल की समान श्यामवर्ण जनार्द्दन जिन के हृदय में स्थित हैं, उन को सब विषयों में ही लाभ और सर्वत्र ही उनको जय होती है, उनका पराभव कहां है?

विष्णु—स्मरण को सर्वसतकर्म—फलप्रदत्व। स्कन्दपुराण के कार्त्तिकप्रसंग में अगस्त्य की उक्ति है, देव-विषय में, यज्ञ में तपस्या में, दान में, तीर्थविषय में, व्रत—समूह में, इष्ट और पूर्त्त कर्म में मनुष्यों के लिये जो सब बिधि निर्दिष्ट हुई हैं,—भगवान् अच्युत को स्मरण करने से उस सब का फल प्राप्त होता है।

विष्णु-स्मरण का कर्म-साद्गुण्यकारित्व। बृहन्नारदीय पुराण में लिखा है, कि,—कलियुग में बेदोक्त कर्मों को अवश्य न्यूनता और अतिरिक्तता होती है किन्तु इस विषय में श्रीहरि का स्मरण संपूर्ण फल-दायक है॥ ३९॥

स्मृति में भी है, यथा—यज्ञक्रिया में कर्मकर्त्ताओं

स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति स्मृतिः (श्रुतिः)॥

(सर्वकर्माधिकत्वम्)

बृहन्नारदीये कलिप्रसङ्गे—

तुलापुरुष-दानानां राजसूयाश्वमेधयोः।
फलं विष्णोः स्मृतिसमं न जातु द्विजसत्तम !।

द्वादशस्कन्धे—

विद्या-तपः-प्राणनिरोध-मैत्री-तीर्थाभिषेक-व्रत-दान-जप्यैः।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥ ४० ॥

(सर्वभयापहारित्वम्)

विष्णुपुराणे हिरण्यकशिपुं प्रति श्रीप्रह्लादोक्तौ—

भयं भयानामपहारिणि स्थिते मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरोद्भवानि भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात ! ॥

(मोक्षप्रदत्वम्)

तत्रैवान्यत्र—

विष्णु-संस्मरणात् क्षीणसमस्तक्लेश-सञ्चयः।
मुक्तिं प्रयाति स्वर्गाप्तिस्तस्य विघ्नोऽनुमीयते ॥ ४१ ॥

भाषा टीका।

के प्रमाद के कारण जो कर्माङ्ग की हानि होती है, विष्णु-स्मरण के द्वारा वह संपूर्ण होती है—यह श्रुति (स्मृति) में है।

विष्णु-स्मरण का सर्वकर्माधिकत्व,—बृहन्नारदीय-पुराण के कलिप्रसङ्ग में लिखा है,—हे द्विजसत्तम ! तुलापुरुषदान, राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ,—इन सब का फल कभी विष्णु-स्मरण के सम न नहीं है, श्रीमद्भागवत का द्वादश (वारहवें) स्कंध में लिखा है कि-भगवान् अनन्तदेव हृदय में स्थित (स्मृत) होने पर अन्तरात्मा (मन) जिस प्रकार अत्यन्त विशुद्धि को प्राप्त होता है,—विद्या, (उपासना वा अध्ययन) तपः, (स्व-धर्माचरण) प्राण-निरोध, (प्राणयाम) मैत्री, (सब जीवों में स्नेह) तीर्थ-सेवा, व्रत, दान और जप द्वारा वैसी शुद्धि की संभावना नहीं है ॥ ४० ॥

विष्णुस्मरण का सर्वप्रकार भयहारित्व। विष्णु-पुराण में हिरण्यकशिपु के प्रति प्रह्लाद की उक्ति है कि—हे तात ! जिनको स्मरण करने से जन्म और जराजनित संपूर्ण भय पलायन करते हैं,—सर्वभय-विनाशक वही अनन्तदेव जब मेरे हृदय में स्थित हैं,—तब भय कहां रहेगा ?

विष्णु-स्मरण का मोक्ष प्रदत्व। इस ग्रंथ के स्थानान्तर में लिखा है कि—विष्णु-स्मरण से जिस के पापमूल रागादिसमूह क्षय को प्राप्त होते हैं; वही मुक्ति लाभ करती है। सुतरां स्वर्ग-प्राप्ति उस के पक्ष में विघ्नबोध होती है ॥ ४१ ॥

बृहन्नारदीये—

वरं वरेण्यं वरदं पुराणं निजप्रभा-भासितसर्वलोकम् ।
सङ्कल्पितार्थप्रदमादिदेवं स्मृत्वा व्रजेन्मोक्ष-पदं मनुष्यः ॥ ४२ ॥

स्कान्दे

यस्य स्मरण-मात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥ ४३ ॥

तत्रैव कार्त्तिकप्रसङ्गे श्रीपराशरोक्तौ—

तदैव पुरुषो मुक्तो जन्मदुःखजरादिभिः ।
भक्त्या तु परया नूनं यदैव स्मरते हरिम् ॥

(भगवत्प्रसादनम्)

बृहन्नारदीये—

येन केनाप्युपायेन स्मृतो नारायणोऽव्ययः ।
अपि पातकयुक्तस्य प्रसन्नः स्यान्न संशयः ॥

(श्रीवैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्)

वामनपुराणे—

अनाद्यनन्तमजरामरं हरिं ये संस्मरन्त्यहरहो नियतं नरा भुवि ।
तं सर्वगं ब्रह्म परं पुराणं ते यान्ति वैष्णवपदं ध्रुवमव्ययञ्च ॥ ४४ ॥

भाषा टीका ।

बृहन्नारदीयपुराण में लिखा है—जो परम श्रेष्ठ (अथवा श्रेष्ठ और सर्वजनवरणयोग्य) वरदाता पुराण पुरुष हैं, जो अपनी प्रभा से सब लोकों को प्रकाशित करते हैं, और जो संकल्पित विषय के फल देने वाले हैं—उन आदिदेव को स्मरण करने से मनुष्य मुक्ति पद प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—जिन को स्मरण करने से तत्काल जन्मरूप संसार बंधन से मुक्ति प्राप्त होती है—उन नित्य प्रभाव-शील विष्णु को नमस्कार है ॥ ४३ ॥

इसी पुराण के कार्त्तिक प्रसंग में श्रीपराशर की उक्ति है, यथा—परमभक्ति सहित जिस समय हरि को स्मरण किया जाय उसी समय पुरुष जन्म दुःख जरा इत्यादि से मुक्त होता है। इस में संदेह नहीं।

विष्णु-स्मरण द्वारा भगवत्-प्रसादन । बृहन्नारदीय में लिखा है कि—जिस किसी उपाय से हो अव्यय नारायण को स्मरण करने से पातकयुक्त मनुष्य के प्रति भी वह प्रसन्न होते हैं—इस में सन्देह नहीं। विष्णु-स्मरण द्वारा वैकुण्ठ-प्राप्ति।—वामन पुराण में लिखा है,—पृथ्वी-तल में जो पुरुष प्रतिदिन निरन्तर अनादि, अनन्त, जरा-मरण-रहित हरि को स्मरण करते हैं—वह उस सर्वग, ब्रह्मस्वरूप, श्रेष्ठ, पुरातन, नित्य और अव्यय वैष्णव पद (श्रीविष्णुस्थान) को प्राप्त होते हैं। (अथवा जो पृथ्वी में दिनरात अनादि, अनन्त, अजर अमर, सर्वगामी, परमब्रह्म, पुराणपुरुष हरि

पाद्मे देवदूतविकुण्डलसम्वादे यमस्य दूतानुशासने—

ये स्मरन्ति सकृद्दूताः ! प्रसङ्गेनापि केशवम्।
ते विध्वस्ताखिलाघौघा यान्ति विष्णोः परं पदम् ॥ ४५ ॥

ब्रह्मपुराणे विष्णुरहस्ये च—

शाठ्येनापि नरा विष्णुं ये स्मरन्ति जनार्द्दनम्।
तेऽपि यान्ति तनुं त्यक्त्वा विष्णु-लोकमनामयम् ॥ ४६ ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

निराशीर्निर्म्ममो यस्तु विष्णोर्ध्यानपरो भवेत्।
तत् पदं समवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥

(सारूप्यप्रापणम्)

काशीखण्डे श्रीविन्दुमाधवप्रसङ्गे अग्निविन्दुसंस्तुतौ—

ये त्वां त्रिविक्रम ! सदा हृदि शीलयन्ति कादम्बिनी-रुचिररोचिषमम्बुजाक्ष ! ।
सौदामिनी-विलसितांशुकवीतमूर्त्ते ! तेऽपि स्पृशन्ति तव कान्तिमचिन्त्यरूपाम् ॥ ४७ ॥

श्रीभगवद्गीतासु—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ४८ ॥

भाषा टीका।

को निरन्तर स्मरण करते हैं, वह नित्य अव्यय वैष्णव पद में गमन करते हैं ॥ ४४ ॥

पद्मपुराण में देवदूत विकुण्डल सम्वाद में दूत के प्रति यम का शासन है, यथा—हे दूतगण ! जो प्रसंग के क्रम से भी एक वार मात्र केशव को स्मरण करते हैं—वह संपूर्ण पातकों का विनाश करके सर्व-श्रेष्ठ विष्णु-पद में गमन करते हैं ॥ ४५ ॥

ब्रह्मपुराण और विष्णुरहस्य में लिखा है,—जो मनुष्य दुष्टभाव से भी जनार्द्दन विष्णु को स्मरण करते हैं,—वे भी शरीर त्याग कर सर्वदोषहीन विष्णुलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ४६ ॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है,—जो व्यक्ति निराशी (वासना रहित) और ममता-रहित होकर विष्णु के ध्यान में निरत रहता है, जहां जाने से फिर शोक को प्राप्त होना नही पड़ता,—वह पुरुष उसी वैष्णव पद को पाता है।

विष्णु-स्मरण द्वारा सारूप्य-प्राप्ति—काशीखण्ड के विन्दुमाधवप्रसंग में अग्निविन्दुस्तुति में है, कि—हे त्रिविक्रम ! हे अम्बुजाक्ष ! तुम मेघ-माला की समान रुचिरकान्तिमान् हो, तुम्हारी मूर्त्ति तड़िद्विलसित पीताम्बर से आवृत है, जो मनुष्य सदा तुमको हृदय के भीतर अभ्यास (ध्यान) करते हैं, वह भी तुम्हारी अचिन्त्यरूपा कान्ति प्राप्त करते हैं ॥ ४७ ॥

श्रीभगवद्गीता में है, कि—जो अन्तिम समय में भी केवलमात्र मुझ को स्मरण करता हुआ देह त्याग कर (इस लोक से) प्रस्थान करता है—वह मुझ को प्राप्त होता है—इस में संदेह नहीं ॥ ४८ ॥

श्रीभगवद्वशीकरणम्।

दशमस्कन्धे पृथुकोपाख्याने—

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किन्त्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः॥ ४९॥

(स्वतः परमफलत्वम्)

वैष्णवे—

वासुदेवे मनो यस्य जप-होमार्चनादिषु।
तस्यान्तरायो मैत्रेय! देवेन्द्रत्वादि सत् फलम्॥ ५०॥

गारुड़े —

महतस्तपसो मूलं प्रसवः पुण्य-सन्ततेः।
जीवितस्य फलं स्वादु नियतं स्मरणं हरेः॥ ५१॥

द्वितीयस्कन्धे—

एतावान् सांख्य-योगाभ्यां स्वधर्म-परिनिष्ठया।
जन्म-लाभः परः पुंसामन्ते नारायण-स्मृतिः॥ ५२॥

अतएव जरासन्धनिरुद्धनृपवर्गैः प्रार्थितं—दशमस्कन्धे—

भाषा टीका।

विष्णु-स्मरण का भगवद्वशीकारित्व। दशमस्कंध के पृथुकोपाख्यान में लिखा है, कि—जिन के चरण कमल स्मरण करने पर जो स्वयं अपने को भी दान करते हैं— उन जगद्गुरु का भजन करने से जो वांछित प्रदान करेंगे — इस में फिर कहना क्या है?॥ ४९॥

विष्णु-स्मृति का स्वतःसिद्ध परमफलत्व।— विष्णुपुराण में लिखा है कि—पराशर ने मैत्रेय से कहा था कि,—हे मैत्रेय! जप, होम और पूजादि कर्म में जिस मनुष्य का चित्त वासुदेव में अर्पित है,—इन्द्रत्व पदादि उत्तम फल भी उसके पक्ष में विघ्नस्वरूप है॥ ५०॥

गरुड़पुराण में लिखा है—विष्णुस्मृति निःसन्देह महती तपस्या की मूल, पुण्यराशि की उत्पन्न करने वाली, (अथवा पूर्वकृतपुण्यराशि का फलस्वरूप) और जीवन का अत्यन्त मधुर फल है॥ ५१॥

दूसरे स्कन्ध में लिखा है कि—अपने धर्मपर निष्ठा करके सांख्य (आत्मानात्मविवेक) और अष्टाङ्ग योग द्वारा जो नारायण का स्मरण है—वही मनुष्य-जन्म का लाभ (फल) और अन्त काल में नारायणस्मृति ही परम लाभ (फल) हैं, अथवा—आजन्म स्मरण तो दूर रहे;—अंतकाल में स्मरण करने पर भी वह परम लाभ है, अर्थात उस स्मरण का महिमा वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है॥ ५२॥

अतएव दशम स्कंध में जरासन्ध-कर्तृक बंदी राजाओं की प्रार्थना है। हे प्रभो! इस लोक

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥ ५३ ॥

श्रीनारदेनापि —

दृष्टं तवाङ्घ्रिकमलं जनतापवर्गं ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥
इति ॥ ५४ ॥

कृष्णस्मरण-माहात्म्यमहाब्धिर्दुस्तरो धिया ।
यो यियासति तत्पारं स हि चैतन्य-वञ्चितः ॥ ५५ ॥
ततः पादोदकं किञ्चित् प्राक् पीत्वा तुलसी दलैः ।
गृहीतेनाचरेत्तेन स्व-मूर्द्धन्यभिषेचनम् ॥ ५६ ॥
अथादौ श्रीगुरुं नत्वा श्रीकृष्णस्य पदाब्जयोः ।
किञ्चिद्विज्ञापयन् सर्व-स्वकृत्यान्यर्पयेन्नमेत् ॥

अथ प्रातःप्रणामः ।

वामनपुराणे—

सर्वमङ्गलमङ्गल्यं वरेण्यं वरदं शिवम् ।
नारायणं नमस्कृत्य सर्वकर्माणि कारयेत् ॥ ५७ ॥

भाषा टीका ।

संसारी होकर रहने पर भी (अथवा देहादि में आसक्ति के कारण अतिशय संसार-दुःख प्राप्त होने पर भी) जिससे तुम्हारे चरण कमलों में हमारी स्मृति का विराम न हो—(अब) हम लोगों को वैसे ही उपाय का उपदेश कीजिये ॥ ५३ ॥

नारदजी ने भी कहा था कि—(हे भगवन् !) अगाधबुद्धि ब्रह्मादिदेवता भी जिनको हृदय में ध्यान करते हैं, जो भक्तजनों के अपवर्ग के कारण हैं, जो संसार—कूप में गिरे हुए मनुष्य-कुल का सुख से उद्धार होने के अर्थ एक मात्र आश्रय स्वरूप हैं—तुम्हारे उन्हीं चरण कमलों का दर्शन किया (सुतरां मैं कृतार्थ हुआ ।) तौ भी जिस से तुम्हारी स्मृति (सदा) विद्यमान रहे, (वही अनुग्रह करो) और जिस से कि मैं उस स्मृति के बल से तुम्हारे चरण कमलों की चिन्ता करता हुआ विचरण कर सकूं ॥ ५४ ॥

कृष्ण-स्मरणरूप महासागर अत्यन्त दुस्तर अर्थात् कठिनता से तरने योग्य है, जो पुरुष मनद्वारा भी उस के पार जाने की अभिलाषा करता है—वह अचेतन है, अथवा वह अपने मत से चैतन्यदेव की माया से वंचित है ॥ ५५ ॥

इस के पीछे,—पहिले तो किञ्चित् चरणामृत पान करके तुलसीपत्र में वह चरणोदक ग्रहण कर अपने मस्तक में अभिषेक करे ॥ ५६ ॥

तदनन्तर प्रथम श्रीगुरुदेव को प्रणाम-पूर्वक श्रीकृष्ण के दोनों चरण कमलों में किंचित् निवेदन कर के अपने संपूर्ण कर्म समर्पण और नमस्कार करे ॥

अथ विज्ञापनम्।

विष्णुधर्मोत्तरे—

यदुत्सवादिकं कर्म तत्त्वया प्रेरितो हरे!
करिष्यामि त्वदाज्ञेयमिति विज्ञापनं मम ॥ ५८ ॥
प्रातः प्रबोधितो विष्णो! हृषीकेशेन यत्त्वया।
यद्यत् कारयसीशान! तत् करोमि तवाज्ञया ॥ ५९ ॥
त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव! श्रीनाथ! विष्णो! भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये ॥ ६० ॥
संसारयात्रामनुवर्त्तमानं त्वदाज्ञया श्रीनृहरेऽन्तरात्मन्!
स्पर्द्धा-तिरस्कार-कलि-प्रमाद-भयानि मा माभिभवन्तु भूमन्!॥
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं नं च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश! हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अथ प्रणाम-वाक्यानि।

महाभारते—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गो-ब्राह्मण-हिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

भाषा टीका।

अनन्तर प्रातः-प्रणाम।—वामनपुराण में लिखा है कि—संपूर्ण मंगल के मंगल करने वाले, वरदायक, कल्याणमय, सर्वश्रेष्ठनारायण को प्रणामपूर्वक समस्त कर्म करे ॥ ५७ ॥

अनन्तर विज्ञापन।—विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है—हे हरे! मैं तुम्हारे द्वारा प्रेरित (नियोजित) होकर ही उत्सवादि जो कोई कर्म करूंगा अर्थात् मैं जिस किसी कर्म का अनुष्ठान करूंगा—वह आप की आज्ञानुसार ही जानना,—यही मेरा विज्ञापन है ॥५८॥

हे विष्णो! हे ईशान! तुम सब इन्द्रियों के ईश्वर हो, मैं तुम्हारे द्वारा प्रभात में प्रबोधित हुआ। तुम जो जो कराते हो अर्थात् जिस कार्य में प्रवर्त्तित करते हो—तुम्हारी आज्ञा से वही करता हूं ॥ ५९ ॥

हे त्रैलोक्यचैतन्यमय! हे आदिदेव! हे श्रीनाथ! हे विष्णो! मैं तुम्हारी आज्ञा से ही प्रातःकाल में उठ कर त्वदीय प्रिय-विधानार्थ संसार यात्रा का अनुष्ठान करूंगा ॥ ६० ॥

हे नृहरे! हे अन्तरात्मन्! हे भूमन्! (महत्तम!) मैं जिस समय तुम्हारी आज्ञा से संसार यात्रा का अनुष्ठान करूंगा,—उस समय स्पर्द्धा, तिरस्कार, कलह, प्रमाद और भीति,—मुझ पर आक्रमण नहीं कर सके॥ मैं धर्म को जानता हूं किन्तु उस में मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्म को भी जानता हूं, किन्तु उस से भी मेरा निवृत्ति नहीं है। हे हृषीकेश! तुम

गरुड़पुराणे—

असुर-विबुध-सिद्धैर्ज्ञायते यस्य नान्तः सकलमुनिभिरन्ताश्चिन्त्यते यो विशुद्धः ।
निखिल-हृदि निविष्टो वेत्ति यः सर्व-साक्षी तमजममृतमीशं वासुदेवं नतोऽस्मि ॥

विष्णुपुराणे—

यज्ञिभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च सात्वतैः ।
वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्मि तम् ॥ इति ॥ ६१ ॥

एवं विज्ञापयन् ध्यायन् कीर्त्तयंश्च यथाविधि ।
प्रणामानाचरेच्छक्त्या चतुःसंख्यावरान् बुधः ॥ ६२ ॥

श्रीगोपीचन्दनेनोर्द्ध्वपुण्ड्रं कृत्वा यथाविधि
आसीत प्राङ्मुखो भूत्वा शुद्धस्थाने शुभासने ॥ ६३ ॥

तथा च नारदीयपञ्चरात्रे—

निर्गत्याचम्य विधिवत् प्रविश्य च पुनः सुधीः ।
आसने प्राङ्मुखो भूत्वा विहिते चोपविश्य वै ॥ ६४ ॥

सम्प्रदायाऽनुसारेण भूतशुद्धिं विधाय च ।
प्राणायामांश्च विधिवत् कृष्णं ध्यायेद्यथोदितम् ॥ ६५ ॥

भाषा टीका।

हृदय के भीतर अधिष्ठित होकर जिस प्रकार नियोजित करते हो में उस के अनुसार ही आचरण करता हूं।

अनन्तर प्रणामवाक्य—महाभारत में लिखा है-ब्रह्मण्यदेव, गो ब्राह्मण के हितजनक, जगत का हित करने वाले गोविन्द कृष्ण को वारम्वार नमस्कार है॥ गरुड़पुराण में लिखा है कि—असुरगण, देवगण, और सिद्धवर्ग जिन की सीमा के जानने में समर्थ नहीं है, तापसगण हृदय के भीतर जिन का ध्यान करते हैं, जो निर्मल हैं, जो सव जीवों के हृदय में अधिष्टित रह कर समस्त ही जानते हैं और जो सव के साक्षी स्वरूप हैं,—उन्हीं अंज, सत्यस्वरूप, ईश्वर, वासुदेव को प्रणाम करता हूं। विष्णुपुराण में लिखा है कि—याज्ञिकगण जिन को यज्ञ पुरुष, भक्तगण जिन को वासुदेव और वेदान्त शास्त्र के जानने वाले जिन को विष्णु कहते हैं—मैं उन को प्रणाम करता हूं॥ ६१॥

बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार से विज्ञापन, स्मरण और कीर्त्तन करके यथाविधि शक्ति के अनुसार कम से कम चार वार प्रणाम करे॥ ६२॥

गोपीचन्दन द्वारा यथाविधान अर्थात् हरिमंदिर निर्माणादि प्रकारानुसार ऊर्द्ध्वपुंड्र करके पूर्वाभिमुख हो विशुद्ध स्थान में विहित आसन पर वैठे॥ ६३॥

इसी लिये नारदपंचरात्र में लिखा है कि,-बुद्धिमान् पुरुष घर से निकल कर (मल-मूत्र त्याग करने के पीछे) यथाविधि आचमन-पूर्वक घर में प्रविष्ट होवे और शास्त्रविहित आसन पर पूर्वमुख होकर वैठे॥ ६४॥

फिर अपनी सम्प्रदाय के अनुसार विधिपूर्वक भूतशुद्धि और प्राणायाम कर यथोक्त नियम से श्रीकृष्ण का ध्यान करे॥ ६५॥

तथा चोक्तम्—

उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च ।
प्रविश्य रजनी-पादं विष्णु-ध्यानं समाचरेत् ॥

वैहायसपञ्चरात्रे च —

तथैव रात्रि-शेषन्तु कालं सूर्योदयावधि ।
कर्त्तव्यं सजपं ध्यानं नित्यमाराधकेन वै ॥ ६६ ॥

विभज्य पञ्चधा रात्रिं शेषे देवार्चनादिकम् ।
जपं होमं तथा ध्यानं नित्यं कुर्वीत साधकः ॥

अतएव विष्णुस्मृतौ—

रात्रेस्तु पश्चिमे यामे मुहूर्त्तो ब्राह्म उच्यते ॥ इति ॥ ६७ ॥
पादोद-पानादीनाञ्च स विधिर्महिमाग्रतः ।
लेख्योऽधुना तु ध्यानस्य स संक्षेपेण लिख्यते ॥ ६८ ॥

अथ प्रातर्ध्यानम् ।

तापनीय श्रुतिषु—

सतपुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोप-गोपी-गवा वीतं सुर-द्रुमलताश्रयम् ।
दिव्यालङ्करणोपेतं रक्तपङ्कजमध्यगम् ॥

भाषा टीका ।

इस कारण कहा है कि, सम्पूर्ण उपपातक और समस्त महापाप-पुंज नष्ट होने की अभिलाष से मैत्रादि कृत्य समाप्त करने पर घर में प्रविष्ट हो रात्रि के शेष भाग में विष्णु को स्मरण करे ॥ वैहायस पञ्चरात्र में भी कहा है कि—उक्त प्रकार से उपासनाकारी मनुष्य अरुणोदय तक रात्रि के शेष भाग में नित्य जप और ध्यान करे ॥ ६६ ॥

साधक पुरुष रात्रि को पांच अंश में विभक्त कर शेष अंश में नित्य देव-पूजादि, जप, होम और ध्यान करें । इसी कारण विष्णु स्मृति में कहा है कि—रात्रि के शेष प्रहर के शेष मुहूर्त्त का नाम ब्राह्म मुहूर्त्त है ॥ ६७ ॥

चरणोदक पानादि का विधान और महात्म्य अंत में लिखा जायगा—अब संक्षेप से ध्यान का विधान और माहात्म्य लिखा जाता है ॥ ६८ ॥

अनन्तर प्रातर्ध्यान ।—तापनीय श्रुति में लिखा है कि—श्रीकृष्ण को खिले हुए कमल की समान नेत्र युक्त, जलदकान्ति, तड़ित सन्निभपीताम्वरधारी, द्विहस्त मौनमुद्रायुक्त, वनमाल्यवान्, ईश्वर, गोप गोपी और

कालिन्दी-जलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेति तं कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥ ६९ ॥

मृत्युञ्जयसंहितानुसारोदितशारदातिलके च —

स्मरेद्‌वृन्दावने रम्ये मोहयन्तमनारतम् ॥
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोप-कन्याः सहस्रशः ॥
आत्मनो वदनाम्भोज-प्रेरिताक्षिमधुव्रताः ।
काम-वाणेन विवशाश्चिरमाश्लेषणोत्सुकाः ॥
मुक्ताहारलसत्पीनतुङ्गस्तन-भरानताः ।
स्रस्तधम्मिल्लवसना मद-स्खलितभाषणाः ॥
दन्तपङ्क्ति-प्रभोद्‌भासिस्पन्दमानाधराञ्चिताः ।
विलोभयन्तीर्विविधैर्विभ्रमैर्भावगर्भितैः ॥ ७० ॥
फुल्लेन्दीवर-कान्तिमिन्दुवदनं वर्हावतंसप्रियम् ।
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्वरं सुन्दरम् ॥
गोपीनां नयनोत्पलार्च्चिततनुं गो-गोप-सङ्घावृतम् ।
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥ इति ॥
श्रीगौतमीयतन्त्रादौ तद्ध्यानं प्रथितं परम् ।
अग्रतोऽत्रापि संलेख्यं यादिष्टं तत्र तद्व्रजेत् ॥ ७१ ॥

भाषा टीका ।

गायों से परिवेष्टित, कल्पतरु के नीचे समासीन, दिव्य गहनों से अलंकृत, लाल कमल के मध्य भाग में सन्निविष्ट और यमुनाजल के तरंगसंसर्गी पवन द्वारा सेवित,—चिन्ता करने पर संसार से छुटकारा मिलता है । ॥ ६९ ॥

मृत्युञ्जय संहिता के अनुसार शारदातिलक में भी ध्यान है, यथा,-जिन सहस्र सहस्र गोप बालिकाओं ने श्रीकृष्ण के मुखकमल में अपने नेत्र भ्रमर नियुक्त कर रक्खे हैं, काम-वाण से अवश होकर गाढ़ आलिंगन में उत्कंठित हुई है और मुक्ता हारालंकृत पीनोन्नत कुचाओं से झुक गई हैं, जिन का वेणीबंधन स्खलित हो गया है, मत्तता के कारण जिन की वाणी स्खलित, दशन पंक्ति की प्रभा द्वारा कम्पित अधरों से अलंकृत, और जो नानारूप शृंगारादि भाव-पूर्ण विभ्रम (बिलास) द्वारा कृष्ण को लुभातीं हैं, मनोहर वृन्दावन में उन समस्त गोपवालाओं के मोहित करने वाले पद्मपलाशलोचन गोविन्द को स्मरण करे । ॥ ७० ॥

जो विकसित नीलकमल की समान कान्तिमान्, जिनका वदन चंद्रमा की समान, मनोहर मयूर-वर्ह भूषण—जिनका प्रीतिकर; जो श्रीवत्स के चिह्न से युक्त, शोभायमान कौस्तुभधारी, पीतवासा, सुदृश्य, गोपिका-कुल के नेत्रोत्पल द्वारा पूजितविग्रह और जो गो एवं गोप-गणों से घिरे हुए हैं,—उन्हीं कलवेणु वादनतत्पर दिव्याङ्गभूषणधारी गोविन्द का भजन करता हूं ॥

अथ ध्यान-माहात्म्यम् ।

बृहत्शातातपस्मृतौ—

पक्षोपवासात् यत् पापं पुरुषस्य प्रणश्यति ।
प्राणायाम-शतेनैव यत् पापं नश्यते नृणाम् ॥
प्राणायाम-सहस्रेण यत् पापं नश्यते नृणाम् ।
क्षणमात्रेण तत् पापं हरेर्ध्यानात् प्रणश्यति ॥

विष्णुधर्म्मे —

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥

विष्णुपुराणे च—

ध्यायेन्नारायणं देवं स्नानादिषु च कर्मसु ।
प्रायश्चित्तं हि सर्वस्य दुष्कृतस्येति निश्चितम् ॥

(कलि-दोषहरत्वम्)

बृहन्नारदीये कलि-प्रसङ्गे—

समस्तजगदाधारं परमार्थस्वरूपिणम् ।
घोरे कलियुगे प्राप्ते विष्णुं ध्यायन्न सीदिति ॥

भाषा टीका ।

गौतमीय तंत्रादि में श्रीकृष्ण का ध्यान कथित है, इस ग्रंथ में भी पीछे वर्णित होगा। उन सब ध्यानों में जिसकी जिस ध्यान में प्रीति उत्पन्न हो वह उस के द्वारा ही श्रीकृष्ण का ध्यान करे ॥७१॥

अनन्तर ध्यान का माहात्म्य ।—उस में ध्यान का पापनाशकत्व कहा जाता है—बृहतशातातपश्रुति में लिखा है कि—पक्ष काल (पंद्रहदिन) उपवासी रहने से पुरुष के जो पातक ध्वंश होते हैं सौ प्राणायाम से मनुष्य के जो पाप दूर होते हैं और सहस्र प्राणायाम द्वारा मनुष्य के जो पाप नष्ट होते हैं, कृष्ण-ध्यान द्वारा तत्काल वह सब पाप दूर होते हैं ॥ विष्णुधर्म में लिखा है कि—यदि कोई संपूर्ण पातकों में पातकी होकर भी निमेष मात्र को श्रीकृष्ण का ध्यान करे, तो वह फिर तपस्वी होकर अपनी श्रेणी के पवित्रताकारियों में पवित्र कारक होता है ॥ विष्णुपुराण में भी लिखा है कि—स्नान इत्यादि सब कार्यों में नारायण का ध्यान करना चाहिये। नारायण का ध्यान संपूर्णदुष्कार्यों का प्रायश्चित्त स्वरूप है—इस में संदेह नहीं।

कृष्ण-ध्यान का कलिदोषनाशकत्व ।—बृहन्नारदीयपुराण के कलिप्रस्ताव में लिखा है कि—घोर कलिकाल प्राप्त होने पर जो संपूर्ण जगदाधार परमार्थ-स्वरूप श्रीविष्णु का ध्यान करता है—वह कभी क्लेश का भागी नहीं होता।

(सर्वधर्माधिकत्वम्)

स्कान्दे कार्त्तिक-माहात्म्ये अगस्त्योक्तौ—

किन्तस्य वहुभिस्तीर्थैः किं तस्य वहुभिर्व्रतैः।
यो नित्यं ध्यायते देवं नारायणमनन्यधीः॥ ७२॥

(मोक्षप्रदत्वम्।)

बृहन्नारदीये प्रदक्षिणा-माहात्म्यान्ते—

ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुर-गुरुं सततं स्मरन्ति।
ध्यानेन तेन हतकिल्विषवेदनास्ते मातुः पयोधर-रसं न पुनः पिवन्ति॥ ७३॥

(श्रीवैकुण्ठ-प्रापकत्वम्)

स्कान्दे श्रीब्रह्मोक्तौ—

मुहूर्त्तमपि यो ध्यायेन्नारायणमतन्द्रितः।
सोऽपि सद्गतिमाप्नोति किं पुनस्तत्परायणः?॥ ७४॥

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये यमब्राह्मण-सम्वादे—

ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतञ्च स्मरन्ति ये।
लभन्ते तेऽच्युत-स्थानं श्रुतिरेषा पुरातनी॥ ७५॥

भाषा टीका।

कृष्ण-ध्यान का सर्वकर्माधिकत्व।— स्कन्दपुराण के कार्तिक-माहात्म्य में अगस्त्यजी की उक्ति है, कि—जो मनुष्य एकाग्रचित्त होकर निरन्तर श्रीनारायण का ध्यान करता है उस को वहुत से तीर्थ और वहुत से व्रतों का अनुष्ठान करने की क्या आवश्यकता हैं॥ ७२॥

श्रीकृष्ण के ध्यान का मोक्षप्रदत्व।—बृहन्नारदीयपुराण में प्रदक्षिणामाहात्म्य के अंत में लिखा है कि—जो विगतराग और जीव एवं ईश्वर का तत्त्व जानने वाले हैं—वह देवगुरु श्रीनारायण का जो निरन्तर ध्यान करते हैं-उस ध्यान से ही उनकी पातक-यंत्रणा दूर होती है-सुतरां फिर उन की माता का स्तनपान करना नहीं पड़ता अर्थात् उन का संसार-वंधन कट जाता है॥ ७३॥

श्रीकृष्ण के ध्यान का वैकुण्ठ-प्रापकत्व।-स्कन्द पुराण में ब्रह्माजी की उक्ति है कि,—जो पुरुष सदा ध्यान में तत्पर रहता है, उस की वात तो दूर रहे, जो आलस्य छोड़ कर मुहूर्त्त काल भी नारायण का ध्यान करता है—उस को उत्तमा गति प्राप्त होती है॥ ७४॥

पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में यम-ब्राह्मण-संवाद में लिखा है कि—जो व्यक्ति दिव्य पुरुष अच्युत का ध्यान और स्मरण करता है,—वह मनुष्य अच्युत के स्थान को प्राप्त होता है,—इस प्रकार पुरातन वेदोक्ति है॥ ७५॥

(सारूप्यप्रापणम्)

एकादशस्कन्धे—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल-शाल्व-पौण्ड्रादयो गति-विलास-विलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥ ७६॥

(स्वतः परमफलत्वम्।)

चतुर्थस्कन्धे श्रीपृथूक्तौ।—

भजन्त्यथ त्वामतएव साधवो व्युदस्तमाया-गुणविभ्रमोदयम्।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां निमित्तमन्यत् भगवन्! न विद्महे॥

स्कन्दपुराणे ब्रह्मोक्तौ च।—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः।
इदमेव सुनिष्पन्नं—"ध्येयो नारायणः सदा"॥

अतएवोक्तं हयशीर्षपञ्चरात्रे नारायणव्यूहस्तवे—

ये त्यक्तलोकधर्म्मार्था विष्णु-भक्तिवशं गताः।
ध्यायन्ति परमात्मानं तेभ्यो नित्यं नमो नमः॥ इति॥
स्मरणे यत्तु माहात्म्यं तद्ध्यानेऽप्यखिलं विदुः।
भेदः कल्प्येत सामान्य-विशेषाभ्यां तयोः कियान्॥ ७७॥

भाषा टीका।

श्रीकृष्ण के ध्यानद्वारा सारूप्यप्राप्ति।—एकादश (ग्यारहवें) स्कन्ध में लिखा है, नारदजी ने कहा था कि,—शिशुपाल, शाल्व और पौंड्रक आदि राजा शत्रु-भाव से शयनासनादि काल में जिनका चिन्ता करते करते गति, विलास और विलोकनादि द्वारा तत्तदाकार बुद्धि होकर सारूप्य मुक्ति को प्राप्त हुए हैं फिर उनसे प्रीति करने वाले भक्तों की बात और क्या कहूं!॥ ७६॥

श्रीकृष्ण के ध्यान का स्वतः परमफलत्व।—चतुर्थ (चौथे) स्कंध में लिखा है,—पृथुराजा ने कहा था कि—हे भगवन्! तुम दीनवत्सल हो, तुम में माया के गुण का कार्य दिखाई नहीं देता इसी कामना से रहित साधु, ज्ञान उदय होने पर तुम्हारी उपासना करते हैं-किन्तु तुम्हारे चरण कमलों का स्मरण मात्रही उनके उक्तरूप भजन का एक मात्र प्रयोजन है—इस के अतिरिक्त और कोई फल दिखाई नहीं देता, स्कन्दपुराण में ब्रह्माजी की उक्ति है कि,-वारंवार संपूर्ण शास्त्र मन्थन और विचार पूर्वक यही मीमांसित हुआ कि—'सदा नारायण का ध्यान करना ही उचित है'। अतएव हयशीर्ष पंचरात्र के नारायणव्यूह-स्तव में कहा है कि—जो इस लोक में लोक-धर्म छोड़ कर विष्णु-भक्ति के वशीभूत हो—परमात्मा श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं उनको नित्य वारंवार नमस्कार करता हूं। जिस प्रकार कृष्ण स्मरण की महिमा है—ध्यान की महिमा भी उसी प्रकार जाननी चाहिये। केवलमात्र सामान्य और विशेष द्वारा इन दोनों का कुछेक भेद कल्पित

अथ श्रीभगवतप्रबोधनम्।

ततो देवालये गत्वा घण्टाद्युद्घोषपूर्वकम्।
प्रबोध्य स्तुतिभिः कृष्णं नीराज्य प्रार्थयेदिदम्॥ ७८॥

तृतीयस्कन्धे—

"सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्धप्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्व-विजयाय च नो विषादं माध्व्या गिरापनयतात् पुरुषः पुराणः।
देव! प्रपन्नार्त्तिहर! प्रसादं कुरु केशव!।
अवलोकन-दानेन भूयो मां पारयाच्युत!"॥ इति॥ ७९॥
देवालयं प्रविश्याथ स्तोत्राणीष्टानि कीर्त्तयन्।
कृष्णस्य तुलसीवर्जं निर्मालयमपसारयेत्॥

अथ निर्माल्योत्तारणम्।

अत्रिस्मृतौ—

प्रातः काले सदा कुर्यान्निर्म्माल्योत्तारणं बुधः॥
तृषिताः पशवो वद्धाः कन्यका च रजस्वला॥
देवता च सनिर्माल्या हन्ति पुण्यं पुराकृतम्।

नारसिंहे श्रीयमोक्तौ—

देव-माल्यापनयनं देवागारे समूहनम्।
स्नापनं सर्वदेवानां गो-प्रदानसमं स्मृतम्॥ ८०॥

भाषा टीका।

होता है *॥ ७७॥

भगवान् का प्रबोधन।—इस के उपरान्त शौच, आचमन, स्मरण और ध्यान के पीछे देवगृह में जाय घंटा इत्यादि बजाय श्रुति-स्तुति और प्रबोधनोपयुक्त अन्यान्य स्तव-द्वारा श्रीकृष्ण को प्रबोधित करके नीराजन करके यह प्रार्थना करे—॥ ७८॥

"वह अत्यन्त दयालु पुराणपुरुष भगवान् सप्रेम हास्य द्वारा अपने नेत्रकमल विकसित कर इस विश्व का उद्धव और मुझ पर अनुग्रह करने के लिये गात्रोत्थान पूर्वक मधुर वचनों से मेरा विषाद दूर करें। हे देव! हे प्रपन्नजनार्त्तिहारिन्! हे केशव! मेरे प्रति अनुग्रह प्रकाश करो। हे अच्युत! पुनर्वार दर्शन देकर मुझ को उद्धार करो"॥ ७९॥

फिर देव-मंदिर में प्रवेश करके अपनी इच्छानुसार स्तुति अथवा श्रीकृष्ण को सहस्र नामादि कीर्त्तन करता करता तुलसी के अतिरिक्त अन्य सब निर्माल्य उतारे।

---

* भगवान् में मन के संयोग को सामान्य कहते हैं और भगवान् की श्रीमूर्त्ति के—अंग-लावण्यादि भावना को ही विशेष कहा जाता है, अतएव स्मरण और ध्यान का किंचित मात्र भेद कल्पित होता है

नारदपञ्चरात्रे—

यः प्रातरुत्थाय विधाय नित्यं निर्माल्यमीशस्य निराकरोति ।
न तस्य दुःखं न दरिद्रता च नाकालमृत्युर्न च रोगमात्रम् ॥

अरुणोदय-वेलायां निर्माल्यं शल्यतां व्रजेत् ।
प्रातस्तु स्यान्महाशल्यं घटिकामात्रयोगतः ॥
अतिशल्यं विजानीयात्ततो वज्र-प्रहारवत् ।
अरुणोदयवेलायां शल्यं तत् क्षमते हरिः ॥
घटिकायामतिक्रान्तौ क्षुद्रं पातकमावहेत् ।
मुहूर्त्ते समतिक्रान्ते पूर्णं पातकमुच्यते ॥
अतिपातकमेव स्यात् घटिकानां चतुष्टये ।
मुहूर्त्त-त्रितये पूर्णे महापातकमुच्यते ॥
प्रहरे पूर्णतां याते प्रायश्चित्तं ततो नहि ।
निर्माल्यस्य विलम्बे तु प्रायश्चित्तमथोच्यते ॥—
अतिक्रान्ते मुहूर्त्तार्द्धे सहस्रं जपमाचरेत् ।
पूर्णे मुहूर्त्ते संजाते सहस्रं सार्द्धमुच्यते ।
सहस्र-द्वितयं कुर्य्यात् घटिकानां चतुष्टये ॥

भाषा टीका ।

अनन्तरनिर्माल्योत्तारण ।—अत्रि स्मृति में लिखा है कि,—बुद्धिमान् मनुष्य प्रातःकाल में सदा निर्माल्य उतारे । प्यासा पशु रस्सी में बँधा रहने से, अनूढ़ा (अविवाहिता) कन्या रजस्वला होने से और देवता निर्माल्ययुक्त रहने से उस की पूर्व-उपार्जित पुण्य-राशि ध्वंश करते हैं । नारसिंहपुराण में यम की उक्ति में—देवता की निर्माल्य उतारने से, बुहारी द्वारा देवमंदिर के बुहारने से और देवता को स्नान कराने से गोदान की समान फल होता है—इस प्रकार कीर्तित है ॥ ८० ॥

नारदपंचरात्र में लिखा है कि,—जो प्रातःकाल में उठ कर नित्य-क्रिया समाप्त करने के पीछे श्रीकृष्ण की निर्माल्य उतारते हैं—उनको दुःख होने की संभावना नहीं, दारिद्रता की आशंका नहीं, अकाल-मृत्यु की संभावना नहीं और रोगमात्र की भी आशंका नही है ॥ अरुणोदय के समय निर्माल्य शल्य (कांटे) की समान होती है । प्रातःकाल में महा-शल्य की सदृश होती है । एक घड़ी मात्र वीतने पर अतिशल्य होती हैं; और इसके पीछे वज्र-प्रहार की समान होजाती है ॥ अरुणोदय काल में निर्माल्य न उतारने पर जो शल्य तुल्य होती है, हरि उस को क्षमा करते हैं । एक घड़ी वीतने पर निर्माल्य क्षुद्र पातक का संचार कर देती है—मुहूर्त्त काल वीत ने पर पूर्ण पाप कहा जाता है, चार दण्डकाल बीत ने पर अत्यन्त पातक होता है, तीन मुहूर्त्त संपूर्ण होने पर महापातक कहा जाता है । फिर

मुहूर्त-त्रितयेऽतीते अयुतं जपमाचरेत् ।
प्रहरे पूर्णतां याते पुरश्चरणमुच्यते ॥
प्रहरे समतिक्रान्ते प्रायश्चित्तं न विद्यते ।

अथ श्रीमुख-प्रक्षालनम् ।

श्रीहस्ताङ्घ्रिमुखाम्भोज-क्षालनाय पतद्ग्रहे ॥
गण्डूषाणि जलैर्दत्वा दन्तकाष्ठं समर्पयेत् ।
जिह्वोल्लेखनिकां दत्त्वा पादुके शुद्धमृत्तिकाम् ॥
सलिलञ्च पुनर्दद्याद्वासोऽपि मुखमार्जनम् ।
ततः श्रीतुलसीं पुण्यामर्पयेत् भगवत्प्रियाम् ॥
तन्माहात्म्यञ्च तन्मुख्यप्रसङ्गे लेख्यमग्रतः ॥ ८१ ॥

अथ दन्तकाष्ठार्पण-माहात्म्यम् ।

विष्णुधर्मोत्तरे—

दन्तकाष्ठ-प्रदानेन दन्त-सौभाग्यमृच्छति ।
जिह्वोल्लेखनिकां दत्त्वा विरोगस्त्वभिजायते ।
पादुकायाः प्रदानेन गतिमिष्टामवाप्नुयात् ॥
मृद्भाग-दानाद्देवस्य भूमिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ।

भाषा टीका ।

ब्रह्महत्या और पंच महापाप की सदृश होता है और एक प्रहर वीत ने पर फिर उस का कोई प्रायश्चित्त नहीं है । यदि निर्माल्य उतार ने में विलम्ब हो, तो उस का (यथायोग्य) प्रायश्चित्त कहा जाता है अर्द्ध मुहूर्त्त काल (एक दण्ड) वीतने पर सहस्र संख्यक जप करे, मुहूर्त्त काल पूरा होने पर एक हजार पांच सौ जप कहा गया है, चार दण्ड काल वीतने पर दो सहस्र जप करना चाहिये, तीन मुहूर्त्त वीतने पर अयुतसंख्यक (दश हजार) जप करे और प्रहर काल पूरा होने पर पुरश्चरणरूप प्रायश्चित्त है,—किन्तु; प्रहर अतीत होजाने पर फिर और प्रायश्चित्त नही है ॥ अनन्तर श्रीकृष्ण का मुख-प्रक्षालन ।—श्रीकर,-श्री चरण और मुखकमल प्रक्षालनार्थं पतद्ग्रह के (पीकदानी के) भीतर जल द्वारा गण्डूष देकर (कुल्लाकराकर) दन्त-काष्ठ (दँतोन) अर्पण करे । जिह्वोल्लेखनिका, (जिह्वा का संशोधनी) पादुका-युगल और पवित्र मृत्तिका देकर फिर जल और मुख पोंछने का वस्त्र प्रदान करे, इस के पीछे भगवतप्रिया पवित्ररूपिणी श्रीतुलसी प्रदान करै । पीछे मुख्यप्रस्ताव में इसकी (तुलसी की) महिमा का वर्णन किया जायगा ॥ ८१ ॥

अनन्तर दन्तकाष्ठार्पण-माहात्म्य ।—विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है, कि,—श्रीकृष्ण को दँतोंन प्रदान करने से दन्त-सौभाग्य प्राप्त होता है, जिह्वामार्जनिका प्रदान करने से रोगरहित होता है, पादुका अर्पण करने से वांछित गति की प्राप्ति और मृत्तिका-भाग प्रदान करने से उत्तम भूमि लाभ होती है ।

अथ मङ्गलनीराजनम्।

पठित्वाथ प्रियान् श्लोकान् महावादित्र-निस्वनैः।
प्रभोर्नीराजनं कुर्य्यान्मङ्गलाख्यं जगाद्धितम्॥
नीराजनन्त्विदं सर्वैः कर्त्तव्यं शुचिविग्रहैः।
परमश्रद्धयोत्थाय द्रष्टव्यश्च सदा नरैः॥
स्त्रीणां पुंसाश्च सर्वेषामेतत् सर्वेष्ट-पूरकम्।
समस्तदैन्य-दारिद्य-दुरिताद्युपशान्तिकृत्॥ ८२॥

अथ प्रातःस्नानार्थोद्यमः।

ततोऽरुणोदयस्यान्ते स्नानार्थं निःसरेद्बहिः।
कीर्त्तयन् कृष्ण-नामानि तीर्थं गच्छेदनन्तरम्॥

तथा च शुक्रस्मृतौ—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः।
स्वस्तिकाद्यासनं वद्ध्वा ध्यात्वा कृष्ण-पदाम्बुजम्॥
ततो निर्गत्य निलयान्नामानमिमानि कीर्त्तयेत्।—
"श्रीवासुदेवानिरुद्धप्रद्युम्नाधोक्षजाच्युत!।
श्रीकृष्णानन्तगोविन्दसङ्कर्षण! नमोऽस्तु ते"।
गत्वा तीर्थादिकं तत्र निःक्षिप्य स्नान-साधनम्॥
विधिनाचर्य्य मैत्रादि-कृत्यं शौचं विधाय च।
आचम्य खानि सम्मार्ज्य स्नानं कुर्यात् यथोचितम्॥ ८३॥

भाषा टीका।

मंगल आरात्रिक।—फिर प्रिय श्लोक-पाठ पूर्वक महावादित्र सहित अर्थात् (अनेक वाद्य वजाकर) श्रीकृष्ण का जगत् हितकर मंगल नीराजन करे। सव को विशुद्ध शरीर से यह मंगल नीराजन करना चाहिये। मनुष्यमात्र ही गात्रोत्थान-पूर्वक परमश्रद्धा के सहित सदा उस का दर्शन करें, यह स्त्री-पुरुष— सव की ही समस्त अभिलाष पूर्ण करता है, और संपूर्ण दुःख दारिद्र एवं पातक ध्वंश कर देता है॥८२॥

अनन्तर प्रातःस्नान के लिये उद्यम।—फिर अरुणोदय काल वीतने पर स्नान के निमित्त वाहर निकले, उस समय कृष्ण-नामों का कीर्त्तन करते करते तीर्थ में (पवित्र जलाशय में) जाय॥ इस विषय में शुक्र-स्मृति में लिखा है, कि—ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ कर पवित्र और-स्थिर मन हो—स्वस्तिकादि आसन पर वैठ कृष्ण के चरण कमलों की चिन्ता करे। फिर घर से निकल कर इन सव नामों का कीर्त्तन करना चाहिये यथा,—"हे श्रीवासुदेव! हे श्रीकृष्ण! हे अनन्त! हे गोविन्द! हे सङ्कर्षण! तुम को नमस्कार है। इस प्रकार नाम-कीर्त्तन करते करते जलाशयादि

अथ मैत्रादिकृत्य-विधिः ।

श्रीविष्णुपुराणे और्वसगरसम्वादे गृहि-धर्मकथने—

ततः कल्ये समुत्थाय कुर्यान्मैत्रं नरेश्वर ! ।
नैऋत्यामिषु-विक्षेपमतीत्याभ्यधिकं गृहात् ॥ ८४ ॥
दूरादावसथान्मूत्रं पुरीषञ्च समुतसृजेत ।
पादावसेचनोच्छिष्टे प्रक्षिपेन्न गृहाङ्गने ॥ ८५ ॥
आत्म-च्छायां तरोश्छायां गो-सूर्य्याग्न्यनिलांस्तथा ।
गुरुं द्विजातींश्च बुधो न मेहेत कदाचन ॥
न कृष्टे शस्य-मध्ये वा गो-व्रजे जन-संसदि ।
न वर्त्मनि न नद्यादितीर्थेषु पुरुषर्षभ ! ।
नाप्सु नैवाम्भसस्तीरे न श्मशाने समाचरेत् ।
उत्सर्गं वै पुरीषस्य मूत्रस्य च विसर्जनम् ॥
उदङ्मुखो दिवोत्सर्गं विपरीतमुखो निशि ।
कुर्वीतानापदि प्राज्ञो मूत्रोत्सर्गञ्च पार्थिव ! ॥
तृणैराच्छाद्य वसुधां वस्त्र-प्रावृतमस्तकः ।
तिष्ठेन्नातिचिरं तत्र नैव किञ्चिदुदीरयेत् ॥ ८६ ॥

भाषा टीका ।

में जाय और वहां स्नानोपयोगी वस्तु रख कर यथाविधि पुरीष-विसर्जनादि कर्म, शौच, आचमन और इन्द्रियों के छिद्रों को प्रक्षालन कर यथोचित (वर्णाश्रमादि के अनुरूप) स्नान-सम्पादन करे ॥ ८३ ॥

मल-त्यागादि की विधि ।—विष्णुपुराण के और्व और सगर-सम्वाद में गृहि-धर्म-कथन में लिखा है, कि—हे नृपते ! फिर प्रातःकाल में उठ—घर से जितनी दूर वाण जा सके उतनी दूर का उल्लंघन कर अधिक दूर जाय पुरीष (मल) त्याग करे ॥ ८४ ॥

यदि ग्राम के नैर्ऋत भाग में वाण-क्षेप का दूरत्व न मिलें तो-अन्य जिस दिशा में मिले—घर से दूर जाकर मूत्र, पुरीष विसर्जन करे । चरण धोने का जल, उच्छिष्ट वस्तु और घर के आंगन में नहीं डालनी चाहिये ॥ ८५ ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपनी छाया में, वृक्ष की छाया में, गौ के सन्मुख, सूर्य के सन्मुख, अग्नि के सन्मुख वायु के सन्मुख एवं गुरु और ब्राह्मण के सन्मुख कभी मूत्र पुरीष त्याग न करें। हे नर श्रेष्ठ ! जुती हुई भूमि में, शस्य में, गोशाला में, जन-समाज में, मार्ग में, नदी इत्यादि तीर्थ में, जल में, जल की धार में और श्मशान में मूत्र पुरीष विसर्जन न करे। हे नृप ! विपद् न पड़ने पर बुद्धिमान् मनुष्य दिन में उत्तर को मुख करके और रात्रि में दक्षिण को मुख करके तृण-द्वारा पृथ्वी और वस्त्र द्वारा मस्तक को ढक कर मूत्र पुरीष त्याग करे, परन्तु उस स्थान में वहुत देर तक न रुके और मल मूत्र त्यागने के समय वातें भी न करे ॥ ८६ ॥

तथा कौर्मे व्यासगीतायाम्—

निधाय दक्षिणे कर्णे ब्रह्मसूत्रमुदङ्मुखः ।
अन्तर्द्धाप्य महीं काष्ठैः पत्रैर्लोष्ट्रैस्तृणेन वा ॥
प्रावृत्य तु शिरः कुर्य्याद्विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ।
न चैवाभिमुखः स्त्रीणां गुरु-ब्राह्मणयोर्गवाम् ।
न देव-देवालययोर्नावामपि कदाचन ॥ ८७ ॥
नदीं ज्योतींषि वीक्षित्वा न वाय्वभिमुखोऽपि वा ।
प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रतिसोमं तथैव च ॥

काशीखण्डे श्रीस्कन्दागस्त्य-सम्वादे—

ततश्चावश्यकं कर्त्तुं नैर्ऋतीं दिशमाश्रयेत् ।
ग्रामाद्धनुः-शतं गच्छेन्नगराच्च चतुर्गुणम् ॥
कर्णोपवीत्युदग्वक्त्रो दिवसे सन्ध्ययोरपि ।
विण्मूत्रे विसृजेन्मौनी निशायां दक्षिणामुखः ॥
नालोकयेद्दिशो भागान् ज्योतिश्चक्रं नभोऽमलम् ।
वामेन पाणिना शिश्नं धृत्वोत्तिष्ठेत् प्रयत्नवान् ॥

तथैवाग्रे—

न मूत्रं गो-व्रजे कुर्य्यान्न वल्मीके न भस्मनि ।
न गर्त्तेषु ससत्वेषु न तिष्ठन्न व्रजन्नपि ॥
यथासुखमुखो रात्रौ दिवाच्छायान्धकारयोः ।
भीतिषु प्राण-बाधायां कुर्य्यान्मल-विसर्जनम् ॥ ८८ ॥

भाषा टीका ।

कूर्मपुराण की व्यासगीता में लिखा है कि—दहिने कान में जनेऊ रख—उत्तर मुख हो काष्ठ, पत्र, लोष्ट्र, (मिट्टी) और तृण-द्वारा पृथ्वी एवं वस्त्र द्वारा शिर ढक कर मूत्र पुरीष विसर्जन करे । स्त्री जाति के, गुरुजन के, ब्राह्मण के, गौ के, देवता के, देव-मन्दिर के और जल के सन्मुख कभी मल-मूत्र त्याग न करे । ॥ ८७ ॥

नदी की ओर दृष्टि डालकर, नक्षत्र की ओर नेत्र-पात करके,—वायु के प्रतिकूल अवस्थित होकर, अग्नि की ओर मुख करके एवं सूर्य और चंद्रमा के सन्मुख होकर मूत्र-पुरीष त्याग न करे ॥ काशीखण्ड के भी अगस्त्य-संवाद में लिखा है—इस के पीछे कर्त्तव्य कार्य का सम्पादन करने के निमित्त नैर्ऋत कोण में जाय । ग्राम से सौ धनुः (चार-सौ हस्त) और नगर से इस की अपेक्षा चौगुनी दूर जाय । कान में जनेऊ रखकर दिन में और दोनों संध्या में उत्तर-मुख हो और रात्रि काल

अथ शौच-विधिः ।

श्रीविष्णुपुराणे तत्रैव—

वल्मीक-मूषिकोत्खातां मृदं नान्तर्जलात्तथा ।
शौचावशिष्टां गेहाच्च न दद्याल्लेपसम्भवाम् ॥ ८९ ॥

अन्तःप्राण्यवपन्नाश्च हलोत्खाताश्च पार्थिव ! ।
परित्यजेन्मृदश्चैताः सकलाः शौच-साधने ॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रो दश वामकरे नृप !
हस्त-द्वये च सप्तान्या मृदः शौचोपपादिकाः ॥ ९० ॥

यमस्मृतौ—

तिस्रस्तु पादयोर्देयाः शुद्धिकामेन नित्यशः ।
किञ्च;—तिस्रस्तु मृत्तिका देयाः कृत्वा तु नख-शोधनम् ॥ ९१ ॥

काशीखण्डे च तत्रैव—

गुह्ये दद्यान्मृदं चैकां पायौ पञ्चाम्बुसान्तराः ।
दश वामकरे चापि सप्त पाणि-द्वये मृदः ।

भाषा टीका ।

में दक्षिण-मुख हो मौनावलम्बन-पूर्वक मूत्र-पुरीष त्याग करे; उस समय किसी ओर को नेत्र-पात न करे । नक्षत्र-पुंज और आकाश की ओर भी दृष्टि-पात नहीं करना चाहिये । यत्न सहित बायें हाथ से शिश्न पकड़ कर उठे ।

इस स्थान के कुछेक आगे लिखा है कि—गोशाला में, बाँवई-पर, भस्म पर और प्राणि-युक्त गर्त में मल-मूत्र त्याग न करे । खड़े होने की अवस्था में और चलते चलते भी मूत्र-पुरीष त्याग न करे। यदि प्राण-हानि का भय उपस्थित हो; तो-क्या दिन, क्या रात्रि, क्या छाया, क्या अन्धकार,- सभी समय में जिस ओर सुविधा हो उसी दिशा के सन्मुख होकर मल-त्याग कर सकता है ॥ ८८ ॥

शौच-विधि । —विष्णुपुराण के उसी स्थान में लिखा है, कि—हे नृपते ! बँवई की मिट्टी, चूहे की खोदी मिट्टी, जल के भीतर की मिट्टी, शौच से बची हुई मिट्टी और घर की दीवार की मिट्टी, शौच कार्य में ग्रहण न करे ॥ ८९ ॥

हे राजन् ! मध्य में क्षुद्र प्राणी अर्थात् कीट-गण कर्तृक उपहत हुई, और हल से खुदी हुई मिट्टी शौच कार्य में वर्जित है ॥ हे राजन् ! शौच-साधन मृत्तिका शिश्न में एकवार, गुदा में तीनवार, बायें हाथ में दशवार और दोनों हाथों में सातवार मलनी चाहिये ॥ ९० ॥

यमस्मृति में लिखा है कि—जो शुद्धि की अभिलाष करते हैं—वह नित्य दानों चरणों में तीन तीन वार मृत्तिका प्रदान करें ॥ और भी लिखा है, कि—नख-शुद्धि के लिये तीन तीन वार मृत्तिका देनी चाहिये ॥ ९१ ॥

काशीखण्ड के भी पूर्वोक्त स्थान में लिखा है, कि—शिश्न में एकवार, मल-द्वार (गुदा) में पांचवार,

एकैकां पादयोर्द्द्यात् तिस्रः पाण्योर्मृदः स्मृताः।
इत्थं शौचं गृही कुर्य्याद्गन्धलेपक्षयावधि॥
क्रमाद्द्विगुणमेतत्तु ब्रह्मचर्य्यादिषु त्रिषु।
दिवा-विहितशौचाच्च रात्रावर्द्धं समाचरेत्॥
रुजार्द्धश्च तदर्द्धश्च पथि चौरादिपीड़िते।
तदर्द्धं योषिताञ्चापि स्वास्थ्ये न्यूनं न कारयेत्॥
आर्द्रधात्रीफलोन्माना मृदः शौचे प्रकीर्त्तिताः॥ ९२॥

शङ्खस्मृतौ—

मृत्तिका तु समुद्दिष्टा त्रिपर्वी पूर्य्यते यथा (यया)॥ ९३॥

दक्षस्मृतौ—

अर्द्धप्रसृतिमात्रा तु प्रथमा मृत्तिका स्मृता।
द्वितीया च तृतीया च तदर्द्धं परिकीर्त्तिता॥ ९४॥

अथ केवलमूत्रोत्सर्गे दक्षः—

एका लिङ्गे तु सव्ये त्रिरुभयोर्मृद्द्वयं स्मृतम्॥

भाषा टीका

बांये हाथ में दशवार, दोनों हाथों में सातवार, दोनों चरणों में एक एक वार और फिर दोनों हाथों में तीनवार जल-युक्त मृत्तिका देने की विधि निर्दिष्ट हुई है। जब तक गंध लेप दूर नहो—तब तक गृही पुरुष इस प्रकार शौच करे। ब्रह्मचर्य्यादि तीनों आश्रम में यह शौच क्रमानुसार द्विगुण अर्थात् ब्रह्मचारी गृही की अपेक्षा दूना, वानप्रस्थ तिगुना और भिक्षुक चौगुने शौच का आचरण करे। दिन में जो शौच की विधि निर्दिष्ट है.—रात्रि काल में उस से आधे का आचरण करना चाहिये। रुग्न (रोगी) अवस्था में भी आधे की व्यवस्था है। चोर इत्यादि से आक्रान्तमार्ग में इस से भी आधे की व्यवस्था जानना। नारी-जाति के पक्ष में इस से भी आधे की व्यवस्था है। देह का स्वास्थ्य ठीक होने पर शौच की न्यूनता (कमी) न करे। एकवार में आर्द्र आंवले के फल की बराबर मृत्तिका शौच-कार्य में निर्दिष्ट हुई है॥ ९२॥

शंख-स्मृति में भी लिखा है, कि—जिस से त्रिपर्वी पूर्ण हो। अर्थात मध्यस्थित तीन अंगुली की प्रथम ग्रंथि पूर्ण हो इतने परिमाण मिट्टी की व्यवस्था निर्दिष्ट हुई है॥ ॥ ९३॥

स्मृति में लिखा है, कि—प्रथम वार का मृत्तिका अर्द्धप्रसृति-परिमिति (अर्द्धाञ्जलिप्रमाण) एवं दूसरी वार और तीसरी वार की उस से अर्द्ध व्यवस्था निर्दिष्ट है॥ ९४॥

केवलमात्र मूत्र-त्याग ने के विषय में दक्ष की उक्ति है, यथा—शिश्न में एकवार, बांयें हाथ में तीनवार और दोनों हाथों में दोवार मृत्तिका देने की व्यवस्था कही गई है॥

ब्राह्मे—

पादयोर्द्वे गृहीत्वा च सुप्रक्षालितपाणिना।
आचम्य तु ततः शुद्धः स्मृत्वा विष्णुं सनातनम् ॥ ९५ ॥

अथाचमन-विधिः।

विष्णुपुराणे तत्रैव—

अच्छेनागन्धफेणेन जलेनावुद्वुदेन च।
आचामेत मृदं भूयस्तथा दद्यात् समाहितः॥
निष्पादिताङ्घ्रिशौचस्तु पादावभ्युक्ष्य वै पुनः।
त्रिः पिवेत् सलिलं तेन तथा द्विः परिमार्जयेत् ॥ ९६ ॥
शीर्षण्यानि ततः खानि मूर्द्धानञ्च नृपालभेत्।
वाहू नाभिञ्च तोयेन हृदयञ्चापि संस्पृशेत् ॥

अत्र च विशेषो दक्षेणोक्तः—

प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिवेदम्बु वीक्षितम्।
संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ॥
संहत्य तिसृभिः पूर्वमास्यमेवमुपस्पृशेत्।
अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम्।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यान्तु चक्षुः-श्रोत्रे पुनः पुनः।
कनिष्ठाङ्गुष्ठयोर्नाभिं हृदयन्तु तलेन वै ॥
सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद्वाहू चाग्रेण संस्पृशेत।

भाषा टीका।

ब्रह्मपुराण में लिखा है, कि—दोनों पैरों में दोवार मृत्तिका देकर भलीभांति धोये हुए हाथ से आचमन पूर्वक सनातन हरि को स्मरण करके पवित्र होवे ॥ ९५ ॥

अनन्तर आचमन-विधि।—विष्णुपुराण के पूर्वोक्त स्थान में लिखा है, कि—स्वच्छ, गंधहीन, फेन-रहित, वुदुवुद्शून्य जल से आचमन करना चाहिये। फिर सावधान होकर चरणों में मृत्तिका देवे। पादधौत समाप्त करने पर फिर दोनों पैर धोय तीनवार जलपान अर्थात् आचमन करे, और इसी जल से दोवार मुख धोना चाहिये ॥ ९६ ॥

इसके पीछे शीर्षण्य छिद्र में (नेत्र नासिका इत्यादि में) और शिरोदेश में मृत्तिका-स्पर्श कराकर वाहु में, नाभिदेश में और हृदय-प्रदेश में जल-स्पर्श करावे ॥ इस विषय में दक्ष ने विशेषरूप से कहा है, कि—दोनों हाथ और चरण धोकर दृष्टि-द्वारा देख

तथा काशीखण्डे तत्रैव—

प्रागास्य उदगास्यो वा सूपविष्टः शुचौ भुवि।
उपस्पृशेद्द्विहीनायां तुषाङ्गारास्थिभस्मभिः॥
अनुष्णाभिरफेणाभिरद्भिर्हृद्गाभिरत्वरः।
ब्राह्मणो ब्रह्मतीर्थेन दृष्टिपूताभिराचमेत्॥
कण्ठगाभिर्नृपः शुद्ध्येत्तालुगाभिस्तथारुजः।
स्त्री-शूद्रावास्य-संस्पर्शमात्रेणापि विशुद्ध्यतः॥ ९७॥

याज्ञवल्क्यस्मृतौ—

पाद-क्षालनशेषेण नाचामेद्वारिणा द्विजः।
यद्याचामेत स्रावयित्वा भूमौ बोधायनोऽब्रवीत्॥ ९८॥

भरद्वाजस्मृतौ—

पाणिना दक्षिणेनैव संहताङ्गुलिनाचमेत्।
मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठेन नखस्पृष्टा अपस्त्यजेत्॥

भाषा टीका।

कर तीनवार जलपान अर्थात आचमन करके अंगुष्ठ-मूल से आकुञ्चित मुख दोवार मार्जन करे। प्रथम तीन अंगुलि (तर्जनी अनामा और मध्यमा) इकट्ठी करके वदन-मण्डल स्पर्श करे। फिर अंगुष्ठ और तर्जनी द्वारा नासिका-स्पर्श पूर्वक अंगुष्ठ और अनामा से वारंवार * दोनों नेत्र और दोनों कानों को स्पर्श करे। फिर कनिष्ठा और अंगुष्ठ से नाभिदेश, हथेली से हृदय देश, सब अंगुलियों से मस्तक-प्रदेश और सब अंगुलियों के अग्र-भाग द्वारा दोनों बाहु को स्पर्श करे॥ काशीखण्ड के पूर्वोक्त स्थान में भी इसी प्रकार लिखा है, कि—पूर्व और उत्तर मुख होकर तुष, अंगार, अस्थि और भस्मशून्य विशुद्ध स्थान में भलीभांति बैठकर आचमन करे। ब्राह्मण चंचलता छोड़—शीतल, फेनशून्य, हृदय तक याने की उपयुक्त, देखने से विशुद्ध जल ब्रह्म तीर्थ में लेकर आचमन करे। क्षत्रिय कण्ठ-पर्यन्तगामी जल से, वैश्य तालु-गत जल से एवं नारी-जाति और शूद्र-गण केवल जल का (ओष्ठमें) स्पर्श करके ही शुद्ध हो॥ ९७॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है, कि—ब्राह्मणजाति पैर धोने के बचे हुए जल से आचमन न करे। यदि उस के द्वारा आचमन करे; तो—पृथ्वी में कुछेक जल फेंककर आचमन करे,—बौधायन ने इस प्रकार कहा है॥ ९८॥

भरद्वाज-स्मृति में लिखा है; कि—दक्षिण हस्त को अंगुष्ठ और कनिष्ठा अंगुली छोड़—तीन अंगुली सिकोड़ कर आचमन करना चाहिये। आचमन का जल नख-द्वारा छुआ जाने पर त्याग देवे। कूर्म्म-

* "चक्षुषी नासिके कर्णौ सकृत सकृदुपस्पृशेत्"—यह आपस्तम्ब का बचनानुसार—नेत्र और कर्णद्वय को एक एक बार स्पर्श करना चाहिये। यह श्लोक में "पुनः पुनः" इस शब्द—नेत्रद्वय और कर्णद्वय के अभिप्राय से कहा गया है। (इत्येतत—संशोधकस्य।)

कौर्मे च व्यासगीतायाम्—

भुक्त्वा पीत्वा च सुप्त्वा च स्नात्वा रथ्योपसर्पणे ।
ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥
रेतो-मूत्र-पुरीषाणामुत्सर्गेऽनृतभाषणे ।
ष्ठीवित्वाध्ययनारम्भे काश-श्वासागमे तथा ॥
चत्वरं वा श्मशानं वा समभ्यस्य द्विजोत्तमः ।
सन्ध्ययोरुभयोस्तद्वदाचान्तोऽप्याचमेत् पुनः ॥ ९९ ॥

किञ्च—

शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा मुक्तकच्छशिखोऽपि वा ।
अकृत्वा पादयोः शौचमाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ १०० ॥
सोपानत्को जलस्थो वा नोष्णीषी चाचमेद्बुधः ।
न चैव वर्ष-धाराभिर्हस्तोच्छिष्टे तथा बुधः ॥
नैकहस्तार्पितजलैर्विना सूत्रेण वा पुनः ।
न पादुकासनस्थो वा वहिर्जानुरथापि वा ॥ १०१ ॥

अथ वैष्णवाचमनम् ।—

त्रिः पाने केशवं नारायणं माधवमप्यथ ।
प्रक्षालने द्वयोः पाण्योर्गोविन्दं विष्णुमप्युभौ ॥ १०२ ॥

भाषा टीका

पुराण की व्यासगीता में लिखा है, कि—भोजन के पीछे, पान करने के पीछे, नींद से उठकर, स्नान के पीछे, मार्ग-चलने के पीछे, ओष्ठ-द्वय को निर्लोम स्थान स्पर्श करके, वस्त्र पहिरने के पीछे, मल—मूत्र और शुक्र-त्यागने के पीछे, मिथ्यावाक्य कहने पर खखार त्याग कर, अध्ययन के आरंभ में, खांसी और श्वास के समागम में, चौराहे और श्मशान में पर्यटन करके और दोनों संध्या में—ब्राह्मण-श्रेष्ठ आचमन कर चुकने पर भी पूर्ववत् आचमन करे ॥ ९९ ॥

और भी लिखा है, कि,—मस्तक और कंठ ढक कर अथवा कच्छ और शिखा छोड़ कर वा दोनों चरणों में शौच बिना किये आचमन करने पर भी अपवित्र होता है ॥ १०० ॥

बुद्धिमान् पुरुष पैरों में चर्म-पादुका (जूता) धारण पूर्वक, जल में अवस्थान कर, शिर में डुपट्टा बांधे आचमन न करे। इसी प्रकार विद्वान् पुरुष वृष्टि के धारा-जल से भी आचमन न करे। उच्छिष्ट हाथ से वा एक हाथ से दिये जल द्वारा अथवा यज्ञोपवीतशून्य-हस्त होकर आचमन नहीं करना चाहिये। पादुका के ऊपर बैठ कर अथवा जानुद्वय के बहिर्देश में हस्त रखकर आचमन न करे ॥ १०१ ॥

अनन्तर वैष्णवाचमन। विधिपूर्वक तीनवार आच-मन के समय "केशव" "नारायण" और "माधव" को; दो हाथ धोने के समय "गोविन्द" और "विष्णु"

मधुसूदनमेकञ्च मार्जनेऽन्यं त्रिविक्रमम् ॥ १०३ ॥
उन्मार्जनेऽप्यधरयोर्वामन-श्रीधरावुभौ ॥ १०४ ॥
प्रक्षालने पुनः पाण्योर्हृषीकेशञ्च पादयोः ।
पद्मनाभं प्रोक्षणे तु मूर्द्धञो दामोदरं ततः ॥ १०५ ॥
वासुदेवं मुखे सङ्कर्षणं प्रद्युम्नमित्युभौ ।
नासयोर्नेत्र-युगलेऽनिरुद्धं पुरुषोत्तमम् ।
अधोक्षजं नृसिंहञ्च कर्णयोर्नाभितोऽच्युतम् ॥ १०६ ॥
जनार्द्दनञ्च हृदये उपेन्द्रं मस्तके ततः ।
दक्षिणे तु हरिं वाहौ वामे कृष्णं यथाविधि ॥
नमोऽन्तञ्च चतुर्थ्यन्तमाचामेत् क्रमतो जपन् ॥ १०७ ॥
अशक्तः केवलं दक्षं स्पृशेत कर्ण, तथा च वाक् —
"कुर्व्वीतालभनं वापि दक्षिणश्रवणस्य वै" ॥ १०८ ॥

अथ दन्तधावन-विधिः।

तत्र कात्यायनः—

उत्थाय नेत्रं प्रक्षाल्य शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥

मन्त्रश्चायम्—

"आयुर्वलं यशो वर्च्चः प्रजाः पशु-वसूनि च ।
ब्रह्मप्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वं नो धेहि वनस्पते !" ॥

भाषा टीका ।

को; अधर और ओष्ठ मार्जन के समय "मधुसूदन" और "त्रिविक्रम" को; अधर और ओष्ठ उन्मार्जन के समय "वामन" और "श्रीधर" को; फिर दोनों हाथ धोने के समय "हृषीकेश को; दोनों चरण प्रोक्षण करने के समय "पद्मनाभ को; शिर प्रोक्षण के समय "दामोदर" को; मुख-स्पर्श के समय "वासुदेव" को; नासिका-युगल स्पर्श के समय "सङ्कर्षण" और "प्रद्युम्न" को; दोनों नेत्र-स्पर्श के समय "अनिरुद्ध" और "पुरुषोत्तम" को; दोनों कर्णस्पर्श के समय "अधोक्षज" और "नृसिंह" को; नाभि-स्पर्श के समय "अच्युत" को; हृदय-स्पर्श के समय "जनार्द्दन" को; मस्तकदेश स्पर्श के समय "उपेन्द्र" को; दक्षिण वाहु-स्पर्श के समय "हरि" को और वामवाहु-स्पर्श के समय "श्रीकृष्ण" को—क्रमानुसार चतुर्थीविभक्ति-संयोग और नमः शब्दान्त करके (ओं केशवाय नमः इत्यादि प्रकार) जप-पूर्वक आचमन करे ॥ १०२—१०७॥

रोगादि से असमर्थ होने पर केवलमात्र दक्षिण कान को स्पर्श करना चाहिये। इस विषय में (मार्कण्डेयपुराण में श्रीमदालसोक्त) वचन है—"अथवा असमर्थ व्यक्ति केवल दहिने कान को स्पर्श करे ॥ १०८ ॥

दन्तधावन-विधि।—इस विषय में कात्यायन ने कहा है, कि—नींद से उठ कर मार्जनादिद्वारा

अस्य नित्यता ।

काशीखण्डे—

अथो मुख-विशुद्ध्यर्थं गृह्णीयाद्दन्तधावनम् ।
आचान्तोऽप्यशुचिर्यस्मादकृत्वा दन्तधावनम् ॥

वाराहे च—

दन्त-काष्ठमखादित्वा यस्तु मामुपसर्पति ।
सर्वकाल-कृतं कर्म तेन चैकेन नश्यति ॥

मनुः ।—चतुर्द्दश्यष्टमीदर्शपौर्णमास्यर्क-संक्रमः ।
एषु स्त्री-तैल-मांसानि दन्तकाष्ठानि वर्जयेत् ॥

सम्वर्त्तकः—

आद्ये तिथौ नवम्याश्च क्षये चन्द्रमसस्तथा ।
आदित्यवारे सौरे च वर्जयेद्दन्तधावनम् ॥ १०९ ॥

कात्यायनः—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्याश्च विशेषतः ।
दन्तानां काष्ठ-संयोगो दहत्यासप्तमं कुलम् ॥ ११० ॥

भाषा टीका ।

दोनों नेत्र की उन्मीलन करके फिर पवित्र और एकाग्र-चित्त से मंत्र-जपने के पीछे मंत्र से दतोंन करे । मंत्र यथा—"हे वनस्पते ! तुम मुझ को परमायु, वल, यशः, वर्चः (तेजः) प्रजा (संतान) पशु, धन, ब्रह्म—(वेद) विषयक ज्ञान और मेधा (स्मृति-शक्ति) समर्पण करो"॥

दन्त-धावन की नित्यता ।—काशीखण्ड में लिखा है—इस के पीछे मुख-शुद्धि के लिये दन्त-काष्ठ लावे क्यों कि विना दतोंन किये आचमन करने पर भी अपवित्र रहता है॥ वराहपुराण में भी लिखा है कि—भगवान् वराहदेव ने पृथ्वी से कहा था,—जो मनुष्य विना दतोंन किये मेरी आराधना करता है—उस के उस एक कार्य से ही उस का सर्वकाल-कृत कर्म नाश को प्राप्त होजाता है।

दन्तकाष्ठ—चर्वण का निषिद्ध दिन ।—मनु ने कहा है—चौदश, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा और सूर्य-संक्रमण (संक्रान्ति)—इन सब दिनों में स्त्री-गमन, तेलमलना, मांसभक्षण और दतोंन-चावना वर्जित है ॥ सम्वर्त्तक ने कहा है, कि—पड़वा, नवमी, अमावस्या, रविवार—और शनिवार, इन सब दिनों में दतोंन करना निषिद्ध है ॥ १०९ ॥

कात्यायन ने कहा है—विशेष कर पड़वा अमावस्या और नवमी तिथि में दाँतों में काष्ठ लगाना सातपुरुषपर्यन्त वंश भस्मीभूत कर देता है ॥ ११० ॥

वृद्धवशिष्ठः—

उपवासे तथा श्राद्धे न खादेद्दन्तधावनम्।
दन्तानां काष्ठ-संयोगो हन्ति सप्तकुलानि वै ॥

अन्यत्र च—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्येकादशीरवौ।
दन्तानां काष्ठ-संयोगो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥ १११ ॥

अथ तत्र प्रतिनिधिः।

दिनेष्वेतेषु काष्ठैर्हि दन्तानां धावनस्य तु।
निषिद्धत्वात्तृणैः कुर्य्यात्तथा-काष्ठतरैश्च तत् ॥ ११२ ॥

तथा च व्यासः।—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां दन्तधावनम्।
पर्णैरन्यत्र काष्ठैश्च जिह्वोल्लेखः सदैव हि ॥

पैठीनसिः—

अलाभे वा निषेधे वा काष्ठानां दन्तधावनम्।
पर्णादिना विशुद्धेन जिह्वोल्लेखः सदैव हि ॥ ११३ ॥

अथ तत्रैवापवादः।

काष्ठैः प्रतिपदादौ यन्निषिद्धं दन्तधावनम्।
तृण-पर्णैस्तु तत् कुर्य्यादमामेकादशीं विना ॥ ११४ ॥

भाषा टीका।

वृद्धवशिष्ठ ने कहा है, कि—उपवास के दिन और श्राद्ध के दिन दन्त-काष्ठ चर्वण न करे,—इन इन दिनों में दांतों में काष्ठ-संयोग सात पुरुष ध्वंश करता है ॥ अन्यत्र भी लिखा है, कि—प्रतिपत् अमावस्या, षष्ठी, नवमी, एकादशी, और रविवार,—इन सब दिनों में दांतों में काष्ठ-संयोग, पूर्व कृत पुण्य-ध्वंश कर देता है ॥ १११ ॥

निषिद्ध दिन में दन्तकाष्ठ का प्रतिनिधि,—इन सब दिनों में काष्ठ-द्वारा दन्त-धावन करना निषिद्ध होने पर—तृण, वृक्ष की छाल और पत्तों से दतौन करे ॥ ११२ ॥

इसी कारण व्यास जी ने कहा है—प्रतिपत्, अमावस्या, षष्ठी, नवमी और रविवार—इन सब दिनों में पत्र-द्वारा दतौन करे; किन्तु प्रतिपदादि अतिरिक्त दिनों में काष्ठ द्वारा ही दतौन करे। जीभ को साफ नित्य ही करना चाहिये ॥ पैठीनसि ने कहा है, कि—दन्तकाष्ठ के न मिलने पर अथवा दंत काष्ठ व्यवहार के निषिद्ध दिन में पवित्र पत्र द्वारा दंत-धावन करना चाहिये। किन्तु, निषिद्ध और अनिषिद्ध—सब दिनों में ही जिह्वा-मार्जन करना चाहिये ॥ ११३ ॥

इस विषय में विशेष विधि।—प्रतिपत् इत्यादि तिथि में काष्ठ-द्वारा दन्त-धावन में भी जो निषेध

अतएव व्यासस्य वचनान्तरम् —

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तथा तिथौ।
अपां द्वादशगण्डूषैर्विदध्याद्दन्तधावनम् ॥

काशीखण्डे च तत्रैव।—

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धे वाथ वासरे।
गण्डूषा द्वादश ग्राह्या मुखस्य परिशुद्धये ॥ इति ॥ ११५ ॥

तृण-पर्णादिना केचिदुपवास-दिनेष्वपि।
दन्त-धावनमिच्छन्ति मुख-शोधनतत्पराः ॥

तथा च काशीखण्डे तत्रैव—

मुखे पर्य्युषिते यस्माद्भवेदशुचिभाङ्नरः।
ततः कुर्य्यात् प्रयत्नेन शुद्ध्यर्थं दन्तधावनम् ॥
उपवासेऽपि नो दुष्येद्दन्तधावनमञ्जनम्।
गन्धालङ्कारसद्वस्त्रपुष्पमालानुलेपनम् ॥

अथ दन्त-काष्ठानि।

स्मृतौ।—

सर्वे कण्टकिनः पुण्या आयुर्दाः क्षीरिणः स्मृताः।
कटु-तिक्त-कषायाश्च वलारोग्य-सुख-प्रदाः ॥

भाषा टीका।

लिखा है—वह पत्र द्वारा करना चाहिये। किन्तु, अमावस्या, एकादशी,—इन दो दिनों में तृण-पत्र द्वारा भी दंत धावन न करे ॥ ११४ ॥

अतएव व्यास का वचनान्तर। यथा—दन्तकाष्ठ के अभाव में अथवा दन्त-धावन की निषिद्ध तिथि में वारह गण्डूष (कुल्ला) जल से दंतधावन की विधि निर्दिष्ट है ॥ काशीखण्ड के पूर्वोक्त स्थान में लिखा है, कि—दंत काष्ठ न मिलने पर वा दंत-धावन के निषिद्ध दिन में मुख-शुद्धि के लिये वारह गण्डूष जल लेवे ॥ ११५ ॥

जिन सव मनुष्यों की मुखशोधन-क्रिया अत्यन्त आवश्यक है—ऐसे कोई कोई मनुष्य उपवास के दिन तृणपत्रादि द्वारा दंतधावन की अभिलाष करते हैं ॥ काशीखण्ड के उक्तस्थान में ही इस विषय में लिखा है—जो कि मुख वासी रहने से मनुष्य अशुद्ध होता है—इस कारण विशुद्धि के अर्थ यत्न सहित दंत धावन करे। उपवास के दिन में भी दंत-धावन एवं अञ्जन, विभूषण, उत्तम वस्त्र, कुसुम-माल्य और गंधद्रव्य व्यवहार करने से किसी दोष की आशंका नहीं है।

अनन्तर दन्तकाष्ठ-निरूपण।—स्मृति में लिखा है कि—कंटकयुक्त वृक्ष का दन्तकाष्ठ ही पवित्र है,

किञ्च ।—पलाशानां दन्तकाष्ठं पादुके चैव वर्जयेत् ।
वर्जयेच्च प्रयत्नेन वटं वाश्वत्थमेव च ॥ ११६ ॥

कौर्मे व्यासगीतायाम् —

मध्याङ्गुलिसमस्थौल्यं द्वादशाङ्गुलि-सम्मितम् ।
सत्वचं दन्तकाष्ठं यत् तदग्रे न तु धारयेत् ॥ ११७ ॥

क्षीरि-वृक्षसमुद्भूतं मालतीसम्भवं शुभम् ।
अपामार्गञ्च विल्वं वा करवीरं विशेषतः ॥
वर्जयित्वा निन्दितानि गृहीत्वैकं यथोदितम् ।
परिहृत्य दिनं पापं भक्षयेद्वै विधानवित् ॥
न पाटयेद्दन्तकाष्ठं नाङ्गुल्यग्रेण धारयेत् ।
प्रक्षाल्य भुक्त्वा तज्जह्याच्छुचौ देशे समाहितः ॥ ११८ ॥

काशीखण्डे च तत्रैव —

कनिष्ठाग्रपरीणाहं सत्वचं निर्व्रणं ऋजुम् ।
द्वादशाङ्गुलमानञ्च सार्द्रं स्याद्दन्तधावनम् ॥
जिह्वोल्लेखनिकां वापि कुर्य्याच्चापाकृतिं शुभाम् ॥ ११९ ॥

भाषा टीका ।

क्षीरयुक्त वृक्ष का दन्तकाष्ठ आयु की वृद्धि कर देता है, एवं कटु, तिक्त और कषाय रस-युक्त वृक्ष के काष्ठ से दातोंन करने पर वल, आरोग्य और सुख प्राप्त होता है ॥ और भी लिखा है, कि-पलाश के वृक्ष का दन्तकाष्ठ और पादुका त्यागने योग्य है। वट और पीपल इन दोनों का काष्ठ यत्न सहित वर्जन करना चाहिये ॥ ११६ ॥

कूर्मपुराण की व्यास-गीता में लिखा है कि— जो दन्तकाष्ठ मध्यम अंगुली की समान स्थूल, वारह अंगुली-परिमित और सत्वच (छाल सहित) है, इस से दंतधावन करना चाहिये, परन्तु उसका अग्रभाग न पकड़ कर जड़ की ओर से धारण-पूर्वक अग्र-द्वारा दंतधावन करे ॥ ११७ ॥

क्षीरिवृक्षोत्पन्न, मालतीवृक्षोत्पन्न, अपामार्ग, (चिरचिस) वेल, विशेषतः कनेर यह-सब शुभ है । किन्तु; विधान का जानने वाला मनुष्य निन्दित आक इत्यादि काष्ठ त्याग कर पूर्वोक्त लक्षणयुक्त एक दन्तकाष्ठ ग्रहण करके प्रतिपद् इत्यादि निषिद्ध दिन के अतिरिक्त अन्यान्य दिन में चर्वण करे, दो टुकड़े किया दन्तकाष्ठ ग्रहण न करे, अंगुली के अग्र-द्वारा भी काष्ठ पकड़ना निषिद्ध है, एकाग्रचित्त से दन्तकाष्ठ प्रक्षालन पूर्वक चर्वण करके विशुद्ध स्थान में फेंक देवे ॥ ११८ ॥

काशीखंड के पूर्वोक्त स्थान में लिखा है कि,-कनिष्ठाङ्गुली के अग्रभाग की समान स्थूल, छाल-युक्त, व्रणशून्य, सरल, वारह अंगुल-प्रमाण, आर्द्र (गीली) काष्ठ ही दन्तधावन के उपयुक्त है; इस प्रकार लक्षण-

रामार्चनचन्द्रिकायाञ्च—

दन्तोल्लेखो वितस्त्या भवति परिमिता– "दन्न" मित्यादि मन्त्रात्
प्रातः क्षीर्यादिकाष्ठाद्वट–खदिर–पलाशैर्विनार्काम्रविल्वैः ॥
भुक्त्वा गण्डूष–षट्कं द्विरपि कुशमृते देशिनीमङ्गुलीभि–
र्नन्दाभूताष्टपर्वण्यपि न खलु नवम्यर्कसंक्रान्तिपाते ॥ १२० ॥

अथ केशप्रसाधनादि ।

ततश्चाचम्य विधिवत् कृत्वा केश–प्रसाधनम् ।
स्मृत्वा प्रणवगायत्र्यौ निवध्नीयाच्छिखां द्विजः॥ १२१ ॥

तथा चोक्तम् —

न दक्षिणामुखो नोर्द्ध्वं कुर्य्यात् केश–प्रसाधनम् ।
स्मृत्वोङ्कारञ्च गायत्रीं निवध्नीयाच्छिखां ततः॥ १२२ ॥

अथ स्नानम् ।

विष्णुपुराणे तत्रैव—

नदी–नद–तड़ागेषु देवखात–जलेषु च ।
नित्यक्रियार्थं स्नायीत गिरि–प्रस्रवणेषु च ॥

भाषा टीका ।

युक्त काष्ठ द्वारा ही धनुकाकार शुभ जिह्वा-मार्जनिका करे॥ ११९ ॥

रामार्चनचंद्रिका में लिखा है, कि—सब अंगुलियों से वारह गण्डूष जल मुख में प्रदान करके "सोमो राजा" * इत्यादि मंत्र पाठ–पूर्वक वट, खैर, पलाश, आक, आम, और वेल के अतिरिक्त अपरापर क्षीरि-वृक्षोत्पन्न वारह अंगुल-प्रमाण काष्ठ द्वारा प्रातःकाल में दांतों को मार्जन करे; किन्तु प्रतिपद्, षष्ठी, एकादशी, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा इत्यादि पर्व के दिन; एवं नवमी, रविवार, संक्रान्ति और व्यतीपात योग में दन्तधावन निषिद्ध है॥ १२० ॥

अथ केश-प्रसाधनादि।—इस के उपरान्त ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दन्तधावन (दतोंन) करने के पीछे आचमन-पूर्वक पीछे कहे विधान से केशों को ठीक करके ओंकार और गायत्री स्मरण करते हुए शिखा (चोटी) वंधन करे॥ १२१ ॥

इसी कारण कहा है कि—दक्षिण को मुख करके वा ऊपर को मुख करके केश-प्रसाधन न करे। फिर ओंकार और गायत्री स्मरण करके चुटिया वाँधनी चाहिये॥ १२२ ॥

अनन्तर स्नान।—विष्णुपुराण के पूर्वोक्त स्थान में अर्थात् और्व सगर-सम्वाद में लिखा है कि—नद, नदी, दीर्घिका (तलइया) देवखात और गिरि-

* "सोमो राजा समागमन् स मे मुखं संमार्ज्यते यशसा च भगेन वा"।–यह मंत्र।

कूपेषूद्धृततोयेन स्नानं कुर्वीत वा भुवि ।
स्नायीतोद्धृततोयेन अथवा भुव्यसम्भवे ॥

अथ स्नान-नित्यता ।

तत्र कात्यायनः —

यथाहनि तथाप्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः ।
अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः ।
स्रवत्येव दिवा-रात्रौ प्रातःस्नानं विशोधनम् ॥

दक्षः—

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थ-गृहस्थयोः ।
यतेस्त्रिसवनं स्नानं सकृत्तु ब्रह्मचारिणः ॥ १२३ ॥
सर्वे चापि सकृत् कुर्य्युरशक्तौ चोदकं विना ॥ १२४ ॥

किञ्च —

अशिरस्कं भवेत् स्नानमशक्तौ कर्मिणां सदा ।
आर्द्रेण वाससा वापि पाणिना वापि मार्जनम् ॥

शङ्खश्च —

अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जपादिहवनादिषु ।

भाषाटीका

प्रस्र वण,—इन सब जलों में स्नान करना चाहिये । कलसादि के द्वारा कूप से जल निकाल कर उस से कूप के तट पर स्नान कर सकता है । तट के न मिलने पर उद्धृत शीतल जल से, अथवा इस में असमर्थ होने पर उस उष्णोदक (गरम जल) से स्नान करे ॥

स्नान की नित्यता ।—इस विषय में कात्यायन ने कहा है, कि—अनातुर मनुष्य दिवा-भाग की समान प्रभात में भी नित्य स्नान करे । देह अत्यन्त मलिन और नौ छिद्रों से युक्त है, दिन रात उनसे मल निकलता है । प्रातःस्नान से इस देह की शुद्धि होती है ॥ दक्ष ने कहा है कि—वानप्रस्थ और गृहस्थ प्रभात और मध्याह्न समय में स्नान, यती पुरुष तीनों संध्या में स्नान और ब्रह्मचारी पुरुष केवल एक बार मात्र स्नान करे ॥ १२३ ॥

असमर्थ होने पर सब जनों के पक्ष में ही एकवार स्नान की विधि है । यदि इस में भी असमर्थ हो तो केवल मंत्र-स्नानादि करना चाहिये ॥ १२४ ॥

और भी लिखा है कि—असमर्थ होने पर कर्मी मनुष्य के पक्ष में सर्वकाल ही मस्तक छोड़कर स्नान हो सकता है, गीले वस्त्र वा गीले हाथों से देहमार्जन करने पर भी स्नान संपन्न होता है । शंख ने भी कहा है कि—स्नान के विना मनुष्य जप और होमादि क्रिया में उपयुक्त नहीं होता ॥

कौर्मे श्रीव्यासगीतायाम्—

प्रातःस्नानं विना पुंसां पापित्वं कर्मसु स्मृतम् ।
होमे जपे विशेषेण तस्मात् स्नानं समाचरेत् ॥

काशीखण्डे—

प्रस्वेदलालाद्याक्लिन्नो निद्राधीनो यतो नरः ।
प्रातः स्नानात्ततोऽर्हः स्यान्मन्त्रस्तोत्र-जपादिषु ॥

पाद्मे च देवदूतविकुण्डल-सम्वादे—

स्नानं विना तु यो भुङ्क्ते मलाशी स सदा नरः ।
अस्नायिनोऽशुचेस्तस्य विमुखाः पितृदेवताः ॥
स्नानहीनो नरः पापी स्नानहीनोऽशुचिः सदा ।
अस्नायी नरकं भुक्त्वा पुक्कशादिषु जायते ॥ १२५ ॥

अथ स्नान-माहात्म्यम् ॥

महाभारते उद्योगपर्वणि श्रीविदुरोक्तौ—

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते वलं रूपं स्वरवर्णप्रसिद्धः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्य्यः ॥

पाद्मे च तत्रैव—

याम्यं हि यातनादुःखं नित्यस्नायी न पश्यति ।
नित्यस्नानेन पूयन्ते अपि पापकृतो नराः ॥

भाषाटीका

कूर्मपुराण की व्यासगीता में लिखा है, कि—प्रातः-स्नान के विना मनुष्य की सव कार्य में, विशेषतः जप और होम क्रिया में विशुद्धि की संभावना नहीं है,—इस कारण प्रातःस्नान करे ॥ काशीखण्ड में लिखा है कि—मनुष्य निद्रित अवस्था में अभिभूत होने पर पसीने और लाल इत्यादि के द्वारा क्लेद-विशिष्ट होता है; सुतरां प्रातःस्नान से मंत्र, स्तुति इत्यादि में योग्य हो सकता है ॥ पद्मपुराण के देवदूत विकुण्डल संवाद में लिखा है, कि—जो मनुष्य विना स्नान किये भोजन करता है,—वह सदा मल भोजन करता है, स्नान न करने से वह मनुष्य अपवित्र होता है, एवं उस से पितृगण और देवता-गण विमुख रहते हैं, स्नानरहित मनुष्य पातकी और स्नान रहित मनुष्य सदा अपवित्र है । जो मनुष्य स्नान-हीन है,—वह नरक—यातना भोगने के पीछे पुक्कशादि अन्त्यज—कुल में जन्म लेता है ॥ १२५ ॥

अनन्तर स्नान-माहात्म्य ।—महाभारत के उद्योग-पर्व में श्रीविदुर ने कहा है कि—जो मनुष्य नित्य

प्रातःस्नानं हरेद्वैश्य! सबाह्याभ्यन्तरं मलम्।
प्रातःस्नानेन निष्पापो नरो न निरयं व्रजेत्॥

ये पुनः स्रोतसि स्नानमाचरन्तीह पर्वणि।
ते नैव दुर्गतिं यान्ति न जायन्ते कुयोनिषु॥

दुःस्वप्नं दुष्टचिन्ता च वन्ध्या भवति सर्वदा।
प्रातःस्नान-विशुद्धानां पुरुषाणां विशाम्वर!॥

अत्रिस्मृतौ —

स्नाने मनः-प्रसादः स्याद्देवा अभिमुखाः सदा।
सौभाग्यं श्रीः सुखं पुष्टिः पुण्यं विद्या यशो धृतिः॥

महापापान्यलक्ष्मीश्च दुरितं दुर्विचिन्तितम्।
शोक-दुःखादि हरते प्रातःस्नानं विशेषतः॥ १२६॥

कौर्मे तत्रैव—

प्रातःस्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टकरं हि तत्।
प्रातःस्नानेन पापानि पूयन्ते नात्र संशयः॥

भाषा टीका।

स्नायी है। वल, रूप, कंठस्वर, वर्णोत्तमता, स्पर्श-शक्ति की दक्षता, सुगंध, विशुद्धिता, शोभा, सुकुमारता, और उत्तमस्त्री,—यह दशगुण उस को भजन करते हैं॥ पद्मपुराण के पूर्वोक्त स्थान मे अर्थात देवदूतविकुण्डल-सम्वाद में लिखा है कि—नित्य स्नान करने वाले मनुष्य को कभी यम-यातना-जनित क्लेश भोगना नहीं पड़ता। अधिक क्या;— पातकी मनुष्य नित्य स्नान द्वारा विशुद्धि लाभ करता है। हे वैश्य! प्रातःस्नान से वाहर और भीतर का मल नष्ट होता है। प्रातःस्नान से मनुष्य निर्मलता लाभ करता है, और उस को नरक में जाना नहीं पड़ता। जो पर्व के दिन स्रोत के जल में स्नान करता है, उस को कभी दुर्गति प्राप्त नहीं होती, और वह कदापि अनेक प्रकार की कुयोनियों में भी उत्पन्न नहीं होता। हे वैश्योत्तम! जो प्रातः स्नान से पवित्र होता है—उस के समीप दुःस्वप्न और दुश्चिन्ता सदा निष्फल होती है॥ अत्रिस्मृति में भी कहा है कि—स्नान करने से मन में प्रसन्नता उत्पन्न होती है, देवता सदा सन्मुख रहते हैं; एवं सौभाग्य, श्री, सुख, पुष्टि, पुण्य, विद्या, यश, और धृति प्राप्त होती है। विशेष कर प्रातःस्नान महापाप-समूह, अलक्ष्मी, पाप, दुश्चिन्ता और शोक-दुःखादि दूर करता है॥ १२६॥

कूर्मपुराण की व्यास-गीता में लिखा है कि—बुद्धिमान् प्रातःस्नान की प्रशंसा करते हैं, क्यों कि—वह ऐहिक और आमुष्मिक शुभकारी है। प्रातः-स्नान द्वारा पातक-पुंज ध्वंश होते हैं,—इस में संदेह नहीं॥

काशीखण्डे च—

प्रातःस्नानादूयतः शुध्येत् कायोऽयं मलिनः सदा ।
छिद्रितो नवभिश्छिद्रैः स्रवत्येव दिवानिशम् ॥

उत्साह-मेधा-सौभाग्य-रूप-सम्पत्-पवर्त्तकम् ।
मनः-पसन्नताहेतु प्रातःस्नानं प्रशस्यते ॥

प्रातः प्रातस्तु यत् स्नानं संजाते चारुणोदये ।
प्राजापत्य-समं प्राहुस्तन्महाघ-विघातकृत् ॥

प्रातःस्नानं हरेत् पापमलक्ष्मीं ग्लानिमेव च ।
अशुचित्वञ्च दुःस्वप्नं तुष्टिं पुष्टिं प्रयच्छति ॥

नोपसर्पन्ति वै दुष्टाः प्रातःस्नायिजनं क्वचित् ।
दृष्टादृष्ट-फलं तस्मात् प्रातःस्नानं समाचरेत् ॥

स्नानमात्रं तथा प्रातःस्नानं चात्र नियोजितम् ।
यद्यप्यन्योन्यमिलिते पृथक् ज्ञेये तथाप्यमू ॥ १२७ ॥

अथ स्नान-विधिः ।

अथ तीर्थं गतस्तत्र धौतवस्त्रं कुशांस्तथा ।
मृत्तिकाश्च तटे न्यस्य स्नायात् स्व-स्व-विधानतः ॥

अधौतेन तु वस्त्रेण नित्यनैमित्तिकीं क्रियाम् ।
कुर्वन्न फलमाप्नोति कृता चेन्निष्फला भवेत् ॥

भाषा टीका ।

काशीखण्ड में भी लिखा है,-यह देह सदा मलिन और नव छिद्रों से छिद्रित है, दिन रात इन छिद्रों से मल टपकता है, अतएव प्रातःस्नान से उत्साह, मेधा, सौभाग्य, रूप और सम्पत्ति-यह सब उत्पन्न होते हैं, और प्रातःस्नान चित्त-प्रसन्न करने का हेतु है,—इसी कारण वह प्रशंसनीय है। मनीषि-गण कहते हैं कि—नित्य प्रभात में अरुणोदय के समय जो स्नान है-वह प्राजापत्य व्रत की समान महापापों का हरने वाला है। प्रातःस्नान पाप, अलक्ष्मी, ग्लानि, अपवित्रता और दुःस्वप्न नष्ट करता है, और तुष्टि तथा पुष्टि विधान करता है। कोई दुष्ट ही कभी प्रातःस्नान करने वाले मनुष्य के निकटवर्ती नहीं हो सकता। प्रातःस्नान ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकार शुभ फल ही प्रदान करता है, अतएव प्रातःस्नान करना कर्त्तव्य है। इस प्रकरण में स्नान मात्र की और प्रातःस्नान की विधि निर्दिष्ट हुई। दोनों एक होने पर भी भेद परस्पर जानना चाहिये अर्थात् सामान्य स्नान की अपेक्षा प्रातःस्नान की अधिकता है ॥ १२७ ॥

अनन्तर-स्नान की विधि।—फिर तीर्थ में जाय धुले वस्त्र, कुश और मृत्तिका तट पर रखकर अपने अपने वर्णाश्रम शाखादि के आचारानुसार स्नान

धौताङ्घ्रिपाणिराचान्तः कृत्वा सङ्कल्पमादरात् ।
गङ्गादि-स्मरणं कृत्वा तीर्थायार्घ्यं समर्पयेत् ।—
"सागरस्वननिर्घोष ! दण्डहस्तासुरान्तक !
जगत्स्रष्ट-! जगन्मर्द्दिन् ! नमामि त्वां सुरेश्वर !"
इमं मन्त्रं समुच्चार्य तीर्थ-स्नानं समाचरेत् ।
अन्यथा तत्फलस्यार्द्धं तीर्थेशो हरति स्वयम् ॥
नत्वाथ तीर्थं स्नानार्थमनुज्ञां प्रार्थयेदिमाम् ।—
"देव-देव ! जगन्नाथ ! शङ्ख-चक्र-गदा-धर !
देहि विष्णो ! ममानुज्ञां तव तीर्थ-निषेवणे" ॥ इति ॥ १२८ ॥
विधिवन्मृदमादाय तीर्थ-तोये प्रविश्य च ।
प्रवाहाभिमुखो नद्यां स्यादन्यत्रार्कसंमुखः ॥
दिग्बन्धं विधिनाचर्य्य तीर्थानि परिकल्प्य च ।
आवाहयेद्भगवतीं गङ्गामादित्य-मण्डलात् ।
दर्भपाणिः कृतप्राणायामः कृष्ण-पदाम्बुजम् ।
ध्यात्वा तन्नाम संकीर्त्त्य निमज्जेत् पुण्यवारिणि ॥
आचम्य मूलमन्त्रञ्च सप्राणायामकं जपन् ।
कृष्णं ध्यायन् जले भूयो निमज्ज्य स्नानमाचरेत् ॥
कृत्वाघमर्षणान्तञ्च नामाभिः केशवादिभिः ।
तत्र द्वादशधा तोये निमज्ज्य स्नानमाचरेत् ॥ १२९ ॥

भाषा टीका ।

करे । विना धुले वस्त्र पहर कर नित्य नैमित्तिकी क्रिया करने से फल प्राप्त नहीं होता, करने से वह विफल होती है। पैर और हाथ धोकर आचमन पूर्वक सादर संकल्प और गंगादिका स्मरण करता हुआ तीर्थ को अर्घ्य समर्पण करे । " हे समुद्र के शब्द की समान भीमघोषशालिन् ! हे दण्डहस्त ! हे असुरनाशक ! हे जगत् को उत्पन्न करने वाले ! हे जगन्मर्दिन् ! हे देवताओं के ईश्वर ! तुम को नमस्कार है"—यह मंत्र पढ़कर तीर्थ में स्नान करे, अन्यथा तीर्थाधिपति स्वयं उस फल का आधा अंश हरण करते हैं। फिर तीर्थ को नमस्कार पूर्वक स्नान के निमित्त (वक्ष्यमाण रीति से) आज्ञा की प्रार्थना करे,—" हे देवदेव! हे जगन्नाथ ! हे शंख-चक्र-गदाधर ! हे विष्णो ! अपने तीर्थ-सेवन में मुझ को आज्ञा दो " ॥ १२८ ॥

फिर यथाविधि मृत्तिका-ग्रहणपूर्वक गात्र में लगाय तीर्थ के जल में घुसे और नदी में प्रवाह की ओर अवस्थिति करे, अन्यत्र अर्थात् नदी प्रवाह के अतिरिक्त जलाशय में सूर्य की ओर को मुख करके स्थित रहना चाहिये । यथाविधि दिग्बंधन और तीर्थ की कल्पना करके आदित्य-मण्डल से

तत्र विशेषः।

श्रीनारदपञ्चरात्रे—

प्रसिद्धेषु च तीर्थेषु यद्यन्यान्याभिधां स्मरेत्।
स्नातकं तन्तु तत्तीर्थमभिशप्य क्षणाद्व्रजेत् ॥ इति ॥
इति वैदिकतान्त्रिक-मिश्रितो विधिः ॥ १३० ॥

अथ तत्रैव विशेषः; पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीनारदाम्बरीषसम्वादे—

एवमुच्चार्य तत्तीर्थे पादौ प्रक्षाल्य वाग्यतः।
स्मरन्नारायणं देवं स्नानं कुर्याद्विधानतः ॥
तीर्थं प्रकल्पयेद्धीमान् मूलमन्त्रमिमं पठन्।—
"ओं नमो नारायणाये"-ति मूलमन्त्र उदाहृतः ॥
दर्भपाणिस्तु विधिवदाचान्तः प्रणतो भुवि।
चतुर्हस्तसमायुक्तं चतुरस्रं समन्ततः ॥
प्रकल्प्यावाहयेद्‌गङ्गां मन्त्रेणानेन मानवः।—
"विष्णु-पादप्रसूतासि वैष्णवी विष्णुदेवता।
त्राहि नस्त्वेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात् ॥ इत्यादि ॥
सप्तवाराभिजप्तन्तु करसंपुटयोजितम्।

भाषा टीका।

भगवती गंगा का आवाहन करे। कुशा हाथ में ले प्राणायाम-पूर्वक श्रीकृष्ण के चरण कमलों की चिन्ता और उनके नाम-कीर्त्तन करके विशुद्ध जल में निमग्न होना चाहिये। तदनन्तर आचमन के पीछे प्राणायाम करके मूलमंत्र का जप करे, और श्रीकृष्ण की चिन्ता करके पुनर्वार जल में निमग्न हो स्नान करे। फिर अघमर्षणान्त सब कार्य समाप्त करके उस जल में केशवादि द्वादश नामों से ("केशवाय नमः" इत्यादि प्रकार से) मग्न होकर बारह बार स्नान करनाँ चाहिये ॥ १२९ ॥

वह स्नान में विशेष—श्रीनारदपंचरात्र में लिखा है कि—प्रसिद्ध प्रसिद्ध तीर्थों में अन्य तीर्थ का नाम स्मरण करने से वह वह तीर्थ, स्नान करने वाले को शाप देकर तत्काल चले जाते हैं ॥ यह स्नान का विधान-वैदिक और तान्त्रिक,-दोनों प्रणाली-मिश्रित है, अर्थात् स्नान के पहिले मृत्तिका-ग्रहण और फिर अघमर्षणादि-क्रिया;—यही वैदिक विधि है, और श्रीकृष्ण का ध्यानादि मूलमंत्र—जप, केशवादि नामों का उच्चारण करके बारह बार स्नान इसी को तांत्रिक विधि जानना चाहिये ॥ १३० ॥

इस स्नान के विषय में और भी विशेष है, यथा—पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में श्रीनारदाम्बरीष संवाद में लिखा है, कि—इस प्रकार "देवदेव जगन्नाथ" इत्यादि उच्चारण करके तीर्थ में दोनों चरण धोय और वाक्य संयम कर नारायण का स्मरण करता

मूर्द्ध्नि कृत्वा जलं भूयश्चतुर्वा पञ्च सप्त वा ।
स्नानं कुर्य्यान्मृदा तद्वदामन्त्र्य तु विधानतः ॥
"अश्वक्रान्ते ! रथक्रान्ते ! विष्णुक्रान्ते ! वसुन्धरे !
मृत्तिके ! हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥
उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतवाहुना ।
नमस्ते सर्वभूतानां प्रभवारिणि ! सुव्रते !" ॥ इति ॥ १३१ ॥
गुरोः सन्निहितस्याथ पित्रोश्च चरणोदकैः ।
विप्राणाञ्च पदाम्भोभिः कुर्य्यान्मूर्द्ध्न्यभिषेचनम् ॥

तथा च पाद्मे—

गुरोः पादोदकं पुत्र ! तीर्थकोटि-फलप्रदम् ।

किञ्च—

विप्र-पादोदकक्लिन्नं यस्य तिष्ठति वै शिरः ।
तस्य भागीरथी-स्नानमहन्यहनि जायते ॥

तथा अन्यत्र—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे ।
ससागराणि तीर्थानि पादे विप्रस्य दक्षिणे ॥ इति ॥ १३२ ॥

भाषा टीका ।

हुआ यथाविधि स्नान करे। बुद्धिमान् पुरुष (वक्ष्यमाण) मूलमंत्र उच्चारण कर तीर्थ-कल्पना करे। "ओं नमो नारायणाय"-यह मूलमंत्र है । दर्भपाणि हो अर्थात हाथ में कुशा लेकर यथाविधि आचमन करने के पीछे पृथ्वी में प्रणाम करे। फिर चारों ओर चार हाथ की वरावर चतुष्कोण अंकित कर (वक्ष्यमाण) मंत्रोच्चारण सहित गंगा को आवाहन करे । तुम विष्णु के चरणों से उत्पन्न हो, तुम्ही वैष्णवी शक्ति हो, विष्णु ही तुम्हारे देवता हैं, अतएव जन्म से लेकर मृत्युकाल तक हमारे जो कुछ पाप इकट्ठे हों; तुम उन से हमको उद्धार करो,—(इस मंत्र से आवाहन करना चाहिये ॥ फिर करसंपुट में जल लेकर पूर्वोक्त "ओं नमो नारायणाय" यह मंत्र से सातवार अभिमंत्रित करके चारवार, पांचवार अथवा सातवार मस्तक पर छिड़क कर फिर स्नान करे । यथाविधि आवाहन करने के पीछे,—"हे वसुन्धरे ! तुम अश्व द्वारा आक्रान्त, रथकर्त्तृक आक्रान्त और विष्णु से आक्रान्त हो, हे मृत्तिके ! मैंने जो सब पातक किये हैं, तुम मेरे किये वह सब पातक दूर करो । हे सुव्रते ! शतवाहु वराहरूपी हरि ने तुम्हारा पाताल के भीरत से उद्धार किया है, तुम समस्त प्राणियों के जन्म का दूर करने वाली हो,-तुम को नमस्कार करता हूं" —(इस मंत्र से मृत्तिका द्वारा अङ्ग का लेपन करे) ॥ १३१ ॥

फिर गुरुजनों के समीप विद्यमान होने पर गुरु और पिता माता के चरणामृत द्वारा और ब्राह्मण के चरणोदक से मस्तक-प्रदेश अभिषिक्त करे । पद्मपुराण में लिखा है कि—हे वत्स ! गुरु का

शङ्खे वसान्ति सर्वाणि तीर्थानि च विशेषतः ।
शङ्खेन मूलमन्त्रेणाभिषेकं पुनराचेरत ॥ १३३ ॥
तथैव तुलसीमिश्रशालग्राम-शिलाम्भसा ।
अभिषेकं विदध्याच्च पीत्वा तत् किञ्चिदग्रतः ॥

तदुक्तं गौतमीयतन्त्रे—

शालग्रामशिला-तोयं तुलसी-गन्धमिश्रितम् ।
कृत्वा शङ्खे भ्रामयंस्त्रिः प्रक्षिपेन्निज-मूर्द्धनि ॥
शालग्रामशिला-तोयमपीत्वा यस्तु मस्तके ।
प्रक्षेपणं प्रकुर्व्वीत ब्रह्महा स निगद्यते ॥
विष्णु-पादोदकात् पूर्वं विप्र-पादोदकं पिवेत् ।
विरुद्धमाचरन्मोहात् ब्रह्महा स निगद्यते ॥

श्रीचरणामृतधारण-मन्त्रः —

"अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधि-विनाशनम् ।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयाम्यहम्" ॥ इति ॥ १३४ ॥
लेख्योऽग्रे कृष्ण-पादाब्जतीर्थ-धारण-पानयोः ।
महिमात्र तु तत्तीर्थेनाभिषेकस्य लिख्यते ॥ १३५ ॥

भाषा टीका ।

चरणामृत करोड़ तीर्थों का फल देने वाला होता है। और भी लिखा है कि-ब्राह्मण के चरणामृत से जिस मनुष्य का शिर भीजता है—उस को नित्य गंगा-स्नान का फल होता है ॥ गौतमीयतंत्र में भी कहा है कि—पृथ्वी में जो सब तीर्थ है—वह सभी समुद्र में अधिष्ठित और समुद्र के सहित संपूर्ण तीर्थ ब्राह्मण जाति के दक्षिण पैर में अवस्थित है ॥१३२॥

फिर निज-मूलमंत्र पढ़ कर पुनर्वार शंखद्वारा स्नान करे, क्यों कि,—शंख में सभी तीर्थ अधिष्ठान करते हैं ॥ १३३ ॥

इस प्रकार शालग्राम शिला के तुलसीसंयुक्त जल कुछ अंश प्रथम पीकर उससे अभिषेक करे॥ यही विषय गौतमीय तंत्र में भी लिखा है कि—शंख में तुलसीगंधसंयुक्त शालग्रामशिला का जल-स्थापन पूर्वक तीनवार घुंमाय अपने मस्तक पर डाले । पहिले शालग्राम-शिला का जल विना पिये मस्तक पर डालने से वह पुरुष ब्रह्मघाती कहा जाता है । विष्णु-पादोदक के पहले ब्राह्मण का चरणामृत ग्रहण करना चाहिये । मोह के वश हो इस के अन्यथा करने से ब्रह्मघाती कहा जाता है।

चरणामृत के धारण का मन्त्र ।—"जो अकाल मृत्यु हरण करता है, जिस के द्वारा समस्त व्याधि नष्ट होती हैं, मैं वही विष्णु का चरणामृत पीकर मस्तक में धारण करता हूं,—यही चरणामृतधारण का मन्त्र है ॥ १३४ ॥

और उसके पान करने का माहात्म्य पीछे लिखा जायगा, अब यहां उस चरणामृत से स्नान करने का माहात्म्य प्रकट किया जाता है ॥१३५॥

अथ श्रीचरणोदकाभिषेक-माहात्म्यम् ।

पद्मपुराणे—

स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
शालग्रामशिला-तोयैर्योऽभिषेकं समाचरेत् ॥
गङ्गा-गोदावरी-रेवा-नद्यो मुक्तिप्रदास्तु याः ।
निवसन्ति सतीर्थास्ताः शालग्रामशिला-जले ॥
कोटितीर्थ-सहस्रैस्तु सेवितैः किं प्रयोजनम् ।
तीर्थं यदि भवेत् पुण्यं शालग्रामशिलोद्भवम् ॥

तत्रैव श्रीगौतमाम्बरीष-सम्वादे—

येषां धौतानि गात्राणि हरेः पादोदकेन वै ।
अम्बरीष ! कुले तेषां दासोऽस्मि वशगः सदा ॥
राजन्ते तानि तावच्च तीर्थानि भुवन-त्रये ।
यावन्न प्राप्यते तोयं शालग्रामाभिषेकजम् ॥

स्कान्दे कार्त्तिक-माहात्म्ये—

गृहेऽपि वसतस्तस्य गङ्गास्नानं दिने दिने ।
शालग्रामशिला-तोयैर्योऽभिषिञ्चति मानवः ॥

भाषा टीका ।

श्रीचरणोदकाभिषेक-माहात्म्य ।--पद्मपुराण में लिखा है कि--जो पुरुष शालग्रामशिला के स्नानजल से अभिषिक्त होता है,—उसी को सब तीर्थों में स्नात और सब यज्ञों में दीक्षित जानना चाहिये । गंगा, गोदावरी, रेवा इत्यादि जो सब नदी मुक्ति की देने वाली कहकर प्रसिद्ध हैं, वे सभी अपने अधिष्ठातृदेवताओं सहित शालग्रामशिला के स्नानोदक में अधिष्ठान करती हैं । शालग्रामशिलोद्भव विशुद्ध जल प्राप्त होने पर अन्य हजारों करोड़ों तीर्थों का सेवा की क्या आवश्यकता है ? ॥ इसी पद्मपुराण के गौतमाम्वरीष-सम्वाद में लिखा है कि—हे अम्वरीष ! जिसका देह हरि के चरणामृत से धुलता है; मैं उसके वंश में सदा वशीभूत दास रूप से अवस्थान करता हूं । जव तक शालग्राम-शिला का स्नानोदक न मिले,—तव तक ही त्रि-भुवन में सब तीर्थ अपना माहात्म्य प्रकाश करते हैं ॥ स्कन्दपुराण के कार्त्तिक-माहात्म्य में लिखा है—जो पुरुष प्रतिदिन शालग्रामशिला के स्नानोदक से अभिषिक्त होता है,—वह घर में स्थित रहने पर भी नित्य उसका गंगास्नान होता है । स्कन्दपुराण के अन्यस्थान में भी लिखा है कि—जगत में जो कोई तीर्थ विद्यमान हैं, और ब्रह्मादिक—जितने देवता हैं—वह विष्णु-चरणोदक के सोलह वें अंश के एक अंश की समान भी नहीं हो सकते । शालग्राम-शिलोद्भव देव और द्वारकाशिलोद्भव देव—इन दोनों के स्नानोदक से ब्रह्महत्या नष्ट होती है । और भी लिखा है कि—जो पुरुष शंख में विष्णु का चरणा-

तत्रैवान्यत्र च —

यानि कानि च तीर्थानि ब्रह्माद्या देवतास्तथा ।
विष्णु-पादोदकस्यैते कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥
शालग्रामोद्भवो देवो देवो द्वारवती-भवः ।
उभयोः स्नान-तोयेन ब्रह्महत्या निवर्त्तते ॥

किञ्च—

स वै चावभृथस्नातः स च गङ्गा-जलाप्लुतः।
विष्णु-पादोदकं कृत्वा शङ्खे यः स्नाति मानवः ॥

श्रीनृसिंहपुराणे—

गङ्गा-प्रयाग-गय-नैमिष-पुष्कराणि पुण्यानि यानि कुरुजाङ्गल-यामुनानि।
कालेन तीर्थ-सलिलानि पुनन्ति पापं पादोदकं भगवतः प्रपुणाति सद्यः ॥

स्मृतौ च—

त्रिरात्रिफलदा नद्यो याः काश्चिदसमुद्रगाः ।
समुद्रगाश्च पक्षस्य मासस्य सरितां पतिः ॥
षण्मासफलदा गोदा वत्सरस्य तु जाह्नवी ।
पादोदकं भगवतो द्वादशाव्द-फलप्रदम् ॥ १३६ ॥

तन्नित्यता च ।

गरुड़पुराणे—

जलञ्च येषां तुलसीविमिश्रितं पादोदकं चक्रशिला-समुद्भवम् ।
नित्यं त्रिसन्ध्यं प्लवते न गात्रं खगेन्द्र ! ते धर्मवहिष्कृता नराः ॥ इति ॥

भाषा टीका ।

भृत रख कर उससे अभिषिक्त होता है,—उसको अवभृतस्नात और गंगाजलसिक्त कहा जाता है ॥ नृसिंहपुराण में लिखा है कि—गंगा, प्रयाग, गया, नैमिष, पुष्कर, कुरुजांगल इत्यादि जो सब पुण्य तीर्थ हैं—समय पर वह सब तीर्थ-जल पातक दूर कर देते हैं। किन्तु भगवान् विष्णु का चरणोदक सद्य (तत्क्षण) पवित्र करता है ॥ स्मृति में भी लिखा है कि—जिन सब नादियों का समुद्र के सहित संगम नहीं है—उनके जल में एक दिन स्नानकरने पर, वह तीनदिवसकृत स्नान का फल प्रदान करतीं है । जिनका समुद्र से संगम हुआ है—उनके जल में एक दिन स्नान करने से पक्षकृत (पंद्रह दिन के किये) स्नान का फल होता है। सागर में एक दिन स्नान करने से वह एक मास-कृत स्नान का फल देता है । गोदावरी में एक दिन स्नान करने से—षण्मासकृत (छै महीने के किये) स्नान का फल देती है। गंगा में एक दिन स्नान करने से—वह वर्षकृत स्नान का फल देती हैं, किन्तु भगवान् के चरणोदक में स्नान करने से वह बारह वर्ष किये स्नान का फल देता हैं ॥१३६॥

श्रीकृष्ण के चरणोदक द्वारा स्नान की नित्यता

ततो जलाञ्जलीन् क्षिप्त्वा मूर्द्ध्नि त्रीन् कुम्भमुद्रया।
मूलेनाथ विशेषेण कुर्य्याद्देवादितर्पणम् ॥ १३७॥

अथ सामान्यतोदेवादि-तर्पणम्।

तच्च वैदिकेषु प्रसिद्धमेव—

ब्रह्मादयो ये देवास्तान् देवान् तर्पयामि, भूर्द्देवांस्तर्पयामि,
स्वर्द्देवांस्तर्पयामि, भुर्भुवः स्वर्द्देवांस्तर्पयामि ॥ इत्यादि ॥ १३८॥
आचम्याङ्गानि संमार्ज्य स्नानवस्त्रान्यवाससा।
परिधायांशुके शुक्ले निविश्याचमनं चरेत् ॥ १३९॥
विधिवत् तिलकं कृत्वा पुनश्चाचम्य वैष्णवः।
विधाय वैदिकीं सन्ध्यामथोपासीत तान्त्रिकीम् ॥ १४०॥

अथ वैदिकी सन्ध्या।

कौर्मे तत्रैव—

प्राक्कूलेषु ततः स्थित्वा दर्भेषु सुसमाहितः।
प्राणायाम-त्रयं कृत्वा ध्यायेत् सन्ध्यामिति श्रुतिः॥

भाषा टीका।

गरुड़पुराण में लिखा है कि—हे खगपते! तुलसी मिश्रित शालग्रामशिलोद्भव पादोदक द्वारा जिन मनुष्यों का अंग तीनों संध्याओं में अभिषिक्त नहीं होता, वे सब धर्मों से बहिष्कृत हैं,—फिर मूलमंत्र उच्चारण के साहित कुंभमुद्रा * की सहायता से तीनवार शिर में जलाञ्जलि देकर विशेष रूप से देवादि का तर्पण करे॥ १३७॥

सामान्यतः देवादितर्पण (१)।—यह तर्पण वेदाचारी सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। तर्पण-यथा।—"ब्रह्मादि-देवताओं का तर्पण करता हूं, भूर्लोक में स्थित देवताओं का तर्पण करता हूं, भुवर्लोक में स्थित-देवताओं का तर्पण करता हूं, स्वर्लोक में स्थित देवताओं का तर्पण करता हूं, भूर्भुवःस्वर्लोकस्थ देवताओं का तर्पण करता हूं।" (इत्यादि मंत्र से तर्पण करे)॥ १३८॥

फिर पहिले तो आचमन पूर्वक जो वस्त्र पहर कर स्नान किया है उसके अतिरिक्त दूसरे वस्त्र (२) से अंगमार्जन करके शुभ्र वस्त्र और दुपट्टा ग्रहण कर बैठने के पीछे आचमन करे॥ १३९॥

विष्णुभक्त मनुष्य (वक्ष्यमाण) विधान से तिलक करके फिर आचमन पूर्वक वैदिकी संध्या और इसके उपरान्त तान्त्रिकी संध्या का अनुष्ठान करे॥ १४०॥

अनन्तर वैदिकी संध्या।— कूर्मपुराण की व्यास

* कुंभमुद्रा।—बाँये अँगूठे के संग दहिने अँगूठे को संलग्न कर दोनों हाथों की इस प्रकार मुट्ठी बाँधे जो उसके बीच में खाली रहे।

(१) देवादि शब्द के कहने से ऋषिगण और पितृगण को समझना चाहिये। अर्थात् भूर्ऋषिं स्तर्पयामि, भुवर्ऋषींस्तर्पयामि, इत्यादि, और सोमः पितृमान्यमोऽङ्गिरोऽग्निष्वात्ताः कव्यवाहनादयोये पितरस्तान् पितॄंस्तर्पयामि इत्यादि प्रकार से तर्पण करना चाहिये।

[२] इसके द्वारा समझा जाता है कि वस्त्र के अंचल भाग से अथवा केवल मात्र हाथ से अंग मार्जन न करें।

या च सन्ध्या जगत्सूतिर्मायातीता हि निष्कला।
ऐश्वरी केवला शक्तिस्तत्त्वत्रयसमुद्भवा ॥
ध्यात्वार्क-मण्डलगतां सावित्रीं तां जपेद्बुधः।
प्राङ्मुखः सततं विप्रः सन्ध्योपासनमाचरेत् ॥ १४१ ॥

किञ्च—

सहस्रपरमां नित्यं शतमध्यां दशावराम्।
सावित्रीं वै जपेद्विद्वान् प्राङ्मुखः प्रयतः स्थितः ॥ १४२ ॥

किञ्च—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते किञ्चिन्न तस्य फलमाप्नुयात् ॥
योऽन्यत्र कुरुते यत्नं धर्मकार्ये द्विजोत्तमः।
विहाय सन्ध्या-प्रणतिं स याति नरकायुतम् ॥ १४३ ॥
अनन्यचेतसः शान्ता ब्राह्मणा वेदपारगाः।
उपास्य विधिवत् सन्ध्यां प्राप्ताः पूर्वे परां गतिम् ॥ १४४ ॥

अथ तान्त्रिकी सन्ध्या।

ततः संपूज्य सलिले निजां श्रीमन्त्रदेवताम्।
तर्पयेद्विधिना तस्य तथैवावरणानि च ॥

भाषा टीका।

गीता में लिखा है कि—इसके पीछे पूर्वाग्र कुशा पर सावधान चित्त से बैठ तीनवार प्राणायाम के पीछे संध्या करे,—यही श्रुति का वाक्य है। जो संध्या जगत् को उत्पन्न करने वाली, माया से पर, निष्कल, (पूर्णस्वरूप) तीन तत्व से उत्पन्न, केवला (विशुद्धा) ऐश्वरी-शक्ति है। ब्राह्मण पूर्वमुख हो सूर्य-मण्डलगता गायत्री का जप-पूर्वक नित्य संध्योपासना करे॥ १४१॥

और भी लिखा है कि—विद्वान् पुरुष एकाग्र-चित्त से पूर्वमुख बैठकर सावित्री का जप करे। सहस्र संख्यक जप—श्रेष्ठ, शतसंख्यक जप—मध्यम और दशवार गायत्री का जप—अधम है॥ १४२॥

और भी कहा है कि—संध्याहीन होने पर वह मनुष्य सर्वदा ही अपवित्र है, नित्यनैमित्तिकी क्रिया में उसका अधिकार नहीं है, और विना संध्या किये दूसरा जो कार्य किया जाय वही निष्फल होता है। संध्योपासन विना किये जो ब्राह्मण अन्य धर्म क्रिया का परिश्रम करता है—वह देह त्यागने के पीछे दश हजार नरकों में भ्रमण करता है॥ १४३॥

अनन्यचित्तवाले, शान्त, वेददर्शी, प्राचीन ब्राह्मण-गण विधि-पूर्वक केवलमात्र संध्या की उपासना करके ही उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं॥ १४४॥

तान्त्रिकी संध्या।—इसके पीछे भली भांति जल में अपने मंत्र देवता की पूजा करके तदीय आव-

तथा च वौधायनस्मृतौ—

हविषाग्नौ जले पुष्पैर्ध्यानेन हृदये हरिम् ।
अर्चन्ति सूरयो नित्यं जपेन रवि-मण्डले ॥

पाद्मे च तत्रैव—

सूर्य्ये चाभ्यर्हणं श्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।

अथ तद्विधिः ।

मूलमन्त्रमथोचार्य्य ध्यायन् कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजे ।
"श्रीकृष्णं तर्पयामी-" ति त्रिः सम्यक् तर्पयेत् कृती ॥
ध्यानोद्दिष्टस्वरूपाय सूर्य-मण्डलवर्त्तिने ।
कृष्णाय कामगायत्र्या दद्यादर्घ्यमनन्तरम् ॥ १४५ ॥

कामगायत्री चोक्ता ।

श्रीसनत्कुमारकल्पे —

आदौ मन्मथमुद्धृत्य कामदेवपदं वदेत् ।
आयान्ते विद्महे पुष्पवाणायेति पदं वदेत् ॥
धीमहीति तथोक्त्वाथ तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात् ॥ इति ॥ १४६ ॥
अथार्क-मण्डले कृष्णं ध्यात्वैतां दशधा जपेत् ।
"क्षमस्वे"ति तमुद्वास्य दद्यादर्घ्यं विवस्वते ॥ १४७ ॥

भाषाटीका

रण देवताओं का भी यथाविधि तर्पण करे । वौधायनस्मृति में लिखा है कि—ज्ञानवान् मनुष्य घृत द्वारा अग्नि में, पुष्पद्वारा जल में, ध्यानद्वारा हृदय मंदिर में और जपद्वारा आदित्य-मण्डल में हरि की पूजा करें ॥ पद्मपुराण के पूर्वोक्त स्थान में लिखा है कि—आदित्य-मण्डल में ही पूजा श्रेष्ठ है, और जल में जल-द्वारा ही पूजा करनी चाहिये।

तांत्रिकी संध्या की विधि।—कृती मनुष्य मूल-मंत्रोच्चारणसहित श्रीकृष्ण के चरणकमलों की चिन्ता करके " श्रीकृष्णं तर्पयामि " यह कहकर तीन बार भलीभांति तर्पण करे। फिर ध्यान की सहायता से जिनके स्वरूप का उद्देश किया गया है, आदित्य मण्डलान्तर्गत उन कृष्ण को कामगायत्री पढ़के अर्घ्य देना चाहिये ॥ १४५ ॥

कामगायत्री ।—सनत्कुमारकल्प में लिखा है कि-प्रथमतः क्लीं वीज उच्चारण पूर्वक ' कामदेव ' फिर ' आय ' इसके पीछे ' विद्महे ' फिर ' पुष्प-वाणाय ' इसके उपरान्त ' धीमहि ' अनन्तर ' तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात ' अर्थात् कामदेव से ज्ञात हूं, पुष्प शर की चिन्ता करता हूं, अनंग हमारे हृदय में उन कृष्ण को श्रीअंग-ज्योतिः प्रकाशित करें,-यह काम गायत्री जपे। फिर " क्षमस्व " शब्द से कृष्ण का विसर्जन कर अंत में " इदमर्घ्यं ओं श्रीसूर्याय नमः " यह मंत्र से सूर्यदेव को अर्घ्य देवे ॥ १४६—१४७ ॥

विधिस्तान्त्रिकसन्ध्याया जलेऽर्चायाश्च कश्चन ।
योऽन्यो मन्येत सोऽप्यत्र तद्विशेषाय लिख्यते ॥ १४८ ॥

अथ मतान्तर-तान्त्रिकसन्ध्या-विधिः ।

आदौ दक्षिणहस्तेन गृह्णीयाद्वारि वैष्णवः ।
ततो हृदयमन्त्रेण वामपाणि-तलेऽर्पयेत् ॥ १४९ ॥
तदङ्गुलीविनिर्यातम्भः-कणैर्दक्षपाणिना ।
मस्तके नेत्रमन्त्रेण कुर्य्यात् संप्रोक्षणं ततः ॥
शिष्टं तच्चास्त्रमन्त्रेणादायाम्भो दक्षपाणिना ।
अधः क्षिपेत् पुनश्चैवमिति वारचतुष्टयम् ॥ १५० ॥
पुनर्हृदयमन्त्रेणादायाम्भो दक्षपाणिना ।
नासापुटेन वामेनाघ्रायान्येन विसर्जयेत् ॥ १५१ ॥
अथाम्भोऽञ्जलिमादाय सूर्य-मण्डलवर्त्तिने ।
अर्घ्यं गोपाल-गायत्र्या कृष्णाय त्रिर्निवेदयेत् ॥

सा चोक्ता ।

ब्रूयाद्गोपीजनं ङेऽन्तं विद्महे इत्यतः परम् ।
पुनर्गोपीजनं तद्वद्धीमहीति ततः परम् ।
तन्नः कृष्ण इति प्रान्ते प्रपूर्वं चोदयादिति ॥ १५२ ॥

भाषा टीका ।

तांत्रिकी संध्या और जल में पूजा करना, इन दोनों के जो अन्य किसी विधान की व्यवस्था होती है-वह भी इन दोनों की विशेष विधि ज्ञात कराने के लिये इस स्थान में लिखते हैं ॥ १४८ ॥

मातान्तर में तान्त्रिकी संध्या की विधि ।-वैष्णव मनुष्य प्रथम जल लेवे, फिर हृदय मंत्र (हृदयाय नमः) पढ़कर यह जल वांये हाथ के नीचे प्रदान करे ॥१४९॥

फिर नेत्र मंत्र (ॐ नेत्राभ्यां वौषट्) पढ़कर वांये हाथ की अंगुली के मध्य से निकले जल-कण से दाहिने हाथ द्वारा मस्तक प्रदेश में प्रोक्षण करे। अवशिष्ट जल अस्त्रमंत्र (ॐ अस्त्राय फट्) उच्चारण सहित दाहिने हाथ से नीचे फेंक देवे । फिर भी इसी प्रकार करे । इस भांति चार वार करना चाहिये ॥ १५० ॥

फिर हृदयमन्त्रोच्चारण सहित दहिने हाथ में जल ग्रहण कर वांये नासिका के छिद्र से खेंच दहिने नासिका के छिद्रसे छोड़ देवे ॥ १५१ ॥

फिर जलाञ्जलि लेकर गोपाल-गायत्री पढ़ता हुआ आदित्य-मण्डलान्तर्गतकृष्ण को तीनवार अर्घ्य देवे ॥

गोपालगायत्री ।--चतुर्थी विभक्ति के पीछे 'गोपीजन' शब्द उच्चारण करके 'विद्महे' फिर पुनर्वार चतुर्थीविभक्त्यन्त 'गोपीजन' अनन्तर 'धीमहि' अंतमें

मूर्द्धि न्यसेत् तदङ्गानि ललाटे नेत्रयोर्द्वयोः ।
भुजयोः पादयोश्चैव सर्वाङ्गेषु तथा क्रमात् ॥ १५३ ॥

तानि चोक्तानि—

पञ्चभिश्च त्रिभिश्चैव पञ्चभिश्च त्रिभिः पुनः ।
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च कुर्य्यादङ्गानि वर्णकैः ॥ इति ॥ १५४ ॥
रासक्रीड़ारतं कृष्णं ध्यात्वा चादित्य-मण्डले ।
ततस्तन्मुखोत्क्षिप्तभुजो गायत्रीं तां जपेत् क्षणम् ॥ १५५ ॥

अथ तत्र जले श्रीभगवत्पूजा-विधिः ।

अङ्ग-न्यासं स्व-मन्त्रेण कृत्वाथाब्जं जलान्तरे ।
सञ्चित्य पीठमन्त्रेण तर्पयेच्च सकृत् सकृत् ॥
तस्मिंश्च कृष्णमावाह्य सकलीकृत्य मानसान् ।
पञ्चोपचारान् दत्त्वाप्सु धेनुमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ १५६ ॥

भाषा टीका ।

'तन्नः कृष्णः प्रचोदयात्' उच्चारण करे, तो—'गोपीजनाय विद्महे गोपीजनाय धीमहि—तन्नः कृष्णः प्रचोदयात्'—यह गोपालगायत्री हुई। अर्थात् में गोपीजन से ज्ञात होता हूं, गोपीजन का ध्यान करता हूं, कृष्ण हमारे हृदय में परम तत्त्व प्रेरण करें ॥ १५२ ॥

इसके पीछे क्रमानुसार गोपाल-गायत्री के अंगों को अर्थात् षड़ङ्ग को अपने शिर, ललाट, दोनों नेत्र, दोनों बाहु, दोनों पैर और सर्वाङ्ग;—इन छै अंग में न्यास करे ॥ १५३ ॥

गोपाल-गायत्री का षड़ङ्ग; यथा—पांच, तीन, पुनर्वार पांच तीन, फिर चार चार वर्ण में अंग कल्पना करनी चाहिये। अर्थात् पांच वर्ण में—'गोपीजनाय' तीनवर्ण में—'विद्महे' फिर पांचवर्ण में—'गोपीजनाय' तीन वर्ण में—'धीमहि' चार वर्ण में—'तन्नः कृष्णः' पीछे चारवर्ण में—'प्रचोदयात्'। न्यास का क्रम यथा—मस्तक में—'गोपीजनाय' ललाट में—विद्महे' दोनों नेत्रों में—'गोपीजनाय' दोनों बाहु में—'धीमहि' दोनों पैर में—'तन्नः कृष्णः' और सर्वांग में—'प्रचोदयात्'—इस प्रकार से न्यास करना चाहिये ॥ १५४ ॥

फिर सूर्यमण्डल में रासक्रीड़ा-रत कृष्ण की चिन्ता करके उन के आगे दोनों भुजा उठाय कुछ देर इस गायत्री का जप करे ॥ १५५ ॥

जल में श्रीभगवत्पूजाविधि ।—अपने इष्टमन्त्र से अंग न्यास करके जल में पद्म की भावना करे और पीठ मन्त्रोच्चारण विधि-सहित एक एक वार तर्पण करना चाहिये। तदनन्तर इस कमल में श्रीकृष्ण का आवाहन करके छै अंग में षड़ङ्गन्यास करे, और मनःकल्पित गंधादि पांच उपचारों से जल में तर्पण करके धेनु मुद्रा * दिखावे ॥ १५६ ॥

* धेनुमुद्रा ।—दोनों हाथ को कनिष्ठा और अनामा एवं तर्जनी और मध्यमा—इन चारों अंगुलियों का मुख परस्पर संलग्न करे ।

तज्जलं चामृतं ध्यात्वा स्व-मन्त्रेणाभिमन्त्र्य च।
अष्टोत्तरशतं कृष्णोत्तमाङ्गे तर्पयेत् कृती ॥
ततश्च मूलमन्त्रेण वारान् वै पञ्चविंशतिम्।
अभिजप्तेनोदकेनाचमनं विधिनाचरेत् ॥ १५७ ॥

अथ विशेषतो देवादि-तर्पणम्।

पाद्मे तत्रैव—

ब्रह्माणं तर्पयेत् पूर्व्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिम्।
देवा यक्षास्तथा नागा गन्धर्व्वाप्सरसोऽसुराः ॥
क्रूराः सर्पाः सुपर्णाश्च तरवो जिह्मगाः खगाः।
विद्याधरा जलाधारास्तथैवाकाशगामिनः ॥
निराहाराश्च ये जीवाः पापकर्म्मरताश्च ये।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ॥
कृतोपवीती दैवे तु निवीती च भवेन्नरः।
मानुषांस्तर्पयेद्भक्त्या ऋषिपुत्रान् ऋषींस्तथा ॥
"ओं सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥

भाषा टीका।

कृती मनुष्य उस जल को अमृत जान कर उस के ऊपर अपना इष्टमंत्र जप श्रीकृष्ण के मस्तक में एक सौ आठ वार तर्पण करे। फिर जल के ऊपरी भाग में मूलमंत्र पच्चीसवार जप कर उस जल के द्वारा पूर्व कहे विधान से आचमन करे। यहां 'कृती' शब्द कहने से समझा जाता है कि—आदित्य-मण्डल में आराधना करनी हो,—तो जिस प्रकार कर्त्तव्य है; उसी प्रकार से आवरण—तर्पणादि और विसर्जन करे ॥ १५७ ॥

विशेष प्रकार से देवादि-तर्पण पद्मपुराण के व्यास और अम्बरीष-संवाद में लिखा है कि—प्रथम "ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और प्रजापति का तर्पण करके फिर यक्षगण, गन्धर्वगण, अप्सरोगण, असुरगण, क्रूरसर्पगण, सुपर्णगण, तरुगण, कुटिलगति जीवगण, विहंगगण, विद्याधरगण, जलाधारगण, आकाशगामि गण, निराहारि-गण और जो पाप क्रिया में रत हैं, मैं इन सबकी तृप्ति के लिये यह जल देता हूं। देवतर्पण में यज्ञसूत्रादि द्वारा वांये कंधे पर दुपट्टा धारण और अन्य (मनुष्य ऋषि) तर्पणादि कर्म में कंठ-लम्बित दुपट्टा धारण करे। भक्तिमान् होकर मूल-कथित मंत्र से मनुष्य ऋषिपुत्र और ऋषियों का भी तर्पण करे। उस का अर्थ यह है—सनक, "सनन्द, तीसरे सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु और पञ्चशिख;—यह मेरे दिये जल से तुष्टि-लाभ करें"—कहकर तर्पण करना चाहिये। फिर अक्षत-द्वारा मरीचि, अत्रि,

सर्व्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा" ।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥
प्रचेतसं वशिष्ठञ्च भृगुं नारदमेव च ।
देव-ब्रह्मऋषीन् सर्व्वास्तर्पयेदक्षतोदकैः ॥
अपसव्यं ततः कुर्य्यात् सव्यं जानु च भूतले ।
अग्निष्वात्तास्तथा सौम्या वर्हिष्वन्तस्तथोष्मपाः ॥
कव्यानलौ वर्हिषदस्तथा चैवाज्यपाः पुनः ।
तर्पयेत् पितृभक्त्या च सतिलोदकचन्दनैः ॥
"यमाय धर्म्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च ।
वैवस्वताय कालाय सर्व्वभूतक्षयाय च ॥
औदुम्वराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने ।
वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नमः" ॥
दर्भपाणिः सुप्रयतः पितॄन् स्वान् तर्पयेत्ततः ।
पित्रादीन् नामगोत्रेण तथा मातामहानपि ॥
सन्तर्प्य विधिना सर्व्वानिमं मन्त्रमुदीरयेत् ।—
"येऽवान्धवा वान्धवा वा येऽन्यजन्मनि वान्धवाः ॥
ते तृप्तिमखिलां यान्तु येऽस्मत्तोयाभिकाङ्क्षिणः ॥ इति ॥ १५८ ॥
सन्ध्योपासनतः पूर्व्वं केचिद्देवादि-तर्पणम् ।
मन्यन्ते सकृदेवेदं पुराणोक्तानुसारतः ॥ १५९ ॥

भाषाटीका

अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, मचेता, वशिष्ठ, और नारद एवं देवर्षिगण और ब्रह्मर्षियों का तर्पण करे। फिर उपवीत द्वारा दक्षिण की ओर दुपट्टा रख कर वाम जंघा पृथ्वी में रख तिलयुक्त जल और चंदन से पितृभक्ति अनुसार अग्निष्वात्ता, सोमप, वर्हिष्मन्त, उष्मप, कव्य, अनल, वर्हिषद, और आज्यप नामक पितरों का तर्पण करना चाहिये। फिर यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, औदुम्वर दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र, और चित्रगुप्त,—इन सब को उद्देश में जल अर्पण करे। फिर यत्न सहित कुश हाथ में लेकर अपने पितरों का तर्पण करना चाहिये। पितृ इत्यादि का और मातामहादि का नाम-गोत्र उच्चारण कर यथाविधि तर्पण के पीछे (वक्ष्यमाण) यह मंत्र पढ़े—'जो वांधव-अवांधव और जो जन्मान्तर में वांधव थे और जो मुझ से जल पाने की इच्छा करते हैं—वह सर्वथा तृप्ति लाभ करें॥ १५८ ॥

कूर्मपुराण और पद्मपुराण के प्रमाणानुसार कोई कोई विद्वान् संध्योपासन के पहिले एकवार इस देवादितर्पण की व्यवस्था देते हैं॥ १५९ ॥

तथा च पाद्मे, स्नाने मृद्ग्रहणानन्तरम्—

एवं स्नात्वा ततः पश्चादाचम्य सुविधानतः।
उत्थाय वाससी शुक्ले शुद्धे तु परिधाय वै॥
ततस्तु तर्पणं कुर्य्यात्त्रैलोक्याप्यायनाय वै॥ १६०॥

अतएव श्रीरामार्चनचन्द्रिकायाम् —

निष्पीड़यित्वा वस्त्रन्तु पश्चात् सन्ध्यां समाचरेत्।
अन्यथा कुरुते यस्तु स्नानं तस्याफलं भवेत्॥ १६१॥

किञ्च——वस्त्रं त्रिगुणितं यस्तु निष्पीड़यति मूढ़धीः।—
वृथा स्नानं भवेत्तस्य निष्पीड़यति चाम्बुनि॥ १६२॥

अथ स्नानादौ सद्भावापेक्षा।

काशीखण्डे —

अपि सर्वनदी-तोयैर्मृत्कूटैश्चाथ गोरसैः।
आपातमाचरेच्छौचं भावदुष्टो न शुद्धिभाक्॥
नक्तंदिनं निमज्ज्याप्सु कैवर्त्ताः किमु पावनाः?
शतशोऽपि तथा स्नाता न शुद्धा भावदूषिताः॥

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये श्रीनारदाम्वरीष-सम्वादे —

पुण्येन गाङ्गेन जलेन काले देशेऽपि यः स्नानपरः कथञ्चित्।
आजन्मनो भावहतोऽपि दाता न शुद्ध्यतीत्येव मतं ममैतत्॥

भाषा टीका।

अतएव पद्मपुराण में लिखा है कि—स्नान विषय में मृत्तिका ग्रहण के पीछे इस प्रकार करे। यथा;-इस प्रकार स्नान के पीछे तर्पण और फिर यथाविधि आँचमन पूर्वक जल से उठकर शुद्ध सफेद वस्त्र और डुपट्टा धारण कर त्रिभुवन की तृप्ति के लिये तर्पण करे॥ १६०॥

अतएव रामार्चनचंद्रिका में कहा है कि—पहिले वस्त्र निचोड़ कर फिर संध्योपासना करे। इस के अन्यथा करने से स्नान निष्फल हो जाता है॥१६१॥ और भी लिखा है कि-जो मूर्ख वस्त्र के तीन अंश करके एकत्र निंचोड़ता है, अथवा जल के भीतर निंचोड़ता है-उसका स्नान विफल होजाता है॥१६२॥

स्नानादि में सद्भावापेक्षा अर्थात विश्वास।—काशीखण्ड में लिखा है कि जो मनुष्य नास्तिक है—वह मरण काल तक सब नदीयों के जल मृत्तिका और गोवर द्वारा शौच का विधान करने-पर भी शुद्ध होने में समर्थ नही होता। कैवर्त्तगण (मछली मारनेवाले) रात दिन जल में डूब रहते हैं, इससे क्या—वह विशुद्ध होंगे? इसी प्रकार नास्तिक शत शत वार स्नान करने-पर भी पवित्र नहीं हो सकते।

पदम पुराण के वैशाखमाहात्म्य में नारदाम्वरीष-सम्वाद में लिखा है कि—जो पुरुष आजन्म नास्तिक है,—वह पवित्र समय में—पुण्यक्षेत्र में विशुद्ध गंगाजलसे स्नान पूर्वक दानशील होने पर भी विशुद्धि लाभ नहीं कर सकता,—यही मेरा मत है। नास्तिक पुरुष अपने मृत्युकाल में घृततैलसिक्त अग्नि प्रज्वलित कर

प्रज्वाल्य वह्निं घृततैलसिक्तं प्रदक्षिणावर्त्तशिखं स्वकाले ।
प्रविश्य दग्धः किल भावदुष्टो न स्वर्गमाप्नोति फलं न चान्यत् ॥ १६३ ॥

अतएव भविष्योत्तरे—

यस्य हस्तौ च पादौ च वाङ्मनश्च सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्त्तिश्च स तीर्थ-फलमाप्नुयात् ॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः ।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थ-फलभागिनः ॥ १६४ ॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते
भगवद्भक्तिविलासे
दीक्षिको नाम
तृतीयो
विलासः

भाषा टीका।

तदीय शिखा की प्रदक्षिणापूर्वक उस में प्रवेश करके दग्ध होने पर भी स्वर्ग पाने में समर्थ नहीं होता, और अन्य किसी प्रकार के फल को भी नही पाता ॥ १६३ ॥

भविष्यपुराण के उत्तर भाग में लिखा है कि—जिस मनुष्य के हाथ पैर वचन और मन सम्यक् प्रकार वशीकृत है, और जिस मनुष्य की विद्या तप और कीर्ति है—वही तीर्थ के फल को प्राप्त करता है। श्रद्धाहीन, पापी, नास्तिक, संदिग्धचित्त और कुतर्कनिष्ठ;—यह पांच प्रकार के मनुष्य तीर्थ-फल के भागी नही हो सकते ॥ १६४ ॥

इति श्रीगोपालभट्ट—विलिखिते भगवद्भक्तिविलासे भाषाटीकायां शौचीयो नाम
तृतीयो विलासः ॥ ३ ॥

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

चतुर्थविलासः।

स्नात्वा श्रीकृष्णचैतन्य-नामतीर्थोत्तमे सकृत्।
नित्याशुचिः शुचीन्द्रः सन् स्व-धर्मं वक्तुमर्हति ॥ १ ॥
अथ स्व-गृहमागच्छेदादौ नत्वेष्टदेवताम्।
गुरून् ज्येष्ठांश्च पुष्पैधःकुशाम्भोधारकेतरान् ॥

तथा च नृसिंहपुराणे —

जले देवं नमस्कृत्य ततो गच्छेद्गृहं पुमान्।
पौरुषेण तु सूक्तेन ततो विष्णुं समर्च्चयेत् ॥

अथ श्रीभगवन्मन्दिर-संस्कारः।

मन्दिरं मार्जयेद्विष्णोर्विधायाचमनादिकम्।
कृष्णं पश्यन् कीर्त्तयंश्च दास्येनात्मानमर्पयेत् ॥ २ ॥
शुद्धं गोमयमादाय ततो मृत्स्नां जलं तथा।
भक्त्या तत परितो लिम्पेदभ्युक्षेच्च तदङ्गनम् ॥ ३ ॥

तथा च नवमस्कन्धे श्रीमदम्बरीषोपाख्याने —

स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिर-मार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युत-सत्कथोदये ॥ ४ ॥

भाषा टीका।

नित्य अपवित्र मनुष्य भी श्रीकृष्णचैतन्य नामरूप उत्तम तीर्थ में केवल एकवार स्नान करके पवित्रतम हो स्वधर्म-कथन में योग्य होता है ॥ १ ॥

फिर स्नानादि समापन करने के पीछे प्रथम इष्ट देवता को और जिनकी पूजा के लिये कुसुम, यज्ञार्थ काष्ठ, कुश और जल लाये गये हैं—उनके अतिरिक्त अन्यान्य गुरुजनों को और ज्येष्ठगण को नमस्कार करके अपने घर आवे ॥

नृसिंहपुराण में लिखा है कि—मनुष्य जल में देवता को प्रणाम करके फिर घर को लौट आवे, अनन्तर पुरुषसूक्त मंत्र से विष्णु की पूजा करनी चाहिये ॥

भगवन्मन्दिर-संस्कार।—आचमनादि करके विष्णुमंदिर का मार्जन करें; एवं कृष्ण-दर्शन और उनके नामों का कीर्त्तन करते करते दासभाव से आत्मार्पण करे ॥ २ ॥

फिर पवित्र गोवर अतिउत्तममृत्तिका और जल ग्रहणपूर्वक विष्णु-मंदिर के चारों ओर लीप आंगन को लीपै ॥ ३ ॥

श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में अम्वरीषोपाख्यान में लिखा है कि—राजश्रेष्ठ अम्वरीष ने श्रीकृष्ण के चरण कमलों में चित्त अर्पण किया था, वैकुण्ठगुणकीर्त्तन में वचनावली को नियुक्त किया था, विष्णु मंदिर के झाड़ने

एकादशस्कन्धे च श्रीभगवदुद्धवसम्वादे भगवद्धर्म्म-कथने—

संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डल-वर्त्तनैः।
गृह-शुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥ ५ ॥

अथ तत्र संमार्जन-माहात्म्यम् ।

नरसिंह-गृहे नित्यं यः संमार्जनमाचरेत् ।
समस्तपापनिर्म्मुक्तो विष्णु-लोके स मोदते ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे —

संमार्जनन्तु यः कुर्य्यात् पुरुषः केशवालये ।
रजस्तमोभ्यां निर्म्मुक्तः स भवेन्नात्र संशयः ॥
पांशूनां यावतां राजन् ! कुर्य्यात् संमार्जनं नरः ।
तावन्त्यब्दानि स सुखी नाकमासाद्य मोदते ॥

बाराहे —

यावत्कानि प्रहाराणि भूमि-सम्मार्जने ददुः ।
तावद्वर्ष-सहस्राणि शाकद्वीपे महीयते ॥ ६ ॥
जायते मम भक्तश्च सर्व्वधर्मसमान्वितः ।
शुचिर्भागवतः शुद्धो ह्यपराधविवर्जितः ॥

भाषा टीका ।

इत्यादि में दोनों हाथों को नियुक्त किया था, और और गोविन्द की सतकथा सुनने में दोनों कानों को नियुक्त कर रक्खा था ॥ ४ ॥

इसी भागवत के एकादश(ग्यारहवें)स्कन्ध में श्रीभगव दुद्धव संवाद में भगवद्धर्म-कथन में वर्णित है कि—भगवान् ने स्वयं कहा था; संमार्जन (झाड़ना बुहारना) गोवर इत्यादि से लीपना, जलसेक (अर्थात् जल के द्वारा सींचना) और जल से अभ्युक्षण (छिड़काव) सर्वतो-भद्रादि मण्डल की रचना;—इन सब कार्यों के द्वारा दास की समान निष्कपट भाव से मेरी गृह- शुश्रूषा करनी चाहिये ॥ ५ ॥

सम्मार्जन-माहात्म्य।—नृसिंहपुराण में लिखा है कि—जो पुरुष नित्य नृसिंहदेव के मंदिर को झाड़ता बुहारता है—वह सब पापों से छूट कर हरि-धाम में आनंद भोगता है ॥ विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि—जो केशव के मंदिर को झाड़ता बुहारता है,—वह रजो और तमो गुण से छूट जाता है,—इस में संदेह नहीं। हे नृपते ! मनुष्य जितने परिमाण (मंदिर की) धूलि बुहारता है; उतने ही वर्षतक वह मनुष्य सुखी होकर स्वर्गलोक में आनन्द भोगता है ॥ वराहपुराण में लिखा है; भगवान् ने धरणी से कहा था—हे पृथ्वी ! हरिमंदिर की भूमि बुहारने में बुहारी से जितने आघात किये जाते हैं—उतने ही हजार वर्ष बुहारनेवाला शाक-द्वीप में आनंद भोगता है ॥ ६ ॥

फिर मेरे भक्तरूप में देह धारण करके स्वधर्म-शील पवित्र, भगवतप्रिय, शुद्ध और निरपराधी होता है, अंत में वह मनुष्य सब भोगों को भोग कर भवसागर से उत्तीर्ण हो शाकद्वीप से भ्रष्ट होता है, और पुन-

ततो भुक्त्वा सर्व्वभोगान् तीर्त्वा संसारसागरम् ।
शाकद्वीपात् परिभ्रष्टः स्वर्गलोकं स गच्छति ॥
नन्दनं वनमाश्रित्य मोदते चाप्सरैः सह ।
नन्दनाच्च परिभ्रष्टो मम कर्म्मण्यवास्थितः ॥
सर्व्वसङ्गान् परित्यज्य मम लोकन्तु गच्छति ॥ ७ ॥

अथोपलेप-माहात्म्यम् ।

तत्रैव ।——गोमयं गृह्य वै भूमिं मम वेश्मोपलेपयेत् ।
यावतस्तु पदांस्तत्र समन्तादुपलेपयेत् ॥
तावद्वर्ष-सहस्राणि मद्भक्तो जायते तथा ।
समीपे यदि वा दूरे यश्चालयति गोमयम् ॥
यावत्तस्य पदाग्राणि तावत् स्वर्गे महीयते ॥ ८ ॥
शाल्मलौ तत्परिभ्रष्टो राजा भवति धार्म्मिकः ।
मद्भक्तश्चैव जायेत सर्व्वशास्त्रविशारदः ॥
यश्चालेपयते भूमिं गोमयेन दृढ़व्रतः ।
तस्य दृष्ट्वानुलेपन्तु मम तुष्टिः प्रजायते ॥ ९ ॥
गोश्च यस्याः पुरीषेण क्रियते भूमिलेपनम् ।
एकेनैव तु लेपेन गोयोन्या विप्रमुच्यते ॥ १० ॥

भाषा टीका।

पुर में जाता है, फिर स्वर्ग के नन्दनवन में वास करता हुआ अप्सराओं के सहित आनन्द भोगता है, फिर वहां से भ्रष्ट हो—मेरी भक्ति में निष्ठा लाभ कर सब विषयों में अनासक्त हो मेरे धाम में प्रस्थान करता है ॥ ७ ॥

विष्णुमंदिर के लीपने का माहात्म्य।—इस वराह-पुराण में ही लिखा है—भगवान् ने पृथ्वी से कहा था; हे धरणी ! गोवर लेकर मेरा आलय (मंदिर) लीपे, मंदिर के चारों ओर जितने पाद लीपेगा—उतने ही हजारवर्ष मेरी भक्ति में निष्ठावान् होकर रहेगा। निकट हो, वा दूर हो;—जो मनुष्य गोवर से लेप प्रदान करता है—यह कार्य करने के समय उसके पैर के जितने अग्रभाग पतित होंगे,—उतने ही हजार वर्ष—वह सुर-पुर में आनन्द भोग करेगा ॥ ८ ॥

फिर स्वर्ग से गिर कर शाल्मलिद्वीप में धर्म-निष्ठ नृपति के रूप में मेरा भक्त हो सर्वशास्त्र-विशारद होगा। जो मनुष्य एकान्त व्रतनिष्ठ होकर गोवर से मेरी मंदिरगत भूमि लीपते हैं,—उनका वह कार्य देखकर मुझको परम प्रसन्नता होती है ॥ ९ ॥

जिस गाय के गोवर से भूमि लीपी जाती है,—केवल एकवार-मात्र लीपने से ही—उस गाय की गो-योनि छूट जाती है ॥ १० ॥
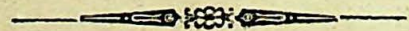
स्थानोपलेपने भूमेः सलिलं यो ददाति मे ।
तस्य पुण्यं महाभागे ! शृणु तत्त्वेन निष्कलम् ॥ ११ ॥
यावन्ति जल-विन्दूनि लिप्यमानस्य सुन्दरि !
तावद्वर्ष-सहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥
यावन्तो विन्दवः केचित् पानीयस्य वसुन्धरे !
तावद्वर्ष-सहस्राणि क्रौञ्चद्वीपे महीयते ॥ १२ ॥
क्रौञ्चद्वीपात् परिभ्रष्टः सर्व्वधर्म्मपरायणः ।
सर्व्वसङ्गान् परित्यज्य मम लोकञ्च गच्छति ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे —

कृत्वोपलेपनं विष्णोर्नरस्त्वायतने सदा ।
गोमयेन शुभाँल्लोकानयत्नादेव गच्छति ॥
हस्तप्रमाणं भूभागमुपलिप्य नराधिप !
देव-रामाशतं नाके लभते सततं नरः ॥

नारसिंहे—

गोमयेन मृदा तोयैर्यः कुर्य्यादुपलेपनम् ॥
चान्द्रायण-फलं प्राप्य विष्णु-लोके महीयते ॥ १३ ॥

तत्रैव श्रीधर्म्मराजस्य दूतानुशासने —

संमार्जनं यः कुरुते गोमयनोपलेपनम् ।
करोति भवने विष्णोस्त्याज्यं तेषां कुलत्रयम् ॥

भाषा टीका ।

हे धरणी ! हे भाग्यशीले ! जो पुरुष मेरा मंदिर लीपने के लिये जल देता है-उसके शुद्ध पुण्य की वात यथार्थ ही कहता हूं-सुनो ॥ ११ ॥

हे सुंदरि ! लीपने वाले मनुष्य को जल की जितनी बूंदें दी जाती हैं—वह उतने ही हजार वर्ष सुर-लोक में सुख भोगता है । हे भूमि ! कोई लेपन कार्य में जल देने पर उस में जितने जलविन्दु होने की सम्भावना है,—वह उतने ही हजार वर्ष क्रौञ्चदीप में भोगता है ॥ १२ ॥

फिर क्रौञ्चद्वीप से भ्रष्ट होकर सब प्रकार के धर्मों में निष्ठा प्राप्त करता है, और सब विषयों में अनासक्त होकर मेरे लोक में जाता है । विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,—मनुष्य सदा गोवर द्वारा हरि के मंदिर को लीप कर, विना ही परिश्रम पुण्य लोक में प्रस्थान करता है । जो मनुष्य एकहाथ की वरावर भूमि लीपता है,—वह राजा होकर सुरपुर में जाता है, और सदा उस स्थान में शतशत सुरबाला (देवताओं की स्त्रियें) प्राप्त करता है ॥ नृसिंहपुराण में लिखा है कि—गोवर, मृत्तिका और जल से लीपने पर,—वह लीपने वाला चान्द्रायण का फल पायकर हरिधाम में आनंदित होता है ॥ १३ ॥

इसी पुराण में दूत के प्रति यमानुशासन-वर्णन

अथाभ्युक्षण-माहात्म्यम् ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

अभ्युक्षणन्तु यः कुर्य्यात् पानीयेन सुरालये ।
स शान्ततापो भवति नात्र कार्य्या विचारणा ॥ १४ ॥
अभ्युक्षणन्तु यः कुर्य्याद्देवदेवाजिरे नरः ।
सर्व्वपाप-विनिर्म्मुक्तो वारुणं लोकमश्नुते ॥ इति ॥ १५ ॥
सर्वतोभद्रपद्मादीन्यभिज्ञः स्वस्तिकानि च ।
विरचय्य विचित्राणि मण्डयेद्धरिमन्दिरम् ॥

तथा च नारसिंहे—

संमार्जनोपलेपाभ्यां रङ्गपद्मादिशोभितम् ।
कुर्य्यात् स्थानं महाविष्णोः सोज्ज्वलाङ्गं मुदान्वितः ॥ १६ ॥

अथ मण्डल-माहात्म्यम् ।

स्कन्दपुराणे कार्त्तिकप्रसङ्गे —

अगम्या-गमने पापमभक्ष्यस्य च भक्षणे ।
सर्व्वं तन्नाशमाप्नोति मण्डयित्वा हरेर्गृहम् ॥
अणुमात्रन्तु यः कुर्य्यान्मण्डलं केशवाग्रतः ।

भाषा टीका ।

में लिखा है, कि,—यम ने कहा था,—"हे दूतगण ! जो मनुष्य हरि के मन्दिर को झाड़बुहार कर गोबर से लीपते हैं—उनके तीन कुल को त्याग दो, अर्थात उनके भार्या-कुल, पितृ-कुल और मातृ-कुल,—इन तीन कुल के किसी व्यक्ति को भी मेरी पुरी में मत लाना ।"

अभ्युक्षण-माहात्म्य ।—विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है, कि—जो पुरुष देव-मंदिर में जल से अभ्युक्षण करता है—वह संतापहीन होता है,—इस में कोई विचार न करे । जो देव-देव हरि के मन्दिराङ्गन में अभ्युक्षण करते हैं,—वे सब पापों से छूट कर वरुण-लोक में जाते हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

विशेषज्ञानवान् मनुष्य सर्वतोभद्र पद्म इत्यादि मण्डल और स्वस्तिकादि की रचना करके विष्णु-मंदिर को चित्र विचित्र करे ॥ नृसिंहपुराण में लिखा है, कि—आनंद सहित विचित्र वर्ण के चूर्णद्वारा निर्मित पद्मादि से महाविष्णु का मंदिर अलंकृत एवं मार्जन और लेपन द्वारा उस की दीवारों को उज्जल करे॥१६॥

अथ मण्डल-माहात्म्य ।—स्कन्दपुराण के कार्त्तिक-प्रसङ्ग में कहा है, कि—हरि का मंदिर अलंकृत करने में अगम्यागमन-जनित और अभक्ष्यभक्षण-जनित पाप ध्वंश होता है ! जो मनुष्य विष्णु के सन्मुख मिट्टी एवं अनेक प्रकार के धातु-विकार से किंचित मात्र भी शोभा प्रस्तुत करते हैं, उनका एक सौ वर्ष सुर पुर में वास होता है । शालग्रामशिला के आगे कल्याणस्वरूप स्वस्तिक की रचना करने से, विशेषतः

मृदा धातु-विकारैश्च दिवि कल्पशतं वसेत् ॥
शालग्रामशिलाग्रे तु यः कुर्य्यात् स्वस्तिकं शुभम् ।
कार्त्तिके तु विशेषेण पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥
मण्डलं कुरुते नित्यं या नारी केशवाग्रतः ।
सप्तजन्मनि वैधव्यं न प्राप्नोति कदाचन ॥
गृहीत्वा गोमयं या तु मण्डलं केशवाग्रतः ।
भर्त्तुर्वियोगं नाप्नोति सन्ततेश्च धनस्य च ॥
प्राङ्गणं वर्णकोपेतं स्वास्तिकैश्च समन्वितम् ।
देवस्य कुरुते यस्तु क्रीड़ते भुवनत्रये ॥ १७ ॥

नारदीये—

मृदा धातु-विकारैर्वा वर्णकैर्गोमयेन वा ।
उपलेपनकृद्यस्तु नरो वैमानिको भवेत् ॥

हरिभक्तिसुधोदये च—

उपलिप्यालयं विष्णोश्चित्रायित्वाथ वर्णकैः ।
विष्णु-लोकेऽथ तत्रास्थैः सस्पृहं वीक्ष्यते सुखी ॥ १८ ॥

अथ स्वस्तिक-लक्षणम् ।

आगमे—

विदिग्गतचतुष्काणि भित्त्वा षोड़शधा सुधीः ।
मार्जयेत् स्वास्तिकाकारं श्वेतपीतारुणासितैः ॥

भाषा टीका ।

कार्तिक मास में उसके करने से—वह पुरुष अपने सात पुरुष तक पवित्र करता है। जो नारी प्रतिदिन हरि के सन्मुख मण्डल की रचना करती है, सात जन्म तक उस को कभी वैधव्य दशा-ग्रस्त होना नहीं पड़ता। जो स्त्री गोवर लेकर विष्णु के आगे मण्डल बनाती हैं, उनको पति, पुत्र वा धन के अभाव से कातर होना नहीं पड़ता। जो पुरुष केशव-मंदिर के प्राङ्गण को विचित्र वर्ण से रंजित और स्वस्तिकादि से अलंकृत करते हैं,—वह त्रिभुवन में परम सुख से बिहार करते हैं ॥ १७ ॥

नारद पुराण में लिखा, है कि—जो पुरुष मिट्टी धातु-बिकार (रंग बिरंगे) और गोवर से हरि का मंदिर लीपते है,—वह विमानविहारी देवस्वरूप होते हैं ॥ हरिभक्तिसुधोदय में भी लिखा है कि,—जो हरिमंदिर-लेपन और नाना प्रकार के वर्ण में चित्रित करते हैं—वे सुखी होते हैं, और विष्णु-धाम के वास करने वाले उनको स्पृहा से देखते हैं ॥ १८ ॥

स्वस्तिक-लक्षण ।—आगम में लिखा है; कि—बुद्धिमान् पुरुष चार कोंण के चतुष्कोण को सोलह अंश

तत्र च पञ्चरात्र-वचनं—

रजांसि पञ्चवर्णानि मण्डलार्थं हि कारयेत।
शालितण्डुल-चूर्णेन "शुक्लं" वा यवसम्भवम् ॥
"रक्तं" कुङ्कुमसिन्दूरगैरिकादिसमुद्भवम्।
हरितालोद्भवं "पीतं" रजनीसम्भवं क्वचित् ॥
"कृष्णं" दग्धै र्हरिद्यवै"र्हरित्" पीतैर्विमिश्रितम् ॥ १९ ॥

अथ तत्र ध्वज-पताकाद्यारोपणम्।

ततो ध्वज-पताकादि विन्यस्य हरि-मन्दिरे।
विचित्रं भूषयेत्तञ्च भगवद्भक्तिमान्नरः ॥

अथ ध्वजारोपण-माहात्म्यम्।

स्कन्दपुराणे द्वारका-माहात्म्ये श्रीमार्कण्डेयप्रद्युम्न-सम्वादे—

ध्वजमारोपयेद्यस्तु प्रसादोपरि भक्तितः।
तस्य ब्रह्म-पदे वासः क्रीड़ते ब्रह्मणा सह ॥

वृहन्नारदीये—

यः कुर्य्याद्विष्णु-भवने ध्वजारोपणमुत्तमम्।
स पूज्यते विरिञ्चाद्यैः किमन्यैर्बहुभाषितैः॥

तत्रैवाग्रे च—

पटो ध्वजस्य विप्रेन्द्र ! यावच्चलति वायुना।

भाषा टीका।

में विभक्त करके शुक्ल, पीत, रक्त और कृष्ण वर्ण के चूर्ण से लेपन करें,—इसी को स्वस्तिक कहते हैं ॥ पंचरात्र में इस विषय में लिखा है, कि—मण्डल के लिये पांच-प्रकार के वर्णका चूर्ण करना चाहिये। शाली के चावलों का चूर्ण वा यव-द्वारा 'श्वेत' कुंकुम, सिन्दूर अथवा गेरु—आदि का बना 'लोहित' हरिताल वा किसी स्थान में हलदी के चूर्ण-द्वारा 'पीत' दग्ध हरिद्वर्ण के यव द्वारा 'कृष्ण' और दग्ध हरिद्वर्ण यव-चूर्ण के सहित पीत मिलाने से 'हरित' वर्ण होता है ॥ १९ ॥

हरि-मंदिर में ध्वजापताकादि—आरोपण।—इसके पीछे भगवद्भक्त मनुष्य विष्णु-मंदिर में ध्वजा पताकादि आरोपण करके विचित्र रूप से अलंकृत करे।

ध्वजारोपण-माहात्म्य।—स्कन्द पुराण के द्वारका-माहात्म्य में मार्कण्डेय प्रद्युम्न-सम्वाद में लिखा है, कि—जो भक्ति-सहित हरि-मन्दिर के ऊपर ध्वजा-दण्ड आरोपण करते हैं,—उनका ब्रह्म-धाम में वास होता है, और ब्रह्म के संग विहार करते हैं, ॥ बृहन्नारदीय पुराण में लिखा है कि—अधिक और क्या कहूं; हरि-मंदिर में अति उत्तम ध्वजारोपण करने पर—वह मनुष्य ब्रह्मादि देवताओं से पूजित होते हैं। अन्यत्र भी लिखा है कि—हे द्विजोत्तम ! पवन के चलने से ध्वज-दण्ड का वस्त्र जितना चलायमान होता है,—पाप समूह भी उतने ही नष्ट होते हैं,—इस में संदेह नहीं। महापापी

तावन्ति पाप-जालानि नश्यन्त्येव न संशयः ॥
महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्व्वपातकैः।
ध्वजं विष्णु-गृहे कृत्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥
आरोपितं ध्वजं दृष्ट्वा येऽभिनन्दन्ति धार्म्मिकाः।
तेऽपि सद्यो विमुच्यन्ते ह्युपपातक-कोटिभिः ॥ इति ॥
एवं बृहन्नारदीये ख्यातं यच्चान्यदद्भुतम्।
ध्वजारोपण-माहात्म्यं तद्द्रष्टव्यमिहाखिलम् ॥

अथ पताकारोपण-माहात्म्यम्।

द्वारकामाहात्म्ये तत्रैव—

कृष्णालयं यः कुरुते पताकाभिश्च शोभितम्।
सदैव तस्य लोके तु वासस्तस्य न चान्यतः ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

पताकाञ्च शुभां दत्त्वा तथा केशव-वेश्मनि।
वायुलोकमवाप्नोति बहूनब्दगणान् द्विजाः ! ॥
दोधूयते यथा सा तु वायुना केशवालये।
तथा तस्यापि सकलं देहात् पापं विधूयते ॥ २० ॥

अथ वन्दनमाला-कदलीस्तम्भारोपण-माहात्म्यम्।

द्वारकामाहात्म्ये तत्रैव—

भूप ! वन्दनमालान्तु-कुरुते कृष्ण-वेश्मनि।
देव-कन्यावृतैर्लक्षैः सेव्यते सुर-नायकैः ॥ २१ ॥

भाषा टीका।

हो वा सब पापों से पापी हो—हरि मंदिर में ध्वज-दण्ड आरोपण करने पर उसके सब पाप छूट जाते हैं। जो धर्मपरायण मनुष्य हरि-मंदिर में आरोपित ध्वज-दण्ड देख कर आनंदित होते हैं—उनके करोड़ करोड़ पाप तत्काल दूर हो जाते हैं ॥ बृहन्नारदीय पुराण में ध्वज-दण्ड रोपण के इस प्रकार अन्यान्य जो आश्चर्य-कारक माहात्म्य वर्णित हैं—उन सब को ही इस विषय में देख लेना चाहिये।

पताकारोपण का माहात्म्य।—बृहन्नारदीय पुराण के द्वारका-माहात्म्य में लिखा है, कि—जो मनुष्य पताकाओं से हरिमंदिर सजाता है—उसका सदा हरि-धाम में वास होता है,—उसको फिर अन्यत्र वास करना नहीं पड़ता ॥ विष्णुधर्मोत्तर मे लिखा है कि-ब्राह्मण-गण हरि मंदिर में कल्याणमयी पताका आरोपण करके बहुत बर्षों पर्यन्त वायु लोक प्राप्त करते हैं। यह पताका हरि-मंदिर में वायु के द्वारा जितनी चलायमान होती हैं;—उतनी ही पताकारोपण करने वाले के शरीर से पाप-राशि दूर भागते हैं ॥२०॥

वन्दनवार और कदलीस्तंभ-रोपण—माहात्म्य। —द्वारकामाहात्म्य के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि-

यः कुर्य्यात् कृष्ण-भवनं कदली-स्तम्भशोभितम्।
नन्दते चाप्सरो-युक्तः स्वागतं तस्य देवराट्॥

अथ पीठ-पात्र-वस्त्रादि-संस्कारः।

तत्र ताम्रादिपात्रं यत् प्रभोर्वस्त्रादिकञ्च यत्।
पीठादिकञ्च तत्सर्वं यथोक्तञ्च विशोधयेत्॥

तत्र पीठस्य नारसिंहे—

पादपीठञ्च कृष्णस्य विल्वपत्रेण घर्षयेत्।
उष्णाम्वुना च प्रक्षाल्य सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २२॥

अथ तैजसादिपात्राणां (संस्कारः)।

मार्कण्डेयपुराणे—

उदुम्वराणामम्लेन क्षारेण त्रपु-सीसयोः।
भस्माम्वुभिश्च कांस्यानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च॥ २३॥
मणि-वज्र-प्रवालानां मुक्ता-शंखोपलस्य च।
सिद्धार्थकानां कल्केन तिल-कल्केन वा पुनः॥ २४॥

ब्राह्मे—— सुवर्ण-रूप्य-शङ्खाश्म-शुक्ति-रत्नमयानि च।
कांस्यायस्ताम्ररैत्यानि त्रपु-सीसमयानि च॥

भाषा टीका।

हे राजन्! जो मनुष्य हरि के मंदिर में वन्दनवार आरोपण करते हैं,—देव-कन्यागणों से परिवृत सुरश्रेष्ठ गण उन की उपासना करते रहते हैं॥ २१॥

केले के स्तम्भ-द्वारा हरिमंदिर को सजाने से वह मनुष्य-अप्सराओं के सहित आनंद भोगते हैं, और देवराज इन्द्र उनका स्वागत करते हैं।

पीठ-पात्र और वस्त्रादि का संस्कार।—प्रभु के ताम्रादि-निर्मित पात्र, वस्त्रादि और पीठादि,—इन सब की ही यथाविहित विधान से मार्जना करे॥ तिस में पीठ-शोधन-विषय में नारसिंह पुराण में लिखा है, विल्वपत्र से श्रीकृष्ण की पाद-पीठ की मार्जना करनी चाहिये। गरम जल के द्वारा धोने पर समस्त पातक से छूट सकता है॥ २२॥

तैजस पात्रादि शोधन।—मार्कण्डेयपुराण में लिखा है कि—तांबे के बने पात्र की खटाई से, रांग और सीसे के बने पात्र की भस्म से, और कांसी के पात्र की भस्म-युक्त जल से शुद्धि करे। प्लावनद्वारा अर्थात् ताप से गलाने पर द्रव पदार्थ की शुद्धि होती है॥ २३॥

वायुपुराण में भी लिखा है कि—सफेद सरसों के कल्क (रसीलाचर्ण) वा तिल के कल्क से मार्जन करने पर-मणि, हीरा, प्रवाल (मूंगा) मुक्ता, शंख, पाषाण का पात्र विशुद्ध होता है॥ २४॥

ब्रह्मपुराण में लिखा है कि—सोने, चांदी, शंख, पत्थर, सीपी, स्फटिकादि रत्न, कांसी, लोहा, तांबा, पीतल, रांग और सीसा,—इन सब के बने पात्र अन्नादि से लिप्त न होने पर केवल मात्र जल द्वारा धोने

निर्लेपानि तु शुद्ध्यन्ति केवलेनोदकेन तु।
शूद्रोच्छिष्टानि शोध्यानि त्रिधा क्षाराम्लवारिभिः ॥ इति ॥ २५ ॥

* * * * * * *

अतिदुष्टन्तु पात्रादि विशोध्यातिथ्यकर्मणे।
युञ्ज्यात्तत्परिवर्त्ताय प्रभु-कर्म्मान्तराय वा ॥
एतस्य परिवर्त्तेन प्रभवेऽन्यत्समर्पयेत्।
इत्ययं सर्वतो लोके सदाचारो विराजते ॥

मनुः।——ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदक-वारिभिः ॥ २६ ॥

शङ्खः।—अम्लोदकेन ताम्रस्य सीसस्य त्रपुणस्तथा।
क्षारेण शुद्धिं कांस्यस्य लोहस्य च विनिर्दिशेत् ॥ २७ ॥

किञ्च।——सूतिकोच्छिष्टभाण्डस्य सुराद्युपहतस्य च।
त्रिःसप्तमार्जनाच्छुद्धिर्न तु कांस्यस्य तापनम् ॥

अन्यत्र च।—ताम्रमम्लेन शुध्येत न चेदामिष-लेपनम्।
आमिषेण तु यल्लिप्तं पुनर्दाहेन शुद्ध्यति ॥ २८ ॥

भाषा टीका।

से ही शुद्ध होता है। इन सब पात्रों में शूद्र की उच्छिष्ट का स्पर्श होने से भस्म, खटाई और जल-द्वारा तीनार धोकर शुद्ध करे ॥ २५ ॥

पात्रादि अत्यन्त दूषित होने पर शुद्ध करके आतिथ्यादि कार्य में; अथवा इसके परिवर्त्तन में प्रभु के अन्यकार्य में प्रयुक्त करे। लोक में सर्वथा इस प्रकार सदाचार है, कि—इस पात्र के वदले प्रभु को अन्य पात्र प्रदान करे। मनुने कहा है कि—तांवे, लोहे, कांसी, पीतल, रांग और सीसे के पात्र यथानियम भस्म, अम्लोदक (जम्बीरादि का रस) और जल से शुद्ध करना चाहिये ॥ २६ ॥

शंख ने कहा है कि—तांवा, सीसा और रांग,—इन तीनों का अम्लरस से एवं कांसी और लोहा,—यह दो पात्र भस्म से शुद्ध करे ॥ २७ ॥

और भी लिखा है कि—साधारणतः अपवित्र विषय में शोधन कहा गया, किन्तु पात्र भारी दोष में दूषित होने से जिस प्रकार शुद्ध होते हैं,—वह कहा जाता है।—जिसका अशौच दूर नही हुआ है-एसी सद्यः प्रसूता स्त्री का उच्छिष्ट पात्र, दाई की उच्छिष्ट से छुआ पात्र एवं मद्यदूषित और रक्तदूषित पात्र—इक्कीस वार धोने से शुद्ध होता है;—किन्तु कांसी का पात्र इस प्रकार से शुद्ध नहीं होता, अग्नि से दग्ध करके उसको शुद्ध करे ॥ स्थानान्तर में और भी लिखा है, कि—तांवे का पात्र मांस से न छुआ जाने पर खटाई से उसकी शुद्धि हो सकती है, मांस लिप्त होने पर फिर अग्नि में तपा कर शुद्ध करे ॥ २८ ॥

* "अतिदुष्टन्तु पात्रादि विशोध्य हरये पुनः। नोपयुञ्जीत तत् किन्तु स्वोपयोगाय निःक्षिपेत् ॥ "—केषुचित् पुस्तकेषु अयमधिकः श्लोकोऽत्र दृश्यते। अर्थात—अपवित्र चीजसे अत्यन्त अशुद्ध वर्त्तनों को संशोधन करके फिर श्रीभगवान् के निमित्त प्रयोग न करे। परन्तु अपने अपने लिये उसको कोई काम में वर्त्त लेवे।

ब्राह्मे।——सूतिका-शव-विण्मूत्र-रजःस्वलहतानि च।
प्रक्षेप्तव्यानि तान्यग्नौ यच्च यावत् सहेदपि॥ २९॥

अतएव देवलः—

लोहानां दाहनाच्छुद्धिर्भस्मना गोमयेन वा।
दहनात् खननाद्वापि शैलानामम्भसापि वा॥
काष्ठानां तक्षणाच्छुद्धिर्मृद्गोमयजलैरपि।
मृण्मयानान्तु पात्राणां दहनाच्छुद्धिरिष्यते॥ ३०॥

मनुः—

मद्यैर्मूत्रपुरीषैर्वा श्लेष्मा-पूयास्थिष्ठीवनैः।
संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनः पाकेन मृण्मयम्॥ ३१॥

वृद्धशातातपः—

संहतानान्तु पात्राणां यदेकमुपहन्यते।
तस्यैवं शोधनं प्रोक्तं सामान्यद्रव्यशुद्धिकृत्॥ ३२॥

अथ वस्त्रादीनां (संस्कारः।) तत्र शङ्खः—

तान्तवं मलिनं पूर्वमाद्भिः क्षारैश्च शोधयेत्।

भाषा टीका।

ब्रह्मपुराण में लिखा है कि—नवप्रसूता स्त्री, शव, मद्य, मल और रजस्वला नारी-कर्तृक दूषित पात्र शुद्ध करना हो,—तो जब तक अग्नि के ताप को सहे तब तक अग्नि में रखकर निकाल लेवे॥ २९॥

देवल ने कहा है कि—दाहन द्वारा अथवा भस्म और गोबर से लोह (१) की शुद्धि होती है, अर्थात् सामान्यतः दूषित होने पर भस्म और गोबर द्वारा, और भारी दोष से दूषित होने पर अग्नि से शुद्ध करलेवे। तपाने, खोदने, और जल से पत्थर के पात्र की शुद्धि करनी चाहिये, अर्थात् सामान्यतः दूषित होने पर जल से धो लेवे, और भारी दोष से दूषित होने पर सात दिन तक मट्टी में गाड़ रक्खे, वा अग्नि के ताप से दग्ध करे। इस प्रकार दोष का हलका भारीपन विचार कर तक्षण (२) मिट्टी, गोबर और जल से काष्ठ के पात्र को शुद्ध करे। परन्तु दूसरी वार तपाकर मिट्टी का पात्र शुद्ध करे॥ ३०॥

मनुजी ने कहा है कि—मद्य, मूत्र, मल, कफ, पूय, (राद) अस्थि (हड्डी) खखार;—इन सब के द्वारा मिट्टी का पात्र दूषित होने पर दूसरी वार तपाकर शुद्ध करे॥ ३१॥

वृद्ध शातातप ने कहा है, कि—बहुत पात्र यदि एकत्र मिलित भाव से एक स्थान में हो, और उन में एक पात्र दूषित हो, तो—उस दूषित पात्र को ही शुद्ध करने से सब पात्र शुद्ध होंगे (३)॥ ३२॥

वस्त्रादिशोधन।—शंखने कहा है कि—तान्तव, (कार्पास-सूत्र-निर्मित) वस्त्रादि जो प्रथम मलीन अर्थात् मल-दूषित हुए हैं;—क्षार और जल से—उन वस्त्रादि की शुद्धि करे। फिर धूप वा वायु से शुखाकर ग्रहण

(१) यहां लोह शब्द से सुवर्ण रजतादि के बने धातु पात्र।

(२) तक्षण छीलना।

३ जिस पुरुष में अपवित्र का स्पर्श होता है: केवल मात्र—वही पुरुष दूषित होता है। उस को स्पर्श करने से स्पर्श करने वाला अशुद्ध नहीं होता। सब द्रव्यों के सम्बन्ध में भी यही विधि जानना।

अंशुभिः शोधयित्वा वा वायुना वा समाहरेत् ॥
ऊर्णपट्टांशुक-क्षौमदुकूलाविकचर्मणाम् ।
अल्पाशौचे भवेच्छुद्धिः शोषण-प्रोक्षणादिभिः ॥
तान्येवामेध्य-लिप्तानि नेनिज्याद्गौरसर्षपैः ।
धान्य-कल्कैः पर्ण-कल्कै रसैश्च फल-वल्कलैः ॥
तूलिकाद्युपधानानि पुष्परक्ताम्वराणि च ।
शोधयित्वातपे किञ्चित् करैरुन्मार्जयेन्मुहुः ॥
पश्चाच्च वारिणा प्रोक्ष्य शुचीन्येवमुदाहरेत् ।
तान्यप्यतिमलाक्तानि यथावत् परिशोधयेत् ॥ ३३ ॥

शातातपः ।—कुसुम्भकुङ्कुमारक्तास्तथा लाक्षा-रसेन च ।
प्रक्षालनेन शुद्ध्यन्ति चाण्डालस्पर्शने तथा ॥ ३४ ॥

यमः ।——कृष्णाजिनानां वातैश्च वालानां मृद्भिरम्भसा ।
गोमूत्रेणास्थि-दन्तानां क्षौमानां गौरसर्षपैः ॥ ३५ ॥

शंखः ।——सिद्धार्थकानां कल्केन दन्तशृङ्गमयस्य च ।
गोवालैः फलपात्राणामस्थ्नां स्याच्छृङ्गवत्तथा ॥ ३६ ॥

भाषा टीका ।

करे । रोमज वस्त्र, पट्टवस्त्र, रेशमीवस्त्र, मेषरोमज वस्त्र, (ऊन के वस्त्र) और चर्म,- इन सब वस्त्रों के सामान्य शुद्धि स्थान में अर्थात् यह सब वस्त्र यदि अल्प मात्र अशुद्ध हों,-तो सूर्य की किरण वा वायु से सुखाकर जल के छींटों से शुद्ध करे। अपवित्र वस्तु के सहित इन सब वस्तुओं का स्पर्श होने पर सफेद सरसों, धान्य - कल्क (धान्य की पिट्ठी) पत्र- कल्क, फल का वल्कलोत्थ रस,- (फलों की चटनी का रस) इन सब से शुद्ध करे । तूलिका (निंवाड़ का पलँग) उपधान (विछौना) कुसुम-रंजित और स्वर्णरत्नादि- खचित वस्त्र अशुद्ध होने पर थोड़ी देर धूप में रखने से सूखने पर वार वार उसको हाथ से घिसे, फिर उसपर जल के छींटे देकर " पवित्र "— यह शब्द उच्चारण करे । यह सब वस्त्र अधिक मलयुक्त होने पर पूर्व कहे विधान से शुद्ध कर ले ॥ ३३ ॥

शातातप ने कहा है कि,—कुसुम्भ, कुकुंम, और लाक्षा-रस-द्वारा रँगे वस्त्र चाण्डालादि के द्वारा छुए जाने पर धोने से उनकी शुद्धि होती है ॥ ३४ ॥

यम ने कहा है कि,—कृष्णसारमृग-चर्म वायु द्वारा, चामर मृत्तिका और जल-द्वारा; शंखादि अस्थि और हाथी आदि के दांत- इत्यादि गोमूत्र-द्वारा और रेशमीन वस्त्र सफेद सरसों से शुद्ध करे ॥ ३५ ॥

शंख ने कहा है कि,-हाथी इत्यादि के दंतनिर्मित द्रव्य और सींग के वने द्रव्य श्वेत सर्षप (सरसों) के कल्क से और नारिकेलादि-फलमय पात्र गो-पुच्छ द्वारा शुद्ध करे। सींग शुद्धि के समान सफेद सरसों से अस्थि की शुद्धि करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

किञ्च।—— निर्यासानां गुड़ानाञ्च लवणानां तथैव च।
कुसुम्भकुसुमानाञ्च ऊर्णाकार्पासयोस्तथा।
प्रोक्षणात् कथिता शुद्धिरित्याह भगवान् यमः॥ ३७॥

मनुः।——अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं वहूनां धान्यवाससाम्।
पूक्षालनेन स्वल्पानामद्भिरेव विधीयते॥
चेलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाक-मूल-फलानाञ्च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते॥
प्रोक्षणात्तृणकाष्ठानि पलालञ्च विशुध्यति।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृण्मयम्॥ ३८॥

किञ्च।——यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तद्गतः।
तावन्मृद्वारि वा देयं सर्वासु द्रव्य-शुद्धिषु॥

वृहस्पतिः।-वस्त्र-वैदल-चर्मादेः शुद्धिः प्रक्षालनं स्मृतम्।
अतिदुष्टस्य तन्मात्रं त्यजेच्छित्वा तु शुद्धये॥

विष्णुः।——मृत्-पर्ण-तृण-काष्ठानां श्वास्थि-चाण्डाल-वायसैः।
स्पर्शने विहितं शौचं सोम-सूर्यांशु-मारुतैः॥ ३९॥

भाषा टीका।

और भी लिखा है कि,-यम कह गये हैं,-जल के छींटे देकर निर्यास (हिङ्गुप्रभृति) गुड़ लवण, कुसुम्भ पुष्प, पशु-लोम और कार्पास की शुद्धि होती है॥ ३७॥

मनु ने कहा है कि,-यदि धान्य और वस्त्र का परिमाण अधिक हो,-तो जल के छींटों से शुद्ध करे, किन्तु परिमाण में कम होने से जल से धो लेवे। चर्म, फटे वांस और वेंत की वनी वस्तु भी वस्त्र शुद्धिवत् शुद्ध करे। जिस प्रकार धान्य शुद्ध किया जाता है,—वैसे ही शाक, फल और मूल भी शुद्ध करे। प्रोक्षणद्वारा तृण काष्ठ और पलाल शुद्ध होता है। घर को मार्जन (झाड़ने बुहारने) और लीपने से शुद्ध करे, और मिट्टी के वने पात्र फिर तपाकर शुद्ध कर लेवे॥ ३८॥

और भी लिखा है कि,- अपवित्र द्रव्य द्वारा लिप्त वस्तु से जव तक उस द्रव्य का लेप और गंध दूर न हो,-तव तक जल और मृत्तिका देवे,-सव द्रव्यों की शुद्धि में ही यही विधि है। वृहस्पति ने कहा है कि,- वस्त्र, फाड़े हुए वांस और वेत की वस्तु और चर्म इत्यादि द्रव्य को शुद्ध करना हो, तो-प्रक्षालनमात्र करे; किन्तु भारी दोष से दूषित होने से जितने परिमाण दूषित हो-शुद्धि के लिये उतना ही काट कर फेंक देवे॥ विष्णु ने कहा है,— कुत्ता, अस्थि, चणडाल और काक,-इन के द्वारा मट्टी, पत्र,तृण और काष्ठ-स्पर्श होने पर चंद्रमा की किरण, धूप और वायु-द्वारा शुद्ध करना चाहिये॥ ३९॥

वौधायनः।—आसनं शयनं यानं नावः पन्थास्तृणानि वा ।
मारुतार्केण शुद्ध्यन्ति पक्केष्टकचितानि च ॥

अथ धान्यादीनां (संस्कारः) ।

तत्र वौधायनः।—व्रीहयः प्रोक्षणादद्भिः शाक-मूल-फलानि च ।
तन्मात्रस्यापहाराद्वा निस्तुषीकरणेन च ॥ ४० ॥
शङ्खः।—श्रपणं घृततैलानां प्लावनं गोरसस्य च ।
भाण्डानि प्लावयेदाद्भिः शाक-मूल-फलानि च ।
ब्राह्मे।—द्रवद्रव्याणि भूरीणि परिप्लाव्यानि चाम्भसा ॥ ४१ ॥
शस्यानि व्रीहयश्चैव शाक-मूल-फलानि च ।
त्यक्त्वा तु दूषितं भागं प्लाव्यान्यथ जलेन तु ॥ ४२ ॥
बृहस्पतिः।—तापनं घृत-तैलानां प्लावनं गोरसस्य च ।
तन्मात्रमुद्धृतं शुद्ध्येत् कठिनन्तु पयो दधि ।
अविलीनं तथा सर्पिर्विलीनं श्रपणेन तु ॥ ४३ ॥
अन्यत्रच ।—आधारदोषे तु नयेत् पात्रात् पात्रान्तरं द्रवम् ।
घृतञ्च पायसं क्षीरं तथैक्षवरसो गुड़ः ।
शूद्रभाण्डास्थितं तक्रं तथा मधु न दुष्यति ॥ ४४ ॥

भाषा टीका ।

वौधायन ने कहा है—वायुयुक्त आतपताप (धूप) से आसन, शय्या, यान, नौका, पथ, तृण और पक्की ईंटों का घर इत्यादि शुद्ध होता है॥

धान्यादिशोधन।—इस विषय में वौधायन ने कहा है कि,—जल के छींटे देकर धान्य,शाक,मूल और फल शुद्ध करे,अथवा दोष के परिमाणानुसार तत्परिमित त्याग वा निस्तुषकरण (भूसी आदि दूर करने) से शुद्ध कर ले ॥ ४० ॥

शंख ने कहा है;—घृत, तैल और गोरस प्लावन-द्वारा शुद्ध होता है। अर्थात् पात्र जल में डुवो ने से शुद्ध होता है। और जल से धोने पर ही शाक, मूल तथा फल की शुद्धि होती है। ब्रह्मपुराण में लिखा है, कि,—परिमाण से अधिक होने पर जल-द्वारा प्लावन कर द्रवपदार्थ को शुद्ध करे, अर्थात पात्र के सहित जल में डुवोने से ही शुद्ध होता है ॥ ४१ ॥

धान्य और अन्यान्य शस्य, शाक, मूल, फल,—इन सव वस्तुओं का दूषित अंश फेंक कर शेष जल में डुवो कर शुद्ध कर ले ॥ ४२ ॥

वृहस्पति ने कहा है, कि—अग्नि के ताप से घृत और तेल, तथा जल में डुवोकर गोरस को शुद्ध करना चाहिये। जितना अंश दूषित हुआ है,—उतना अंश निकाल कर फेंक देने से कठिन दुग्ध और दधि की शुद्धि होती है। द्रवाभूत घृत न होने पर उसकी शुद्धि भी इसी प्रकार होती है, द्रव होने पर जल में डुवो कर शुद्ध करे ॥ ४३ ॥

यदि द्रव्याधार दूषित हो,—तो द्रव पदार्थ उस पात्र

* घृतादि का प्लावन असम्भव है, अतएव घृतादि का पात्र जल में डुवो कर शुद्ध करे,—यही उसका प्लावन है।

किञ्च मनुः।—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ इति ॥

अन्येऽपि शुद्धिविधयो द्रव्याणां स्मृतिशास्त्रतः ।
अपेक्ष्या वैष्णवैर्ज्ञेयास्तत्तद्विस्तारणैरलम् ॥ ४५ ॥

अथ पूजार्थतुलसीपुष्पाद्याहरणम् ।

प्रणम्याथ महाविष्णुं प्रार्थ्यानुज्ञान्तु वैष्णवः ।
समाहरेच्छ्रीतुलसीं पुष्पादि च यथोदितम् ॥

यच्च हारितिवचनं।—स्नानं कृत्वा तु ये केचित् पुष्पं गृह्णन्ति वै द्विजाः ।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत् ॥ इति ॥

तच्च मध्याह्न-स्नानविषयं, यत उक्तं;-

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये—

अस्नात्वा तुलसीं छित्त्वा देवार्थे पितृ-कर्मणि ।
तत् सर्वं निष्फलं याति पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥
किन्त्वत्र वाक्यान्तरं मृग्यम् ॥ ४६॥

अथ गृहस्नान-विधिः।

स्वगृहे वा चरन् स्नानं प्रक्षाल्याङ्घ्री करौ तथा ।

भाषा टीका

से दूसरे पात्र में रक्खे । शूद्र के पात्र में यदि घृत, दही, दूध, इक्षु का रस, गुड़, मट्ठा और मधु हो,-तो उस में अशुद्ध नही होता ॥ ४४ ॥

मनुजी ने और भी कहा है, कि—यदि हाथ में अन्न व्यतिरिक्त वस्तु होने के समय किसी प्रकार उच्छिष्ट का स्पर्श हो जाय,-तो हाथ की वस्तु को विना ही रक्खे आचमन करे । वैष्णव-गणों को स्मृति से संग्रह कर द्रव्य शुद्धी का अन्यान्य विषय जानना चाहिये; यहां उसको लिखकर ग्रंथ वढ़ा ने का आवश्यकता नही है ॥ ४५ ॥

अनन्तर पूजा के निमित्त तुलसी, पुष्प, पत्र और अंकुर प्रभृति आहरण ।- इसके पीछे विष्णुभक्त मनुष्य महाविष्णु को नमस्कार करे, फिर आज्ञा लेकर तुलसी आहरण और यथायोग्य पुष्पादि का संग्रह करना चाहिये । इस विषय में हारीत वचन है, कि- विना स्नान किये किसी ब्राह्मण के पुष्प लाने पर देवता उसको ग्रहण नहीं करते,-वह काष्ठ की समान भस्म होता है, परन्तु-यह मध्याह्नकालीन स्नान के विषय में समझना चाहिये । अतएव पद्मपुराण के वैशाख महात्म्य में कहा है, कि- देवकार्य के लिये और पितृ कार्य के लिये बिना स्नान किये तुलसी चयन करने से,वह निष्फल होती है। किन्तु पंचगव्य के स्पर्श से उस तुलसी की शुद्धि हो सकती है । परन्तु इस विषय में वचनान्तर अन्वेषण (ढूंढ़ने) की आवश्यकता है ॥ ४६ ॥

गृहस्नान-विधि ।- अथवा अपने घर में स्नान करके हाथ पैर धोय-आचमन, प्राणायाम और न्यासानुष्ठान

आचम्यायम्य च प्राणान् कृतन्यासो हरिं स्मरेत् ॥
ततो गङ्गादिकं स्मृत्वा तुलसीमिश्रितैर्जलैः ।
पूर्णे पात्रे समस्तानि तीर्थान्यावाहयेत् कृती ॥

आवाहन-मन्त्रश्चायम् —

"गङ्गे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति ! ।
नर्मदे ! सिन्धुकावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु" ॥ इति ॥
अथवा जाह्नवीमेव सर्वतीर्थमयीं बुधः ।
आवाहयेद्द्वादशभिर्नामभिर्जलभाजने ॥

तानि चोक्तानि —

"नलिनी नन्दिनी सीता मालिनी च महापगा ।
विष्णुपादार्घ्यसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी,, ।
भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी ॥

पद्मपुराणे च वैशाख-माहात्म्ये —

नन्दिनीत्येव ते नाम देवेषु नलिनीति च ।
दक्षा पृथ्वी च विहगा विश्वनाथा शिवामृता ॥
विद्याधरी महादेवी तथा लोकप्रसादनी ।
क्षमावती जाह्नवी च शान्ता शान्तिप्रदायिनी " ॥इति ॥ ४७ ॥
अथाचम्य गुरुं स्मृत्वाऽनुज्ञां प्रार्थ्य च पूर्ववत्र ।
कृष्ण--पादाब्जतो गङ्गां पतन्तीं मूर्द्ध्नि चिन्तयेत् ॥

तथा चोक्तं श्रीनारदपञ्चरात्रे —

स्वस्थितं पुण्डरीकाक्षं मन्त्रमूर्त्तिं प्रभुं स्मरेत् ।

भाषा टीका ।

कर श्रीहरि को स्मरण करे । फिर कृती मनुष्य गंगादि का स्मरण करके तुलसी-संयुक्त जलपूर्ण पात्र में तीर्थों का आवाहन करना चाहिये । आवाहन मंत्रार्थ यथा;—' हे गंगे ! हे यमुने ! हे गोदावरि ! हे सरस्वति ! हे नर्मदे ! हे सिंधु ! हे कावेरि !- इस जल में अधिष्ठित होवो । अथवा बुद्धिमान् पुरुष श्रीगंगा जी को ही बारह नाम द्वारा जल-पात्र में आवाहन करे । बारह नाम—यथा; " नलिनी, नन्दिनी, सीता, मालिनी, महापगा, विष्णुपादार्घ्यसंभूता, गंगा; त्रिपथगामिनी, भागीरथी, भोगवती, जाह्नवी और त्रिदशेश्वरी " ॥ पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में भी लिखा है, कि-देवलोक में तुम्हारा नाम-" नन्दिनी, नलिनी, दक्षा, पृथ्वी, विहगा, विश्वनाथा, शिवा, अमृता, विद्याधरी, महादेवी, लोकप्रसादनी, क्षमावती, जाह्नवी, शान्ता और शान्तिप्रदायिनी " है ॥ ४७ ॥

फिर आचमन के पीछे गुरु का स्मरण और पूर्व की समान उनकी आज्ञा ले-इस प्रकार चिन्ता करे, कि--श्रीकृष्ण के चरण-कमलों से गंगा अपने मस्तक पर गिरती है ॥ नारदपंचरात्र में भी कहा गया है, कि-मंत्रमूर्त्ति, कमललोचन, अनन्त सूर्य के तुल्य, प्रभु वासुदेव को अपने हृदय-प्रदेश में विराजमान चिन्ता

अनन्तादित्य-सङ्काशं वासुदेवं चतुर्भुजम् ॥
शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधरं पीताम्वरावृतम् ।
श्यामलं शान्तवदनं प्रसन्नं वरदेक्षणम् ॥
दिव्यचंदन-लिप्ताङ्गं चारुहाससुखाम्बुजंम् ।
अनेकरत्नसंच्छन्नज्वलन्मकरकुण्डलम् ॥
वनमालापरिवृतं नारदादिभिरर्च्चितम् ।
केयूरवलयोपेतं सुवर्णमुकुटोज्ज्वलम् ॥
सर्व्वाङ्गसुन्दरं देवं सर्व्वाभरणभूषितम् ।
तत्पादपङ्कजाद्धारां निपतन्तीं स्व-मूर्द्धनि ॥
चिन्तयेद्ब्रह्मरन्ध्रेण प्रविशन्तीं स्वकां तनुम् ।
तया संक्षालयेत् सर्व्वमन्तर्द्देहगतं मलम् ॥
तत्क्षणाद्विरजा मन्त्री जायते स्फटिकोपमः ।
इदं स्नानवरं मन्त्रात् सहस्रमधिकं स्मृतम् ॥ इति ॥४८ ॥

सकृन्नारायणेत्यादि वचनं तत्र कीर्त्तयेत् ।
स्नान-काले तु तन्नाम संस्मरेच्च महाप्रभुम् ॥

तथा च कूर्म्मपुराणे —

आपो नारायणोद्भूतास्ता एवास्यायनं यतः ।
तस्मान्नारायणं देवं स्नान काले स्मरेद्बुधः ॥ इति ॥ ४९ ॥

भाषा टीका ।

करे । उनके अनन्तसूर्य की समान कान्ति है, चार हाथ हैं,— उन चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म है, वह पीतवासा अर्थात् पीले वस्त्र धारण किये, श्यामलवर्ण, प्रशान्तमुख, एवं प्रसन्न हैं, उनके नेत्र देखने से बोध होता है,-मानो वर देने को उद्यत हो रहे हैं, उनके सब अंग दिव्य चंदन से चर्चित और वदनकमल में शोभायमान हास्य विराजित है, उनके दोनों कानों में अनेक प्रकार के रत्न-खचित मकराकृत कुण्डल देदीप्यमान हो रहे हैं; उनके गले में वनमाला शोभायमान है, नारद इत्यादि ऋषि उनकी पूजा करते हैं, वे केयूर और वलय (कड़ूला) से अलंकृत, स्वर्णमुकुट से देदीप्यमान, क्रीड़ा-निरत, सर्वांगसुंदर और सब गहनों से विभूषित हैं । उनके चरणकमल से निकली धारा अपने मस्तक पर गिरती ब्रह्मरन्ध्र-द्वार से अपने देह के भीतर प्रवेश करती हैं,-यह चिन्ता करे । और उससे शरीर के भीतर के मल-राशि धोवे । दीक्षित पुरुष इस प्रकार चिन्ता करने से तत्काल निर्मल होकर स्फटिकवत् शुद्ध होंगे। इस प्रकार कहा है कि,-यह सर्वप्रधान स्नान,— स्नानमंत्र से सहस्रगुण उत्तम है ॥ ४८ ॥

इस स्नान के समय 'नारायण' इत्यादि अर्थात् " ध्यायेन्नारायणं देवं ,, इत्यादि वचन एक वार कहकर नारायण का नाम उच्चारण करना चाहिये, और सर्वप्रधान प्रभु नारायण को स्मरण करना चाहिये, ॥ कूर्मपुराण में लिखा है, कि-नारायण से जल उत्पन्न हुआ है, और जल ही नारायण का वास-स्थान है,- इसी कारण बुद्धिमान् पुरुष स्नान के समय श्रीनारायण

स्नायादुष्णोदकेनापि शक्तोऽप्यामलकैस्तथा ।
तिलैस्तैलैश्च सम्बर्ज्य प्रतिसिद्धदिनानि तु ॥

अथोष्णोदक-स्नानम् ।

षट् त्रिंशन्मते —

आपः स्वभावतो मेध्या विशेषादग्नियोगतः ।
तेन सन्तः प्रशंसन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥

यमश्च ।— आपः स्वयं सदा पूता वह्नितप्ता विशेषतः ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु उष्णाम्भः पावनं स्मृतम् ॥

यच्चोक्तं शंखेन —

स्नातस्य वह्नितप्तेन तथैवातपवारिणा ।
शरीर-शुद्धिर्विज्ञेया न तु स्नान-फलं भवेत् ॥ इति ॥
तत्तु काम्य-नैमित्तिकविषयम् ॥ ५० ॥

अतएवोक्तं गर्गेण —

कुर्य्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च ।
नित्यं याद्दच्छिकञ्चैव यथारुचि समाचरेत् ॥

अथ तत्र निषिद्धदिनानि ।

तत्र यमः ।—पुत्र-जन्मनि संक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्र-सूर्य्ययोः ॥
अस्पृश्य-स्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ।

भाषा टीका ।

को स्मरण करे ॥ ४९ ॥

शक्त अर्थात् सुस्थदेह होने पर भी निषिद्ध दिन के अतिरिक्त अन्यान्य दिन में आमलकी, तिल वा तेल मल कर अथवा उष्णोदक (गरम जल) से भी स्नान कर सकता है ।

उष्ण जल से स्नान ।— षट्त्रिंशन्मत में है, कि-स्वभाव से ही जल शुद्ध है, अग्नि का संयोग होने पर विशेष प्रकार से शुद्ध होता है,-इसी कारण साधुगण गरम जल से स्नान का गुण-वर्णन करते हैं ॥ यम ने कहा है, कि-जल स्वभाव से ही सदा शुद्ध है, अग्नि में तप्त होने से अधिकतर शुद्ध होता है । अतएव सभी समय में उष्णोदक शुद्ध कहा गया है । " जो पुरुष अग्नि के तपे वा धूप के तपे जल से स्नान करते हैं,—तो जानना चाहिये कि-उनका केवल देहमात्र शुद्ध होता है, स्नान का फल नहीं होता " यह शंखने जो कह गये हैं,-वह काम्य और नैमित्तिक विषय में समझना होगा ॥ ५० ॥

इसी कारण गर्ग ने कहा है, कि-नैमित्तिक और काम्य स्नान शीतल जल से करना चाहिये । नित्य स्नान का कोई विशेष नियम नही है । इच्छानुसार क्या शीतल क्या गरम;-सब प्रकार के जल से कर सकता है ।

उष्ण जल से स्नान के संबंध में निषिद्ध दिन।— इस विषय में यम ने कहा है;-पुत्र के जन्म दिन में, संक्रान्ति में, चंद्रसूर्य के ग्रहण में और अस्पृश्य का

वृद्धमनुः।— पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा ॥
स गो-हत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः ।

अथामलक-स्नानम् ।

तत्र मार्कण्डेयः —

तुष्यत्यामलकैर्विष्णुरेकादश्यां विशेषतः ।
श्रीकामः सर्व्वदा स्नानं कुर्व्वीतामलकैर्नरः ॥
सप्तम्यां न स्पृशेत्तैलं नीलिवस्त्रं न धारयेत ।
न चाप्यामलकैः स्नायान्न कुर्य्यात् कलहं नरः ॥

भृगुः।— अमां षष्ठीं सप्तमीञ्च नवमीञ्च त्रयोदशीम् ।
संक्रान्तौ रविवारे च स्नानमामलकैस्त्यजेत् ॥

याज्ञवल्क्यश्च।-धात्रीफलैरमावास्या-सप्तमी-नवमीषु च ।
यः स्नायात्तस्य हीयन्ते तेजश्चायुर्धनं सुताः ॥

अथ तिलस्नानम् ।

तत्र वृहस्पतिः ।--सर्व्वकालं तिलैः स्नानं पुनर्व्यासोऽब्रवीन्मुनिः ।
षट्त्रिंशन्मते ।--तथा सप्तम्यमावास्या-संक्रान्ति-ग्रहणेषु च ॥
धन-पुत्र-कलत्रार्थी तिलस्पृष्टं न संस्पृशेत् ।

अथ तैलस्नानम्

तत्रैव ।— षष्ठ्यां तैलमनायुष्यं चतुर्ष्वपि च पर्व्वसु ॥ ५१ ॥

भाषा टीका ।

स्पर्श होने पर गरम जल से स्नान करना ठीक नहीं है। वृद्ध मनु ने कहा है,— जो पूर्णिमा और अमावास्या में गरम जल से स्नान करते हैं,-वह इस लोक में गोहत्या के पाप में लिप्त होते हैं,-इस में संदेह नहीं।

आमलक-स्नान ।—इस विषय में मार्कण्डेय ने कहा है कि,—आमलकी से श्रीविष्णु की प्रसन्नता होती है, विशेष कर—वह भगवान् एकादशी में तुष्टि लाभ करते हैं। प्रतिदिन आमलकी से स्नान करना लक्ष्मी की कामना करने वाले पुरुष का कर्त्तव्य है । सप्तमी तिथि में तेल स्पर्श न करे, नील वर्ण का वस्त्र भी धारण न करे, और आमलक द्वारा स्नान, तथा कलह करना भी उचित नहीं है ॥ भृगु ने यह बात कही है,- आमावास्या, षष्ठी, सप्तमी, नवमी, त्रयोदशी, संक्रान्ति और रविवार,-इन सब दिनों में आमलक स्नान निषिद्ध है ॥ याज्ञवल्क्य ने कहा है,—आमवस्या, सप्तमी और नवमी तिथि में आमलक-द्वारा स्नान करने से- उस मनुष्य का तेज, आयुः, धन और पुत्र- नाश होता है ।

तिल-स्नान ।—इस विषय में बृहस्पति ने कहा है कि व्यास ऋषि पुनर्वार सब समय में ही तिल-स्नान की विधि निरूपण कर गये हैं ।

षट्त्रिंशन्मत में लिखा है कि-धन, पुत्र और कलत्र की कामना करने वाला मनुष्य सप्तमी अमावास्या, संक्रान्ति और ग्रहण-काल,-इन सब दिनों में तिल-स्पर्श करने वाले पुरुष का स्पर्श न करे ।

योगियाज्ञवल्क्यः —

दशम्यां तैलमस्पृष्ट्वा यः स्नायादविचक्षणः ।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति "आयुःप्रज्ञा-यशो-धनम्" ॥ ५२ ॥

मोहात् प्रतिपदं षष्ठीं कुहूं रिक्तातिथिं तथा ।
तैलनाभ्यञ्जयेद्यस्तु चतुर्भिः परिहीयते ॥
पञ्चदश्यां चतुर्द्दश्यां सप्तम्यां रवि-संक्रमे ।
द्वादश्यां सप्तमीं षष्ठीं तैल-स्पर्शं विवर्जयेत् ॥ ५३ ॥

अन्यत्र।— सप्तम्यां न स्पृशेत्तैलं नवम्यां प्रतिपद्यपि ।
अष्टम्याञ्च चतुर्द्दश्याममावास्यां विशेषतः ॥ ५४ ॥

किञ्च ।— स्नाने वा यदि वास्नाने पक्वतैलं न दुष्यति ॥ ५५ ॥

किञ्चात्रिस्मृतौ ।—तैलाभ्यक्तो घृताभ्यक्तो विण्मूत्रे कुरुते द्विजः ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥ ५६ ॥

अथाङ्ग-मलमुत्तार्य स्नात्वा विधिवदाचरेत् ।—
नासालग्नेन चुलुकोदकेनैवाघमर्षणम् ॥
ततो गुर्वादि-पादोदैः प्राग्वत् कृत्वाभिषेचनम् ।
कार्योऽभिषेकः शंखेन तुलसी मिश्रितैर्जलैः ॥

भाषा टीका ।

तैलस्नान-विधि ।— षट्त्रिंशन्मत में लिखा है कि,—षष्ठी- तिथि और चारों पर्व-वे दिन तैल का व्यवहार करने से परमायु का क्षय होता है ॥ ५१ ॥

योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है कि,—जो अदूरदर्शी मनुष्य दशमी तिथि में तैल का स्पर्श विना किये स्नान करता है,—उसकी परमायु, बुद्धि, कीर्ति और धन समस्त ही नष्ट होता है ॥ ५२ ॥

जो पुरुष अज्ञानता के कारण प्रतिपत्, षष्ठी, अमावास्या और रिक्ता के दिन * तैल मलता है,—उसकी ऊपर-कही परमायु—इत्यादि चार का विनाश होता है । पंचदशी, सप्तमी सूर्य्य-संक्रमण, द्वादशी, सप्तमी और षष्ठी,— इन सब दिनों में तैलाभ्यङ्ग अर्थात् तेल मलना निःषिद्ध है ॥५३

* रिक्ता ।—चतुर्थी, नवमी और चतुर्द्दशी ।

और भी लिखा है कि,—सप्तमी, नवमी, प्रतिपत्, अष्टमी और चतुर्दशी,— इन कई तिथि में; विशेष कर अमावस्या के दिन तेल-स्पर्श करना निषिद्ध है॥ ५४

और भी कहा है कि,—स्नान के लिये हो, वा स्नान न करने में ही हो,—पक्व तेल के व्यवहार में दोष का स्पर्श नही होता, अर्थात् क्या स्नान के समय में क्या अन्य समय में- पक्व तेल का व्यवहार कर सकता है ॥ ५५ ॥

अत्रिस्मृति में कहा है; कि— ब्राह्मण होकर तैलाभ्यङ्ग कर मूत्र पुरीष—त्याग ने पर एक अहोरात्र उपवासी रह पंचगव्य सेवन करे,— इस प्रकार करने से ही उसकी शुद्धि होती है ॥ ५६ ॥

फिर गात्र-संमार्जन करने के पीछे विधि-पूर्वक स्नान कर नासिका-स्पृष्ट वारिगण्डूष द्वारा (जल के कुल्ले से) अघमर्षण संपादन करे । फिर गुरु आदि

अथ तुलसी-जलाभिषेक-माहात्म्यम् ।

गारुडे ।— मार्जयत्यभिषेके तु तुलस्या वैष्णवो नरः ।
सर्वतीर्थमयं देहं तत्क्षणात् द्विज ! जायते ॥
तुलसी-दलजस्नाने एकादश्यां विशेषतः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो यद्यपि ब्रह्महा भवेत ॥
तन्मूल-मृत्तिकाभ्यङ्गं कृत्वा स्नाति दिने दिने ।
दशाश्वमेधावभृतं लभते स्नानजं फलम् ॥
तुलसीदल- संमिश्रं तोयं गङ्गासमं विदुः ।
यो वहेच्छिरसा नित्यं धृता भवति जाह्नवी ॥
तुलसीदल-संमिश्रं यस्तोयं शिरसा वहेत ।
सर्वतीर्थाभिषेकस्तु तेन प्राप्तो न संशयः ॥
पादोदकं ताम्रपात्रे कृत्वा सतुलसीदलम् ।
शङ्खे कृत्वाभिषिञ्चेत मूलेनैव स्व-मूर्द्धनि ॥

तन्माहात्म्यं चोक्तं पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये—
द्वारकाचक्रसंयुक्तं शालग्रामशिला-जलम् ।
शङ्खे कृत्वा तु निक्षिप्तं स्नानार्थं ताम्रभाजने ॥
तुलसी-दलसंयुक्तं ब्रह्महत्याविनाशनम् ॥ इति ॥ ५७ ॥
स्नान-शाटीतरेणैव वाससाम्भांसि गात्रतः ।
संमार्ज्य वाससी दध्यात् परिधानोत्तरीयके ॥ ५८ ॥

भाषा टीका ।

के चरणामृत से पूर्ववत् स्नान करके तुलसी-संयुक्त शंख के जलद्वारा स्नान करना चाहिये।

तुलसी-जल द्वारा स्नान का माहात्म्य ।—गरुड़ पुराण में वर्णित है कि,—विप्र ! वैष्णव जन स्नान के समय शरीर में तुलसी द्वारा मार्जन करने से तत्काल उसका शरीर सर्वतीर्थमय होता है । ब्राह्मण का वध करने पर भी तुलसीसंयुक्त जल से स्नान द्वारा, विशेष कर एकादशी तिथि में स्नान करने से सव पाप छूट जाते हैं। नित्य तुलसी के जड़ की मिट्टी देह में मलने से दश अश्वमेध के अवभृत (यज्ञान्त) स्नान का फल प्राप्त होता है । बुद्धिमान् पुरुष तुलसी संयुक्त जल को गंगा जल की समान बिचारते हैं। जो मनुष्य नित्य शिर पर तुलसीसंयुक्त जल वहन करता है, गंगा धारण करने से जो फल होता है-वह उसी फल को प्राप्त होता है । तुलसी-दलसंयुक्त जल शिर पर रखने से—वह पुरुष सव तीर्थों में स्नान करने का फल पाता है, इसी में संदेह नहीं । ताम्रपात्र से तुलसी-दलसंयुक्त विष्णु-पादोदक शंख में लेकर मूलमंत्रोच्चारणसहित अपने शिर पर अभिषेक करे। उसकी माहात्म्य ही पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में लिखा है कि,—जो द्वारकाचक्रान्वित शालग्रामशिलोद्भव तुलसीदलसंयुक्त जल स्नान के निमित्त शंख में लेकर ताम्रपात्र में डाला गया है;—उससे ब्रह्मवधजनित पातक दूर होता है ॥ ५७ ॥

जो वस्त्र पहर कर स्नान किया गया है,—उस के अतिरिक्त अन्य वस्त्र द्वारा अंग से जल पोंछ कर पहरने के वस्त्र और डुपट्टा धारण करना चाहिये ॥५८॥

अथ वस्त्रधारण-विधिः ।

तत्रात्रिः—

अधौतं कारुधौतं वा परेद्युर्धौतमेव वा ।
काषायं मलिनं वस्त्रं कौपीनञ्च परित्यजेत् ॥
न चार्द्रमेव वसनं परिदध्यात् कदाचन ॥ ५९ ॥

भृगुः ।— नग्नो मलिनवस्त्रः स्यान्नग्नश्चार्द्रपटः स्मृतः ।
नग्नो द्विगुणवस्त्रः स्यान्नग्नो रक्तपटस्तथा ॥
नग्नश्च शृतवस्त्रः स्यान्नग्नः स्निग्धपटस्तथा ।
द्विकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एव च ॥
श्रौतं स्मार्त्तं तथा कर्म न नग्नश्चिन्तयेदपि ।
मोहात् कुर्वन्नधो गच्छेत्तद्भवेदासुरं स्मृतम् ॥
जपहोमोपवासेषु धौतवस्त्रधरो भवेत् ।
अलङ्कृतः शुचिर्मौनी श्राद्धादौ च जितेन्द्रियः ॥

गोभिलः ।—एक वस्त्रो न भुञ्जीत न कुर्याद्देवतार्चनम् ।

त्रैलोक्यसम्मोहनपञ्चरात्रे —

शुक्लवासा भवेन्नित्यं रक्तञ्चैव विवर्जयेत् ॥ ६० ॥

अंगिराः ।—शौचं सहस्ररोमाणां वाय्वग्न्यर्केन्दु-रश्मिभिः ।

भाषा टीका ।

वस्त्रधारण-विधि ।—इस विषय में अत्रि ऋषि ने कहा है कि,- जो वस्त्र; बिना धोया हुआ है, जो धोबी के धुला अथवा दिवसान्तर में जो धोया गया है, वे सब वस्त्र और काषाय वस्त्र,-मलिन वस्त्र और कौपीन,-यह सब नही पहरने चाहिये । गीला वस्त्र पहरना भी अच्छा नहीं है ॥ ५९ ॥

मलिन वस्त्र पहरने वाले को उलङ्ग (नंगा) कहा जाता है, साधारण परिमाण से जिस मनुष्य के वस्त्र आधे हैं,- उसको भी नंगा कहा जाता है । जो साधारण परिमाण से दूने वस्त्र धारण करता है;- उसको भी नंगा कहा जाता है । जो दो कच्छ धारण करता हैं,- वह भी नंगा और जिस पर पहरने के वस्त्र नहीं हैं,- उसको भी नंगा कहते हैं । वेद— विहित कर्म और स्मृति-विहित कर्म की मन में चिन्ता करना भी उलङ्ग पुरुष का कर्त्तव्य नहीं है । भूल कर भी चिन्ता करने से -- वह पुरुष अधोगामी होता है, और वह मनुष्य जिन सब कार्यों का अनुष्ठान करता है,-वह असुरों के निमित्त कल्पित होते हैं । जप, होम, उपवास और श्राद्ध;- इन सब कार्यों के अनुष्ठान में इन्द्रियों को संयम करना चाहिये । और धुले वस्त्र पहरने चाहिये ॥ गोभिल कहे गये हैं कि,-एक वस्त्र धारण करके भोजन करना अच्छा नही है ,और एक वस्त्र धारण करके देवता की पूजा भी नही करनी चाहिये । त्रैलोक्यसम्मोहन पंचरात्र में लिखा है, कि-सदा सफेद वस्त्र पहिरे, लाल वस्त्र पहरना उचित नहीं है ॥ ६० ॥

अङ्गिरा ने कहा है कि, वायु, अग्नि, धूप और चंद्रमा की किरणों से सहस्ररोम (मेषलोम) द्वारा निर्माण किये हुए

रेतःस्पृष्टं शवस्पृष्टमाविकं नैव दुष्यति ॥

अन्यत्र च ।—छिन्नं वा सन्धितं दग्धमाविकं न प्रदुष्यति ।
आविकेन तु वस्त्रेण मानवः श्राद्धमाचरेत् ॥
गयाश्राद्धसमं प्रोक्तं पितृभ्यो दत्तमक्षयम् ।
न कुर्य्यात् सान्धितं वस्त्रं देव-कर्माणि भूमिप ! ॥
न दग्धं न च वै छिन्नं पारक्यं न तु धारयेत् ।
काक-विष्ठासमं ह्युक्तमविधौतश्च यद्भवेत् ॥
रजकादाहृतं यच्च न तद्वस्त्रं भवेच्छुचि ।
कीट-स्पृष्टन्तु यद्वस्त्रं पुरीषं येन कारितम् ॥
मूत्रं वा मैथुनं वापि तद्वस्त्रं परिवर्जयेत् ।
आविकन्तु सदा वस्त्रं पवित्रं राजसत्तम ! ॥
पितृ-देव-मनुष्याणां क्रियायाश्च प्रशस्यते ।
धौताधौतं तथा दग्धं सन्धितं रजकाहृतम् ॥
शुक्र-मूत्ररक्त-लिप्तं तथापि परमं शुचि ।
अग्निराविकवस्त्रञ्च ब्राह्मणाश्च तथा कुशः ॥
चतुर्णां न कृतो दोषो ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ ६१ ॥

किञ्चान्यत्र ।—धारयेद्वाससी शुभ्रे परिधानोत्तरीयके ।

भाषा टीका।

वस्त्र की शुद्धि होती है। मेष रोम के बने कम्वलादि वस्त्र यदि वीर्य से छुए जांय अथवा शव (मृतक) से छुए जांय, तो—वह अपवित्र नहीं होते ॥ अन्यत्र भी लिखा है कि,— मेषरोम—निर्मित वस्त्र यदि फटे हुए, अथवा सन्धित (सिलाई किये) हों, या दग्ध हों,—तो भी-वह अपवित्र नहीं होते । मेषरोम—निर्मित वस्त्र धारण करके श्राद्ध करना मनुष्य का कर्त्तव्य है,—इस प्रकार करने से वह श्राद्ध गया—श्राद्ध की समान होता है। और इस भांति पितरों के उद्देश से दिया श्राद्ध अक्षय होता है । हे नृपते ! सिले हुए वस्त्र पहर कर देव-कार्य न करे, इसके अतिरिक्त जले फटे अथवा दूसरे के पहिरे वस्त्र भी धारण न करे। जो जल से धुले नहीं हैं,—ऐसे वस्त्र कौवे के विष्ठा की समान है, और धोवी के घर से लाये हुए वस्त्र भी अपवित्र है। कीट के स्पर्श किये वस्त्र, जिन वस्त्रों को धारण करके मल मूत्र त्याग किया है, और जिन वस्त्रों को पहर कर नारी से सहवास किया है,—वे त्याग देने चाहिये। किन्तु हे राजन्! मेष के रोम का बना वस्त्र सदा ही शुद्ध है,—क्या पितृ-कर्म, क्या देव—कर्म, क्या मानुष-कर्म,—सब कार्यों में ही— वह श्रेष्ठ है । धुला, विना धुला, जला हुआ, सिला हुआ, धोवी के घर से, लाया हुआ, शुक्रलिप्त, मूत्रलिप्त, मलस्पृष्ट,— जिस किसी अवस्था में क्यों न हो—मेष-रोम का बना वस्त्र सर्वथा विशुद्ध है । परमेष्ठी ब्रह्माजी ने—अग्नि, मेषरोमज वस्त्र, ब्राह्मण और कुश;—इन चारों को अशुद्ध नहीं किया है ॥ ६१ ॥

अन्यत्र और भी लिखा है कि,—जिसकी दशा (छोर) अच्छिन्न (साबत) अतिसुन्दर है,—ऐसा पवित्र परिधेय वस्त्र और उत्तरीय वस्त्र (डुपट्टा) धारण करना चाहिये। फिर वस्त्र

अच्छिन्नसुदशे शुक्ले आचामेत्पीठसंस्थितः ॥ ६२ ॥

अथ पीठम्।

बह्वृचपरिशिष्टे —

यतीनामासनं शुक्लं कूर्माकारन्तु कारयेत्।
अन्येषान्तु चतुष्पादं चतुरस्रं तु कारयेत् ॥
गो-शकृन्मृण्मयं भिन्नं तथा पालाश-पैप्पलम्।
लौह-बद्धं सदैवार्कं वर्ज्जयेदासनं बुधः ॥

अथासन-विधिः।

तत्रैव।— दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम्।
प्रौढ़पादो न कुर्वीत स्वाध्यायञ्चैव तर्पणम् ॥
आसनारूढ़पादस्तु जानुनोर्वाथ जङ्घयोः।
कृतावसक्थिको यस्तु प्रौढ़पादः स उच्यते ॥ इति ॥ ६३ ॥
ततो भूमिगताङ्घ्रिः सन्निविश्याचम्य दर्भभृत्।
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रादिकं कुर्यात् श्रीगोपीचन्दनादिना ॥ ६४ ॥
तत्रादावनुलेपेन भगवच्चरणाब्जयोः।
निर्माल्येन प्रसादेन सर्वाण्यङ्गानि मार्जयेत ॥

तदुक्तं ब्राह्मे श्रीभगवता —

शालग्रामशिला-लग्नं चन्दनं धारयेत् सदा।
सर्वाङ्गेषु महाशुद्धि-सिद्धये कमलासन! ॥ इति ॥ ६५ ॥

भाषा टीका।

पहरने के पीछे पीठ में बैठकर आचमन करना चाहिये ॥ ६२ ॥

अनन्तर पीठ।—बह्वृचपरिशिष्ट में लिखा है, कि–यतीगण शुभ्रवर्ण और कूर्माकार आसन की रचना करें। अन्यान्य आश्रमियों को चतुष्पादयुक्त चतुष्कोण आसन करना चाहिये। गोबर का बना, मिट्टी का, फटा हुआ, पलाशकाष्ठरचित, पीपल का, लौहबद्ध और आक के काष्ठ से बनाया हुआ आसन ज्ञानियों को सदा त्याग ने योग्य है।

आसनविधि।—उक्त ग्रंथ में लिखा है, कि–दान, आचमन, होम, आहार, देवपूजा, वेदपाठ और तर्पण,- यह सब कार्य प्रौढ़पाद होकर न करे। आसन में चरणस्थापन पूर्वक जानु अथवा जंघा के मध्यस्थल में बैठने पर ही उसका नाम प्रौढ़पाद है ॥ ६३ ॥

इसके उपरान्त पृथ्वी में पैर स्थापन पूर्वक बैठ जाय और कुश पकड़ कर आचमन के पीछे गोपी-चंदनादि से ऊर्द्ध्वपुंड्र की रचना करे [१] ॥ ६४ ॥

इस विषय में प्रथम भगवच्चरणकमल–विलिप्त निर्माल्य प्रसाद चंदन द्वारा सब अंग में लेप प्रदान

[१] यद्यपि ऊर्द्ध्वपुंड्र निर्माण करने के पीछे आचमन करना ही कर्त्तव्य है–किन्तु तो-भी पूजार्थ तिलक विशेषादि के निमित्त प्रथम आचमन करना चाहिये— यही सम्प्रदायानुसार लिखा गया है।

ततो द्वादशभिः कुर्य्यान्नामभिः केशवादिभिः।
द्वादशाङ्गेषु विधिवदूर्द्धपुण्ड्रानि वैष्णवः॥ ६६॥

अथ द्वादशतिलक-विधिः।

पद्मपुराणे उत्तरखण्डे —

ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे।
वक्षःस्थले माधवन्तु गोविन्दं कण्ठकूपके॥ ६७॥

विष्णुञ्च दक्षिणे कुक्षौ वाहौ च मधुसूदनम्।
त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके॥
श्रीधरं वामवाहौ तु हृषीकेशन्तु कन्धरे।
पृष्ठे तु पद्मनाभञ्च कट्यां दामोदरं न्यसेत्॥ ६८॥

तत्प्रक्षालन-तोयन्तु वासुदेवेति मूर्द्धनि।
किञ्च — ऊर्द्धपुण्ड्रं ललाटे तु सर्व्वेषां प्रथमं स्मृतम्॥
ललाटादि-क्रमेणैव धारणन्तु विधीयते॥ इति॥ ६९॥
एवं न्यासं समाचर्य्य सम्प्रदायानुसारतः।
न्यसेत् किरीटमन्त्रञ्च मूर्द्धि सर्व्वार्थ-सिद्धये॥

अथ किरीटमन्त्रः।

ओँ श्रीकिरीट-केयूर-हार-मकर-कुण्डल-चक्र-शंख-गदा-पद्म-हस्त-पीताम्बरधर

भाषा टीका।

करना चाहिये॥ ब्रह्मपुराण में भगवान् ने स्वयं ही कहा है, कि—हे ब्रह्मन्! महाशुद्धि प्राप्त होने के लिये शालग्राम शिला—लग्न चंदन सदा सर्वाङ्ग में धारण करे॥६५

फिर वैष्णव पुरुष केशवादि वारह नामों को उच्चारण करके विधिपूर्वक अंग के वारह स्थान में ऊर्द्धपुंड्र की रचना करे (२)॥ ६६॥

द्वादशतिलकविधि।—पद्मपुराण के उत्तर खंड में लिखा है, कि—केशव को ललाट में, उदर में नारायण को, माधव को हृदय में, गोविन्द को कण्ठ कूप में, विष्णु को दक्षिण कुक्षि में, मधुसूदन को दक्षिण वाहु में, त्रिविक्रम को दक्षिण कंधे में, वामन को वाम पार्श्व में, श्रीधर को वाम वाहु में, हृषीकेश को वाम कंधे में, पद्मनाभ को पीठ में, और दामोदर को कटि में, ध्यान करके न्यास करना चाहिये।

[२] मूर्त्तिपञ्जर न्यास की प्रणाली—अनुसार में ओंकार पूर्वक अनुस्वार—युक्त अकारादि द्वादश वर्ण में द्वादश सूर्य के सहित केशवादि द्वादश को द्वादशाङ्ग में न्यास करना चाहिये। किसी किसी बुद्धिमान् का मत इस प्रकार निर्दिष्ट है कि—केशवादि द्वादश के सहित केशवादिन्यासोक्त कीर्त्यादि द्वादश शक्ति का भी न्यास करना चाहिये। द्वादश सूर्य के नाम; यथा—१ धाता, २ अर्यमा, ३ मित्र, ४ वरुण, ५ अंशु, ६ भग, ७ विवस्वान्, ८ इन्द्र, ९ पूषा, १० पर्जन्य, ११ त्वष्टा, १२ विष्णु। न्यास की प्रणाली—यथा, "ओंअंधातृसाहिताय केशवाय कीर्त्त्यै नमः" ललाट में इत्यादि। कीर्त्यादि द्वादश; शक्ति—कीर्त्ति, कान्ति, तुष्टि, पुष्टि, धृति, शान्ति, क्रिया, दया, मेधा, हर्षा, श्रद्धा, लज्जा

श्रीवत्साङ्कितवक्षःस्थल श्रीभूमि-सहितस्वात्मज्योति-
र्दीप्तिकराय सहस्रादित्य-तेजसे नमो नमः ॥ इति ॥ ७० ॥

अथोर्द्ध्व पुण्ड्र-नित्यता ।

पाद्मे श्रीभगवदुक्तौ।— मत्प्रियार्थं शुभार्थम्वा रक्षार्थे चतुरानन ! ।
मत्पूजा-होम-काले च सायं प्रातः समाहितः ।
मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्द्ध्वपुण्ड्रं भयापहम् ॥ ७१ ॥

तत्रैव श्रीनारदोक्तौ।— यज्ञो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृ-तर्पणम् ।
व्यर्थं भवति तत् सर्वमूर्द्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ॥

तत्रैवोत्तरखण्डे।— ऊर्द्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु किञ्चित् कर्म करोति यः ।
इष्टापूर्त्तादिकं सर्वं निष्फलं स्यान्न संशयः ॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रैर्विहीनस्तु सन्ध्याकर्म्मादिकं चरेत् ।
तत् सर्वं राक्षसं नित्यं नरकं चाधिगच्छति ॥ ७२ ॥

अन्यच्च ।— ऊर्द्ध्व पुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं यः कुरुते स नराधमः ।

भाषा टीका ।

तिनके प्रक्षालन का जल अकारादि बारह स्वर के सहित "वासुदेवाय लक्ष्म्यै नमः" कह कर शिर में न्यास करे । अर्थात् अकारादि बारह स्वर के सहित उक्त मंत्रोच्चारण करके मस्तक में प्रदान करे ॥ और भी लिखा है कि,— प्रथम ललाट-देश में ऊर्द्ध्वपुंड्र तिलक की रचना का विधान सर्वजनों के पक्ष में निर्दिष्ट है—ललाटादि क्रम से ही धारण की विधि निरूपित हुई है ॥ ६७—६९ ॥

इस प्रकार संप्रदाय के अनुसार ऊर्द्ध्व पुंड्र की रचना करके संपूर्ण अर्थ-सिद्धि के लिये शिर में "किरीटमंत्र" का न्यास करे ।

किरीटमंत्र ।—जो दिव्य किरीट केयूर, हार, मकर-कुण्डल, चक्र, शंख, गदा, पद्म धारण करते हैं, जो पीतवासा अर्थात् पीले वस्त्र पहिरे हैं, जिन का वक्षःस्थल श्रीवत्स से अंकित है, जो श्रीभूमि क सहित, अपनी मनोहर ज्योति के प्रकाशक और जो हजार सूर्य के समान तेजस्वी हैं, उनको वारंवार नमस्कार करता हुं ॥ ७० ॥

ऊर्द्ध्व पुण्ड्र धारण की नित्यता ।—पद्मपुराण की श्रीभगवतउक्ति में वर्णित है कि—हे ब्रह्मन् ! मेरे भक्त जन स्थिरचित्त हो संध्या-काल और प्रभात में मेरी पूजा और होम काल में मेरी प्रसन्नता के लिये अथवा कल्याणार्थ और रक्षार्थ भयनाशक ऊर्द्ध्व पुंड्र नित्यधारण करे ॥ ७१ ॥

इसी पुराण की नारदोक्ति में वर्णित है कि, ऊर्द्ध्व पुंड्र विना धारण किये यज्ञ, दान, तप, होम, वेदाध्ययन, पितृ-तर्पण इत्यादि जिस किसी कार्य का अनुष्ठान कियाजाय—वही विफल होता है ॥ इसी पुराण के उत्तर भाग में लिखा है कि,—जो पुरुष ऊर्द्ध्व पुंड्र त्याग कर इष्टापूर्त्तादि कार्य का अनुष्ठान करता है,—उसके वह सब कर्म्म निष्फल होते हैं,—इस में संदेह नही। ऊर्द्ध्व पुंड्र विहीन होकर संध्यावंदनादि करने से—वह सब राक्षस के लिये होता है, और वह मनुष्य नरकगामी होता है ॥ ७२ ॥

और भी लिखा है कि,—ऊर्द्ध्व पुंड्र में त्रिपुंड्र की रचना करने से वह पुरुष नराधमों में गिना जाता है । पुंड्र स्वरूप हरिमंदिर भग्न करने से उसको नरक में जाना

भक्त्या विष्णु-गृहं पुण्ड्रं स याति नरकं ध्रुवम् ॥

अतएव पाद्मे श्रीनारदोक्तौ —

यच्छरीरं मनुष्याणामूर्द्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ।
द्रष्टव्यं नैव तत्तावच्छ्मशानसदृशं भवेत् ॥ ७३ ॥

तत्रैवोत्तरखण्डे —

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं धरेद्विप्रो मृदा शुभ्रेण वैदिकः ।
न तिर्य्यग्धारयेद्विद्वानापद्यपि कदाचन ॥ ७४ ॥

स्कान्दे ।- तिर्य्यक्पुण्ड्रं न कुर्व्वीत संप्राप्ते मरणेऽपि च ।
नैवान्यन्नाम च ब्रूयात् पुमान्नारायणादृते ॥
धारयेद्विष्णु-निर्म्माल्यं धूप-शेषं विलेपनम् ।
वैष्णवं कारयेत्पुण्ड्रं गोपीचन्दन-सम्भवम् ॥

तत्रैव कार्त्तिक-प्रसङ्गे —

यस्योर्द्ध्वपुण्ड्रं दृश्येत ललाटे नो नरस्य हि ।
तद्दर्शनं न कर्त्तव्यं दृष्ट्वा सूर्य्यं निरक्षीयेत ॥ ७५ ॥

अन्यत्रापि ।—वैष्णवानां ब्राह्मणानामूर्द्ध्वपुण्ड्रं विधीयते ।
अन्येषान्तु त्रिपुण्ड्रं स्यादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥
त्रिपुण्ड्रं यस्य विप्रस्य ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं न दृश्यते ।
तं स्पृष्ट्वाप्यथवा दृष्ट्वा सचेलं स्नानमाचरेत् ॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे न कुर्व्वीत वैष्णवानां त्रिपुण्ड्रकम् ।
कृतत्रिपुण्ड्रमर्त्तस्य क्रिया न प्रीतये हरेः ॥ ७६ ॥

भाषा टीका ।

पड़ता है,–इस में संदेह नही । पद्मपुराण के नारद-वचन में प्रकाशित है कि,–ऊर्द्ध्व पुंड्र रहित मनुष्य के देह का दर्शन न करे,–वह श्मशान के समान है ॥७३॥

इसी पुराण के उत्तर भाग में लिखा है कि,–वैदिक ब्राह्मणगण सफेद मिट्टी से ऊर्द्ध्व पुंड्र निर्माण करें । बुद्धिमान् मनुष्य आपत् काल में भी टेढ़े पुंड्र की रचना न करे ॥ ७४ ॥

स्कन्द पुराण में लिखा है कि,–मृत्युकाल प्राप्त होने पर भी वक्रपुण्ड्र धारण करना पुरुष का उचित नहीं है,–उस समय नारायण के अतिरिक्त अन्य नाम भी उच्चारण न करे, । विष्णु की निर्माल्य, धूपावशेष और चंदन धारण करे, वैष्णव को गोपिचन्दन से उर्द्ध्वपुण्ड्र करावे । इसी पुराण के कार्त्तिक प्रसंग में लिखा है कि,—जिसके ललाट में ऊर्द्ध्व पुण्ड्र दिखाई नहीं देता,–उसका दर्शन करना उचित नही है,– उसको देखने पर सूर्य का दर्शन करके शुद्ध होवे ॥ ७५ ॥

अन्यत्र भी लिखा है कि,–वैष्णव और ब्राह्मणगण

अतएवोत्तरखण्डे —

अश्वत्थ-पत्रसङ्काशो वेणु-पत्राकृतिस्तथा।
पद्म-कुड्मलसङ्काशो'मोहनं' त्रितयं स्मृतम् ॥ ७७ ॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्र-माहात्म्यम्।

स्कान्दे कार्त्तिक-प्रसङ्गे —

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रो मृदा शुभ्रो ललाटे यस्य दृश्यते।
चाण्डालोऽपि विशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे स्थिता लक्ष्मीरूर्द्ध्वपुण्ड्रे स्थितं यशः।
ऊर्द्ध्वपुंड्रे स्थिता मुक्तिरूर्द्ध्वपुण्ड्रे स्थितो हरिः ॥

पद्मपुराणे —

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं मृदा सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते।
स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥ ७८ ॥

अत्रैवोत्तरखण्डे शिवोमा-संवादे —

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रस्य मध्ये तु विशाले सुमनोहरे।
लक्ष्म्या सार्द्धं समासीनो देव-देवो जनार्द्दनः ॥

भाषा टीका।

ऊर्द्ध्वपुंड्र धारण करें, और अवैष्णव शूद्र त्रिपुण्ड्र धारण करे। वेद के जानने वाले इस प्रकार नियम निर्दिष्ट कर गये हैं। जिस ब्राह्मण के ललाट-देश में त्रिपुंड्र दिखाई देता है; किन्तु ऊर्द्ध्वपुंड्र दिखाई नहीं देता; उसको स्पर्श करने से वा उसका दर्शन करने से वस्त्र-सहित स्नान करना चाहिये। वैष्णवगण ऊर्द्ध्व पुंड्र के स्थान में त्रिपुंड्र की रचना न करें। जो पुरुष त्रिपुंड्र धारण करके कार्य करते हैं,—उनका वह कार्य हरि के संतोष का कारण नहीं होता ॥ ७६ ॥

पद्मपुराण के उत्तरभाग में लिखा है कि,—वक्षः-स्थलादि में अश्वत्थपत्राकार, वंशपत्राकार और पद्म-कलिकाकृति,– यह तीन तिलक धारण न करे,—वह अवैष्णवस्मार्त्त-सम्मत और 'मोहन' अर्थात् असुरमता-नुसारी हैं। शुक्राचार्यादि मायां प्रकाश कर-ऐसे तिलकों की विधि दे गये हैं,– अतएव यह तीन प्रकार के तिलक निष्फल हैं ॥ ७७ ॥

ऊर्द्ध्वपुंड्र-माहात्म्य।— स्कन्दपुराण के कार्त्तिक-प्रसंग में लिखा है कि,- जिस पुरुष के ललाट में मिट्टी का श्वेतवर्ण ऊर्द्ध्व पुंड्र दिखाई देता है,–चाण्डाल होने पर भी उसकी आत्मा पवित्र है;–वह पुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है। ऊर्द्ध्व पुंड्र में लक्ष्मी अधिष्ठित है, ऊर्द्ध्वपुंड्र में यश अधिष्ठान करता है, ऊर्द्ध्व पुंड्र में मोक्ष स्थित और ऊर्द्ध्व पुंड्र में हरि अधिष्ठित रहते हैं ॥ पद्मपुराण में लिखा है कि,–जिस पुरुष के ललाट-देश में मृत्तिका–निर्मित सुंदर ऊर्द्ध्व पुंड्र दिखाई देता है,–चाण्डाल होने पर भी उसकी आत्मा पवित्र है,– उसकी पूजा करना अवश्य कर्त्तव्य है, इस में संदेह नहीं ॥ ७८ ॥

पद्म पुराण के उत्तर भाग में शिव–पार्वती सम्वाद में लिखा है कि,–ऊर्द्ध्व पुण्ड्र के अतिसुंदर सुविस्तृत मध्यस्थल में नारायण देव कमला के सहित विराज-मान रहते हैं। अतएव जिस पुरुष के ऊर्द्ध्वपुंड्र विद्य-मान रहता है,–उसका वह कलेवर नारायण देव का पवित्र मंदिर स्वरूप है,–इस प्रकार प्रसिद्धि है। जो ब्राह्मण ऊर्द्ध्व पुंड्र धारण करता है,–वह सूर्य धाम में

तस्माद्यस्य शरीरे तु ऊर्द्धपुण्ड्रं धृतं भवेत् ।
तस्य देहं भगवतो बिमलं मन्दिरं स्मृतम् ॥
ऊर्द्धपुण्ड्रधरो विप्रः सूर्य्य-लोकेषु पूजितः ।
विमान-वरमारुह्य याति विष्णोः परं पदम् ॥
ऊर्द्धपुण्ड्रधरं विप्रं दृष्ट्वा पापैः प्रमुच्यते ।
नाम स्मृत्वा तथा भक्त्या सर्वदान-फलं लभेत् ॥
ऊर्द्धपुण्ड्रधरं विप्रं यः श्राद्धे भोजयिष्यति ।
आकल्पकोटि पितरस्तस्य तृप्ता न संशयः ॥
ऊर्द्धपुण्ड्रधरो यस्तु कुर्य्यात श्राद्धं शुभानने ! ।
कल्पकोटि-सहस्राणि वैकुण्ठे वासमाप्नुयात् ॥
यज्ञ- दान- तपश्चर्य्या- जप-होमादिकञ्च यत् ।
ऊर्द्धपुण्ड्रधरः कुर्य्यात् तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥

ब्रह्माण्ड पुराणे—

अशुचिर्वाप्यनाचारो मनसा पापमाचरन् ।
शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्द्ध्व पुण्ड्राङ्कितो नरः ॥

तत्रैव श्रीभगवद्वचनम्—

ऊर्द्ध पुण्ड्रधरो मर्त्यो म्रियते यत्र कुत्रचित् ।
श्वपाकोऽपि विमानस्थो मम लोके महीयते ॥ ७९ ॥
ऊर्द्धपुण्ड्रधरो मर्त्यो गृहे यस्यान्नमश्नुते ।
तदा विंशत्कुलं तस्य नरकादुद्धराम्यहम् ॥ ८० ॥

भाषा टीका ।

पूजित होता है, और विमान में चढ़ कर विष्णु के दिव्य धाम में जाता है। जो ब्राह्मण ऊर्द्धपुंड्र धारण करता है,—उसको देखने पर पुरुष संपूर्ण पापों से छूट जाता है। और भक्तिपूर्वक उसके नाम को स्मरण करने से संपूर्ण दान का फल मिल जाता है। श्राद्ध का अनुष्ठान करने के समय जो ऊर्द्धपुंड्रधारी ब्राह्मण को भोजन कराते हैं,—उनके पितृगण करोड़ कल्प—तक तृप्त रहते हैं,—इस में संदेह नहीं। हे वरानने ! ऊर्द्धपुण्ड्र धारण—पूर्वक श्राद्ध करने पर वे मनुष्य सहस्र करोड़ कल्प तक वैकुण्ठ में वास करते हैं। ऊर्द्धपुंड्र धारण करके यज्ञ, दान, तप, जप और होमादि—जिस किसी कार्य का अनुष्ठान किया जाय,—वही अनन्तपुण्यदायक होता है। ब्रह्मांडपुराण में लिखा है कि—अपवित्र हो वा आचारभ्रष्ट हो अथवा मन में पाप का आचरण करे,—ऊर्द्धपुंड्र धारण करने पर—वह मनुष्य सदा पवित्र होता है। ब्रह्मांडपुराण की भगवत उक्ति में लिखा है कि,—ऊर्द्ध्व-पंड्रधारी मनुष्य जिस किसी स्थान में देह-त्याग क्यों न करे,— चाण्डाल होने पर भी-वह बिमान में चढ़ कर मेरे लोक में सुख भोगता है ॥ ७९ ॥

जिस पुरुष के घर में ऊर्द्धपुंड्रधारी पुरुष आहार करता है,- मैं उसके बीस पुरुष की नरक से रक्षा करता हूं ॥ ८० ॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्रनिर्माण-विधिः ।

ब्रह्माण्डपुराणे —

वीक्ष्यादर्शे जले वापि यो विदध्यात् प्रयत्नतः ।
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं महाभाग ! स याति परमां गतिम् ॥ ८१ ॥

दशाङ्गुलप्रमाणन्तु उत्तमोत्तममुच्यते ।
नवाङ्गुलं मध्यमं स्यादष्टाङ्गुलमतः परम् ॥
एतैरङ्गुलि-भेदैस्तु कारयेन्न नखैः स्पृशेत् ॥ ८२ ॥

पद्मपुराणे उत्तरखण्डे तत्रैव —

एकान्तिनो महाभागाः सर्व्वभूतहिते रताः ।
सान्तरालं प्रकुर्व्वन्ति पुण्ड्रं हरि-पदाकृति ॥ ८३ ॥

श्यामं शान्तिकरं प्रोक्तं रक्तं वश्यकरं तथा ।
श्रीकरं पीतमित्याहुः श्वेतं मोक्षप्रदं शुभम् ॥
वर्त्तुलं तिर्य्यगच्छिद्रं ह्रस्वं दीर्घतरं तनु ।
वक्रं विरूपं बद्धाग्रं भिन्नमूलं पदच्युतम् ॥
अशुभ्रं रूक्षमासक्तं तथा नाङ्गुलि-कल्पितम् ।
विगन्धमपसव्यञ्च पुण्ड्रमाहुरनर्थकम् ॥ ८४ ॥

आरभ्य नासिका-मूलं ललाटान्तं लिखेन्मृदम् ।
नासिकायास्त्रयो भागा नासा-मूलं प्रचक्षते ।

भाषा टीका ।

ऊर्द्ध्वपुंड्र के निर्माण करने की विधि—ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है कि,—हे महाभाग ! जलमें वा दर्पण में प्रतिबिम्ब देखकर जो यत्न-सहित ऊर्द्ध्वपुण्ड्र की रचना करते हैं-उनको परमा गति प्राप्त होती है ॥ ८१ ॥

दशाङ्गुल-प्रमाण ऊर्द्ध्वपुंड्र अति उत्तम, नवाङ्गुल मध्यम और अष्टाङ्गुल परिमित कनिष्ठ कह कर निर्दिष्ट है,—इस तीन प्रकार के ऊर्द्ध्वपुंड्र की अंगुली-परिमाण से रचना करनी चाहिये। नखद्वारा उसको स्पर्श न करे ॥ ८२ ॥

पद्म पुराण के उत्तर भाग में शिव-पार्वती-सम्वाद में लिखा है कि,—एकान्तमना सर्वजीव के हितकारी महाभाग्यशाली पुरुष हरि के चरण कमलों की आकृति-युक्त, मध्य में छिद्रयुक्त पुंड्र की रचना करे ॥ ८३ ॥

पण्डित-गण श्यामवर्ण पुंड्र को शान्तिकारक, लोहितवर्ण को वश्यकारक पीतवर्ण को सम्पत्ति-दायक और श्वेतवर्ण के पुंड्र को कल्याणकारक और मुक्तिदायक कहते हैं। जो पुंड्र गोलाकार, तिर्यग् भावापन्न, छिद्रहीन, छोटा, बहुत बड़ा, कृश, वक्र, विरूप, अग्रभाग में लग्न, मूल में विच्छिन्न अर्थात अधोभाग पृथक्, स्थानभ्रष्ट, मलिन, रूक्ष, परस्पर लग्न और जो पुंड्र अंगुली के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से निर्मित है,—पण्डितगण उसको विफल कह कर निर्देश करते हैं ॥ ८४ ॥

नासिका के मूल से आरंभ करके ललाट-देश के शेष-पर्यन्त मृत्तिका लेपन करे । नासिका-तीसरा

समारभ्य भ्रुवोर्मूलमन्तरालं प्रकल्पयेत् ॥ ८५ ॥

अथोर्द्धपुण्ड्रस्य मध्यच्छिद्र-नित्यता ।

तत्रैव—

निरन्तरालं यः कुर्य्यादूर्द्धपुण्ड्रं द्विजाधमः ।
स हि तत्र स्थितं विष्णुं लक्ष्मीञ्चैव व्यपोहति ॥ ८६ ॥
अच्छिद्रमूर्द्ध्वपुण्ड्रन्तु ये कुर्व्वन्ति द्विजाधमाः ।
तेषां ललाटे सततं शुनः पादो न संशयः ।
तस्माच्छिद्रान्वितं पुण्ड्रं दण्डाकारं सुशोभनम् ।
विप्राणां सततं धार्य्यं स्त्रीणाञ्च शुभदर्शने ! ॥
अतएवोक्तं हरिमन्दिर-लक्षणम् ।
नासादि—केशपर्य्यन्तमूर्द्धपुण्ड्रं सुशोभनम् ।
मध्ये छिद्रसमायुक्तं तद्विद्याद्धरिमन्दिरम् ॥
वामपार्श्वे स्थितो ब्रह्मा दक्षिणे तु सदाशिवः ।
मध्ये विष्णुं विजानीयात् तस्मान्मध्यं न लेपयेत् ॥

वायुपुराणे सेवापराधे—

"अधृत्वा चोर्द्धपुण्ड्रञ्च हरेः पूजां करोति यः ।
तिर्य्यक्पुण्ड्रधरो यस्तु यजेद्देवं जनार्द्दनम् ॥
अच्छिद्रेणोर्द्धपुण्ड्रेण भस्मना तिर्यगङ्किना ।
अधृत्वा शंख-चक्रे च" इत्यादिना दोष उक्तः ॥

श्रुतिश्च; यजुर्वेदस्य हिरण्यकेशीयशाखायाम् ।

भाषा टीका ।

भाग ही नासिका का मूल कहा गया है । दोनों भौंओं के मूल से आरंभ करके छिद्र की रचना करनी चाहिये । ८५ ॥

ऊर्द्धपुंड्र के मध्यछिद्र की नित्यता कही जाती है ।—जो नराधम ब्राह्मण मध्य में छिद्र न रखकर ऊर्द्ध्व-पुंड्र करते हैं, वे वहां के नारायण और लक्ष्मी को दूर कर देते हैं;—इस में संदेह नहीं ॥ ८६ ॥

जो सब नराधम ब्राह्मण छिद्र-हीन ऊर्द्धपुंड्र की रचना करते हैं,—उनके ललाट में सदा कुत्ते के पैर स्थित रहते हैं,—इस में संदेह नहीं । अतएव हे सौम्य-दर्शने ! ब्राह्मण और स्त्रीगण सदा दण्डाकार, छिद्र-युक्त, मनोहर पुंड्र धारण करें ।

अतएव हरिमंदिर-लक्षण कथित है ।—जो नासिका से आरंभ करके केश-पर्यन्त-विस्तृत अर्थात् फैला हुआ है, अत्यन्त सुन्दर और मध्य में छिद्र-युक्त है;—वह ऊर्द्धपुंड्र ही हरिमंदिर कहा गया है । ऊर्द्धपुंड्र के वाम भाग में ब्रह्मा, दक्षिण भाग में सदाशिव और मध्य-स्थल में हरि अधिष्ठित रहते हैं, अतएव मध्यस्थल को लेपन करना उचित नहीं है ॥ वायुपुराण के सेवापराध-प्रसंग में

हरेःपदाक्रान्तिमात्मनि धारयति यः स परस्य प्रियो भवति स पुण्यवान् ।
मध्ये च्छिद्रमूर्द्ध्वपुण्ड्रं यो धारयति स मुक्तिभाग् भवतीति ॥

तिलक-रचनाङ्गुलि-नियमे स्मृतिः—

अनामिका कामदोक्ता मध्यमायुष्करी भवेत् ।
अङ्गुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तस्तर्जनी मोक्षसाधनी ॥

अथोर्द्ध्वं पुण्ड्र-मृत्तिकाः ।

पद्मपुराणे तत्रैव—

पर्वताग्रे नदी-तीरे बिल्व-मूले जलाशये ।
सिन्धु-तीरे च वल्मीके हरि-क्षेत्रे विशेषतः ॥
विष्णोः स्नानोदकं यत्र प्रवाहयति नित्यशः ।
पुण्ड्राणां धारणार्थाय गृह्णीयात्तत्र मृत्तिकाम् ॥
श्रीरङ्गे वेङ्कटाद्रौ च श्रीकूर्म्मे द्वारके शुभे ।
प्रयागे नारसिंहाद्रौ वाराहे तुलसीवने ॥
गृहीत्वा मृत्तिकां भक्त्या विष्णु-पादजलैः सह ।
धृत्वा पुण्ड्राणि चाङ्गेषु विष्णु-सायुज्यमाप्नुयात् ॥

भाषा टीका ।

लिखाहै कि, जो ऊर्द्ध्व पुंड्र बिना धारण किये, अथवा छिद्र-हीन, भस्मरचित, कुटिलभाव से अंकित ऊर्द्ध्वपुंड्र धारण करके अथवा शंखचक्र बिना धारण किये हरि की पूजा करते हैं,—इत्यादि द्वारा दोष कहा गया है। यजुर्वेद की हिरण्यकेशीय शाखा में भी श्रुति है कि,-जिसके शरीर में हरि के चरणों के चिह्न विराज-मान रहते हैं,-वह भगवान् का प्रिय होता है, और उसी को यथार्थ पुण्यशील कहते हैं। जो पुरुष मध्य-स्थल में छिद्रयुक्त पुंण्ड्रधारण करते हैं,-वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

तिलक रचना के विषय में अंगुली-नियम।- स्मृति में लिखा है,- अनामा-वांछित फल की देने वाली, मध्यमा-आयु को बढ़ाने वाली, अंगुष्ठ-पुष्टिसाधक और तर्जनी-मोक्ष की देने वाली है। ऊर्द्ध्वपुंड्र की-रचना के लिये मृत्तिका कथित होती है।-पर्वत की शिखर, नदी का तट, विल्व-मूल, जलाशय, समुद्र का किनारा, वल्मीक, (बँवई) विशेष कर हरिक्षेत्र और जिस स्थान में नित्य विष्णु के स्नान का जल गिरता है, इन इन स्थानों में जिस किसी स्थान से पुंड्र-रचने के लिये मृत्तिका लेवे। श्रीरंग, वेंकटगिरि, श्रीकूर्म, कल्याणरूपिणी, द्वारका, प्रयाग, नरसिंहपर्वत, वराह-क्षेत्र, तुलसीकानन;- इन सब में जिस किसी स्थान से भक्तिसहित मृत्तिका लेकर नारायण के चरणा-मृत सह शरीर में पुंड्रधारण करने पर हरि-सायुज्य-रूप मुक्ति को प्राप्त होजाता है। इसी ग्रंथ में और भी लिखा है कि-अतिउत्तम हरि-क्षेत्र से मृत्तिका लेनी चाहिये।

तिस में गोपीचंदन का माहात्म्य कहते हैं।-पद्म पुराण की नारदोक्ति में वर्णित है कि,-क्या ब्रह्महत्या

तत्रैव— यत्तु दिव्यं हरि-क्षेत्रं तस्यैव मृदमाहरेत्।

तत्र श्रीगोपीचन्दन-माहात्म्यम्।

उक्तञ्च पाद्मे श्रीनारदेन—

ब्रह्मघ्नो वाथ गोघ्नो वा हैतुकः सर्वपापकृत्।
गोपीचन्दनसम्पर्कात् पूतो भवति तत्क्षणात्॥
गोपीचन्दन-खण्डन्तु यो ददाति हि वैष्णवे।
कुलमेकोत्तरं तेन सम्भवेत्तारितं शतम्॥

स्कन्दपुराणे श्रीध्रुवेण—

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः॥ ८७॥
गोपीमृत्तुलसीशङ्खः शालग्रामः सचक्रकः।
गृहेऽपि यस्य पञ्चैते तस्य पाप-भयं कुतः?॥

काशीखण्डे च श्रीयमेन—

श्रीखण्डे क स आमोदः स्वर्णे वर्णः क तादृशः।
तत् पावित्र्यं क वै तीर्थे श्रीगोपीचन्दने यथा॥ ८८॥

अथ श्रीगोपीचन्दनोर्द्धपुण्ड्र-माहात्म्यम्।

उक्तञ्च गरुड़पुराणे नारदेन—

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवां करे समादाय ललाट-पट्टके।
करोति नित्यं त्वथ चोर्द्धपुण्ड्रं क्रिया-फलं कोटिगुणं सदा भवेत्॥ ८९॥

भाषा टीका।

करने वाला, क्या गायों का वध करने वाला, क्या कुतर्की, क्या सर्व पापों में पापी,—जो कोई क्यों न हो—गोपीचंदन के स्पर्शमात्र से तत्काल पवित्रता लाभ करता है। जो पुरुष वैष्णव जन को एक टुकड़ा गोपीचंदन देता है, उससे एकाधिक शत (अर्थात् एक सौ एक) कुल की रक्षा होती है॥ स्कन्दपुराण की ध्रुवोक्ति में लिखा है कि,—जिस पुरुष के देह में शंख चक्र अंकित रहते हैं, मस्तक में तुलसी की मुञ्जरी शोभा पाती है, और जिस के अंग में गोपीचन्दन लिप्त रहता है,—उसका दर्शन करने से फिर उसको पातक कहां है?॥ ८७॥

गोपी चन्दन, तुलसी, शंख और द्वारकाचक्र के सहित शालग्रामशिला,—यह पांच वस्तु जिस पुरुष के घर में विद्यमान रहती है,—उसको पाप का भय कहां है?॥ काशीखण्ड की भी यमोक्ति में लिखा है, कि,—गोपीचन्दन में जैसी सुगन्धि विद्यमान है,—वैसी मनोहर गंध चन्दन में कहां है? उसके समान सुवर्ण का वर्ण ही कहां है? और उसके सदृश पवित्रताजनक तीर्थ ही कहां है?॥ ८८॥

गोपीचंदन-निर्मित ऊर्द्धपुंड्र का माहात्म्य।—गरुड़ पुराण में नारदजी ने गरुड़ से कहा था,—जो हाथ में द्वारकोत्पन्न मृत्तिका लेकर नित्य ललाट-देश में ऊर्द्धपुंड्र की रचना करते हैं,—उनके किये समस्त कार्यों का फल ही सदा करोड़ गुण होता है॥ ८९॥

क्रियाविहीनं यदि मन्त्राहीनं श्रद्धाविहीनं यदि कालवर्जितम् ।
कृत्वा ललाटे यदि गोपिचन्दनं प्राप्नोति तत्कर्म-फलं सदाक्षयम् ॥ ९० ॥
गोपीचन्दनसम्भवं सुरुचिरं पुण्ड्रं ललाटे द्विजो
नित्यं धारयते यदि द्विजपते ! रात्रौ दिवा सर्वदा ।
यत् पुण्यं कुरुजाङ्गले रविग्रहे माघ्यां प्रयागे तथा
तत् प्राप्नोति खगेन्द्र ! विष्णु-सदने सन्तिष्ठते देववत् ॥
यस्मिन् गृहे तिष्ठति गोपिचन्दनं भक्त्या ललाटे मनुजो विभर्ति ।
तस्मिन् गृहे तिष्ठति सर्वदा हरिः श्रद्धान्वितः कंसनिहा विहङ्गम !॥ ९१ ॥
यो धारयेत् कृष्ण-पुरी-समुद्भवां सदा पवित्रां कलि-किल्विषापहाम् ।
नित्यं ललाटे हरिमन्त्रसंयुतां यमं न पश्येद्यदि पाप-संवृतः ॥
यस्यान्तकाले खग ! गोपिचन्दनं वाह्वोर्ललाटे हृदि मस्तके च ।
प्रयाति लोकं कमलालया-प्रभोर्गो-वाल-घाती यदि ब्रह्महा भवेत् ॥ ९२ ॥
ग्रहा न पीड़न्ति न रक्षसां गणा यक्षाः पिशाचोरगभूतदानवाः ।
ललाटपट्टे खग ! गोपिचन्दनं सन्तिष्ठते यस्य हरेः प्रसादतः ॥

पद्मपुराणे श्रीगौतमेन—

अम्वरीष ! महाघस्य क्षयार्थे कुरु वीक्षणम् ।
ललाटे यैः कृतं नित्यं गोपीचन्दनपुण्ड्रकम् ॥ ९३ ॥

भाषा टीका ।

यदि कर्म-क्रियारहित, मंत्ररहित, श्रद्धारहित वा कालवहिर्भूत हो, तो-भी ललाट में गोपीचंदन के विद्यमान होने पर-वह कर्मकर्त्ता सदां अक्षय फल को प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

हे गरुड़ ! यदि ब्राह्मण नित्य अहोरात्र निरंतर ललाट में गोपीचन्दन का सुन्दर पुण्ड्र धारण करें-तो कुरुक्षेत्र में, सूर्यग्रहण में और माघमास की पूर्णिमा में प्रयागधाम में जो पुण्य संचय होता है- वे उसी पुण्य को प्राप्त करते हैं, और हरिधाम में देवता के समान वास कर सकते हैं। हे पतंगराज ! जिस घर में गोपीचन्दन विराजित रहता है, और जिस घर में मनुष्य भक्ति-सहित ललाट में गोपीचन्दन धारण करते हैं,-उस घर में कंस के मारने वाले हरि श्रद्धावान् होकर सदा अधिष्ठान करते हैं ॥ ९१ ॥

जो मनुष्य नित्य ललाट में कलि के पापों को हरने वाली सदां पवित्ररूपिणी, हरिमंत्रसंयुता द्वारका की मृत्तिका धारण करते हैं, वे-पापकर्म से घिरे रहने पर भी यम का दर्शन नहीं करते, अर्थात् उनके प्रति यमराज का कुछ अधिकार नहीं रहता । हे पतंग ! मरने के समय जिस मनुष्य की दोनों वाहु में, ललाट में, हृदय में और शिर में-गोपीचन्दन विद्यमान रहता है,-गोहत्याकारी, शिशुहन्ता (वालघाती) अथवा ब्रह्महन्ता होने पर भी कमलालया लक्ष्मी के प्रभु हरि के धाम में जाता है ॥ ९२ ॥

हे विहगेन्द्र ! जिस पुरुष के ललाट में गोपीचंदन विद्यमान रहता है,-हरि की प्रसन्नता के कारण ग्रह, रक्ष, यक्ष, पिशाच, सर्प, भूत, दानव,- इत्यादि उसको कष्ट देने में समर्थ नहीं होते ॥ पद्मपुराण में गौतम ने अम्वरीष से कहा था कि,-हे अम्वरीष ! जो

काशीखण्डे च श्रीयमेन—

दूताः ! शृणुत यद्भालं गोपीचंन्दन-लाञ्छितम् ।
ज्वलदिन्धनवत् सोऽपि त्याज्यो दूरे प्रयत्नतः ॥इति ॥
अथ तस्योपरि श्रीमत्तुलसीमूल-मृत्स्नया ।
तथैव वैष्णवैः कार्यमूर्द्ध्वपुंड्रं मनोहरम् ॥ ९४ ॥

अथ श्रीतुलसी-मूलमृत्तिका-पुण्ड्रमाहात्म्यम् ।

स्कान्दे तुलसीमूलमृत्तिका-प्रसङ्गे—

तन्मृदं गृह्य यैः पुण्ड्रं ललाटे धारितं नरैः ।
प्रमाणकं कृतं तैस्तु मोक्षाय गमनं प्रति ॥ ९५ ॥

तत्रैव च कार्त्तिक-माहात्म्ये ब्रह्मनारद-सम्वादे —

तुलसी-मृत्तिका पुंड्रं ललाटे यस्य दृश्यते ।
देहं न स्पृशते पापं क्रियमाणन्तु नारद ! ॥

गरुड़पुराणे च—

तुलसीमृत्तिका-पुण्ड्रं-यः करोति दिने दिने ।
तस्यावलोकनात् पापं याति वर्षकृतं नृणाम् ॥ इति ॥ ९६ ॥
तस्योपरिष्टाद्भगवन्निर्म्माल्यमनुलेपनम् ।
तत्रैव धार्य्यमेवं हि त्रिविधं तिलकं स्मृतम् ॥
ततो नारायणीं मुद्रां धारयेत् प्रीतये हरेः ।
मत्स्यकूर्मादिचिह्नानि चक्रादीन्यायुधानि च ॥

भाषा टीका।

पुरुष नित्य ललाट-देश में गोपीचंदन का पुंड्र धारण करते हैं;—महापाप नष्ट होने के लिये उनका दर्शन करो ॥ ९३ ॥

काशीखण्ड में यमराज ने दूतों से कहा था,—हे दूतगण ! मेरा वचन सुनो,— जिस पुरुष का ललाट गोपीचन्दन से अंकित है,—जलते हुए अँगारो की समान यत्नसहित उसको दूर ही से त्याग देना । फिर वैष्णव-गण तुलसी के जड़ की मिट्टी लेकर तिसके द्वारा उसके ऊपर इसी स्थल में सुन्दर ऊर्द्ध पुण्ड्र की रचना करें ॥ ९४ ॥

तुलसी-मूलस्थमृत्तिका—निर्मित ऊर्द्ध पुंड्र का माहात्म्य ।—जो तुलसी के जड़की मिट्टी लेकर उससे भाल-देश में पुंड्र धारण करते हैं— वे जो मोक्ष लाभ करेंगे-उसका प्रमाण दिखाया जाता है ॥ ९५ ॥

काशीखण्ड के कार्त्तिकमाहात्म्य में ब्रह्मनारद संवाद में लिखा है कि—हे नारद ! जिस पुरुष के ललाट में तुलसी—मृत्तिका—निर्मित पुंड्र दिखाई देता है,—पाप करने पर भी वह पाप उसके शरीर में प्रविष्ट नहीं हो सकता ॥ गरुड़ पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष नित्य तुलसी के जड़ की मिट्टी से पुण्ड्र निर्माण करता है—उसको देखने से मनुष्यों का एक वर्ष का किया हुआ पाप दूर होता है ॥ ९६ ॥

उसके ऊपर भगवान् का निर्माल्य चंदन धारण

अथ मुद्राधारण-नित्यता ।

स्मृतौ ।—अङ्कितः शङ्ख-चक्राभ्यामुभयोर्वाहु-मूलयोः ।
समर्च्चयेद्धरिं नित्यं नान्यथा पूजनं भवेत् ॥

आदित्यपुराणे—
शंख-चक्रोर्द्धपुण्ड्रादि-रहितं ब्राह्मणाधमम् ।
गर्द्दभन्तु समारोप्य राजा राष्ट्रात् प्रवासयेत ॥

गारुड़े श्रीभगवदुक्तौ —
सर्वकर्म्माधिकारश्च शुचीनामेव चोदितः ।
शुचित्वञ्च विजानीयान्मदीयायुध-धारणात् ॥

पाद्मे चोत्तरखण्डे—
शंख-चक्रादिभिश्चिह्नैर्विप्रः प्रियतमैर्हरेः ।
रहितः सर्वधर्मेभ्यः प्रच्युतो नरकं व्रजेत् ॥ ९७ ॥

श्रुतौ च यजुःकठशाखायाम्—
धृतोर्द्धपुण्ड्रः कृतचक्रधारी विष्णुं परं ध्यायति यो महात्मा ।
स्वरेण मन्त्रेण सदा हृदि स्थितं परात् परं यन्महतो महान्तम् ॥

अथर्वणि च ।—एभिर्वयमुरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवेम ।
तद्विष्णोः परमं पदं ये गच्छन्ति लाञ्छिताः ॥ इत्यादि ॥

अतएव ब्रह्मपुराणे—
कृष्णायुधाङ्कितं दृष्ट्वा सम्मानं न करोति यः ।

भाषा टीका ।

करे । तिलक इस भांति तीन प्रकार के हैं । फिर श्रीहरि के संतोषार्थ नारायणी मुद्रा, मीनकूर्मादि चिह्न और चक्रादि अस्त्रों को धारण करना चाहिये ।

मुद्राधारण की नित्यता ।— स्मृति में लिखा है कि,—दोनों वाहु के मूल में शंख और चक्र चिह्न अंकित कर नित्य हरि की पूजा करे,—नहीं तो पूजा [फलवती] नहीं होगी । आदित्यपुराण में लिखा है कि,—जो नराधम विप्र शंख,चक्र और ऊर्द्धपुंड्रादि—विहीन है—राजा उनको रासभ (गधे) पर चढ़ाकर राज्य से निकाल देवे । गरुड़पुराण में भगवान् की उक्ति है कि,—सव धर्म कार्यों में पवित्र पुरुष ही अधिकारी है;—मेरे आयुध धारण करने से ही पवित्रता जन्मती है । पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में लिखा है कि,—ब्राह्मण श्रीहरि के प्रियतम शंख चक्रादि चिह्न रहित होने पर सव धर्मों से भ्रष्ट होकर नरक में गिरता है ॥ ९७ ॥

यजुर्वेदीय कठ शाखा में भी है कि—जो महानुभाव मनुष्य ऊर्द्धपुंड्र एवं (गोपीचंदनादि द्वारा निर्मित) चक्रधारी होकर महत के महत् उन हृदि-स्थित परात्पर हरि का स्वर और मंत्र से ध्यान करते हैं (वही धन्य हैं) ॥ अथर्व वेद में भी है कि,—हम उरुक्रम के इन सव चिह्नों से अंकित होकर लोक में सौभाग्यवान् होंगे । इन सव चिह्नों से चिह्नित मनुष्य ही हरि के

द्वादशाब्दार्जितं पुण्यं चाफलायोपगच्छति॥ ९८ ॥

अथ मुद्राधारण-माहात्म्यम्।

स्कान्दे सनतकुमार-मार्कण्डेयसम्वादे —

यो विष्णु-भक्तो विप्रेन्द्र ! शंखचक्रादिचिह्नितः।
स याति विष्णु-लोकं वै दाहप्रलयवर्जितम् ॥

तत्रैवान्यत्र च —

नारायणायुधैर्नित्यं चिह्नितं यस्य विग्रहम्।
पाप-कोटिप्रयुक्तस्य तस्य किं कुरुते यमः॥
शंखोद्धारे तु यत् प्रोक्तं वसतां वर्ष-कोटिभिः।
तत् फलं लिखिते शंखे प्रत्यहं दक्षिणे भुजे॥
यत् फलं पुष्करे नित्यं पुण्डरीकाक्ष-दर्शने।
शंखोपरि कृते पद्मे तत् फलं समवाप्नुयात् ॥
वामे भुजे गदा यस्य लिखिता दृश्यते कलौ।
गदाधरो गया-पुण्यं प्रत्यहं तस्य यच्छति ॥
यच्चानन्दपुरे प्रोक्तं चक्रस्वामि-समीपतः।
गदाधो लिखिते चक्रे तत्फलं कृष्ण-दर्शने ॥ ९९ ॥

भाषा टीका।

उस परम धाम में जाते हैं इत्यादि। अतएव ब्रह्म-पुराण में लिखा है कि-कृष्ण के आयुधों से अंकित मनुष्य को देखकर जो सन्मान नहीं करते-उनके बारह वर्ष का इकट्ठा किया हुआ पुण्य निष्फल होता है॥ ९८॥

मुद्राधारण का माहात्म्य।—स्कन्दपुराण के सनत्कुमार-मार्कण्डेय सम्वाद में लिखा है कि,—हे द्विजसत्तम ! जो हरि-भक्त शंखचक्रादि से चिह्नित हैं; अर्थात् जिनके शरीर में शंखचक्रादि का चिह्न दिखाई देता है,- वे निसंदेह दाह और प्रलयरहित विष्णु के धाम में जाते हैं॥ इसी स्कन्दपुराण के अन्य स्थान में भी लिखा है कि-जिस पुरुष का देह सदा नारायण के अस्त्रों से चिह्नित रहता है,-वह करोड़ करोड़ पापों से पापी होने पर भी यम उसका क्या (अमंगल) करने में समर्थ होते हैं? करोड़ वर्ष शंखोद्धार तीर्थ में वास करने से जो फल होता है,-नित्य दहिनी बाहु में शंख अंकित करने से-भी वही फल मिल जाता है। नित्य पुष्कर तीर्थ में पद्मपलाशलोचन का दर्शन करने से जो फल होता है,-शंख के ऊपर पद्म लिखने से-भी वही फल प्राप्त हो जाता है। कलिकाल में जिस पुरुष की वाम बाहु में गदा दिखाई देती है,-गदाधर उसको नित्य गया-पुण्य प्रदान करते हैं। आनंदपुर में चक्रस्वामी के निकट कृष्ण-दर्शन का जो फल कहा गया है,-गदा के नीचे चक्र अंकित करने पर भी-वही फल प्राप्त किया जाता है॥ ९९॥

श्रीभगवदुक्तौ च —

यः पुनः कलिकाले तु मत्पुरीसम्भवां मृदम्।
मत्स्य-कूर्मादिकं चिह्नं गृहीत्वा कुरुते नरः॥
देहे तस्य प्रविष्टोऽहं जानन्तु त्रिदशोत्तमाः।
तस्य मे नान्तरं किञ्चित् कर्त्तव्यं श्रेय इच्छता॥ १००॥
ममावतार-चिह्नानि दृश्यन्ते यस्य विग्रहे।
मर्त्यैर्मर्त्त्यो न विज्ञेयः स नूनं मामकी तनूः॥ १०१॥
पापं सुकृतरूपन्तु जायते तस्य देहिनः।
ममायुधानि यस्याङ्गे लिखितानि कलौ युगे॥
उभाभ्यामपि चिह्नाभ्यां योऽङ्कितो मत्स्यमुद्रया।
कूर्मयापि स्वकं तेजो निक्षिप्तं तस्य विग्रहे॥
शंखश्च पद्मश्च गदां रथाङ्गं मत्स्यश्च कूर्मं रचितं स्व-देहे।
करोति नित्यं सुकृतस्य वृद्धिं पाप-क्षयं जन्म-शतार्जितस्य॥ १०२॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-सम्वादे—

कृष्ण-शस्त्राङ्ककवचं दुर्भेद्यं देव-दानवैः।
अदृश्यं सर्वभूतानां शत्रूणां रक्षसामपि॥
लक्ष्मीः सरस्वती दुर्गा सावित्री हर-वल्लभा।
नित्यं तस्य वसेद्देहे यस्य शंखाङ्किता तनूः॥

भाषा टीका।

श्रीभगवान् की उक्ति है कि,- कलियुग में जो पुरुष मेरी द्वारावती पुरी की मिट्टी लेकर मीन कूर्मादि चिह्न धारण करते हैं, मैं उनके देह में प्रवेश करता हूं, जो पुरुष (अपने) कल्याण की कामना करते हैं वे कभी उन में और मुझ में भेद—बुद्धि न करें॥ १००॥

जिस पुरुष के शरीर में मेरे समस्त अवतार के चिह्न दिखाई देते हैं,-मनुष्य-गण उसको 'नर, नहीं जाने, वह निःसंदेह मेरा अवतार-स्वरूप है॥ १०१॥

कलिकाल में जिस पुरुष के देह में मेरे आयुध चिह्न अंकित रहते हैं,-उस शरीर के पाप-समूह पुण्य-स्वरूप होते हैं। जो मनुष्य मत्स्य-मुद्रा और कूर्म-मुद्रा,--इन दोनों मुद्रा से चिह्नित होता है,-उसके देह में मेरा तेज स्थिर रहता है। जिस पुरुष के निज-शरीर में शंख, पद्म, गदा, चक्र, मीन और कूर्म्म,-अंकित होता है; नित्य उसके पुण्य की वृद्धि होती है, और सौ जन्म के इकट्ठे पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं॥ १०२॥

इसी स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद-सम्वाद में लिखा है कि,—क्या देवता-गण और क्या दानव- गण-कोई श्रीकृष्ण का अस्त्ररूप वर्म [आवरण कवच] भेद करने में समर्थ नहीं हैं, तथा भूत और राक्षसगण भी देखने में समर्थ नहीं होते। जिस पुरुष का शरीर शंख के चिह्न से अंकित है,-लक्ष्मी, सरस्वती, हर-वल्लभा दुर्गा और सावित्री,—उसकी देह में नित्य निवास करती हैं। जिसका देह पद्म के चिह्न से अंकित है,-

गङ्गा मया कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करादि च।
नित्यं तस्य सदा तिष्ठेद्यस्य पद्माङ्कितं वपुः॥
यस्य कौमोदकी चिह्नं भुजे वामे कलिप्रिय !।
प्रत्यहं तत्र द्रष्टव्यो गङ्गासागरसङ्गमः॥
सव्ये करे गदाधस्ताद्रथाङ्गं तिष्ठते यदि।
कृष्णेन सहितं तत्र त्रैलोक्यं सचराचरम्॥
त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवा विष्णोस्त्रीणि पदानि च।
निवसन्ति सदा तस्य यस्य देहे सुदर्शनम्॥
किञ्च——कृष्णायुधाङ्किता मुद्रा यस्य नारायणी करे।
ऊर्द्ध्वलोकाधिकारी च स ज्ञेयस्त्रिदशाम्पतिः॥
कृष्ण-मुद्राप्रयुक्तस्तु दैवं पित्र्यं करोति यः।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं चाक्षयं भवेत्॥
पीड़यन्ति न वै तत्र ग्रहा ऋक्षाणि राशयः।
अष्टाक्षराङ्किता मुद्रा यस्य धातुमयी करे॥
वाराहे श्रीसनत्कुमारोक्तौ—
कृष्णायुधाङ्कितं देहं गोपीचन्दनमृत्स्नया।
प्रयागादिषु तीर्थेषु स गत्वा किं करिष्यति ?॥

भाषा टीका।

गया, गंगा, कुरुक्षेत्र, प्रयाग और पुष्करादि सब तीर्थ उसके शरीर में सदा अवस्थिति करते हैं। हे कलिप्रिय ! जिस पुरुष की बांई बाहु में विष्णु-गदा का चिह्न दिखाई देता है,—उसकी उस बाहु में प्रतिदिन गंगा-सागर का सङ्गम दिखाई देता है। बांये हाथ में गदा और उसके नीचे चक्र का चिह्न होने से चराचर त्रिभुवन श्रीकृष्ण के सहित वहां अधिष्ठित रहता है। जिसके शरीर में सुदर्शन का चिह्न विराजमान है,—उसके देह में सदा तीनों अग्नि, तीनों देवता और विष्णु के तीनों पद अवस्थित रहते हैं [१]॥ और भी लिखा है कि,—जिस पुरुष के हाथ में श्रीकृष्ण की अस्त्राङ्कित नारायणी मुद्रा विराजमान रहती है,—वह ऊर्द्ध्व लोक प्राप्त करने में अधिकारी होता है,—उसको इन्द्रस्वरूप जानना चाहिये। कृष्णमुद्राधारण-पूर्वक दैव, पितृ, नित्य-नैमित्तिक वा काम्य कर्म, करने पर उस कर्म का फल अक्षय होता है। जिस पुरुष के हाथ में नारायण के अष्टार्ण (अष्टाक्षर) मंत्र से अंकित धातुमयी मुद्रा विराजित रहती है,—ग्रह, नक्षत्र और राशि;—उसका कुछ अनिष्ट करने में समर्थ नहीं होते॥ वराहपुराण के श्रीसनत्कुमार—वचन में लिखा है,कि—जिस पुरुष का शरीर अतिउत्तम मृत्तिका गोपीचन्दन द्वारा कृष्णास्त्र से चिह्नित है,—प्रयागादि तीर्थ में जाने से उसको क्या प्रयोजन है ? मनुष्य का शरीर शंखादि चिह्न से चिह्नित देखते ही जगत्-पति हरि प्रसन्न होकर उसके पाप दूर कर देते हैं। जिस पुरुष के शरीर में नित्य अहोरात्र शंख, चक्र, गदा और पद्म का चिह्न

[१] तीन अग्नि।—गार्हपत्य, दक्षिण और आहवनीय। तीन देवता।—ब्रह्मा, विष्णु और महादेव। तीन पद।—त्रिविक्रम के तीन चरण।

यदा यस्य प्रपश्येत देहं शङ्खादिचिह्नितम्।
तदा तदा जगत्स्वामी तुष्टो हरति पातकम्॥
भवते यस्य देहे तु अहोरात्रं दिने दिने।
शंख-चक्र-गदा-पद्मं लिखितं सोऽच्युतः स्वयम्॥ १०३॥
नारायणायुधैर्युक्तं कृत्वात्मानं कलौ युगे।
कुरुते पुण्यकर्म्माणि मेरु-तुल्यानि तानि वै॥
शंखादिनाङ्कितो भक्त्या श्राद्धं यः कुरुते द्विजः।
विधिहीनन्तु सम्पूर्णं पितॄणान्तु गयासमम्॥१०४॥
यथाग्निर्दहते काष्ठं वायुना प्रेरितो भृशम्।
तथा दह्यन्ति पापानि दृष्ट्वा कृष्णायुधानि वै॥

ब्राह्मे श्रीब्रह्मनारद-सम्वादे—

विष्णु-नामाङ्कितां मुद्रामष्टाक्षरसमन्विताम्।
शङ्खादिकायुधैर्युक्तां स्वर्णरूप्यमयीमपि॥
धत्ते भागवतो यस्तु कलिकाले विशेषतः।
प्रह्लादस्य समो ज्ञेयो नान्यथा कलिवल्लभ!॥

किञ्च।——शङ्खाङ्किततनुर्विप्रो भुङ्क्ते यस्य च वेश्मनि।
तदन्नं स्वयमश्नाति पितृभिः सह केशवः॥ १०५॥
कृष्णायुधाङ्कितो यस्तु श्मशाने म्रियते यदि।
प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद!॥ १०६॥

भाषा टीका।

विराजित रहता है,—वह मूर्त्तिमान् नारायण-स्वरूप हैं॥ १०३॥

कलिकाल में नारायण के आयुधों से शरीर चिह्नित करके जो सब पुण्यक्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता है,—उनका फल सुमेरु की समान होता है। हे विप्र! शंखादि चिह्न से चिह्नित होकर भक्ति-सहित पितृलोकों का श्राद्ध करने पर यदि—वह श्राद्ध विधिहीन हो, तो-भी संपूर्ण और गया-श्राद्ध की सदृश होता है॥ १०४॥

अग्नि जिस प्रकार वायु-द्वारा परिचालित होकर काष्ठ को दग्ध करती है,—वैसे ही कृष्ण के अस्त्रों का दर्शन करने से संपूर्ण पातक भस्मीभूत हो जाते हैं।

ब्रह्मपुराण को श्रीब्रह्मनारद-सम्वाद में लिखा है कि,—हे कलिप्रिय! जो भगवद्भक्ति-परायण मनुष्य विशेषतः कलिकाल में हरिनामाङ्कित अष्टाक्षरविशिष्ट शंखादि अस्त्रयुक्त, स्वर्णरजतमयी मुद्रा धारण करते हैं,—उनको प्रह्लाद की समान जानना चाहिये,—इस में अन्यथा नहीं है। और भी लिखा है कि,—शंखादि चिह्न से चिह्नित ब्राह्मण जिस के घर भोजन करता है,—वहां स्वयं हरि पितृगणों के सहित मिलकर उसका—वह अन्न भोजन करते हैं॥ १०५॥

हे नारद! श्रीकृष्ण के आयुधों से अंकित होकर श्मशान में प्राण त्याग ने पर भी प्रयाग के मरने में जो गति कही गई है,—वह पुरुष उसी गति को प्राप्त होता है॥ १०६॥

कृष्णायुधैः कलौ नित्यं माण्डितं यस्य विग्रहम् ।
तत्राश्रयं प्रकुर्व्वन्ति विवुधा वासवादयः ॥ १०७ ॥

यः करोति हरेः पूजां कृष्ण-शस्त्राङ्कितो नरः ।
अपराध-सहस्राणि नित्यं हरति केशवः ॥

कृत्वा काष्ठमयं विम्वं कृष्ण-शस्त्रैस्तु चिह्नितम् ।
यो ह्यङ्कयति चात्मानं तत्समो नास्ति वैष्णवः ॥

पाषण्डिपतितव्रात्यैर्नास्तिकालापपातकैः ।
न लिप्यते कलिकृतैः कृष्ण-शस्त्राङ्कितो नरः ॥

किञ्च ।——अष्टाक्षराङ्किता मुद्रा यस्य धातुमयी भवेत् ।
शङ्खपद्मादिभिर्युक्ता पूज्यतेऽसौ सुरासुरैः ॥ १०८ ॥

धृता नारायणी मुद्रा प्रह्लादेन पुरा कृते ।
विभीषणेन वलिना ध्रुवेण च शुकेन च ॥ १०९ ॥

मान्धातृणाम्वरीषेण मार्कण्ड-प्रमुखैर्द्विजैः ।
शङ्खादिचिह्नितैः शस्त्रैर्देहे कृत्वा कलिप्रिय ! ॥
आराध्य केशवात् प्राप्तं समीहितफलं महत् ॥ ११० ॥

किञ्च— गोपीचन्दनमृत्स्नाया लिखितं यस्य विग्रहे ।
शङ्खपद्मादि चक्रं वा तस्य देहे वसेद्धरिः ॥

भाषा टीका।

कलिकाल में कृष्णायुध द्वारा जिस पुरुष का कलेवर सदा अलंकृत रहता है,-इन्द्र इत्यादि देवता-गण उसके उस देह का आश्रय करके अवस्थिति करते हैं ॥ १०७ ॥

कृष्णायुध-द्वारा चिह्नित होकर हरि की पूजा करने पर केशव सदा उस [पूजा करने वाले] मनुष्य के हजार पाप दूर करते हैं। कृष्णायुधाङ्कित काष्ठनिर्मित विम्व (छापा) द्वारा जो पुरुष अपना कलेवर अंकित करता है-उसके समान वैष्णव दूसरा नहीं है । जो पुरुष कृष्णायुध चिह्न से विभूषित है-वह कलि-जनित पाषण्डी, पतित, व्रात्य (संस्कार रहित) और नास्तिक के सहित संभाषणरूप पाप में लिप्त नहीं होता ॥ और भी लिखा है कि,-जिस पुरुष पर शंखपद्मादि-युक्त अष्टाक्षरी धातुमयी मुद्रा है,-देव, दानव,-सभी उसकी पूजा करते हैं ॥ १०८ ॥

पहिले समय सत्ययुग में प्रह्लाद, फिर विभीषण, वालि ध्रुव और शुकदेव,--इत्यादि सब ही नारायणी मुद्रा धारण करते थे ॥ १०९ ॥

हे कलिप्रिय नारद ! मान्धाता, अम्वरीष और मार्कण्डेयादि ब्राह्मणों ने शंखादि चिह्न द्वारा शरीर अंकित कर हरि की आराधना करके उनके समीप से वांछित महत् फल लाभ किया था ॥ ११० ॥

और भी लिखा है कि,—गोपीचंदन मृत्तिका द्वारा जिस पुरुष के देह में शंख-पद्मादि वा चक्र अंकित रहता है-हरि उसके कलेवर में अधिष्ठान करते हैं ॥ ब्रह्मपुराण में सनत्कुमार की उक्ति में है, कि,-जिस का देह शंख-चक्रादि से अंकित है,—वा आमलकी-

तत्रैव श्रीसनत्कुमारोक्तौ—

यस्य नारायणी मुद्रा देहे शंखादिचिह्नितम्।
धात्रीफल-कृता माला तुलसीकाष्ठसम्भवा॥
द्वादशाक्षरमन्त्रैस्तु नियुक्तानि कलेवरे।
आयुधानि च विप्रस्य मत्समः स च वैष्णवः॥

किञ्च।——यस्य नारायणी मुद्रा देहे शङ्खादिचिह्निता।
सर्वाङ्गं चिह्नितं यस्य शस्त्रैर्नारायणोद्भवैः।
प्रवेशो नास्ति पापस्य कवचं तस्य वैष्णवम्॥

अन्यत्र च- एभिर्भागवतैश्चिह्नैः कलिकाले द्विजातयः।
भवन्ति मर्त्यलोके ते शापानुग्रहकारकाः॥

अथ मुद्राधारण-विधिः।

चक्रश्च दक्षिणे बाहौ शंखं वामेऽपि दक्षिणे।
गदा वामे गदाधस्तात् पुनश्चक्रश्च धारयेत्॥
शंखोपरि तथा पद्मं पुनः पद्मश्च दक्षिणे।
खड्गं वक्षसि चापश्च सशरं शीर्ष्णि धारयेत्॥ १११॥
इति पञ्चायुधान्यादौ धारयेद्वैष्णवो जनः।
मत्स्यश्च दक्षिणे हस्ते कूर्मं वामकरे तथा॥ ११२॥

तथा चोक्तं—दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभृयाद्वै सुदर्शनम्।
मत्स्यं पद्मं चापरेऽथ शंखं पद्मं गदां तथा॥ इति॥ ११३॥

भाषा टीका।

माला, तुलसी-माला और द्वादशार्ण (बारह अक्षर वाले) मंत्र-सहित अस्त्र जिसकी देह में अंकित रहते हैं,-वह वैष्णव मेरे समान हैं॥ और भी-जिस पुरुष के शरीर में शंखादि-चिह्निता नारायणी मुद्रा विराजती है, और जिसका सर्वांग नारायणास्त्र से चिह्नित है, उसके शरीर में पातक नहीं घुस सकता,—यह सब अस्त्र चिह्न उसके सम्बन्ध में वैष्णव कवच-स्वरूप हैं। अन्यत्र भी लिखा है कि,-जो ब्राह्मण कलियुग में भगवान् के--इन सब अस्त्र-चिह्नों से अंकित रहते हैं-वे नरलोक में शाप और अनुग्रह के कर्त्ता हैं।

मुद्राधारण की विधि।-गौतमीय तंत्र में लिखा है कि,-दहिनी बाहु में चक्र, बाँई और दहिनी,-दोनों बाहु में शंख, बाँई बाहु में गदा और गदा के नीचे फिर चक्र धारण करना चाहिये। शंख के ऊपर पद्म फिर दहिनी बाहु में पद्म हृदय में खड्ग और मस्तक में बाण-सहित शरासन धारण करे॥ १११॥

वैष्णव पुरुष पहिले तो—यह पांच अस्त्र धारण करे, फिर दहिने हाथ में मीन का चिह्न और बाँये हाथ में कूर्म चिह्न धारण करे॥ ११२॥

अतएव कहा है कि—ब्राह्मण दहिनी बाहु में

साम्प्रदायकशिष्टानामाचाराच्च यथारुचि ।
शंख-चक्रादिचिह्नानि सर्वेष्वङ्गेषु धारयेत ॥
भक्त्या निजेष्टदेवस्य धारयेल्लक्षणान्यपि ॥ ११४ ॥
चक्र-शंखौ च धार्य्येते संमिश्रावेव कैश्चन ॥ ११५ ॥
श्रीगोपीचन्दनेनैवं चक्रादीनि बुधोऽन्वहम् ।
धारयेच्छयनादौ तु तप्तानि किल तानि हि ॥ ११६ ॥

अथ चक्रादीनां लक्षणानि ।

द्वादशारन्तु षट्कोणं वलय-त्रयसंयुतम् ।
चक्रं स्याद्दक्षिणावर्त्तः शंखश्च श्रीहरेः स्मृतः ।
गदापद्मादिकं लोकसिद्धमेव मतं बुधैः ॥
मुद्रा वा भगवन्नाम्नाङ्किता वाष्टाक्षरादिभिः ॥ ११७ ॥

अथ मालादिधारणम् ।

ततः कृष्णार्पिता माला धारयेत्तुलसी-दलैः ।
पद्माक्षैस्तुलसी-काष्ठैः फलैर्धात्र्याश्च निर्मिताः ॥
धारयेत्तुलसीकाष्ठभूषणानि च वैष्णवः ।
मस्तके कर्णयोर्बाह्वोः करयोश्च यथारुचि ॥

भाषा टीका ।

सुदर्शन मीन और पद्म एवं वाम बाहु में शंख, पद्म और गदा धारण करे ॥ ११३ ॥

साम्प्रदायिक शिष्टाचारानुसार अपनी रुचि से भक्ति-पूर्वक अपने इष्ट देव का शंख-चक्रादि चिह्न और वेणु प्रभृति चिह्न सर्वांग में धारण करना चाहिये ॥ ११४ ॥

कोई कोई शंख और चक्र,-इन दोनों को परस्पर संलग्न कर धारण करते हैं * ॥ ११५ ॥

बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन गोपीचन्दन द्वारा चक्रादि अस्त्रों का अंकित करें एवं शयन-द्वादशी और उत्थान-द्वादशी आदि में-यह सब मुद्रा तपाकर धारण करें ॥ ११६ ॥

चक्रादि-लक्षण ।—द्वादशचाकार (बारह अरे का) छै कोण और तीन वलि-युक्त होने से उसको चक्र कहते हैं। इस प्रकार कहा है कि,-श्रीहरि का शंख दक्षिणावर्त्त है। लोक में गदा और पद्मादि का जिस प्रकार निर्माण चलता है,-पण्डितगण उसी के अनुसार ग्रहण करें। अथवा मुद्रा श्रीहरि के राम-कृष्णादि नाम-समूह द्वारा अथवा अष्टार्ण वा पञ्चार्ण-प्रभृति मंत्रद्वारा निर्मित होती है ।११७ ॥

मालादिधारण ।—इसके पीछे तुलसीपत्र, पद्मबीज, तुलसीकाष्ठ और आमलकी-फल द्वारा विरचित

* यद्यपि नित्य पार्षद भगवद्भक्त-प्रवर श्रीशंख की मुद्रा धारण करने में कोई भी दोष उपस्थित नहीं होता,—किन्तु तो-भी इस शंख ध्वनि से किसी ब्राह्मण की पत्नी का गर्भ-पात हो गया था,-इसी लिये इसके पति ने शंख को शाप दिया कि-" असुर के घर तुम्हारा जन्म हो "—शंख इस ब्राह्मण के शाप को सत्य करने के निमित्त " पाञ्चजन्य " नाम धारण करके शंखद्वीप में उत्पन्न हुआ। कोई कोई इस शंख का असुरत्व समझ कर इस चिह्न को पृथक् प्रकार से धारण करते हैं।

अथ मालाधारण-विधिः।

स्कान्दे— सन्निवेद्यैव हरये तुलसीकाष्ठ-सम्भवाम् ॥
मालां पश्चात् स्वयं धत्ते स वै भागवतोत्तमः।
हरये नार्पयेद्यस्तु तुलसीकाष्ठ-सम्भवाम् ॥
मालां धत्ते स्वयं मूढ़ः स याति नरकं ध्रुवम्।
क्षालितां पञ्चगव्येन मूलमन्त्रे ण मन्त्रिताम् ॥
गायत्र्या चाष्टकृत्वो वै मन्त्रितां धूपयेच्च ताम्।
विधिवत् परया भक्त्या "सद्योजातेन" पूजयेत् ॥
"तुलसीकाष्ठसम्भूते ! माले ! कृष्ण-जनप्रिये !।
विभर्मि त्वामहं कण्ठे कुरु मां कृष्ण-वल्लभम् ॥
यथा त्वं वल्लभा विष्णोर्नित्यं विष्णु-जनप्रिया।
तथा मां कुरु देवेशि ! नित्यं विष्णु-जनप्रियम् ॥
दाने "ला"धातुरुद्दिष्टो लासि मां हरि-वल्लभे !।
भक्तेभ्यश्च समस्तेभ्यस्तेन माला निगद्यसे"।—
एवं संप्रार्थ्य विधिवत् मालां कृष्ण-गलेऽर्पिताम् ॥
धारयेद्वैष्णवो यो वै स गच्छेद्वैष्णवं पदम् ॥ ११८ ॥

अथ मालाधारण-नित्यता।

तत्रैव कार्त्तिक-प्रसङ्गे—
धात्री-फलकृतां मालां कण्ठस्थां यो वहेन्न हि।

भाषा टीका।

माला—इत्यादि निवेदन करके अंग में धारण करे। वैष्णव पुरुष शिर में, दोनों कानों में, दोनों बाहु में और दोनों हाथों में रुचि के अनुसार तुलसी-काष्ठ का अलङ्कार धारण करें।

माला-धारण की विधि।—जो तुलसी-काष्ठ की बनी माला हरि को अर्पण करके फिर स्वयं धारण करते हैं,—वे निसंदेह भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ हैं। जो मूर्ख तुलसी-काष्ठ की माला भगवान् को विना प्रदान किये धारण करते हैं,—वे निसंदेह नरक में गिरते हैं। माला गूंथ- कर पंचगव्य से धोवे, फिर उसके ऊपर मूलमंत्र जपकर आठबार गायत्री का जप करना चाहिये, फिर धूप का धुँआँ स्पर्श कराकर सद्योजात मंत्र से भक्तिपूर्वक पूजा करे। "हे माले ! तुलसीकाष्ठ से तुम बनाई गई हो, कृष्ण के भक्त तुम में प्रीति प्रदर्शन करते हैं, मैं तुमको कंठ में धारण करता हूं,—मुझको श्रीहरि का प्रियपात्र करो। हे कृष्णवल्लभे ! जिस प्रकार तुम कृष्ण की प्यारी, और कृष्णभक्त तुम में निरंतर जिस प्रकार प्रीति प्रदर्शन करते हैं,—मुझको उसी प्रकार कृष्ण के भक्तों का प्रियपात्र करो। 'ला' धातु का प्रयोग दान के अर्थ में होता है, हे कृष्णवल्लभे ? तुमने मेरे लिये संपूर्ण भक्तों को दिया,—इस कारण तुमको 'माला'

वैष्णवो न स विज्ञेयो विष्णु-पूजारतो यदि ॥ ११९ ॥

गारुड़े——धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धयः।
नरकान्न निवर्त्तन्ते दग्धाः कोपाग्निना हरेः ॥ १२० ॥

अतएव स्कान्दे—
न जह्यात् तुलसी-मालां धात्री-मालां विशेषतः।
महापातकसंहन्त्रीं धर्म्मकामार्थ-दायिनीम् ॥ १२१ ॥

अथ मालाधारण-माहात्म्यम्।

अगस्त्यसंहितायाम्—
निर्माल्यतुलसीमाला-युक्तो यश्चार्च्चयेद्धरिम्।
यद्यत् करोति तत् सर्वमनन्तफलदं भवेत् ॥ १२२ ॥

नारदीये— ये कण्ठलग्नतुलसी-नलिनाक्षमाला ये वा ललाटफलके लसदूर्द्ध्वपुण्ड्राः।
ये वाहु-मूलपरिचिह्नितशंख-चक्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥१२३॥

किञ्च——भुजयुगमपि चिह्नैरङ्कितं यस्य विष्णोः परमपुरुष-नाम्नां कीर्त्तनं यस्य वाचि।
ऋजुतरमपि पुण्ड्रं मस्तके यस्य कण्ठे सरसिजमणिमाला यस्य तस्यास्मि दासः ॥ १२४ ॥

भाषा टीका।

शब्द में कीर्त्तन किया जाता है" । जो वैष्णव यथा-विधि इस प्रकार प्रार्थना करके प्रथम श्रीकृष्ण के गले में माला-प्रदान-पूर्वक फिर स्वयं धारण करते हैं,—विष्णु के पद में उनकी गति होती है ॥ ११८ ॥

अब मालाधारण की नित्यता कहते हैं।—स्कन्द-पुराण के कार्त्तिक-प्रसंग में लिखा है,—जो पुरुष कंठ में आमलकी—फलरचितमाला धारण नहीं करता,—वह श्रीहरि की पूजा में नियुक्त होने पर भी वैष्णवों में नहीं गिना जा-सकता ॥ ११९ ॥

गरुड़पुराण में लिखा है कि,—जो हेतुवाद-परायण पापमति मनुष्य माला धारण नहीं करते,—वे हरि की कोपाग्नि में भस्म होते हैं, और नरक से फिर नहीं लौटते ॥ १२० ॥

अतएव स्कन्दपुराण में भी है कि,—तुलसी की माला और विशेष कर आमलकी फल के गूँथी हुई माला का त्याग न करे,—वह महापाप-ध्वंश करती है, एवं धर्म, अर्थ और काम प्रदान करती है ॥ १२१ ॥

माला-धारण का माहात्म्य ।—अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,—जो श्रीहरि को निवेदित हुई है,—ऐसी तुलसी की माला धारण करके भगवान् की पूजा करते हैं; और अन्यान्य जिन सब कार्यों का अनु-ष्ठान करते हैं,—वे सब अक्षयफल-दायक होते हैं॥१२२॥

नारदीय में लिखा है कि,—जिस पुरुष के कंठ में तुलसी की माला और पद्म बीज (कमल गट्टे) की माला विद्यमान रहती है, और जिस पुरुष के भाल-देश में ऊर्द्ध्व पुंड्र विराजमान दिखाई देता है, और जिस पुरुष के वाहु-मूल में शंख-चक्र के चिह्न देदीप्य-मान, हैं,—वह वैष्णव तत्काल जगत् को पवित्र करता है ॥ १२३ ॥

और भी लिखा है कि,—जिस पुरुष की दोनों वाहु हरि के अस्त्रादि-चिह्न से अंकित हैं, जिस पुरुष की वचनावली से परम पुरुष हरि के नामों का कीर्त्तन होता है, जिसके मस्तक में सीधा ऊर्द्ध्व पुंड्र विराजमान है और कंठ-देश में कमल-गट्टे की माला शोभायमान है—मैं उसका दास-स्वरूप हूं॥१२४॥

विष्णुधर्मोत्तरे श्रीभगवदुक्तौ—

तुलसीकाष्ठमालाञ्च कण्ठस्थां वहते तु यः ।
अप्यशौचोऽप्यनाचारो मामेवैति न संशयः ॥

स्कान्दे——धात्री-फलकृता माला तुलसीकाष्ठसम्भवा ।
दृश्यते यस्य देहे तु स वै भागवतोत्तमः ॥ ॥ १२५ ॥
तुलसीदलजां मालां कण्ठस्थां वहते तु यः ।
विष्णूत्तीर्णां विशेषेण स नमस्यो दिवौकसाम् ॥
तुलसीदलजा माला धात्रीफलकृतापि च ।
ददाति पापिनां मुक्तिं किं पुनर्विष्णुसेविनाम् ॥

तत्रैव कार्तिकप्रसङ्गे—

यः पुनस्तुलसीमालां कृत्वा कण्ठे जनार्द्दनम् ।
पूजयेत् पुण्यमाप्नोति प्रतिपुष्पं गवायुतम् ॥ १२६॥
यावल्लुठति कण्ठस्था धात्री-माला नरस्य हि ।
तावत्तस्य शरीरे तु प्रीत्या लुठति केशवः॥
स्पृशेच्च यानि लोमानि धात्रीमाला कलौ नृणाम् ।
तावद्वर्ष-सहस्राणि वसते केशवालये ॥
यावद्दिनानि वहते धात्रीमालां कलौ नरः ।

भाषा टीका ।

विष्णुधर्मोत्तर की श्रीभगवत उक्ति में है कि,—जो पुरुष तुलसीकाष्ठ-निर्मित माला कंठ देश में वहन करता है,—वह अपवित्र हो वा आचार-भ्रष्ट हो, मुझको प्राप्त करेगा,-इस में संदेह नहीं ॥ स्कन्द पुराण में है कि,-जिस पुरुष के शरीर में धात्री फल निर्मित और तुलसी-काष्ठमयी माला दिखाई देती है-वह निसंदेह भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ हैं ॥ १२५ ॥

जो पुरुष तुलसी पत्र से सुशोभित माला धारण करते हैं—विशेषतः हरि को निवेदन करके कंठ में वहन करते हैं,-वे देवताओं के भी प्रणम्य अर्थात नमस्कार प्राप्ति के योग्य हैं । जो मनुष्य हरि की आराधना करते हैं,-उनकी वात और क्या कहूं, तुलसी-दल की गूंथी हुई और धात्रीफल-रचित माला पातकि-गणों को भी मुक्ति प्रदान करती है ॥ स्कन्द पुराण के कार्तिक-प्रसंग में है कि,—जो पुरुष कंठ में तुलसी की माला धारण करके हरि की पूजा करते हैं,-वे प्रतिकुसुमदान-द्वारा अयुत (दश हजार) गोदान का फल पाते हैं ॥ १२६ ॥

आमलकी-माला कंठदेश में लग्न होकर जितने दिन मनुष्य के देह में विलुण्ठित (लोटती हुई) होती है-हरि भी प्रीति-सहित उतने दिन तक उसके शरीर में लुण्ठित (विराजमान) होते रहते हैं। कलियुग में आमलकी-फल की माला मनुष्यों के जितने रोम को स्पर्श करती है,-वे उतने ही हजार वर्ष हरि के धाम में वास करते हैं । कलियुग में मनुष्य जितने दिन आमलकी-फल की माला पहरते हैं;—उतने ही हजार युग वैकुण्ठ धाम में उनका वास होता है। जो पुरुष

तावद्युगसहस्राणि वैकुण्ठे वसतिर्भवेत्।
मालायुग्मञ्च यो नित्यं धात्रीतुलसिसम्भवम् ॥
वहते कण्ठदेशे च कल्पकोटिं दिवं वसेत् ॥ १२७ ॥

गारुड़े च मार्कण्डेयोक्तौ—

तुलसीदलजां मालां कृष्णोत्तीर्णां वहेत्तु यः।
पत्रे पत्रेऽश्वमेधानां दशानां लभते फलम् ॥
तुलसीकाष्ठसम्भूतां यो मालां वहते नरः।
फलं यच्छति दैत्यारिः प्रत्यहं द्वारकोद्भवम्।
निवेद्य विष्णवे मालां तुलसीकाष्ठ-सम्भवाम् ॥
वहते यो नरो भक्त्या तस्य वै नास्ति पातकम्।
सदा प्रीतमनास्तस्य कृष्णो देवकि-नन्दनः।
तुलसीकाष्ठ-सम्भूतां यो मालां वहते नरः ॥
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति नाशौचं तस्य विग्रहे।
तुलसीकाष्ठ-सम्भूतं शिरसो यस्य भूषणम् ॥
वाह्वोः करे च मर्त्यस्य देहे तस्य सदा हरिः ॥ १२८ ॥
तुलसीकाष्ठमालाभिर्भूषितः पुण्यमाचरेत्।
पितॄणां देवतानाञ्च कृतं कोटिगुणं कलौ ॥ १२९ ॥
तुलसीकाष्ठमालान्तु प्रेतराजस्य दूतकाः।
दृष्ट्वा नश्यन्ति दूरेण वातोतद्धूं यथा दलम् ॥

भाषा टीका।

प्रतिदिन कंठ-देश में धात्रीमाला और तुलसी की माला वहन करते हैं,—करोड़ कल्प-तक सुरपुर में उनका वास होता है ॥ १२७ ॥

गरुड़पुराण के मार्कण्डेय की उक्ति में है, कि-श्रीकृष्ण के कंठ से उतारी हुई तुलसी के-पत्र की वनी माला गले में वहन करने से उस माला में जितने पत्र हों,— उस प्रति-पत्र में—वह मनुष्य दश दश अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। जो पुरुष प्रतिदिन तुलसीकाष्ठ की माला धारण करते हैं,—दैत्यनिसूदन हरि उनको द्वारावती वास का फल देते हैं। जो पुरुष तुलसीकाष्ठ की माला हरि को निवेदन करके भक्ति-सहित धारण करते हैं, उन में कोई पाप भी विद्यमान नहीं रहता। देवकी-नंदन हरि उनके प्रति सदा संतुष्ट रहते हैं। तुलसी काष्ठ की माला पहरने वाले को प्रायश्चित्त करना नहीं पड़ता। और उसके शरीर में पाप भी विद्यमान नहीं रहता। जिस पुरुष के शिर में, अंग में, दोनों वाहु में, और हाथ में तुलसी-काष्ठ का बना भूषण विद्यमान रहता है,-उसके शरीर में हरि सदा वास करते हैं ॥ १२८॥

कलिकाल में तुलसीकाष्ठ की वनी माला से अलंकृत होकर पुण्य कार्य और पितृ-कर्म तथा दैव-कर्म करने से उसका फल करोड़ गुण होता है ॥ १२९ ॥

यम के दूतगण दूर से तुलसी-काष्ठ की माला देख कर वायु-ताड़ित पत्ते के समान भाग जाते हैं। तुलसी-काष्ठ की माला से अलंकृत होकर भ्रमण करने से

तुलसी-काष्ठमालाभिर्भूषितो भ्रमते यदि।
दुःस्वप्नं दुर्न्निमित्तञ्च न भयं शस्त्रजं कचित ॥ १३० ॥

अथ गृहे सन्ध्योपासन-विधिः।

सन्ध्योपास्त्यादिकं कर्म्म ततः कुर्य्यात् यथाविधि।
कृष्ण-पादोदकेनैव तत्र देवादि-तर्पणम् ॥ १३१ ॥
शिरसा विष्णु-निर्माल्यं पादोदेनापि तर्पणम्।
पितॄणां देवतानाञ्च वैष्णवैस्तु समं मतम् ॥ १३२ ॥

सन्ध्योपास्तौ च वशिष्ठ-वचनम् —

गृहे त्वेकगुणा सन्ध्या गोष्ठे दशगुणा स्मृता।
शतसाहस्त्रिका नद्यामनन्ता विष्णु-सन्निधौ ॥

अथ श्रीगुरु-पूजा।

पूजयिष्यंस्ततः कृष्णमादौ सन्निहितं गुरुम्।
प्रणम्य पूजयेद्भक्त्या दत्त्वा किंञ्चिदुपायनम् ॥

तथा च स्मृतिमहार्णवे—

रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं भिषजं गुरुम्।
नोपायनकरः पुत्रं शिष्यं भृत्यं निरीक्षयेत् ॥ १३३ ॥

किञ्च श्रीभगवदुक्तौ—

प्रथमन्तु गुरुं पूज्य ततश्चैव ममार्च्चनम्।
कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत ॥

भाषा टीका।

उसको दुःस्वप्न–दुर्घटना और शस्त्र का भय विद्यमान नहीं रहता ॥ १३० ॥

अनन्तर घर में सन्ध्योपासन की विधि।— इस प्रकार माला धारण करके यथाविधि संध्योपासनादि क्रिया और इसी क्रिया में श्रीहरि के चरणामृत से देवादि का तर्पण करे ॥ १३१ ॥

शिर—पर विष्णु का निर्माल्य धारण और चरणामृत से पितृ और देवताओं का तर्पण,–इन दोनों का वैष्णवों ने तुल्य विधान किया है ॥ १३२ ॥

संध्योपासन के विषय में वशिष्ठ की उक्ति है कि,–घर में संध्योपासन करने से एकगुँण, गोष्ठ में दशगुँण नदी में शत–सहस्त्रगुँण, और हरि के समीप संध्योपासन करने से अनन्तगुँण फल होते हैं।

गुरु-पूजा।– इसके पीछे श्रीहरि की पूजा के लिये उपस्थित होकर निकटवर्त्ती गुरुदेव को कुछ उपहार अर्पण–पूर्वक प्रणाम करता हुआ भक्ति–सहित पूजा करे ॥ स्मृतिमहार्णव में लिखा है कि,–राजा, गुरु और चिकित्सक (वैद्य)—इन से खाली हाथ साक्षात (भेंट) न करे, और हाथ में भेट लेकर पुत्र, शिष्य और सेवक से साक्षात न करे ॥ १३३ ॥

और भी है,–भगवान् ने कहा है कि, प्रथम गुरुदेव

श्रीनारदेन च—

गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यमग्रतः।

स दुर्गतिमवाप्नोति पूजनं तस्य निष्फलम् ॥ १३४ ॥

अथ श्रीगुरु-माहात्म्यम्।

श्रुतिषु— यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ १३५ ॥

एकादशस्कन्धे श्रीभगवदुक्तौ—

आचार्य्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।

न मर्त्त्य-बुद्ध्यासूयेत सर्व्वदेवमयो गुरुः ॥ १३६ ॥

श्रीदशमस्कन्धे च—

नाहमिज्या-प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च।

तुष्येयं सर्व्वभूतात्मा गुरु-शुश्रूषया यथा ॥ १३७ ॥

सप्तमस्कन्धे श्रीनारदोक्तौ—

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।

मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्व्वं कुञ्जर-शौचवत् ॥ १३८ ॥

अन्यत्रापि।—साधकस्य गुरौ भक्तिं मन्दीकुर्व्वन्ति देवताः।

यन्नोतीत्य व्रजेद्विष्णुं शिष्यो भक्त्या गुरौ ध्रुवम् ॥

भाषा टीका।

की अर्चना करके फिर मेरी पूजा करने से सिद्धि मिलती है। अन्यथा पूजा फलवती नहीं होती ॥ नारदजी ने भी कहा है कि,-गुरुदेव के समीप विद्यमान होने पर जो पुरुष पहिले दूसरे—की पूजा करता है,—वह दुर्गति को प्राप्त होता है, और उसकी पूजा भी फलवती नहीं होती ॥ १३४ ॥

गुरु-माहात्म्य।-श्रुति में लिखा है कि,-देवता में जिस की परमभक्ति है, और देवता में जैसी है;—गुरुदेव के प्रति भी जिसकी वैसी ही भक्ति है,-वह महात्मा के सम्बन्ध में मेरे कहे पुरुषार्थ प्रकाशित होते हैं ॥१३५॥

एकादश (ग्यारह वें) स्कन्ध में श्रीभगवान् की उक्ति में लिखा है,-मुझको ही आचार्य जाने, कभी आचार्य का अपमान न करे, मनुष्य जानकर कभी उनके प्रति असूयाप्रकाश न करे। क्यों कि गुरुदेव सर्व-देवमय हैं ॥ १३६ ॥

दशमस्कन्ध में लिखा है कि,-मैं सब भूतों की आत्मा हूं, गुरु की सेवा से मैं जिस प्रकार प्रसन्न होता हूं, गृहस्थधर्म, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और यती के आचार से भी मैं वैसा संतुष्ट नहीं होता ॥ १३७ ॥

सप्तम [सातवें] स्कंध की नारदोक्ति में है कि,-हे नृपते! ज्ञानरूपी दीपक के देने वाले गुरुदेव,—साक्षात भगवान् के स्वरूप हैं,-उन गुरुदेव के प्रति मनुष्य ज्ञानरूप असद्बुद्धि करने से उस मनुष्य का सब शास्त्र सुनना हाथी के स्नान की समान विफल होता है ॥१३८॥

अन्यत्र भी लिखा है कि,-"शिष्य गुरुदेव में अटल भक्ति रखकर हमको उल्लंघन-पूर्वक हरि को लाभ करेगा",-इस कारण देवतागण साधक की गुरु के

मनुस्मृतौ—अज्ञो भवति वै वालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि वालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥
किञ्च— गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मात् संपूजयेत् सदा॥ १२९॥
वामनकल्पे ब्रह्मणो वाक्यम्—
यो मन्त्रः स गुरुः साक्षाद्यो गुरुः स हरिः स्मृतः।
गुरुर्यस्य भवेत्तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्।
गुरोः समासने नैव न चैवोच्चासने वसेत्॥
विष्णुरहस्ये।—तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यथा विष्णुं तथा गुरुम्।
अभेदेनार्च्चयेद्यस्तु स मुक्ति-फलमाप्नुयात्॥
विष्णुधर्म्मे श्रीभागवते भारते च हरिश्चन्द्रस्य—
गुरु-शुश्रूषणं नाम सर्व्वधर्म्मोत्तमोत्तमम्।
तस्मात् धर्म्मात् परो धर्म्मः पवित्रं नैव विद्यते॥
काम-क्रोधादिकं यद्यदात्मनोऽनिष्टकारणम्।
एतत् सर्व्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥
पाद्मे।— पितुराधिक्यभावेन येऽर्च्चयन्ति गुरुं सदा।

भाषा टीका।

प्रति भक्ति मंद कर देते हैं॥ मनुस्मृति में लिखा है कि,—अज्ञान को ही वालक कहा जाता है,—मंत्रदाता ही पिता शब्द से अभिहित हैं,—इसी से पण्डितगण कहते हैं कि,—अज्ञान मनुष्य निश्चय ही वालक है, और मंत्र देने वाले ही पिता हैं। और भी कहा है,—गुरुदेव ही ब्रह्मा, गुरुदेव ही विष्णु, गुरुदेव ही शिव और गुरुदेव ही पर ब्रह्म हैं, अतएव सदा गुरुदेव की पूजा करनी चाहिये॥ १२९॥

वामनकल्प की ब्रह्मोक्ति में है कि,—जो मंत्र हैं,—वही गुरुस्वरूप हैं। और जो गुरु हैं,—वही साक्षात् हरि हैं। जिस पुरुष-पर गुरुदेव प्रसन्न रहते हैं, स्वयं हरि भी उसके प्रति प्रसन्न रहते हैं। गुरु के समान आसन पर अथवा उससे ऊंचे आसन पर नहीं बैठे॥ विष्णु-रहस्य में लिखा है कि,—अतएव जिस प्रकार विश्रान्त है,—उसके अनुसार जो पुरुष सर्वथा यत्न-पूर्वक गुरुदेव को हरि से अभिन्न जान कर पूजा करते हैं,—वे मुक्ति फल को पाते हैं॥ विष्णुधर्म भागवत और भारत की हरि-श्चन्द्रोक्ति में है कि,—गुरु-सेवा ही सब से उत्तम धर्म है, उससे उत्तम वा पवित्र धर्म दूसरा नहीं है—गुरुदेव के प्रति भक्ति रखने पर अपना अहित करने वाले काम क्रोधादि को भी जीत सकता है॥ पद्मपुराण में लिखा है कि,—हे वैश्यप्रवर! जो मनुष्य गुरुदेव को पिता से भी श्रेष्ठ जान कर सदा पूजा करते हैं,—वे ब्रह्म-धाम के अतिथि होते हैं, अर्थात् ब्रह्मधाम में उनकी गति होती है॥ इसी पुराण में देवद्युति के स्तव में प्रकाशित है कि,—जिस प्रकार हरि के प्रति मेरी भक्ति विद्यमान है,—उतनी निष्ठा गुरुदेव में होने से उस सत्यता द्वारा हरि मुझको अपनी मूर्ति का दर्शन करावें। आदित्यपुराण में लिखा है कि,—विद्याहीन हो वा

भवन्त्यतिथयो लोके ब्रह्मणस्ते विशाम्बर ! ॥

तत्रैव देवहूति-स्तुतौ—

भक्तिर्यथा हरौ मेऽस्ति तद्वन्निष्ठा गुरौ यदि ।
ममास्ति तेन सत्येन स्वं दर्शयतु मे हरिः ॥

आदित्यपुराणे—

अविद्यो वा सविद्यो वा गुरुरेव जनार्द्दनः ।
मार्गस्थो वाप्यमार्गस्थो गुरुरेव सदा गतिः ॥

अन्यत्र च ।—हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत् ॥

ब्रह्मवैवर्त्ते—

अपि घ्नन्तः शपन्तो वा विरुद्धा अपि ये क्रुधा ।
गुरवः पूजनीयास्ते गृहं नत्वा नयेत तान् ॥
तच्छ्लाघ्यं जन्म धन्यं तद्दिनं पुण्याथ नाड़िका ।
यस्यां गुरुं प्रणमते समुपास्यस्य भक्तितः ॥ १४० ॥

किञ्च ।— उपदेष्टारमाम्नायागतं परिहरन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ १४१ ॥
बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम् ।
गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः ॥ १४२ ॥

भाषा टीका ।

विद्वान् ही हों,—गुरुदेव ही जनार्द्दन-स्वरूप हैं, और स्व-मार्ग में रहे अथवा कुमार्गगामी ही हों,—सदा गुरु देव ही (एकमात्र) गति हैं ।। अन्यत्र भी लिखा है कि,—हरि के कुपित होने पर गुरुदेव उद्धार करते हैं, किन्तु गुरुदेव के कुपित होने पर कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है । इस कारण सर्वथा यत्न—सहित गुरुदेव को प्रसन्न करे॥ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में लिखा है कि,—आघात करें वा शाप दें एवं विरुद्ध हों, अथवा रुष्ट ही हों,—जो गुरुजन हैं—उनकी पूजापूर्वक प्रणाम करके घर लावे * । जिस में भक्ति—सहित पूजा करके गुरुदेव को प्रणाम किया जाय,—वही जन्म—धन्य, वही दिन-सार्थक, और वही दण्ड—(घड़ी) पवित्र है ॥ १४० ॥

और भी कहा है,—जो पुरुष कुल-परम्परागत वा वेदविहित गुरुदेव को छोड़ देते हैं,—वे कृतघ्न हैं,—उनके मरने पर मांसभक्षक पशुपक्षी भी उनको नहीं खाते ॥ १४१ ॥

जिस पुरुष के गुरु छोड़े जाते हैं अर्थात जो पुरुष

* पहिले मंत्रदाता गुरु की कथा उठाकर प्रसंग से अपरापर गुरु की कथा कहते हैं । शास्त्र में कहा है कि,—वेदाध्यापक, पिता, ज्येष्ठभ्राता, (बड़ा भाई) राजा, श्वशुर, मातुल, (मामा) पुराणवक्ता, मातामह, पितामह, वर्णज्येष्ठ (वर्ण में बड़ा) और पितृव्य,—यह गुरु-पद—वाच्य हैं ।

अन्यत्र च--प्रतिपद्य गुरुं यस्तु मोहाद्विप्रतिपद्यते ।
स कल्पकोटिं नरके पच्यते पुरुषाधमः ॥ १४३ ॥

अत्रापवादः ।

पञ्चरात्रे---अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत् ।
पुनश्च विधिना सम्यग्ग्राहयेद्वैष्णवाद्गुरोः ॥ १४४ ॥

अथ श्रीगुर्वभक्त-फलम् ।

अगस्त्यसंहितायाम्—
ये गुर्वाज्ञां न कुर्वन्ति पापिष्ठाः पुरुषाधमाः ।
न तेषां नरक-क्लेश-निस्तारो मुनिसत्तम ! ॥
यैः शिष्यैः शश्वदाराध्या गुरवो ह्यवमानिताः ।
पुत्र-मित्र-कलत्रादि-सम्पद्भ्यः प्रच्युता हि ते ॥
अधिक्षिप्य गुरुं मोहात् पुरुषं प्रवदन्ति ये ।
शूकरत्वं भवत्येव तेषां जन्म-शतेष्वपि ॥
ये गुरु-द्रोहिणो मूढाः सततं पापकारिणः ।
तेषाञ्च यावत् सुकृतं दुष्कृतं स्यान्न संशयः ॥ १४५ ॥
अतः प्राग्गुरुमभ्यर्च्य कृष्णभावेन बुद्धिमान् ।
त्र्यवरानसमान् कुर्य्यात् प्रणामान् दण्डपातवत् ॥

भाषा टीका ।

गुरु को त्याग देता है,—उससे हरि पहिले ही छूट जाते हैं । इसके द्वारा उसके ज्ञान को कलुषित किया गया और ऊसका दौरात्म्य प्रकट हुआ ॥१४२॥

अन्यत्र भी लिखा है कि,-जो एकवार गुरु कहकर स्वीकार करने पर फिर उस गुरु को छोड़ देता है, उसको नराधम जानना चाहिये,-वह करोड़ कल्प-तक नरक में पचता है ॥ १४३ ॥

इस विषय में अपवाद अर्थात् विशेष-विधि ।-पंचरात्र में लिखा है कि,-अवैष्णव से मंत्र लेने पर नरकगामी होना पड़ता है,-उसको फिर यथाविधि वैष्णव गुरु से मंत्र ग्रहण करना चाहिये ॥ १४४ ॥

गुरु के अभक्त का फल ।-अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,-हे मुनिप्रवर ! जो पापी नराधम गुरु के आदेश की रक्षा नहीं करते अर्थात् उनकी आज्ञा नहीं मानते, उनकी नरक-यातना से रक्षा नहीं होती, सदा गुरु की आराधना करना ही शिष्य का कर्त्तव्य है । गुरु का अपमान करने से शिष्य के पुत्र, मित्र, स्त्री और सम्पत्ति नष्ट होती है । जो मनुष्य अज्ञानता के कारण गुरुदेव की भर्त्सना करके उनको साधारण मनुष्य जानते हैं,—वे सौ जन्म शूकर-योनि को प्राप्त होते हैं । सदा पाप करने वाले जो मूर्ख गुरु से द्रोह करते हैं,-उनका जो यत्किंचित् पुण्य होता है,-वह भी निसंदेह पातक में गिना जाता है ॥ १४५ ॥

इस कारण सुबुद्धि पुरुष श्रीकृष्ण जानकर सब से पहिले गुरुदेव की पूजा करे, और फिर दण्डवत हो तीन के अन्यून अयुग्म प्रणाम करना चाहिये ।

अतएव कौर्म्मे श्रीव्यास-वचनम्—

व्यत्यस्तपाणिना कार्य्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ॥ इति ॥ १४६ ॥
अथ श्रीगुरुपादानां प्राप्यानुज्ञाञ्च साधकः।
प्राक्संस्कृतं हरेर्गेहं प्रवेक्ष्यन् पादुके त्यजेत् ॥

तथा चापस्तम्बः—

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे देव-ब्राह्मण-सान्निधौ।
जपे भोजन-काले च पादुके परिवर्जयेत् ॥ इति ॥ १४७ ॥
ततः श्रीभगवत्पूजा-मन्दिरस्याङ्गनङ्गतः।
प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च द्विराचमनमाचरेत् ॥

तथा च मार्कण्डेये—

देवार्च्चनादिकार्य्याणि तथा गुर्व्वभिवादनम्।
कुर्व्वीत सम्यगाचम्य तद्वदेव भुजिक्रियाम् ॥ इति ॥ १४८ ॥

इति श्रीगोपालभट्टाविलिखिते
भगवद्भक्ति विलासे
श्रीवैष्णवालङ्कारो
नाम चतुर्थो
विलासः
॥ ४ ॥

भाषा टीका।

कूर्म्म पुराण की व्यासोक्ति में है कि,-व्यत्यस्त हाथों से (दोनों हाथों को उलट पुलट कर) गुरुदेव के चरण कमल स्पर्श-पूर्वक प्रणाम करे। वाम हाथ से वामपद और दहिने हाथ से दहिने पद को स्पर्श करे ॥ १४६ ॥

फिर साधक गुरुदेव की आज्ञा ले-सुमार्जित हरि-मंदिर में प्रवेश करने के पहिले पादुका त्याग दे ॥ आपस्तम्ब ने कहा है,-आहवनीय अग्नि जिस घर में रक्षित रहती है,-उस गृह में, गोप्रचार के स्थान में, देव-ब्राह्मण के समीप में, जप काल में और भोजन के समय पादुका छोड़ देवे ॥ १४७ ॥

फिर श्रीहरि के पूजा-गृह के आंगन में जाय-हाथ पैर धोकर दो-वार आचमन करे ॥ मार्कण्डेय-पुराण में लिखा है कि-यथाविधि आचमन करने-पर देवपूजादि कार्य, गुरुप्रणाम और भोजन कर्म करे ॥१४८॥

इति श्रीगोपाल भट्टाविलिखिते भगवद्भक्तिविलासे
भाषाटीकायां श्रीवैष्णवालङ्कारो नाम
चतुर्थ विलासः।

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

पञ्चमो विलासः

श्रीचैतन्यप्रभुं वन्दे बालोऽपि यदनुग्रहात्।
तरेन्नानामतग्राहव्याप्तं पूजा-क्रमार्णवम् ॥ १ ॥
श्रीमद्गोपालदेवस्याष्टादशाक्षरमन्त्रतः।
लिख्यतेऽर्च्चा-विधिर्गूढ़ः क्रमदीपिकयेक्षितः।
आगमोक्तेन मार्गेण भगवान् ब्राह्मणैरपि ॥
सदैव पूज्योऽतो लेख्यः प्राय आगमिको विधिः ॥ २ ॥

तथा च विष्णुयामले—

कृते श्रुत्युक्तमार्गः स्यात् त्रेतायां स्मृतिभावितः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ॥
अशुद्धाः शूद्रकल्पा हि ब्राह्मणाः कलिसम्भवाः।
तेषामागममार्गेण शुद्धिर्न श्रौतवर्त्मना ॥ ३ ॥

अथ द्वार-पूजा।

श्रीकृष्ण–द्वारदेवेभ्यो दत्त्वा पाद्यादिकं ततः।
गन्धपुष्पैरर्च्चयेत्तान् यथास्थानं यथाक्रमम् ॥ ४ ॥
द्वाराग्रे सपरीवारान् भू-पीठे कृष्ण–पार्षदान्।

भाषा टीका।

जिन के प्रसाद से अज्ञानी पुरुष भी नाना-मतरूप ग्राहादि हिंसक जीव-समाकुल पूजाविधि-रूप समुद्र से उत्तीर्ण हो सकते हैं,—मैं उन्हीं श्रीकृष्णचैतन्यप्रभु की वंदना करता हूं ॥ १ ॥

श्रीमद्गोपालदेव के अष्टादशाक्षर मंत्रानुसार क्रमदीपिकामतानुयायि पूजा–विधि वर्णित होती है।—ब्राह्मणगण भी सदा तंत्रविहित विधान से पूजा करें, सुतरां प्रायः तंत्रकथित विधानानुसार ही पूजा की विधि का वर्णन होगा ॥ २ ॥

विष्णुयामल में लिखा है कि,—सत्य में वेद-विहित विधि, त्रेता में स्मार्त, द्वापर में पुराणोक्त और कलि में आगम-सम्मत विधि ही निर्दिष्ट है। कलियुग में उत्पन्न हुए ब्राह्मण शूद्र की समान अपवित्र हैं,—आगम–कथित विधान से उन की शुद्धि होती है, वेद-विहित विधान से उनकी शुद्धि नहीं होती ॥ ३ ॥

द्वार–पूजा।—गुरुदेव की पूजा के पीछे श्रीकृष्ण के द्वारदेवताओं को पाद्यादि देकर यथास्थान और यथानियम से गंधपुष्प–द्वारा उनकी पूजा करे ॥४॥

पहिले द्वार के सन्मुख भूपीठ में परिवार–सहित कृष्ण के पार्षदों की, उसके सन्मुख गरुड़ की और

तदग्रे गरुड़ं द्वारस्योर्द्ध्वं द्वार-श्रियं यजेत् ॥
प्राग्द्वारोभयपार्श्वे तु यजेच्चण्ड-प्रचण्डकौ ।
द्वारेऽथ दक्षिणे धातृ-विधातारौ च पश्चिमे ॥
जयश्च विजयश्चैव वलं प्रवलमुत्तरे ।
द्वन्द्वशस्त्वेवमभ्यर्च्च्य देहल्यां वास्तुपूरुषम् ॥ ५ ॥
द्वारान्तः पार्श्वयोर्गङ्गां यमुनाञ्च ततोऽर्च्चयेत् ।
तत्पार्श्वयोः शंखनिधिं तथा पद्मनिधिं यजेत् ॥ ६ ॥
गणेशं मन्दिरस्याग्नि-कोणे दुर्गाञ्च नैर्ऋते ।
वाणीं वायव्य ऐशाने क्षेत्रपालं तथार्च्चयेत् ॥ ७ ॥
द्वाः-शाखामाश्रयन् वामां सङ्कोच्याङ्गानि देहलीम् ।
अस्पृष्ट्वा प्रविशेद्वेश्म न्यस्यन् प्राग्दक्षिणं पदम् ॥ ८ ॥

तथा च सारदातिलके—

किञ्चित स्पृशन् वामशाखां देहलीं लंघयन् गुरुः ।
अंङ्गं सङ्कोचयन्नन्तः प्रविशेद्दक्षिणाङ्घ्रिणा ॥ ९ ॥

तन्माहात्म्यञ्च हरिभक्तिसुधोदये—

प्रविशन्नालयं विष्णोरर्च्चनार्थं सुभक्तिमान् ।
न भूयः प्रविशेन्मातुः कुक्षिकारागृहं सुधीः ॥

अथ गृहान्तःपूजा ।

नैर्ऋते वास्तुपुरुषं ब्रह्माणमपि पूजयेत् ।
आसनस्थो यजेत्तांस्तानन्यत्र भगवद्गृहात् ॥ १० ॥

भाषा टीका ।

फिर द्वार के ऊर्द्ध भाग में द्वार-लक्ष्मी की पूजा करे । वहिर्द्वार के दोनों पार्श्व में चण्ड की और प्रचण्ड की, द्वार की दक्षिणदिशा में धाता और विधाता की, पश्चिम दिशा में जय और विजय की, तथा उत्तर दिशा में बल और प्रबल की पूजा करे। इस प्रकार से प्रतिद्वार में दो दो देवता की पूजा करके देहलीमें वास्तु पुरुष की पूजा करनी चाहिये ॥५॥

फिर द्वाराभ्यन्तर भाग के दोनों ओर गंगा और यमुना की पूजा करे । उनके (गंगा और यमुना के) पार्श्व में शंखनिधि और पद्मनिधि की पूजा करे ।६॥

फिर मंदिर के अग्नि कोण में गणपति की, नैर्ऋत भाग में दुर्गादेवी की, वायुकोण में सरस्वती की और ईशानदिक् में क्षेत्रपाल की पूजा करनी चाहिये ॥७॥

फिर अपने वामदिक्स्थित द्वार-शाखा किंचित् स्पर्श पूर्वक अंग सिकोड़ कर देहली का स्पर्श न हो-ऐसे भाव से प्रथम दहिना चरण डाल कर घर में प्रविष्ट होवे ॥ ८ ॥

सारदातिलक में लिखा है कि,-गुरुदेव वाम-शाखा (वाम भाग के द्वार का बाजू) किञ्चित स्पर्श करके देहली—लंघन-पूर्वक अंग सिकोड़ दहिना चरण डालते हुए भीतर घुसे ॥ ९ ॥

गृह-प्रवेश का माहात्म्य।-हरिभक्तिसुधोदयमें लिखा है कि,—पूजा के अर्थ भक्तिमान् होकर हरि-मंदिर में प्रवेश करने से बुद्धिमान् पुरुष को फिर जननी के

तत्तत्पूजा-मन्त्रश्चोक्तः —

प्रणवादिचतुर्थ्यन्तं देवनाम नमोऽन्तकम् ।
पूजा-मन्त्रमिदं प्रोक्तं सर्व्वत्रार्चन-कर्म्मणि ॥ इति ॥ ११ ॥

अथ कृष्णाग्रतस्तिष्ठन् कृत्वा दिग्बन्धनं क्षिपेत् ।
पुष्पाक्षतान् समस्तासु दिक्षु तन्त्रोक्तमन्त्रतः ॥ १२ ॥

अथ पूजार्थासनम् ।

ततश्चासन-मन्त्रेणाभिमन्त्र्याभ्यर्च्य चासनम् ।
तस्मिन्नुपविशेत पद्मासनेन स्वस्तिकेन वा ॥ १३ ॥

तत्र कृष्णार्च्चकः प्रायो दिवसे प्राङ्मुखो भवेत ।
उदङ्मुखो रजन्यान्तु स्थिरमूर्तेश्च संमुखः ॥

तथा चैकादशस्कन्धे—

आसीनः प्रागुदग्वार्च्चेत् स्थिरायान्त्वथ सम्मुखः ।

भाषा टीका ।

जठररूप कारागृह में प्रविष्ट होना नहीं पड़ता। गृहान्तः पूजा ।—घर के नैर्ऋत भाग में वास्तुपुरुष की और ब्रह्मा जी की पूजा करे । भगवान् जिस घर में अधिष्ठित हैं, वहां से अन्यत्र आसन पर बैठ कर श्रीकृष्ण के विशेष विशेष पार्षदों की पूजा करे ॥१०॥

उनकी पूजा के मंत्र,—यथा, पहिले ओंकार फिर आराध्य देवता का चतुर्थीविभक्त्यन्त नाम और फिर नमः शब्द का प्रयोग करे तो—"ॐम् अमुक-देवतायै नमः यह मंत्र हुआ । सभी पूजाओं में इस प्रकार पूजा-मंत्र निरूपित है ॥ ११ ॥

फिर श्रीहरि के सन्मुख बैठकर और तंत्रविहित मंत्र पाठ-सहित अर्थात् " ओम् शार्ङ्गाय सशराय हुं फट् नमः"—इस मंत्र से चारों ओर पुष्प और अक्षत निक्षेप-पूर्वक दिग्बन्धन करे ॥ १२ ॥

पूजा के अर्थ आसन ।— इसके पीछे आसन मंत्र से (१) आसन का आमंत्रण और पूजा करके उस पर पद्मासन वा स्वस्तिकासन से बैठे (२) ॥ १३ ॥

कृष्ण की पूजा करने वाला पुरुष स्थिरमूर्त्ति और सम्मुखीन होकर दिन में पूर्वमुख और रात्रि में प्राय उत्तरमुख से बैठे । एकादश [ग्यारवें] स्कन्ध में लिखा है कि,—आसन-पर बैठकर पूर्वमुख वा उत्तरमुख से पूजा करे । किन्तु प्रतिमा होने पर उस को सन्मुख करके बैठना चाहिये ।

(१) आसन का मंत्र, यथा—" ओम् आधार शक्तये नमः" ।

(२) पद्मासन ।—बायें पैर का तलुआ दाहिने ऊरु (जंघा) पर और दाहिने पैर का तलुआ बांये ऊरु पर यत्न-सहित उन्नतभाव से स्थापन-पूर्वक गुरूप-देश के अनुसार हाथों की दोनों हथेली भी दोनो ऊरु में इसी प्रकार उन्नतभाव से स्थापन करे, और दन्त-मूल में जिह्वा रखकर नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखनी चाहिये । इसी समय वक्षः स्थल (छाती) को कुछेक ऊंचा करके उस में चिबुक (ठोड़ी) स्थापन करके धीरे धीरे वायु खींच कर उससे यथाशक्ति उदर पूर्ण करे । फिर शरीर के अभ्यन्तर-प्रदेश में यथा-शक्ति कुंभक करके फिर धीरे धीरे यह वायु परित्याग करे,—इसीको पद्मासनकहते हैं । प्रमाण यथा,—"उत्तानौ

अथ आसनमन्त्रः।

"आसनमन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः सुतलं छन्दः कूर्म्मो देवता आसनाभिमन्त्रणे विनियोगः

पृथ्वि ! त्वया धृता लोका देवि ! त्वं विष्णुना धृता।
त्वञ्च धारय मां नित्यं पवित्रं चासनं कुरु" ॥ १४ ॥

अथासनानि।

नारदपञ्चरात्रे—

वंशाश्म-दारु-धरणी-तृण-पल्लव-निर्मितम्।
वर्जयेदासनं विद्वान् दारिद्र्य-व्याधि-दुःखदम् ॥
कृष्णाजिनं कम्वलम्वा नान्यदासनमिष्यते ॥ १५ ॥

अन्यत्र च—

कृष्णाजिनं व्याघ्रचर्म्म कौशेयं वेत्रनिर्मितम्।
वस्त्राजिनं कम्वलम्वा कल्पयेदासनं मृदु ॥ १६ ॥

अथ विशेषतः आसन-दोष-गुणौ।

नारदपञ्चरात्रे —

वंशादाहुर्दरिद्रत्वं पाषाणे व्याधिसम्भवम्।
धरण्यां दुःखसम्भूतिं दौर्भाग्यं दारवासने ॥

भाषा टीका।

आसनमंत्र।—आसनमंत्र के ऋषि मेरुपृष्ठ, सुतल उसका छन्द, कूर्म उसका देवता—आसनाभिमंत्रण में प्रयोग होता है। हे पृथ्वि ! तुमने सब लोकों को धारण किया है, हे देवि ! तुमको विष्णु ने धारण किया है, तुम भी नित्य मुझको धारण करो और इस आसन को पवित्र करो ॥ १४ ॥

विविध आसन।—नारदपंचरात्र में लिखा है,—बाँस, पत्थर, काष्ठ, मिट्टी, कुश के अतिरिक्त अन्य तृण और पत्तों का वना आसन दारिद्र, व्याधि और दुःख देता है, इस कारण बुद्धिमान् पुरुष—इन सब आसनों को त्याग देवैं। कृष्णसारमृगचर्म और कम्वल के अतिरिक्त अन्य आसन ग्रहण न करै ॥१५॥

अन्यत्र भी लिखा है,—कृष्णसारमृग का चर्म,

चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः। ऊरु-मध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ। नासाग्रे विन्यसेद् दृष्टं दन्तमूलञ्च जिह्वया उत्तभ्य चिवुकं वक्षउत्थाप्य पवनं शनैः। यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः। यथाशक्त्या ततः पश्चात् रेचयेदविरोधतः इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।

स्वस्तिकासन।—दोनों जानु और दोनों ऊरु-देश के मध्यस्थल में दोनों पैर के तलूए स्थापन पूर्वक-सवलशरीर होकर सुख से वैठे। इसी का नाम स्वास्तिकासन है।यथा—

अव विशेष करके आसन के गुण दोष कहते हैं नारदपंचरात्र में लिखा है,—बुद्धिमानों ने कहा है-बांस के वने आसन से दारिद्र, पत्थर से व्याधि उत्पन्न, मिट्टी से दुःख, काष्ठ के आसन से दुर्भाग्य, तृणनिर्मित आसन से यश का नाश, पत्तों के आसन से मन में भ्रम कुशासन से व्याधिनाश और कम्वल के आसन से दुःख दूर होता है। भगवद्गीता में लिखा है कि,—न वहुत ऊंचा हो और न वहुत नीचा हो,—इस प्रकार प्रथम में अगाडी की

जानुर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्ष्यते ॥

तृणासने यशोहानिं पल्लवे चित्त-विभ्रमम् ।
दर्भासने व्याधि-नाशं कम्बलं दुःखमोचनम् ॥

किञ्च श्रीभगवद्गीतासु —

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ इति ॥ १७ ॥

यथोक्तमुपविश्याथ संप्रदायानुसारतः ।
शङ्खादिपूजा-सम्भारान न्यस्येत्तत्तत्पदेषु तान् ॥ १८ ॥

पात्रासादनम् ।

स्वस्य वामाग्रतः शङ्खं साधारं स्थापयेद्बुधः ।
तत्रैवार्घ्यादिपात्राणि न्यस्येच्चत्वारि भागशः ॥
तुलसी-गन्ध-पुष्पादि-भाजनानि च दक्षिणे ।
वामे च स्थापयेत् पार्श्वे कलसं पूर्णमम्भसा ॥
दक्षिणे घृतदीपञ्च तैलदीपञ्च वामतः ।
सम्भारानपरान्न्यस्येत् स्वदृष्टि-विषये पदे ॥
कर-प्रक्षालनार्थञ्च पात्रमेकं स्वपृष्ठतः ।

अथ पात्राणि तन्माहात्म्यञ्च ।

देवीपुराणे—

नानाविचित्ररूपाणि पुण्डरीकाकृतीनि च ।
शङ्खनीलोत्पलाभानि पात्राणि परिकल्पयेत ॥

भाषा टीका ।

व्याघ्र-चर्म, पट्टवस्त्र, वेत्र वा कम्बल,—इन सब द्रव्यों से कोमल आसन बनावै ॥ १६ ॥

और कुशाओं का अग्रभाग करके उस पर कृष्णसार चर्म और उस के ऊपर पट्टवस्त्र विछा-कर अपना निश्चल आसन विशुद्ध स्थान में स्थापन करे ॥ १७ ॥

फिर सम्प्रदाय के अनुसार उक्त आसन पर बैठ कर शंखादि पूजोपकरण नीचे कहे यथायोग्य स्थान में रक्खै ॥ १८ ॥

उक्त विषय में पात्रासादन ।— बुद्धिमान् पुरुष अपनी बाई ओर के सन्मुख साधारशंख रक्खे। उसी स्थान में अर्घ्यादि × समस्त पात्र—स्थान स्थान में विभागानुसार स्थापन करे। दहिनी ओर तुलसी-गंध और पुष्पादि के पात्र रखने चाहिये। और बाई ओर जल से भरा हुआ कलस रक्खे। दक्षिण में घृत का दीपक और बाँई ओर तैल का दीपक रखना चाहिये। अन्यान्य पूजा की सामग्री जहां अपनी दृष्टि पड़े—ऐसे स्थान में रक्खे और हाथ धोने के लिये अपने पृष्ठ भाग में एक पात्र स्थापन करे।

× अर्घ्यादि का पात्र अर्थात अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय और मधुपर्क का पात्र।

रत्नादिरचिताण्येव काञ्चीमूलयुतानि च।
यथाशोभं यथालाभं तथा पात्राणि कारयेत् ॥

किञ्च— हैमपात्रेण सर्व्वाणि चेप्सितानि लभेन्मुने !
अर्घ्यं दत्त्वा तथा रौप्येणायू राज्यं शुभं भवेत् ॥
ताम्रपात्रेण सौभाग्यं धर्म्यं मृण्मयसम्भवम्।

वाराहे——सौवर्णं राजतं कांस्यं येन दीयेत भाजनम् ॥
तान् सर्व्वान् संपरित्यज्य ताम्रन्तु मम रोचते।
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् ॥
विशुद्धानां शुचिश्चैव ताम्रं संसारमोक्षणम् ॥ १९ ॥
दीक्षितानां विशुद्धानां मम कर्म्मपरायणः।
सदा ताम्रेण कर्त्तव्यमेवं भूमि ! मम प्रियम् ॥ इति ॥ २० ॥
केचिच्च ताम्रपात्रेषु गव्यादेर्योगदोषतः।
ताम्रातिरिक्तमिच्छन्ति मधुपर्कस्य भाजनम् ॥ २१ ॥
तथैव शंखमेवार्घ्यपात्रमिच्छन्ति केचन।
शंखे कृत्वा तु पानीयं सपुष्पं सतिलाक्षतम् ॥
अर्घ्यं ददाति देवस्येत्येवं स्कान्देऽभिधानतः ॥ २२ ॥

भाषा टीका।

विविध पात्र और उनका माहात्म्य।—देवीपुराण में लिखा है कि,—विविध प्रकार के आश्चर्य-रूप पात्र स्थापन करने चाहिये। उन में कितने ही पद्माकृति, कितने ही शंखाकार और कितने ही नीलकमल, की समान हों। रत्नादि द्वारा यह सब पात्र प्रस्तुत करे, और मेखला का मूलभाग उन में संयुक्त रहे वा जिस से शोभासंपादित हो और जो सहज में ही मिल जाय,—इस से ही पात्र निर्माण करे। और भी लिखा है कि,—हे मुने ! सुवर्ण के पात्र में अर्घ्य देने से सब अभिलाषा पूर्ण होती हैं, चांदी के पात्र में परमायु की वृद्धि, राज्यप्राप्ति और श्रेष्ठता प्राप्ति होती है। तांवे के पात्र में सौभाग्य की वृद्धि होती है, और मिट्टी के पात्र में धर्म-संचय होता है॥ वाराहपुराण में लिखा है कि,—सौना, चांदी वा कांसी,— इन में जिस का पात्र प्रस्तुत करे,— मैं वह सभी त्याग देता हूं। तांवे के पात्र से ही मुझ को संतोष होता है। संपूर्ण पवित्र पदार्थों से तांवा ही पवित्रतम, समस्त मंगल का मंगलस्वरूप और समस्त शुद्ध से भी शुद्ध तथा संसार-पाश का हरने वाला है॥ १९॥

हे धरणी ! दीक्षित पवित्र पुरुषों में जो मेरी पूजा में तत्पर है, तांवे से पात्र वनाना ही उस का कर्त्तव्य है,—ऐसा पात्र ही मुझ को प्रसन्न करता है॥ २०॥

काई कोई पुरुष कहते हैं कि,—तांवे का पात्र गव्यादि (गौ-घृतादि) मिश्रित होने से दूषित होता है,—इस कारण वह मधुपर्क-पात्र तांवे के अतिरिक्त अन्य धातुमय होने की इच्छा करते हैं॥ २१॥

किसी किसी पुरुष की ऐसी इच्छा है कि,—शंख ही अर्घ्यपात्र हो ना चाहिये क्यों कि।—स्कंद-पुराण में लिखा है,—शंख में करके पवित्र जल, कुसुम अक्षत और तिल, ग्रहण-पूर्वक श्रीकृष्ण को अर्घ्य समर्पण करे॥ २२॥

अथ मङ्गलघट-स्थापनम् ।

मङ्गलार्थं च कलसं सजलं करकान्वितम् ।
फलादिसहितं दिव्यं न्यस्येद्भगवतोऽग्रतः ॥

तथा च स्कान्दे—

कुम्भं सकरकं दिव्यं फलकर्पूरसंयुतम् ।
न्यसेदर्च्चनकाले तु कृष्णस्यातीववल्लभम् ॥ इति ॥ २३ ॥

किंच— सनीरंच सकर्पूरं कुम्भं कृष्णाय यो न्यसेत् ।
कल्पं तस्य न पापेक्षां कुर्व्वन्ति प्रपितामहाः ॥ २४ ॥

अथार्घ्यादिपात्राणि ।

प्रक्षिपेदर्घ्यपात्रे तु गन्धपुष्पाक्षतान् यवान् ।
कुशाग्रतिलदूर्व्वाश्च सिद्धार्थानपि साधकः ॥
केचिच्चात्र जलादीनि द्रव्याण्यष्टौ वदन्ति हि ।

यत उक्तं भविष्ये ।—

आपः क्षीरंकुशाग्राणि दध्यक्षततिलास्तथा ।
यवाः सिद्धार्थकाश्चैवमर्घ्योऽष्टाङ्गः प्रकीर्तितः ॥
पाद्यपात्रे च कमलं दूर्व्वा श्यामाकमेव च ।
निक्षिपेद्विष्णुपर्णीचेत्येवं द्रव्यचतुष्टयम् ॥
तथैवाचमनीयार्थपात्रे द्रव्यत्रयं बुधः ।
जातीफलं लवङ्गंच कक्कोलमपि निक्षिपेत् ॥
मधुपर्कीयपात्रे च गव्यं दधि पयो घृतम् ।
मधुखण्डमपीत्येवं निक्षिपेद्द्रव्यपञ्चकम् ॥ २५ ॥

भाषा टीका ।

मंगलघट-स्थापन । कल्याणकारी विधान के उद्देश से भगवान् के आगे जलपूर्ण प्रस्तर-खंडसंयुक्त * फलादियुक्त + दिव्य कलस स्थापन करे स्कंद पुराण में लिखा है कि—पूजाकाल में प्रस्तरखंडयुक्त फल-कपूरसमन्वित दिव्य कलसस्थापन करे,—वह कृष्ण का अतीव प्रिय है ॥ २३ ॥

और भी लिखा है—जो पुरुष कृष्ण के उद्देश से जल और कपूर-सहित कलस स्थापन करते हैं,—कल्प * कालतक प्रपितामह-गण उनके पाप के प्रति नहीं देखते अर्थात उनका पाप ग्रहण नहीं करते ॥ २४ ॥

अर्घ्यादिपात्र ।—अर्घ्यपात्र में गंध,पुष्प,अक्षत,कुशाग्र, तिल,दूर्बा और सिद्धार्थ [सफेदसरसों] डाले कोई कोई पुरुष अर्घ्यपात्र में जलादि आठद्रव्यों की व्यवस्था देते हैं, क्यों कि,—भविष्यपुराण में भी

---

* फलादि शब्द से ।—फल, कपूर और अक्षत समझे । + दिव्य ।—परमसुंदर ।

* कल्प ।—ब्रह्मा की परमायुः ।

केचित्त्रीण्येव पात्रेऽस्मिन् द्रव्याणीच्छन्ति साधवः।

यत उक्तं श्रीविष्णुधर्म्मे ।—

घृतं दधि तथा क्षौद्रं मधुपर्कों विधीयते ।

आदिवाराहे च ।—

दधि सर्पिर्मधु समं पात्रे औडुम्वरे मम ।
मधुनस्तु अलाभे तु गुडेन सह मिश्रयेत् ॥
घृतस्यालाभे सुश्रोणि ! लाजैश्च सह मिश्रयेत् ।
तथादध्नोऽप्यलाभे तु क्षीरेण सह मिश्रयेत् ॥ इति ॥ २६ ॥
तेषामभावे पुष्पादितत्तद्भावनया क्षिपेत् ।
नारदस्त्वाह विमलेनोदकेनैव पूर्य्यते ॥ २७ ॥
मूलेन पात्रेणैकैकमष्टकृत्वोऽभिमन्त्रयेत् ।
कुर्य्याच्च तेषां पात्राणां रक्षणं चक्रमुद्रया ॥
पूजामारभमाणो हि यथोक्तासनमास्थितः ।
पठेन्मंगलशान्तिं तां यार्च्चने सम्मता सताम् ॥

अथ मङ्गलशान्तिः ।

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवाहितं यदायुः ॥

भाषा टीका ।

कहा है,—जल, क्षीर, दुग्ध, कुश का अग्रभाग, दधि,अक्षत, यव और सफेद सरसों,—यह आठ अर्घ्य के अंग हैं । पाद्य पात्र में कमल, दूर्वा, श्यामाक (श्यामाधान्य) और विष्णुपत्री, (तुलसी)यहचार द्रव्य डाले । बुद्धिमान् पुरुष आचमनीय पात्र में जातीफल, लवंग और कक्कोल एवं मधुपर्क-पात्र में गाय का दही, दूध, घृत, मधु और चीनी,—यह पांच द्रव्य डालने चाहिये ॥ २५ ॥

कोई कोई पुरुष इस मधुपर्क पात्र में केवल तीन द्रव्यों की व्यवस्था देते हैं, क्यों कि विष्णुधर्मोत्तर में भी लिखा है कि,—घृत, मधु और दधि,—इन तीन द्रव्यों से मधुपर्क होता है । आदि वाराह पुराण में लिखा है कि,—मेरा मधुपर्क ताम्रपात्र में करके दधि, घृत और मधु डाले, मधु के अभाव में गुड मिलाना चाहिये । हे सुश्रोणि ! यदि घृत का अभाव हो तो—खीलों के सहित और दधि का अभाव होने पर दूध के सहित मिश्रित करना चाहिये ॥ २६ ॥

यदि लिखे हुए सभी द्रव्यों का अभाव हो—तो उन उन के स्वरूप की चिन्ता करता हुआ पुष्पादि प्रक्षेप करे ॥ नारदजी ने कहा है कि,—केवलमात्र निर्मल जल से ही समस्त पूर्ण होगा ॥ २७ ॥

प्रति पात्र के ऊपरी भाग में आठवार मूलमंत्र जपना चाहिये और चक्रमुद्रा से इन सब पात्रों की रक्षा करे। अर्चना में प्रवृत्त होकर ही यथाकथित आसन पर बैठ साधुपुरुषों ने पूजन कार्य

स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषाः विश्वदेवाः ।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्तिनो--
वृहस्पतिर्दधात्विति पठन् ओं शान्तिः श्रीकृष्ण
पादपद्माराधनेषु शान्तिर्भवतु ॥ इति ॥ २८ ॥

अथ विघ्ननिवारणम् ।

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूवि संस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥
इत्युदीर्य्यास्त्रमन्त्रेण वामपादस्य पार्ष्णिना ।
घातैस्त्रिभिर्बुधो विघ्नान् भौमान् सर्व्वान्निवारयेत् ॥ २९ ॥
आन्तरीक्षांश्च तेनैवोर्द्ध्वोर्द्धतालत्रयेण हि ।
निरस्योतसारयेद्दिव्यान् मान्त्रिको दिव्यदृष्टितः ॥ ३० ॥

अथ श्रीगुर्व्वादि-नति ।

ततः कृताञ्जलिर्वामे श्रीगुरुं परमं गुरुम् ।
परमेष्ठिगुरुश्चेति नमेद्गुरुपरम्पराम् ॥
गणेशं दक्षिणे भागे दुर्गामग्रेऽथ पृष्ठतः ।
क्षेत्रपालं नमेद्भक्त्या मध्ये चात्मेष्टदैवतम् ॥ ३१ ॥

भाषा टीका ।

में जो मंगलशान्ति की विधि दी है,—वह पाठ करनी चाहिये ।

मंगलशान्ति ।—हे सुरगण ! हम श्रुतिपुट अर्थात् कानों से सम्यक् सुन सकें । हे याज्ञिकवृंद ! हम नेत्रों से दर्शन करें । एवं स्वस्थाङ्ग और स्वस्थ-शरीर प्राप्त होने से प्रसन्न रह कर देव-कुल का हित और तुल्य परमायुः वश कर सकें-वृद्धश्रवाः इन्द्र—हमारा कल्याण करें, पूषा हमारा कल्याण करें । विश्वदेवगण हमारा कल्याण करें । अरिष्टनेमी तार्क्ष्य हमारा कल्याण करें । और सुर-गुरु (बृहस्पति) हमारा श्रेयो विधान करें,—यह मंत्र पढ कर " ओंम् शान्तिः श्रीकृष्ण-पादपद्माराधनेषु शान्ति-र्भवतु"—यह पाठ करे ॥ २८ ॥

अथ विघ्ननिवारण ।—"जो भूत समूह पृथ्वीतल में अधिष्ठित हैं,—वे दूर प्रस्थान करें । जो सब भूत विघ्न करने वाले हैं,—शिव की आज्ञा से वह नष्ट होवें, "बुद्धिमान् पुरुष यहमंत्रपढकर ", अस्त्रायफट्" कह तीन वार वाम-चरण का पार्ष्णि-घात-पूर्वक समस्त भूतगत विघ्न दूर करें ॥ २९ ॥

तंत्रवित पुरुष अस्त्रमंत्र से अर्थात् " अस्त्रायफट् मंत्र द्वारा आकाशस्थ विघ्न दूर करके मूल मंत्र से दिव्यदृष्टि की चिन्ता कर—उस दिव्यदृष्टि की दिव्य विघ्न-राशि का निवारण करें ॥ ३० ॥

श्रीगुर्वादिप्रणति ।—फिर हाथ जोड कर वाम-भाग में श्रीगुरु, परमगुरु, और परमेष्ठिगुरु,—इत्यादि गुरुपरम्परा को प्रणाम करै । फिर दक्षिण में गण-पति को सन्मुख श्रीदुर्गा को पीछे क्षेत्रपाल को

ततश्चास्त्रेण संशोध्य करौ कुर्व्वीत तेन हि ।
तालत्रयं दिशां बन्धमग्निप्राकारमेव च ॥ ३२ ॥

अथ भूत-शुद्धिः ।

शरीराकारभूतानां भूतानां यद्विशोधनम् ।
अव्यय ब्रह्मसम्पर्कात् भूत शुद्धिरियं मता ॥ ३३ ॥
भूतशुद्धिं विना कर्त्तुर्जयहोमादिकाः क्रियाः ।
भवन्ति निष्फलाः सर्व्वा यथा विध्यप्यनुष्ठिताः ॥ ३४ ॥

तत् प्रकारश्च ।—

करकच्छपिकां कृत्वात्मानं बुध्याहृदब्जतः ।
शिरः सहस्रपत्राब्जे परमात्मनि योजयेत् ॥
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि तस्मिन् लीलानि भावयेत् ॥ ३५ ॥
वामहस्तं तथोत्तानमधोदक्षिण बन्धितम् ।
करकच्छपिका मुद्रा भूत-शुद्धौ प्रकीर्तिता ॥ ३६ ॥
देहं संशोष्य दग्ध्वेदमाप्लाव्यामृतवर्षतः ।
उत्पाद्य द्रढ़यित्वाशु प्रतिष्ठां विधिना चरेत् ॥ ३७ ॥
आत्मानमेवं संशोध्य नीत्वा कृष्णार्च्चनार्हताम् ।
वात्सल्याद्धृद्गतं कृष्णं यष्टुं हृत् पुनरानयेत् ॥ ३८ ॥

भाषा टीका ।

और मध्यस्थल में अन्यान्य अभीष्ट देवताओं को भक्ति-सहित प्रणाम करै* ॥ ३१ ॥

फिर अस्त्रमंत्र-पाठ पूर्वक दोनों हाथ शुद्ध कर उसी मंत्र से क्रमशः ऊर्द्ध ऊर्द्ध में तीन करताली दिग्बंधन और वह्नि-प्राकार अर्थात् अपनी देह के चारों ओर में वह्नि वेष्टन करै ॥ ३२ ॥

अथभूत-शुद्धि ।—देह के उपादान-स्वरूपभूत अक्षय ब्रह्म के अंश हैं, सुतरां वे ब्रह्म ही कारण और यह कार्य हैं अतएव ब्रह्म से भिन्न हैं,—इस प्रकार जो दृढ़निश्चय है, उसी को भूत-शुद्धि कहते हैं ॥ ३३ ॥

जयादि करने वाले की जयादि क्रिया का विधानानुसार आचरण होने पर भी भूतशुद्धि के विना वह सब विफल होजाती है ॥ ३४ ॥

भूतशुद्धि का प्रकार। पाहिले करकच्छपिका मुद्रा की रचना कर प्रदीप कलिकाकार जीवात्मा को बुद्धि-द्वारा हृदयकमल से लेकर मस्तकस्थित सहस्र दल कमल के अन्तर्वर्त्ती परमात्मा में संयोग करे फिर चिन्ता करे कि,—पृथ्वीआदि सब तत्व उस में विलीन होते हैं ॥ ३५ ॥

बाँये हाथ को उन्नत भाव से रख कर उस के नीचे दाहिना हाथ सम्बद्ध करने पर ही उस को करकच्छपिका मुद्रा कहते हैं। भूतशुद्धि में इस मुद्रा की आवश्यकता है ॥ ३६ ॥

विधिपूर्वक देह-शुद्धि करके दाह करे फिर सुधा वर्षण द्वारा उसको शीघ्र उत्पन्न करके दृढीभूत कर उस में प्राण-प्रतिष्टा करे ॥ ३७ ॥

इस प्रकार शोधन कर जीवात्मा को श्रीकृष्ण की पूजा के योग्य करके भक्तवात्सल्य के हेतु

* ओम् गुरुभ्योनमः—गांगणेशायनमः इत्यादि रूप से प्रयोग करे ॥

तथा च त्रैलोक्य सम्मोहनतन्त्रे ।—

नाभिस्थवायुना देहं सपापं शोधयेद्बुधः ।
वह्निना हृदयस्थेन दहेत्तच्च कलेवरम् ॥
सहस्रारे महापद्मे ललाटस्थे स्थितं विधुम् ।
संपूर्णमण्डलं शुद्धं चिन्तयेदमृतात्मकम् ॥
तस्माद्गलितधाराभिः प्लावयेद्भस्मसाद्बुधः ।
आभिर्वर्णमयीभिश्च पञ्चभूतात्मकं वपुः ॥
पूर्ववद्भावयेद्देवीमित्यादि ॥ ३९ ॥

किञ्चाग्रे —

ततस्तस्मात् समाकृष्य प्रणवेन तु मन्त्रवित् ।
तत्तेजो हृदये न्यस्य चिन्तयेद्विष्णुमव्ययम् ॥ ४० ॥
किम्वा चिन्तनमात्रेण भूतशुद्धिं विधायताम् ।
प्राणायामांस्ततः कुर्य्यात् सम्प्रदायानुसारतः ॥ ४१ ॥

अथ प्राणायामः —

रेचः षोड़शमात्राभिः पूरो द्वात्रिंशता भवेत् ।
चतुःषष्ट्या भवेत कुम्भ एवं स्यात् प्राणसंयमः ॥

भाषा टीका ।

हृदय कमल में उपस्थित कृष्ण की पूजा के अर्थ इस आत्मा को फिर हृदय में आनयन करे ॥३८॥

त्रैलोक्यसम्मोहन तंत्र में भी यह विषय कहा है कि,—बुद्धिमान् पुरुष नाभिप्रदेश-गत वायु द्वारा पापपुरुषसहित शरीर को शुष्क करे, और इस शरीर को हृतप्रदेशस्थ अग्नि से दाह करना चाहिये फिर भावना करे कि,—भाल प्रदेशस्थ सहस्रारकमलस्थ विशुद्ध पूर्णशशी सुधामय है, उस चन्द्र से टपकती हुई अमृत की धारों से दग्ध हुए शरीर को प्लावित करे; फिर चिन्ता करे,-यह पाञ्च भौतिक शरीर इन समस्त वर्णात्मिका धारा की सहायता से मानों पूर्ववत् हुआ है-इत्यादि ॥ ३९ ॥

इसके पीछे भी वर्णित है कि,-मंत्रवित् पुरुष फिर विशुद्ध आत्मत्वस्वरूप। तेज इस सहस्रदल—कमल से प्रणवद्वारा खेंच कर हृत प्रदेश में स्थापन पूर्वक अव्यय हरि की भावना करे ॥ ४० ॥

अथवा पूर्वकथित प्रकार से सामर्थ न होने पर केवलमात्र चिन्ता-द्वारा ही भूतशुद्धि करे और फिर सम्प्रदायानुसार—प्राणायाम करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अथप्राणायाम। रेचक-सोलह मात्रा से, पूरक बत्तिश मात्रा से, और कुम्भक चौंसठ मात्रा से सम्पादित होता है * इस प्रकार करने से प्राण वायु का दमन होता है । प्रथम वायु विरेचनपूर्वक गुह्य स्थान को सिकोड़ कर अपनी शक्ति के अनुसार यथाविधि वायु

* मात्रा अपने हाथों से अपने जानुमण्डल के वेष्टन करने में जो समय वीतता है उसही समय को मात्रा कहते हैं।

रेचक-देह से वायु का निकालना । पूरक-देह में वायु का पूर्ण करना। कुंभक-देह में वायुका अनुरोध।

प्रजापति प्रणव के ऋषि-गायत्री इसका छंद परमात्मा इसके देवता आकार वीज, उकार शक्ति, मकार आधारदण्ड और प्राणायाम में उसका विनियोग होता है ।

विरेच्य पवनं पूर्व्वं संकोच्य गुदमण्डलम् ।
पूरयित्वा विधानेन स्व-शक्त्या कुम्भके स्थितः ॥ ४२ ॥
तत्र प्रणवमभ्यस्यन् वीजं वा मन्त्रमूर्द्धगम् ।
ऋष्यादिस्मरणं कृत्वा कुर्य्यात् ध्यानमतन्द्रितः ॥

तत्ध्यानञ्च —

विष्णुं भास्वतकिरीटाङ्गदवलयकलाकल्पहारोदरांघ्रि-
श्रोणीभूषं सवक्षोमणिमकरमहाकुण्डलामृष्टगण्डम् ॥
हस्तोद्यच्छंखचक्राम्बुजगदममलं पीतकौशेयवासं
विद्यात्तद्भासमुद्यद्दिनकरसदृशं पद्मसंस्थं नमामि ॥ ४३ ॥

क्वचिच्च ।--

रुद्रन्तु रेचके ब्रह्मा पूरके ध्येयदेवता ।
श्रीविष्णुः कुम्भके ज्ञेयो ध्यान-स्थानं गुरोर्मुखात् ॥

तथाहि ।—

नाभिस्थाने पूरकेण चिन्तयेत कमलासनम् ।
ब्रह्माणं रक्तगौराङ्गं चतुर्व्वक्त्रं पितामहम् ॥
नीलोत्पलदलश्यामं हृदि मध्ये प्रतिष्ठितम् ।
चतुर्भुजं महात्मानं कुम्भकेन तु चिन्तयेत् ॥
रेचकेनेश्वरं ध्यानं ललाटे सर्व्वपापहम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं कुर्य्याद्वै निर्म्मलं बुधः ॥ इति ॥ ४४ ॥

भाषा टीका ।

पूर्ण कर कुंभक करना चाहिये ॥ ४२ ॥

काम वीज अथवा वीज मंत्र का जप करना हो, तो ऋष्यादिस्मरण-पूर्वक आलस्यहीन होकर, ध्यान करना चाहिये ।

ध्यान,-जिनके अंग में देदीप्यमान किरीट, अंगद (बाजू) वलय (कड़े) और अत्यन्त सुन्दर हार विराजित हैं, जिन का उदरप्रदेश, पद और श्रोणीदेश (कटिभाग) गहनों से अलंकृत है, जिनका गंडस्थल वक्षो माणिलग्न अतिउत्तम महत्-मकर-कुण्डलों से चुम्बित है। जिनके हाथों में उद्यत् शंख चक्र और गदा शोभायमान हैं, जो अत्यन्तनिर्मल पीतवर्ण पट्ट बस्त्र पहर रहे हैं, जिनके देह से दिव्यकान्ति समुत्थित होती है, जो देखने में उदयशील सूर्य की समान और जो कमल में विराजित हैं मैं उन्हीं श्रीविष्णु को प्रणाम करता हूं ॥ ४३ ॥

स्थानान्तर में लिखा है कि-रेचककार्य में रुद्र की, पूरक कार्य में ब्रह्मा की और कुम्भक में-विष्णु देवता की चिन्ता करनी चाहिये। श्रीगुरु के समीप से ध्यान का स्थान जान ले। इस विषय में लिखा है कि,-बुद्धिमान् पूरक के सहित पद्मासनाधिष्ठित रक्त मिश्रश्वेतवर्ण चतुरानन पितामह ब्रह्माजी की नाभि प्रवेश में भावना करे। कुंभक के सहित नीलोत्पल-दलश्याम चतुर्हस्त परमात्मा हरि की हृदय में भावना करे रेचक के सहित समस्त पापनाशक विशुद्ध स्फटिक-मय विमल रुद्र की भालप्रदेश में भावना करे ॥ ४४ ॥

एकान्तिभिश्च भगवान् सर्व्वदेवमयः प्रभुः ।
कृष्णः प्रियजनोपेतश्चिन्तनीयो हि सर्व्वतः ॥ ४५ ॥

अथ प्राणायाममाहात्म्यम् –

पाद्मे देवद्युतिविकुण्डल-संवादे ।—

यमलोकं न पश्यन्ति प्राणायाम-रता नराः ।
अपि दुष्कृतकर्म्माणस्तैरेव हतकिल्विषाः ॥ ४६ ॥
दिवसे दिवसे वैश्य ! प्राणायामास्तु षोड़श ।
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृताः ॥
तपांसि यानि तप्यन्ते व्रतानि नियमाश्च ये ।
गोसहस्रप्रदानन्तु प्राणायामस्तु तत्समः ॥
अम्बुबिन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे नरः पिवेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामस्तु तत समः ॥
पातकन्तु महद्यच्च तथाक्षुद्रोपपातकम् ।
प्राणायामैः क्षणात् सर्व्वं भस्मसात स्याद्विशाम्बर ! इति ॥ ४७ ॥
न्यासान् विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः ।
अतो यथा संप्रदायं न्यासान् कुर्य्याद्यथाविधि ॥ ४८ ॥

तत्रादौ मातृकान्यासः ।

ऋषिच्छन्दो देवतादि स्मृत्वादौ मातृकामनोः ॥
शिरोवक्त्रहृदादौ च न्यस्य तद्ध्यानमाचरेत ॥

भाषा टीका ।

जो पुरुष श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अत्यन्त भक्ति-परायण हैं समस्त कार्य में ही गोपगोपिकादि मतोमतजन परिवृत सर्वदेवमय भगवान् प्रभु श्रीकृष्ण की (एकाग्रचित से चिन्ता करना उनका अवश्य कर्त्तव्य है ॥ ४५ ॥

प्राणायाम का माहात्म्य ।–पद्मपुराण के देवद्युति विकुण्डल-संवाद में लिखा है कि,-प्राणायाम करके दुष्कार्य्य में आसक्त होने पर भी उसको यमपुरी का दर्शन नही होता । क्यों कि-प्राणायाम से ही सब पातक दूर होता है ॥ ४६ ॥

हे वैश्य ! एक मास-तक नित्य सोलह वार प्राणायाम करने से गर्भ गिराने वाला पुरुष भी नित्य पवित्रता लाभ करता है जो कुछ तप वा व्रत वा नियमादि किया जाय और जो हजार गौ दान करी जाय प्राणायाम उन सब की समान है कुछ अधिक सौ वर्ष तक प्रत्येक महीने के अन्त में कुशाग्र द्वारा जल-विन्दु पान करने से मनुष्य को फल होता है । प्राणायाम से वही फल मिल जाता है । हे वैश्य सत्तम ! प्राणायाम से सम्पूर्ण महापाप क्षुद्रपाप और उपपाप नष्ट होते हैं ॥ ४७ ॥ -

बुद्धिमान पुरुष कहते हैं न्यास-हीन जप को आसुर जप कहते हैं, सुतरां सम्प्रदायानुसार यथाविधि न्यास करना चाहिये ॥ ४८ ॥

तिन मे प्रथम मातृकान्यास ।—मातृका मंत्र के

तत्रोक्तं।—

पंचाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां।
भास्वन्मौलिनिबद्ध चन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम्॥
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलसं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-
र्विभ्राणां विषदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये॥ ४९॥

अकारादीन् क्षकारान्तान् वर्णानादौ तु केवलान्।
ललाटादिषु चाङ्गेषु न्यस्येद्विद्वान् यथाक्रमम्॥

तत्र विविच्योक्तं।—

ललाटमुखविम्वाक्षिश्रुतिघ्राणेषु गण्डयोः।
ओष्ठदन्तोत्तमाङ्गास्ये दोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च॥
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ जठरे हृदयेंऽसके।
ककुद्यंसे च हृत् पूर्वं पाणिपादयुगे ततः॥
जठराननयोर्न्यस्येन्मातृकार्णान् यथा क्रमम्॥ इति॥ ५०॥
सानुस्वारान् विसर्गाढ्यान् सानुस्वारविसर्गकान्।
न्यस्येद्भूयोऽपि तान् विद्वानेवं वारचतुष्टयम्॥ ५१

अथ मातृका-न्यासः।

कण्ठहृन्नाभिगुह्येषु पायुभ्रूमध्ययोस्तथा।

भाषा टीका।

ऋषि, छन्द और देवता,—इत्यादि को स्मरण करके उनका ध्यान करै *। इस विषय में कहा है कि— पञ्चाशतसंख्यकवर्ण विभाग करके सरस्वतीदेवी का— वदन-मण्डल, दोनों वाहु, दोनों चरण, कटि और वक्षःप्रदेश निर्मित हुवा है। उन के मस्तक में चन्द्रमा की कला दीप्तिमती रहती है। देवी के दोनों कुच असन्त ऊंचे और स्थूल हैं। वे हस्तकमल में मुद्रा, अक्षसूत्र, सुधापूर्ण कलस और विद्या धारण कर रही हैं। उनका वर्ण—श्वेत और वह त्रिनयना हैं, मैं ने उनका आश्रय ग्रहणकिया॥ ४९॥

*ब्रह्मा मातृका मन्त्र के ऋषि, गायत्री—उसका छन्द सरस्वती—देवता, हल—वर्ण, वीज और मातृका न्यास में उस का विनियोग है॥

बुद्धिमान् पुरुष अनुस्वार विसर्ग संयुक्त न करके केवलमात्र अकारादि क्षकारान्त वर्ण-समुदाय को क्रमानुसार ललाटादि अंग में न्यास करे। क्रम-विभाग यथा;—भालप्रदेश, वदन मण्डल, नेत्र, नासिका पुट, गण्डप्रदेश, ओष्ठ, दशन, शिरः प्रदेश, वदन छिद्र, करसंधि, चरणसंधि, कराग्र, चरणाग्र, दोनों पार्श्व, पृष्ठ, नाभिप्रदेश, उदर, हृदय, दहिनाकंधा, ककुत, (कन्धों का मध्य भाग) वाँया कन्धा, हृदय से आरम्भ करके दोनों हथेली दोनों पैर के तलुए उदर और मुख इन सव अंगों में अकारादि क्षकारान्त तक मातृ का वर्ण को क्रमानुसार न्यास करना चाहिये॥ ५०॥

बुद्धिमान् पुरुष अनुस्वार संयुक्त कर विसर्ग संयुक्त कर और अनुस्वार विसर्ग दोनों ही संयुक्त कर पुनर्वार यह सव वर्ण उक्त उक्त अंग

स्थिते षोडशपत्राब्जे क्रमेण द्वादशच्छदे ॥
दशपत्रे च षट्पत्रे चतुःपत्रे द्विपत्रके ।
न्यसेदेकैकपत्रान्ते सविन्द्वेकैकमक्षरम् ॥ ५२ ॥

अथ केशवादिन्यासः ।

स्मृत्वा ऋष्यादिकं वर्णान् मूर्तिभिःकेशवादिभिः ।
कीर्त्त्यादिभिः शक्तिभिश्च न्यस्येत्तान् पूर्व्ववत् क्रमात् ॥ ५३ ॥
न्यसेच्चतुर्थी नत्यन्ता मूर्त्तीः शक्तीश्च यादिभिः ।
सप्तधातून् प्राणजीवौ क्रोधमप्यात्मने ऽन्तकान् ॥ ५४ ॥

तत्रध्यानम् ।

उद्यत् प्रद्योतनशतरुचिं तप्तहेमावदातम् ।
पार्श्वद्वन्द्वेजलधिसुतया विश्वधात्र्याच जुष्टम् ॥
नानारत्नोल्लसित विविधाकल्पमापीतवस्त्रम् ।
विष्णुंवन्देदरकमलकौमोदकी चक्रपाणिम् ॥ ५५ ॥

भाषा टीका ।

में न्यास करे इस भाँति चार वार न्यास करना चाहिये ॥ ५१ ॥

मातृ का न्यास–। कंठ, हृदय, नाभि, शिश्न, पायु, (गुदप्रदेश) और भ्रूमध्य इन छै स्थानों में क्रमानुसार षोडश दल, द्वादश पत्र, दश दल, षड़ दल, चतुर्दल, और द्विदल, पद्म विद्यमान् हैं इन समस्त पद्मों के प्रति दल के अग्रदेश में अनुस्वार सहित एक एक वर्ण न्यास करे। अर्थात् सब समेत षट् पद्म में पंचाशत् (५०) संख्यक दल हैं। व्यंजन और स्वर के पंचाशत् वर्ण के प्रति वर्ण में अनुस्वार संयुक्त कर प्रति दल में क्रमानुसार न्यास करना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ केशवादि न्यास। ऋष्यादि स्मरण पूर्वक केशवादि मूर्त्ति और शक्तियों सहित पूर्व कथित सब वर्णों को पूर्ववत् क्रमशः न्यास करे ×। मूर्त्ति और शक्तियों को चतुर्थी विभक्ति युक्त कर के और अन्त में नमः शब्द मिलाय न्यास करे ✻ ॥ ५३ ॥

जिन सब मूर्त्ति और शक्तियों का न्यासयकारादि वर्ण के सहित करना होता है उन सब मूर्त्ति और शक्तियों को यकारादि क्षकारान्त दशवर्ण और आत्मनेपद अंत में लगाकर सप्तधातु के सहित तथा प्राण जीव और क्रोध के सहित न्यास करे ××।

उक्त विषय का ध्यान। यथा जो नवीन उदय हुए सौ सूर्य प्रभा की समान कान्तिवान् हैं जिनका वर्ण तपे हुए कांचन की तुल्य है, जिनकी एक ओर लक्ष्मी तथा दूसरी ओर पृथ्वी सेवा करती है, जो अनेक रत्नों के दीप्तिमान गहनों से अलङ्कृत हैं जो पीताम्बर-

×प्रजापति केशवादि न्यासके ऋषि, गायत्री उसका छन्द, लक्ष्मी नारायण देवता, हलवर्ण वीज, स्वरवर्णशक्ति, और अपनये को श्रीकृष्णस्वरूप करण कर्म में इसका विनियोग होता।

✻ पञ्चाशत मातृका वर्ण समूह को अनुस्वार संयुक्त करके केशवादि एक पंचाशत् मूर्त्ति और कीर्त्त्यादि एक पंचाशत शक्तिके सहित ललाटादि पूर्व कथित अंगो में न्यास करना चाहिये। अर्थात् अंकेशवाय कीर्त्यैनमः आं नारायणाय कान्त्यैनमः इत्यादि। प्रकार से न्यास करे।

×× सप्तधातु।–त्वक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, रक्त, शुक्र, न्यास प्रयोग यथा (यंत्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायैनमः। रंमांसात्मने बलिने परायैनमः) इत्यादि

अथ श्रीमूर्त्तयः ।

प्रथमं केशवो नारायणःपश्चाच्च माधवः ।
गोविन्दश्च तथा विष्णुर्मधुसूदन एव च ॥
त्रिविक्रमो वामनोऽथ श्रीधरश्च ततःपरम् ।
हृषीकेशः पद्मनाभस्ततो दामोदरस्तथा ॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽप्यनिरुद्धकः ।
चक्री गदी तथा शार्ङ्गी खड्गी शंखी हली तथा ॥
मूषली च तथा शूली पाशी चैवाङ्कुशी तथा ।
मुकुन्दो नन्दजश्चैव तथा नन्दी नरस्तथा ॥
नरकाजिद्धरिः कृष्णः सत्यः सात्वत एव च ।
ततः शौरिस्तथाशूरस्ततः पश्चाज्जनार्द्दनः ॥
भूधरो विश्वमूर्त्तिश्च वैकुण्ठःपुरुषोत्तमः ।
वली वलानुजो वालो वृषघ्नो वृष एव च ॥
हंसो वराहो विमलो नृसिंहश्चेति मूर्त्तयः ।

अथ शक्तयः ।

कीर्त्तिः कान्तिस्तुष्टि पुष्टी धृतिःशान्तिः क्रिया दया ।
मेधा हर्षा तथा श्रद्धा लज्जा लक्ष्मीः सरस्वती ॥
प्रीती रति र्जया दुर्गा प्रभा सत्या च चण्डिका ।
वाणी विलासिनी चैव विजया विरजा तथा ॥
विश्वा च विनदा चैव सुनन्दा च स्मृतिस्तथा ।
ऋद्धिः समृद्धि शुद्धिश्च बुद्धिर्मुक्तिर्नतिः क्षमा ॥

भाषा टीका ।

धारी और जिनके हाथों में शंख पद्म गदा और चक्र विराजित,—है उनकी वन्दना करता हूं ॥ ५५ ॥

श्रीमूर्त्ति-समूह ।—केशव—नारायण—माधव—गोविन्द-विष्णु-मधुसूदन-त्रिबिक्रम—वामन-श्रीधर—हृषीकेश-पद्मनाभ—दामोदर—वासुदेव—सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध—चक्री-गदी-शार्ङ्गी-खड्गी-शङ्खी-हली—मूषली—शूली-पाशी-अङ्कुशी मुकुन्द—नन्दनन्दन—नन्दी—नर-नरकाजित्—हरि—कृष्ण सत्य-सात्वत-शौरि—शूर-जनार्दन—भूधर—विश्वमूर्त्ति-वैकुण्ठ-पुरुषोत्तम—वली—वलानुज—वाल—वृष घ्न—वृष—हंस वराह—विमल और नृसिंह,—यह एकपञ्चाशत श्रीमूर्त्ति हैं। शक्तिसमूह।-कीर्त्ति-कान्ति-तुष्टि-पुष्टि-धृति-शान्ति-क्रिया-दया—मेधा—हर्षा—श्रद्धा—लज्जा—सरस्वती—प्रीति— रति—जया—दुर्गा—प्रभा-सत्या—चंडिका —काली – विलासिनी-विजया-विरजा—विश्वा—विनदा – सुनन्दा—स्मृति —ऋद्धि समृद्धि—शुद्धि—मुक्ति—नति—क्षमा—रमा—उमा—क्लेदिनी—क्लिन्ना—वसुदा—वसुधा—परा—परायणा सूक्ष्मा—संध्या—प्रज्ञा प्रभा—निशा—अमोघा और विद्युता—यह एक पञ्चाशत (५१) शक्ति हैं—केवल एकवार मात्र इस केशवादि न्यास का अनुष्ठान होने पर इस जगत् में सर्व सम्पत्ति प्राप्त

रमोमा क्लेदिनी क्लिन्ना वसुदा वसुधा परा ।
परायणा च सूक्ष्मा च संध्या प्रज्ञा प्रभा निशा ।
अमोघा-विद्युतेत्येक पंचाशत् शक्तयो मताः ॥
ददात्ययं केशवादि न्यासोऽचाखिलसंपदं ।
अमुत्राच्युत सारूप्यं नयति न्यासमात्रतः ॥ ५६ ॥

तदुक्तं — ध्यात्वैवं परमपुमांस समक्षरै र्यो विन्यस्येद्दिनमनु केशवादि युक्तैः ।
मेधायुःस्मृति धृति कीर्ति कांति लक्ष्मी सौभाग्यै-
श्चिरमुपबृंहितो भवेत सः ॥

अन्यत्र च—केशवादिरयं न्यासो न्यासमात्रेण देहिनः ।
अच्युतत्वं ददात्येव सत्यं सत्यं न संशयः ॥ इति ॥ ५७ ॥

यश्च कुर्य्यादिमं न्यासं लक्ष्मीविज पुरः सरम् ।
भक्तिं मुक्तिश्च भुक्तिश्च कृष्णं च लभतेऽचिरात् ॥ ५८ ॥

तथाचोक्तम्-अमुमेव रमापुरःसरं प्रभजेद्यो मनुजो विधिं बुधः ।
समुपेत्य रमां प्रथीयसीं पुनरन्ते हरितां व्रजत्यसौ ॥ ५९ ॥

अथ तत्त्वन्यासः ।

मकारादिकक्कारान्त वर्णै र्युक्तं सविन्दुकैः ।
नमः परायेति पूर्व्वं मात्मने नम इत्यनु ॥
नामजीवादि तत्त्वानां न्यस्येत्तत्तत्पदे क्रमात् ।
न्यासेनानेन लोको हि भवेत् पूजाधिकारवान् ॥ ६० ॥

भाषा टीका ।

होती है और परलोक में कृष्ण की सारूप्य मिलता है ॥ ५६ ॥

इस विषय में कहा है कि—जो पुरुष नित्य इस प्रकार पूर्व कथित परम पुरुष का ध्यान करता हुआ केशवादि समाचित अक्षर के सहित न्यास करते हैं वे आजीवन मेधा—स्मृति—शक्ति धैर्य—कान्ति—लक्ष्मी—और सौभाग्य प्राप्त करते हैं अन्यत्र भी लिखा है कि इस न्यास का अनुष्ठान होते ही यह सब मनुष्यों को हरि सारूप्य प्रदान करते हैं यह सत्य है—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ५७ ॥

जो लक्ष्मी वीज उच्चारण करके यह केशवादि न्यास करते हैं—वे तत्काल भक्ति—मुक्ति—भोग और कृष्ण को प्राप्त करते हैं ॥ ५८ ॥

इस विषय में कहा है कि—जो बुद्धिमान् पुरुष लक्ष्मी वीज उच्चारण कर इस विधि का अनुष्ठान करते हैं—वे इस लोक में प्रसिद्ध श्री लाभ कर अंत में कृष्ण सारूप्य लाभ करते हैं ॥ ५९ ॥

अथ तत्व न्यासः । पहिले नमः पराय, फिर आत्मने नमः कहकर अनुस्वारयुक्त मकारादि ककारान्तवर्ण समूह के सहित फिर वक्ष्य माण विशेष स्थानों में जीवादि तत्त्वका न्यास करे । इस न्यास का आचरण करने से ही पूजा में अधिकारी हो सकता है ॥ ६० ॥

तगादौ सकले न्यस्येज्जीव प्राणौ कलेवरे ।
हृदये मत्यहंकार मनांसीति त्रयस्ततः ॥ ६१ ॥

शब्दं स्पर्शं ततोरूपं रसं गन्ध श्च मस्तके ।
मुखेहृदि च गुह्ये च पादयो श्च यथा क्रमं ॥ ६२ ॥

श्रोत्रं त्वचं दृशं जिह्वां घ्राणं स्व स्व पदे ततः ।
वाक्पाणि पादपायूपस्थानि स्व स्व पदे तथा ॥ ६३ ॥

आकाश वायु तेजांसि जलं पृथ्वी श्च मूर्द्धनि ।
वदने हृदये लिङ्गे पादयोश्च यथाक्रमं ॥ ६४ ॥

हृदिहृत पुण्डरीकश्च द्विषट् द्व्यष्टदशादिकं ।
कलाव्याप्तेति पूर्व्वंच्च सूर्य्यचन्द्राग्नि मण्डलं ।
वर्णैः सह सरेफै श्च क्रमान्यस्येत् सविन्दुकैः ॥ ६५ ॥

वासुदेवं यकारेणपरमेष्ठियुतश्च के ।
यकारेण मुखे शङ्कर्षणंन्यसेत् पुमन्वितं ॥ ६६ ॥
हृदि न्यस्येल्लकारेण प्रद्युम्नं विश्वसंयुतम् ।
अनिरुद्धंनिवृत्ताढ्यं वकारेण च गुह्यके ॥
नारायणश्च सर्व्वाध्यंलकारेणैव पादयोः ॥ ६७ ॥

भाषा टीका ।

* प्रथम सब देह में जीव तत्व और प्राण तत्व का न्यास करके हृदय प्रदेश में मति अहंकार और मन इन तीन तत्वों का न्यास करै ॥ ६१—६२ ॥

फिर मस्तक वदन हृदय गुह्य और दोनों चरणों में क्रमानुसार शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध तत्वका न्यास करना चाहिये । इसके पीछे कर्ण त्वक, नेत्र रसना और घ्राण तत्व का न्यास अपने २ स्थान में करना चाहिये एवं वाक् पाणि, पाद पायु (गुद) और उपस्थ में भी उनके निज निज स्थान में न्यास करे ॥ ६३ ॥

फिर मस्तक, मुख, हृदय, लिंग, और दोनों चरणों में क्रमानुसार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी तत्व का न्यास करना चाहिये ॥ ६४ ॥

इसके पीछे हृदय प्रदेश में हृत पुण्डरीक द्वादश कलान्वित सूर्य मंडल षोडश कला व्याप्त चन्द मण्डल और दश कला व्याप्त वन्हि मंडल विन्दुयुक्त हतरकार भी अन्यान्य वर्णों के सहित न्यास करे × ॥ ६५ ॥

परमेष्ठी संयुक्त वासुदेव को यकार के सहित मस्तक में न्यास करे । यकार के सहित वदन में पुं शब्द पूर्वक संकर्षण का न्यास करना चाहिये ॥६६॥

हृदय में लकार के सहित विश्व शब्द युक्त प्रद्युम्न

* प्रयोग यथा ।— मंनमः पराय जीवात्मने नमः । मं नमः पराय प्राणात्मने नमः इत्यादि । कोई कोई बुद्धिमान् पुरुष जीवतत्वात्मने नमः प्राणतत्वात्म ने नमः इत्यादि प्रकार से तत्व शब्द भी प्रयोग करते हैं ॥

× इसका प्रयोग-यथा शंनमः परायपुण्डरीकात्मने नमः । हंनमः परायद्वादश कला व्याप्त सूर्य मण्डलात्मने- नमः । संनमः परायषोडशकला व्याप्त चंद्र मंडलात्मने नमः। रंनमः परायदश कला व्याप्त वह्निमण्डलात्मने नमः।

नृसिंह कोपसंयुक्तं तद्वीजेनाखिलात्मनि ।
तत्त्वन्यासोऽयमचिरात् कृष्णसान्निध्यकारकः ॥ ६८ ॥

तथाचोक्तं।—

अतत्त्वव्याप्यरूपस्य तत्प्राप्तेर्हेतुना पुनः ।
तत्त्वन्यासमिति प्राहु र्न्यासतत्त्वविदो बुधाः ॥ ६९ ॥
यः कुर्य्यात्तत्त्वविन्यासं स पूतो भवति ध्रुवं ।
तदात्मनानुप्रविश्य भगवानिह तिष्ठति ॥
यतः स एव तत्त्वानि सर्व्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ ७० ॥

अथ पुनः प्राणायाम विशेषः ।

प्राणायामां स्ततः कुर्य्यान्मूलमन्त्रं जपन् क्रमात् ।
वारौ द्वौ चतुरः षट् च रेचपूरककुम्भके ॥ ७१ ॥
अथवा रेचकादीं स्तान् कुर्य्याद्वारांस्तु षोड़श ।
द्वात्रिंशच्चचतुःषष्टिं कामवीजं जपन् क्रमात् ॥ ७२ ॥

तथाच क्रमदीपिकायां ।—

रेचयेन्मारुतं दक्षया दक्षिणः
पूरयेद्वामया मध्यनाड्या पुनः ॥
धारयेद्दारितं रेचकादित्रयं ।
स्यात् कलादन्त विद्याख्य मात्रात्मकम् ॥ ७३ ॥

भाषा टीका ।

का, गुह्य में वकारके सहित निवृति शब्द युक्त अनिरुद्ध का, और दोनों पैरों में लकारके सहित सर्वांगयुक्त नारायण का न्यास करै ॥ ६७ ॥

सर्व गात्र में कोप शब्द युक्त नृसिंह का उनके वीज सहित अर्थात् क्षकार सहित न्यास करै। ऊपर कहे हुए यह तत्व तत्क्षण कृष्णको समीप प्राप्त करते हैं * ॥६८॥

इस विषय में कहा है कि-जो सब बुद्धिमान् पुरुष न्यास क्रिया का तत्व जानते हैं, वे इस न्यास को तत्व-न्यास कहते हैं, क्योंकि जो वस्तु नहीं है, सुतरां जिसका स्वरूप अनुमान से जाना जाता है, उस को वस्तुतः प्राप्त कराता है ॥ ६९ ॥

तत्व न्यास करने वाला पुरुष निःसंदेह पवित्र होता है; भगवान् उस पुरुष के देह में न्यास रूप से प्रवेश कर के विराजित रहते हैं, क्योंकि भगवान् ही सम्पूर्ण तत्व और उन में ही सम्पूर्ण पदार्थ अधिष्ठित हैं ॥ ७० ॥

अब फिर प्राणायाम का विशेष कथित होता है। इसके पीछे मूल मंत्र (अष्टा दशार्णमंत्र) रेचक-पूरक और कुंभक में क्रमानुसार दो चार और छै वार जपकर प्राणायाम करना चाहिये ॥ ७१ ॥

वा असमर्थ होने पर क्रमशः सोलह वत्तीस-और चौंषठ काम वीज (क्लीं) जपकर रेचकादि करे ॥ ७२ ॥

---

* इन समस्त न्यासों का प्रयोग ।—यथा यंनमः पराय वासुदेवाय परमेष्ठ्यात्मने नमः यंनमः पराय सङ्कर्षणाय परमात्मने नमः लंनमः पराय प्रद्युम्नाय विश्वात्मने नमः। वंनमः पराय अनिरुद्धाय निवृत्तात्मने नमः। लंनमः पराय नारायणाय सर्वात्मने नमः । क्षौं नमः पराय नृसिंहाय कोपात्मने नमः ॥

तत्र कालं संख्यादिकश्च।

तत्रैव।—

पुरतो जपस्य परतोऽपि विहितमथ तत्त्रायं बुधैः।
षोडश य इहाचरेद्दिनशः परिपूयते स खलुमासतोऽंहसः॥ ७४॥

अथ पीठन्यासः।

ततो निजतनूमेव पूजापीठं प्रकल्पयन्।
पीठस्याधारशक्त्यादीन् न्यसेत् स्वाङ्गेषु तारवत्॥ ७५॥

आधारशक्तिं प्रकृतिं कूर्म्मानन्तौ च तत्र तु।
पृथिवीं क्षीरसिन्धुश्च श्वेतद्वीपञ्च भास्वरम्॥
श्रीरत्नमण्डपञ्चैव कल्पवृक्षं तथा हृदि।
न्यसेत्प्रदक्षिणत्वेन धर्म्मज्ञाने ततोंऽसयोः॥ ७६॥

ऊर्व्वोर्वैराग्यमैश्वर्यं तथैवाऽधर्ममानने।
त्रिकेऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्य्यञ्च पार्श्वयोः॥ ७७॥

हृदब्जेऽनन्तं पद्मञ्च सूर्येन्दुशिखिनां तथा।
मण्डलानि क्रमाद्वर्णैः प्रणवांशैः सविन्दुकैः॥

भाषा टीका।

क्रम दीपिका में लिखा है कि बुद्धिमान् पुरुष दहनी नाड़ी से वायु रेचन करे अर्थात् छोड़े–वामनाड़ी से पूरण करे और मध्यम नाड़ी (सुषुम्ना) से वायु रोक रक्खे। यह तीन क्रिया ही रेचक–पूरक और कुंभक नाम से कही गई हैं–इनका परिमाण कालक्रम से सोलह वत्तीस और चौंसठ मात्रा हैं॥ ७३॥

प्राणायाम इत्यादि क्रिया का काल और संख्या इत्यादि क्रम दीपिका ग्रंथ में ही कहा गया है। बुद्धिमान् पुरुष जप के आगे और जप के अंत में इस प्राणायाम का विधान करते हैं; प्रत्येक समय में तीन तीन वार की विधि है। जो मनुष्य इस लोक में नित्य सोलह प्राणायाम का अनुष्ठान करते हैं एक महीने में ही वे पापों से छूट कर विशुद्ध होते हैं॥ ७४॥

पीठ न्यास।–फिर अपनी देह कोही पूजा पीठ रूप में कल्पना कर पीठ के आधार शक्तयादि को ओंकारके सहित अपने अंगों में न्यास करना चाहिये॥७५॥

हृदय में आधारशक्ति–प्रकृति–कूर्म–अनंत–पृथ्वी क्षीरसमुद्र–प्रकाश–स्वभाव श्वेतद्वीप–श्रीमान्–रत्न-मण्डप और कल्पवृक्ष इन सब का न्यास करे। फिर प्रदक्षिण भाव से–धर्म और ज्ञान का न्यास करना चाहिये॥ ७६॥

इसी प्रकार दोनों ऊरू में ज्ञान और वैराग्य का, वदन में अधर्म का, कटि में अज्ञान का, दोनों पार्श्व में अवैराग्य और अनैश्वर्य का–एवं हृदय में अनन्त और पद्म का न्यास करे। फिर सूर्य मण्डल चंद्र मण्डल—और अग्नि मण्डल को सानुस्वार प्रणव के तीन अंश सहित क्रमशः हृदय में न्यास करना चाहिये अर्थात "ओम् अंसूर्यमण्डलाय नमः ओम् उं सोममण्डलाय नमः ओं मं वह्नि मण्डलाय नमः" इस प्रकार न्यास करे। सत–रज–तम–आत्मा–अन्तरात्मा और परमात्मा इन में प्रत्येक का आद्यवर्ण अनुस्वार सहित युक्त कर के इस हृदय में ही न्यास करे; अर्थात ओम् सं सत्वायनमः ओं

सत्त्वं रजस्तमश्चात्मान्तरात्मानौ च तत्र हि ।
परमात्मानमप्यात्माद्याद्यवर्णैः सविन्दुकैः ॥ ७८ ॥
ज्ञानात्मानञ्च भुवनेश्वरी वीजेन संयुतम् ।
तस्याष्टदिक्षु मध्येपि नव शक्तिश्च दिक् क्रमात् ॥
ताश्चोक्ताः—विमलोतकर्षिणी ज्ञाना क्रियायोगेति शक्तयः ।
प्रह्वी सत्या तथेशानाऽनुग्रहा नवमी स्मृता ॥ इति ॥
न्यसेत्तदुपरिष्टाच्च पीठमन्त्रं यथोदितम् ।
ऋष्यादिकं स्मरेदस्याष्टादशार्णमनो स्ततः ॥ ७९ ॥
ज्ञेयाश्चैकांतिभिः क्षीरसमुद्रादि चतुष्टयम् ।
क्रमाच्छ्रीमथुरा वृन्दावनं तत् कुञ्जनीपकाः ॥ ८० ॥
तथाचं व्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्य स्तोत्रे—
स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभीभ्यश्च सुमहा—
न्निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति नहि यत्रापि समयः ।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं

भाषा टीका ।

रं रजसे नमः इत्यादि प्रकार से न्यास करना चाहिये ॥ ७७—७८ ॥

फिर भुवनेश्वरी वीज (ह्रीं) सहित ज्ञानात्मक और नवशक्ति को इस हृतकमल के अष्ट पत्र में और मध्यस्थल में पूर्वादि दिशा के अनुसार न्यास करे। वह नव शक्ति।—यथा-विमला, उत्कर्षिणी—ज्ञाना क्रिया-योगा-प्रह्वी-सत्या-ईशाना-और अनुग्रहा। इन के ऊपर यथा कथित पीठमंत्र न्यास करे-फिर इस अष्टादशार्ण मंत्र के ऋष्यादि को स्मरण करना चाहिये ॥ ७९ ॥

जो पुरुष एकान्त भाव से श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं—वे इस प्रकार जाने रहे कि-क्षीरसमुद्रादि चार क्रमानुसार श्रीमथुरा-वृन्दावन, वृन्दावन-स्थित कुंज और कदम्वस्वरूप हैं ॥ ८० ॥ *

ब्रह्म संहिता में आदि पुरुष के गुह्य स्तव में लिखा है कि-क्षीरसमुद्र श्रीमथुरा-और श्वेतद्वीप श्रीवृन्दावन है ब्रह्म संहितोक्त वचने से यही प्रमाणित होता है-मैं उसी श्वेतद्वीप का आश्रित हुआ पृथिवी में जिनकी संख्या कम है ऐसे साधु संसार में (दुष्प्राप्य) हैं अथवा पीछे गुप्त विषय प्रकाशित हो—इस आशंका से अथवा हरि मंदिर में अनिर्वाच्य प्रेम रस का उदय होने से सम्पूर्ण विषय में उदासीन रह कर उनको त्याग दिया है इस प्रकार कितने ही साधु पुरुष इस श्वेत द्वीप को इस लोक में गो लोक (वैकुण्ठ के ऊपर गौ गणों का लोक)

* पूछा जा सकता है कि आधारशक्ति-प्रकृति कूर्म अनन्त और पृथ्वी।—यह पांचों शक्ति मथुरा काभी आश्रय हैं-सुतरां कृष्ण के एकान्त भक्त गण पीठ में इन पांचों शक्ति का न्यास कर सकते हैं किन्तु आर्यावर्त्तान्त वार्त्तिनी गोपाल प्रेम विहार रसमयी मथुरादि व्रजभूमि छोड़ कर वह पूजा पीठ में क्षीर सागरादि चतुष्टय का न्यास क्यों करेंगे इस के उत्तर में कहा जाता है कि क्षीरसमुद्र दुग्ध पूर्ण संख्यातीत धेनु का आधार स्थल होने से मथुरा क्षीरसागर स्वरूप है । वृन्दावन मथुरा प्रदेश का सर्व श्रेष्ट स्थल है सदा दुग्ध में अभि-

विदन्तस्ते-सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ॥ ८१ ॥

अथ पीठमन्त्रः ।

क्रमदीपिकायां ।—

तारो हृदयं भगवान् विष्णुः सर्वान्वितश्च भूतात्मा ।
ङेऽन्ताः स वासुदेवाः सर्वात्म युतंच संयोगं ॥
योग विधौ च पद्मं पीठात्माङेयुतो नतिश्चान्ते ।
पीठ महा मनुरुक्तः पर्याप्तोऽयं सपर्य्यासु ॥ ८२ ॥

अथऋष्यादिस्मरणम् ।

ओं अष्टादशाक्षर मन्त्रस्य श्रीनारदऋषि-
र्गायत्रीच्छन्दः सकल लोक मङ्गलो नन्दतनयोदेवता
ह्रीं वीजं स्वाहा शक्तिः कृष्णः प्रकृति दुर्गाधिष्ठात्री-
देवताऽभिमतार्थे विनियोगः ।

तथा च सम्मोहन तन्त्रे शिवोमा सम्वादे।—

ऋषिर्नारद इत्युक्तो गायत्रीच्छन्द उच्यते ।
गोपवेषधरः कृष्णो देवता परिकीर्तितः ॥

भाषा टीका ।

जानते हैं । क्षीरसमुद्र कामधेनु के स्तन-दुग्ध से उत्पन्न होकर इस श्वेतद्वीप में वहता है ।

परार्द्ध संज्ञक और अर्द्ध निमष संज्ञक काल श्वेत द्वीपाधि वासियों को वशीभूत करने में समर्थ नहीं है अर्थात वहां काल का अधिकार नहीं वह नित्य धाम है ॥८१॥

पीठ मंत्र ।—क्रमदीपिका में लिखा है कि प्रथम ओंकार-फिर हृदय (नमः शब्द) पीछे चतुर्थी विभक्तयन्त भगवान्-विष्णु-सर्व भूतात्मा-वासुदेवशब्द फिर चतुर्थी विभक्तयन्तसर्वान्तसर्वात्म संयोग-पद्म-पीठात्मापद-और अंत में नमः शब्द उच्चारण करे-इसी को महत पीठ मंत्र कहते हैं * पूजा की क्रिया मात्र में ही इसकी विधि निर्दिष्ट है ॥ ८२ ॥

ऋष्यादिस्मरण ।—नारद अष्टा दशार्ण मंत्रके ऋषि गायत्री इसका छंद-सर्वजन मङ्गल प्रद नन्दनंदन देवता ह्रीं वीज-स्वाहा शक्ति-कृष्णादि एवं दुर्गा उसके अधि ष्ठात्री देवता और शक्ति लाभ के निमित्त इसका विनि योग होता है। सम्मोहन तंत्र के शिवपार्वती सम्वाद में लिखा है-शिवने कहा है कि हे परमेश्वरी ! इस मंत्र के ऋषि नारद-इसका छंद गायत्री—गोपवेशी श्रीकृष्ण देवता कामवीज [क्लीं] इसका वीज-स्वाहा शक्ति-तुम अधिष्ठात्री देवता-और चतुर्वग (धर्म, अर्थ,

षिक्त रहने से देखने में श्वेतवर्ण है शुभ्र देह मनुष्यों की आवास भूमि और यमुना द्वारा वेष्टित होने से देखने में द्वीपकी समान है-इसी कारण श्वेत-द्वीपकी समान है, असंख्य मणि रत्न खचित रत्न-मण्डप के सहित सुन्दर पुष्पराजित वृन्दावन के लता-मण्डप का विलक्षण सादृश्य है इसी से रत्नमण्डप लतामण्डप स्वरूप है । वृन्दावनास्थित कदम्ब तरु कल्पवृक्षकी समान वांछित फल देने वाला है, सुतरां दोनों में विलक्षण सादृश्य है ॥

* पीठ मंत्र ।-यथा श्रीं नमोभगवते विष्णवे सर्व भूतात्मने वासुदेवाय सर्वभूतात्म संयोग पद्म पीठात्मने नमः ।

वीजं मन्मथ संज्ञन्तु प्रियाशक्तिर्हविर्भुजः॥
त्वमेव परमेशानि अस्याधिष्ठातृ देवता।
चतुर्वर्ग फलावाप्त्यै विनियोगः प्रकीर्तितः॥

अथ अङ्गन्यासः।

चतुश्चतुर्भिर्वर्णै श्च चत्वार्य्यङ्गानि कल्पयेत्।
द्वाभ्यामस्त्राख्यमङ्गञ्च तस्येत्यङ्गानि पञ्चवै॥ ८३॥
न्यसेच्च व्यापकत्वेन तान्यङ्गानि करद्वये।
तान्यंगुलीषु पञ्चाथ केचिद्वाणान् स्वरानपि॥ ८४॥

तेचोक्ताः।—

द्रावण क्षोभनाकर्ष वशीकृत स्त्रावणास्तथा।
शोषणो मोहनः सन्दीपन स्तापन मादनौ॥ इति॥ ८५॥

किञ्च।— नमोऽन्तं हृदयश्चाङ्गैः शिरः स्वाहान्वितं शिखाम्।
वषड्युतञ्च कवचं हुं युगस्त्रं च फड्युतम्॥ ८६॥
न्यस्यन्ति पुनरंगुष्ठौ तर्जन्यौ मध्यमे तथा।
अनामिके कनिष्ठेच क्रमादङ्गैश्च पञ्चभिः॥ ८७॥

भाषा टीका।

काम, मोक्ष) प्राप्त होनेके लिये इसका विनियोग होताहै।

अङ्गन्यास।—चार चार वर्ण में चार अंग और अस्त्र नामक अंग की दो वर्ण में कल्पना करनी चाहिये। इस मंत्र के पांच अंग इस प्रकार कथित हैं॥ ८३॥

यह पञ्चाङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण मंत्र का, पाहिले दोनों हाथों के भीतर बाहिर्भाग में—दोनों पार्श्व में फिर दोनों हाथ के अँगूठे और अँगुलियों में क्रमानुसार न्यास करना चाहिये। किसी किसी पुरुष ने इस स्थान में प्रणव [ओंकार] द्वारा पुटित कर प्रयोग की विधि दी है। कोई कोई पुरुष अँगुलियों में पञ्चाङ्ग न्यास के सहित वाण पञ्चक और अनङ्ग पञ्चक के न्यास करने की विधि देते हैं॥ ८४॥

यह समस्तवाण और अनङ्ग समूह उक्त हैं-यथा वाणपंचक क्रमशः द्रावण-क्षोभण-आकर्षण-वशीकरण और स्रावण एवं अनङ्ग पंचक क्रमशः शोषण-मोहन सन्दीपन-तापन और मादन नामसे अभिहित हैं॥८५॥ *

और भी लिखा है कि—इस पंचाङ्गके सहित नमः शब्दान्त हृदय स्वाहान्त शिर-वषट् युक्त शिखा-हुं युक्त कवच और फट् समन्वित अस्त्रन्यास करने की विधि है; अर्थात् क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः, गोविन्दाय शिरसे स्वाहा, गोपीजनाय शिखायै वषट्, वल्लभाय कवचाय हुं स्वाहा अस्त्रायफट् इस प्रकार न्यास करे॥ ८६॥

फिर इस पञ्चाङ्ग के सहित क्रमशः, अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामा और कनिष्ठाङ्गुलि न्यास करते हैं, अर्थात् क्लीं कृष्णाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, गोविन्दाय तर्जनीभ्यां स्वाहा, गोपीजनाय मध्यमाभ्यां वषट्, वल्ल-

* प्रयोग-यथा-क्लींकृष्णाय क्लींह्रां द्रावणाय क्लीं शोषणाङ्गायनमः। क्लीं गोविन्दाय ह्रीं क्षों क्षोभणायनमः। ह्रीं मोहनमादनायनमः। ह्रीं गोपीजनाय ह्रीं आं आकर्षण वाणाय क्लीं सन्दीपन मदनातुरायनमः। ह्रीं स्वाहा ह्रीं स्रां स्रावणायनमः। ह्रींमादन मकरध्वजायनमः।

पुनश्च हृदयादीनि तथांगुष्ठादिकानि च ।
न्यस्यन्ति युगपत् सर्वाण्यङ्गैस्तैः पञ्चभिः क्रमात् ॥ ८८ ॥
न्यस्यन्ति च षडङ्गानि हृदयादीनि तन्मनोः ।
हृदयादिषु चैतेषां पञ्चैकं दिक्षुच क्रमाव ॥ ८९ ॥

षडंगानि चोक्तानि सम्मोहनतन्त्रे सनत्कुमार कल्पे।—

वर्णेनैकेन हृदयं त्रिभिरेव शिरोमतम् ।
चतुर्भिश्च शिखा प्रोक्ता तथैव कवचं मतं ॥
नेत्रं तथाचतुर्वर्णैरस्त्रं द्वाभ्यां तथा मतं ॥ इति ॥ ९० ॥
ततश्चापादमाकेशान्न्यस्येद्दोर्भ्यामिमंमनुं ।
वारांस्त्रीन् व्यापकत्वेन न्यसेच्च प्रणवं सकृत् ॥ ९१ ॥

अथाक्षरन्यासः ।

ततोऽष्टादशवर्णांश्च मन्त्रस्यास्य यथाक्रमम् ।
दन्ते ललाटे भ्रूमध्ये कर्णयोर्नेत्रयोर्द्वयोः ॥
नासयोर्वदने कण्ठे हृदि नाभौ कटिद्वये ।
गुह्ये जानुद्वये चैकं न्यस्येदेकञ्च पादयोः ॥ ९२ ॥

भाषा टीका ।

भाय अनामिकाभ्यां हुं, स्वाहा अस्त्राय कनिष्ठाभ्यां फट् इस प्रकार न्यास करे ॥ ८७ ॥

फिर हृदयादि और अंगुष्ठादि इस पंचाङ्ग के सहित क्रमशः न्यास करै अर्थात् क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । गोविन्दाय शिरसे स्वाहा तर्जनीभ्यां स्वाहा इत्यादि प्रकार से न्यास करै ॥ ८८ ॥

कोई कोई पुरुष इस मंत्र का षड़ंग न्यास भी करते हैं। उक्त षड़ङ्ग में हृदादि पंचाङ्ग यथा क्रम से हस्तादि पांच स्थानों में न्यास करते हैं और शेष एकांग सब और में न्यास करते हैं अर्थात् पूर्व कथित हृदय, मस्तक, शिखा कवच और नेत्र यह पंचाग अपने पांच अंग में न्यास करे, कवच पहिले की समान सब अंगों में न्यास करना चाहिये। अस्त्र का न्यास भी सब अंगों में करै ॥ ८९ ॥

सम्मोहन तंत्र के सनत्कुमार कल्प में षड़ंग विषय में लिखा है कि—एक वर्ण में हृदय, तीन वर्ण में शिर, चार वर्ण में शिखा, चार वर्ण में कवच, चार वर्ण में नेत्र, और दो वर्ण में अस्त्र की कलपना करै ॥ ९० ॥

फिर दोनों हाथों में वेष्टन करण (संपुटित रीति) भाव से यह अष्टादशार्ण मंत्र चरण से मस्तक तक समस्त अंगों के चारों ओर तीन वार न्यास करे। इसी भाव से एकवार ओंकार का न्यास करना चाहिये ॥ ९१ ॥

अक्षर न्यास । अंगन्यास समापन करने के पीछे उक्त मंत्र के अष्टादशाक्षर क्रमसे दशन में, भाल में, भौंओं के बीच में, दोनों कानों में, दोनों नेत्रों में, नासिका के दोनों छिद्र में, वदन में, कंठ में, हृदय में, नाभि में, कटि में, गण्डस्थल में, और दोनों जानु में, एक एक न्यास करे (दोनों कानों में दो वर्ण—नासिकाके दोना छिद्रों में दो वर्ण और, दोनों कटि में दो वर्ण न्यास करने चाहिये ।) ॥ ९२ ॥

सन्तो न्यस्यन्ति तारादि नमोऽन्तांस्तान् सविन्दुकान्।
श्रीशक्तिकामवीजैश्च सृष्टयादिक्रमतोऽपरे ॥ ९३ ॥

अथ पदन्यासः।

तारं शिरसि विन्यस्य पंचमन्त्रपदानि च।
न्यस्येन्नेत्रद्वये वक्त्रे हृद्गुह्यांघ्रिषु च क्रमात् ॥
देहे च व्यापकत्वेन न्यस्येत्तान्यखिले पुनः।
केचित्तानि नमोऽन्तानि न्यस्यन्त्याद्याक्षरैः सह ॥ ९४ ॥
स्वाहान्तानि तथा त्रीणि संमिश्राण्युत्तरोत्तरैः।
गुह्याद्गलान्मस्तकाच्च व्यापय्य चरणा वधि ॥ ९५ ॥
न्यासोऽत्र ज्ञाननिष्ठानां गुह्यादि विषयस्तु यः।
स्वस्ववर्ण तनोः कार्य्यस्तत्त द्वर्णेषुवैष्णवैः ॥ ९६ ॥

अथ ऋष्यादिन्यासः।

ऋष्यादीन् सप्तभागां श्च न्यसेदस्य मनोःक्रमात्।
मूर्द्धास्य हृत्सु कुचयोः पुनर्हृदि पुनर्हृदि ॥ ९७ ॥

भाषा टीका।

साधुगण इन सब वर्णों के पहिले ओंकार और अंग में नमः शब्द जोड़कर और प्रत्येक को विन्दु समन्वित करके प्रयोग करते हैं अर्थात् "ओंम् क्लीं नमः कंनमः" इत्यादि प्रकार से न्यास करते हैं। कोई कोई पुरुष इस प्रकार से न्यास करके श्रीवीज—शक्तिवीज और काम वीज सहित सृष्टयादि के क्रम से न्यास करते हैं (अर्थात् सृष्टि—स्थिति और संहार के क्रम से न्यास करते हैं। उसमें सृष्टि मस्तकादि क्रम—स्थिति हृदयादि कंठान्त क्रम और संहार सृष्टि विपर्यय अर्थात पादादि क्रम है) ॥ ९३ ॥

पदन्यास।—पहिले अपने मस्तक में ओंकार का—न्यास करके मंत्र के पांच पद क्रमशः दोनों नेत्र में गुह्य में और दोनों चरणों में न्यास करे। फिर वेष्टन करण भाव से (लपेट की भांति) सब देह में यह पंचपद पुनर्वार न्यास करे। कोई कोई व्यक्ति नमः शद्बान्त करके आद्यवर्ण के सहित यह समस्त न्यास करने की विधि देते हैं। अर्थात् क्लीं क्लीं नमः क्लीं कृष्णायनमः गों गोविन्दायनमः, गोपीजन वल्लभायनमः, स्वां स्वाहानमः, इत्यादि प्रकार से प्रयोग करे ॥ ९४ ॥

और कोई पुरुष पूर्ववत् प्रकार से स्वाहा शब्दान्त करके और पूर्व पूर्व के संग पर पर संयुक्त कर क्रमानुसार तीन पद करते हैं; गल प्रदेश में मस्तक से लेकर चरण तक न्यास करते हैं अर्थात क्लीं कृष्णाय स्वाहा क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय स्वाहा, क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा, इस प्रकार से प्रयोग करते हैं ॥ ९५ ॥

इस न्यास प्रकरण में अपने गुह्यादि स्थल में जो न्यास का विषय कहा गया, ज्ञान निष्ट (भेद ज्ञान रहित) पुरुष ही इस प्रकार से न्यास करें अर्थात अपने गुह्यादि स्थानों में अनुरुद्ध इत्यादि के न्यास करन में उनको वाधा नहीं है। विष्णु के भक्त गण विशेष विशेष वर्णोत्पन्न देह का (भूत शुद्धि से देह को भस्मसात करने पर वर्ण मयी सुधाधारा द्वारा मातृका वर्णमय जो देह उत्पन्न हुआ है उस देह का) विशेष वर्ण में न्यास

अथ मुद्रा पंचकम् ॥

वेण्वाख्यां वनमालाख्यां मुद्रां सन्दर्शयेत्ततः।
श्रीवत्साख्यां कौस्तुभाख्यां विल्वाख्याञ्च मनोरमां ॥ ९८ ॥

इत्थं न्यस्त शरीरःसन्कृत्वा दिग्वन्धनं पुनः।
करकच्छापिकां कृत्वाध्यायेच्छ्री नन्दनन्दनम् ॥ ९९ ॥

अथ श्रीनन्दनन्दन भगवद्ध्यान विधिः।

अथ प्रकट सौरभोद्गलित माध्विकोत फुल्लसत्–
प्रसून नवपल्लव प्रकरनम्र शाखैर्द्रुमैः।
प्रफुल्ल नवमञ्जरी ललित वल्लरी वेष्टितैः
स्मरेच्छिशिरितं शिवं सितमतिस्तु वृन्दावनं ॥ १०० ॥

विकासि सुमनो रसा स्वादन मञ्जुलः सञ्चर–
च्छिली मुख मुखोद्गतैर्मुखरितान्तरं झङ्कृतैः।
कपोत शुक शारिकापरभृतादिभिः पत्रिभि-
र्विराणितमितस्ततो भुजग शत्रु नृत्याकुलं ॥ १०१ ॥

भाषा टीका।

करें–अतएव चरण मूल में मुकुन्द का न्यास और गुह्य प्रदेश में अनिरुद्ध का न्यास कहा गया है। इस के सम्पादन करने में वैष्णव पुरुषों को आपत्ति वा आशंका का कोई कारण नहीं है ॥ ९६ ॥

ऋष्यादि न्यास। फिर इस अष्टादशार्ण मंत्र के ऋष्यादि सात भाग में विभक्त कर क्रमशः मस्तक मुख–हृदय–दोनों स्तन और पुनर्वार दो वार फिर हृदय में न्यास करे, अर्थात मस्तक में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, दोनों स्तन में वीज, और शक्ति एवं हृदय में प्रकृति, और अधिष्टात्री का न्यास करे ॥ ९७ ॥ *

* इस का तात्पर्य यह है कि—पहिले कहा गया है अंत में नमः शब्द जोड़ और चतुर्थी विभक्ति युक्त कर के प्रयोग करना चाहिये। उक्त विधि यहां भी ग्रहण करे। सुतरां प्रयोग यथा–अष्टादशाक्षर "श्रीगोपाल मंत्रस्य नारदाय ऋषये नमः गायत्रै छन्दसे नमः। सकल लोक मङ्गल श्रीमन्नन्द तनयाय देवतायै नमः। इत्यादि" ॥

पंच मुद्रा—फिर वेणु–वनमाला–श्रीवत्स–कौस्तुभ और विल्व यह मनोहर पांच मुद्रा दिखानी चाहिये ॥ ९८ ॥

इस प्रकार देह में न्यास कर पुनर्वार "ओम् नमः सुदर्शनाय अस्त्रायफट्" इस मंत्र से दिग्वन्धन करे। फिर करकच्छापिका मुद्रा वना कर श्रीनन्दनन्दन का ध्यान करना चाहिये ॥ ९९ ॥

श्रीनन्दनन्दन भगवान् के ध्यान की विधि।—इसके पीछे विशुद्ध चित्त से श्रीवृंदावन के चिंता करे। श्री वृंदावन में कल्याण दायक अनेक प्रकार के वृक्षराजि विद्यमान होने से यह पवित्र स्थान अत्यंत शीतल हुआ है। इन सव वृक्षों की शाखा उद्दाम सौरभ से परि पूर्ण–मधुस्रावी और विकसित अति उत्तम पुष्प और नव किसलय के भार से झुकी हुई हैं, विकसित नव मंजरी द्वारा मनोहर लताएं उनको घेर कर विराजित हैं ॥ १०० ॥

अलिकुल (भौंरों के झुंड) खिलते हुए कुसुम का रस चाख कर चारों ओर विचरण करते हैं–इस चाखने

कलिन्द दुहितुश्चलल्लहरि विप्रुषां वाहिभि-
र्विनिद्र सरसी रुहोदर रजश्चयोद्धु सरैः।
प्रदीपित मनोभव व्रज विलासिनी वाससां
विलोलन विहारिभिः सततसेवितं मारुतैः ॥ ११२ ॥
प्रवाल नव पल्लवं मरकतच्छदं वज्रमौ
क्तिक प्रकर कोरकं कमल राग नाना फलम् ।
स्थविष्ठ मखिलर्त्तुभिः सतत सेवितं कामदं
तदन्तरापि कल्पकांघ्रिपमुदञ्चितं चिन्तयेत् ॥ १०३ ॥
सुहेमशिखरावले रुदित भानुवद्भास्वरा-
मधोऽस्यकनकस्थलीममृतशीकरा सारिणः ।
प्रदीप्त मणि कुट्टिमां कुसुमरेणु पुञ्जोज्ज्वलां
स्मरेत् पुनरतन्द्रितो विगत षट् तरङ्गां बुधः ॥ १०४ ॥
तद्रत्न कुट्टिमनिविष्टमहिष्ठ योग-
पीठेऽष्टपत्र मरुणं कमलं विचिन्त्य ।
उद्यद्विरोचन सरोचिरमुष्य मध्ये
सञ्चिन्तयेत् सुखनिविष्ट मथो मुकुन्दं ॥ १०५ ॥

भाषा टीका ।

के समय में मुखकी झनकार से वृंदावन के भीतरी स्थान परिपूरित होते हैं। वहां परावत, शुक, सारिका और कोकिला सदा कलरव करती हैं, और मोर चारों ओर नाचते फिरते हैं ॥ १०१ ॥

इस वृंदावन में कालिंदी प्रवाह का जल कणवाही खिले हुए कमल के पराग द्वारा धूसरीकृत और उत्तेजित काम भावापन्न गोपस्त्रियों के वस्त्रोंको कम्पित करने वाला मृदुमन्दसमीरण सदा प्रवाहित होता रहता है ॥ १०२ ॥

इस वृंदावन में कल्पतरु की चिंता करे। प्रवाल (मूंगे) इस तरु का नव किसलय (कोमलपत्र) नील-कान्तमणि उसका पत्र हीरे और मोती उस की कलियें और पद्मराग नामक मणि इस तरु के नाना रूप फल हैं। यह वृक्ष बहुत ऊंचा और स्थूल है—वह अभिलषित फल देने वाला है—सदा सर्व ऋतु उसकी आराधना करती हैं अर्थात् सदा सवही ऋतुओं के पुष्प वहां बराबर खिलते रहते हैं ॥ १०३ ॥

इसके पीछे बुद्धिमान् पुरुष आलस्य छोड़कर सुधा वर्षण कारी इस कल्प पादप के तले रत्नमयी भूमि की चिंता करे। अति उत्तम काञ्चन मय शृंगश्रेणी के समीप उदय होने पर जिस प्रकार सूर्य की आभा होती है इस भूमि की आभा भी उसी प्रकार है। वहां मणि विरचित कुट्टिम (चबूतरी) शोभापाती है। पुष्पराजि के पराग गिरने से यह भूमि समुज्ज्वल होरही है। यहां संसार समुद्र की छै तरंग दिखाई नहीं देतीं ॥ १०४ ॥ ×

फिर उस रत्न कुट्टिमा (चौंतरिया) में स्थित एक श्रेष्ठ योगासन में लोहित वर्ण अष्टदल कमल की चिन्ता करे। तदनन्तर भावना करे कि उस के

× संसार सागर की छै तरंग ।—यथा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, और पिपासा ।

सुत्रामरत्न दलिताञ्जनमेघ पुञ्ज-
प्रत्यग्रनील जलजन्म समानभासं।
सुस्निग्धनीलघन कुञ्चितकेशजालं
राजन्मनोज्ञशितिकण्ठशिखण्डचूड़ं ॥ १०६ ॥
रोलम्ब ललित सुरद्रुप्रसून कल्पि-
तोत्तंसमुत्कच नवोत्पलकर्णपूरं।
लोलालकस्फुरित भाल तल प्रदीप्त
गोरोचना तिलक मुच्चलचिल्लिमालं ॥ १०७ ॥
आपूर्ण शारदगताङ्क शशाङ्क विम्व
कान्ताननं कमल पत्र विशाल नेत्र।
रत्नस्फुरन्मकर कुण्डलरश्मि दीप्त
गण्डस्थली-मुकुर मुन्नतचारुनासं ॥ १०८ ॥
सिन्दूर सुन्दरतराधर मिन्दुकुन्द
मन्दार मन्द-हसितद्युति दीपिताशं।
वन्य प्रवालकुसुम प्रचयावक्लृप्त
ग्रैवेयकोज्ज्वलमनोहरकम्बुकण्ठं ॥ १०९ ॥
मत्तभ्रमद्भ्रमरजुष्ट विलम्वमान
सन्तानक प्रसव-दामपरिष्कृतांसं।
हारावलीभगण राजितपीवरोरो
व्योमस्थलीललितकौस्तुभ भानुमन्तं ॥ ११० ॥

भाषा टीका।

बीच में उदय होते हुए सूर्य की समान दीप्तिमान् श्रीकृष्ण मुख से विराजित हैं ॥ १०५ ॥

उनकी कान्ति नीलकान्तमणि, घुटे हुए अंजन, मेघपटल और नवीन नीलकमल की समान है एवं उन के केश पाश गाढ़ कृष्ण वर्ण घन और आकुञ्चित (घूंघर वाले) हैं उन की चूड़ा के ऊपरी भाग में मयूरपंख विराजमान रहता है ॥ १०६ ॥

वे भौंरों से सेवित कल्प पादप-कुसुम रचित गहनों से विभूषित हैं विकसित नवीन पल्लव उनके कर्ण-पूर (करन फूल) हैं-चपलअलकावली विराजित उनके भाल देश में गोरोचन निर्मित तिलक शोभा पाता है-उनकी भ्रूलता युगल मानों नृत्य करती हैं॥१०७॥

उनका वदन मण्डल पूर्ण निष्कलंक शरद के चंद्रमा की समान मनोहर है। दोनों नेत्र कमल के पत्तों की सदृश विशाल हैं। उनका दर्पण वत विमलगण्ड-स्थल मणि मय मकर कुण्डलों से समुद्भासित है, नासापुटउन्नत और मनोहर है ॥ १०८ ॥

अधर पुट सिन्दूर की अपेक्षा भी सुंदर हैं सर्वांग चंद्र, कुंद, कुसुम और मंदार पुष्प की समान शुभ्र है वे मृदु हास्य से समुज्ज्वल हैं, नव किसलय और कुसुम द्वारा विराजित कंठ-भूषण से उनका कंठ प्रदेश सुशोभित है ॥ १०९ ॥

दोनों स्कन्ध चपल और मत्त अलिकुल विराजित

श्रीवत्स लक्षण सुलाक्षित मुन्नतांस-
माजानुपीन परिवृत्त सुजात वाहुं ।
आवन्धुरोदर मुदारगभीर नाभिं
भृङ्गाङ्गनानिकरवञ्जुलरोमराजिं ॥ १११ ॥
नानामणि प्रघटिताङ्गदकङ्कणोर्म्मि
ग्रैवेयसा रसननूपुरतुन्दवन्धं ।
दिव्याङ्गराग परिपिञ्जरिताङ्गयष्टि-
मापोतवस्त्र परिवीत नितम्वविम्वं ॥ ११२ ॥
चारूरुजानु मनुवृत्तमनोज्ञ जंघं
कान्तोन्नत प्रपदनिन्दित कूर्म्मकान्ति ।
माणिक्य दर्पणलसन्नख राजिराज-
द्रत्नांगुलिच्छदन सुन्दर पादपद्मं ॥ ११३ ॥
मत्स्यांङ्कुशारदरकेतुयवाब्जवज्र
संलक्षितारुण करांघ्रि तलाभिरामं ।
लावण्यसार समुदाय विनिर्म्मिताङ्ग
सौन्दर्य्य-निर्जित मनोभव देहकान्ति ॥ ११४ ॥
आस्यारविन्द परिपूरितवेणुरंध्र
लोलत्-करांगुलि समीरित दिव्यरागैः ।

भाषा टीका ।

लम्वायमान कल्प पुष्प की माला से अलंकृत हैं। हारा वलीरूप तारकामण्डली में विराजित तदीय वक्षः-स्थलरूप गगन मण्डल में मनोहर कौस्तुभ रूप भास्कर प्रकाशित होता है ॥ ११० ॥

वे श्रीवत्स चिह्न से लक्षित हैं ऊंचे कंध जांवों तक लम्वी गोलवाहु तथावे वाहु पुष्ट और सुंदर हैं उनका जठर देश कुछेक ऊंचा नीचा, नाभि प्रशस्त और गहरी तथा रोमराजि अलिपंक्तिवत सुदृश्य है ॥ १११ ॥

उन के अंग में जो अंगद, वाजू कंकण, कवच, रसना-नूपुर (पाजेव) और कमर वाधने के लिये जो सुवर्ण रचित डोर है वह अनेक प्रकार की मणियों से वनी है। उन का कलेवर दिव्य अंगराग से नानारूप वर्ण विशिष्ट और नितम्व देश पीत वस्त्र से परिवेष्टित है॥ ११२॥

उनका ऊरूदेश और जानु मनोहर-है जंघासम्यक् सुडौल मनोहर उन्नत चरणाग्र देश कूर्माकृति की अपेक्षा भी अति ऊत्तम है नखपंक्ति माणिक्य खचित दर्पण से भी अधिक शोभायुक्त है । ऊस समस्त नख-पंक्ति द्वारा विराजित रत्नाङ्गुलिस्वरूप पत्र समूह में ऊनके दोनो चरण कमलों ने परम शोभा धारण की है ॥ ११३ ॥

लाल लाल पैर के तलुओं में मीन, अंकुश, चक्र, ध्वज, यव, पद्म, और वज्र का चिह्न वियमान् होने से वह अति मनोहर दृश्य हुआ है ऊनके शरीर की कान्ति-लावण्य-सार से गठित हैं-अंगों के सौन्दर्य द्वारा कामदेव के शरीर की कान्ति कोभी पराजित किया है ॥ ११४ ॥

इसके पीछे सुख समुद्र रूप उन कृष्ण ने वदन कमल द्वारा परिपूर्ण वंशी के छिद्रों में हाथ की अंगु-

शश्वद्द्रवीकृत विकृष्ट समस्तजन्तु
सन्तानसन्तति मनन्त सुखाम्बुराशिं ॥ ११५ ॥
गोभिर्मुखाम्बुज विलीन विलोचनाभि
रूधो-भरस्खलित मन्थरमन्दगाभिः ।
दन्ताग्र दष्ट परिशिष्ट तृणांकुराभि
रालम्बिंवालधिलताभिरथाभि वीतं ॥ ११६ ॥
सप्रस्रवस्तन विभूषण पूर्ण निश्च-
लास्या वटक्षरितफेनिल दुग्ध मुग्धैः ।
वेणु प्रवर्त्तित मनोहर मन्त्र गीत
दत्तोच्च कर्णयुगलैरपि तर्णकैश्च ॥ ११७ ॥
प्रत्यग्रशृङ्ग मृदु मस्तक संप्रहार
संरम्भवल्गनविलोल खुराग्रपातैः ।
आमेदुरैर्बहुलसास्न गलैरुदग्र
पुच्छैश्चवत्सतर वत्सतरी निकायैः ॥ ११८ ॥
हम्बारवक्षुभितद्दिग्वलयैर्महद्भि
रप्युक्षभिः पृथु ककुद्भरभार खिन्नैः ।
उत्तम्भितश्रुतिपुटी परिवीतवंश
ध्वानामृतोद्धत विकाशि विशालघोणैः ॥ ११९ ॥

भाषा टीका ।

लियों को परिचालन कर जो दिव्य राग गान किया है—उससे समस्त जंतु की संतान संतति (वंश समूह अर्थात् वंशज समस्त ही) द्रवीभूत और आकृष्ट हुई हैं इन के वोझ से समाक्रान्त गायों ने मंद मंद स्खलित गति से अनाकर उनको घेर रक्खा है ॥ ११५ ॥

इन सब गायों के नेत्र उनके वदन कमल में लीन होरहे हैं—उन्होंने जो तृणाङ्कुर भोजन किया था—उस का शेष भाग उनके दातों के अग्र देश में ही लग रहा है, उनकी पूछें भी विलक्षण लम्वायमान हैं ॥११६॥

नव प्रसूत वछड़े आनकर घेरते हैं—वे वछडे सुंदर रूप से दांतों और होठों से खेंचकर जो स्तनों का दूध पीते हैं, उस दूध से परिपूरित होकर उनका मुख रन्ध्र अचल होगया है—इससे वे परम मनोहर दिखाई, देते हैं वंशी से जो अत्यन्त गंभीर संगीत निकलता है—कानों को ऊंचा करके एकाग्र चित्त से वे उसको सुनते हैं ॥ ११७ ॥

अत्यन्त चिकने वर्ण से चित्रित हृष्ट पुष्ट वछडे और वछियें आनकर उनके चारों ओर इकठे होते हैं—उनके गले में स्थूल गल कम्बल विराजित और उनकी पूंछें ऊंची उठी हुई हैं उनके शिर में छोटे छोटे सींग निकल रहे हैं, वे जब आते हैं, तब उसी प्रकार शिरके द्वारा आपस में एक दूसरे को प्रहार करते हैं, और इसी कार्य में निविष्ट रहने से चपल हो कर विचालितभाव से चारों ओर खुर चलाते हैं ॥११८॥

क्रम स्थूलककुदभार से समाक्रान्त वड़े बड़े वृष [वल] 'हम्वा' शब्द से दिशाओं को शब्दायमान करते हुए अलस गति से उपस्थित हो उनको घेरते

गोपैः समान गुणशील वयो विलास वेशैश्च मूर्च्छित कलस्वर वेणुवीणैः ।
मन्द्रोच्च तालपटु गानपरै विलोल दोर्व्वल्लरी-ललितलास्य विधानदक्षैः ॥ १२० ॥
जङ्घान्तपीवर कटीरतटीनिवद्धव्यालोलकिङ्किणिघटारटितैरटद्भिः ।
मुग्धैस्तरक्षुनखकल्पितकन्ठभूषै रव्यक्त-मञ्जुवचनैः पृथुकैः परीतं ॥ १२१ ॥
अथ सुललितगोपसुन्दरीणां पृथुनिविरीष-नितम्बमन्थराणां ।
गुरुकुचभर-भंगुरावलग्न त्रिवलिविजृम्भित रोमराजिभाजां ॥ १२२ ॥
तदति मधुरचारुवेणु वाद्या-मृत रस पल्लविताङ्गजांघ्रिपाणां ।
मुकुल विसररम्य रुढरोमो-द्गमसमलंकृत-गात्रवल्लरीणां ॥ १२३ ॥
तदति रुचिर मन्दहास चन्द्रा तप परिजृम्भित-रागवारिराशेः ।
तरल तर तरङ्ग भङ्ग विप्रुट् प्रकरसमश्रमविन्दुसन्ततानां ॥ १२४ ॥
तदति ललित मन्द चिल्लिचाप च्युतनिशितेक्षण मारवाण वृष्ट्या ।
दलितसकलमर्म्मविह्वलाङ्ग प्रविसृतदुःसहवेपथुव्यथानां ॥ १२५ ॥

भाषा टीका ।

हैं ऊंचे कानों में प्रवेशित वंशी की ध्वनिरूप सुधारस से इन सब वृषभों के नाक के छेद फैले हुए और ऊंचे २ हो उठे हैं ॥ ११९ ॥

गोपगण आनकर उनके चारों ओर इकट्ठे होते हैं उनके दयादि गुण जगदानंदतादि, चरित्र अवस्था, विलास और वेश उन्हीं की सदृश है—वे नाद मिलाकर मधुर कलनाद से वेणु और वीणा बजाने में निरत हैं एक चित्त से तान सहित सुस्पष्ट संगीत करते हैं और मनोहर भाव से भुजलता को लम्बायमान कर के भलीभांति नृत्य करते हैं ॥ १२० ॥

अव्यक्त वाक् (जो स्पष्ट समझ में न आवे-ऐसी वार्ता बोलने वाले) वालकभी उनको घेरे रहते हैं-उनकी जंघा के पीछे और पुष्टकमर में बँधी हुई चंचल किङ्किणि से शब्द निकलता है, उन के गले में व्याघ्र के नख का अळंकार विराजित और उनकी वचनावली अर्द्धपरिस्फुट [आधी आधी स्पष्ट] और अत्यन्त मधुर है ॥ १२१ ॥

चित्त विनोदिनी-गोप-स्त्रियें चारों-ओर घेर कर एकाग्र चित्त से ऊनकी शुश्रूषा में नियुक्त रहती हैं, स्थूलमांसल नितम्ब के भार से और ऊनके भारी कुच भरे आनत कटि प्रदेश [वल खाने वाली कमर] की त्रिवली में रोमपंक्ति विराजमान रहती है ॥ १२२ ॥

कृष्ण के चित्तहारी वेणु निनादन रूप सुधारस से ऊनका कामतरुपल्लवित हुआ है और ऊनकी अंगलतिका कुट्मल की सदृश लोमोद्गम से अलंकृत हुई है ॥ १२३ ॥

ऊस नंद सुत के विराजमान हास्यरूपीचंद्र की किरणों से इन सब गोपिकाओं का प्रेम सागर ऊफन ऊठा है ऊनके अंग में श्रमजनित पसीना की बूंदें लगी होने के कारण अनुमान होता है-कि वे अनुराग समुद्र की तरल तरंग की जल कण हैं ॥ १२४ ॥

श्रीकृष्ण के अत्यन्त मनोहर फैले हुए भ्रूरूपी धनुष से जिन कटाक्षरूपी वाणों की वर्षा होती है, ऊनसे इन सब गोपिकाओं के मर्म स्थान विद्ध होते हैं-सुतरां अवशांग होने के कारण सर्वांग में असह्य काम यंत्रणा ऊदय होती है ॥ १२५ ॥

तदति सुभगकम्ररूपशोभा ऽमृत रसपान विधान-लालसाभ्यां ।
प्रणय सलिल पूरवाहिनीना-मलसविलोलविलोचनाम्बुजाभ्यां ॥ १२६ ॥
विस्रंसत् कवरी कलापविगलत्फुल्लप्रसूनस्रव-
न्माध्वीलम्पटचञ्चरीक-घटया संसेवितानां मुहुः ।
मारोन्मादमदस्खलन्मृदुगिरामालोलकांच्युच्छ्वस-
न्नीवीविश्लथमानचीनसिचयान्ताविर्नितम्बत्विषां ॥ १२७ ॥
स्खलितललितपादाम्भोजमन्दाभिघात-
क्वणितमणितुलाकोटयाकुलाशामुखानां ।
चलदधरदलानांकुट्मलत्पक्ष्मलाक्षि-
द्वयसरसिरुहाणामुल्लसत्कुण्डलानां ॥ १२८ ॥
द्राघिष्ठश्वसनसमीरणाभितापप्रम्लानीभवदरुणोष्ठपल्लवानां ।
नानोपायनविलसत्कराम्बुजानामालीभिः सततनिषेवितं समन्तात्॥१२९॥
तासामायतलोलनीलनयनव्याकोषनीलाम्बुज-
स्रग्भिःसम्परिपूजिताखिलतनुं नानाविनोदास्पदं ।
तन्मुग्धाननपङ्कजप्रविगलन्माध्वीरसास्वादिनीं -
बिभ्राणं प्रणयोन्मदाक्षिमधुकृन्मालां मनोहारिणीं ॥ १३० ॥
गोपी गोप-पशूनां वहिः-स्मरेदग्रतोऽस्य गीर्व्वाणघटां ।

भाषा टीका ।

इन सब गोपिकाओं के अलस और चपल नेत्र श्रीकृष्ण के अत्यन्त शोभनीय द्रव्य से भी सुसोभन रूप सुधारस पीने के लिये व्याकुल हैं-उन्होंने ऐसे नेत्रों में प्रेम जल धारण किया है ॥ १२६ ॥

उनकी कवरी-बंधन ढीली हुइ जाती है, उस कवरी से विकासित पुष्प गिरते हैं, उन सब पुष्पों से जो मकरन्द (पराग) निकलता है भौंरे उसके पीने में लुब्ध होकर वारंवार उनको घेरते हैं। गोपिकाओं केकाञ्चीदाम [मेखला रूपी रज्जु] चपल होने से उनके वस्त्र की गांठ खुली जाती है-सुतरां नितम्ब की शोभा प्रगट होती है ॥१२७॥

वे चरण कमलों से पृथ्वी तल में स्खलित और मनोरम भाव से जो आघात करती हैं उस से मणि मय नूपुरों की (मनोहर) ध्वनि उठती है-उस ध्वनि से दिक् मण्डल व्याप्त होजाता है उन सब गोपिकाओं के होठ कंपित, नेत्र मुकुलित और सुंदर पक्ष्म (पलकों के चिन्हों) से विभूषित हैं उन्होने कानों में दीप्तिमान् कुण्डल पहर रक्खे हैं ॥ १२८ ॥

वे जो लम्बेश्वांस छोड़ती हैं-उस निश्वास की वायु के संताप से उनके अधर पल्लवों ने म्लानभाव धारण किया है; उन्होंने हस्त कमल में अनेक प्रकार के उपहार द्रव्य धारण कर रक्खे हैं ॥ १२९ ॥

उन के खिले हुए नील कमल के समान विस्फारित चपल नत्रों की छटा से व्रजराज—सुतका सर्वाङ्ग विशेष अलंकृत हुआ है-वे गोपीश्वर (नाना रूप आमोद के आधार स्वरूप हैं। उनके नेत्र भ्रमर प्रेम के मद में उन्मत्त हैं-वे नेत्र रूपी भौंरे गोपवालाओं के सलज्ज वदन कमल से टपकती हुई मधुधारा पीने में निरत रहते हैं, श्रीकृष्ण ऐसे भौंरों का चित्त हरने वाली माला धारण करके परम शोभा पाते हैं ॥ १३० ॥

फिर चिन्ता करे कि अर्थ की अभिलाषा करने वाले देवता-ब्रह्मा, रुद्र और इन्द्र को आगे करके गोप-

वित्तार्थिनीं विरिञ्चित्रिनयन शतमन्युपूर्विकां स्तोत्रपरां ॥ १३१ ॥
तद्दक्षिणतो मुनिनिकरं दृढधर्म्मं वाञ्छमाम्नायपरं ।
योगीन्द्रानथ पृष्ठे मुमुक्षमाणान् समाधिनासनकाद्यान् ॥ १३२ ॥
सव्ये सकान्ता नथयक्षसिद्ध गन्धर्व्वविद्याधर चारणांश्च ।
साकिन्नरानप्सरसश्च मुख्याः कामार्थिनो नर्त्तनगीतवाद्यैः ॥ १३३ ॥
शंखेन्दु कुन्दधवलं सकलागमज्ञं सौदामिनी-ततिपिषंग जटाकलापं ।
तत पादपङ्कजगता मचलाञ्च भक्तिं वाञ्छन्तमुज्झिततरान्य समस्तसंगं ॥ १३४ ॥
नाना विध श्रुतिगणान्वित-सप्तराग ग्रामत्रयीगत-मनोहर-मूर्च्छनाभिः।
संप्रीणयन्त मुदिताभिरमुं महत्या सञ्चिन्तयेन्नभसि धातृसुतं मुनीन्द्रं ॥ १३५ ॥

श्रीगौतमीयतन्त्रे।—

अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि सर्व्वपाप प्रणाशनं ।
पीताम्वरधरं कृष्णं पुण्डरीकनिभेक्षणं ॥
रक्तनेत्राधरं रक्तपाणिपादनखं शुभं ।
कौस्तुभोद्भासितोरस्कं नानारत्नविभूषितं ॥
तद्धामविलसन्मुक्तावद्धहारोपशोभितं ।
नानारत्नप्रभोद्भासिमुकुटं दिव्यतेजसं ॥

भाषा टीका।

गोपिका और गायों की सीमा के वहिर्भाग में इन्हीं श्रीकृष्ण के सन्मुख उनके स्तुति वाद में निरत रहते हैं ॥ १३१ ॥

धर्म के प्रति जिनकी दृढ लालसा और जो वेद परायण हैं—ऐसे मुनिगण कृष्ण के दक्षिण पार्श्व में स्थिति करते हैं-समाधि द्वारा मोक्ष की इच्छा करने वाले सनक-सनन्दादि योगीन्द्रगण पछिकी ओरं अवस्थित हैं ॥ १३२ ॥

वाँई ओर अपनी अपनी भार्या के सहित यक्ष, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, एवं चारणगण तथा किन्नरगण और प्रधान प्रधान अप्सरायें नृत्य गीत और वजाने आदि की (अभिलषित) प्रार्थना करती हैं ॥ १३३ ॥

फिर आकाश मार्ग में ब्रह्म-पुत्र, तापस-प्रवर श्रीनारदजी की चिन्ता करनी चाहिये । उनका वर्ण शंख चंद्रमा और कुन्दपुष्पके समान श्वेत है, वे सव शास्त्रों के जानने वाले हैं, ऊनका जटाभार तड़ित-माला (विजली की रेखा) के समान पिंगल वर्ण है। वे समान भाव से केवलमात्र श्रीकृष्ण के चरण कमलों में अटल भक्ति की प्रार्थना करते हैं, अन्यान्य विषयों में ऊनकी कुछ भी प्रीति नहीं है ॥ १३४ ॥

इस कारण वे अपनी महती नामवाली वीणाका रव (शब्द) सातस्वर और तीन ग्राम जनित समस्त मूर्च्छना प्रकट कर हरिको प्रसन्न करने में निरत रहते हैं ॥ १३५ ॥

गौतमीय तंत्र में लिखा है। यथा—इस के पीछे ध्यान कहूंगा । यह ध्यान सव पापों को दूर करता है। दिन रात श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिये । वे पीतवासा (अर्थात पीले वस्त्र धारण किये) और कृष्णवर्ण हैं । ऊनके नेत्र कमल के समान और लाल वर्ण हैं। ऊनके होंट, हथेली, पैरों के तलुए और नख सवही लोहित वर्ण हैं; वे कल्याणमय हैं। कौस्तुभकी दीप्ति से ऊनका हृदय प्रकाशित होता है-वे अनेक

हारकेयूरकटककुण्डलैः परिमण्डितं।
श्रीवत्सवक्षसं चारुनूपुराद्युपशोभितं॥
नानारत्न विचित्रैश्च कटिसूत्राङ्गुरीयकैः।
वर्हिपत्रकृतापीडं वन्यपुष्पैरलङ्कृतं॥
कदम्वकुसुमोद्भवनमाला विभूषितं।
सचन्द्रतारकानन्दिविमलाम्बरसन्निभं॥
वेणुंगृहीत्वा हस्ताभ्यां मुखे संयोज्य संस्थितं।
गायन्तं दिव्य गानैश्च गोष्ठमध्य गतं हरिं॥
स्वर्गादिव परिभ्रष्ट कन्यका शतवेष्टितं।
सर्व्व-लक्षण सम्पन्नं सौन्दर्य्येणाभि शोभितं॥
मोहनं सर्व्वगोपीनां सर्व्वासाञ्च गवामपि।
लेलिह्यमानं वत्सैश्च धेनुभिश्च समन्ततः॥
सिद्ध गन्धर्व्व यक्षैश्च अप्सरोभिर्विहङ्गमैः।
सुरासुर मनुष्यैश्च स्थावरैःपन्नगैरपि॥
मृगैर्विद्याधरैश्चैव वीक्ष्यमाणं सुविस्मितैः।
नारदेन वशिष्ठेन विश्वामित्रेण धीमता॥
पराशरेण व्यासेन भृगुणाङ्गिरसा तथा।
दक्षेण शौनकात्रिभ्यां सिद्धेन कापिलेन च॥
सनकाद्यैर्मुनीन्द्रैश्च ब्रह्मलोक गतै रपि।
अन्यै रपि च संयुक्तं कृष्णं ध्यायेदहर्न्निशं॥ १३६॥

भाषा टीका।

प्रकारकी मणियों द्वारा वने हारकी शोभा संपादन करते हैं-इस हार के अन्तर्गत मोतियों की पंक्ति कौस्तुभ की प्रभा से प्रकाशित होती हैं, ऊनका मुकुट अनेक मणियों की दीप्ति से दीप्तिमान् और दिव्य तेज सम्पन्न है। वे हार, केयूर (वाजू) कटक (खँडए) और,— कुण्डलों से अलंकृत हैं-ऊनके हृदय में श्रीवत्सका चिह्न और मनोहर नूपुरादि गहने ऊनकी शोभा सम्पादन करते हैं-वे अनेक जाती रत्नों द्वारा विविध प्रकार से चित्रित एवं कटिसूत्र (कौंधनी) और अङ्गुलीय के (अंगूठी) द्वारा विरचित हैं-वे मोरकी पुच्छ और अनेक वन्य कुसुमों से अलंकृत हुए हैं-कदम्व-पुष्पों से रची हुई वनमाला ऊनकी शोभा सम्पादन करती है; अतएव चंद्रमा और तारामण्डल द्वारा प्रीति दायक आकाश मार्ग के समान ऊनकी शोभा दिखाई देती है। वे दोनों हाथों में वीणा धारण करके मुख से संलग्न कर गोष्ठ के भीतर स्थित करते हैं और सुंदर संगीत में निरत रहते हैं। मानों स्वर्ग से गिरी शत शत वालाओंने आनकर ऊनको चारों ओर से घेर लिया है-वे सर्व सुलक्षणों से सुलक्षित और विविध सौन्दर्य से शोभायमान हैं वे सव गोपिका और गोपों का चित्त विनोदन (प्रसन्न) करते हैं-गाय ओर वछड़े ऊनको चारों ओर से घेर कर ऊनका अंग चाटते हैं। सिद्ध, गंधर्व, यक्ष, अप्सरा, विहग, देवता, दानव, स्थावर पन्नग, पशु और विद्याधर सभी आश्चर्य युक्त होकर दखते हैं। बुद्धिमान् नारद, वशिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर

संक्षेपेण श्रीसनत्कुमार कल्पेऽपि।—

अव्यान्मीलत्कलायद्युतिरहिरिपुपिच्छोल्लसत् केश जालो
गोपीनेत्रोतपलाराधितललितवपु र्गोपगोवृन्दवीतः ।
श्रीमद्वक्त्रारविन्द-प्रतिहसित-शशाङ्काकृतिःपीतवासा-
देवोऽसौ वेणु नादक्षपितजनधृतिर्देवकीनन्दनोन इति ॥ १३७ ॥
ध्यात्वैवं भगवन्तं तं सं प्रार्थ्य च यथा सुखं ।
आदौ संपूजयेत सर्वै रुपचारै श्च मानसैः ॥ १३८ ॥

अथान्तर्यागः ।

लब्ध्या ये वहिरर्च्चाया-मुपचारा विभागशः ।
ते सर्व्वेऽप्यन्तरर्च्चायां कल्पनीया यथा रुचि ॥ १३९ ॥

अथ प्रार्थना विधिः ।

श्री नारदपञ्चरात्रे।—

स्वागतं देव देवेश सन्निधौ भवकेशवः ।
गृहाण मानसीं पूजां यथार्थ परिभाविता ॥ इति ॥ १४० ॥
अथोपचारैर्वाह्यैश्च स्वात्मन्येव स्थितं प्रभुं ।
पूजयन् स्थापयेदादौ शंखं सत्सम्प्रदायतः ॥ १४१ ॥

भाषा टीका ।

व्यास, भृगु, अंगिरा, दक्ष, शौनक, अत्रि, सिद्धेश्वर कपिल ब्रह्मधाम में वास करने वाले सनकादि मुनीश्वर गण और अपरापर तापसगण उनको घेरकर अवस्थित हैं ॥ १३६ ॥

सनतकुमार कल्प में भी संक्षेप से लिखा है कि—देवकी सुत हमारी रक्षा करें। उनके अंग की कान्ति विकसित कलाय-कुसुम (मटरे के पुष्प) की समान श्यामल और केश पाश मोर की पुच्छ से सुशोभित हैं, गोपिकागण नेत्र कमल द्वारा उनके दिव्य देह की पूजा करतीं हैं, गोप और गौ गण उनको घेर रहे हैं, उनका मोहन मुख कमलहास्य की प्रभा से चंद्रमा के समान सुदृश्य हुआ है, वे पीतवासा और वेणु वजाने से सब का धैर्य हरण करते हैं ॥ १३७ ॥

इस प्रकार से भगवान् का ध्यान करके जिस प्रकार चित्त को संतोष हो-वैसी ही प्रार्थना करके प्रथम मानसोपचार से पूजा करे ॥ १३८ ॥

अन्तर्याग (मानस पूजा) वाह्य पूजा के समस्त द्रव्यों का विषय पीछे अलग अलग निरूपण करेंगे अपनी रुचि के अनुसार उन सब द्रव्यों का मानस: पूजा के अर्थ में भी व्यवहार करना चाहिये ॥ १३९ ॥

मानस पूजा में प्रार्थना का विधान । नारद पंच रात्र में लिखा है कि-हे केशव ! सुख से समागत हूजिये निकट आगमन कीजिये, मैं निष्कपट भाव से पूजाके लिये आया हूं। मेरी मानसी पूजा ग्रहण कीजिये ॥१४०॥ ×

फिर साधु संप्रदाय के आचारानुसार वाह्य पूजा के द्रव्यों से भी स्वीय देहस्थ कृष्ण की पूजा के लिये सब से पहिले शंख स्थापन करे ॥ १४१ ॥ *

× वाह्य उपचारों से स्वीय देहाभ्यन्तरस्थ श्रीकृष्ण की पूजा करना कृष्ण-भक्तिपरायण साधु पुरुषों का कर्त्तव्य है ।

* कोई २ भगवान् के संग अपना अभेद विचार कर अपने देह में ही वाह्य पूजा और अपने चरणादि में ही पुष्पाञ्जलि प्रदान करते हैं ।

अथ शंख प्रतिष्ठा।

स्वस्य वामाग्रतो भूमा-बुल्लिख्य त्र्यस्र मण्डलं।
तत्रास्त्र क्षालितं शंखं साधारं स्थापयेद्बुधः॥ १४२॥
शंखे हृदय मन्त्रेण गन्ध पुष्पा क्षतान् क्षिपेत्।
व्युतक्रान्तैर्मातृकार्णै स्तं शिरोन्तैः केन पूरयेत्॥ १४३॥
सविन्दुना मकारेण तदाधारेऽग्नि मण्डलं।
संपूजये-दकारेण शंखे चादित्य मण्डलं॥
उकारेण जले सोममण्डलञ्च तथार्च्चयेत्।
तीर्थ मन्त्रेण तीर्थान्या-वाहये-च्चार्क मण्डलात्॥
कृष्णञ्चा-वाह्य हृतपद्माद्गालिनीं शिखये क्षयेत्।
नेत्रमन्त्रेण वीक्ष्याम्भः कवचेनावगुण्ठयेत्॥
कुर्य्यान्न्यासंजले मूल-मन्त्राङ्गानां ततो दिशः।
वद्धास्त्रेणामृती कुर्यादथ तद्धेनु मुद्रया॥
आच्छाद्य संस्पृशन् शंखं जपेन्मूलं ततोऽष्टशः॥ १४४॥

भाषा टीका।

शंख प्रतिष्ठा।—बुद्धिमान् मनुष्य अपने सन्मुख वांई ओर त्रिकोण मण्डल अंकित कर साधार (त्रिपंदी अर्थात् तिपाई सहित) शंख को अस्त्रमंत्र (अस्त्राय फट्) द्वारा प्रक्षालन पूर्वक ऊक्त मण्डल पर रक्खे [ओम् आधार शक्तये नमः कहकर आधार में स्थापित करे]. फिर 'अस्त्राय फट्' द्वारा शंख को धोकर आधार में रक्खे॥१४२॥

फिर हृदय मंत्र "हृदयाय नमः" ऊच्चारण करके शंख में चन्दन के सहित पुष्प और दूर्वा प्रदान करे। शिरोमंत्र [शिर से स्वाहा] ऊच्चारण सहित प्रथमतः व्युत क्रम से (क्षकार से ककार और विसर्ग से अकार पर्यन्त) मातृका वर्ण ऊच्चारण करके ऊस जल से शंख को परिपूर्ण करना चाहिये॥ १४३॥ ×

अनुस्वार सहित मकार द्वारा उसी आधार में वह्निमण्डल की, अनुस्वार सहित अकार द्वारा शंख में आदित्यमण्डल की, और अनुस्वार सहित उकार द्वार जल में चंद्रमण्डल की पूजा करनी चाहिये। (मण्डल शब्द के अंत में दश कलात्मादि विशेषण युक्त करे अर्थात् "मं अग्निमण्डलाय दश कलात्मने नमः" "अं आदित्य मण्डलाय द्वादश कलात्मने नमः" "उं सोममण्डलाय-षोड़श कलात्मने नमः" इस प्रकार से प्रयोग करे।) फिर "गङ्गे च यमुने चैव" इत्यादि तीर्थ मंत्र पाठ पूर्वक सूर्य मण्डल से अंकुश मुद्रा के सहित तीर्थों को उस जल में आवाहन करे। हृदय कमल से कृष्ण का आवाहन करके शिखामंत्र (शिखायै वषट्) उच्चारण पूर्वक गालिनीमुद्रा दिखानी चाहिये। नेत्र मंत्र (नेत्राभ्यां वौषट्) उच्चारण सहित जल में दृष्टि डालकर कवच मंत्र (कवचायहुं) उच्चारण पूर्वक हाथों से इस जल को ढके। जल में मूलमंत्र के अंगो का न्यास करे (१) फिर अस्त्र मंत्र उच्चारण पूर्वक दिग्वन्धन करना चाहिये और धेनु मुद्रा दिखाकर इस जलको अमृत करे (२) चक्र

× कोई २ पुरुष प्रतिवर्ण में अनुस्वारयुक्त करते हैं और कोई शुद्ध प्रयोग करते हैं।

(१) कोई कोई पुरुष पञ्चाङ्ग न्यास और कोई कोई पुरुष षडङ्ग न्यास करते हैं।

(२) सदाचार के अनुसार यहां कुछेक भिन्नता है अर्थात् दिग्वंधन करने के पीछे चंदनादि प्रदान पूर्वक धेनुमुद्रा दिखाय-कूर्च द्वारा स्पर्श कर प्रणव के संग अमृत वजि वारह वार जप कर 'सोममण्डलाय षोड़श कलात्मने नमः, उच्चारण कर के पुनर्वार चंदनादि द्वारा पूजा करे।

तज्जलं प्रोक्षणीपात्रे किञ्चित् क्षिप्त्वा त्रिरुक्षयेत ।
तच्छेषेणार्च्चन द्रव्य जातानि स्वतनूमपि ॥ १४५ ॥
कनिष्ठांगुष्ठकौ सक्तौ करयोरितरेतरं ।
तर्जनी मध्यमानामाः संहता भुग्न सज्जिताः ॥
मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता शंखस्योपरिचालिता ।
ततोऽपास्या वशिष्टाम्भः शंखं वर्द्धनिकाम्बुना ॥
पुनरापूर्य्य कृष्णाग्रे न्यसेदाचारतः सताम् ॥ १४६ ॥

अथ स्वदेहे पीठ पूजा ।

गुरुन्मूर्द्ध्नि गणेशञ्च मूलाधारेऽभि पूज्य तं ।
पीठ न्यासानुसारेण पीठं चात्मनि पूजयेत् ॥ १४७ ॥

अथ देवाङ्गेषु मन्त्राङ्गादि न्यासः ।

ततो जपन् कामवीजंत्रिस्थानस्थं परं महः ॥
मूलमन्त्रात्मकं वीजेनैकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ १४८ ॥
तच्च पञ्चाङ्गन्यासेन साकारं स्वेष्ट दैवतं ।
विचिन्त्य पञ्चाङ्गादीनि न्यसेत्तस्मिन् यथात्मनि ॥ १४९ ॥

भाषा टीका ।

मुद्रा से इस जल की भलीभांति रक्षा कर मीन मुद्रा दिखाता हुआ आवृत करे अर्थात ढके और कूर्च्च (अंगूठे की नीचे की गांठ) से जल स्पर्श करके आठवार मूलमंत्र का जप करे ॥ १४४ ॥

इस जल का कुछ अंश प्रोक्षणी पात्र में डालकर अवशिष्ट शंखस्थ जल ग्रहण करके पूजा के द्रव्यों में और अपने देह में तीनवार प्रोक्षण करे ॥ १४५ ॥

दोनों हाथों का अंगूठा और कनिष्ठाङ्गुलि परस्पर इकत्रित एवं तर्जनी मध्यमा और अनामा एकत्रित कर किंचित् सकोड़ कर परस्पर का अग्र देश मिलित करे। अर्थात प्रथम वाँयें हाथ की वृद्धाङ्गुली और कनिष्ठा परस्पर एकत्रित करे, फिर इन दोनों अंगुलियों में दहने हाथ का वृद्धाङ्गुष्ठ देवे उसके संग इस हाथ की कनिष्ठा एकत्रित करे। इस प्रकार करके शेष अँगुलियें कुछेक टेढ़ीकर परस्पर मिलित और हाथों की अंगुलियों का अग्रभाग संयुक्त करे। इसको गालिनी मुद्रा कहते हैं। शंख के ऊपर इस मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये। फिर शंख का बचा हुआ जल फेंक कर पुनर्वार वर्द्धनिका (१) जल से शंख परिपूर्ण कर श्रीकृष्ण के सन्मुख रक्खे; यह साधु पुरुषों का आचार है ॥१४६॥

स्वदेह में पीठ पूजा ।—मस्तक प्रदेश में गुरुजनों की और मूलाधार में गणपति की पूजा करके पीठ-न्यासानुसार अपने देह में पूजा करे ॥ १४७ ॥ (२)

देवाङ्ग में मन्त्राङ्गादिन्यास ।—फिर कामवीज (क्लीं) का जप करते करते चिन्ता करे कि—हृत कमल और भ्रूमध्यस्थ मूल मंत्र स्वरूप आनंद घन कोटि विद्युत—प्रभ तेज काम वीज के सहित एक है। इस प्रकार चिन्ता कर उस तेज में मंत्र का पञ्चाङ्ग न्यास करके भावना करे ॥ १४८ ॥

इस प्रकार चिन्ता कर उस तेज में मंत्र का पञ्चाङ्ग

(१) वर्द्धनिका ।—ताँबे का करुआ ।

(२) इस स्थान का तात्पर्य यह है कि—पहिले पीठ न्यास और आधार शक्त्यादि में जिसकी जहां पूजा लिखी गई है उसी के अनुसार अपनी देह में जल, चंदन, और धूपादि से पीठ पूजा करे अर्थात् 'आधार शक्तयेनमः' इत्यादि प्रकार से प्रयोग करना चाहिये।

कुर्य्युर्भगवति प्रादुर्भूते कृष्णे च वैष्णवाः।
तत्तन्न्यासान-भेदाय मनोर्भगवता सह ॥ १५० ॥
केचिन्न्यस्यन्ति तत्वादी-न्यव्यक्तानि यथोदितं।
मन्त्रार्णैःस्वरहंसाद्यै भूषणेषु प्रभोः क्रमात् ॥ १५१ ॥

अथ वाह्योपचारैरन्तः पूजा।

तस्मिन् पीठे तमासीनं भगवन्तं विभावयन्।
आसनाद्यैस्तु पुष्पान्तै र्यथा विध्यर्च्चयेद्बुधः ॥ १५२ ॥
ततो मुखेऽर्च्चयेद्वेणुंवनमालाश्च वक्षसि।
दक्षस्तनोर्द्धे श्रीवत्सं सव्ये तत्रैव कौस्तुभम् ॥ १५३ ॥
वैष्णवश्चन्दनेनामुमालिप्योपकनिष्ठया।
प्राग्वद्दीपशिखाकारातिलकानि द्विषड्लिखेत् ॥ १५४ ॥
यथोक्तं पञ्चभिः पुष्पाञ्जलिभि-श्चाभिपूज्य तं।
धुपं दीपश्च नैवेद्यं मुखवासादि चार्पयेत ॥ १५५ ॥

भाषा टीका।

न्यास कर भावना करे कि—उक्त तेज में साकार अपने अभीष्ट देवता विराजित हैं। फिर इस प्रकार से देवाङ्ग में और अष्टा दशार्ण मंत्र में पञ्चाङ्ग न्यास करना चाहिये। इस का तात्पर्य यही है कि—मंत्र और श्रीकृष्ण इन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है—सुतरां मंत्र की पूजा में ही श्रीकृष्ण की पूजा होती है और श्रीकृष्ण की पूजा में ही मंत्र की पूजा हो जाती है ॥ १४९ ॥

विष्णु के भक्तगण भगवान् के सहित मंत्र की एकता प्रतिपादनार्थ (मंत्र विशेष की चिन्ता से पूजक के हृदय में) आविर्भूत भगवान् श्रीकृष्ण के तत्वों का न्यास करते हैं ॥ १५० ॥

कोई कोई पुरुष आदि में स्वरवर्ण और 'हंस' प्रयुक्त करके मंत्राक्षरों के सहित यथोक्त रीति से अव्यक्त अर्थात प्रकृत्यादि तत्वसमूह प्रभु के भूषणों में क्रमशः न्यास करते हैं। अर्थात कुण्डल में 'ओम् अं क्लीं अव्यक्तात्मने सहस्र शीर्षाय पुरुषाय नमः' मयूर पुच्छ में 'ओम् आं कृं महदात्मने सहस्र शीर्षाय नमः' इत्यादि प्रकार से प्रयोग करे ॥ १५१ ॥

वाह्य उपचार से मानस पूजा।—इस स्वशरीर विषयक पूजित पीठ में भगवान् उपविष्ट (विराजमान) हैं इस प्रकार चिन्ता कर आसनादि अर्थात आसन, स्वागतवचन, अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, स्नानीय, दोवस्त्र पुनराचमनीय, भूषण, जल, गंध, अक्षत और पुष्पादि द्वारा विधानानुसार पूजा करे ॥ १५२ ॥

फिर मुख में वेणु, हृदय में वनमाला, दहिने स्तन, के ऊपर कौस्तुभ की पूजा करनी चाहिये ॥ १५३ ॥

वैष्णवगण चन्दन द्वारा इनको लिप्त कर अनामा द्वारा इनके अंग में पूर्ववत् ऊर्द्धपुंड्र प्रकरण में कहे नियम से द्वादश तिलक की रचना करें इस का तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ज्ञान निष्ठा परायण हैं—वे क्रम—दीपिका की कही प्रणाली के अनुसार अपने अंग में तिलक की रचना करें—किन्तु भक्ति-निष्ठ मनुष्य भगवान् के अंग में यह क्रिया करें ॥ १५४ ॥

यथोक्त नियम से अर्थात् मूल मंत्र पाठकर सफेद और काली तुलसी के सहित दोनों चरणों में एक अञ्जली, मंत्र पाठ सहित सफेद और लाल कनेर के पुष्प सहित हृदय में एक अञ्जलि, मंत्र पाठ सहित सफेद और लाल कमल के सहित मस्तक में एक अञ्जलि, मंत्र पाठ सहित इस तुलसी आदि के द्वारा पुनर्वार मस्तक में छै अञ्जलि [इनछयों में एक] और मंत्र पाठ सहित सर्वांग में इन सब द्रव्यों के सहित

गीतादिभिश्च सन्तोष्य कृष्णमस्मै ततोऽखिलं ।
अशक्तो वहिरर्च्चायामर्पयेज्जपमाचरेत् ॥ १५६ ॥

अथान्तर्याग माहात्म्यम् ।

वैष्णवतन्त्रे।—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥

वृहन्नारदीये श्री वामन प्रादुर्भावे।—

यन्नामोच्चारणादेव सर्व्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ।
स्तोत्रैर्व्वा अर्हणाभिर्व्वा किमु ध्यानेन कथ्यते ॥

नारद पञ्चरात्रे श्रीभगवन्नारद सम्वादे ।—

अयं यो मानसो यागो जराव्याधिभयापहः ।
सर्व्व पापौघशमनो भावाभावकरो द्विज ! ॥
सतताभ्यासयोगेन देहबन्धाद्विमोचयेत् ।
यश्चैवं परयाभक्त्या सकृत् कुर्य्यान्महामते ! ॥
क्रमोदितेन विधिना तस्य तुष्याम्यहं मुने ! ॥ इति ॥ १५७ ॥

स्मरण-ध्यानयोः पूर्व्वं माहात्म्यं लिखितञ्च यत् ।
ज्ञेयं तदधिकं चात्रान्तर्यागाङ्गतया तयोः ॥
एवं यथासम्प्रदायं शक्त्या यावन्मनः सुखं ।
अन्तःपूजां विधायादावारभेत वहिस्ततः ॥ १५८ ॥

भाषा टीका।

एक अञ्जलि-इन पांच पुष्पाञ्जलि द्वारा इनकी पूजा करके धूप, दीप, नैवेद्य और मुख शुद्धि के अर्थ ताम्बूलादि निवेदन करे ॥ १५५॥

फिर गाने वजाने आदि से श्रीकृष्ण को संतुष्ट करना चाहिये । इस प्रकार करके यदि फिर वहिः पूजा में असमर्थ हो-तव इन्हीं को सव अर्पण करके जप करे ॥ १५६ ॥

अथ अन्तर्याग माहात्म्य ।—वैष्णव तंत्र में लिखा है कि-हजार अश्वमेध और हजारवाजपेय भी—ध्यान योग के षोड़शांश के एक अंश की वरावर नहीं हैं । वृहन्नारदीय पुराण के वामन प्रादुर्भाव प्रकरण में वर्णित है कि-जिन का नाम उच्चारण स्तुतिवाद और पूजा करने से ही सव उपद्रवों की शान्ति होती है-उन का ध्यान करने से जो फल होगा—उसका कहना वाहुल्य मात्र है। नारद पंचरात्र के श्रीभगवान्नारदसंवाद में लिखा है कि-हे ब्रह्मन् ! यह मानसिक पूजा करना व्याधि और भयदूर करता है; संपूर्ण पातकों की शान्ति करता है और सव चिन्ताओं को दूर कर देता है। सदा यह मानसी पूजा करने पर शरीर के वंधन से छूट जाता है। हे महामते ! हे ऋषे ! जो पुरुष क्रम विहित विधि से परमभक्ति सहित एकवार मात्र मानसिक पूजा करता है; मैं उससे संतुष्ट रहता हुं॥ १५७॥

इस से पहिले स्मरण और ध्यान का जो माहात्म्य वर्णित हुआ है, इस मानसी पूजा का माहात्म्य उस से भी अधिक है; क्योंकि स्मरण और ध्यान इसी का

तथाचोक्तं नारदेन।—

ध्यात्वा षोडशसंख्यातैरुपचारैश्च मानसैः।
सम्यगाराधनं कृत्वा वाह्यपूजां समाचरेत्॥

अथ वहिः पूजा।

अनुज्ञां देहि भगवन् वहिर्यागे मम प्रभो।
श्रीकृष्णमित्यनुज्ञाप्य वहिः पूजां समाचरेत्॥ १५९॥
तत्र त्वनेकशः सन्ति पूजास्थानानि तत्र च।
श्रीमूर्त्तयो वहुविधाः शालग्रामशिलास्तथा॥ १६०॥

अथ पूजा स्थानानि।

सम्मोहन तन्त्रे।—

शालग्रामे मनौ यन्त्रे स्थण्डिले प्रतिमादिषु।
हरेः पूजा तु कर्त्तव्या केवले भूतले नतु॥ १६१॥

एकादशस्कंधे श्रीभगवदुद्धव सम्वादे।—

सूर्य्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलं।
भूरात्मा सर्व्वभूतानि भद्रपूजापदानि मे॥ १६२॥
सूर्य्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना॥ १६३॥
वैष्णवे वन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः॥

भाषा टीका।

अंग कहा गया है। सम्प्रदायानुसार और मनकी प्रीति के अनुसार यथा शक्ति पूर्व कथित विधान से पहिले मानसिकी अर्चना शेष कर वाह्य पूजा में प्रवृत्त होवे॥ १५८॥

नारदजीने कहा है कि—ध्यान के पीछे षोड़श मानसोपचार से सम्यक् प्रकार उपासना करके वाह्य पूजा करे। वहिः पूजा।—' हे भगवन्! मैं वाह्य पूजा करता हूं इस विषय में मुझको आज्ञा दीजिये, श्रीकृष्ण के समीप इस प्रकार प्रार्थना करके वाह्य पूजा में प्रवृत्त होवे॥ १५९॥

उस समस्त पूजा के स्थान में मेरी श्रीमूर्त्ति अनेक प्रकार और शालग्राम—शिला भी नाना—प्रकार की हैं॥ १६०॥

पूजा का स्थान।—सम्मोहन तंत्र में लिखा है कि—शालग्राम, मंत्र, यंत्र, मंत्रादियोग, संस्कृतवेदी और प्रतिमादि में हरि की पूजा करनी चाहिये। पृथ्वी में पूजा न करे॥ १६१॥

भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में भगवदुद्धव सम्वाद में लिखा है कि—सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा, और समस्त भूत यह ग्यारह पदार्थ मेरी पूजा के आधार स्वरूप हैं॥ १६२॥

हे उद्धव! त्रयी-विद्या कथित सूक्त उपस्थान इत्यादि के द्वारा सूर्य में, घृताहुति से अग्नि में, आतिथ्य (सत्कार) द्वारा ब्राह्मण में, और तृणादि प्रदान द्वारा गायों की पूजा करे॥ १६३॥

वंधुकी समान सत्कार द्वारा वैष्णव में, ध्याननिष्ठा से हृदाकाश में, प्राण तुष्टि द्वारा वायु में, जलादि-

स्थण्डिले मन्त्राहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्व्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ १६४ ॥
धिष्णेष्वित्येषु मद्रूपं शंखचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्च्चेत् समाहितः ॥ १६५ ॥

अथ श्रीमूर्त्तयः ।

तत्रैव ।—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकता ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा मता ॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरं ॥ १६६ ॥
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्च्चने ।
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम् ॥
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनं ।
गोपालमन्त्रोद्दिष्टत्वात् तच्छ्रीमूर्त्तिरपेक्षिता ॥
तथापि वैष्णव-प्रीत्यै लेख्याः श्रीमूर्त्तयोऽखिलाः ॥ १६७ ॥

अथ श्रीमूर्त्ति-लक्षणानि ।

हयशीर्षपञ्चरात्रे-भगवतश्रीहयशीर्षब्रह्मसंवादे ।—

आदिमूर्त्तिर्वासुदेवः सङ्कर्षणमथासृजत् ।
चतुर्मूर्त्तिः परं प्रोक्तं एकैको भिद्यते त्रिधा ॥
केशवादि-प्रभेदेन मूर्त्तिर्द्वादशकं स्मृतं ॥ १६८ ॥

भाषा टीका ।

द्वारा जल में, स्थण्डिलाधिकरणक मंत्रन्यास द्वारा भूतल में, भोग द्वारा आत्मा में, क्षेत्रज्ञ रूपसे समभाव द्वारा सब भूतों में मेरी पूजा करे ॥ १६४ ॥

इस प्रकार इस समस्त आधार में शंख, चक्र, गदा, पद्मवान् चतुर शान्त मेरे शरीर में एकाग्रमन से ध्यान करके पूजा करे ॥ १६५ ॥

श्रीमूर्त्ति समूह ।—भागवत् के इस ग्यारहवें स्कन्ध में ही लिखा है कि—पाषाणमयी (पत्थर की) दारुमयी (काष्ठकी) लेप्या (लिपी हुई) लेख्या (लिखी) हुई वालुकामयी (वालूकी) मनोमयी (मानसिक) और मणिमयी, मेरी मूर्त्ति यह आठ प्रकार की हैं । चल और अचल, इतने प्रकार की प्रतिमा में भगवान् प्रतिष्ठित होते हैं ॥ १६६ ॥

हे उद्धव ! उनके बीज स्थिर प्रतिमा की पूजा में आवाहन और विसर्जन नहीं है । चल प्रतिमाकी पूजा में कहीं कहीं आवाहन विसर्जन है और चन्दनादि निर्मित प्रतिमूर्त्ति को वस्त्र से मार्जित करना चाहिये । इनके अतिरिक्त अन्यान्य प्रतिमाओं को जल से स्नान करावे । जो लिखा गया है, समस्त ही गोपालमंत्र के उद्देश में समझना चाहिये । अतएव उसी श्रीमूर्त्ति का कीर्त्तन करना उचित है, किन्तु वैष्णव कुलका संतोष होने के लिये सभी मूर्त्ति का वर्णन करूंगा ॥ १६७ ॥

श्रीमूर्त्ति के लक्षण हयशीर्ष पंचरात्र के श्रीभगवान् हयग्रीव और ब्रह्म संवाद में लिखा है कि—वासुदेव ही आदिमूर्त्ति हैं, इनसेसङ्कर्षण मूर्त्ति प्रकाशित होती है । शास्त्र में चार मूर्त्ति प्रधान कही गई हैं । प्रति मूर्त्ति का भेद तीन तीन प्राकार है, केशवादि भेद से मूर्त्ति वारह होती हैं ॥ १६८ ॥

पङ्कजं दक्षिणे दद्यात् पाञ्चजन्यं तथोपरि ।
वामोपरि गदा यस्य चक्रं चाधो व्यवस्थितं ॥
आदिमूर्त्तेऽस्तु भेदोऽयं केशवेति प्रकीर्त्यते ॥ १६९ ॥

अधरोत्तर-भावेन कृतमेतत्तु यत्र वै ।
नारायणाख्या सा मूर्त्तिः स्थापिता भुक्ति-मुक्तिदा ॥ १७० ॥

सव्याधः पङ्कजं यस्य पाञ्चजन्यं तथोपरि ।
दक्षिणोर्द्ध्वे गदा यस्य चक्रं चाधो व्यवस्थितं ॥
आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं माधवेति प्रकीर्त्यते ।
दक्षिणाधःस्थितं चक्रं गदा यस्योपरि स्थिता ॥
वामोर्द्ध्वसंस्थितं पद्मं शंखं चाधो व्यवस्थितं ।
सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं गोविन्देति प्रकीर्त्यते ॥
दक्षिणोपरि पद्मन्तु गदा चाधो व्यवस्थिता ।
सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं विष्णुरित्यभिशब्द्यते ॥
दक्षिणोपरि शंखश्च चक्रं चाधः प्रदृश्यते ।
वामोपरि तथा पद्मं गदा चाधः प्रदृश्यते ॥
मधुसूदननामायं भेदः सङ्कर्षणस्य च ।
वामोर्द्ध्वसंस्थितं चक्रमधः शंखः प्रदृश्यते ॥
ब्रह्माण्डगं वामपदं दक्षिणं शेषपृष्ठगम् ॥ १७१ ॥

भाषा टीका ।

जिनके दहिने ओर के नीचे के हाथ में पद्म और ऊपर के हाथ में पाञ्चजन्य शंख एवं बाँई ओर के निचेके हाथ में चक्र और ऊपर के हाथ में गदा विद्यमान है, उस मूर्त्ति को आदिमूर्त्ति का एक भेद जानना चाहिये। उनका नाम केशवमूर्त्ति है ॥ १६९ ॥

इस भाव के विपरीत होने से अर्थात् निचे की वस्तु ऊपर और ऊपर की वस्तु निचे होने से उनको नारायणमूर्त्ति कहते हैं। यह मूर्त्ति स्थापित होने से वह भोग—मोक्ष की देने वाली होती है ॥ १७० ॥

जिन के वाम भाग के निचेके हाथ में पद्म और ऊपर के हाथ में शंख एवं दहिने ओर के ऊपर के हाथ में गदा और नीचे के हाथ में चक्र विद्यमान् रहता है, उनको भी आदिमूर्त्ति वासुदेव का भेद जानना चाहिये। उनका नाम माधवमूर्त्ति है। जिन के दहिनी और के निचेके हाथ में चक्र और ऊपर के हाथ में गदा एवं बाँई ओर के ऊपर के हाथ में पद्म और नीचे के हाथ में शंख विद्यमान् है, उनको संकर्षण का एक भेद जाने, इने गोविन्दमूर्त्ति कहते हैं। दहिनी ओर के ऊपर के हाथ में पद्म और नीचे के हाथ में गदा होने से उनको विष्णु—मूर्त्ति कहते हैं; यह सङ्कर्षणमूर्त्ति का एक भेद मात्र है। जिनके दहिनी ओर के ऊपर के हाथ में शंख और नीचे के हाथ में चक्र तथा वाँई ओर के उपर के हाथ में पद्म और नीचे के हाथ में गदा विराजित है, वह भी संकर्षण का भेद मधु-सूदन—मूर्त्ति कही गई है। वाँई ओर के उपरी हाथ

बलिवञ्चनसंयुक्तं वामनञ्चाप्यधःस्थितम् ॥ १७२ ॥
वामोर्द्ध्वे कौमुदी यस्य पुण्डरीकमधः स्थितम् ।
दक्षिणोर्द्ध्वे सहस्रारं पाञ्चजन्यमधःस्थितम् ॥
सप्ततालप्रमाणेन वामनं कारयेत् सदा ।
ऊर्द्ध्वे दक्षिणतश्चक्रमधः पद्मं व्यवस्थितम् ॥
पद्मा पद्मकरा वामे पार्श्वे यस्य व्यवस्थिता ।
स्थितो वाप्युपविष्टो वा सानुरागो विलासवान् ॥
प्रद्युम्नस्य हि भेदोऽयं श्रीधरेति प्रकीर्त्त्यते ॥ १७३ ॥
दक्षिणोर्द्ध्वे महाचक्रं कौमोदी तदधः स्थिता ।
वामोर्द्ध्वे नलिनं यस्य अधः शंखं विराजते ॥
हृषीकेशेति विज्ञेयः स्थापितः सर्व्वकामदः ।
दक्षिणोर्द्ध्वे पुण्डरीकं पाञ्चजन्यमधस्तथा ॥
वामोर्द्ध्वे संस्थितं चक्रं कौमोदी तदधः स्थिता ।
पद्मनाभेति सा मूर्त्तिः स्थापिता मोक्षदायिनी ॥ १७४ ॥
दक्षिणोर्द्ध्वे पाञ्चजन्यमधस्तात्तु कुशेशयम् ।
सव्योर्द्ध्वे कौमुदी चैव हेतिराजमधःस्थितम् ॥

भाषा टीका ।

में चक्र और नीचे के हाथ में शंख होने से तथा बाँयां चरण ब्रह्माण्डगामी और दहिना चरण अनन्त की पीठ पर स्थित होने से उनको त्रिविक्रममूर्त्ति कहते हैं ॥ १७१ ॥

श्रीवामनमूर्त्ति दैत्यराज—बलि को छलती है और पृथ्वीतल में विराजमान् हैं ॥ १७२ ॥

इनके बाँई ओर के उपर के हाथ में गदा और नीचे के हाथ में पद्म तथा दाहिनी ओर के उपर के हाथ में चक्र और नीचे के हाथ में शंख विराजित है। सप्तताल की बराबर वामनमूर्त्ति प्रस्तुत करनी चाहिये। जिनकी दाहिनी ओर के उपर के हाथ में चक्र और नीचे के हाथ में पद्म विराजित हैं, जिनके वाम में पद्म-हस्ता लक्ष्मी स्थित हैं, जो दण्डायमान 'खड़ी' अथवा उपविष्ट 'बैठी' हैं, अनुराग पूर्ण और विलासी हैं, इनको श्रीधरमूर्त्ति कहते हैं, यह प्रद्युम्न का एक भेद है ॥ १७३ ॥

जिनकी दहिनी ओर के ऊपर के हाथ में महाचक्र और नीचे के हाथ में गदा एवं बाँई ओर के उपर के हाथ में पद्म और नीचे के हाथ में शंख विद्यमान है उनका नाम हृषीकेशमूर्त्ति है, इनको स्थापन करने से समस्त वासना पूर्ण होती है। जिनकी दाहिनी ओर के उपर के हाथ में पद्म और नीचे के हाथ में शंख एवं बाँई ओर के उपर के हाथ में चक्र और नीचे के हाथ में गदा विद्यमान है, उनको पद्मनाभमूर्त्ति कहते हैं,—इनको स्थापन करने से मोक्ष होता है ॥ १७४ ॥

जिन के दाहिने ऊपर के हाथ में शंख, और नीचे के हाथ में पद्म एवं बाँए ऊपर के हाथ में गदा और नीचे के हाथ में चक्र है,—उनको दामोदरमूर्त्ति कहते हैं, यह अनिरुद्धका एक भेद है। इन सब मूर्तियों की कमल-वीणाधारिणी, कल्याणरूपिनी दो

अनिरुद्धस्य भेदोऽयं दामोदर इति स्मृतः ।
एतेषान्तु स्त्रियौ कार्य्ये पद्म-वीणाधरे शुभे ॥
इतिक्रमेण मार्गादिमासाधिपाः केशवादयो द्वादश ॥ १७५ ॥

अथ सिद्धार्थ संहितायां चतुर्विंशतिमूर्त्तयः ।

वासुदेवो गदा-शंख-चक्र-पद्म-धरो मतः ।
पद्मं शंखं तथा चक्रं गदां बहति केशवः ॥
शंखं पद्मं गदां चक्रं धत्ते नारायणः सदा ।
गदां चक्रं तथा शंखं पद्मं वहति माधवः ॥
चक्रं पद्मं तथा शंखं गदाञ्च पुरुषोत्तमः ।
पद्मं कौमोदकीं शंखं चक्रं धत्तेऽप्यधोक्षजः ॥ १७६ ॥
संकर्षणो गदा-शंख-पद्म-चक्र-धरः स्मृतः ।
चक्रं गदां पद्म-शंखौ गोविन्दो धरते भुजैः ॥
गदां पद्मं तथा शंखं चक्रं विष्णुर्व्विभर्त्ति यः ।
चक्रं शंखं तथा पद्मं गदाञ्च मधुसूदनः ॥
गदां सरोजं चक्रञ्च शंखं धत्तेऽच्युतः सदा ।
शंखं कौमोदकीं चक्रमुपेन्द्रः पद्ममुद्वहेत् ॥
चक्रशंख-गदा-पद्म-धरः प्रद्युम्न उच्यते ।
पद्मं कौमोदकीं चक्रं शंखं धत्ते त्रिविक्रमः ॥
शंखं चक्रं गदां पद्मं वामनो वहते सदा ।
पद्मं चक्रं गदां शंखं श्रीधरो वहते भुजैः॥

भाषा टीका ।

दो स्त्रियें करे। केशवादि मूर्तियें पूर्व कहे क्रम से अगहन आदि बारह मास की अधिष्ठात्री देवता हैं ॥ १७५ ॥

चतुर्विंशति (२४) मूर्त्ति ।—सिद्धार्थसंहिता में लिखा है कि-वासुदेव,-गदा शंख चक्र पद्मधारी। नारायण,-निरन्तर शंख, पद्म, गदा, चक्रधारी। माधव गदा, चक्र, शंख, पद्मधारी । पुरुषोत्तम,—चक्र, पद्म, शंख, गदाधारी और अधोक्षजमूर्त्ति,—पद्म, गदा, शंख, चक्रधारी हैं ॥ १७६ ॥

संकर्षण,-गदा, शंख, पद्म और चक्र धारण करते हैं। गोविन्द,-चक्र, गदा, पद्म और शंख धारण करते हैं। विष्णु,-गदा, पद्म, शंख और चक्र धारण करते हैं। मधुसूदन,-चक्र शंख, पद्म और गदा धारण करते हैं। अच्युत,—गदा पद्म, चक्र और शंख धारण करते हैं। उपेन्द्र,-शंख, गदा, चक्र और पद्म धारण करते हैं। प्रद्युम्न,—चक्र, शंख, गदा और पद्म धारण करते हैं। त्रिविक्रम,-पद्म, गदा, चक्र और शंख धारण करते हैं। वामन,—शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करते हैं। श्रीधर,—पद्म, चक्र, गदा और शंख धारण करते हैं। नरसिंह,—चक्र, पद्म, गदा और शंख धारण करते हैं। जनार्दन,—पद्म, चक्र, शंख और गदा धारण करते हैं। अनिरुद्ध,-चक्र, गदा, शंख और पद्म धारण करते हैं। हृषीकेश,—गदा, चक्र, पद्म और शंख धारण करते हैं। पद्मनाभ,-शंख, पद्म, चक्र और गदा धारण करते हैं। दामोदर,-पद्म, चक्र,

चक्रं पद्मं गदां शंखं नरसिंहो बिभर्त्ति यः ।
पद्मं सुदर्शनं शंखं गदां धत्ते जनार्द्दनः ॥
अनिरुद्धश्चक्र-गदा-शंख-पद्मलसद्भुजः ।
हृषीकेशो गदां चक्रं पद्मं शंखञ्च धारयेत् ॥
पद्मनाभो वहेत् शंखं पद्मं चक्रं गदां तथा ।
पद्मं चक्रं गदां शंखं धत्ते दामोदरः सदा ॥
शंखं चक्रं सरोजञ्च गदां वहति यो हरिः ।
शंखं कौमोदकीं पद्मं चक्रं विष्णुर्बिभर्त्ति यः ॥ १७७ ॥
एताश्च मूर्त्तयो ज्ञेया दक्षिणाधःकरक्रमात् ॥ १७८ ॥

मत्स्यपुराणे च—

एतदुद्देशतः प्रोक्तं प्रतिमा-लक्षणन्तथा ।
विस्तरेण न शक्नोति वृहस्पतिरपि द्विजाः ! ॥ इति ॥
सेवानिष्ठा हरेः श्रीमद्वैष्णवाः पाञ्चरात्रिकाः ।
प्राकट्यादखिलाङ्गानां श्रीमूर्त्तिं वहु मन्यते ॥
सेव्या निजनिजैरेव मन्त्रैः स्वस्वेष्टमूर्त्तयः ।
शालग्रामात्मके रूपे नियमो नैष विद्यते ॥
द्विभुजा जलदश्यामा त्रिभङ्गी मधुराकृतिः ।
सेव्या ध्यानानुरूपैश्च मूर्त्तिः कृष्णस्य दैवतैः ॥ १७९ ॥
अन्याश्च विविधाः श्रीमदवतारादिमूर्त्तयः ।
प्रादुर्भाव-विधावग्रे लेख्यास्तत्तद्विशेषतः ॥ १८० ॥

भाषा टीका ।

गदा और शंख धारण करते हैं । हरि,—शंख, चक्र, पद्म और गदा धारण करते हैं एवं विष्णु,—शंख, गदा, पद्म और चक्र धारण करते हैं ॥ १७७ ॥

दहिनी ओर के नीचे के हाथ में इन सब मूर्तिआदि का पद्मादि धारण समझना चाहिये । अर्थात् पहिले दहिनी ओर के नीचे के हाथ, फिर दहिनी ओर के ऊपर के हाथ—अनन्तर वाँई ओर के ऊपर के हाथ और फिर वाँई ओर के नीचे के हाथ ॥ १७८ ॥

मत्स्यपुराण में लिखा है कि- यह समस्त प्रतिमा के लक्षण-उद्देश से कही गई हैं । हे द्विजगण ! विस्तार सहित वर्णन करने में स्वयं सुर-गुरु (वृहस्पति जी) भी समर्थ नहीं हैं । सब अवयवों (अंगों) का विशेष विशेष प्रकाश है, इसी कारण हरि-सेवा परायण पञ्चरात्रमतावलम्वी साधु-पुरुष श्रीमूर्ति को अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं । स्व-स्व मंत्र-द्वारा शालग्राममय रूप में अपने अपने अभीष्ट देवता की पूजा करें । इस विषय में किसी प्रकार का नियम नहीं है । ध्यानानुयायी मूर्त्तिओं में श्रीकृष्ण की द्विभुजमूर्त्ति की पूजा करे । यह मूर्त्ति मेघ के समान श्यामल, तीन स्थान में कुटिल और मोहनाकार हैं ॥ १७९ ॥

इसके पीछे प्रादुर्भाव-विधान कीर्त्तन के स्थान में भगवान् के अवतारादि अन्यान्य अनेक मूर्त्तियों का विषय विस्तार सहित वर्णन किया जायगा ॥ १८० ॥

नित्यकर्म-प्रसङ्गेऽत्र मूर्त्तिजन्म-प्रतिष्ठयोः ।
विधिर्न लिखितुं योग्यः स तु लेखिष्यतेऽग्रतः ॥ १८१ ॥

अथ शालग्रामशिला: ।

गौतमीयतन्त्रे—

गण्डक्याश्चैव देशे च शालग्रामस्थलं महत् ।
पाषाणं तद्भवं यत्तत् "शालग्राम"मिति स्मृतम् ॥

स्कन्दपुराणे—

स्निग्धा कृष्णा पाण्डरा वा पीता नीला तथैव च ।
वक्रा रुक्षा च रक्ता च महास्थूला त्वलाञ्छिता ॥
कपिला दर्दुरा * भग्ना वहुचक्रैकचाक्रिका ।
बृहन्मुखी बृहच्चक्रा लग्नचक्राथ वा पुनः ॥
वद्धचक्राथ वा काचिद्भग्नचक्रा त्वधोमुखी ।

अथ तासां वर्णादि-भेदेन गुण-दोषौ ॥

तत्रैव ।— स्निग्धा सिद्धिकरी मन्त्रे कृष्णा कीर्त्तिं ददाति च ।
पाण्डरा पापदहनी पीता पुत्रफलप्रदा ॥
नीला सन्दिशते लक्ष्मीं रक्ता रोगप्रदायिका ।
रुक्षा चोद्वेगदा नित्यं वक्रा दारिद्र्यदायिका ॥
स्थूला निहन्ति चै वायुर्निष्कला तु अलाञ्छिता ।
कपिला कर्व्वुरा भग्ना बहुचक्रैकचाक्रिका ॥
बृहन्मुखी बृहच्चक्रा लग्नचक्राथ वा पुनः ॥ १८२ ॥

भाषा टीका ।

इस समय नित्य क्रिया के प्रसंग में मूर्त्तियों का प्रादुर्भाव और प्रतिष्ठा-विधान लिखना अनुचित है; वह पीछे लिखा जायगा ॥ १८१ ॥

शालग्रामशिला ।—गौतमीय तंत्र में लिखा है कि–शालग्राम का विस्तारित स्थान गण्ड की नदी के प्रदेश में विराजित है, वहां के उत्पन्न हुए पत्थर को ही शालग्राम कहते हैं। स्कन्दपुराण में लिखा है कि–शालग्रामशिला, स्निग्धवर्ण, (चिकनी) कृष्णवर्ण, नीलवर्ण, वक्र, रुक्ष, लोहितवर्ण, अत्यन्तस्थूल, चिह्नरहित, कपिलवर्ण, मैंड़क की सदृश टूटी हुई, बहुत चक्रों से युक्त, एकचक्र, बृहन्मुख, बृहच्चक्र, लग्नचक्र, वद्धचक्र, भग्नचक्र, अथवा अधोमुखी होती है। वर्णादि-भेद से शालग्रामशिला के दोष गुण—स्कंदपुराण में लिखा है कि,—स्निग्धवर्ण की शिला मंत्र सिद्ध देने वाली, कृष्णवर्ण की शिला कीर्त्ति देने वाली, पाण्डरवर्ण शिला पापों का नाश करने वाली, पीतवर्ण की शिला पुत्र फलदायक, नीलवर्ण की शिला लक्ष्मी बढ़ाने वाली और रक्तवर्ण की शिला रोग उत्पन्न करने वाली है। रुक्षशिला उद्वेग उत्पन्न करने वाली, वक्राशिला दारिद्र देने

*'कर्व्वुरा' इति वा पाठः ।

वद्धचक्राथ वा या स्याद्भग्नचक्रा त्वधोमुखी ।
पूजयेद्यः प्रमादेन दुःखमेव लभेत सः ॥ १८३ ॥

अग्निपुराणे च—

तथा व्यालमुखी भग्ना विषमा वद्धचक्रिका ।
विकारावर्त्तनाभिश्च नारसिंही तथैव च ॥
कपिला विभ्रमावर्त्ता रेखावर्त्ता च या शिला ।
दुःखदा सा तु विज्ञेया सुखदा न कदाचन ॥ १८४ ॥
स्निग्धा श्यामा तथा मुक्ताऽमाया वा समचक्रिका ।
योणिमूर्त्तिरनन्ताख्या गम्भीरा सम्पुटा तथा ॥
सूक्ष्ममूर्त्तिरमूर्त्तिश्च सम्मुखा सिद्धिदायिका ।
धात्रीफलप्रमाणा या करेणोभयसम्पुटा ॥
पूजनीया प्रयत्नेन शिला चैतादृशी शुभा ॥ १८५ ॥
इष्टा तु यस्य या मूर्त्तिः स तां यत्नेन पूजयेत् ।
पूजिते फलमाप्नोति इह लोके परत्र च ॥ इति ॥ १८६ ॥

दोषाश्चैते सकामार्च्चनविषयाः, यत उक्तं श्रीभगवता ब्राह्मे—

खण्डितं स्फुटितं भग्नं पार्श्वभिन्नं विभेदितम् ।
शालग्राम-समुद्भूतं शैलं दोषावहं नहि ॥ १८७ ॥

भाषा टीका ।

वाली, स्थूला शिला परमायु का क्षय करने वाली, और बिह्न-रहित शिला निष्फल होती है। जो भूल कर भी कपिल-वर्ण चित्रविचित्र, भग्न, बहुत चक्रों से युक्त, एक-चक्र, वृहन्मुख, वृहच्चक्र, लग्नचक्र, वद्धचक्र, भग्न-चक्र अथवा अधोमुख शिला की पूजा करते हैं-उन को दुःख प्राप्त होता है,—इस में संदेह नहीं ॥ १८२—१८३ ॥

अग्निपुराण में भी लिखा है कि—जिस शिला का मुख सर्प के मुख की समान है, जो टूटी हुई है, जिस का चक्र परस्पर सम्मुखीन है अर्थात् ठीक ठीक सन्मुख है, जिस का चक्र बंधा हुआ है, जो विकारावर्त्तनाभि युक्त है (जिस शिला का नाभि-प्रदेश रीति के अनुसार प्रकाशित नहीं है और अप्रकाशित होने के कारण आवर्त्त अर्थात् घूमती हुई रेखा से युक्त है) और जो नृसिंहमूर्त्ति कपिल वर्ण हैं, जिस शिला के आवर्त्त विषय में संशय उत्पन्न होता है, और जिस का आवर्त्त रेखामय है,—उस की पूजा करने से दुःख उत्पन्न होता है; कभी सुख की आशा नहीं है ॥ १८४ ॥

जो चिकनी, श्यामवर्ण, मुक्ताफल की समान गोलाकार, अकृत्रिम, समचक्र, शिला वराहमूर्त्ति हैं, गभीरनाभि और समपुटशिला अनन्तमूर्त्ति हैं । सूक्ष्ममूर्त्ति,—वासुदेवमूर्त्ति हैं। समवदन, परिमाणमें आमलकी फल के समान, कर—पृष्ठवत् ऊंची और करतल की समान आकार वाली जो हैं—उन की यत्न-सहित पूजा करे; यह सब शिला कल्याण दायक हैं ॥ १८५ ॥

जो मूर्त्ति जिसका अभिष्ट है—वह यत्न-सहित उसी मूर्त्ति की पूजा करे; पूजा करने से इस लोक और पर लोक,—दोनों का ही फल मिल जाता है ॥ १८६ ॥

जिन सब दोषों का वर्णन किया है, वे सकाम पूजा

श्रीरुद्रेण च स्कान्दे—

खण्डितं त्रुटितं भग्नं शालग्रामे न दोषभाक्।
इष्टा तु यस्य या मूर्त्तिः स तां यत्नेन पूजयेत् ॥ १८८ ॥

तथा—

चक्रं वा केवलं तत्र पद्मेन सह संयुतम्।
केवला वनमाला वा हरिर्लक्ष्म्या सह स्थितः ॥ इति ॥ १८९ ॥
मुख्याः स्निग्धादयस्तत्रामुख्या रक्तादयो मताः।
मुख्याभावे त्वमुख्या हि पूज्या इत्युच्यते परैः ॥ १९० ॥

अथ तासामेव लक्षणविशेषेण संज्ञा-विशेषः।

ब्राह्मे श्रीभगवद्ब्रह्म-सम्वादे —

निवसामि सदा देहे शालग्रामाख्यवेश्मनि।
तत्रैव रथचक्राङ्क-भेदनामानि मे शृणु ॥ १९१ ॥
द्वारदेशे समे चक्रे दृश्यते नान्तरीयके।
वासुदेवः स विज्ञेयः शुक्लाभश्चातिशोभनः ॥ १९२ ॥
द्वे चक्रे एकलग्ने तु पूर्वभागस्तु पुष्कलः।
सङ्कर्षणाख्यो विज्ञेयो वक्राभश्चातिशोभनः ॥
प्रद्युम्नः सूक्ष्मचक्रस्तु पीतदीप्तिस्तथैव च।
शुषिरं छिद्रवहुलं दीर्घाकारन्तु तद्भवेत् ॥

भाषा टीका।

के विषय में हैं; क्योंकि ब्रह्मपुराण में भगवान् ने कहा है कि-क्या खण्डित, क्या स्फुटित, क्या भग्न, क्या पार्श्व भग्न, क्या विभिन्न, जैसी हीं क्यों न हो-शालग्राम-स्थली से उत्पन्न हुई शिला में कोई दोष नहीं है ॥१८७॥

स्कंदपुराण में श्रीरुद्रकी उक्ति है कि-क्या खण्डित, क्या स्फुटित, क्या भग्न, जैसी हीं क्यौं न हो-शालग्राम शिला में कोई दोष नहीं होता है। जो मूर्त्ति जिस पुरुष की अभीष्ट है,—वह यत्नसहित उसी मूर्त्ति की पूजा करे ॥ १८८ ॥

और भी लिखा है कि—शिला में चरण-चिह्न संलग्न होने से, केवल चक्रचिह्न होने से वा केवल मात्र वनमाला का चिह्न विद्यमान होने से हरि लक्ष्मी के सहित उस में निवास करते हैं ॥ १८९ ॥

अन्यान्य पण्डितगण कहते हैं कि-स्निग्धकृष्ण वर्णादिकी शिला श्रेष्ठ और रक्तवर्णादि की शिला अप्रधान है। प्रधान के अभाव में अप्रधान की पूजा करे ॥ १९० ॥

लक्षण-भेद से शालग्रामशिला की संज्ञा भेद। ब्रह्मपुराण के भगवद्ब्रह्म सम्वाद में लिखा है कि-हे ब्रह्मन्! मैं सदा शालग्रामनामक घर में वास करता हूं।—इन समस्त शिलाओं में चक्र चिह्न का प्रभेद होने से नाम की भी भिन्नता होती है। वे सब नाम मुझ से सुनो ॥ १९१ ॥

जिस शिला के द्वार में समान दो चक्र अत्यन्त मध्य स्थल में स्थित नहीं हैं एवं जो श्वेतवर्ण और अत्यन्त मनोहर हैं, उनको वासुदेव कहते हैं ॥ १९२ ॥

जिस शिला के दोनों चक्र एक भाग में संयुक्त हैं, और अग्रदेश में पृथक् परिपुष्ट (उन्नत भाग)

अनिरुद्धस्तु नीलाभो वर्त्तुलश्चातिशोभनः ।
रेखात्रयन्तु तद्वारि पृष्ठं पद्मेन लाञ्छितम् ॥
सौभाग्यं केशवो दद्याच्चतुष्कोणो भवेत्तु यः ।
श्यामं नारायणं विद्यान्नाभिचक्रं तथोन्नतम् ॥
दीर्घरेखासमोपेतं दक्षिणे शुषिरं पृथु ।
ऊर्द्ध्वं मुखं विजानीयाद्द्वारे च हरिरूपिणम् ॥
कामदं मोक्षदञ्चैव अर्थदञ्च विशेषतः ।
परमेष्ठी लोहिताभः पद्मचक्रसमन्वितः ॥
विल्वाकृतिस्तथा पृष्ठे शुषिरं चातिपुष्कलम् ।
कृष्णवर्णस्तथा विष्णुः स्थूले चक्रे सुशोभनः ॥
ब्रह्मचर्य्येण पूज्योऽसावन्यथा विघ्नदो भवेत् ।

क्वचिच्च --

कपिलो नरासिंहोऽथ पृथुचक्रे च शोभने ।
ब्रह्मचार्य्यधिकारी स्यान्नान्यथा पूजनं भवेत् ॥
नरसिंहस्त्रिविन्दुः स्यात् कापिलः पञ्चविन्दुकः ।
ब्रह्मचर्य्येण पूज्यः स्यादन्यथा सर्व्वविघ्नदः ॥
स्थूलं चक्रद्वयं मध्ये गुड़लाक्षासवर्णकम् ।
द्वारोपरि तथा रेखा नृसिंहो योगसंज्ञकः ॥
स्फुटितं विषमं चक्रं नारसिंहन्तु कापिलम् ।

भाषा टीका।

हैं और जो देखने में लोहितवर्ण तथा अतीव शोभा-युक्त हैं, उनको संकर्षण कहते हैं, चक्र-सूक्ष्म, वर्ण-पीत, मुख के छिद्र वड़े और उन छिद्रों के भीतर बहुत से छिद्र होने पर उनका नाम प्रद्युम्न हैं । वर्ण-नीला, आकृति-गोलाकार और देखने में मनोहर होने पर; तथा मुख-द्वार में तीन रेखा और पीठ में पद्म होने से उनको अनिरुद्ध कहते हैं । चतुष्कोण होने पर उनको केशव कहा जाता है,—यह सौभाग्यदायक हैं, श्यामवर्ण को नारायण कहते हैं,—इनका नाभि-चक्र-ऊंचा, रेखा—दीर्घ और दक्षिण की ओर फैला हुआ मुख का छिद्र है। विवर-द्वार-ऊर्द्धमुख होने से हरि कहे जाते हैं,—यह अभीष्टप्रद, मुक्ति-दायक और विशेष कर धन को देने वाले हैं। वर्ण-लोहित होने से, एवं पद्म और चक्र का चिह्न होने पर उनको परमेष्ठी कहते हैं,—इनका आकार विल्व की तुल्य है,-इनकी पीठ में सम्यक् प्रकार मुख का छिद्र प्रकाशित है। विष्णु कृष्ण,—वर्ण परम सुन्दर और दो स्थूल चक्रों से युक्त हैं।ब्रह्मचारी भाव से रह कर इन की पूजा करे, नहीं तो यह विघ्न उत्पन्न करते हैं। किसी किसी स्थान में वर्णित है कि—कपिल और नरसिंहमूर्त्ति, प्रत्येक में दो दो स्थूल चक्र विद्यमान् हैं। ब्रह्मचारी ही उन की पूजा करे,—अन्यरीति से उनकी पूजा नहीं होती है। नरसिंह की तीन विन्दु और कपिल की पांच विन्दु हैं, ब्रह्मचारी के भाव से रह कर इन की पूजा करे,-नहीं, तो यह सर्वथा विघ्न उत्पन्न करते हैं। जिन नरसिंह

संपूज्य मुक्तिमाप्नोति संग्रामे विजयी भवेत् ॥

पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये—

यस्य दीर्घं मुखं पूर्व्वकथितैर्लक्षणैर्युतम् ।
रेखाश्च केशराकारा नारसिंहो मतो हि सः ॥

ब्राह्मे।— वाराहं शक्तिलिङ्गं च चक्रे च विषमे स्मृते ।
इन्द्रनीलनिभं स्थूलं त्रिरेखालाञ्छितं शुभम् ॥

पाद्मे च तत्रैव—

वराहाकृतिराभुग्नश्चक्ररेखास्वलङ्कृतः ।
वाराह इति स प्रोक्तो भुक्ति-मुक्तिफलप्रदः ॥

ब्राह्म एव—

दीर्घा काञ्चनवर्णा या विन्दुत्रयविभूषिता ।
मत्स्याख्या सा शिला ज्ञेया भुक्तिमुक्ति फलप्रदा ॥

क्वचिच्च।— मत्स्यरूपन्तु देवेशं दीर्घाकारन्तु यद्भवेत् ।
विन्दुत्रयसमायुक्तं कांस्यवर्णं विशोभनम् ॥

ब्राह्म एव।—कूर्म्मस्तथोन्नतः पृष्ठे वर्त्तुलावर्त्तपूरितः ।
हरितं वर्णमाधत्ते कौस्तुभेन च चिह्नितः ॥

भाषा टीका ।

और कपिल के दो स्थूल चक्र हैं, वर्ण-गुड़ और लाख के समान है, मुख-द्वार के ऊपर पद्माकार मनोहर रेखा और चक्र विभिन्न तथा विषम है, इनकी पूजा करने से मुक्ति प्राप्त होती है, और युद्ध में विजयी होजाता है। पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है कि—जिन के मुख का विवर दीर्घ, पूर्वोक्तलक्षणयुक्त और जिन में केशरकी समान कितनी ही रेखा विद्यमान् रहती हैं-उनको नरसिंह कहते हैं। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि—जिन में दो शक्ति-चिह्न और दो विषम चक्र विद्यमान रहते हैं, जिनका वर्ण—इन्द्रनीलमणि की समान, जो स्थूल, तीन रेखा से युक्त और सुदृश्य अर्थात देखने में सुंदर हैं-उनको वराह कहते हैं। पद्मपुराण के भी कार्त्तिक माहात्म्य में लिखा है कि—जो वराह की समान आकृतियुक्त, वक्र-चक्र और रेखासमन्वित हैं,-उनको वराह कहते हैं, यह भोग और मुक्ति दायक हैं। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि—जो शिला दीर्घ और सुवर्ण की समान वर्ण वाली और तीन विन्दु से अलंकृत हैं, उनको मत्स्य कहते हैं,- यह भोग और मुक्ति देते हैं। स्थानान्तर में और भी लिखा है कि—जिन की आकृति दीर्घ, वर्ण कांसी की समान, देखने में मनोहर और जिन में तीन विन्दु है—उनको मत्स्य कहते हैं। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि—जिनकी पीठ ऊंची, जो वर्त्तुलावर्त्त (गोलाकार) से पूर्ण, हरिद्वर्णयुक्त और कौस्तुभ के चिह्न से भूषित हैं, उनको कूर्म कहते हैं। पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य-प्रसङ्ग में लिखा है कि-कूर्माकृतियुक्त और चक्रचिह्नयुक्त होने पर उनको कूर्म कहते हैं। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि—अंकुशाकृतियुक्त होने से, चक्र के समीप रेखा विद्यमान होने से, बहुत चक्र होने से और पीठ मेघ की समान नीलवर्ण होने से उनको हयग्रीव कहते हैं। किसी किसी ग्रंथ में इस प्रकार लिखा है कि—हयग्रीव की

पाद्मे च तत्रैव —

कूर्म्माकारा च चक्राङ्का शिला कूर्म्मः प्रकीर्त्तितः ।

ब्राह्म एव— हयग्रीवोऽङ्कुशाकारो रेखा चक्र-समीपगा ॥

बहुचक्रसमायुक्तं पृष्ठं नीरदनीलकम् ।

क्वचिच्च— हयग्रीवेऽङ्कुशाकारे रेखाः पञ्च भवन्ति हि ॥

बहुविन्दुसमाकीर्णे दृश्यन्ते नीलरूपकाः ।

पाद्मे च तत्रैव —

हयग्रीवा यथा लम्बा रेखाङ्का या शिला भवेत् ।

तथाऽसौ स्याद्धयग्रीवः पूजितो ज्ञानदो भवेत् ॥

किञ्च — अश्वाकृति मुखं यस्य साक्षमालं सिरस्तथा ।

पद्माकृति र्भवेद्वापि हयशीर्षस्त्वसौ मतः ॥

ब्राह्म एव—

वैकुण्ठं मणिवर्णाभं चक्रमेकं तथा ध्वजम् ।

द्वारोपरि तथा रेखा पद्माकारा सुशोभना ॥

श्रीधरस्तु तथा देवश्चिह्नितो वनमालया ।

कदम्वकुसुमाकारो रेखा-पञ्चकभूषितः ॥

वर्त्तुलश्चातिह्रस्वश्च वामनः परिकीर्त्तितः ।

अतसीकुसुमप्रख्यो विन्दुना परिशोभितः ॥

भाषा टीका ।

मूर्त्ति अंकुशाकृति एवं उन में पांच रेखा और विन्दु के चिह्न विद्यमान हैं, और वह देखने में नीलवर्ण हैं । पद्मपुराण में लिखा है कि,—घोड़े की ग्रीवा (गर्दन) के समान लम्वी रेखा विद्यमान होने से उनको हयग्रीव कहते हैं; इनकी पूजा करने पर यह ज्ञान देते हैं । और भी लिखा है कि—जिनका मुख-विवर घोड़े के मुख की समान और ऊपरीभाग में अक्षमाला का चिह्न विद्यमान है;-उनको हयग्रीव कहते हैं;-इनकी आकृति कमल के समान है । ब्रह्म-पुराण में लिखा है कि—जिनका वर्ण मणि के वर्ण तुल्य है; जिन में एक चक्र विद्यमान है: जो ध्वजा के चिह्न से युक्त और जिन के मुख-छिद्र के ऊपरीभाग में पद्माकार मनोहर रेखा दिखाई देती है, उनको वैकुण्ठ कहते हैं । वनमाला का चिह्न विद्यमान होने से एवं कदम्व के पुष्प की समान श्याम-वर्ण और विन्दु चिह्न से युक्त होने पर- उनको श्रीधर कहते हैं । अन्यत्र भी लिखा है कि,—जिनका आकार-छोटा, कान्ति-मनोहर; एवं जो ऊपर और नीचे में चक्रयुक्त हैं,- उन को वामन कहते हैं,—इनकी पूजा करने से यह अभीष्ट (अभिलषित) फल देते हैं । ब्रह्मपुराण में भी लिखा है कि,—जो श्याम-वर्ण, अत्यन्तकान्तिमान्, वाम भाग गदा और चक्रयुक्त और जिनके दहिने पार्श्व में दो रेखा विद्यमान हैं, उनको सुदर्शन कहते हैं । पद्मपुराण के कार्तिक-महात्म्य में वर्णित है कि,—जिनकी वह रेखा चक्राकृति हैं, उनको सुदर्शन कहते हैं, इनकी पूजा करने से यह फल देते हैं । दामोदर स्थूल, मध्य-

अन्यत्रा च — वामनाख्यो भवेद्देवो ह्रस्वो यः स्यान्महाद्युतिः ।
ऊर्ध्वचक्रस्त्वधश्चक्रः सोऽभीष्टार्थप्रदोऽर्च्चितः ॥
ब्राह्म एव ।—सुदर्शनस्तथा देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे गदा-चक्रे रेखे चैव तु दक्षिणे ॥
पाद्मे तत्रैव — चक्राकारेण पङ्क्तिः सा यत्र रेखामयी भवेत् ।
स सुदर्शन इत्येवं ख्यातः पूजा-फलप्रदः ॥
दामोदरस्तथा स्थूलो मध्ये चक्रं प्रतिष्ठितम् ।
दूर्व्वाभं द्वारि सङ्कीर्णं पीता रेखा तथैव च ॥
पाद्मे च तत्रैव ।-उपर्य्यधश्च चक्रे द्वे नातिदीर्घं मुखे विलम् ।
मध्ये च रेखा लम्बैका स च दामोदरः स्मृतः ॥
अन्यत्रा च ।—स्थूलो दामोदरो ज्ञेयः सूक्ष्मरन्ध्रो भवेत्तु यः ।
चक्रे च मध्यदेशस्थे पूजितः सुखदः सदा ॥
नानावर्णो ह्यनन्ताख्यो नागभोगेन चिह्नितः।
अनेकमूर्त्तिःसंभिन्नः सर्वकामफलप्रदः ॥
पाद्मे च तत्रैव।-अनन्तश्चक्रो वहुभिश्चिह्नैरप्युपलक्षितः ।
अनन्तः स तु विज्ञेयः सर्व्वपूजा-फलप्रदः ॥
ब्राह्म एव— विदिक्षु दिक्षु सर्वासु यस्योर्द्ध्वं दृश्यते मुखम् ।
पुरुषोत्तमः स विज्ञेयो भुक्ति-मुक्ति-फलप्रदः ॥
दृश्यते शिखरे लिङ्गं शालग्रामसमुद्भवम् ।

भाषा टीका ।

भाग में इनका चक्र, वर्ण दूर्वा की समान, मुख के छिद्र का द्वार संकीर्ण और एक पीली रेखा से युक्त हैं। पद्मपुराण के इसी स्थान में लिखा है कि-ऊपर और नीचे दो चक्र, मुख का छिद्र अनतिदीर्घ (छोटासा) और बीचमें एक लम्बी रेखा होने से उनको दामोदर कहते हैं। अन्यत्र भी लिखा है कि—दामोदर स्थूल, मुख-छिद्र संकीर्ण और बीच में दो चक्र हैं; इनकी पूजा करने से यह सदा सुख देने वाले होते हैं। अनन्त-विविधवर्णयुक्त और उनमें सर्प के देह का चिह्न तथा अनेक मूर्त्ति मिश्रित हैं,- यह समस्त अभिलषित फल प्रदान करते हैं। पद्मपुराण के उपरोक्त स्थान में ही लिखा है कि--बहुत से चक्र और अनेक प्रकार के चिह्न होने पर ही उनको अनन्त कहते हैं,— यह सम्पूर्ण पूजा का फल देते हैं। ब्रह्म पुराण में ही लिखा है कि,-जिनके ऊपर सब तरफ मुंह दिखाइदे,-वही पुरुषोत्तम हैं; यह भोग और मोक्षको देने वाले हैं। ऊपरी भाग में चक्र का चिह्न दिखाई देने से उनको योगेश्वर कहते हैं;—यह ब्रह्मवध जनित पातक दूर करते हैं। जिनका वर्ण कुछ लाल और जिनमें पद्म तथा चक्र का चिह्न विराजित है, उनको पद्म नाभ कहते हैं। दुःखी पुरुष तुलसी के द्वारा इनकी पूजा करने से धनवान् होसकता है। जिसका आकार चंद्रमा के समान है, जो किरणों का जाल

तस्य योगेश्वरो नाम ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥
आरक्तं पद्मनाभाख्यं पङ्कजच्छत्र-संयुतम् ।
तुलस्या पूजयेन्नित्यं दरिद्रस्त्वीश्वरो भवेत् ॥
चन्द्राकृतिं हिरण्याख्यं रश्मिजालं विनिर्द्दिशेत् ।
सुवर्णरेखा-बहुलं स्फटिक-द्युतिशोभितम् ॥

किञ्चात्र— अर्द्धचन्द्राकृतिर्देवो हृषीकेश उदाहृतः ।
तमर्च्य लभते स्वर्गं विषयांश्च समीहितान् ॥
वामपार्श्वे समे चक्रे कृष्णवर्णः सबिन्दुकः ।
लक्ष्मीनृसिंहो विख्यातो भुक्ति-मुक्ति-फलप्रदः ॥
त्रिविक्रमस्तथा देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे तथा चक्रे रेखा चैव तु दक्षिणे ॥
प्रदक्षिणावर्त्तकृतवनमाला-विभूषिता ।
या शिला कृष्णसंज्ञा सा धन-धान्य-सुखप्रदा ॥

गौतमीये —

बहुभिर्जन्मभिः पुण्यैर्यदि कृष्णशिलां लभेत् ।
गोष्पदेन तु चिह्नेन जनुस्तेन समाप्यते ॥
चतस्रो यत्र दृश्यन्ते रेखाः पार्श्वसमीपगाः ।
द्वे चक्रे मध्यदेशे तु सा शिला तु चतुर्म्मुखा ॥

किञ्च पाद्मे तत्रैव ।—

वज्रकीटोद्भवा रेखाः पङ्क्तीभूताश्च यत्र वै ।
शालग्रामशिला या सा विष्णुपञ्जरसंज्ञिता ॥ १९३ ॥

भाषा टीका ।

फैलाते हैं; जिनमें कितनी ही कंचनवर्ण की रेखा दिखाई देती हैं और जिनका वर्ण स्फटिक की समान सफेद है, उनको हिरण्यगर्भ कहते हैं । और भी लिखा है कि–जिनका आकार आधे चंद्रमा की समान है, उनको हृषीकेश कहते हैं,—इनकी पूजा करने से स्वर्ग और सब अभिलाषित वस्तु मिलती हैं । जिनकी बाँई ओर में दो समान चक्र हैं, जिनका वर्ण कृष्ण और जो विन्दु के चिह्न से युक्त हैं,—उनको लक्ष्मीनृसिंह कहते हैं,—यह भोग और मुक्ति देने वाले हैं । जिनका वर्ण श्याम, कान्तिमहत, बाँई ओर दो चक्र और दक्षिण भाग में एक रेखा है,– उनको त्रिविक्रम कहते हैं । जिनमें दक्षिणा वर्तभाव से वनमाला का चिह्न विराजित है,– उनको कृष्ण कहते हैं,– यह धन, धान्य और सुख के देने वाले हैं । गौतमीयतंत्र में लिखा है कि—जो पुरुष बहुत जन्मों के पीछे गोष्पद चिह्न से विभूषित शिला प्राप्त करता है,—उसको फिर जन्म लेना नहीं पड़ता । जो शिला में परस्पर सटी हुई चार रेखा दिखाई देती हैं और जिनके बीच में दो चक्र विद्यमान हैं, उनको चतुर्मुख कहते हैं । और भी पद्मपुराण के पूर्वोक्त स्थान में लिखा है कि— जिनमें वज्र कीटोत्पन्न कितनी ही रेखा श्रेणीवद्ध भाव से विराजित हैं, ऊनको विष्णु पञ्जरकहते हैं ॥ १९३॥

नागवत्कुण्डलीभूतरेखापंक्तिः स शेषकः।
पद्माकारे च पंक्ती द्वे मध्ये लम्बा च रेखिका॥
गरुड़ः स तु विज्ञेयश्चतुश्चक्रो जनार्द्दनः।
चतुश्चक्रः सूक्ष्मद्वारो वनमालाङ्कितोदरः॥
लक्ष्मीनारायणः श्रीमान् भुक्ति-मुक्ति-फलप्रदः॥ १९४॥
एतल्लक्षणयुक्तास्तु शालग्रामशिलाः शुभाः।
याश्च तास्वपि सूक्ष्माः स्युस्ताः प्रशस्तकराः स्मृताः॥

तथा च श्रीभगद्ब्रह्मसम्वादे तत्रैव —

यथा यथा शिला सूक्ष्मा महत्पुण्यं तथा तथा।
तस्मात्तां पूजयेन्नित्यं धर्म्म-कामार्थ-सिद्धये॥
तत्राप्यामलकी तुल्या सूक्ष्मा चातीव या भवेत्।
तस्यामेव सदा ब्रह्मन्! प्रियासह वसाम्यहम्॥ इति॥ १९५॥

अथ श्रीशालग्रामशिला-माहात्म्यम्। श्रीगोतमीयतन्त्रे—

शालग्रामशिला-स्पर्शात् कोटिजन्माघनाशनम्।
किं पुनर्यजनं तत्र हरि-सान्निध्यकारकम्॥

पाद्मे माघ-माहात्म्ये तत्रैव—

यः पूजयेद्धरिं चक्रे शालग्रामशिलोद्भवे।
राजसूय-सहस्रेण तेनेष्टं प्रतिवासरम्॥

भाषा टीका।

जिन में भुजंगाकृति कुण्डलाकार रेखा की पंक्ति विराजमान, अनन्तचिह्न, पद्माकृति दो रेखाओं की पांक्ति और नीचे के भाग में एक लम्बी रेखा दिखाई देती है,—उनको गरुड़ और जिनमें चार चक्र दिखाई देते हैं—उनको जनार्दन कहते हैं। जो चार चक्र से संकीर्ण मुख द्वारयुक्त और जिनका मध्यभाग वनमाला से अलङ्कृत है,—उनको श्रीमान्लक्ष्मीनारायण कहते हैं—यह भोग और मोक्ष देते हैं॥ १९४॥

जिन शिलाओं में उल्लिखित लक्षण विद्यमान् हैं—वे शुभदायक हैं। उन में भी फिर जो अत्यन्त छोटे आकार वाली हैं,—वे अधिकतर मंगल प्रद हैं। पद्मपुराण के भगवद्ब्रह्म संवाद में लिखा है कि—जितनी छोटी आकृति होगी, शालग्रामशिला उतनी ही शुभदायक होगी; अतएव धर्म अर्थ कामकी प्राप्ति के लिये उन शिला की पूजा करे। हे ब्रह्मन्! उन में फिर जिस शिला का परिमाण आमल की के समान छोटा है, मैं प्रियतमा लक्ष्मी के सहित सदा उस में अधिष्ठान करता हूं॥ १९५॥

अथ शालग्रामशिला का माहात्म्य।—गौतमीय तन्त्र में लिखा है कि,—यदि शालग्रामशिला को स्पर्श करे, तो करोड़ जन्म के संचित पाप दूर होते हैं पूजा की बात फिर क्या कहूं? इन का पूजन हरि की समीपता प्राप्त कराता है॥ पद्मपुराण के माघ-माहात्म्य में लिखा है कि—जो पुरुष शालग्रामोत्पन्न चक्र में हरि की उपासना करता है, नित्य उस को

यदा मनन्ति वेदान्ता ब्रह्म निर्गुणमच्युतं ।
तत प्रसादो भवेन्नृणां शालग्राम शिलार्च्चनात् ॥
महाकाष्ठस्थितो वह्निर्मथ्यमानः प्रकाशते ।
यथा तथा हरिर्व्यापी शालग्रामे प्रकाशते ॥
अपि पापसमाचाराः कर्म्मण्यनधिकारिणः ।
शालग्रामार्च्चका वैश्य ! नैवयान्ति यमालयं ॥
न तथा रमते लक्ष्म्यां न तथा निजमन्दिरे ।
शालग्रामशिलाचक्रे यथा स रमते सदा ॥
अग्निहोत्रं हुतं तेन दत्ता पृथ्वी ससागरा ।
येनार्च्चितो हरिश्चक्रे शालग्रामशिलोद्भवे ॥
कामैः क्रोधैः प्रलोभैश्च व्याप्तो योऽत्र नराधमः ।
सोऽपि याति हरेर्ल्लोकं शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥
यःपूजयति गोविन्दं शालग्रामे सदानरः ।
आहूतसंप्लवं यावत् न सप्रच्यवते दिवः ॥ १९६ ॥
विनातीर्थैर्विनादानैर्विनायज्ञैर्विनामतिं ।
मुक्तिं याति नरो वैश्य ! शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥ १९७ ॥
नरकं गर्भवासञ्च तिर्य्यक्त्वं कृमियोनितां ।
न याति वैश्य ! पापोऽपि शालग्रामेऽच्युतार्च्चकः ॥ १९८ ॥

भाषा टीका ।

सहस्र राजसूय यज्ञ का पुण्य प्राप्त होता है । वेदान्त में जो निर्गुण अच्युत ब्रह्म शब्द से कहे जाते हैं-- शालग्रामशिला की पूजा करने पर मनुष्य के प्रति उन का अनुग्रह होता है । महाकाष्ठ के मध्यस्थित अग्नि जिस प्रकार मथने से प्रकाशित होजाती है-वैसे ही हरि व्याप्तभाव से शालग्राम में प्रकाशित होते हैं। हे वैश्य ! पापात्मा सुतरां कर्मानुष्ठान में अनधिकारी पुरुष भी शालग्राम की पूजा करने पर फिर शमन-भवन (यमलोक) में उन को जाना नहीं पड़ता । शालग्रामशिला में नारायण का जिस प्रकार सदा मन संतुष्ट होता है कमला में वा अपने मंदिर में भी वैसे संतोष की संभावना नहीं है । शालग्रामशिला के चक्र में हरि की उपासना करने से अग्निहोत्रयज्ञ और ससागरा पृथ्वीदान का फल होता है । इस लोक में जो मनुष्याधम कामक्रोध और लोभ के वशीभूत हैं-शालग्रामशिला की पूजा करने से वे पुरुष भी हरि के धाम में जाते हैं । जो पुरुष सदा शालग्रामशिला में गोविन्दकी पूजा करता है-जब तक सर्वभूतों की प्रलय नहीं होती तब तक वह सुर-पुर से नहीं गिरता ॥ १९६ ॥

हे वैश्य ! तीर्थसेवा, दान, यज्ञानुष्ठान, और ज्ञानार्जन के विना भी केवलमात्र शालग्रामशिला की पूजा से ही मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त होती है ॥ १९७ ॥

हे वैश्य ! शालग्रामशिला में श्रीकृष्णकी पूजा करने से पापात्मा पुरुष भी नरक-यातना, गर्भवास के क्लेश, पशुयोनि और कीट-योनि से छूट जाता है ॥ १९८ ॥

दीक्षाविधानमन्त्रज्ञश्चक्रे यो बलिमाहरेत ।
स याति वैष्णवं धाम सत्यं सत्यं मयोदितं ॥
नैवेद्यैर्विविधैः पुष्पैर्धूपैर्दीपैर्विलेपनैः ।
गीतवादित्रस्तोत्राद्यैः शालग्रामशिलार्च्चनं ॥
कुरुते मानवो यस्तु कलौ भक्तिपरायणः ।
कल्पकोटिसहस्राणि रमते सन्निधौ हरेः ॥
लिङ्गैस्तु कोटिभिर्दृष्टैर्यत्फलं पूजितैस्तु तैः ।
शालग्रामशिलायान्तु एकेनापीह तत्फलं ॥
शालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः ।
तत्र देवासुरायक्षा भुवनानि चतुर्द्दश ॥
शालग्रामशिलायान्तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ।
पितरस्तस्य तिष्ठन्ति तृप्ताः कल्पशतं दिवि ॥ १९९ ॥
शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं योजनत्रयं ।
तत्र दानं जपो होमः सर्व्वं कोटिगुणं भवेत् ॥
शालग्राम समीपेतु क्रोशमात्रं समन्ततः ।
कीकटोऽपि मृते याति वैकुण्ठ भुवनं नरः ॥ २०० ॥
शालग्रामशिलाचक्रं यो दद्याद्दानमुत्तमं ।
भूचक्रं तेन दत्तं स्यात् सशैलवनकाननं ॥

भाषा टीका ।

जो पुरुष दीक्षाकी विधि और मंत्र परिज्ञात हुआ है,—मैं वारंवार सत्य करके कहता हूं–" शालग्रामशिला में उपचार प्रदान करने से वह पुरुष हरि के धाम में जाताहै ।,, कलियुग में जो पुरुष भक्ति निष्ठ होकर नानाप्रकार नैवेद्य, कुसुम, धूप, दीप, विलेपन (उवटन) गीत, वाद्य और स्तुति वाद्यादि से शालग्रामशिला की पूजा करते हैं–हजार करोड़ कल्प तक हरि के समीप ऊनका वास होता है,– वे वहां आनंद सहित अवस्थान करते हैं। केवलमात्र शालग्रामशिला की पूजा करने से हजार शिवलिंग के दर्शन और पूजन का फल होता है। शालग्रामशिला रूपी हरि जहां विद्यमान् हैं,—देवता, दानव, यक्ष और चौदह भुवन वहां अधिष्ठित हैं। शालग्रामशिला में श्राद्ध करने से श्राद्ध करने वाले का पितृकुल तृप्त होकर सौकल्प तक सुरपुर में विराजित रहता है ॥ १९९ ॥

जहां शालग्रामशिला विराजित रहती है–वहां के तीन योजन तक का स्थान तीर्थ में गिना जाता है–वहां दान, जप और होमादि जिस किसी कार्य का अनुष्ठान किया जाय—वह सब करोड़ गुंण फल का देने वाला होता है। शालग्रामशिला के चारों ओर एक कोश परिमित स्थान में देह त्याग करने से कीकट देशोत्पन्न नराधम भी वैकुण्ठ को प्राप्त होता है ॥ २०० ॥

शालग्रामशिला श्रेष्ठ दान करने से पर्वत वनादि से विराजित पृथ्वी के दान का फल होता है। स्कन्द पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में शिव कार्त्तिकेय, सम्वाद

स्कान्देकार्त्तिकमाहात्म्ये श्रीशिवस्कन्दसंवादे —

शालग्रामशिलायान्तु त्रैलोक्यं सचराचरं ।
मया सह महासेन ! लीनं तिष्ठति सर्व्वदा ॥ २०१ ॥
दृष्टा प्रणमिता येन स्नापिता पूजिता तथा ।
यज्ञकोटिसमं पुण्यं गवां कोटिफलं भवेत् ॥
कामासक्तोऽपि यो नित्यं भक्तिभाव विवर्जितः ।
शालग्रामशिलां विप्र सपूज्यैवाच्युतो भवेत् ॥ २०२ ॥
शालग्रामशिलाविम्वं हत्याकोटिविनाशनं ।
स्मृतं संकीर्त्तितं ध्यातं पूजितञ्च नमस्कृतं ॥
शालग्रामशिलां दृष्ट्वा यान्ति पापान्यनेकशः ।
सिंहं दृष्ट्वा यथा यान्ति वने मृगगणा भयात् ॥
नमस्करोति मनुजः शालग्रामशिलार्च्चने ।
पापानि विलयं यान्ति तमःसूर्य्योदये यथा ॥ २०३ ॥
कामासक्तोऽथवा क्रुद्धः शालग्रामशिलार्च्चनं ।
भक्त्या वा यदिवाऽभक्त्या कृत्वा मुक्तिमवाप्नुयात् ।
वैवस्वतं भयं नास्ति तथा मरण जन्मनोः ॥
यः कथां कुरुते विष्णोः शालग्रामशिलाग्रतः ।
गीतैर्वाद्यैस्तथा स्तोत्रैः शालग्रामशिलार्च्चनं ॥
कुरुतेमानवो यस्तु कलौभक्ति परायणः ।
कल्पकोटिसहस्राणि रमते विष्णुसद्मनि ॥ २०४ ॥

भाषा टीका।

में लिखा है कि,– हे कार्तिकेय ! चराचर और त्रिलोक के सहित मैं हमेशा शालग्रामशिला में लीन रहताहूं ॥२०१॥

जिस पुरुष ने शालग्रामशिला का दर्शन, वंदन, स्नापन (स्नान कराना) और पूजा करी है, उसके करोड़ यज्ञानुष्ठान का और करोड़ गौ–दान का पुण्य संचय हुआ है। शालग्रामशिला की पूजा करने से नित्य कामातुर, भक्ति भावहीन मनुष्य को भी नारायण का सारूप्य प्राप्त होता है ॥ २०२ ॥

शालग्रामशिला के स्मरण, कीर्तन, ध्यान, पूजा और वंदना द्वारा करोड़ हत्या जनित पाप से छुटकारा मिलता है। मृगगण जिस प्रकार वन में सिंह देखकर भय से भागते हैं, शालग्रामशिला का दर्शन करने पर भी वैसे ही विविध पाप समूह भाग जाते हैं । शालग्रामशिला की पूजा पूर्वक प्रणाम करने पर सूर्योदय से अंधकार नाश होने के समान उस प्रणाम करने वाले के सब पाप दूर होजाते हैं ॥ २०३॥

भक्ति सहित हो वा अभक्ति सहित ही हो, शालग्राम की पूजा करने पर कामासक्त वा क्रोधाकुल-पुरुष को भी मुक्ति लाभ होती है । शालग्राम के सन्मुख हरि की कथा कहने से उसको यमराज का भय तथा जन्म मृत्यु का भय नहीं रहता। कलिकाल में भक्तिनिष्ठ हो गीत, वाद्य, और स्तुति वाद से शालग्राम की पूजा करने पर सहस्र करोड़ कल्प तक हरि के धाम में आनंद भोग सकता है ॥ २०४ ॥

शालग्राम नमस्कारेऽभाविनापि नरैः कृते ।
भयं नैव करिष्यन्ति मद्भक्ता ये नरा भुवि ॥
मद्भक्ति बलदर्पिष्ठा मत्प्रभुं न नमन्ति ये ।
वासुदेवं न ते ज्ञेया मद्भक्ताः पापिनो हि ते ॥
शालग्रामशिलायान्तु सदा पुत्र ! वसाम्यहं ।
दत्तं देवेन तुष्टेन स्वस्थानं मम भक्तितः ॥
पद्मकोटि सहस्रैस्तु पूजिते मयि यत्फलं ।
तत्फलं कोटि गुणितं शालग्रामशिलार्च्चने ॥
पूजितोऽहंनतैर्मर्त्यैर्नमितोऽहं न तैर्नरैः ॥
न कृतं मर्त्यलोके यैः शालग्रामशिलार्च्चनं ।
शालग्रामशिलाग्रेतु यः करोति ममार्चनं ॥
तेनार्च्चितोऽहं सततं युगानामेकसप्ततिम् ।
किमर्च्चितैर्लिङ्गशतैर्विष्णुभक्ति-विवर्ज्जितैः ॥
शालग्रामशिलाविम्बं नार्च्चितं यदि पुत्रक ! ।
अनर्हं मम नैवेद्यं पत्रां पुष्पं फलं जलं ॥

भाषा टीका ।

महादेवजी ने कहा था कि,—पृथ्वी में मद्भक्ति-निष्ठगण भक्ति हीन भाव से भी शालग्राम को प्रणाम करने पर उन्हें भय को प्राप्त होना नहीं पड़ता अर्थात् जो पुरुष मेरे सहित हरि का भेद जानकर मेरी ही आराधना करते हैं, यद्यपि उनको इस अपराध के कारण भय की आशंका रहती है, किन्तु शालग्राम को प्रणाम करने से उनका वह अपराध नहीं होता है; और उनको किसी प्रकार का भय विद्यमान नहीं रहता । जो मनुष्य मेरी भक्ति के वल से दर्पित [घमंडी] होकर मेरे प्रभु—हरि की वंदना नहीं करते वे मेरे भक्तों में नहीं गिने जाते, वे पातकी हैं; इसमें संदेह नहीं । हे वत्स ! मैं सदा शालिग्रामशिला में अधिष्ठान करता हूं; प्रभुने मेरी भक्ति से प्रसन्न होकर मुझको अपना वास—स्थान समर्पण किया है । हजार करोड़ पद्म-पुष्प से मेरी पूजा करने पर जो फल होता है, शाल-ग्रामशिला की पूजा करने से उसकी अपेक्षा करोड़ गुँणा फल होता है । नरलोक में शालग्रामशिला की पूजा न करने वाले मनुष्यों की मेरी पूजा वा मेरी वंदना करने पर मैं उस पूजा और प्रणाम को ग्रहण नहीं करता । शालग्रामशिला के सन्मुख मेरी पूजा करने से उस पूजा करने वाले की एक सप्तति युग [इकत्तर युग पर्यन्त] सदा मेरी पूजा करनी होजाती है । हेवत्स ! जिन मनुष्यों ने शालग्रामशिला की पूजा नहीं करी है, वह विष्णु,- भक्ति हीन पुरुषों में गिनने योग्य हैं । सौ शिव लिंग की पूजा करने पर भी उनको किसी फल के प्राप्त होने की आशा नहीं है । जो नैवेद्य, पत्र, पुष्प, फल और जल मेरे अयोग्य है, शालग्रामशिला के स्पर्श से वे सब भी विशुद्धता को प्राप्त होजाते हैं । शिवभक्ति-परायण होकर सर्व श्रेष्ठ हरि मूर्त्ति के प्रति द्वेषाचरण करने से चौदह इन्द्रपात तक वह पुरुष नरक का दुःख भोगता है । तत्व—ज्ञान हीन मनुष्य भी एकवार मात्र शालग्राम-शिला की पूजा करने पर मुक्ति प्राप्त होता है, इसमें

शालग्रामशिलालग्नं सर्व्वं याति पवित्रतां ।
यो हि माहेश्वरो भूत्वा वैष्णवं लिङ्गमुत्तमं ॥
द्वेष्टि वै याति नरकं यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ।
सकृदप्यर्च्चिते विम्वे शालग्रामशिलोद्भवे ॥
मुक्तिं प्रयान्ति मनुजा नूनं सांख्येन वर्जिताः ।
मल्लिङ्गैः कोटिभिर्दृष्टैर्यत्फलं पूजितैःस्तुतैः ॥
शालग्रामशिलायान्तु एकेनापि हि तद्भवेत ।
तस्माद्भक्त्या च मद्भक्तैः प्रीत्यर्थं मम पुत्रक ! ॥
कर्त्तव्यं सततं भक्त्या शालग्रामशिलार्च्चनं ।
शालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः ॥
तत्रदेवाऽसुरायक्षा भुवनानि-चतुर्द्दश ॥ २०५ ॥
शालग्रामशिलाग्रेतु सकृत्पिण्डेन तर्पिताः ।
भवन्ति पितरस्तस्य न संख्या तत्र विद्यते ॥ २०६ ॥
प्रमाणमस्ति सर्व्वस्य सुकृतस्य हि पुत्रक ! ।
फलं प्रमाण हीनन्तु शालग्रामशिलार्च्चने ॥
यो ददाति शिलां विष्णोः शालग्राम समुद्भवां ।
विप्राय विष्णुभक्ताय तेनेष्टं वहुभिर्मखैः ॥
मानुष्ये दुर्ल्लभालोके शालग्रामोद्भवाशिला ।
प्राप्यते न विनापुण्यैः कलिकाले विशेषतः ॥
स धन्यः पुरुषोलोके सफलं तस्य जीवितं ।

भाषा टीका ।

संदेह नहीं । मेरे करोड़ लिंगों का दर्शन और पूजा करने से जो फल मिलता है एक मात्र शालग्राम-शिला रूपी हरि जिस स्थान में विराजमान् रहते हैं उस स्थान में देवता, दानव, यक्ष और चौदह भुवन अवस्थिति करते हैं ॥ २०५ ॥

शालग्रामशिला के सन्मुख केवल एकवार मात्र पिण्डदान द्वारा पितरों की तृप्ति करने से,वे कितने दिन प्रसन्न रहते हैं उसकी गिनती नहीं होसक्ती ॥२०६

हेवत्स ! सब प्रकार के पुण्यों काहो परिमाण हो सकता है, किन्तु शालग्रामशिला की पूजा के फल का परिमाण नहीं किया जासक्ता । विष्णुभक्ति परायण ब्राह्मण को शालग्रामशिला दान करने से अनेक यज्ञो के अनुष्ठान करने का फल होता है । मर्त्तलोक में शालग्रामशिला दुष्प्राप्प है। पुण्यके विना विशेषतः कलियुग में उनको प्राप्त नहीं किया जाता । जिस पुरुष के घर में पवित्र शालग्रामशिला की पूजा होती है,-वही पुरुष धन्य और उसी का जीवन सार्थक है। इन्द्रियों को संयम कर भक्ति सहित पुष्प द्वारा शालग्रामशिला की पूजा करने पर, प्रति पुष्प में अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करसकता है। क्या काल में, क्या अकाल में, क्या भक्ति सहित, क्या अभक्ति

शालग्रामशिला शुद्धा गृहे यस्य च पूजिता ॥
संनियम्येन्द्रिय-ग्रामं शालग्रामशिलार्च्चनं ।
यः कुर्य्यान्मानवो भक्त्या पुष्पे पुष्पेऽश्वमेधभाक् ॥
काले वा यदि वाऽकाले शालग्रामशिलार्च्चनं ।
भक्त्या वा यदि वाऽभक्त्या यः करोति स पुण्यभाक् ॥
द्वेषेणापि च लोभेन दम्भेन कपटेन वा ।
शालग्रामोद्भवं देवं दृष्ट्वा पापात प्रमुच्यते ॥
अशुचिर्व्वा दुराचारः सत्यशौचविवर्ज्जितः ।
शालग्रामशिलां स्पृष्ट्वा सद्यएव शुचिर्भवेत् ॥
तिलप्रस्थशतं भक्त्या यो ददाति दिने दिने ।
तत्फलं समवाप्नोति शालग्रामशिलार्च्चने ॥
पत्रं पुष्पं फलं मूलं तोयं दूर्व्वाक्षतं सुत ! ।
जायते मेरुणा तुल्यं शालग्रामशिलार्पितम् ॥ २०७ ॥
विधिहीनोऽपि यः कुर्य्यात् क्रियामन्त्रविवर्ज्जितः ।
चक्र-पूजामवाप्नोति सम्यक् शास्त्रोदितं फलम् ॥ २०८ ॥

तत्रैव चान्यत्र —

स्कन्धे कृत्वा तु योऽध्वानं वहते शैलनायकम् । *
तेनोढ़न्तु भवेत् सर्व्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥
ब्रह्महत्यादिकं पापं यत् किञ्चित् कुरुते नरः ।

* शैलनायक—श्रीशालग्रामशिला ॥

भाषा टीका ।

सहित, जिस प्रकार ही क्यों न हो, शालग्रामशिला की पूजा करने पर, वह पुरुष पुण्य का भागी होता है । क्या द्वेष से, क्या लोभ से, क्या दंभ सहित, क्या कपटता से, जिस किसी प्रकार हो, शालग्राम संभूत देव को अवलोकन करने पर, पापों से छूट सकता है। शालग्रामशिला को स्पर्श करने से अपवित्र अथवा दुराचारी एवं सत्य हीन वा शुद्धि–रहित मनुष्य भी तत्काल पवित्रता लाभ करता है । नित्य भक्ति सहित सौ प्रस्थ (तौल विशेष) तिलदान का फल, शालग्रामशिला की पूजा करने से मिलता है। हेवत्स ! पत्र, पुष्प, फल, मूल, जल, दूर्वा और आतपतण्डुल शालग्रामशिला में प्रदत्त होने पर मेरु तुल्य होता है ॥ २०७ ॥

शालग्राम–चक्र की पूजा करने से विधि हीन, क्रिया हीन, और मंत्र हीन पुरुष भी सम्यक्प्रकार शास्त्र में कहे फल को प्राप्त होता है ॥ २०८ ॥

इस विषय में अन्यत्र भी लिखा है कि— जो पुरुष कंधे पर शालग्रामशिला रखकर भ्रमण करता है, वह मानो चराचर त्रिभुवन को वहन करता है। मनुष्य

तत् सर्व्वं निर्द्दहत्याशु शालग्रामशिलार्च्चनम् ॥
न पूजनं न मन्त्राश्च न जपा न च भावना ।
न स्तुतिर्नोपचारश्च शालग्रामशिलार्च्चने ॥
शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं योजनत्रयम् ।
तत्र दानञ्च होमश्च सर्व्वं कोटिगुणं भवेत ॥
शालग्रामशिलायान्तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ।
पितरस्तस्य तिष्ठन्ति तृप्ताः कल्पशतं दिवि ॥
शालग्राम-समीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः ।
कीकटोऽपि मृतो याति वैकुण्ठभुवनं नरः ॥
पाद्मे च ।– शालग्रामशिलाचक्रं यो दद्याद्दानमुत्तमम् ।
भूचक्रं तेन दत्तं स्यात् सशैलवनकाननम् ॥ २०९ ॥
गरुड़पुराणे।–तिष्ठन्ति नित्यं पितरो मनुष्यास्तीर्थानि गङ्गादिकपुष्कराणि ।
यज्ञाश्च मेधाद्यपि पुण्यशैलाश्चक्राङ्किता यस्य वसन्ति गेहे ॥ २१० ॥
पाद्मे कार्तिकमाहात्म्ये श्रीयम–धूम्रकेशसम्वादे —
शालग्रामशिलायान्तु यैर्नरैःपूजितो हरिः ।
संशोध्य तेषां पापानि मुक्तये बुद्धिदो भवेत ॥
कार्तिके मथुरायान्तु सारूप्यं दिशते हरिः ।
शालग्रामशिलायां वै पितॄनुद्दिश्य पूजितः ॥

भाषा टीका ।

ब्रह्महत्यादि जिस किसी पाप का आचरण करता है, शालग्रामशिला की पूजा से वह पाप तत्काल भस्म होता है । शालग्रामशिला की पूजा में क्या–मंत्र, क्या–जप, क्या–भावना, क्या–स्तुति, क्या–उपचार किसी की आवश्यकता नहीं है। जहां शालग्रामशिला विराजित रहती है, उसके चारों ओर तीन योजन अर्थात् बारह कोश तक के स्थान तीर्थ में गिने जाते हैं। वहां दान वा होम समस्त ही करोड़ गुंण होता है। शालग्रामशिला में श्राद्ध करने पर श्राद्ध करने वाले के पितृगण संतुष्ट होकर सौ कल्प तक सुर-पुर में वास करते हैं । शालग्राम के समीप कोश परिमिति स्थान में देह त्याग करने से कीकट देशोत्पन्न पुरुष भी वैकुण्ठ में जाता है । पद्म पुराण में भी लिखा है कि,—अति उत्तम शालग्राम चक्र (ब्राह्मण) को दान करने से गिरि कानन (वन) युक्त पृथ्वी के दान का फल होता है ॥ २०९ ॥

गरूड़पुराण में लिखा है कि,—जिस पुरुष के घर में चक्र–चिह्नित विशुद्ध शिला विराजित रहती है—उसके घर पितृगण, मनुष्यगण, गंगादि पुष्कर तक सब तीर्थ और अश्वमेधादि सब यज्ञ तथा पवित्र पर्वत उपस्थित होते हैं ॥ २१० ॥

पद्मपुराण के कार्तिक माहात्म्य में यम–धूम्रकेश संवाद में लिखा है कि,—जो शालग्रामशिला में हरि

कृष्णः समुद्धरेत्तस्य पितॄनेतान् स्वलोकताम् ॥

बृहन्नारदीये च यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते —

शालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः।
न बाधन्तेऽसुरास्तत्र भूतवेतालकादयः॥
शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं तत्तपोवनम्।
यतः सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः॥ इति ॥ २११ ॥

शालग्रामशिलास्ताश्च यदि द्वादश पूजिताः।
शतं वा पूजितं भक्त्या तदा स्यादधिकं फलम् ॥

अथ बाहुल्ये तासां फल-विशेषः।

पाद्मे माघ माहात्म्ये देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे —

शिला द्वादश भो वैश्य ! शालग्रामसमुद्भवाः।
विधिवत् पूजिता येन तस्य पुण्यं वदामि ते ॥
कोटि द्वादशलिङ्गैस्तु पूजितैः स्वर्णपङ्कजैः।
यत् स्याद्द्वादशकल्पैस्तु दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥
यः पुनः पूजयेद्भक्त्या शालग्रामशिलाशतम्।
उषित्वा स हरेर्लोके चक्रवर्त्ती हि जायते ॥ २१२ ॥

स्कान्दे कार्त्तिकमाहात्म्ये श्रीशिवस्कन्द-सम्वादे —

द्वादशैव शिला यो वै शालग्रामसमुद्भवाः।

भाषा टीका।

की पूजा करते हैं, हरि उन मनुष्यों के समस्त पाप शुद्ध कर मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त बुद्धि प्रदान करते हैं। कार्त्तिक मास में मथुरा में शालग्रामशिला की पूजा करने से हरि सारूप्य मुक्ति प्रदान करते हैं। पितरों के लिये शालग्रामशिला में पूजा करने से हरि उन सब पितृ कुलकी रक्षा करके अपने धाम में ले जाते हैं। वृहन्नारदीयपुराण में यज्ञध्वजोपाख्यान के शेष में लिखा है कि,—जिस स्थान में शालग्राम शिलारूपी हरि विराजमान रहते हैं, वहां असुर,भूत,वेताल इत्यादि कोई किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकते। शालग्रामशिला जिस स्थान में अधिष्ठित रहती है, वह स्थान ही तीर्थ स्वरूप है और वही तपोवन स्वरूप है; क्यो कि-भगवान हरि उस स्थान के समीप रहते हैं ॥ १११ ॥

पूर्व कथित शालग्रामशिला में द्वादश संख्यक वा शत संख्यक की भक्ति सहित पूजा करने पर अधिक फल प्राप्त होता है।

बहु परिमाण से पूजन का फल भेद।—पदमपुराण के माघ माहात्म्य में देवदूत—विकुण्डल संवाद में लिखा है कि,—हे वैश्य! जो पुरुष विधि पूर्वक द्वादश शालग्राम की पूजा करता है, उसके पुण्य की बात तुमसे कहता हूं। स्वर्ण कमलों से बारह करोड़ शिवलिंग: की पूजा करने से जो फल होता है, एक दिन मात्र शालग्राम-शिला की पूजासे वही फल मिलजाता है। भक्ति सहित एक शत शालग्रामशिला की पुजा करने से वह पूजा करने वाला (कुछ काल) हरिधाम में वास कर फिर चक्रवर्त्ती (राजा) हो पृथ्वी में आता है ॥ २१२ ॥

अर्च्चयेद्वैष्णवो नित्यं तस्य पुण्यं वदामि ते ।
कोटि लिङ्ग सहस्रैस्तु पूजितैर्जाह्नवीतटे ॥
काशीवासे युगान्यष्टौ दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥ २१३ ॥

किं पुनर्व्वहवो यस्तु पूजयेद्वैष्णवो नरः ॥
न हि ब्रह्मादयो देवाः संख्यां कुर्व्वन्ति पुण्यतः ॥ २१४ ॥

अथ तत्क्रयविक्रयनिषेधः ।

तत्रैव — शालग्रामशिलायां यो मूल्यमुद्घाटयेन्नरः ।
विक्रेताश्चानुमन्ता च यः परीक्षामुदीरयेत् ॥
सर्व्वे ते नरकं यान्ति यावदाभूतसंप्लवम् ।
अतः संवर्जयेद्विप्र ! चक्रस्य क्रयविक्रयम् ॥

अथ प्रतिष्ठा-निषेधः ।

तत्रैव ।— शालग्रामशिलायान्तु प्रतिष्ठा नैव विद्यते ।
महापूजान्तु कृत्वादौ पूजयेत्तां ततो बुधः ॥ इति ॥ २१५ ॥

अतोऽधिष्ठानवर्गेषु सूर्य्यादिष्विव मूर्त्तिषु ।
शालग्रामशिलैव स्यादधिष्ठानोत्तमं हरेः ॥

भाषा टीका।

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में शिव कार्त्तिकेय सम्वाद में लिखा है कि—जो वैष्णव नित्य, द्वादश शालग्रामकी पूजा करता है, उसके पुण्य का विषय तुमसे कहता हूं। गंगा के तटपर हजार करोड़ शिवलिंग की पूजा करने पर और आठ युग तक काशी धाम में वास करने पर जो फल होता है-एक दिन मेंही उसको वह फल प्राप्त होजाता है ॥ २१३ ॥

जो वैष्णव उससे (द्वादश से) भी अधिक पूजा करते हैं उनकी बात अधिक और क्या कहुं—ब्रह्मादि देवता भी उनके पुण्यकी संख्या करने में समर्थ नहीं हैं ॥ २१४ ॥

शालग्रामक्रय विक्रयका निषेध ।-इस स्कन्द-पुराण मेंही लिखा है कि—जो पुरुष शालग्राम का मूल्य उदघाटन[जाहिर] करता है, जो पुरुष उनको वेचता है, जो मूल्य करने में सम्मति प्रदान करता और जो पुरुष वेचने के लिये शिला के गुंण दोष की परिक्षा करता है,-ये सव प्रलयकाल तक नरक में वास करते हैं—अतएव हे ब्रह्मन् ! शालग्रामशिला का क्रय विक्रय करना उचित नहीं है।

शालग्राम शिला की प्रतिष्ठा का निषेध ।—इसी स्कन्द पुराण में लिखा है कि,-शालग्राम की प्रतिष्ठा न करे। बुद्धिमान् पुरुष पहिले महापूजा करके फिर शिला की पूजा करे ॥ २१५ ॥

सुतरां सूर्यादि समस्त अधिष्ठान में और प्रति मूर्त्तियों में शालग्रामशिला ही हरि का अति उत्तम अधिष्ठान हुआ।

अथ सर्व्वाधिष्ठानश्रैष्ठ्यम् ।

तत्रैव ।—हृदि सूर्य्ये जले वाथ प्रतिमास्थण्डिलेषु च ।
समभ्यर्च्च्य हरिं यान्ति नरास्ते वैष्णवं पदम् ॥ २१६ ॥

अथवा सर्व्वदा पूज्यो वासुदेवो मुमुक्षुभिः ।
शालग्रामशिलाचक्रे वज्रकीटविनिर्म्मिते ॥

अधिष्ठानं हि तत् विष्णोः सर्व्वपापप्रणाशनम् ।
सर्व्वपुण्यप्रदं वैश्य ! सर्व्वेषामपि मुक्तिदम् ॥ २१७ ॥

तत्रैव कार्त्तिक-माहात्म्ये यमधूम्रकेशसम्वादे —

पूजा च विहिता तस्य प्रतिमायां नृपात्मज !
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकता ॥

मनोमयी मणिमयी श्रीमूर्त्तिरष्टधा स्मृता ।
शालग्रामशिलायान्तु साक्षात् श्रीकृष्ण सेवनम् ॥
नित्यं सन्निहितस्तत्र वासुदेवो जगद्गुरुः ॥ २१८॥

स्कान्दे कार्त्तिकमाहात्म्ये श्रीशिवस्कन्दसम्वादे —

सुवर्णार्च्चा न रत्नार्च्चा न शिलार्च्चा सुरोत्तम !
शालग्रामशिलायान्तु सर्व्वदा वसते हरिः ॥ २१९ ॥

भाषा टीका ।

अधिष्ठान की अपेक्षा शालग्राम की प्रधानता ।—पद्मपुराण के माघ माहात्म्य में लिखा है कि,—मनुष्य हृदय में, सूर्य में, जल में, प्रतिमा में, अथवा स्थण्डिल में हरिकी पूजा करके हरिका धाम लाभ करते हैं॥११६॥

अथवा (इन सब में पूजा करने पर यदि प्रसन्नता न हो तो) मुक्ति की इच्छा करने वाले मनुष्य वज्रकीट- निर्मित शालग्रामशिला में हरि की पूजा करें । हे वैश्य ! हरि का यह शालग्राम-रूप अधिष्ठान, समस्त पापों का हरने वाला, समस्त पुण्यदायक और सभी के पक्ष में मोक्षदायक है ॥ २१७ ॥

इसी पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में यम धूम्रकेश संवाद में लिखा है कि,—हे राजनंदन ! प्रतिमा में हरि की पूजा की विधि है । प्रतिमा आठ प्रकार की हैं ।—शैली (पत्थर की) दारुमयी [काष्ठकी] लौही (धातुमयी)लेपमयी, लेख्या (लिखी हुई) वालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी । शालग्रामशिला में पूजा करने पर ही वह मानों साक्षात् कृष्ण की ही आराधना होती हैं; जगद्गुरु वासुदेव (सदा) इस शिला में अधिष्ठित रहते हैं ॥ २१८ ॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में शिव कार्त्तिकेय सम्वाद में लिखा है कि,—हे देवसत्तम ! हरि क्या सुवर्णप्रतिमा, क्या रत्नमयी प्रतिमा, क्या पत्थर की प्रतिमा, इन सब में सदा अधिष्ठान नहीं करते, किन्तु शालग्रामशिला में प्रतिक्षण विराजित रहते हैं ॥ २१९ ॥

अतएवोक्तम् —

हत्यां हन्ति यदंघ्रिसङ्गतुलसी स्तेयं च तोयं पदे ।
नैवेद्यं बहुमद्यपानदुरितं गुर्वङ्गनासङ्गजम् ॥
श्रीशाधीनमतिः स्थितिर्हरिजनैस्तत्सङ्गजं किल्विषम् ।
शालग्रामशिलानृसिंहमहिमा कोऽप्येष लोकोत्तरः ॥ २२० ॥
शालग्रामशिलारूपभगवन्माहिमाम्बुधेः ।
ऊर्म्मिर्न गणयितुं शक्यः श्रीचैतन्याश्रितोऽपि कः ॥ २२१ ॥

अथ शालग्रामशिलापूजानित्यता ।

पाद्मे ।— शालग्रामशिलापूजां विना योऽश्नाति किञ्चन ।
स चाण्डालादि विष्ठायामाकल्पं जायते कृमिः ॥
स्कांदे च ।– गौरवाचलशृंगाग्रैर्भिद्यते तस्य वै तनुः ।
न मतिर्जायते यस्य शालग्रामशिलार्च्चने ॥ इति ॥ २२२ ॥
एवंश्रीभगवान् सर्व्वैः शालग्रामशिलात्मकः ।
द्विजैःस्त्रीभिश्च शूद्रैश्च पूज्यो भगवतः परैः ॥ २२३ ॥

तथा स्कान्दे श्रीब्रह्मनारदसम्वादे चातुर्मास्यव्रते शालग्रामशिलार्च्चा प्रसङ्गे —
ब्राह्मणक्षत्रियविशां सच्छूद्राणामथापि वा ।
शालग्रामेऽधिकारोऽस्ति न चान्येषां कदाचन ॥

भाषा टीका ।

अतएव कहा है कि,–अहो ! शालग्रामशिला-नृसिंहरूपी, नृसिंहदेव की महिमा क्या लोकातीत हैं। उनके चरण कमलों में लगी हुई तुलसी,– ब्रह्महत्य का पातक, पादोदक,–चोरी जनित पातक और उनका नैवेद्य,–बहुत मद्य पान का पातक एवं गुरुकी स्त्री से रमण करने का पातक दूर कर देता है । इन देव को स्मरण करने से और उनके भक्तों के संग वास करने से पूर्व कथित पातक करने वालों के साथ सहवास करने का पाप दूर होता है ॥ २२० ॥

सर्ववेत्ता होने पर भी कोई शालग्रामशिला के माहात्म्य रूपी सागर की तरंग माला ओं को नहीं गिन सकता ॥ २२१ ॥

शालग्रामशिला के पूजन की नित्यता ।—पद्मपुराण में लिखा है कि,—शालग्राम की पूजा विना किये भोजन करने से चाण्डालादि के मलका कीड़ा होकर कल्पकाल तक स्थिति करता है । स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—शालग्रामशिला की पूजा में जिस पुरुष की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, पर्वतशृङ्ग गिराकर उसका देह भेद करता है ॥ २२२ ॥

अतएव विधि सहित दीक्षा ग्रहण करके भगवान् की पूजा में तत्पर होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री शूद्र सभी शालग्रामशिला-रूपी भगवान् की पूजा करें ॥ २२३ ॥

स्कन्दपुराणके ब्रह्म नारद सम्वाद में चातुर्मास्य-व्रत विषय के शालग्रामशिला की पूजा के प्रसंग में कहा है कि,– ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह शालग्राम की पूजा में अधिकारी हैं और शूद्र का भी अधिकार

तत्रैवान्यत्र ।—

स्त्रियो वा यदिवा शूद्रा ब्राह्मणाः क्षत्रियादयः ।
पूजयित्वा शिलाचक्रं लभन्ते शाश्वतं पदं ॥ इति ॥
अतो निषेधकंयद् यद्वचनं श्रूयते स्फुटं ।
अवैष्णवपरं तत्तद्विज्ञेयं तत्त्वदर्शिभिः ॥

यथा ।— ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहं शुचेरप्यशुचेरपि ।
स्त्रीशूद्रकरसंस्पर्शो वज्रादपि सुदुःसहः ॥
प्रणवोच्चारणाच्चैव शालग्रामशिलार्च्चनात् ।
ब्राह्मणीगमनाच्चैव शूद्रश्चाण्डालतामियात् ॥ २२४ ॥

सन्ध्यार्य्या वैष्णवैर्यत्नाच्छालग्रामशिलासुवत् ।
सा चार्च्या द्वारकाचक्राङ्कितोपेतैव सर्व्वदा ॥

अथ शालग्रामशिला-श्रीद्वारकाचक्राङ्कशिलासंयोग माहात्म्यम् ।

ब्राह्मे तत्रैव ।—

शालग्रामोद्भवो देवो देवो द्वारवतीभवः ।
उभयोः सङ्गमो यत्र मुक्तिस्तत्र न संशयः ॥

भाषा टीका ।

है, अन्य का कभी नहीं अर्थात् हरिभक्तिपरायण शूद्र का भी अधिकार है । हरि भक्ति हीन होने पर ब्राह्मणादि का भी अधिकार नहीं है । इसी स्कन्दपुराण के स्थानान्तर में भी लिखा है कि,—क्या स्त्री, क्या-शूद्र, क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रियादि, चाहें जो कोई क्यों न हो, शालग्राम की पूजा करने से सभी को नित्यपद प्राप्त होता है । सुतरां स्त्री, शूद्रादि के पक्ष में शालग्राम की पूजा के विषय में जो सब निषेध वचन स्पष्ट सुनाई देते हैं, तत्व दर्शी पुरुष कहते हैं, जो विष्णुभक्त नहीं हैं, उन्हीं के पक्ष में इन सब निषेध वचनों को समझना चाहिये । निषेध वाक्य, यथा-पवित्र हो वा अपवित्र हो, ब्राह्मण ही मेरी पूजा में अधिकारी है, स्त्री और शूद्र का हाथ लगाना मुझको वज्र से भी दुःसह है । शूद्र यदि प्रणव (ओंकार) उच्चारण करे, शालग्रामशिला की पूजा करे, अथवा ब्राह्मणी से भोग करे, तो वह चाण्डालत्व प्राप्त होता है ॥ २२४ ॥

प्राण की समान जानकर यत्न सहित शालग्रामशिला का धारण करना वैष्णव का कर्त्तव्य है, । पूजा-काल में द्वारकाचक्राङ्कितशिला के सहित एकत्र ही पूजा करनी चाहिये ।

शालग्रामशिला और द्वारकाचक्राङ्कित— शिला के संयोग का माहात्म्य —ब्रह्मपुराण में लिखा है कि,-शालग्रामोद्भवदेव और द्वारवती के उत्पन्न हुए देव दोनों जिस स्थान में मिलित हैं, वहां निःसन्देह मुक्ति विद्यमान रहती है ।

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारदसम्वादे —

चक्राङ्किता शिला यत्र शालग्रामशिलाग्रतः ।
तिष्ठते मुनिशार्द्दूल ! वर्द्धन्ते तत्र सम्पदः ॥

तत्रैवान्यत्र —

प्रत्यहं द्वादश शिलाः शालग्रामस्य योऽर्च्चयेत् ।
द्वारवत्याः शिलायुक्ताः स वैकुण्ठे महीयते ॥ २२५ ॥

अथ द्वारकाचक्राङ्क-लक्षणानि ।

श्रीप्रह्लादसंहितायां—

एकः सुदर्शनो द्वाभ्यां लक्ष्मीनारायणः स्मृतः ।
त्रिभिस्त्रिविक्रमो नाम चतुर्भिश्च जनार्द्दनः ॥
पञ्चभिर्वासुदेवस्तु षड्भिः प्रद्युम्न उच्यते ।
सप्तभिर्वलदेवस्तु अष्टभिः पुरुषोत्तमः ॥ २२६ ॥
नवभिश्च नवव्यूहो दशभिर्दशमूर्त्तिकः ।
एकादशैश्चानिरुद्धो द्वादशैर्द्वादशात्मकः ॥
अन्येषु वहुचक्रेषु अनन्तः परिकीर्त्तितः ॥ २२७ ॥

अथ द्वादशचक्राङ्क-माहात्म्यम् ।

वाराहे ।— ये केचिच्चैव पाषाणा विष्णुचक्रेण मुद्रिताः ।
तेषां स्पर्शनमात्रेण मुच्यते सर्व्वपातकैः ॥

भाषा टीका ।

स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद संवाद में लिखा है कि—हे तापसप्रवर ! जहां शालग्रामशिला के सन्मुख द्वारकाचक्राङ्कितशिला विराजमान रहती है, वहां सव प्रकार की सम्पत्ति उत्तरोत्तर वढ़ती जाती है । स्कन्द-पुराण के दूसरे स्थान में भी लिखा है कि,—प्रति-दिन द्वारकोद्भव-शिला के संग वारह शालग्रामशिला की पूजा करने पर, वह पूजक वैकुण्ठधाम में सन्मा-नित होता है ॥ २२५ ॥

द्वारकाचक्र- चिह्न के लक्षण ।— प्रह्लादसंहिता में लिखा है ,-एकचक्र को सुदर्शन, दूसरे चक्र को लक्ष्मी-नारायण, तीसरे चक्र को त्रिविक्रम, चौथे चक्र को जनार्द्दन, पांचवे चक्र को वासुदेव, छटे चक्र को प्रद्युम्न, सातमें चक्रको वलदेव, अष्टमचक्रको पुरुषोत्तम, नवचक्र को नवव्यूह, दशचक्र को दश-मूर्त्ति, एकादशचक्र को अनिरुद्ध, द्वादशचक्र को द्वादशात्मक और इससे भी जिनकी संख्या अधिक है, उनको अनन्त कहते हैं ॥ २६-२७ ॥

द्वादशचक्राङ्क-माहात्म्य ।-वराहपुराण में लिखा है कि,-विष्णुचक्र से चिह्नित शिला के केवल स्पर्श मात्र से ही मनुष्य सर्व पापों से छूट जाता है । गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—सुदर्शनादिशिला का दर्शन करने से संपूर्ण कामना पूर्ण होती, हैं-क्यों कि- यह समस्त शिलाऐं सर्व कामना प्रदान करने वाली है ।

गारुडे च।– सुदर्शनाद्यास्तु शिलाः पूजिताः सर्व्वकामदाः।
स्कान्दे च।– भक्त्या वा यदि वाभक्त्या चक्राङ्कं पूजयेन्नरः॥
अपि चेत् सुदुराचारो मुच्यते नात्र संशयः।

द्वारका माहात्म्ये च द्वारकागतानां श्रीब्रह्मादीनामुक्तौ —
एतद्वै चक्रतीर्थन्तु यच्छिला चक्रचिह्निता।
मुक्तिदा पापिनां लोके म्लेच्छदेशेऽपि पूजिता॥

अथ तेष्वेव चक्रभेदेन फलभेदः।

कपिलपञ्चरात्रे —

एकचक्रस्तु पाषाणो द्वारवत्याः सुशोभनः।
सुदर्शनाभिधो योऽसौ मोक्षैकफलदायकः॥
लक्ष्मीनारायणो द्वाभ्यां भुक्ति-मुक्ति-फलप्रदः।
त्रिभिश्चाच्युतरूपोऽसौ फलमैन्द्रं प्रयच्छति॥
चतुर्भुजश्चतुश्चक्रश्चतुर्व्वर्गफलप्रदः।
पञ्चभिर्व्वासुदेवश्च जन्ममृत्युभयापहः॥
षड्भिः प्रद्युम्न एवासौ लक्ष्मीं कान्तिं ददाति सः।
सप्तभिर्वलभद्रोऽसौ गोत्र-कीर्त्तिविवर्द्धनः॥
ददाति वाञ्छितं सर्व्वमष्टभिः पुरुषोत्तमः।
नवचक्रो नृसिंहस्तु फलं यच्छत्यनुत्तमं॥

भाषा टीका।

स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—क्या भक्तिसहित क्या अभक्तिसहित,— जो पुरुष चक्र चिह्नित शिला की पूजा करता है, अत्यन्त दुराचारी होने पर भी उसको मोक्ष प्राप्त होती है, इस में संदेह नहीं। द्वारका-माहात्म्य में द्वारकागत (द्वारका में प्राप्त हुए) ब्रह्मा इत्यादि की उक्ति में प्रकाशित है कि,—चक्रचिह्नित शिला को ही चक्रतीर्थ कहते हैं, म्लेच्छ देश में पूजित होने पर भी यह शिला पापी पुरुषों को मुक्ति देने वाली होती है।

शिला-समूह का चक्र भेद से फल भेद।—कपिल-पञ्चरात्र में लिखा है कि,—द्वारवती की जिस मनोहर शिला में एक चक्रचिह्न विराजमान है,—उनको सुदर्शन कहते हैं, यह सुदर्शन ही केवलमात्र मुक्तिदायक हैं। दो चक्र होने से लक्ष्मीनारायण कहते हैं,— यह भोग-मोक्ष देने वाले हैं,। तीन चक्र से अच्युत-मूर्त्ति होती है,- यह इन्द्रत्व देने वाली है, चारचक्र चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) देने वाली चतुर्भुजमूर्त्ति होती है। पांच चक्र से जन्म मृत्यु का भय हरने वाले वासुदेव, छय चक्र से लक्ष्मीप्रद और सौन्दर्य्यदायक प्रद्युम्न, सप्तचक्र से गोत्रवर्द्धक और यशः-प्रद वलभद्र, अष्टचक्र से अभिलषित फल देने वाले

राज्यप्रदो दशभिस्तु दशावतारकः स्मृतः।
एकादशभिरैश्वर्य्यमनिरुद्धः प्रयच्छति ॥
निर्व्वाणं द्वादशात्मासौ सौख्यदश्च सुपूजितः।

अथ वर्णादिभेदेन दोषगुणाः पूज्यत्वापूज्यत्वे च--

तत्रैव।— कृष्णो मृत्युप्रदो नित्यं धूम्रश्चैव भयावहः।
अस्वास्थ्यं कर्व्वुरो दद्यान्नीलस्तु धनहानिदः ॥
छिद्रो दारिद्रयदुःखानि दद्यात् संपूजितो ध्रुवं।
पाण्डरस्तु महद्दुःखं भग्नो भार्य्या-वियोगदः ॥
पुत्रपौत्रधनैश्वर्य्य-सुखमत्यन्तमुत्तमं।
ददाति शुक्लवर्णश्च तस्मादेनं समर्च्चयेत् ॥२२८॥

श्रीप्रह्लादसंहितायां —

कृष्णा मृत्युप्रदा नित्यं कपिला च भयावहा।
रोगार्त्तिं कर्व्वुरा दद्यात् पीता वित्तविनाशिनी ॥
धूम्राभा वित्तनाशाय भग्ना भार्य्याविनाशिका।
सच्छिद्रा च त्रिकोणा च तथा विषमचक्रिका ॥
अर्द्धचन्द्राकृतिर्या च पूज्यास्ता न भवन्ति हि ॥ २२९ ॥

भाषा टीका।

पुरुषोत्तम, नव चक्र से अति उत्तम फल दाता नृसिंह, दशचक्र से राज्यदाता दशावतार ,एकादश चक्र से ऐश्वर्य्यप्रद अनिरुद्ध और द्वादश चक्र से मुक्तिदायक और सुखदाता द्वादशात्मक कहे जाते हैं।

वर्णादि भेद से दोष गुण और पूज्यत्व अपूज्यत्व विषय।-उक्त कपिल पंचरात्र में ही लिखा है कि,- कृष्णवर्ण मृत्युदायक,धूम्रवर्ण निरन्तर भयदायी, चित्र विचित्र अस्वास्थ्यकारक और नीलवर्ण धननाशक है। छिद्रयुक्त की पूजा करने से दारिद्र दुःख होता है, इस में संदेह नहीं। पाण्डुवर्ण शिला महादुःखदायक, टूटी हुई शिला भार्या का वियोग करने वाली, शुक्ल वर्ण पुत्र, पौत्र, धन, ऐश्वर्य और महासुखदायक है, अतएव ऐसी शिला की पूजा करनी चाहिये ॥ २२८ ॥

प्रह्लादसंहिता में लिखा है कि,-कृष्णवर्ण शिला मृत्युदायक, कपिलवर्ण सदा भयदायक, चित्रितवर्ण रोग-क्लेश करने वाली, पीतवर्ण और धूम्रवर्ण धननाशक और टूटी हुई शिला भार्या का नाश करती है। छिद्र-युक्त त्रिकोण, : विषमचक्रयुक्त, और अर्द्धचंद्राकार शिला की कभी पूजा न करे ॥ २२९ ॥

गार्ग्य-गालवयोः —

सुखदा समचक्रा तु द्वादशी चोत्तमा शुभा ।
वर्त्तुला चतुरस्रा च नराणाञ्च सुखप्रदा ॥
त्रिकोणा विषमा चैव छिद्रा भग्ना तथैव च ।
अर्द्धचन्द्राकृतिर्या तु पूजार्हा न भवेत्तु सा ॥
फलं नोत्पद्यते तत्र पूजितायां कदाचन ॥ २३० ॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते
भगवद्भक्तिविलासे
आधिष्ठानिको
नाम पञ्चमो
विलासः
॥ ५ ॥

भाषा टीका ।

गर्ग और गालव ऋषि ने कहा है कि,—समानचक्र वाली शिला सुखदायक, वारह चक्रयुक्त शिला अत्यन्त कल्याणकारक, गोलाकार वा चौकोन शिला सुखदायक और त्रिकोण, विषमचक्र, छिद्रयुक्त, भग्न अथवा अर्द्धचन्द्राकार शिला की पूजा न करें,- उनकी पूजा से किसी फल की आशा नहीं है ॥ २३० ॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते भगवद्भक्तिविलासे आधिष्ठानिको नाम पञ्चमो विलासः ॥ ५ ॥

पञ्चमविलासः समाप्तः ।

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

षष्ठ विलासः।

श्रीचैतन्यप्रसादेन तद्रूपं गोकुलोत्सवं।
मनोज्ञं यष्टुकामस्य मूर्त्यर्च्चाविधिरुच्यते ॥ १ ॥
स्वयं व्यक्ताः स्थापनाश्च मूर्त्तयो द्विविधा मताः।
स्वयं व्यक्ताः स्वयंकृष्णः स्थापनास्तु प्रतिष्ठया ॥ २ ॥

तथाच पाद्मोत्तरखण्डे—

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि तदर्च्चावसथं हरेः।
स्थापनश्च स्वयं व्यक्तं द्विविधं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥ ३ ॥
शिलामृद्दारुलौहाद्यैः कृत्वा प्रतिकृतिं हरेः।
श्रौतस्मार्त्तागमप्रोक्तबिधिना स्थापनं हि यत् ॥
तत् स्थापनमितिप्रोक्तं स्वयं व्यक्तं हि मे श्रृणु।
यस्मिन् सान्निहितो विष्णुः स्वयमेव नृणां भुवि ॥
पाषाण दार्व्वोरात्मेशः स्वयं व्यक्तं हि तत् स्मृतं ॥ इति ॥
दुर्ल्लभत्वात् स्वयं व्यक्तमूर्त्तेः श्रीवैष्णवोत्तमः।
यथाबिधि प्रतिष्ठाप्य स्थापितां मूर्त्तिमर्च्चयेत् ॥

भाषा टीका

जो पुरुष वासुदेव का मनमोहित करने वाली गोकुलोत्सव स्वरूप मूर्त्ति की पूजा करने के अभिलाषी हैं, उन के लिये श्रीशचीसुतदेव की कृपा से मूर्त्ति पूजा की विधि लिखी जाती है ॥ (यहां यह पूछा जा सकता है कि जब शालग्राम-शिला ही भगवान् का प्रधान अधिष्ठान है तब शालग्रामशिला की ही पूजा करनी चाहिये, फिर मूर्त्ति पूजा की विधि क्यों लिखी जाती है, इसके उत्तर में कहते हैं कि,- श्रीमूर्त्ति का असाधारण रुप देखने से सहजही चित्त आकृष्ट होता है अतएव श्रीमूर्त्ति की पूजा करना भगवद्भक्तों का कर्त्तव्य है) ॥ १ ॥

मूर्त्ति दो प्रकार की हैं। स्वयं प्रकाशित और स्थापित। स्वयं प्रकाशित को साक्षात् कृष्ण जानना चाहिये। जिनकी प्रतिष्ठा हुई है उनी को स्थापित कहते हैं ॥ २ ॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्डमें लिखा है कि,- हे देवी! हरि का पूजा स्थान कहता हूं सुनो वह दो प्रकार का है, स्थापित और स्वयं प्रकाशित ॥ ३ ॥

पत्थर, मिट्टी, काष्ठ और लोहे इत्यादि से प्रतिमूर्त्ति गठित कर श्रुति स्मृत्ति और तंत्र, कथित विधि से प्रतिष्ठा को स्थापन कहते हैं, स्वयं

अथ श्रीमूर्त्तिपूजा माहात्म्यम्।

हरिभक्तिसुधोदये—

नैकं स्व वंशन्तु नरस्तारयत्यखिलं जगत्।
अर्च्चायामीप्सितं नृणां फलं यागादि दुर्ल्लभं॥
प्रतिमामाश्रितोऽभीष्टप्रदां कल्पलतां यथा॥ ४॥

अथ श्रीमूर्त्तेःप्रसादनं आत्मादिशुद्धयश्च।

श्रीमूर्त्तिं क्षालनार्हान्तु शस्तगन्धजलादिना॥
प्रक्षालयेत्तदन्यान्तु मूलमन्त्रेण मार्जयेत्॥ ५॥
श्रीमूर्त्तिंहृदयं स्पृष्ट्वा स्व मन्त्रं चाष्टधा जपेत्।
एवं प्रसादनं मूर्त्तेरात्मानंतत् प्रसादनात्॥
शुद्धिरेका द्वितीया तु स्यादव्यग्रतयापि च॥ ६॥
स्थानशुद्धि स्तथा द्रव्यशुद्धिश्च लिखिता पुरा।
इतिप्रकारभेदेन भवेच्छुद्धिचतुष्टयं॥

उक्तञ्च श्रीनारदेन—

पुष्पेणाम्बुगृहीत्वा तु प्रोक्षयेत् सर्व्वसाधनं।
मल स्नानं ततः कुर्य्यात् पात्रे देवं बिधाय च॥

भाषा टीका।

प्रकाशित की बात कहताहूं सुनो,——आत्मेश्वर-हरि पृथ्वी में जिसशिला अथवा काष्ठ में मनुष्यों के निकट अवस्थिति करते हैं उसी को स्वयं प्रकाशित कहा जाता है। स्वयं प्रकाशित मूर्त्ति सहज में प्राप्त होने वाली नहीं है, इस कारण यथा विधि प्रतिष्ठा करके स्थापित मूर्त्ति की पूजा करनी चाहिये।

श्रीमूर्त्ति की पूजा का माहात्म्य।—हरिभक्ति-सुधोदय में लिखा है कि,—पूजा करने से केवल अपना ही कुल नहीं, वह पूजक संपूर्ण जगत् का उद्धार करता है। श्रीमूर्त्ति की पूजा करने पर यागादि का दुर्लभ फल भी मिल जाता है। कल्पलता की समान प्रतिमा को आश्रय करने पर भी मन की अभिलाषा सिद्ध होती है॥ ४॥

श्रीमूर्त्ति का संस्कार और आत्मादि शोधन क्षालन योग्य (पत्थर वा लोहे की) श्रीमूर्त्ति को प्रशस्त गंध जलादि से धोवे। क्षालन का अयोग्य (लेप्य लेखमयी इत्यादि) मूर्त्ति को मूलमंत्र उच्चारण कर के मार्जन करे॥ ५॥

श्रीमूर्त्ति का हृदय स्पर्श कर के आठवार स्वीय मंत्र जपना चाहिये। इस प्रकार श्रीमूर्त्ति का संस्कार करने पर एक प्रकार आत्म शोधन होता है। चित्त के स्थैर्य संपादन से (चित्त के स्थिर करने से) दूसरी आत्म शुद्धि होती है॥ ६॥ इस के आगे स्थान शुद्धि और द्रव्य शुद्धि लिखी गई। इस भांति गणना द्वारा शुद्धि चार प्रकार की होती हैं। नारद जी ने कहा है कि,—पुष्प द्वारा जल ग्रहण कर के सब पूजा द्रव्यों को प्रोक्षण करे, फिर पात्र के ऊपर देवता को स्थापन करके मल स्नान कराना चाहिये। अन्य पुरुषों ने भी कहा है कि,—मंत्रादि द्वारा पुष्प और अक्षतादि सामग्री को शोधन करे एवं जल और चंदन द्वारा धोकर प्रतिमा की शुद्धि करै। चित्त की स्थिरता से आत्म शुद्धि करके फिर स्थान शुद्धि करनी चाहिये। इस स्थान में कोई कोई इरूप

अन्ये नापि—

पुष्पाक्षतादि द्रव्याणां कुर्य्यान्मन्त्रादि शोधनं।
क्षालनेनाम्बुलेपादे र्मूर्त्तिशुद्धिं समाचरेत ॥
अव्यग्रत्वेनात्मशुद्धिं क्षितिशुद्धिं ततश्चरेत॥ इति॥
मन्त्रशुद्धिं परां चित्तशुद्धिं चेच्छन्ति केचन।
एवं षट् शुद्धयः पुण्याः सम्प्रदायानुसारतः ॥ ७ ॥

अथ पीठ पूजा।

ताम्रादिपीठे श्रीखण्डाद्यालिप्तेऽष्टदलं लिखेत्।
सकर्णिकं त्रिवृत्ताढ्यं पद्मं षोडशकेशरं ॥
सदलाग्रं चतुष्कोणं चतुर्द्वार विभूषितं।
पूजान्यत्रं समुद्धृत्य पीठार्च्चा तत्र साधयेत् ॥ ८ ॥
पीठे भगवतो वामे श्रीगुरुन् गुरुपादुकां।
नारदादीन् पूर्व्वसिद्धान् यजेदन्यांश्च वैष्णवान् ॥ ९ ॥
दक्षिणे चार्च्चयेद्दुर्गां गणेशञ्च सरस्वतीं।
तत्र प्राग् लिखितन्यासस्यानुसारेण पूजयेत ॥ १० ॥
मध्ये आधारशक्त्यादीन् धर्म्मादींश्च विदिक्ष्वथ।
अधर्म्मादींश्चतुर्दिक्ष्वनन्तादीन् मध्यतः पुनः॥

भाषा टीका।

मंत्र शुद्धि और मनः शुद्धि की विधि देते हैं। इस भांति सम्प्रदायानुसार शुद्धि छै प्रकार की है, यह छै प्रकार की शुद्धि ही पवित्रता उत्पन्न करती हैं, छय प्रकार की शुद्धि सम्पादन ही वैष्णव का कर्त्तव्य है, किन्तु अपनी सम्प्रदाय का विहित आचार पालनीय है अर्थात् जिस सम्प्रदाय का जो आचार विहित है– उसी का अनुगामि होना चाहिये ॥ ७ ॥

अथ पीठ पूजा।

ताम्रादि निर्मित पीठ में चन्दनादि लेपन पूर्वक उस में चार द्वार से अलंकृत चतुष्कोण के मध्य अष्टदल में केशर सोलह और तीन वृत्त युक्त कर्णिका के सहित दलाग्र विशिष्ट पद्म अंकित करे। इस प्रकार पूजा का यंत्र लिख कर उस में पीठ पूजा करना चाहिये ॥ ८ ॥

पीठ में भगवान् के बाँई ओर श्रीगुरु परम्परा गुरु पादुका नारदादि पुरातन सिद्ध और अन्यान्य आधुनिक वैष्णवों की पूजा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

दक्षिण भाग में विशेष विशेष वस्त्रों से युक्त दुर्गा, गणपति और सरस्वति इनकी पूजा करे, यह समस्त पूजा पूर्वोक्त न्यासानुसार करनी चाहिये ॥ १० ॥

मध्य भाग में आधार शक्त्यादि, कोणों में धर्मादि चारों ओर अधर्मादि फिर मध्य भाग में अनन्तादि एवं अष्ट पत्र और कर्णिका में क्रमानुसार नव शक्ति की पूजा करे। उसके ऊपर यथा कथित प्रकार से पीठ मंत्र अर्थात् तत्ववीज सहित सूर्यादि मण्डल

शक्तीर्नवाष्टपत्रेषु कर्णिकायाश्च पूजयेत्।
तथा तदुपरिष्टाच्च पीठमन्त्रं यथोदितम् ॥ ११ ॥
तत्पीठे मूलमन्त्रेण श्रीमूर्त्तिं स्थापयेदथ।
पुष्पाञ्जलिं गृहीत्वेष्टदेवरूपं बिचिन्तयेत् ॥ १२ ॥
ततश्च मूलमन्त्रेण क्षिप्त्वा पुष्पाञ्जलित्रयं।
निजेष्टदेवमूर्त्तेश्च परमैक्यं बिभावयेत् ॥ १३ ॥

अथावाहनादीनि।

ततो देवार्च्चने प्रौढ़पादताया निषेधनात्।
भूमौ निहितपादः सन् कुर्य्यादावाहनादिकं ॥
यच्चावाह्यमधिष्ठानं तत्रावाहनमाचरेत्।
शालग्रामस्थापने च नावाहनबिसर्जने ॥
तथाचोक्तं।—उद्वासावाहने न स्तः स्थावरे वै यथा तथा।
शालग्रामार्च्चने नैव ह्यावाहनबिसर्जने ॥
शालग्रामे तु भगबानाबिर्भूतो यथा हरिः।
न तथान्यत्र सूर्य्यादौ बैकुन्ठेऽपि च सर्व्वगः ॥ १४ ॥

अथावाहनादि विधिः।

आवाहनादिमुद्राश्च संदर्श्यावाहनं बुधः।
तथा संस्थापनं सन्निधापनं सन्निरोधनं ॥

भाषा टीका

की और उनके प्रथमाक्षर सहित् सत्वादि की तथा ह्रीं बीज सहित ज्ञानादि की पूजा करे ॥ ११ ॥ *

फिर मूल मंत्र पढ़ कर इस पीठ में श्रीमूर्त्ति को स्थापन करना चाहिये। पुष्पाञ्जलि ग्रहण करके इष्ट-देव-रूपमें चिन्तनाकरे ॥ १२ ॥

फिर मूल मन्त्र उच्चारण करके तीनवार पुष्पाञ्जलि प्रदान करके चिन्ता करे कि, अपने इष्टदेव और प्रतिमा में कोई भेद नहीं है ॥ १३ ॥

* प्रयोगयथा।– ओम् आधारशक्तये नमः इत्यादि। और ओम् अं सूर्यमण्डलाय नमः, ओम् उं सोम-मण्डलाय नमः ओम् मं वह्निमण्डलाय नमः। ओम् सं सत्वायनमः। ओम् ह्रीं ज्ञानात्मने नमः,– इत्यादि प्रकार से प्रयोग करे।

अथ आवाहनादि।—फिर पृथ्वी में पैर रख कर आवाहनादि करना चाहिये, क्यों कि पूजा के कार्य में प्रौढ़पाद होना अर्थात् (ऊर्द्ध भाग में चरणों का रखना) निषिद्ध है। योग्य अधिष्ठान में ही आवाहन करना चाहिये। शालग्राम स्थापन में आवाहन और विसर्जन नहीं है। इस विषय में कहा गया है कि,—स्थावर प्रतिमा के समान शालग्रामशिला में आवाहन वा विसर्जन नहीं है; सर्वत्र गामी भगवान् हरि शालग्राम में जिस प्रकार प्रकाशित होते हैं, सूर्यादि अन्यान्य अधिष्ठान में वा वैकुण्ठ में भी वैसे नहीं होते हैं ॥ १४ ॥

आवाहनादि की विधि।—बुद्धिमान् पुरुष भली भांति आवाहनादि मुद्रा दिखा कर विधि पूर्वक आवाहन, संस्थापन, सन्निधापन, सन्निरोधन, सकलीकरण,

सकलीकरणं चावगुन्ठनञ्च यथाविधि ।
अमृतीकरणं कुर्य्यात् परमीकरणं तथा ॥ १५ ॥

तथावाहनाद्यर्थः ।

आगमे ।— आवाहनञ्चादरेण संमुखीकरणं प्रभोः ।
भक्त्या निवेशनं तस्य संस्थापनमुदाहृतं ॥
तवास्मीति त्वदीयत्व दर्शनं सन्निधापनं ।
क्रियासमाप्तिपर्य्यन्तं स्थापनं सन्निरोधनं ॥
सकलीकरणञ्चोक्तं तत् सर्व्वाङ्गप्रकाशनं ।
आनन्दघनतात्यन्तप्रकाशो ह्यवगुन्ठनं ॥
अमृतीकरणं सर्व्वैरेवाङ्गैरवरुद्धचना ।
परमीकरणं नामाभीष्टसम्पादनं परं ॥ १६ ॥

अथावाहनमाहात्म्यम् ।

नारसिंहे—
आगच्छ नरसिंहेति आवाह्याक्षतपुष्पकैः ।
एतावतापि राजेन्द्र ! सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥ इति ॥
न्यस्येद्यथासम्प्रदायं देवेऽङ्गादीनि पूर्व्ववत् ।
शंखचक्रादिकाश्चाथ मुद्रा विद्वान् प्रदर्शयेत् ॥

भाषा टीका ।

अवगुण्ठन, अमृतीकरण, और परमीकरण, संपादन करे ॥ १५ ॥ *

आवाहनादि का अर्थ आगम में लिखा है कि,— आदर, प्रभुके संमुखीकरण को आवाहन कहते हैं। भक्ति सहित स्थापन का नाम संस्थापन है। 'तवास्मि' यह बात कह कर अपने को तदीय दासत्व में दिखाने का नाम सन्निधापनहै, क्रिया समाप्ति तक स्थापन को सन्निधापन कहते हैं। तिनके सर्वांग प्रकाश का नाम सकलीकरण है। अत्यन्त गाढ़ प्रीति प्रगट होने को अवगुण्ठन कहते हैं। सब अंगों से अवरुद्ध करने को अमृतीकरण कहते हैं, अभीष्ट सम्पादन को परमीकरण कहा जाता है ॥ १६ ॥

अथ आवाहन का माहात्म्य।— अक्षत और पुष्प द्वारा "नरसिंह आगच्छ" कह कर आवाहन करना चाहिये। हे राज सत्तम ! केवल मात्र इस आवाहन से ही सब पातक दूर होते हैं, इस से पहिले जिस प्रकार उपदेश निर्दिष्ट हुआ है, बुद्धिमान् पुरुष उसी प्रकार सम्प्रदायानुसार देवांगादिन्यास करे, और शंख चक्रादि मुद्रा भी दिखानी चाहिये। तत्वसार में लिखा है कि,– आवाहनादि मुद्रा दिखा कर फिर देवता

* "श्रीकृष्ण इह आवह इह आवह" इत्यादि विधि से यह सब कार्य्य करे। उक्त टीका में वह सब विधि विस्तार से लिखी हैं। कोई कोई पण्डित इस प्रकार कहते हैं कि,— एक ही वारमें आवाहनादि आठ मुद्रा दिखा कर फिर क्रमानुसार आवाहनादि करे। और कोई कोई कहते हैं कि,— आवाहन के संग ही संग उन उन मुद्रा ओं को दिखाना चाहिये।

तथाच तत्वसारे—

आवाहनादिमुद्राश्च दर्शायित्वा ततः पुनः ।
अङ्गन्यासश्च देवस्य कृत्वा मुद्राः प्रदर्शयेत् ॥

अथ मुद्राः ।

आगमें ।—आवाहनीं स्थापनीञ्च तथान्यां सन्निधापनीं ।
संन्निरोधकरीं चान्यां सकलीकरणीं परां ॥
तथावगुन्ठनीं पश्चादमृतीकरणीं तथा ।
परमीकरणीं चान्यां प्रागष्टौ दर्शयेदिमाः ॥
शंखं चक्रं गदां पद्मं मुषलं शार्ङ्गमेवच ।
शंखं पाशांकुशौ तद्वद्वैनतेयं तथैव च ॥
श्रीवत्सकौस्तुभौ बेणुमभीति बरदौ तथा ।
बनमालां तथा मन्त्री दर्शयेत् कृष्णपूजने ॥
मुद्राचापि प्रयोक्तव्या नित्यं बिल्बफलाकृतिः ।
इत्येताश्च पुनः सप्तदशमुद्राः प्रदर्शयेत् ॥
गन्धादिग्धौ करौ कृत्वा मुद्राः सर्व्वत्र योजयेत् ।
योऽन्यथा कुरुते मूढ़ो न सिद्धः फलभाग्भवेत्॥ १७ ॥

अथ मुद्रा माहात्म्यम् ।

अगस्त्य संहितायां—

एताभिः सप्तदशभिर्मुद्राभिस्तु विचक्षणः ।
यो वै मामर्च्चयेन्नित्यं मोहयेत् स सुरेश्वरं ॥
द्रावयेदपि विप्रेन्द्र ! ततः प्रार्थितमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

भाषा टीका ।

के अंगमें अंग न्यास करके मुद्राओं को दिखावे । मुद्रासमूह ।—आगम में लिखा है कि,—पूजामें मंत्री पुरुष सबसे पहिले आवाहनी, स्थापनी, सान्निधापनी सान्निरोधनी, सकलीकरणी, अवगुण्ठनी, अमृतीकरणी, और परमीकरणी, यह आठ प्रकार की मुद्रा दिखावे। फिर शंख, चक्र, गदा, पद्म, मृषल, शार्ङ्ग, खड्ग, पाश, अंकुश, गरुड़, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वेणु, अभय, वर, और बनमाला, यह सब मुद्रा दिखानी चाहिये । नित्य (पूजा काल में) विल्व फल के आकार की मुद्रा दिखावे । फिर यह सत्रह मुद्रा दिखावे। सब मुद्रा दिखाने के कार्य में ही दोनों हाथ चंदनाक्त (चन्दन से युक्त) करके प्रयोग करना चाहिये। जो मूर्ख इसके अन्यथा करता है, उसका कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता और वह किसी प्रकार के फल को प्राप्त नहीं होता है ॥ १७ ॥

अथ मुद्रामाहात्म्य ।—अगस्त्य संहिता में लिखा है कि,— जो बुद्धिमान् पुरुष नित्य इन सत्रह मुद्राओं से मेरी पूजा करते हैं, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! वे देवेन्द्र को भी मोहित और विचलित कर ने में समर्थ होते हैं और अन्तमें अभिलषित विषय प्राप्त करते हैं ॥ १८ ॥

क्रमदीपिकायाश्च विल्वमुद्रामधिकृत्य—

मनोवाणीदेहैर्यदिह वपुषा वापिविहित—
ममत्यामत्या वा तदखिलमसौ दुष्कृतचयं।
इमां मुद्रां जानन् क्षपयति नरस्तं सुरगणा
नमन्त्यस्याधीना भवति सततं सर्व्वजनता ॥ १९ ॥

भाषा टीका।

क्रमदीपिका में विल्व मुद्रा को उद्देश करके लिखा है कि,—देवलोक में मनः द्वारा, वाक्य द्वारा, देह द्वारा, और सर्वांगद्वारा जानकर वा विनाजाने जिन पापों का आचरण किया जाता है, इस मुद्राके विदित होने पर उन सब पापों से छूट सकता है। देवता उस मुद्रा के जानने वाले को प्रणाम करते हैं और लोकमें सब इसके वशीभूत होते हैं ॥ १९ ॥ *

* गुरूजी के निकट भी मुद्रा का प्रकाश करना अनुचित है। इसी कारण ग्रंथ कर्त्ताने मूलमें मुद्राके लक्षण प्रकाशित नहीं किये; इन सब मुद्राओंके लक्षण टीकामें विस्तार सहित वर्णित हैं। +

+ असौ नरः इमां विल्वाख्यां मुद्रां जानन् एतत् दुष्कृत निचयं पापसमूहं आखिलं निशेषं, क्षपयति विनाशयति, कं! यं मनो वाक् कायैः इह अस्मिन् जन्मनि पुरा पूर्व्व-जन्मनि च अमत्या अज्ञानेन मत्या वा ज्ञानेन विहितं। दिवारात्रिविहितमिति पाठे दिने रात्रौ च कृतं। यत्तदो-र्नपुंसकत्वं महाकवि स्वातन्त्र्याद्व्ययत्वाद्वा। यद्वा यत यस्मात् क्षपयति तत्तस्मान्नमन्तीत्यन्वयः। मुद्रालक्षणानि च गुह्यत्वान्न लिखितानि। तथाचोक्तं। गुरुं प्रकाशयेद्विद्वा-न्मन्त्रं नैव प्रकाशयेत्। अक्षमालाञ्च मुद्राश्च गुरोरपि न दर्शयेदिति। अत्रच। तद्विज्ञानार्थमुद्दिश्यन्ते, तथाचागमे।— सम्यक् संपुटितैः पुष्पैः कराभ्यां कल्पितो ऽञ्जलिः। आवाहनी समाख्याता मुद्रा देशिकसत्तमैः ॥ १ ॥ अधोमुखी कृतैः सर्व्वैः स्थापनीति निगद्यते ॥ २ ॥ आश्लिष्ट मुष्टि युगला प्रोन्नताङ्गुष्ठयुग्मका। सन्निधाने समुद्दिष्टा मुद्रेयं तन्त्रवेदिभिः ॥ ३ ॥ अंगुष्ठगर्भिणी सैव सन्निरोधे समीरिता ॥ ४ ॥ अङ्गैरेवाङ्गविन्यासः सक-लीकरणी मता ॥ ५ ॥ सव्यहस्तकृता मुष्टि दीर्घा-धोमुखतर्जनी। अवगुन्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता यदि ॥६॥ अन्योन्याभिमुखाः सर्व्वा कनिष्ठानामिकाः पुनः। तथा तर्जनिमध्याश्च धेनुमुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥ ७ ॥ अन्योन्य ग्रथिताङ्गुष्ठा प्रसारितकराङ्गुलिः। महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधैः ॥ ८ ॥ वामाङ्गुष्ठं विधृत्यैवं मुष्टिना दक्षिणेन तु तन्मुष्टेः पृष्ठतो देशे योजयेच्चतुरङ्गुलीः। कथिता शङ्खमुद्रेयं वैष्णवार्च्चनकर्म्मणि ॥ ९ ॥ अन्यो-न्याभिमुखाङ्गुष्ठकनिष्ठयुगलो यदि। विस्तृताश्चेतराङ्गु ल्यस्तदासौ दर्शनी मता ॥ १० ॥ अन्योन्य ग्रथिता-ङ्गुल्यवुन्नतौ मध्यमौ यदि। संलग्नौ च तदा मुद्रा गदेयं परिकीर्त्तिता ॥ ११ ॥ पद्माकाराभिमुख्येन पाणी-मध्ये ऽङ्गुष्ठौ शायितौ कर्णिकावत्। पद्माख्येयंसैव संलग्न मध्यास्पृष्टांगुष्ठाविल्वसंज्ञिता मुद्रा ॥ १२ ॥ अग्रे-तु वाममुष्टेश्च इतरा तु यदा मता। तदेयं कृतिभिर्मुद्रा ज्ञेया मुषलसंज्ञिता ॥ १३ ॥ वामस्थ तर्जनीप्रान्तं मध्यमान्ते नियोजयेत्। प्रसार्य्य तु करं वामं दाक्षिणं करमेवच। नियोज्य दक्षिणस्कन्धे वाणप्रेरणवत्ततः। तर्ज्ज-न्यङ्गुष्ठकाभ्याश्च कुर्य्यादेषा प्रकीर्त्तिता। शार्ङ्गमुद्रेति मुनिभि र्दर्शयेत कृष्णपूजने ॥ १४ ॥ कनिष्ठाऽनामिके द्वे तु दक्षांगुष्ठनिपीड़िते। शेषे प्रसारिते कृत्वा खड्ग मुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥ १५ ॥ पाशाकारं नियोज्यैव वामांगुष्ठाङ्ग-तर्जनीः। दक्षिणे मुष्टिमादाय तर्जनींच प्रसारयेत्। तेनैव संस्पृशेन्मन्त्री वामांगुष्ठस्य मूलकं। पाशमुद्रेय-मुद्दिष्टा केशवार्च्चनकर्म्मणि ॥ १६ ॥ तर्जनीमीषदाकुंच्य शेषेणापि निपीड़येत्। अंकुशं दर्शयेत्तद्वद्गृहीत्वा दक्ष-मुष्टिना ॥ १७ ॥ अन्योन्य पृष्ठे संयोज्य कनिष्ठे च परस्परं। तर्ज्जन्यग्रं समं कृत्वा कनिष्ठाग्रं तथैव च। ईषदालम्बितं कृत्वा इतरौ पक्षवत्ततः। प्रसार्य्य गारुड़ी मुद्रा कृष्णपूजा

अथासनाद्यर्पणम् ।

ततो निक्षिप्य देवस्योपरि पुष्पाञ्जलि त्रयं ।
दत्वासनाथ पुष्पञ्च स्वागतं विधिनाचरेत् ॥ २० ॥

भाषा टीका ।

अथ आसनादि अर्पण ।— इसके पीछे देवताके ऊपर तीन पुष्पाञ्जालि प्रदान करके आसन के निमित्त पुष्प निवेदन पूर्वक विधि सहित स्वागत करना चाहिये। अर्थात् "श्रीकृष्णाय आसनं निवेदयामि" "श्रीकृष्ण इदमासनं, अत्रास्यतां सुखं,, इस प्रकार उच्चारण करके "श्रीकृष्ण सह परिवारेण स्वागतं करोषि" यह वाक्य कहे ॥ २० ॥

विधौ स्मृता ॥ १८ ॥ अन्योन्य संमुखे तत्र कनिष्ठा तर्जनीयुगे । मध्यमानामिके तद्वदंगुष्ठेन निपीड़येत। दर्शये द्धृदये मुद्रां यत्नाच्छ्रीवत्स संज्ञितां ॥ १९ ॥ अन्योन्याभिमुखे तद्वत् कनिष्ठे संनियोजयेत । तर्जन्यनामिके तद्वत् करौ त्वन्योन्य पृष्ठगौ । उत्तसिक्तान्योन्यसंलग्नौ वक्षः स्थितकराङ्गुलीः । विधाय मध्यदेशे तु वाममध्यमतर्जनी। संयोज्य मणिवन्धे तु दक्षिणं योजयेत्ततः । वामांगुष्ठे तु मुद्रेयं प्रसिद्धा कौस्तुभाह्वया ॥ क्वचिच्च,— अनामा पृष्ठसंलग्ना दक्षिणस्य कनिष्ठिका । कनिष्ठयान्यया वद्धा तर्जन्या दक्षया तथा । वामानामांच वध्नीयादक्षांगुष्ठस्य मूलके । अंगुष्ठमध्यमे वामे संयोज्य सरलाः पराः । चतस्रो ऽन्योन्य संलग्ना मुद्रा कौस्तुभसंज्ञिता ॥ २० ॥ ओष्ठे वामकराङ्गुष्ठो लग्नस्तस्य कनिष्ठका । दक्षिणांगुष्ठसंयुक्ता तत कनिष्ठा प्रसारिता । तर्जनीमध्यमानामाः किंचित संकुच्य चालिताः । वेणुमुद्रेयं मुद्दिष्टा सुगुप्ता प्रेयसी हरेः ॥२१॥ अंगं प्रसारितं कृत्वा स्पृष्टशाखं वरानने! प्राङ्मुखन्तु ततः कृत्वा अभयः परिकीर्तितः ॥ २२ ॥ दक्षंभुजं प्रसारित्वा जानूपरि निवेशयेत् । प्रसृतं दर्शयद्देवि ! वरः सर्व्वार्थसाधकः ॥ २३ ॥ उत्तान तर्जनीभ्यान्तु उर्द्धाधः प्रक्रमेण तु । मालावत् क्रमविस्तारा वनमाल प्रकीर्त्तिता ॥ २४ ॥ क्रमदीपिकायां । अङ्गुष्ठं वाममुद्दण्डितमितरकराङ्गुष्ठके नाथवद्ध्वा, तस्याग्रं पीड़यित्वांगुलिभिरपि ततो वामहस्ताङ्गुलिभिः । वद्ध्वा गाढं हृदि स्थापयतु विमलधी र्व्याहरन्मारबीजं विल्वाख्या मुद्रिकैषा स्फुटमिह कथिता स्थापनीया विधिज्ञैः ॥ २५॥

अगस्त्यसंहितायञ्च – आवहनीं स्थापनीञ्च सन्निधीकरणीं तथा । सुसंनिरोधनीं मुद्रां सम्मुखीकरणीं तथा । सकलीकरणीञ्चैव महामुद्रां तथैवच । शंख चक्र गदा पद्म धेनुकौस्तुभ गारुडाः । श्रीवत्सं वनमालाञ्च योनिमुद्राश्च दर्शयेत्! मूलाधारा द्वादशान्तमानीतः कुसुमाञ्जलिः । त्रिस्थानगततेजोभिर्विर्नीतः प्रतिमादिषु । आवाहनीया मुद्रास्याद्देवार्च्चनविधौ मुने ! ॥१॥ एषैवाधोमुखी मुद्रा स्थापने शस्यते पुनः ॥ २ ॥ उन्नताङ्गुष्ठयोगेन मुष्टीकृतकरद्वयं । सन्निधीकरणंनाम मुद्रा देवार्च्चने विधौ ॥ ३ ॥ अङ्गुष्ठगर्भिणीचैव मुद्रा स्यात् संनिरोधनी ॥ ४ ॥ उत्तानमुष्टियुगला सम्मुखीकरणीमता ॥५॥ अङ्गैरेवाङ्गविन्यासः सकलीकरणी तथा ॥ ६ ॥ अन्योन्याङ्गुष्ठसंलग्ना विस्तारित करद्वयी । महामुद्रेयमाख्याता न्यूनाधिक समापनी॥७॥कनिष्ठानामिकामध्यान्तः स्थाङ्गुष्ठान्तरे ऽ ग्रतः । गोपिताङ्गुलिमूलेन समन्तान्मुकुली कृता। करद्वयेन मुद्रास्यात शङ्खाख्येयं सुरार्च्चने ॥८॥ अन्योन्याभिमुखस्पर्शं व्यत्ययेन तु वेष्टयेत । अङ्गुलीभिः प्रयत्नेन मण्डलकिरणं मुने ! चक्रमुद्रेमयाख्याता ॥ ९ ॥ गदामुद्राततः परं ॥ अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टाङ्गुलिः प्रोन्नत मध्यमा ॥१०॥ अथाङ्गुष्ठद्वयं मध्ये दत्वापि परितः करौ। मण्डलीकरणं सम्यगङ्गुलीनां तपोधन! पद्ममुद्राभवेदेषा ॥११॥ धेनुमुद्राततःपरं। अनामिकाकनिष्ठाभ्यां तर्ज्जनीभ्याञ्च मध्यमे । अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टे ततः कौस्तुभ संज्ञिता ॥ १२ ॥ कनिष्ठे ऽन्योन्यसंलग्ने ऽपिमुखे- ऽभिपरस्परं । वामस्य तर्ज्जनीमध्ये मध्यानामिकयोरपि। वामानामिकसंस्पृष्टा तर्ज्जनीमध्यशोभिता । पर्य्यायेण नताङ्गुष्ठद्वयी कौस्तुभलणा ॥१३॥ कनिष्ठान्योन्यसंलग्ना विपरीतं वियोजिता । अधस्तात् स्थापिताङ्गुष्ठा मुद्रा गरुड़ संज्ञता ॥१४॥ तर्ज्जन्यङ्गुष्ठमध्यस्था मध्यमानामिकद्वयी। कनिष्ठानामिकामध्यातर्ज्जन्यग्रे करद्वयी । मुने! श्रीवत्समुद्रेयं ॥१५॥ वनमालाभतेत्ततः । कनिष्ठानामिकामध्यामुष्टिरुन्नीत तर्ज्जनी । परिभ्रान्ता शिरस्युच्चैस्तर्ज्जनीभ्यां दिवौकसः । मुद्रायोनिः समाख्याता संकोचितकरद्वयी ॥ १६ ॥ तर्ज्जन्यङ्गुष्ठमध्यान्त स्थिता नामिकयुग्मका। मध्यमूलस्थिताङ्गुष्ठा ज्ञेया शस्तार्च्चने मुने ! ॥१७॥

आसनाद्युपचारेषु मुद्राः षोड़श दर्शयेत् ।
प्रसिद्धाः पद्मस्वस्त्याद्या विद्वान् षोड़शसु क्रमात् ॥ २१ ॥
श्रीकृष्णायार्पयेदर्घ्यं पाद्यमाचमनीयकं ।
मधुपर्कं पुनश्चाचमनीयं विधिवत्ततः ॥

तथा च स्मृत्यर्थसारे—

आवाहनासनं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकं ।
स्नानमाचमनं वस्त्राचमनं चोपवीतकम् ॥
आचमनं गन्धपुष्पं धूपदीपं प्रकल्पयेत् ।
नैवेद्यं पुनराचामं नत्वा स्तुत्वा विसर्जयेत् ॥

भाषा टीका ।

मुद्रा प्रकारके जानने वाले बुद्धिमान् पुरुष आसनादि समस्त पूजोपहार प्रदान कार्यमें पद्म स्वस्ति आदि सोलह प्रकार की मुद्रा क्रमानुसार दिखावें ॥ २१ ॥*

* इन सोलह मुद्राओं के नाम और लक्षण टीका में देखो । ×

×सर्वेष्वप्युपचारेषु तत्तन्मुद्रा दर्शयितव्या इति प्रसङ्गादेकत्रैव ता विज्ञापयति आसनेति ॥ विद्वान् तत्तन्मुद्रा प्रकाराभिज्ञः । षोडशसु आसनस्वागताद्यर्घ्याद्युपचारेषु पद्माद्याः षोडशमुद्राः क्रमेण दर्शयेत् ॥ ताश्च प्रसिद्धा इति तत्तल्लक्षणालिखने नालमिति भावः॥ ताश्चोक्ताः— आसने पद्ममुद्रैव कथिता मुनिभिस्तथा ॥ १ ॥

ईषन्नम्राङ्गुलिर्दक्षः सन्त्यज्यांगुष्ठकं करः ॥ स्वागते स्वस्तिमुद्रा तु मध्या मूलगतांगुलिः ॥ २ ॥

स्वस्तिमुद्रा द्विहस्ता च्चन्मुद्रात्वर्घ्यस्य कीर्त्तिता ॥३॥
तौ च प्रसारितौ हस्तौ पाद्यमुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥ ४ ॥

देशिनी मुलगांगुष्ठ दक्षिणाधः कनीयसी ॥ आचाममुद्रा विख्याता देवताचमने विधौ ॥ ५ ॥

संयुक्तानामिकाङ्गुष्ठा तिस्रोऽन्याः संप्रसारिताः मधुपर्के च सामुद्रा ॥ ६ ॥

सन्त्यज्य च कनीयसीं ॥ कृत्वा मुष्टिं तथा स्नाने मध्यमांगुष्ठकौ युतौ ॥ ७ ॥

फिर श्रीकृष्ण को अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, मधुपर्क, और पुनराचमनीय देनी चाहिये । स्मृत्यर्थसारसंग्रह में लिखा है कि,— आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान और पुनराचमनीय, वस्त्र और आचमनीय, उपवीत और आचमनीय, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और पुनराचमनीय प्रदान करे । अन्तमें प्रणाम और स्तुति पढ़ कर विसर्जन करना चाहिये, अन्यत्र भी लिखा है कि,— पहिले पुष्पाञ्जलि

अन्याः प्रसारिता स्तिस्रो मुद्रा वस्त्रस्य चोदिता ॥८॥
मधुपर्की समुत्ताना मुद्रालङ्कारिकी स्मृता ॥ ९ ॥
कनिष्ठांगुष्ठकौ लग्नौ तिस्रो मध्याः प्रसारिताः ॥ यज्ञोपवीत मुद्रेयं विद्वद्भिः परिकीर्त्तिताः ॥१०॥

मुक्त निर्मालिकामुष्टिर्गन्धमुद्रेति सा स्मृता ॥११॥

उत्थिताधोमुखी मध्या सांगुष्ठाश्चेतरेतराः ॥ पुष्पमुद्रा तदाख्याता सर्वसिद्धि प्रदायिनी ॥१२॥

अंगुष्ठं तर्जनीलग्नं तिस्रः सङ्कुचिताः पराः ॥ मुद्रा धूपप्रदाने स्याद्देवानां तुष्टिकारिणी ॥१३॥

उत्तमाधोपकी मुद्रा दीपमुद्रेति कीर्त्तिताः ॥१४॥

पञ्चांगुल्यग्रसंलग्ना प्रोत्थितोर्द्ध्वमुखी यदि ॥ द्विधा निवद्धा मुद्रेयंनैवेद्यस्य प्रकीर्त्तिता ॥१५॥

नाभौ हृदि ललाटे च करसम्पुटयोगतः ॥ नमस्कारे त्वियं मुद्रा देवतानां प्रसादनीति ॥१६॥—२१

अन्यत्र च ।– आदौ पुष्पाञ्जलिं दत्वा पादार्चन मतः परं ।
पाद्यमर्घ्यन्त्वाचमनं मधुपर्कं यथोदितम् ॥
अभ्यङ्गोद्वर्त्तने कृत्वा महास्नानं समाचरेत् ।
अभिषेकाङ्ग वस्त्रञ्च दत्वा नीराजयेद्धरिम् ॥ इति ॥ २२ ॥
श्रीमूर्तौ तु शिरस्यर्घ्य दद्यात् पाद्यञ्च पादयोः ।
मुखे चाचमनीयं त्रिर्मधुपर्कञ्च तत्र हि ॥
सर्वेष्वप्युपचारेषु पाद्यादिषु पृथक् पृथक् ।
आदौ पुष्पाञ्जलिं केचिदिच्छन्ति भगवत्पराः ॥ २३ ॥

अथासनाद्यर्पण माहात्म्यम् ।

नरसिंह पुराणे—
दत्वासनमथार्घ्यञ्च पाद्यमाचमनीयकं ।
देवदेवस्य विधिना सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—
आसनानां प्रदानेन स्थानं सर्वत्र विन्दति ।
गोदानफलमाप्नोति तथा पाद्यप्रदो नरः ॥
ततस्त्वर्हणदानेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
तथैवाचमनीयस्य दाता ब्राह्मणसत्तमाः !
तीर्थतोयं तथा दत्वा देवस्याचमनं पुनः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति सर्वपापविवर्जितः ॥
नरस्त्वाचमनीयस्य दाता भवति निर्मलः ॥ २४ ॥

भाषा टीका ।

देकर चरण पूजा करनी चाहिये । फिर यथोक्त रीति से पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और मधुपर्क देवे, पीछे अभिषेक, वस्त्र और अंगवस्त्र निवेदन करके हरि की आरती करनी चाहिये ॥ २२ ॥

प्रतिमा पूजाके स्थानमें, प्रतिमाके मस्तक प्रदेशमें, अर्घ्य, दोनों चरणोंमें पाद्य, और मुखमें तीन वार आचमनीय और मधुपर्क निवेदन करना चाहिये। भगवद्भक्तोंमें कोई कोई पाद्यादि समस्त उपचार निवेदन कार्य्यमें ही प्रथम एक एक पुष्पाञ्जलि देनेका विधान करते हैं ॥ २३ ॥

अथ आसनादि प्रदान करने का माहात्म्य । नृसिंहपुराणमें लिखा है कि,— विधि पूर्वक देवदेवको आसन अर्घ्य, पाद्य और आचमनीय प्रदान करने पर, समस्त पापोंसे छुटकारा मिलता है । विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है कि,— आसनके अर्पण करने से सर्वत्र ही स्थान प्राप्त होता है। पाद्यदान से गोदान का फल और और्घ्य देने पर सब पापों से छूटजाता है। हेविप्रसत्तम ! जो पुरुष आचमनीय प्रदान करते हैं, उनके भी संपूर्ण पाप दूर हो जाते हैं, तीर्थके जलकी आचमनीय अर्पण करने पर समस्त पापों से छूट सुरपुरमें गमन कर सक्ते हैं । जो पुरुष आचमनीय प्रदान करता है, उसका देह पाप रहित होता है ॥ २४ ॥

मधुपर्कस्य दानेन परं पदमिहाश्नुते ।

विष्णुपुराणे च —

मधुपर्कविधिं कृत्वा मधुपर्कं प्रयच्छति ।
ब्रह्मन्! स याति परमं स्थानमेतन्न संशयः ॥ २५ ॥

अथ स्नानम् ।

विज्ञाप्य देवं स्नानार्थं पादुके पुरतोऽर्पयेत् ।
महाविद्यादिना तञ्च स्नानस्थानं ततो नयेत् ॥ २६ ॥
प्राग्वत्तत्रासनं पाद्यं तत्रैवाचमनीयकम् ।
निवेद्य दर्शयेन्मुद्राममृतीकरणीं बुधः ॥ २७ ॥
शालग्रामशिलारूपं ततो देवं निवेशयेत् ।
स्नानपात्रे निजाभीष्टां चलां श्रीमूर्तिमेव वा ॥ २८ ॥

अथ स्नानपात्रम् ।

स्कन्दपुराणे ।—कृत्वा ताम्रमये पात्रे योऽर्चयेन्मधुसूदनं ।
फलमाप्नोति पूजायाः प्रत्यहं शतवार्षिकम् ॥
योऽर्चयेन्माधवं भक्त्या अश्वत्थदलसंस्थितं ।
प्रत्यहं लभते पुण्यं पद्मायुतसमुद्भवम् ॥
रम्भादलोपरि हरिं कृत्वा योऽभ्यर्चयेन्नरः ।
वर्षायुतं भवेत् प्रीतः केशवः प्रियया सह ॥

भाषा टीका

मधुपर्क समर्पण करने से इस लोकमें परम पद प्राप्त होता है । विष्णुपुराणमें भी लिखा है कि,—हेब्रह्मन्! जो यथाविधि मधुपर्क प्रस्तुत करके प्रदान करता है, उसकी परमधाम में गति होती है, इस में संदेह नहीं ॥ २५ ॥

अथ स्नान । "भगवन्! स्नानभूमिमलङ्कुरु" यह वचन प्रभुके समीप उच्चारण करे और स्नानार्थ अनुमति लेकर "पादुके निवेदयामि" कह कर सन्मुख दो पादुका समर्पण करनी चाहिये । फिर महादेवी इत्यादिके सहित (अर्थात्, गीत, नृत्य, छत्र, और चमरादिके सहित) उनके स्नान, स्थानमें ले जाना चाहिये ॥२६॥*

बुद्धिमान् पुरुष पूर्ववत वहां भी आसन पाद्य और आचमनीय, समर्पण करके अमृतीकरण मुद्रा दिखावे ॥ २७ ॥

फिर स्नानाधारमें शालग्राम रूपी भगवान् को वा अपनी अभीष्ट चलायमान् श्रीमूर्त्तिको स्थापन करना चाहिये ॥ २८ ॥ +

स्नानके पात्र। स्कन्दपुराणमें लिखा है कि,— जो पुरुष तांबेके बने पात्रमें मधुसूदन को स्नान कराता है, एक दिन में ही उसको सौ वर्ष स्नान कराने का फल मिलजाता है । पीपलके पत्तेमें स्थापन करके प्रति दिन भक्तिसहित माधव की पूजा करने पर, दश हजार कमल दान का फल होता है । केलेके पत्ते पर श्रीहरि की पूजा करने से केशव अपनी प्रियतमा-भार्य्या लक्ष्मी जीके सहित उस पूजा करने वालेके प्रति दशहजार वर्ष तक संन्तुष्ट रहते हैं । जिन पुरुषों

* स्नानके निमित्त ईशानकोणमें स्नानमण्डप बनाना चाहिये । इसके अभावमें भावना द्वारा करे ॥

+चरणामृत की प्राप्तिके लिये ही स्नानाधारमें स्थापन करे।

ये पश्यन्ति सकृद्भक्त्या पद्मपत्रोपरि स्थितं ॥
भक्त्या पद्मालया कान्तं तैराप्तं दुर्लभं फलम् ॥ इति ॥ २९ ॥
ततः शंखे नाभिषेकं कुर्याद् घन्टादि निःस्वनैः ।
मूलेनाष्टाक्षरेणापि धूपयन्नन्तरान्तरा ॥ ३० ॥
तत्र तु प्रथमं भक्त्या विदधीत सुगन्धिभिः ।
दिव्यैस्तैलादिभिर्द्रव्यैरभ्यङ्गं श्रीहरेः शनैः ॥
अथाभ्यङ्गद्रव्याणि तन्माहात्म्यञ्च ।
स्कान्दे ।— मालती जातिमादाय सुगन्धानान्तु वा पुनः ॥ ३१ ॥
तथान्यपुष्पजातीनां गृहीत्वा भक्तितो नराः ।
ये स्नापयन्ति देवेशमुत्सवे वै हरेर्दिने ॥
मेदिनीदानतुल्यं हि फलमुक्तं स्वयम्भुवा ।
यः पुनः पुष्पतैलेन दिव्यौषधियुतेन हि ॥
अभ्यङ्गं कुरुते विष्णोर्मध्ये क्षिप्त्वा तु कुङ्कुमं ।
रोमाञ्चिततनुर्भूत्वा प्रियया सह माधवः ॥
प्रीत्या बिभर्ति स्वोत्सङ्गे मन्वन्तरशतं हरिः ।
विष्णुधर्मोत्तरे च—
गन्धतैलानि द्रव्यानि सुगन्धीनि शुचीनि च ।
केशवाय नरो दत्वा गन्धर्वैः सह मोदते ॥ ३२ ॥
अथ पञ्चामृतस्नपनम् ।
ततः शंखभृतेनैव क्षीरेण स्नापयेत् क्रमात् ।

भाषा टीका ।

ने भक्तिसहित हरि को केवल एकवार कमलके पत्ते में स्थित देखा है, उनको दुर्लभ फलप्राप्त हुआ है ॥२९॥

फिर घंटादि वजाकर शंखके जलसे अभिषेक करना चाहिये, वीच वीच में अष्टाक्षर मूलमंत्र, पाठ सहित धूप समर्पण करे ॥ ३० ॥

इस स्नान कार्यमें सबसे आगे दिव्यगंध पूर्ण तैल इत्यादि से भक्तिपूर्वक धीरे धीरे हरिका सर्वाङ्ग मर्दन करे॥ अभ्यंग द्रव्य और उनका महात्म्य ।— स्कन्द पुराण में लिखा है कि,— जो पुरुष मालती वा चमेली अथवा अन्यान्य सुगंधि वाले पुष्प ग्रहण करके नित्य और विशेष कर, हरिके एकादशी उत्सवके दिन, उन देवदेवको स्नान कराते हैं, ब्रह्माने कहा है कि,— उनको पृथ्वीके दानकरने का फलहोता है । जो पुरुष अति-उत्तम औषधि युक्त पुष्पतैलमें कुङ्कुम डाल कर उससे हरि का गात्र मर्दन करताहै, प्रभु प्यारीभार्याके सहित पुलकित शरीर हो आनन्द पूर्वक सौ मन्वन्तर तक उस पुरुषको गोदीमें लिये रहते हैं । विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है कि,— सुंदर गंधयुक्त विशुद्ध गंधतैल हरिको प्रदान करने पर मनुष्य गन्धर्वों के संग आनंद भोगता है ॥ ३१ ॥—॥ ३२ ॥

अथ पञ्चामृतस्नान । फिर शंखमें दूध,दही,घी, मधु, और शर्करा, ग्रहण करके क्रमानुसार भिन्न भिन्न

दध्ना घृतेन मधुना खण्डेन च पृथक् पृथक् ॥
पञ्चामृताद्यैः स्नपनं सदा नेच्छन्ति तत्प्रियाः ।
किन्तु तैः कालदेशादि विशेषे कारयन्ति तत् ॥ ३३ ॥

अथ तत्परिमाणम् ।

ब्रह्मपुराणे ।—देवानां प्रतिमा यत्र घृताभ्यङ्गस्ततो भवेत् ।
पलानि तस्य देयानि श्रद्धया पञ्चविंशतिः ॥
अष्टोत्तरपलशतं स्नाने देयञ्च सर्वदा ।
द्वे सहस्रे पलानान्तु महास्नाने च संख्यया ॥
दातव्ये येन सर्वासु दिक्षु निर्य्याति तद्घृतम् ॥ इति ॥ ३४ ॥
दुग्धादावपि संख्येयमेव ज्ञेया मनीषिभिः ।
पलसंख्या च विज्ञेया याज्ञवल्क्यादि वाक्यतः ॥ ३५ ॥

तथाहि ।— पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडशः ।
सुवर्णानाञ्च चत्वारः पलमित्यभिधीयते ॥ इति ॥ ३६ ॥

किञ्च ।— स्नानार्थे सुरभीक्षीरं महिषाद्यास्तु कुत्सिताः ।

अथ क्षीरादि स्नपनमाहात्म्यम् ।

विष्णुधर्मोत्तरे—
शरीरदुःखशमनं मनोदुःखविनाशनं ।
क्षीरेण स्नपनं विष्णोः क्षीराम्भोधिप्रदं तथा ॥ ३७ ॥

अग्निपुराणे ।—गवां शतस्य विप्रेभ्यः सम्यग् दत्तस्य यत् फलं ।

भाषा टीका ।

रूपसे स्नान कराना चाहिये । भक्तगण, सर्वदा पञ्चामृत स्नान की विधि नहीं देते, किन्तु देश कालके भेद से उसकी व्यवस्था देते हैं ॥ ३३ ॥

अथ पञ्चामृतका परिमाण ।—ब्रह्मपुराण में लिखाहै कि,— देवता की प्रतिमाके स्थानमें श्रद्धासहित पच्चीस पल घृत मलना चाहिये । समर्थ होने पर अभ्यङ्ग स्नानके समय (१०८) एकसौआठ पल प्रदान करे महास्नानके समय दो हजार पलका प्रमाण देना चाहिये, ऐसे भावसे घृत देवे कि सब ओर से निर्गत होसके ॥ ३४ ॥

बुद्धिमान् पुरुषों को दूध इत्यादि का परिमाण भी इसी प्रकार जानना चाहिये, पलका परिमाण याज्ञवल्क्यादिके वचनों से संग्रह करके जाने ॥ ३५ ॥

उक्त विषय का प्रमाण यह है कि,— पाँच रत्ती में माषा, सोलह माषेमें एक सुवर्ण और चार सुवर्ण में एक पल होता है ॥ ३६ ॥

और भी कहा है कि,—स्नानके निमित्त गायका दूध प्रशस्त है, भैंस इत्यादिका दूध लेना उचित नहीं है ।

दूध इत्यादि से स्नान करानेका माहात्म्य ।— विष्णुधर्मोत्तरमें लिखाहै,- दूधसे श्रीहरिको स्नान कराने पर, दैहिक क्लेश और मानसिक दुःख दूर होता है और क्षीरसमुद्र में वासस्थान प्राप्त कर सकता है ॥ ३७ ॥

अग्निपुराणमें लिखा है कि,- विधिपूर्वक ब्राह्मणको

घृतप्रस्थेन तद्विष्णोर्लभेत् स्नानान्न संशयः ॥
इन्द्रद्युम्नेन संप्राप्ता सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।
घृतोदकेन संयुक्ता प्रतिमा स्नापिता किलः ॥
प्रतिमासं सिताष्टम्यां घृतेन जगतां पतिं ।
स्नापयित्वा समभ्यर्च्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३८ ॥
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यत् पापं कुरुते नरः ।
तत् क्षालयति सन्ध्यायां घृतस्नपनतोषितः ॥
येषु क्षीरवहानद्यो नदाः पायस कर्दमाः ।
ताँल्लोकान् पुरुषा यान्ति क्षीरस्नपनका हरेः ॥ ३९ ॥

विष्णुधर्मे श्रीपुलस्त्य प्रह्लाद सम्बादे—

द्वादश्यां पञ्चदश्याञ्च गव्येन हविषा हरेः ।
स्नपनं दैत्यशार्दूल ! महापातकनाशनम् ॥
दध्यादीनां विकाराणां क्षीरतः सम्भवो यथा ।
तथैवाशेषकामानां क्षीरस्नानं ततो हरेः ॥

नारसिंहे ।—पयसा यस्तु देवेशं स्नापयेद्-गरुड़ध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोके महीयते ॥ ४० ॥

भाषा टीका ।

सौ गाय दान करने से जो फल होता है, एक प्रस्थ (तोलविशेष) परिमाण घृतसे हरि को स्नान कराने पर वही फल मिलता है, इसमें संदेह नहीं। महाराज इन्द्रद्युम्नने घृत और जलसे प्रतिमा को स्नान करा कर ससागरा पृथ्वी प्राप्त कीथी। प्रति महीने की शुक्लपक्षीय अष्टमी तिथि में घृत द्वारा लक्ष्मीपति को स्नान करा कर पूजा करने से पुरुष सब पापों से छूट सकता है ॥ ३८ ॥

क्या जान कर क्या विना जाने, मनुष्य जो कुछ पाप करता है, श्रीहरि सायंकालीन घृतस्नान से प्रसन्न होकर उसके वह सब पाप दूर करते हैं। जिन सब स्थानों की नदी दुग्ध वाहिनी और नदी की कीचड़ खीर के समान है, जो केशव को दूधसे स्नान कराते हैं, वे उन सब लोकों को प्राप्त होते हैं ॥ ३९ ॥

विष्णुधर्मके पुलस्त्य और प्रह्लाद सम्वाद में लिखा है कि;- हे दैत्यप्रवर ! द्वादशी और पञ्चदशी (पूर्णिमा) तिथिमें गायके घृतसे केशव को स्नान कराने पर महा पाप होताहै* दूधसे जिसप्रकार उसके विकार दधि इत्यादि की उत्पत्ति होती है, ऐसे ही दूधसे हरिको स्नान कराने पर उसके द्वारा अनेक प्रकार की अभीष्ट सिद्धि उदय होती हैं। नृसिंहपुराणमें लिखा है कि,— गरुड़ध्वजको दूधसे स्नान कराने पर, उस करानेवालेका देह निष्पाप होता है और वह हरिके धाममें आनन्द भोगता है ॥ ४० ॥

* यहां द्वादशी शब्दसे उपवास दिन (व्रतदिन) समझना चाहिये। बैष्णवोंका उपवास प्राय द्वादशी में ही होता है, इसी कारण द्वादशी शब्द का प्रयोग किया गया। अतएव द्वादशी सब्दसे उपवासका दिन समझने पर पहिले जो द्वादशी में भगवान् के स्नान करानेका निषेध लिखा गया है, उससे विरोध नहीं होता, अथवा द्वादशी की रात्रि में कहने से भी विरोध नहीं होता। द्वादशी के दिन में स्नान का ही निषेध कहा गया है। यद्यपि द्वादशी और पञ्चदशी में फलका आधिक्य, किन्तु अन्यान्य तिथियों में स्नान कराने से भी फल मिल जाता है ॥

स्नाप्य दध्ना सकृद्विष्णुं निर्मलं प्रियदर्शनम्।
विष्णुलोकमवाप्नोति सेव्यमानः सुरोत्तमैः॥
दुःस्वप्नशमनं ज्ञेयममङ्गल्यविनाशनम्।
माङ्गल्यवृद्धिदं दध्ना स्नपनं नरपुङ्गव ! ॥ ४१ ॥
यः करोति हरेरर्च्चां मधुना स्नापितां नरः।
अग्निलोके स मोदित्वा पुनर्विष्णुपुरे वसेत्॥
मधुना स्नपनं कृत्वा सौभाग्यमधि गच्छति।
लोकमित्राण्यवाप्नोति तथैवेक्षुरसेन च॥

द्वारकामहात्म्ये च श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्नसम्वादे—

क्षीरस्नानं प्रकुर्व्वन्ति ये नरा विष्णुमूर्द्धनि।
तेनाश्वमेधजं पुण्यं विन्दुना विन्दुना स्मृतम्॥
क्षीराद्दशगुणं दध्ना घृतं तस्माद्दशोत्तरम्।
घृताद्दशगुणं क्षौद्रं खण्डं तस्माद्दशोत्तरम्॥ ४२॥
पुष्पोदकश्च गन्धोदं वर्द्धते च दशोत्तरम्।
मन्त्रोदकश्च दर्भोदं तथैव नृपसत्तम !
द्राक्षारसं चूतरसं शतवाजिमखैः समम्।
तथैव तीर्थनीरश्च फलं यच्छति भूमिप! ॥ ४३ ॥
स्नपनं कृष्णदेवस्य यः करोति स्व शक्तितः।
फलमाप्नोति तत्प्रोक्तं निष्कामो मुक्तिमाप्नुयात्॥

भाषा टीका।

विमल सुदर्शन केशव को एकवार मात्र दधि से स्नान कराने पर, पुरुष हरिधाम में जाते हैं और देवसत्तमगण उनकी पूजा करते हैं। हे नरोत्तम! दधिसे स्नान कराने से दुःस्वप्न नष्ट होता है, समस्त अमङ्गल ध्वंश होते हैं और मंगल की वृद्धि होती रहती है॥ ४१॥

जो पुरुष मधुसे स्नान कराकर केशव को पूजा करते हैं, वे पहिले अग्निपुरमें सुखभोग कर फिर हरिधाम में जाते हैं। मधु और गुड़से हरिको स्नान कराने पर सौभाग्य प्राप्त होता है, और संपूर्ण मनुष्य उसके सुहृद् होते हैं। द्वारकामाहात्म्य के मार्कण्डेय इन्द्रद्युम्न सम्वाद में भी लिखा है कि,—जो पुरुष हरिके मस्तकपर दूध से अभिषेक करते हैं,— प्रत्येक बूँदमें उनको अश्वमेध का फल प्राप्ति होता है, दधि स्नान, दुग्धस्नान से दशगुँण फल देने वाला है, दधि से घृत दशगुँण, घृत से मधु दशगुँण और मधुसे शर्करा स्नान दशगुँण फल देनेवाला है॥ ४२॥

पुष्पजल और गंधजल दश दश गुँणमें प्रधान हैं। हे नृप प्रवर! मंत्र पूत जल और कुशोदक इसी प्रकार दश दश गुँण में श्रेष्ठ हैं। द्राक्षा रस और आम्र रस सौ अश्वमेध की समान हैं। हे नृपते! तीर्थ का जलभी इसी प्रकार फलदायक है॥ ४३॥

जो अपनी सामर्थ के अनुसार कृष्ण को स्नान कराते हैं, वे लोग पूर्व कहा हुआ फल प्राप्त करते हैं और कामना विहीन पुरुष को मोक्षकी प्राप्ति होती

विष्णुधर्मोत्तरे—

तीर्थोदकानि पुण्यानि स्वयमानीय मानवः ।
तैरस्य स्नपनं दत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

अथ स्नपने धूपनमाहात्म्यम् ।

स्कान्दे ।—स्नानकाले तु कृष्णस्य अगुरुं दहते तु यः ।
प्रविष्टो नासिकारन्ध्रं पापं जन्मायुतं दहेत् ॥ इति ॥ ४५ ॥

उद्वर्त्तनञ्च तैलादेरपसारणकारणम् ।
देवस्य कारयेद्द्रव्यैरुपयुक्तैरनन्तरम् ॥ ४६ ॥

अथोद्वर्त्तनं तन्माहात्म्यञ्च ।

नारासिंहे ।—यवगोधूमजैश्चूर्णैरुद्वर्त्योष्णेन वारिणा ।
प्रक्षाल्य देवदेवेशं वारुणं लोकमाप्नुयात् ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

गोधूमयवचूर्णैस्तु तमुत्साद्य जनार्दनम् ।
लोध्रचूर्णकसंकीर्णैर्बलरूपं तथाप्नुयात् ॥
मसूरमाषचूर्णं च कुङ्कुमक्षोदसंयुतम् ।
निवेद्य देवदेवाय गन्धर्वैः सहमोदते ॥

वाराहे ।—कलायकस्य चूर्णेन पिष्टचूर्णेन वा पुनः ।
तेनैवोद्वर्त्तनं कुर्य्याद् गन्धपुष्पैश्च संयुतम् ॥
यदीच्छेत परमां सिद्धिं मम कर्मपरायणः ॥ इति ॥ ४७ ॥

भाषा टीका ।

है। विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,— मनुष्य स्वयं विशुद्ध तीर्थका जल लाय, उसके द्वारा हरि को स्नान कराने पर सब पापों से छूट सकता है ॥ ४४ ॥

अथ स्नान कार्य में धूपनका महात्म्य ।— स्कन्द पुराण में कहा है कि,— श्रीहरि के स्नान समय में जो पुरुष अगर जलाता है, उस अगर की गंध नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट होकर अयुत (दससहस्र) जन्मके पापोंको भस्म करता है ॥ ४५ ॥

फिर तैलादि के दूर करने को उचित सामग्री से देवताके अंगमें उबटन करना चाहिये ॥ ४६ ॥

अंग मार्जन और उपहार का माहात्म्य ।— नृसिंहपुराण में लिखा है कि,— यवके चूर्णसे अंगमें उवटन करके गरम जल द्वारा देवताके अंग धोने पर, वरुण लोक में गति होती है । विष्णुधर्मोत्तर- में लिखा है कि,— यव चूर्ण वा गेंहूँके आटे के संग लोधकचूर्ण मिलाकर उससे हरिके अंगमें उवटन करने पर, बल, रूप प्राप्त होता है, मसूरका चूर्ण अथवा उरदके चूर्ण सहित कुंकुम का चूर्ण मिलाकर देव- देव हरि को निवेदन करने से गन्धर्वों के संग आनन्द पूर्वक समय बिता सक्ता है । वराह- पुराणमें लिखाहै कि,—मेरी पूजामें निष्ठ पुरुष परमा- सिद्धिकी कामना करने पर कालायचूर्ण (कँगनीका चूर्ण) पिष्टचूर्ण द्वारा मेरे अंगमें उवटन करे, उवटन की सामग्री में गंध पुष्प मिलालेवे ॥ ४७ ॥

ततः समर्पयेत् कूर्चमुषीरादिविनिर्मितम् ।
मलापकर्षणाद्यर्थं श्रीमन्मूर्त्यङ्गसन्धितः ॥ ४८ ॥

अथ कूर्च तन्माहात्म्यञ्च ।

विष्णुधर्मोत्तरे—
उषीर कूर्चकं दत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
दत्त्वा गोबालजं कूर्चं सर्वांस्तापान् व्यपोहति ॥
दत्त्वा चामरकं कूर्चं श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ ४९ ॥

अथ शुद्धजलस्नपनम् ।

ततः कोष्णेन संस्नाप्य संस्कृतेन सुगन्धिना ।
शीतलेनाम्बुना शंखभृतेन स्नापयेत् पुनः ॥

तदुक्तमेकादश स्कन्धे—
चन्दनोषीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्री नित्यदा विभवे सति ॥ ५० ॥

अथ जलपरिमाणम् ।

भविष्ये।—स्नाने पलशतं देयमभ्यङ्गे पंचविंशतिः ।
पलानां द्वे सहस्रे तु महास्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥ ५१ ॥

अथ जलग्रहणकालः ।

तत्र याज्ञवल्क्यः—
न नक्तोदकपुष्पाद्यैरर्चनं स्नानमर्हति ।

भाषा टीका ।

फिर श्रीमूर्त्ति के अंगों के संधिस्थान से मैल दूर करने के लिये उषीरादि (खसादि) निर्मित कूंची प्रदान करे ॥ ४८ ॥

कूंची और उस का माहात्म्य ।— विष्णु धर्मोत्तर में कहा है कि,— खस की बनी कूंची प्रदान करने पर, सब पापों से छूट जाता है। गोपुच्छ द्वारा कूंची बनाय हरि को निवेदन करने पर, सम्पूर्ण कष्ट दूर होते हैं, चमरी पुच्छ (चंवर) द्वारा कूंची बनाकर, समर्पण करने पर, अति उत्तम सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

शुद्धजल द्वारा स्नान ।– फिर सर्वौषधि इत्यादि के द्वारा संस्कृत दिव्य गंध पूर्ण कुछेक गरम जल से स्नान करा कर, शंख के शीतल जल से स्नान कराना चाहिये। एकादश स्कन्ध में कहा है कि,— सम्पत्ति होने पर, दीक्षित पुरुष चंदन, खस, कपूर, कुंकुम और अगुरु चंदन संयुक्त जल से नित्य स्नान करावे ॥ ५० ॥

जलका परिमाण ।— स्नान में शत पल परिमित जल प्रदान करे, अभ्यङ्ग स्नान में पच्चीस पल देवे। दो हजार पल परिमित जल से स्नान कराने पर, उसका नाम महास्नान है ॥ ५१ ॥

जलग्रहण करने का समय ।— इस विषय में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि,—रात्रि काल में लाया हुआ जल, वा पुष्पादि द्वारा स्नान और पूजा करनी उचित नहीं है।

विष्णुः।—न नक्तं गृहीतोदकेन देवकर्मकुर्यात् ॥
हारीतः।—रात्रावेता आपो वरुणं प्रविशन्त तस्मान्न रात्रौ गृह्णीयात्।

अथ स्नपनमाहात्म्यम्।

नारसिंहे।—निर्माल्यमपनीयाथ तोयेन स्नाप्य केशवं।
नरसिंहाकृतिं राजन्! सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
गोदानजं फलं प्राप्य यानेनाम्वरशोभिना।
नरसिंहपुरं प्राप्य मोदते कालमक्षयम् ॥

किञ्च।— स्नाप्य तोयेन भक्त्या तु नरसिंहं नराधिप!
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥
नरसिंहन्तु संस्नाप्य कर्पूरागुरुवारिणा।
चन्द्रलोके स मोदित्वा पश्चाद्विष्णुपुरे वसेत् ॥ ५२ ॥

किञ्च।— कुशपुष्पोदकेनापि विष्णुलोकमवाप्नुयात्।
रत्नोदकेन सावित्रं कौवेरं हेमवारिणा ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—
रत्नोदकप्रदानेन श्रियमाप्नोत्यनुत्तमां।
वीजोदकप्रदानेन क्रियासाफल्यमाप्नुयात् ॥
पुष्पतोयप्रदानेन श्रीमान् भवति मानवः।
फलतोयप्रदानेन सफलां विन्दते क्रियाम् ॥

भाषा टीका

विष्णुस्मृति में भी कहा है कि,—रात्रि काल में लाये हुए जल से देव कार्य न करे। हारित ने कहा है कि,— रात्रि के समय यह समस्त जल वरुण में प्रविष्ट होता है, इस कारण उस समय जल ग्रहण करना अनुचित है। स्नपन (स्नान) माहात्म्य।— नृसिंहपुराण में लिखा है कि,— हे राजन्! निर्माल्य उतार कर, नृसिंह मूर्ति हरि को जल द्वारा स्नान कराने पर, पुरुष सब पापों से छूट जाता है, और गोदान करने का फल प्राप्त कर सकता है। इस के अतिरिक्त गगनशोभी विमान पर, चढ़ नृसिंहधाम में जाय अक्षय काल परमानंद भोगता है। और भी लिखा है कि,— हे राजन्! भक्ति सहित जल द्वारा नृसिंहदेव को स्नान कराने पर, पुरुष सब पापों से छूट कर, विष्णु के धाम में जाता है और वहां आनन्द पूर्वक वास करता है। कपूर और अगर युक्त जल से नृसिंह देव को स्नान कराने पर, चन्द्रधाम में आनन्द भोग कर, फिर हरि धाम में वास कर सक्ता है ॥५२॥

और भी लिखा है कि,— कुश, पुष्प युक्त जल से स्नान कराने पर, हरि धाम प्राप्त होता है। रत्न मिश्रित जल से स्नान कराने पर, पुरुष सूर्य लोक में जाता है और सुवर्ण मिश्रित जल से स्नान कराने पर, कुवेर-लोक में वास होता है। विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि, —रत्नोदक (रत्न मिश्रित जल) समर्पण करने से अति-उत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है। वजि मिश्रित जल

हयशीर्ष पञ्चरात्रे—

सुगन्धिना यस्तोयेन स्नापयेज्जलशायिनं।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

गारुड़े।—तुलसीमिश्रतोयेन स्नापयन्ति जनार्द्दनम्।
पूजयन्ति च भावेन धन्यास्ते भुवि मानवाः ॥ ५३ ॥

अग्निपुराणे।—महास्नानेन गोविन्दं सम्यक् संस्नाप्य मानवः।
यं यं प्रार्थयते कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयः ॥ ५४ ॥

पाद्मे,— श्रीपुलस्त्य-भगीरथ सम्वादे—

स्नानमभ्यर्च्चनं यस्तु कुरुते केशवे सदा।
तस्य पुण्यस्य या संख्या नास्ति सा ज्ञानगोचरा ॥ इति ॥ ५५ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

स्नानार्थं देवदेवस्य यस्तु गन्धं प्रयच्छति।
भवन्ति वशगास्तस्य नार्य्यः सर्वत्र सर्वदा ॥
पुष्पदानात्तथालोके भवतीह फलान्वितः।
दत्वा मृगमदस्नानं सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ ५६ ॥
सर्वौषधिप्रदानेन वाजिमेधफलं लभेत्।
दत्वा जातीफलं मुख्यं सफलां विन्दति क्रियाम् ॥ ५७ ॥

भाषा टीका।

प्रदान करने से, साफल्य की प्राप्ति होती है। पुष्प युक्त जल प्रदान करने से, मनुष्य श्रीमान् होता है। फल युक्त जल निवेदन करने से कार्य सफल होता है। हयशीर्ष पंचरात्र, में लिखा है कि,—जो पुरुष सलिलशायी हरि को जल से स्नान कराते हैं, उनका चौदह इन्द्र पात तक ब्रह्म पुर में निवास होता है। गरुड़ पुराण में लिखा है कि,—जो तुलसी संयुक्त जल से हरि को स्नान कराते हैं और भक्ति सहित पूजा करते हैं, पृथ्वी में वही धन्य हैं। अग्निपुराण में लिखा है कि,— मनुष्य गोविन्द को सम्यक् प्रकार महा स्नान करा कर, जो जो कामना करता है, उसको वही वही प्राप्त होती है, इस में सन्देह नहीं ॥ ५४ ॥

पद्मपुराण के पुलस्त्य भगीरथ सम्वाद में लिखा है कि,— जो पुरुष नित्य हरि को स्नान कराते हैं और उनकी पूजा करते हैं, उन के पुण्य की सीमा ज्ञान सीमा से बाहर है ॥ ५५ ॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,—जो पुरुष स्नान के लिये देव देव हरि को गंध द्रव्य समर्पण करते हैं, स्त्रियें सर्वत्र और सब समय में ही उसके वशीभूत होती हैं। पुष्पार्पण करने से इसलोक में श्रेष्ट फल फलित होता है। मृगमद (कस्तूरी) मिश्रित जल से स्नान कराने पर, समस्त कामना पूर्ण होती हैं ॥ ५६ ॥

देवे देव को सर्वौषधि अर्पण करने पर, अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है। अति उत्तम जाति फल (जायफल) अर्पण करने से क्रिया सिद्ध होती है ॥ ५७ ॥

अथ सर्वौषधिः—

मुरा मांसी वचाकुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयं।
शठी चम्पकमुस्तश्च सर्वौषधिगणः स्मृतः॥ ५८॥

गन्धश्चागमे।—गन्धश्चन्दनकर्पूरकालागुरुभिरीरितः॥ ५९॥

अथ शंखमाहात्म्यम्।

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद सम्वादे—

शंखस्थितेन तोयेन यः स्नापयति केशवं।
कपिलाशतदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥
शंखे तीर्थोदकं कृत्वा यः स्नापयति माधवं।
द्वादश्यां विन्दुमात्रेण कुलानां तारयेच्छतम्॥
कपिलाक्षीरमादाय शंखे कृत्वा जनार्द्दनं।
यः स्नापयति धर्मात्मा यज्ञायुत फलं लभेत्॥
अन्यगोसम्भवं क्षीरं शंखे कृत्वा तु नारद!
यः स्नापयति देवेशं राजसूयफलं लभेत्॥
शंखे कृत्वा च पानीयं साक्षतं कुसुमान्वितम्।
स्नापयेद्देवदेवेशं हन्यात् पापं चिरार्जितम्॥
साक्षतं कुसुमोपेतं शंखे तोयं स चन्दनं।
यः कृत्वा स्नापयेद्देवं मम लोके वसेच्चिरम्॥
क्षिप्त्वा गन्धोदकं शंखे यः स्नापयति केशवं।
नमो नारायणायेति मुच्यते योनिसङ्कटात्॥
नाद्यं तड़ागजं वारि वापीकूपह्रदादिजम्।

भाषा टीका।

सर्वौषधि।—मुरा (मुरहरी) जटामांसी (बालछड़) वच, कूठ, शैलज (गजपीपल) हल्दी, दारुहल्दी, शठी (गन्धापसारिणी) चम्पक और मोथा, इन कई द्रव्यों को सर्वौषधि कहते हैं॥ ५८॥

तन्त्र में गन्धका विषय इस प्रकार लिखा है कि,—चन्दन, कपूर और काली अगर इन सब का नाम गन्ध है॥ ५९॥

अथ शंख माहात्म्य।—स्कन्द पुराण के ब्रह्म नारद सम्वाद में लिखा है कि,—जो पुरुष शंख के जल से श्रीहरि को स्नान कराते हैं, वे पुरुष एक सौ कामधेनु अर्पण करने का फल पाते हैं। जो पुरुष शंखस्थ तीर्थ जल से द्वादशी तिथि में माधव को स्नान कराते हैं वे मनुष्य प्रत्येक जल विन्दु में सौ कुल की रक्षा करते हैं। जो धर्मात्मा पुरुष शंख में कपिला गाय का दूध लेकर उस से हरि को स्नान कराते हैं, इन को दश हजार यज्ञ का फल मिलता है। हे नारद! जो पुरुष शंख में अन्य गाय का दूध रख कर उस से हरि को स्नान कराते हैं, उनको राजसूय यज्ञ करने का फल मिलता है। अक्षत और पुष्प संयुक्त जल शंख में रख कर उस से प्रभु को स्नान कराने पर वह पुरुष तत्काल मेरे लोक में वास

गाङ्गेयश्च भवेत् सर्व्वं कृतं शंखे कलिप्रिय !
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया ।
शंखे तिष्ठति विप्रेन्द्र ! तस्मात् शंखं सदार्च्चयेत् ॥ ६० ॥
शंखे कृत्वा तु पानीयं सपुष्पं सतिलाक्षतम् ।
अर्घ्यं ददाति देवस्य ससागरधराफलम् ॥ ६१ ॥
अर्घ्यं दत्वा तु शंखेन यः करोति प्रदक्षिणम् ।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥
दर्शनेनापि शंखस्य किं पुनः स्पर्शने कृते ।
विलयं यान्ति पापानि हिमं सूर्योदये यथा ॥
नित्यनैमित्तिके काम्ये स्नानार्चनविलेपने ।
शंखमुद्वहते यस्तु श्वेतद्वीपे वसेच्चिरम् ॥
नत्वा शंखं करे धृत्वा मन्त्रेणानेन वैष्णवः ।
यः स्नापयति गोविन्दं तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥
मंत्रः ।— त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे ।
मानितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य ! नमोऽस्तु ते ॥
तव दानेन जीमूता वित्रस्यन्ति सुरासुराः ।
शशाङ्कयुतदीप्ताभ पाञ्चजन्य ! नमोऽस्तु ते ॥
गर्भा देवारिनारीणां विलीयन्ते सहस्रधा ।
तव नादेन पाताले पाञ्चजन्य ! नमोऽस्तु ते ॥

भाषा टीका ।

कर सक्ता है और उसका चिरार्जित पाप नष्ट होता है। जो पुरुष शंख में गंध जल ग्रहण पूर्वक "नमो नारायणाय" उच्चारण कर, उस से हरि को स्नान कराते हैं, वे योनि संकट से छूट जाते हैं । हे कलिप्रियनारद ! नदी का जल, बावरी का जल, कुए का जल और तालाब का जल शंख में स्थापन करने से, गंगाजल की समान होता है। हे विप्रसत्तम ! तीनों लोक में जितने तीर्थ हैं, हरि की आज्ञा से वे सब ही शंख में अवस्थित हैं; इस कारण सदा शंख की पूजा करे ॥ ६० ॥

पुष्प, तिल और अक्षत युक्त जल शंखमें ग्रहण पूर्वक जो पुरुष प्रभु को अर्घ्य देते हैं, वे ससागरा पृथ्वी दान करने का फल प्राप्त करते हैं ॥ ६१ ॥

जो पुरुष शंख द्वारा अर्घ्य समर्पण कर के प्रदक्षिणा करते हैं, उन को सात द्वीप युक्त पृथ्वी को प्रदक्षिणा करने का फल मिल जाता है। सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार हिम (बर्फ) ध्वंश होता है, ऐसे ही शंख का दर्शन करने पर, पातक दूर हो जाते हैं; सुतरां फिर स्पर्श द्वारा जो क्या फल होता है, उस को और क्या कहूं ? जो पुरुष नित्य नैमित्तिक और काम्य क्रिया में अथवा स्नान पूजा और विलेपन कार्य में शंख का व्यवहार करते हैं, वे बहुत दिनों तक श्वेत द्वीप में वास करते हैं। नमस्कार कर हाथ में शंख लेकर जो वैष्णव यह मंत्र पाठ पूर्वक हरि को स्नान कराते हैं, उनका असीम पुण्य संचय होता है। मंत्र यथा, —"हे पाञ्चजन्य ! पहिले तुम समुद्र से प्रगट हुए थे, विष्णु ने तुम को हाथ में धारण किया है, और देवता तुम्हारा सन्मान करते हैं, तुम को नमस्कार करता हूं। हे पाञ्च जन्य ! तुम्हारी गर्जन से मेघ, देवता और असुरगण डरते हैं, तुम्हारी दीप्ति दशहजार

वाराहे च ।—दक्षिणावर्त्तशंखेन तिलमिश्रोदकेन च ।
उदकेनाभिमात्रे तु यः कुर्य्यादभिषेचनम् ॥
प्राक् स्रोतसि च नद्यां वै नरस्त्वेकाग्रमानसः ।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
दक्षिणावर्त्तशंखेन पात्रे औडुम्बरे स्थितम् ।
उदकं यः प्रतीच्छेत शिरसा कृष्णमानसः ॥
तस्य जन्मशतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।

आगमे ।—बृहत्वं स्निग्धताऽच्छत्वं शंखस्येति गुणत्रयम् ॥
आवर्त्तभङ्गदोषस्तु हेमयोगान्न जायते ।
नालिकायां स्वभावेन यदि छिद्रं भवेन्नहि ॥ इति ॥ ६२ ॥
घन्टावाद्यञ्च नितरां स्नानकाले प्रशस्यते ।
यतो भगवतो विष्णोस्तत् सदा परमं प्रियम् ॥ ६३ ॥

नारद पञ्चरात्रे—
आवाहनार्घ्ये धूपे च पुष्पनैवेद्ययोजने ।
नित्यमेतां प्रयुञ्जीत तन्मन्त्रेणाभिमन्त्रिताम् ॥

तन्मन्त्रः ।—जयध्वनि ततो मन्त्रमातः स्वाहेत्युदीर्य्य च ।
अभ्यर्च्य वादयन् घन्टां धुपं नीचैः प्रदापयेत् ॥

भाषा टीका ।

चंद्रमा की समान है, तुम को नमस्कार करता हूं। हे पाञ्चजन्य! तुम्हारे शब्द से पाताल में सहस्र सहस्र दैत्य पत्नियों का गर्भपात होता है, तुम को नमस्कार करता हूं।" वराह पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष नदी-स्रोत के पूर्व मुख से नाभि की बराबर जल में खड़ा होकर दक्षिणावर्त्त शंख में तिलोदक ग्रहण पूर्वक एकाग्र चित्त से स्नान करते हैं, उनके वहुत दिनों के इकठे किये हुए पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष श्रीहरि के प्रति चित्त लगाय, ताँवे के पात्र का जल शंख में लेकर मस्तक में अभिषेक करते हैं, उनके आजन्म संचित पाप तत्काल दूर हो जाते हैं। शंख के गुँण तीन हैं,—बृहत्व, स्निग्धत्व और स्वच्छत्व। नालिका में स्वभाव जनित छेदन होने से, स्वर्ण संयोग होंने पर आवर्त्त भङ्गादि दोष नहीं होता ॥ ६२ ॥

स्नान के समय घंटा वजाना अत्यन्त कर्त्तव्य है, क्यों कि,— यह वाजा हरि को सदा अत्यन्त प्रसन्न करने वाला है ॥ ६३ ॥

नारद पञ्चरात्र में लिखा है कि,— आवाहन में, अर्घ्य में, धूप में, पुष्प में और नैवेद्य दान में, घंटा वजाने का यह (वक्ष्यमाण) मन्त्र पढ़कर निरन्तर घंटा वजावे। घंटा वजाने का मंत्र ।— "जयध्वनि मन्त्र मातः स्वाहा" यह मन्त्र पढ़ कर पूजा करे और घंटा वजाता हुआ धीरे धीरे धूप अर्पण करे। पूजा काल के अतिरिक्त यह घंटा वजाने से किसी फल की सम्भावना नहीं है। सिद्धि की कामना करने वाला पुरुष कभी घंटा के विना पूजा न करे। घंटा माहात्म्य ।— स्कन्द-पुराण के ब्रह्म नारद सम्वाद में लिखा है कि,— जो पुरुष स्नान और पूजा कार्य्य के समय हरि के सन्मुख घंठा वजाते हैं, उनके पुण्य का फल सुनो। वे पुरुष हजार करोड़ वर्ष अथवा सौ करोड़ वर्ष सुरपुर में वास करते हैं; वहां अप्सरायें उनकी सेवा करतीं हैं। घंटा

पूजाकालं विनान्यत्र हितं नास्याः प्रचालनम्।
न तया च विना कुर्य्यात् पूजनं सिद्धिलालसः॥

अथ घन्टा माहात्म्यम्।

उक्तञ्च स्कान्दे,—श्रीब्रह्मनारद सम्वादे—

स्नानार्चनक्रियाकाले घन्टानादं करोति यः।
पुरतो वासुदेवस्य तस्य पुण्यफलं शृणु॥
वर्षकोटिसहस्राणि वर्षकोटिशतानि च।
वसते देवलोके तु अप्सरोगणसेवितः॥
सर्ववाद्यमयी घन्टा केशवस्य सदा प्रिया।
वादनाल्लभते पुण्यं यज्ञकोटिसमुद्भवम्॥
वादित्रनिनदैस्तूर्यगीतमङ्गलनिःस्वनैः।
यः स्नापयति गोविन्दं जीवन्मुक्तो भवेद्धि सः॥
वादित्राणामभावे तु पूजाकाले हि सर्वदा।
घन्टाशब्दो नरैः कार्य्यः सर्ववाद्यमयी यतः॥
सर्ववाद्यमयी घन्टा देवदेवस्य वल्लभा।
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन घन्टानादन्तु कारयेत्॥
मन्वन्तरसहस्राणि मन्वन्तरशतानि च।
घन्टानादेन देवेशः प्रीतो भवति केशवः॥

विष्णुधर्मोत्तरे,—श्रीभगवत प्रह्लाद सम्वादे—

शृणु दैत्येन्द्र! वक्ष्यामि घन्टामाहात्म्यमुत्तमम्।
प्रह्लाद! त्वत् समो नास्ति मद्भक्तो भुवनत्रये॥
मम नामाङ्किता घन्टा पुरतो मम तिष्ठति।

भाषा टीका।

सर्व वाद्य मय है, वह केशव को सर्वदा प्रिय है। घंटा वजाने से करोड़ यज्ञ के अनुष्ठान करने का फल उदय होता है। जो नर बाजे के शब्द, तुरही की ध्वनि, सङ्गीत और मंगल शब्द के सहित हरि को स्नान कराते हैं, वे जीवन्मुक्त होते हैं, इस में सन्देह नहीं। वाद्य यन्त्र के न होने पर मनुष्य गण पूजा काल में सदा घंटा वजावें, क्यों कि,— वह सर्व वाद्य मय है। घंटा सर्व वाद्य मय और देव देव हरि का प्रिय है, इस कारण यत्न सहित घंटा वजाना चाहिये। घंटा के शब्द से देव देवेश्वर हरि सौ मन्वन्तर अथवा हजार मन्वन्तर तक प्रसन्न रहते हैं। विष्णुधर्मोत्तर के भगवान् प्रह्लाद सम्वाद में लिखा है कि,— हे दैत्य प्रवर! घन्टा के माहात्म्य की अधिकता कहता हूँ सुनो,— हे प्रह्लाद! तीनों लोक में तुम्हारी समान मेरा भक्त और कोई नहीं है। हे दैत्यनन्दन! वैष्णवालय में मेरे सन्मुख स्थापित मेरे नाम से अङ्कित घंटा की पूजा करने पर, मुझको वहां अधिष्ठित

अर्चिता वैष्णवगृहे तत्र मां विद्धि दैत्यज !
वैनतेयाङ्कितां घन्टां सुदर्शनयुतां यदि ।
ममाग्रे स्थापयेद्यस्तु देहे तस्य वसाम्यहम् ॥६४॥
यस्तु वादयते घन्टां वैनतेयेन चिह्निताम् ।
धूपे नीराजने स्नाने पूजाकाले विलेपने ॥
ममाग्रे प्रत्यहं वत्स ! प्रत्येकं लभते फलम् ।
मखायुतं गोऽयुतञ्च चान्द्रायणशतोद्भवम् ॥
विधिवाह्यकृता पूजा सफला जायते नृणाम् ।
घन्टानादेन तुष्टोऽहं प्रयच्छामि स्वकं पदम् ॥
नागारिचिह्निता घन्टा रथाङ्गेन समन्विता ।
वादनात् कुरुते नाशं जन्ममृत्युभयस्य च ॥ ६५ ॥
गारुडेनाङ्कितां घन्टां दृष्ट्वाहं प्रत्यहं सदा ।
प्रीतिं करोति दैत्येन्द्र! लक्ष्मी प्राप्य यथाऽधनः ॥ ६६ ॥
दृष्ट्वामृतं यथा देवाः प्रीतिं कुर्वन्त्यहर्निशम् ।
सुपर्णे च तथा प्रीतिं घन्टाशिखरसंस्थिते ॥ ६७ ॥
स्वकरेण प्रकुर्व्वन्ति घन्टानादं स्वभक्तितः ।
मदीयार्चन काले तु फलं कोटचैन्दवं कलौ ॥ ६८ ॥

भाषा टीका ।

जानना चाहिये । घन्टा में गरुड़ का और सुदर्शन का चिह्न होने पर, जो पुरुष वह घन्टा मेरे सन्मुख स्थापन करता है, मैं उसके शरीर में वास करता हूँ ॥६४॥

हे वत्स ! जो नित्य धूप, नीराजन (आरती) स्नान, पूजा और विलेपन के समय मेरे सन्मुख गरुड़ चिह्नित अर्थात् गरुड़ के चिह्न से युक्त घंटा बजाता है, वह प्रत्येक कार्य में दशहजार यज्ञ का, दशहजार गोदान का और सौ चान्द्रायण के व्रत का फल प्राप्त करता है। जो कोई पूजा ही क्यों न हो, मनुष्य यदि सम्यक् प्रकार उसको सम्पन्न न कर सके, तो वह घंटा बजाने से समस्त ही सिद्ध होती हैं, मैं इस वाजे से प्रसन्न हो कर अपना धाम दे देता हूँ । गरुड़ और चक्र चिह्नित घंटा बजाने से जन्म और मरण का भय दूर होता है ॥ ६५ ॥

हे दैत्य प्रवर ! जिस प्रकार दरिद्री पुरुष सम्पत्ति के प्राप्त होने से पुलकित होता है, ऐसे ही मैं प्रति दिन गरुड़ – चिह्नित घंटा देखने से ही परितुष्ट होता हूँ ॥ ६६ ॥

अमृत के देखने से जिस प्रकार देवता दिन रात सन्तुष्ट रहते हैं, घंटा के ऊपरी भाग में गरुड़ की मूर्त्ति देखने पर, मैं भी उसी प्रकार सन्तोष को प्राप्त होता हूँ ॥६७॥

कलियुग में मेरी पूजा के समय भक्ति सहित अपने हाथ से घंटा बजाने पर, करोड़ चान्द्रायण का फल मिल जाता है ॥ ६८ ॥

अन्यत्र च।—घण्टादण्डस्य शिखरे सचक्रं स्थापयेत्तु यः।
गरुड़ं वै प्रियं विष्णोः स्थापितं भुवनत्रयम्॥
सचक्रघण्टानादन्तु मृत्युकाले शृणोति यः।
पापकोटियुतस्यापि नश्यन्ति यम-किङ्कराः॥
सर्व्वे दोषाः प्रलीयन्ते घण्टानादे कृते हरौ।
देवतानां मुनीन्द्राणां पितॄणामुत्सवो भवेत्॥
अभावे वैनतेयस्य चक्रस्यापि न संशयः।
घण्टानादेन भक्तानां प्रसादं कुरुते हरिः॥
गृहे यस्मिन् भवेन्नित्यं घण्टा नागारिसंयुता।
न सर्पाणां तत्र भयं नाग्निविद्युत्समुद्भवम्॥
यस्य घण्टा गृहे नास्ति शंखश्च पुरतो हरेः।
कथं भागवतं नाम गीयते तस्य देहिनः॥ इति॥
अतो भगवतः प्रीत्यै घण्टा श्रीगरुड़ान्विता।
संग्राह्या वैष्णवैर्यत्नाच्चक्रेणोपरि मण्डिता॥
स्नाने शंखादिवाद्यन्तु नामसंकीर्त्तनं हरेः।
गीतं नृत्यं पुराणादिपठनञ्च प्रशस्यते॥ ६९॥

अथ स्नाने वाद्यादि-माहात्म्यम्।

स्कन्दपुराणे।—स्नानकाले तु कृष्णस्य शंखादीनान्तु वादनं।
कुरुते ब्रह्मलोके तु वसते ब्रह्मवासरम्॥

भाषा टीका।

अन्यत्र भी लिखा है कि,— घंटा दण्ड के अग्रदेश में हरि का प्रिय चक्र और गरुड़ स्थापित होने से उस स्थापित करने वाले के द्वारा तीन लोक स्थापित होते हैं, मरने के समय जो चक्र चिह्नित घंटा की ध्वनि सुनते हैं, करोड़ पापों से पातकी होने पर भी यमदूत उन के समीप आनकर भाग जाते हैं। विष्णु की पूजा में घंटा का शब्द करने से सब दोष दूर होते हैं, एवं देवता, मुनीन्द्र और पितरों को सन्तोष उत्पन्न होता है। गरुड़ चिह्नित और चक्र चिह्नित घंटा के अभाव में अन्य घंटा बजाने से प्रभु, भक्त के ऊपर प्रसन्न रहते हैं, इस में सन्देह नहीं। जिस घर में सदा गरुड़ चिह्न से अङ्कित घंटा विराजमान् रहता है, वहां सर्प का भय विद्यमान् नहीं रहता और अग्नि वा बिजली के भय की भी सम्भावना नहीं है। जिस पुरुष के घर हरि के सामने शंख और घंटा नहीं होते उस पुरुष को किस प्रकार से हरिभक्तिपरायण कहा जा सक्ता है? अत एव वैष्णवगण भगवान् के सन्तोषार्थ गरुड़ और चक्र चिह्न से अंकित घंटा ग्रहण करे। केशव के स्नान काल में शंख का बजाना, नामकीर्त्तन, सङ्गीत, नृत्य और पुराणादि पाठ इन सब की विशेष प्रशंसा की जाती है॥६९॥

स्नान कालीन वाद्यादिका माहात्म्य।—स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—जो श्रीहरि के स्नान काल में शंखादि बजाते हैं, ब्रह्मा के एक दिन तक उनका ब्रह्मपुर में

स्नानकाले तु संप्राप्ते कृष्णस्याग्रे तु नर्त्तनं ।
गीतञ्चैव पुनात्यत्र ऋचोक्तं वदनेन हि ॥ ७० ॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद सम्वादे —

मृदङ्गवाद्येन युतं प्रणवेन समन्वितम् ।
अर्च्चनं वासुदेवस्य सनृत्यं मोक्षदं नृणाम् ॥
गीतं वाद्यञ्च नृत्यञ्च तथा पुस्तकवाचनं ।
पूजाकाले तु कृष्णस्य सर्वदा केशवप्रियम् ॥
नृत्यवाद्याद्यभावे तु कुर्य्यात् पुस्तकवाचनं ।
पूजाकाले त्विदं पुत्र ! सर्वदा प्रीतिदायकम् ॥
पुस्तकस्याप्यभावे तु विष्णुनामसहस्रकम् ।
स्तवराजं मुनिश्रेष्ठ ! गजेन्द्रस्य च मोक्षणम् ॥
पूजाकाले तु देवस्य गीतास्तोत्रमनुस्मृतिः ।
पञ्चस्तवा महाभाग ! महाप्रीतिकरा हरेः ॥
विहाय गीतवाद्यानि पूजाकाले सदा हरेः ।
पठनीयं महाभक्त्या विष्णोर्नामसहस्रकम् ॥ ७१ ॥

द्वारका माहात्म्ये—

स्नानकाले तु कृष्णस्य जयशब्दं करोति यः ।
करताड़नसंयुक्तं गीतं नृत्यं प्रकुर्व्वते ॥
उन्मत्तचेष्टां कुर्वाणो हसन् जल्पन् यथेच्छया ।
नोत्तानशायी भवति मातुरङ्के नरेश्वर ! ॥ ७२ ॥

भाषा टीका।

वास होता है। ऋग्वेद ने अपने मुख से प्रकाश किया है कि,— स्नान काल में हरि के सन्मुख नृत्य और संगीत विशुद्ध करता रहै ॥ ७० ॥

इसी स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद सम्वाद में लिखा है कि,— मृदङ्ग और पणव वाजे के संहितं नृत्य करता हुआ हरि की पूजा करने पर, वह पूजा करने वाले के पक्ष में मुक्ति देने वाली होती है। श्रीहरि के पूजा काल में संगीत, वाद्य, नृत्य और पुस्तक वाचन, यह सब कार्य सदा हरि को प्रसन्न करने वाले हैं। नृत्य और वाद्य के अभाव में पुस्तक वाचन करना चाहिये; हे वत्स ! पूजा काल में वह सदा प्रीति जनक होते हैं। हे तापस-प्रवर ! श्रीहरि की पूजा के समय यदि पुस्तक का अभाव हो, तो विष्णु का सहस्र नाम, स्तुतिराज, गजेन्द्र-मोक्ष, गीतास्तोत्र और मनुस्मृति, यह पांच स्तव प्रभु के अत्यन्त प्रीतिप्रद हैं। हरि की पूजा के समय गीत और वाद्य छोड़ कर महत् भक्ति के सहित सदा सहस्रनाम कीर्त्तन करे ॥ ७१ ॥

द्वारका माहात्म्य में लिखा है कि,— हे नृपते ! जो श्रीहरि के स्नान काल में 'जय' शब्द उच्चारण करते हैं, करताली बजा कर नृत्य, गीत करते हैं और उन्मत्त की समान यथेच्छ हास्य करते हैं तथा वाक्य उच्चारण करते हैं, उनको फिर माता की गोदी में उत्तान शायी होना नहीं पड़ता अर्थात् उनकी मोक्ष हो जाती है॥७२॥

अथ सहस्रनाम माहात्म्यम् ।

तत्रैव ।— स्नानकाले तु देवस्य पठेन्नामसहस्रकम् ।
प्रत्यक्षरं लभेत् पुण्यं कपिलागोशतोद्भवम् ॥

विष्णु धर्मोत्तरे—
कृत्वा नामसहस्रेण स्तुतिं तस्य महात्मनः ।
वियोगमाप्नोति नरः सर्वानर्थैर्न संशयः ॥

स्कान्दे,-श्रीब्रह्मनारद सम्बादे—
विष्णोर्नामसहस्रन्तु पूजाकाले पठन्ति ये ।
वेदानाञ्चैव पुण्यानां फलमाप्नोति मानवः ॥
श्लोकेनैकेन देवर्षे ! सहस्रनामकस्य यत् ।
पठितेन फलं प्रोक्तं न तत् क्रतुशतैरपि ॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यत्कृतं पूजनं हरेः ।
परिपूर्णं भवेत्सर्व्वं सहस्रनामकीर्त्तनात् ॥

किञ्च ।— ज्ञानाज्ञानकृतं पापं पठित्वा विष्णुसन्निधौ ।
नाम्नां सहस्रं विष्णोस्तु प्रजहाति महारुजम् ॥
ब्रह्महत्यादिपापानि कामचारकृतान्यपि ।
बिलयं यान्ति वै नूनमन्यपापे तु का कथा ॥
सिध्यन्ति सर्व्वकार्याणि मनसा चिन्तितानि च ।

भाषा टीका ।

सहस्रनाम का माहात्म्य ।—इसी ग्रन्थ में लिखा है कि,— श्रीहरि के स्नान समय में सहस्रनाम कीर्त्तन करने पर, प्रति वर्ण में सौ कामधेनु के दान का फल प्राप्त होता है । विष्णु धर्मोत्तर में लिखा है कि,—मनुष्य सहस्रनाम द्वारा उन महात्मा भगवान् का स्तुति वाद करने पर सब प्रकार के अनर्थ से उद्धार हो सकता है, इस में संदेह नहीं । स्कन्दपुराण के ब्रह्म नारद सम्बाद में लिखा है कि,— जो पुरुष पूजा काल में हरि के नामों का कीर्त्तन करता है, वह सब वेदों के पढ़ने का पुण्य प्राप्त करता है । हे देवर्षे ! सहस्रनाम का केवल एक मात्र श्लोक पाठ करने से जो फल होता है, सौ यज्ञों का अनुष्ठान करने पर भी उस के प्राप्त होने की संभावना नहीं है, इस प्रकार प्रसिद्धि है । श्रीविष्णु की जो कोई पूजा मंत्र रहित वा क्रिया रहित हो, सहस्र नाम के पाठ से वह सब सफल होती हैं और भी लिखा है कि,—हरि के सन्मुख विष्णु का सहस्रनाम कीर्त्तन करने पर ज्ञानाज्ञानकृत पातक और महारोग दूर हो जाते हैं । कामकृतब्रह्मवधादि पातक भी निःसंदेह नष्ट होते हैं, सुतरां अन्य पातकों की वात फिर क्या कहूं ? जो पुरुष प्रातःकाल में उठ कर सहस्रनाम कीर्त्तन करते हैं, वे चित्त में जिन सब कार्यों की चिन्त करते हैं, उनके वे सब कार्य सिद्ध होते हैं । स्कन्द पुराण के कृष्णार्ज्जुन सम्वाद में लिखा है कि,--जो पुरुष सहस्रनाम का पाठ करते हैं, उन्हों ने सब वेद पढ़ लिये,-सब देवताओं की पूजा करली और मोक्ष उनके हस्त गत होगई । सदा पापका आचरण करनेवाला और यथेच्छभोजन करनेवाला पुरुष भी सहस्रनाम पाठके

यः पठेत् प्रातरुत्थाय विष्णोर्नामसहस्रकम् ॥

तत्रैव श्रीकृष्णार्ज्जुन सम्वादे —

अधीतास्तेन वै वेदाः सुराः सर्वे समर्च्चिताः ।
नाम्नां सहस्रं योऽधीते मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ॥
कुर्व्वन् पापसहस्राणि भुञ्जानोऽपि यतस्ततः ।
पठेन्नामसहस्रन्तु दुर्गन्धं न स पश्यति ॥
मुक्त्वा नामसहस्रन्तु नान्यो धर्मोऽस्ति कश्चनः ।
कलौ प्राप्ते गुड़ाकेश ! सत्यमेतन्मयेरितम् ॥
यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च स्तवैः प्रीतिर्न मेऽर्ज्जुन !
सन्तुष्टिस्तु न चान्येन विना नामसहस्रकम् ॥
स्तवं नामसहस्राख्यं ये न जानन्ति वै कलौ ।
भ्रमन्ति ते नरा लोके सर्वधर्मवहिष्कृताः ॥
स्तवं नामसहस्राख्यं लिखितं यस्य वेश्मनि ।
पूज्यते मम सान्निध्ये पूजां गृह्णामि तस्य वै ॥
यस्मिन्नामसहस्रं मे गृहे तिष्ठति सर्व्वदा ।
लिखितं पाण्डवश्रेष्ठ ! तत्र नो विशते कलिः ॥
तस्मात्त्वमपि कौन्तेय ! मद्भक्तो मन्मना भव ।
पठेन्नामसहस्रं मे सर्व्वान् कामानवाप्स्यसि ॥
अहमाराधितः पूर्व्वं ब्रह्मणा लोककर्त्तृणा ।
ततो नामसहस्रं मे प्राप्तं लोकहितं परम् ॥
नारदेन ततः पूर्व्वं प्राप्तश्च परमेष्ठिनः ।

भाषा टीका

फलसे नरक दर्शन से मुक्ति पाता है। हे अर्जुन ! मैं सत्य ही कहताहूँ कलियुग के उपस्थित होने पर सहस्रनाम कीर्त्तन करें, अन्यधर्मका आचरण न करने में भी हानि नहीं है। हे अर्जुन ! सहस्र नाम के अतिरिक्त क्या यज्ञ, क्या दान, क्या तप, क्या स्तव, किसी से मेरी प्रीति वा संतुष्टि नहीं होती। कलियुग में जो पुरुष सहस्रनाम नहीं जानते उनको सब धर्मों से वहिष्कृत होकर संसार में विचरना पड़ता है। जिन पुरुषों के घर में मेरा सहस्रनाम लिखकर मेरे सन्मुख पूजा करी जाती है, मैं उनकी वह पूजा ग्रहन करता हूँ। हेपाण्डवसत्तम ! जिस घर में मेरा सहस्रनाम लिपिवद्ध होकर (लिखाजाकर)सदा विराजित रहता है, वहां कलि प्रवेश करने में समर्थ नहीं होता, इस कारण हे कुन्तीसुत ! तुम भी मेरे भक्त होकर मुझ में चित्त लगाय सहस्रनाम अध्ययन करो, इस प्रकार करने से तुम्हारी सब अभिलाषा सिद्ध होंगी। पूर्वकाल में लोककर्त्ता ब्रह्मा जी मेरी ऊपासना करने से ही सर्वजनकल्याणकारी मेरे सहस्रनाम को प्राप्त हुएथे। इस के पीछे नारद जी ने ब्रम्हा जी के निकट से प्राप्त कर ऊर्द्धरेता

नारदेन ततः प्रोक्तमृषीणामूर्द्धरेतसाम् ॥
ऋषिभिस्तु महाबाहो ! देवलोके प्रकाशितं ।
मर्त्त्यलोके मनुष्याणां व्यासेन परिभाषितम् ॥ ७३ ॥
तपसोग्रेण महता शङ्करेण महात्मना ।
मत्प्रसादादनुप्राप्तं गुह्यानामुत्तमोत्तमम् ॥
दत्तं भवान्यै रुद्रेण नाम्नां मे हि सहस्रकम् ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु मया ते परिकीर्त्तितम् ॥
अशेषार्त्तिहरं पार्थ ! मम नामसहस्रकम् ।
सद्यः प्रीतिकरं पुण्यं सुराणाममृतं यथा ॥
अष्टादशपुराणानां सारमेतद्धनञ्जय !
मयोद्धृत्य समाख्यातं तव नामसहस्रकम् ॥
सहस्रनाममाहात्म्यं देवो जानाति शङ्करः ।
सहस्रनाममाहात्म्यं यः पठेत् शृणुयादपि ॥
अपराधसहस्रैस्तु न स लिप्येत् कदाचन ॥ ७४ ॥

अथ श्रीभगवद्गीता-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे,- अवन्तीखण्डे श्रीव्यासोक्तौ—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य-मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
सर्व्वशास्त्रमयी गीता सर्व्वदेवमयी यतः ।

भाषा टीका ।

तापसों के प्रति कीर्त्तन किया, हे माहावाहो ! मुनियों ने फिर देव लोक में प्रकाश किया, वेदव्यास जी ने मर्त्यलोक में मनुष्यों के निकट कहा है ॥ ७३ ॥

महादेव जी ने कठिन तपस्या का आचरण करके मेरे अनुग्रह से अत्यन्त गुप्त इस सहस्रनाम स्तव को प्राप्त किया था उन्हो ने भवानी को इस को दान किया, इस प्रकार से मेरा सहस्रनाम त्रिभुवन में प्रसिद्ध हुआ है। मैं ने तुम्हारे निकट कीर्त्तन किया। हे अर्जुन ! सुधा जिस प्रकार देवताओं का कष्ट दूर करता है, ऐसे ही मेरा सहस्रनाम प्राणियों की समस्त यंत्रणा दूर कर देता है। और तत्काल प्रीतिसाधन करता है। हे धनञ्जय ! यह सहस्रनाम अठारह पुराणो में सार है, मैंने उसको उद्धार करके तुम्हारे निकट कहा, इस सहस्रनाम के माहात्म्य महेश्वर जानते हैं जो पुरुष सहस्रनामका माहात्म्य पढ़ता और सुनता है, सहस्र अपराध करने पर भी—वह उन सब पापो में कभी लिप्त नहीं होता ॥ ७४ ॥

भगवद्गीता का माहात्म्य । स्कन्दपुराण के अवन्ती खंड में व्यास-वाक्य में वर्णित है कि,-जो गीता साक्षात कमलनाभ हरि के मुखकमल से निकली है, उस को भली भांति अध्ययन करे, अन्यान्य अनेक शास्त्रों की क्या आवश्यकता है ? गीता सर्वशास्त्र-मयी, सर्वदेवमयी और सर्वधर्ममयी है, अतएव उसका अभ्यास करना चाहिये। जो पुरुष शालग्रामशिला के सन्मुख गीताध्याय अध्ययन करते हैं, सहस्र-

सर्व्वधर्ममयी यस्मात्तस्मादेतां समभ्यसेत् ॥
शालग्रामशिलाग्रे तु गीताध्यायं पठेत्तु यः।
मन्वन्तरसहस्राणि वसते ब्रह्मणः पुरे ॥
हत्वा हत्वा जगत् सर्व्वं मुषित्वा सचराचरं।
पापैर्न लिप्यते चैव गीताध्यायी कथञ्चन ॥
तेनेष्टं क्रतुभिः सर्व्वैर्दत्तं तेन गवायुतम् ॥ ७५ ॥
गीतामभ्यस्यता नित्यं तेनाप्तं पदमव्ययम् ॥ ७६ ॥
गीताध्यायं पठेद्यस्तु श्लोकं श्लोकार्द्धमेव वा।
भवपापविनिर्मुक्तो याति विष्णोः परं पदम् ॥ ७७ ॥
यो नित्यं विश्वरूपाख्यमध्यायं पठति द्विजः।
विभूतिं देवदेवस्य तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥ ७८ ॥
वेदैरधीतैर्यत् पुण्यं सेतिहासैः पुरातनैः।
श्लोकेनैकेन तत् पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृप्तिं करोति सः।
विश्वरूपं सदाध्यायं विभूतिश्च पठेत्तु यः ॥ ७९ ॥
अहन्यहनि यो मर्त्त्यो गीताध्यायं पठेत्तु वै।
द्वात्रिंशदपराधांस्तु क्षमते तस्य केशवः ॥ ८० ॥
लिखित्वा वैष्णवानाञ्च गीताशास्त्रं प्रयच्छति।
दिने दिने च यजते हरिश्चात्र न संशयः ॥

भाषा टीका।

मन्वन्तर तक वे ब्रह्मपुर में निवास करते हैं। चाहें कोई वारम्वार सचराचर विश्व को ध्वंस वा चोरी करे गीता अध्ययन करने से वह पुरुष भी पाप में लिप्त नहीं होता। वह समस्त यज्ञ और दश हजार गोदान करने का फल पाता है ॥ ७५ ॥

जो पुरुष नित्य गीता का अभ्यास करते हैं, वे अक्षय पद के भागी होते हैं ॥ ७६ ॥

गीताध्याय का एक अथवा आधा श्लोक अध्ययन करने पर, वह पुरुष पातकरूपी संसार से उत्तीर्ण होकर हरिधाम में जाता है ॥ ७७ ॥

जो ब्राह्मण भगवद्गीता का श्रीहरि का विश्वरूप नामक एकादश अध्याय और विभूतियोगाख्य दशम अध्याय नित्य पढ़ते हैं, मैं उन के पुण्य का विषय कहता हूँ ॥ ७८ ॥

सम्पूर्ण वेद, इतिहास और पुराण अध्ययन करने से जो पुण्य होता है, एकमात्र श्लोक से वही पुण्य होता है, इस में सन्देह नहीं। जो पुरुष नित्य विश्वरूपनामक अध्याय और विभूतियोगाख्य अध्याय अध्ययन करते हैं, वे आब्रह्म—स्तम्वपर्य्यन्त जगत् को तृप्त करते हैं ॥ ७९ ॥

जो पुरुष नित्य गीताध्याय अध्ययन करते हैं, हरि उन के बत्तिस प्रकार के अपराध, क्षमा करते हैं ॥ ८० ॥

जो पुरुष गीताशास्त्र लिखकर वैष्णव के हाथ में समर्पण करते हैं, वे दिन दिन हरि की पूजा का

चतुर्णामेव वेदानां सारमुद्धृत्य विष्णुना।
त्रैलोक्यस्योपकाराय गीताशास्त्रं प्रकाशितम् ॥ ८१ ॥
भारतामृतसर्व्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्ज्जन्म न विद्यते ॥
धर्म्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चापीच्छता सदा।
श्रोतव्या पठनीया च गीता कृष्णमुखोद्गता ॥
यो नरः पठते नित्यं गीताशास्त्रं दिने दिने।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो याति विष्णोः परं पदम् ॥ ८२ ॥

अथ पुराणपाठादि-माहात्म्यम्।

पाद्मे,—देवदूतविकुण्डलसम्वादे—

विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये।
पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च ॥
व्याकुर्व्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्म्मप्रतिवोधकाः।
वेदान्तेषु निषण्णा ये तैरियं जगती धृता ॥
तत्तदभ्यासमाहात्म्यैः सर्व्वे ते हतकिल्विषाः।
गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते ॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-सम्वादे—

अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व्वशास्त्रार्थवेद्यपि।
पुंसोऽश्रुतपुराणस्य न सम्यग्गति-दर्शनम् ॥

भाषा टीका।

फल पाते हैं, इस में सन्देह नहीं। विष्णु ने चारो वेदों का सार अंश निकाल कर त्रिभुवन के उपकारार्थ गीता शास्त्र प्रकट किया है ॥ ८१ ॥

भारतसुधा का सार हरि के मुख से निकला हुआ गीतारूपी गंगाजल पीने पर पुनर्जन्म दूर होता है, नित्य कृष्ण के मुख से निकली गीता का श्रवण अध्ययन करना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छा करने वाले का कर्त्तव्य है। जो पुरुष अनुपम गीता शास्त्र अध्ययन करता है, वह सब पापों से छूट कर हरि के परमधाम में जाता है ॥ ८२ ॥

पुराण अध्ययनादिका माहात्म्य।—पद्मपुराण के देवदूत विकुण्डल संवाद में लिखा है कि,—जो पुरुष शास्त्र का विचार करने वाले हैं—जो वेदाध्ययन में नियुक्त रहते हैं, जो पुरुष पुराण संहिता पढ़ते और सुनते हैं, जो पुरुष स्मृतिशास्त्र की व्याख्या करते हैं, जो पुरुष धर्म विषय का उपदेश देते हैं और जो पुरुष वेदान्त में अत्यन्त अनुरागी हैं, वही इस जगत् को धारण किये रहते हैं, वे जो यह समस्त अभ्यास करते हैं, उसी के माहात्म्य से पापध्वंश होने के कारण वे ब्रह्मधाम में जाते हैं, वहां बुद्धि-भ्रम की संभावना नहीं है। पद्म पुराण के शिव पार्वती संवाद में लिखा है कि,—संपूर्ण वेदों में पारगामी हुआ है और समस्त शास्त्रों का मर्म हृदयङ्गम किया है—ऐसा होने पर भी जिस के कर्ण विवर में पुराण प्रविष्ट नहीं हुआ, उसको भली भांति तत्त्वज्ञान का उदय नहीं

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थञ्च भामिनि !
पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्य्यग्-योनिमवाप्नुयात् ॥ ८३ ॥

बृहन्नारदीये च—

पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः ।
तैर्व्वर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति वै ॥ ८४ ॥
पुराणेषु द्विजश्रेष्ठाः ! सर्व्वधर्म्म प्रवक्तृषु ।
प्रवदन्त्यर्थवादत्वं ये ते नरकभाजनाः ॥ ८५ ॥
अनायासेन यः पुण्यानीच्छतीह द्विजोत्तमाः !
श्राव्यानि भक्त्या तेनैव पुराणानि न संशयः ॥
पूरार्जितानि पापानि नाशमायान्ति तस्य वै ।
पुराणश्रवणे बुद्धिस्तस्यैव भवति ध्रुवम् ॥ ८६ ॥

किञ्च ।— पुराणेवर्त्तमानेऽपि पापपाशेन यन्त्रितः ।
अनादृत्यान्यगाथासु सक्तबुद्धिः प्रवर्त्तते ॥ ८७ ॥

अथ वस्त्रार्पणम् ।

स्नान-मुद्रां प्रदर्श्याथ शुद्धसूक्ष्माङ्गवाससा ।
शनैः संमार्ज्य गात्राणि दिव्यवस्त्रे समर्पयेत् ॥ ८८ ॥

मध्यदेशीयनेपथ्याद्यनुसारेण भक्तितः ।
केऽप्यत्र कंचुकोष्णीषाद्यम्बराण्यर्पयन्ति च ॥

भाषा टीका ।

हुआ, यह समझना चाहिये। हे पार्वती ! अनुमान होता है, पुराणार्थ वेदार्थ से भी प्रधान हैं, जो पुरुष पुराण को ग्रहण नहीं करता उस की पशु योनि में देह धारण करना पड़ता है ॥ ८३ ॥

बृहन्नारदीय पुराण में लिखा है कि,—जो मनुष्य धर्म पुराणों में अर्थवादत्व (अर्थात् पुराण कुछ भी नहीं) प्रकाश करते हैं, उन का आजन्म संचित पुण्य विफल हो जाता है ॥८४॥

हे विप्र सत्तम गण ! पुराण सब धर्मों का उपदेश करने वाले हैं, जो पुराण को कल्पित फल श्रुति मात्र कह कर वर्णन करते हैं वे नरक गामी होते हैं ॥ ८५ ॥

हे द्विजोत्तम गण ! जो पुरुष इस लोक में सहज से ही पुण्य इकट्ठा करने की वासना करते हैं, वे भक्तिमान् होकर पुराणों को सुनें। इस प्रकार करने से उन के पूर्व जन्म में सञ्चय किये पाप ध्वंश होते हैं, और पुराण सुनने में उन की मति जन्माती है, इस में सन्देह नहीं ॥ ८६ ॥

और भी लिखा है कि,— जिन पुरुषों की बुद्धि पाप रूपी पाश से बँधी हुई है, वे पुराणों के विद्यमान् होते अन्य कथा में अनुरक्त होकर उसी में निविष्ट होते हैं ॥ ८७ ॥

अथ वस्त्रार्पण ।— स्नानमुद्रा प्रदर्शनपूर्वक विशुद्ध सूक्ष्म अंगवस्त्र (अंगोछा) से धीरे धीरे देह पोंछ कर अति उत्तम परिधेय और उत्तरीय निवेदन करे ॥ ८८ ॥

मध्यप्रदेशीय केशविन्यासादि की प्रणाली से कोई कोई पुरुष इसी समय में कञ्चुक (चोगा) और

तथा च मात्स्ये—

तत्तद्देशीयभूषाढ्यां तत्तन्मूर्त्तिञ्च कारयेत् ॥ ८९ ॥

एकादशस्कन्धे श्रीभगवदुक्तौ—

अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥ ९० ॥

भविष्ये च।—वासोभिः पूजयेद्विष्णुं यान्येवात्म-प्रियाणि तु।
तथान्यैश्च शुभैर्दिव्यैरर्च्चयेच्च दुकूलकैः ॥
वासांसि च विचित्राणि सारवन्ति शुचीनि च।
धूपितानि हरेर्दद्यात् विकेशानि नवानि च ॥ ९१ ॥

भूषयेद्बहुभिर्वस्त्रैर्विचित्रैः कंचुकादिभिः।
भोगानन्तरमेवेति वहूनां सम्मतं सताम् ॥ ९२ ॥

अथ श्रीमदङ्ग-मार्जनमाहात्म्यम्।

द्वारका-माहात्म्ये—

कृष्णं स्नानार्द्रगात्रन्तु वस्त्रेण परिमार्जति।
तस्य लक्षार्जितस्यापि भवेत् पापस्य मार्जनम् ॥

अथ वस्त्रार्पण-माहात्म्यम्।

नारसिंहे।—वस्त्राभ्यामच्युतं भक्त्या परिधाप्य विचित्रितम्।
सोम-लोके वसित्वा तु विष्णु-लोके महीयते ॥

भाषा टीका।

उष्णीष (पगड़ी आदि) प्रदान करते हैं। मत्स्यपुराण में लिखा है कि,— विशेष विशेष भूषणों के द्वारा विशेष विशेष मूर्त्तियों को अलंकृत करे ॥ ८९ ॥
एकादश स्कन्ध में लिखा है कि,— मेरा भक्त प्रेमसहित मुझ को यथायोग्य गहनो से विभूषित करे ॥ ९० ॥

भविष्य पुराण में भी लिखा है कि,— अपने प्रिय आवरणीय वस्त्र और अपरापरं विशुद्ध दिव्य वस्त्र तथा पट्टवस्त्र (रेशमी) से हरिकी पूजा करनी चाहिये। अनेक प्रकार के वर्णयुक्त, वहुदिनस्थायी, केशहीन, नूतन, दिव्यवस्त्र धूपित कर प्रभु को निवेदन करे ॥९१॥ वहुत से साधूओं का मत इस प्रकार है कि,— भोग के अंत में कंचुकादि विचित्र अनेक वस्त्रों से अलंकृत-करे ॥ ९२ ॥

श्रीमूर्त्ति के अंग-मार्जन करने का माहात्म्य। द्वारका माहात्म्य में लिखा है कि,— जो पुरुष हरि के स्नान से भीजे देह को वस्त्र से पोंछते हैं,—उनका लाख जन्मों में इकट्ठा किया हुआ पाप दूर होता है। अथ वस्त्रार्पण-माहात्म्य। नृसिंह पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष परिधेय (पहरने का वस्त्र) और उत्तरीय (दुपट्टा) दो वस्त्रों के द्वारा हरि को विचित्ररूप से अलंकृत करते हैं,— वे चन्द्रपुर में कुछ काल वास कर फिर हरि के धाम में आनन्द भोगते हैं। स्कन्दपुराण के शिव-पार्वती—सम्वाद में लिखा है कि,— अत्यन्त विशुद्ध, वहुदिनस्थायी, मृदु,(कोमल)सुदृश्य,(देखने में सुन्दर) नवीन वस्त्र प्रभु को अर्पण करने पर वस्त्र—तन्तु के परिमाणानुसार उतने हजार वर्ष हरि-धाम में आनन्द—पूर्वक वास कर सकता है। विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,—मृग—

स्कान्दे श्रीशिवोमा-सम्वादे—

वस्त्राणि सुपवित्राणि सारवन्ति मृदूनि च।
रूपवन्ति हरेर्दत्त्वा सदशानि नवानि च॥
यावद्वस्त्रस्य तन्तूनां परिमाणं भवत्यथ।
तावद्वर्ष-सहस्राणि विष्णु-लोके महीयते॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

राङ्कवस्य प्रदानेन सर्वान् कामानवाप्नुयात्।
कार्पासिकं वस्त्र-युगं यः प्रदद्याज्जनार्द्दने॥ ९३॥
यावन्ति तस्य तन्तूनि हस्तमात्रमितानि तु।
तावद्वर्ष-सहस्राणि विष्णु-लोके महीयते॥
महार्घता यथा तस्य साधुदेशोद्भवो यथा।
सूक्ष्मता च यथा विप्रास्तथा प्रोक्तं फलं महत्॥ ९४॥

किञ्च तत्रैवान्यत्र—

शुक्लवस्त्र-प्रदानेन श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम्।
महारजनरक्तेन सौभाग्यं महदश्नुते॥
तथा कुङ्कुमरक्तेन स्त्रीणां वल्लभतां व्रजेत्।
नीलीरक्तं विनारक्तं शेषरङ्गैर्द्विजोत्तमाः!
दत्त्वा भवति धर्मात्मा सर्वव्याधिविवर्जितः॥ ९५॥
कौशेयानि च वस्त्राणि सुमृदूनि लघूनि च।
यः प्रयच्छति देवाय सोऽश्वमेध-फलं लभेत॥

भाषा टीका।

रोम द्वारा वस्त्र निर्माण करके अर्पण करने से सपूर्ण कामना सिद्ध होती है। जो हरि को कपास का वस्त्र निवेदन करते हैं,– उस वस्त्र में जितने तन्तु (धागे) विद्यमान होते हैं,– उतने हजार वर्ष वे हरिधाम में सन्मान के सहित वास करते हैं। हे विप्रगण! वस्त्र का मूल्य जितना महार्घ होगा, जितने पवित्र देश में वस्त्र उत्पन्न होगा और जितना सूक्ष्म होगा, फल की भी उतनी ही अधिकता होगी॥ ९३॥ ९४॥

विष्णुधर्म के दूसरे स्थान में भी लिखा है कि,– सफेद वस्त्र अर्पण करने से अति उत्तमता प्राप्त होती है। कसूम के फूलों से रङ्गकर वस्त्र प्रदान करने से सौभाग्यशाली हो जाता है। और कुङ्कुम से रँगा वस्त्र हरि को प्रदान करने से रमणीप्रिय हो सकता है। हे विप्रसत्तमगण! नील और लोहित के अतिरिक्त अन्य वर्ण से रंगकर वस्त्र निवेदन करने पर धर्मात्मा पुरुष सम्पूर्ण व्याधि से छुट जाता है॥ ९५॥

जो पुरुष मृदु (कोमल)लघु कौशेय वस्त्र हरि को निवेदन करते हैं,– उनको अश्वमेध के अनुष्ठान करने

राङ्कवा मृगलोम्याश्च कदल्याश्च तथा शुभाः ।
यो दद्याद्देवदेवाय सोऽश्वमेध-फलं लभेत् ॥
नानाभक्तिविचित्राणि चीरजानि नवानि च ।
दत्त्वा वासांसि शुभ्राणि राजसूय-फलं लभेत् ॥

द्वारका-माहात्म्ये च—

नानादेशसमुद्भूतैः सुवस्त्रैश्च सुकोमलैः ।
धूपयित्वा सुभक्त्या च प्रधापयति माधवम् ॥
मन्वन्तराणि वसते तन्तुसंख्यं हरेर्गृहे ॥ ९६ ॥

अथ वस्त्रार्पणे निषिद्धम् ।

विष्णुधर्मोत्तरे—

नीलीरक्तं तथा जीर्णं वस्त्रमन्यधृतं तथा ।
देवदेवाय यो दद्यात् स तु पापैर्हि युज्यते ॥

अत्रापवादः ।

तत्रैव ।— आविके पट्टवस्त्रे च नीलीरागो न दूष्यति ॥ ९७ ॥

अथ यज्ञोपवीतम् ।

वस्त्रस्यार्पणमुद्राश्च प्रदर्श्य परिधाप्य तत् ।
उपवीतं समर्प्याथ तन्मुद्राश्च प्रदर्शयेत् ॥ ९८ ॥

अथोपवीतार्पण-माहात्म्यम् ।

त्रिवृत् शुक्लश्च पीतश्च पट्टसूत्रादिनिर्म्मितम् ।

भाषा टीका

का फल मिलता है । जो पुरुष राङ्कव, मृगरोम से बना वस्त्र और कदली (मृगविशेष) रोम के सुन्दर सफेद वस्त्र देवदेव जनार्दन को अर्पण करते हैं,—उनके अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान करने का फल मिल जाता है। विभाग से विचित्र सुई इत्यादि शिल्प-निर्मित और वल्कलोत्पन्न सफेद नूतन वस्त्र प्रदान करने पर भी राजसूय यज्ञ का फल होता है । द्वारका—माहात्म्य में लिखा है कि,—जो पुरुष नाना देशोत्पन्न कोमल वस्त्र धूप से धूपित कर केशव को पहिरा देते हैं,—उन वस्त्रों में जितने तन्तु (धागे) होते हैं, वे उतने ही मन्वन्रों तक विष्णुलोक में वास करते हैं ॥९६॥

वस्त्रार्पण कार्य में निषिद्ध वस्त्र—विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,—जो पुरुष नील वर्ण से रंगा जीर्ण (फटा पुराना) और दूसरे का पहिरा हुआ वस्त्र देवदेव हरि को अर्पण करते हैं,—वे सब प्रकार के पापों में लिप्त होते हैं । इस विषय में विशेष व्यवस्था ।—विष्णुधर्मोत्तर में ही लिखा है कि,—मेषरोमज अर्थात् भेड़े के रोम से बने वस्त्र अथवा पट्ट (रेशमी) वस्त्र नील वर्ण का होने से दूषित नहीं है ॥ ९७ ॥

अथ यज्ञोपवीत ।—वस्त्रार्पण मुद्रा दिखाय,— वस्त्र पहिराय,— फिर यज्ञोपवीत निवेदन कर तिसकी मुद्रा दिखानी चाहिये ॥ ९८ ॥

उपवीत (यज्ञोपवित) दान का महात्म्य ।—नवगुणित

यज्ञोपवीतं गोविन्दे दत्त्वा वेदान्तगो भवेत् ॥

नन्दिपुराणे ।—यज्ञोपवीतदानेन सुरेभ्यो ब्राह्मणाय वा ।
भवेद्विद्वांश्चतुर्व्वेदी शुद्धधीर्नात्र संशयः ॥ ९९ ॥

अथ पाद्यतिलकाचमनानि ।

अथ पाद्यं निवेद्यादावूर्द्ध्वपुण्ड्रं मनोहरम् ।
निर्म्माय भाले कृष्णस्य दद्यादाचमनं ततः ॥ १०० ॥

अथ भूषणम्

ततो देवाय दिव्यानि भूषणानि निवेद्य च ।
परिधाप्य यथायुक्तं तन्मुद्राश्च प्रदर्शयेत् ॥ १०१ ॥

अथ भूषणार्पण-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे, शिवोमा-सम्बादे—
मणिमौक्तिकसंयुक्तं दत्त्वाभरणमुत्तमम् ।
स्व-शक्त्या भूषणं दत्त्वा अग्निष्टोम-फलं लभेत् ॥ १०२ ॥

किञ्च ।— गुञ्जामात्रं सुवर्णस्य यो दद्याद्विष्णु-मूर्द्धनि ।
इन्द्रस्य भवने तिष्ठेद्यावदाहूतसंप्लवम् ॥
तस्मादाभरणं देवि ! दातव्यं विष्णवे सदा ।
नारायणो भवेत् प्रीतो भक्त्या परमया शुभे ! ॥ १०३ ॥

भाषा टीका ।

शुभ्र अथवा पीतवर्ण पट्टसूत्रादि (रेशम ऊन आदि) द्वारा निर्मित यज्ञोपवीत हरि को प्रदान करने से वेदान्त शास्त्र का पारगामी हो सकता है । नन्दि-पुराण में लिखा है कि,— देवता वा ब्राह्मण को यज्ञसूत्र समर्पण करने से बुद्धिमान् पुरुष चारों वेद का जानने वाला और पवित्रमति हो-सकता है,-इस में संदेह नहीं ॥ ९९ ॥

अनन्तर पाद्य ।तिलक और आचमनीय।—तदनन्तर पाद्य प्रदान करके . मनोहर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र श्रीहरि के कपोल में अंकित करके फिर आचमन प्रदान करे ॥ १०० ॥

अथ भूषण ।—फिर हरि को दिव्य गहने प्रदान-पूर्वक यथायोग्य स्थानों में पहिरा के तिसकी मुद्रा दिखावे ॥ १०१ ॥

अथ भूषण दान का माहात्म्य ।—स्कन्दपुराण के शिव-पार्वती-सम्बाद में लिखा है कि,—मणिमुक्ता-युक्त अति उत्तम गहने अथवा अपनी सामर्थ के अनुसार अन्य प्रकार के अलंकार प्रदान करने से अग्निष्टोमनामक यज्ञानुष्ठान करने का फल मिलता है ॥ १०२ ॥

और भी लिखा है कि,— जो पुरुष एक रत्ती काञ्चन हरि के मस्तक-प्रदेश में अर्पण करते हैं- उनका महाप्रलय तक इन्द्र-पुर में बास होता है, अतएव हे देवि ! सदा हरि को भूषण दान करना चाहिये, भूषण दानरूप परमभक्ति से हरि संतुष्ट रहते हैं ॥ १०३ ॥

नन्दिपुराणे ।—अलङ्कारन्तु यो दद्याद्विप्रायाथ सुराय वा ।
स गच्छेद्वारुणं लोकं नानाभरणभूषितः ॥
जातः पृथिव्यां कालेन भवेद्वीप-पतिर्नृपः ।

विष्णुधर्मोत्तरे—
कर्णाभरण-दानेन भवेच्छ्रुतिधरो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति सौभाग्यश्चापि विन्दति ॥
कर्णपूर-प्रदानेन श्रुतिं सर्वत्र विन्दति ॥ १०४ ॥
मूर्द्धाभरण-दानेन मूर्द्धन्यो भूतले भवेत् ।
चतुःसमुद्रवलयां प्रशास्ति च वसुन्धराम् ॥

तत्रैव तृतीयकाण्डे—
विभूषण-प्रदानेन मूर्द्धन्यो भूतले भवेत् ।
रम्याणि रत्नचित्राणि सौवर्णानि द्विजोत्तमाः !
दत्त्वाभरण-जातानि राजसूय-फलं लभेत् ।
पादाङ्गुलीय-दानेन गुह्यकाधिपतिर्भवेत् ॥
पादाभरण-दानेन स्थानं सर्व्वत्र विन्दति ॥ १०५ ॥
श्रोणी-सूत्र-प्रदानेन महीं सागरमेखलाम् ।
प्रशास्ति निहतामित्रो नात्र कार्य्या विचारणा ॥

भाषा टीका ।

नन्दिपुराण में लिखा है कि,— जो पुरुष ब्राह्मण वा देवता को भूषण प्रदान करते हैं,—वे अनेक गहनों से भूषित होकर वरुण-धाम में प्रस्थान करते हैं और समय पर पृथ्वी में आन कर चक्रवर्त्ती राजा होते हैं। विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,—कर्ण-भूषण अर्पण करने से श्रुतिधरत्व (श्रवण-मात्र से धारण-शक्ति) लाभ, अश्वमेध का फल और सौभाग्य की प्राप्ति होती है, कर्णपूर (करनफूल) दान करने पर दूर से सुनने की शक्ति प्राप्त होती है ॥ १०४ ॥

मस्तक-भूषण प्रदान करने से पृथ्वी में सर्व-प्रधान और चार समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी का शासन-कर्त्ता होता है। विष्णुधर्मोत्तर के तीसरे काण्ड में लिखा है कि,— उत्कृष्ट (अति उत्तम) भूषण अर्पण करने से सर्व प्रधानता प्राप्त होता है। हे विप्रसत्तमगण ! मनोहर रत्न-खचित काञ्चन के समस्त भूषण प्रदान करने से राजसूय यज्ञ का फल मिल जाता है। पादांगुलीय (पैरों के छल्ले) अर्पण करने से गुह्यकाधिपति होता है, और नूपुर अर्पण करने से सर्वत्र स्थान प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

काञ्ची (कौंदनी) प्रदान करने से निष्कण्टक ससागरा पृथ्वी का शासन-कर्त्ता होता है,— इस

सौभाग्यं महदाप्नोति किङ्किणीं प्रददद्धरेः।
हस्ताङ्गुलीय-दानेन परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥
तथैवाङ्गद-दानेन राजा भवति भूतले।
केयूर-दानाद्भवति शत्रुपक्ष-क्षयङ्करः ॥
ग्रैवेयकाणि दत्त्वा च सर्व्वशास्त्रार्थविद्भवेत्।
नार्य्यश्च वशगास्तस्य भवन्ति द्विजपुङ्गवाः !॥ १०६ ॥
दत्त्वा प्रतिसवान् मुख्यान्न भूतैरभिभूयते ॥ १०७ ॥

किञ्च, तत्रैव।—कृत्रिमञ्च प्रदातव्यं तथैवाभरणं द्विजाः !
प्रतिरूपकृतं दत्त्वा क्षिप्रं पुष्ट्या प्रयुज्यते ॥ १०८ ॥

पाद्मे।— शंख-चक्र-गदादीनि पादाद्यवयवेषु च।
सौवर्णाभरणं कृत्वा विष्णु-लोके महीयते ॥ १०९ ॥

नारसिंहे।—सुवर्णाभरणैर्दिव्यैर्हार-केयूर-कुण्डलैः।
मुकुटैः कटकाद्यैश्च यो विष्णुं पूजयेन्नरः॥
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तः सर्व्वभूषणभूषितः।
इन्द्र-लोके वसेद्धीमान् यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ॥ ११० ॥

गरुड़पुराणे।—यस्यार्च्चा तिष्ठते विष्णोर्हेमभूषणभूषिता।
रत्नैर्मुक्ता-विशेषेण अहन्यहनि वासव !

भाषा टीका।

में सन्देह नहीं। जनार्द्दन को किङ्किणी (तागड़ी) अर्पण करने से महासौभाग्यवान् होता है। कराङ्गुलीय (अंगूठी) अर्पण करने से उत्तम सौभाग्य की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अंगद अर्पण करने से पृथ्वी का अधिपति होता है। केयूर अर्पण करने से शत्रु-कुल के नाश करने में समर्थ हो जाता है। हे द्विजसत्तमगण ! ग्रीवालंकार प्रदान करने से सब शास्त्रों में ज्ञान प्राप्त होता है और स्त्रियें उस के वशीभूत होती हैं॥ १०६ ॥

कर-सूत्र (आभूषणविशेष) अर्पण करने से भूतगण उस पर आक्रमण नहीं कर सक्ते॥ १०७ ॥

और भी लिखा है कि,— हे द्विजसत्तमगण ! कृत्रिम भूषण (गिलटी का भूषण) भी प्रदान कर सकता है। प्रतिरूप-कृत (ताम्रादि-निर्मित) अलंकार देने से तत्काल पुष्टि प्राप्त होती है॥ १०८ ॥

पद्मपुराण में लिखा है कि,— चरणादि अङ्गों में शङ्ख, चक्र, गदा—इत्यादि स्वर्ण-भूषण प्रदान करने से पुरुष हरि-धाम में आनन्द-सहित वास करता है॥ १०९ ॥

नृसिंहपुराण में लिखा है कि,— जो बुद्धिमान् पुरुष सुवर्ण का उत्तम हार, केयूर, कुण्डल, मुकुट और वलय (कड़ुला) इत्यादि गहनों से हरि की पूजा करते हैं,—वे सब पापों से छुट जाते हैं और सब गहनों से अलंकृत हो कर चौदह इन्द्र-पात-तक इन्द्र-पुर में वास करते हैं॥ ११० ॥

गरुड़पुराण में लिखा है कि,—हे सुरपते ! जो व्यक्ति रत्न और मुक्ता-विशेष द्वारा बने सुवर्ण

कल्प-कोटिसहस्राणि तस्य वै भुवने हरेः।
वासो भवति देवेन्द्र ! कथितं ब्रह्मणा मम ॥
यः पश्यति नरः कृष्णं हेम-भूषणभूषितम्।
सकृद्भक्त्या कलौ शक्र ! पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥ इति ॥ १११ ॥
बहुलं भूषणं भोगात् पश्चादेवानुलेपनम्।
पुष्पं चेच्छन्ति सन्तोऽनुलेपनार्च्चानु भूषणम् ॥
संप्रार्थ्याथ प्रभुं प्राग्वन्निवेद्य शुचिपादुके।
वाद्यगीतातपत्राद्यैः पूजा-स्थानं पुनर्नयेत् ॥ ११२ ॥
प्राग्वद्दत्त्वासनादीनि गन्धं तन्मुद्रयार्पयेत्।
शंखे निधाय तुलसी-दलेनैवाथ चन्दनम् ॥ ११३ ॥

अथ गन्धः।

आगमे।—चन्दनागुरुकर्पूर-पङ्कं गन्धमिहोच्यते ॥ ११४ ॥
गारुड़े।—कस्तूरिकाया द्वौ भागौ चत्वारश्चन्दनस्य तु।
कुंकुमस्य त्रयश्चैकः शशिनः स्याच्चतुःसमम् ॥
कर्पूरं चन्दनं दर्पः कुंकुमञ्च चतुःसमम्।
सर्व्वं गन्धमिति प्रोक्तं समस्तसुर-वल्लभम् ॥ ११५ ॥
वाराहे।— कर्पूरं कुङ्कुमञ्चैव वरं तगरमेव च।
रसञ्च चन्दनञ्चैव अगुरुं गुग्गुलं तथा ॥

भाषा टीका

गहनों से नित्य हरि की पूजा करते हैं, ब्रह्मा जी ने मुझ से कहा है कि,— सहस्रकल्पकोटि काल वे पुरुष विष्णु-लोक में वास करते हैं। जो पुरुष कलियुग में सुवर्ण के गहनों से अलंकृत हरि का भक्ति-सहित एकवार-मात्र दर्शन करता है, उस के द्वारा उस के सात कुल की रक्षा होती है ॥ १११ ॥

साधु पुरुष भोग के पीछे बहुत विभूषण और बहुत सा अनुलेपन तथा कुसुम निवेदन की विधि देते हैं और अनुलेपन के पीछे विभूषित करने का भी मत प्रकाश करते हैं, फिर पूर्ववत् प्रभु की आज्ञा ले,—विशुद्ध दो पादुका निवेदन कर,— वाद्य, गीत और छत्रादि-सहित पुनर्वार पूजा-स्थान में ले जाय ॥ ११२ ॥

फिर पूर्ववत् आसनादि निवेदन-पूर्वक गन्ध-सहित तुलसी दान कर गन्ध-मुद्रा द्वारा शंखस्थ चन्दन निवेदन करना चाहिये ॥ ११३ ॥

अथ गन्ध। तन्त्र में लिखा है कि,— चन्दन, अगर और कपूर-पङ्क,—इस स्थान में इन्हीं सब का नाम गन्ध है ॥ ११४ ॥

गरुड़ पुराण में लिखा है कि,— दो भाग कस्तूरी, चार भाग चन्दन, तीन भाग कुङ्कुम, एक भाग कपूर,— इस प्रकार भाग-क्रम से इन चार द्रव्यों को एकत्र करने पर ही, उसको चतुःसम कहा जाता है; वह समस्त गन्ध सब देवताओं का प्रिय कहा जाता है ॥ ११५ ॥

वराहपुराण में लिखा है कि,— कपूर, कुङ्कुम, उत्तम तगर, वस्तुओं का सुखकर सुन्दर रस, चन्दन, अगर और

एतैर्विलेपनं दद्यात् शुभं चारु विचक्षणः ॥

विष्णुधर्मोत्तराग्निपुराणयोः—

सुगन्धैश्च सुरामांसी-कर्पूरागुरु-चन्दनैः ।
तथान्यैश्च शुभैर्द्रव्यैरर्च्चयेज्जगतीपतिम् ॥

वशिष्ठसंहितायाम् —

कर्पूरागुरुमिश्रेण चन्दनेनानुलेपयेत् ।
मृगदर्पं विशेषेण अभीष्टं चक्रपाणिनः ॥

स्कान्दे श्रीब्रह्म-नारद-सम्बादे—

गन्धेभ्यश्चन्दनं पुण्यं चन्दनादगुरुर्वरः ।
कृष्णागुरुस्ततः श्रेष्ठं कुङ्कुमन्तु ततोऽधिकम् ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

न दातव्यं द्विजश्रेष्ठा ! अतोऽन्यदनुलेपनम् ।
अनुलेपन-मुख्यन्तु चन्दनं परिकीर्त्तितम् ॥

नारदीये ।—यथा विष्णोः सदाभीष्टं नैवेद्यं शालिसम्भवम् ।
शुकेनोक्तं पुराणे च तथा तुलसि-चन्दनम् ॥

अगस्त्यसंहितायाञ्च—

संघृष्य तुलसी-काष्ठं यो दद्याद्राम-मूर्द्धनि ।
कर्पूरागुरु-कस्तूरी-कुङ्कुमं न च तत् समम् ॥

अथानुलेपन-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे, ब्रह्म-नारद-सम्वादे शंख-माहात्म्ये—

विलेपयन्ति देवेशं शंखे कृत्वा तु चन्दनम् ।

भाषा टीका ।

गुग्गुल, बुद्धिमान् पुरुष,- इन सब वस्तुओं का मनोरम शुभ विलेपन अर्पण करे । विष्णुधर्मोत्तर और अग्निपुराण में लिखा है कि,-मुरामांसी (मूर्वा) कपूर, अगर, चन्दन एवं अन्यान्य श्रेष्ठ सुगन्धि द्रव्यों से विश्वपति की पूजा करे। वशिष्ठसंहिता में लिखा है कि,—कपूर और अगर-युक्त चन्दन से अनुलेपन प्रदान करना चाहिये, मृगमद चक्रपाणि हरि को अतीव प्रीतिदायक है। स्कन्द पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,- समस्त गन्ध से चन्दन विशुद्ध है; चन्दन से अगर, अगर से कालीअगर और कालीअगर से कुंकुम अधिक श्रेष्ठ है। विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,— हे द्विज-सत्तमगण ! इन के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का अनुलेपन प्रदान न करे। चन्दन,- अनुलेपन के द्रव्यों में श्रेष्ठ कहा गया है। नारदपुराण में लिखा है, शुकदेव जी ने पुराणों में कहा है कि,— जिस प्रकार सट्ठी के चांवल का नैवेद्य हरि को प्रसन्न करने वाला है—तुलसी का चन्दन भी उसी प्रकार है। अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,-तुलसी-काष्ठ घिस कर यदि श्रीराम के मस्तक में प्रदान किया जाय—तो कपूर, अगर, कस्तूरी और कुंकुम भी उस की समान नहीं होते ।

अनुलेपन-माहात्म्य। स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद

परमात्मा परां प्रीतिं करोति शतवार्षिकीम् ॥ ११६ ॥

गारुड़े ।—तुलसी-दललग्नेन चन्दनेन जनार्द्दनम् ।
विलेपयति यो नित्यं लभते वाञ्छितं फलम् ॥

नारसिंहे ।—कुङ्कुमागुरु-श्रीखण्ड-कर्द्दमैरच्युताकृतिम् ।
विलिप्य भक्त्या राजेन्द्र ! कल्पकोटि वसेद्दिवि ॥

विष्णुधर्म्मोत्तराग्निपुराणयोः—
चन्दनागुरु-कर्पूर-कुङ्कुमोशीर-पद्मकैः ।
अनुलिप्तो हरिर्भक्त्या वरान् भोगान् प्रयच्छति ॥ ११७ ॥
कालेयकं तुरुष्कञ्च रक्तचन्दनमुत्तमम् ॥ ११८ ॥
नृणां भवन्ति दत्तानि पुण्यानि पुरुषोत्तमे ॥ ११९ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
चन्दनेनानुलिप्यैनं चन्द्र-लोकमवाप्नुयात् ।
शारीरैर्मानसैर्दुःखैस्तथैव च विमुच्यते ॥
कुङ्कुमेनानुलिप्यैनं सूर्य्य-लोके महीयते ।
सौभाग्यमुत्तमं लोके तथा प्राप्नोति मानवः ॥
कर्पूरेणानुलिप्यैनं वारुणं लोकमाप्नुयात् ।
शारीरैर्मानसैर्दुःखैस्तथैव च विमुच्यते ॥

भाषा टीका ।

में शंख-माहात्म्य में लिखा है कि,—शंख में चन्दन-ग्रहणपूर्वक देव-देव जनार्द्दन के देह में लेपन करने पर परमात्मा सौ वर्ष तक परम सन्तोष अनुभव करते हैं ॥ ११६ ॥

गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—जो नित्य तुलसी-दल-लग्न चन्दन का लेपन करते हैं, उनका अभिलषित फल सिद्ध होता है । नृसिंह-पुराण में लिखा है कि,—हे राजसत्तम ! भक्तिसहित कुङ्कुम, अगर और चन्दन से श्रीहरि की श्रीमूर्त्ति विलेपन करने पर करोड़ कल्प तक सुर-पुर में वास कर सकता है । विष्णुधर्म्मोत्तर और अग्नि-पुराण में लिखा है कि,—चन्दन, अगर, कपूर, कुङ्कुम, खस की जड़ और पद्म-द्वारा भक्ति-भाव से श्रीहरि को अनुलेपन देने पर प्रभु अनेक प्रकार के अति उत्तम भोग प्रदान करते हैं ॥ ११७ ॥

पुरुषोत्तम हरि को काली अगर, शिह्लक और अति उत्तम रक्तचन्दन प्रदान करने से मनुष्यों का पुण्य संचार होता है ॥ ११८–११९ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,— इनके अङ्ग में चन्दन का अनुलेपन प्रदान करने से मनुष्य चन्द्र-पुर में जाता है एवं दैहिक और मानसिक कष्ट से रक्षा पाता है । इन के अङ्ग में कुङ्कुम मलने से सूर्य्य-धाम में आनन्द भोगता है और इस धाम में उत्तम सौभाग्य प्राप्त करता है । प्रभु के अङ्ग में कपूर मलने से वरुण-धाम प्राप्त होता है एवं दैहिक और मानसिक कष्ट से छुट जाता है । अति उत्तम मृग-मद प्रदान करने से कीर्त्तिमान् होता है और जाती-फल (जायफल) का चूर्ण प्रदान करने से क्रिया सफल होती है । मनोहर अगर,

दत्त्वा मृगमदं मुख्यं यशसा च विराजते ।
दत्त्वा जातीफल-क्षोदं क्रिया-साफल्यमश्नुते ॥
रम्येणागुरु-सारेण अनुलिप्य जनार्द्दनम् ।
सौभाग्यमतुलं लोके वलं प्राप्नोति चोत्तमम् ॥ १२० ॥
तथा वकुल-निर्य्यासैरग्निष्टोम-फलं लभेत् ।
वकुलागुरुमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना ॥
समालिप्य जगन्नाथं पुण्डरीक-फलं लभेत् ॥ १२१ ॥
एकीकृत्य तु सर्व्वाणि समालिप्य जनार्द्दनम् ।
अश्वमेधस्य मुख्यस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥
योऽनुलिम्पेत देवेशं कीर्त्तितैरनुलेपनैः ।
पार्थिवाद्यानि यावन्ति परमाणूनि तत्र वै ॥
तावदव्दानि लोकेषु कामचारी भवत्यसौ ।
केश-सौगन्ध्यजननं कृत्वा मृगमदं नरः ॥
सर्व्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥ १२२ ॥
यः प्रयच्छति गन्धानि गन्धयुक्तीकृतानि च ।
गन्धर्व्वत्वं ध्रुवं तस्य सौभाग्यञ्च तथोत्तमम् ॥ १२३ ॥

अथ श्रीतुलसी-काष्ठ-चन्दन-माहात्म्यम् ।

गारुड़े श्रीनारद-धुन्धुमारनृप-सम्वादे—
यो ददाति हरेर्नित्यं तुलसीकाष्ठ-चन्दनम् ।

भाषा टीका ।

चन्दन, हरि के देह में लेपन करने से संसार में असीम सौभाग्यवान् और महावली हो जाता है ॥ १२० ॥

हरि के अङ्ग में वकुल का निर्य्यास (अतर) लेपन करने से अग्निष्टोम-यज्ञ का फल मिलता है । जगत्पति हरि के अङ्ग में वकुल और अगर युक्त सुगन्धपूर्ण चन्दन का विलेपन करने पर पुण्डरीक यज्ञ का फल मिल जाता है ॥ १२१ ॥

सव द्रव्यों को इकट्ठा कर हरि के अङ्ग में मलने से मुख्य अश्वमेध-यज्ञ का फल मिलता है—इस में सन्देह नहीं । जो सव अनुलेपन की वस्तु कही गई, जो उन सवों से देव-देव का अङ्ग लेपन करते हैं, चन्दनादि सम्वधि और जलादि सम्वन्धि जितने परमाणु हैं; वे पुरुष उतने ही वर्ष स्वेच्छाचारी होकर चौदह-भुवन में विचरते हैं । मृग-मद (कस्तूरी) के द्वारा श्रीमूर्त्ति के केश-पाश की सुगन्धि वढ़ाने से सर्व्वकामद यज्ञ का फल मिलता है ॥ १२२ ॥

जो सुगन्धपूर्ण वस्तुओं से शोधन कर उल्लिखित गन्ध पदार्थ निवेदन करते हैं,—निःसन्देह उनको गन्धर्व्वत्व लाभ होता है और वे महासौभाग्यशाली होते हैं ॥ १२३ ॥

अथ तुलसी-काष्ठ-चन्दन का माहात्म्य ।—गरुड़ पुराण के नारद-धुन्धुमार-सम्वाद में लिखा है कि,—

युगानि वसते स्वर्गे ह्यनन्तानि नरोत्तमः ॥
महाविष्णौ कलौ भक्त्या दत्त्वा तुलसि-चन्दनम् ।
योऽर्च्चयेन्मालती-पुष्पैर्न भूयः स्तनपो भवेत् ॥ १२४ ॥

तुलसीकाष्ठ-सम्भूतं चन्दनं यच्छतो हरेः ।
निर्द्दहेत् पातकं सर्व्वं पूर्व्वजन्मशतैः कृतम् ॥
सर्व्वेषामपि देवानां तुलसीकाष्ठ-चन्दनम् ।
पितॄणाञ्च विशेषेण सदाभीष्टं हरेर्यथा ॥ १२५ ॥

मृत्यु-काले तु सम्प्राप्ते तुलसीतरु-चन्दनम् ।
भवते यस्य देहे तु हरिर्भूत्वा हरिं व्रजेत् ॥ १२६ ॥

तावन्मलयजं विष्णोर्भाति कृष्णागुरुर्नृप !
यावन्न दृश्यते पुण्यं तुलसीकाष्ठ-चन्दनम् ॥
तावत् कस्तूरिकामोदः कर्पूरस्य सुगन्धिता ।
यावन्न दीयते विष्णोस्तुलसीकाष्ठ-चन्दनम् ॥ १२७ ॥

कलौ यच्छन्ति ये विष्णौ तुलसीकाष्ठचन्दनम् ।
धुन्धुमार ! न वै मर्त्याः पुनरायान्ति ते भुवि ॥ १२८ ॥

यो हि भागवतो भूत्वा कलौ तुलसि-चन्दनम् ।
नार्पयति सदा विष्णोर्न स भागवतो नरः ॥ १२९ ॥

भाषा टीका ।

जो नरोत्तम नित्य जनार्द्दन को तुलसी-काष्ठ का चन्दन प्रदान करते हैं, उनका अनन्त-युग सुर-पुर में वास होता है। जो कलि-काल में महाविष्णु को तुलसी-काष्ठ का चन्दन अर्पण करके मालती-पुष्प से पूजा करते हैं,—उनको फिर संसार-बन्धन में बँधना नहीं पड़ता है॥१२४॥

श्रीहरि को तुलसी-काष्ठ का चन्दन प्रदान करने पर वह चन्दन अर्च्चक के पहिले सौ जन्म के सञ्चित पाप समस्त ही भस्म कर डालता है । तुलसी-काष्ठ का चन्दन श्रीहरि के समान सब देवता ओं का विशेषकर पितरों का सदा अभिलषित है ॥ १२५ ॥

देह-त्याग के समय जिस के शरीर में तुलसी-काष्ठ का चन्दन लिप्त रहता है,—वह पुरुष स्वयं हरि के सारूप्य को प्राप्त होकर हरि को लाभ करता है ॥ १२६ ॥

हे नृपते ! जब तक विशुद्ध तुलसी-काष्ठ का चन्दन प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तक चन्दन और काली अगर हरि का रुचिकर होता है । जब तक हरि को तुलसी-काष्ठ का चन्दन दिया न जाय, तब तक ही कस्तूरी का सौरभ और कपूर की सुगन्धि विराजमान रहती है ॥ १२७ ॥

हे धुन्धुमार ! कलि-युग में जो पुरुष हरि को तुलसी-काष्ठ का चन्दन प्रदान करते हैं,—उन को फिर धरा धाम में आना नहीं पड़ता है ॥ १२८ ॥

कलि-युग में जो पुरुष भगवद्भक्त होकर नित्य हरि को तुलसी-काष्ठ का चन्दन प्रदान नहीं करते, वे कभी भगवान् के भक्त नहीं हो सकते ॥ १२९ ॥

प्रह्लादसंहितायां—

न तेन सदृशो लोके वैष्णवो विद्यते भुवि।
यः प्रयच्छति कृष्णाय तुलसी-काष्ठ-चन्दनम् ॥
तुलसी-दारुजातेन चन्दनेन कलौ नरः।
विलिप्य भक्तितो विष्णुं रमते सन्निधौ हरेः ॥ १३० ॥

तुलसी-काष्ठजातेन चन्दनेन विलेपनम्।
यः कुर्य्याद्विष्णु-तोषाय कपिला-गोफलं लभेत् ॥ १३१ ॥

तुलसी-काष्ठसम्भूतं चन्दनं यस्तु सेवते।
मृत्यु-काले विशेषेण कृतपापोऽपि मुच्यते ॥ १३२ ॥

यो ददाति पितॄणान्तु तुलसी-काष्ठ-चन्दनम्।
तेषां स कुरुते तृप्तिं श्राद्धे वै शतवार्षिकीम् ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे च—

तुलसी-चन्दनाक्ताङ्गः कुरुते कृष्ण-पूजनम्।
पूजनेन दिनैकेन लभते शतवार्षिकीम् ॥
विलेपनार्थं कृष्णस्य तुलसी-काष्ठ-चन्दनम्।
मन्दिरे वसते यस्य तस्य पुण्य-फलं शृणु ॥
तिलप्रस्थाष्टकं दत्त्वा यत् पुण्यं चोत्तरायणे।
तत्तुल्यं जायते पुण्यं प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥ इति ॥ १३३ ॥

भाषाटीका।

प्रह्लालाद-संहिता में लिखा है कि,—जो पुरुष श्रीहरि को तुलसी काष्ठ का चन्दन प्रदान करते हैं,—उन का समान वैष्णव चतुर्द्दश लोक में भी नहीं है। कलि-युग में हरि के देह में भक्तिसहित तुलसी-काष्ठ का चन्दन लेपन करने पर हरि-समीप जाय सुख भोग कर सकता है ॥ १३० ॥

जो पुरुष विष्णु की प्रसन्नता के लिये तुलसी-काष्ठ का चन्दन लेपन करते हैं, वे कामधेनु के दान करने का फल पाते हैं ॥ १३१ ॥

तुलसी-काष्ठ का चन्दन विशेष कर मृत्यु के समयँ देह में लेपन करने से पापी होने पर भी उस को मुक्ति प्राप्ति होती है ॥ १३२ ॥

जो श्राद्ध-काल में पितृ ओं के निमित्त तुलसी-काष्ठ का चन्दन अर्पण करते हैं, उन के पितृ-कुल सौ वर्ष तक सन्तुष्ट रहते हैं। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—देह तुलसी काष्ठ के चन्दन से अनुलिप्त कर हरि की पूजा करने पर, एक दिन की पूजा में ही सौ वर्ष की पूजा का फल मिल जाता है। श्रीहरि का अङ्ग-लेपन के लिये जिसके घर में तुलसी-काष्ठ का चन्दन विद्यमान रहता है, उस के पुण्य-फल का विषय सुनो,—उत्तरायण संक्रान्ति के दिन आठ प्रस्थ (दो-आढ़ि) परिमित तिल प्रदान करने से जो पुण्य होता है, चक्रपाणि हरि के प्रसन्न होने पर उसी की सदृश पुण्य लाभ होता है ॥ १३३ ॥

देयं मलयजाभावे शीतलत्वात् कदम्बजं ।
यथा किञ्चित् सुगन्धित्वाच्चन्दनं देवदारुजं ॥

गारुड़े ।— हरेर्मलयजं श्रेष्ठमभावे देवदारुजं ॥ १३४ ॥

अथानुलेपे निषिद्धानि ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दारिद्र्यं पद्मकं कुर्य्यादस्वास्थ्यं रक्तचन्दनं ।
उशीरं चित्तविभ्रंशमन्ये कुर्य्युरुपद्रवम् ॥ इति ॥ १३५ ॥
पद्मकादि न दातव्यमैहिकं हीच्छता सुखं ।
मुख्यालाभे तु तत् सर्व्वं दातव्यं भगवत्-परैः ॥ १३६ ॥
ततो भगवतः कुर्य्यादनुलेपादनन्तरं ।
विद्वान् विचित्रैर्व्यजनैश्चामरैरपि वीजनम् ॥

वीजन-माहात्म्यञ्च ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

अनुलिप्य जगन्नाथं तालवृन्तेन वीजयेत् ।
वायुलोकमवाप्नोति पुरुषस्तेन कर्म्मणा ॥
चामरैर्वीजयेद्यस्तु देवदेवं जनार्द्दनं ।
तिलप्रस्थप्रदानस्य फलमाप्नोत्यसंशयम् ॥ १३७ ॥
व्यजनेनाथ वस्त्रेण सुभक्त्या मातरिश्वना ।

भाषा टीका ।

यदि चन्दन का अभाव हो तो कदम्ब-काष्ठ का चन्दन देवे, क्यों कि वह शीतल कहा गया है, तद्रूप यत्किञ्चित् सुगन्धि रहने के कारण देवदारु का चन्दन भी देवे। गरुड़पुराण में लिखा है कि,— विष्णु के पूजन कार्य्य में मलयज चन्दन ही प्रशंसनीय है, उस के न मिलने पर देवदारु का चन्दन ग्रहण करना चाहिये ॥ १३४ ॥

अनुलेपन कार्य्य में निसिद्ध द्रव्य । विष्णु धर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—पद्म काष्ट (पद्माख) दारिद्र उतपन्न करता है, रक्तचन्दन स्वास्थ्य की हानि-करने वाला, खस चित्त को विभ्रम करने वाली और-अपरापर (देवदारु इत्यादि) उग्र गन्ध युक्त वस्तु उपद्रव कारक है ॥ १३५ ॥

ऐहिक सुख की इच्छा करने वाले पुरुष पद्मादि काष्ठ अर्पण न करे। यदि मुख्य वस्तु का अभाव हो तो भगवद्भक्त पुरुष यह सब निषिद्ध सामग्री अर्पण करे ॥ १३६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष अनुलेपन के पीछे विचित्र व्यजन और चाँवर द्वारा प्रभु का वीजन करे । वीजन-माहात्म्य। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—हरि को अनुलेपन प्रदान करके तालवृन्त (ताल के पंखा) से वीजन करना चाहिये। इस कार्य्य के फल से मनुष्य वायु-लोक प्राप्त होता है, चाँवर द्वारा देव-देव हरि का वीजन करने से निःसंदेह एक-प्रस्थ-परिमित-तिल दान का फल प्राप्त होता है ॥ १३७ ॥

हे नृपते ! जो भक्ति सहित वस्त्र के पंखा की

देवदेवस्य राजेन्द्र ! कुरुते तापवारणम् ॥
तत् कुले यम-लोके तु शमते नारकोद्भवः ।
वायु-लोकान्महीपाल ! न च्युतिर्विद्यते पुनः ॥
चलच्चामर-वातेन कृष्णं सन्तोषयेन्नरः ॥ १३८ ॥
तस्योत्तमाङ्गं देवेश ! स्तुवते स्व-मुखेन वै ।
उष्णकालेत्विदं ज्ञेयं यत् सन्तः पौषमाघयोः ॥
शीतलत्वान्मलयजमपिनैवार्पयन्ति हि ।
तथाचोक्तं ।—नशीते शीतलं देयम् ॥ इति ॥ १३९ ॥

इति श्रीगोपालभट्ट विलिखिते
भगवद्भक्तिविलासे
स्नापनिकोनाम
षष्ठोविलासः
॥ ६ ॥

भाषा टीका

वायु से देवदेव हरि का ताप दूर करते हैं, उन के वंश में यमलोक का नरक सम्बधीय भय नष्ट होता है। हे नृपते ! चालित चाँवर की वायु द्वारा हरि को प्रसन्न करने पर वायुलोक से फिर उस वीजनकारी का पतन नहीं होता ॥ १३८ ॥

देवदेव अपने मुख से ऊस के अति उत्तम हस्त की प्रशंसा करते हैं। ग्रीष्म ऋतु ही इस वीजन में श्रेष्ठ है, क्यौं कि;— साधुगण पौष और माघ मास में शीतल होने से ही चन्दन अर्पण नहीं करते हैं सुतरां कहा है कि,— शीत ऋतु में शीतल द्रव्य निवेदन करना योग्य नहीं है ॥ १३९ ॥

इति श्रीगोपालभट्ट विलिखिते भगवद्भक्तिविलासे भाषाटीकायां अधिष्ठानिको नाम षष्ठो विलासः ॥ ६ ॥

श्रीश्रीराधामदनगोपालदेवोजयति ॥

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

सप्तम बिलासः।

कुमनाः सुमनस्त्वं हि याति यस्य पदाब्जयोः।
सुमनोऽर्पणमात्रेण तं चैतन्यप्रभुं भजे ॥ १ ॥

श्रीमदङ्गानि तैर्भक्त्या समालिप्यानुलेपनैः।
निवेद्योत्तमपुष्पाणि तन्मुद्राश्च प्रदर्शयेत् ॥

अथ पुष्पाणि।

नारसिंहे।—पुष्पैररण्यसम्भूतैस्तथा नगरसम्भवैः।
अपर्य्युषितनिश्छिद्रैः प्रोक्षितैर्जन्तुवर्जितैः ॥
आत्मारामोद्भवैर्वापिपूतैः संपूजयेद्धरिम् ॥ २ ॥

बामनपुराणे—श्रीप्रह्लाद-वलि-सम्बादे—
तान्येव सुप्रस्तानि कुसुमानि महासुर !
यानि स्युर्वर्णयुक्तानि रसगन्धयुतानि च ॥
जाती-शताङ्गा-सुमनाः कुन्दं चारुपुटं तथा।
वाणश्च चम्पकाशोकं करवीरश्च यूथिका ॥
पारिभद्रं पाटला च वकुलं गिरिशालिनी।
तिलकं जासुवनजं पीतकं तगरन्तथा ॥

भाषा टीका।

जिन के दोनों चरण-कमलों में पुष्प प्रदान करते ही कुमना पुरुष भी सुमति को प्राप्त होता है, मैं उन्हीं चैतन्य देव का भजन करता हूँ ॥ १ ॥

भक्ति सहित पूर्व कथित अनुलेपन-सामग्रियों के द्वारा प्रभु का श्रीअंग लेपन कर उत्तमोत्तम कुसुम निवेदन करता हुआ पुष्प दान की मुद्रा प्रदर्शन करे। अथ पुष्प समूह।—नृसिंह पुराण में लिखा है कि,—वनोत्पन्न अथवा नगरोत्पन्न वा आरामज (बगीचे में उत्पन्न हुए) अपर्युषित (ताजे) अच्छिन्न (साबत) सिक्त (छिड़के हुए) कीटादि जीव शून्य विशुद्ध कुसुम द्वारा श्रीहरि की पूजा करे ॥ २ ॥

बामन पुराण के प्रह्लाद-वलि-संवाद में लिखा है कि,—हे दैत्यपते ! वर्ण, रस और गंधयुक्त पुष्प ही प्रशस्त है,— उस में जाती शतपत्रिका (कमल) मालती, कुन्द, कर्णिकार, झिन्टी, चम्पक, अशोक,

एतानि सुप्रशस्तानि कुसुमान्यच्युतार्च्चने ।
सुरभीणि तथान्यानि वर्जयित्वा तु केतकीं ॥ ३ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

कुङ्कुमस्य च पुष्पाणि वन्धुजीवस्य चाप्यथ ।
चम्पकस्य च देयानि तथा भूचम्पकस्य च ॥
पीतयूथिकजान्येव यानि वै नीपजान्यपि ।
मञ्जर्य्यः सहकारस्य तथा देया जनार्द्दने ॥
मल्लिका-कुब्ज-कुसुममतिमुक्तकमेव च ।
सर्व्वाश्च यूथिकाजात्यो मल्लिकाजात्य एव च ॥
याश्च कुब्जकजाजात्यः कदम्बकुसुमानि च ।
केतकी-पाटला-पुष्पं काण्वपुष्पं तथैव च ॥
एवमादीनि देयानि गन्धवन्ति शुभानि च ।
केचिद्वर्णगुणादेव केचिद्गन्धगुणादथ ॥
अनुक्तान्यपि रम्याणि तथा देयानि कानिचित् ।
देशे-देशे तथा काले यानि पुष्पाण्यनेकशः ।
गन्धवर्णोपपन्नानि तानि देयानि नित्यशः ॥

किञ्च-तत्रैव-श्रीवज्र-मार्कण्डेय-सम्बादे—

मध्येऽन्यवर्णो यस्य स्यात् शुक्लस्य कुसुमस्य च ।
शुभशुक्लन्तु विज्ञेयं मनोज्ञं केशवप्रियम् ॥

भाषा टीका ।

करवीर, यूथिका, मन्दार, पारुल, वकुल, श्वेतकुटज, तिल, जवा, पीतक और तगर,—यह सब पुष्प श्रीहरि की पूजा में अधिक प्रशस्त हैं, वनकेतकी के अतिरिक्त अपरापर सुगन्ध पूर्ण कुसुम भी प्रशस्त हैं ॥ ३ ॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,—कुंकुम और बंधुजीव कुसुम [दुपहरी] चम्पक, भूमिचंपक, पीतयूथि, कदम्ब और आम की मञ्जरी हरि को प्रदान करे । मल्लिका, कुब्ज, माधवी, यूथिका जातीय, मल्लिका-जातीय, कुब्जजातीय एवं कदम्ब, केतकी, पाटला (पाढ़ल) और कणतुहुली,—यह सब और अनेक प्रकार के सुगन्धपूर्ण कुसुम जनार्दन को प्रदान करे। उत्कृष्ट वर्णयुक्त होने से और उत्कृष्ट गन्धपूर्ण होने से कितने ही पुष्प निवेदन करे। जिन सब फूलों का विषय नहीं लिखा—देखने में सुन्दर होने से उन को भी अर्पण करे । देश काल विशेष में जो अनेक पुष्प उत्पन्न होते हैं,—गंध अथवा वर्ण विशिष्ट होने से उनको भी प्रदान करे। और भी इसी ग्रंथ के वज्र—मार्कण्डेय-सम्वाद में लिखा है कि,—जो शुभवर्ण कुसुम के मध्यस्थल में अन्यवर्ण विद्यमान् रहता है—उस को शुभशुक्ल कहते हैं,—वह देखने में सुन्दर और हरि का प्रीति प्रद है। स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—वसन्त- ऋतूत्पन्न अथवा वर्षाजात मल्लिका (वेला) कुसुम्भ, दोनों प्रकार की यूथिका, माधवी, केतकी,

स्कान्दे।— वासन्ति मल्लिका-पुष्पं तथा वै वार्षिकी तु या।
कुसुम्भं यूथिके द्वे च तथा चैवातिमुक्तकम् ॥ ४ ॥
केतकं चम्पकश्चैव माषवृन्तकमेव च।
पुरन्ध्रिमञ्जरीपुष्पं चूतपुष्पं तथैव च ॥
बन्धुजीवकपुष्पश्च कुसुमं कुङ्कुमस्य च।
जातीपुष्पाणि सर्व्वाणि कुन्दपुष्पन्तथैव च ॥
पाटलायास्तथा पुष्पं नीलमिन्दीवरं तथा।
कुमुदे श्वेतरक्ते च श्वेतरक्ते तथाम्बुजे ॥
एवमादीनि पुष्पाणि दातव्यानि सदा हरेः ॥ ५ ॥

तत्रैवान्यत्र—

मालती-तुलसी-पद्मं केतकी-मणिपुष्पकं।
कदम्बकुसुमं लक्ष्मीः कौस्तुभं केशवप्रियम् ॥

किञ्च।— कण्टकीन्यपि देयानि शुक्लानि सुरभीणि च।
तथा रक्तानि देयानि जलजानि द्विजोत्तम ! ॥ ६ ॥

नारदीये,— सप्तसाहस्रे,-श्रीभगवन्नारद सम्बादे—
मालती-वकुलाशोक-शेफाली नवमालिका।
आम्रश्च तगराख्यश्च मल्लिका मधुपिण्डिका ॥
यूथिकाष्टपदं कुन्द-कदम्ब-शिखिपिङ्गकं।
पाटला चम्पकं हृद्यं लवङ्गमतिमुक्तकं ॥
केतकं कुरुवकं विल्वं कह्लारं वासकं द्विज !
पञ्चविंशति पुष्पाणि लक्ष्मीतुल्य-प्रियाणि मे ॥

भाषा टीका।

चम्पक, माषवृन्त, पुरन्ध्रि की मञ्जरी वा फूल, आमकी मञ्जरी, वन्धुजीव, कुंकुम, सब प्रकार की जाती, कुन्द और पाटला फूल, नीलेन्दीवर, (नीलकमल) शुभ्र-कुमुद, लोहितकुमुद, श्वेतपद्म, लोहितपद्म,—इत्यादि पुष्प जनार्दन को सदा समर्पण करे ॥ ४—५ ॥

स्कन्दपुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि,—मालती, तुलसी, पद्म, केतकी, मणि और कदम्बफूल, लक्ष्मी और कौस्तुभ के समान हरि के प्रसन्न करने वाले हैं। और भी लिखा है कि,—हे द्विज सत्तमगण ! श्वेतवर्ण सुगन्धि कुसुम कांटों से युक्त होने पर भी निवेदन करे और जलज रक्तपुष्प भी प्रदान करे ॥६॥

नारदपुराण के सप्तसाहस्र में भगवन्नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—हे द्विज ! मालती, वकुल, अशोक, शेफाली, नवमल्लिका, आम, तगर, मल्लिका, मधूक, (महुआ) पिण्डिका, (नन्द्यावर्त्त) यूथिका, नागकेशर, कुन्द, कदम्ब, शिखी, (कुटज) हरिद्रा-पुष्प, पाटला, चम्पक, लवङ्ग, माधवी, केतकी, कुरुवक, वेल, कह्लार और वासक,—यह पच्चीस प्रकार के पुष्प कमला के समान मेरे प्रिय हैं। मैंने पहिले क्रमानुसार

मदीया वनमाला च पुष्पैरेभिर्मया पुरा ।
ग्रथिता च तथा तत्त्वैः पञ्चविंशतिभिः क्रमात् ॥

हारीत-स्मृतौ च—

तुलस्यौ पङ्कजे जात्यौ केतक्यौ करवीरकौ ।
शस्तानि दशपुष्पाणि तथा रक्तोत्पलानि च ॥ ७ ॥

अथ सामान्यतोऽखिलपुष्प-माहात्म्यम् ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दानं सुमनसां श्रेष्ठं तथैव परिकीर्त्तितम् ।
अलक्ष्म्याः शमनं मुख्यं परं लक्ष्मीविवर्द्धनम् ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं माङ्गल्यं बुद्धिवर्द्धनम् ।
स्वर्गदञ्च तथा प्रोक्तं वह्निष्टोम-फलप्रदम् ॥
न रत्नेन सुवर्णेन न च वित्तेन भूरिणा ।
तथा प्रसादमायाति देवश्चक्रगदाधरः ॥

तथैवान्यत्र—

धर्म्मार्जितधनक्रीतैर्यः कुर्य्यात् केशवार्च्चनम् ।
उद्धरिष्यत्यसन्देहं सप्तपूर्व्वांस्तथा परान् ॥
आरामस्थैस्तु कुसुमैर्यः कुर्य्यात् केशवार्च्चनम् ।
एतदेव समाप्नोति नात्र कार्य्या विचारणा ॥
यथाकथञ्चिदाहृत्य कुसुमैः पूजयन् हरिम् ।
नाकपृष्ठमवाप्नोति न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥

भाषा टीका ।

इन पच्चीस पुष्पों में और पच्चीस प्रकार के तत्वों में अपनी वनमाला गूँथी है। हारीत-स्मृति में लिखा है कि,—दो प्रकार की तुलसी, दो प्रकार का पद्म, (कमल) दो प्रकार की जाती, दो प्रकार की केतकी और दो प्रकार की कनेर,–यह दश प्रकार के पुष्प और लाल कमल प्रशस्त हैं ॥ ७ ॥

साधारणतः समस्त पुष्पों का माहात्म्य। विष्णु-धर्मोत्तर में लिखा है कि,—पुष्प का अर्पण सब से प्रधान है, यह दान अलक्ष्मी की शान्ति और लक्ष्मी की वृद्धि करता है, एवं धन, यश, आयु, मंगल और बुद्धि की वृद्धि कर देता है, इस से सुरपुर और अग्निष्टोम-यज्ञ का फल, मिलता है। चक्रगदापाणि-देव-भगवान् रत्न, स्वर्ण, अथवा बहुत से धन के द्वारा भी ऐसे प्रसन्न नहीं होते। इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है कि,—जो पुरुष धर्म्मोपार्जित धन से कुसुम क्रय (खरीद) कर हरि की पूजा करते हैं,– वे सप्त अधस्तन (सात नीचेके) और सप्त ऊर्द्धतन (सात उपर के) पुरुषों की उद्धार करते हैं, इस में सन्देह नहीं। जो पुरुष आराम के (उद्यान के) पुष्पों से हरि की

तथा राष्ट्राहृतैः पुष्पैर्यः कुर्य्यात् केशवार्च्चनम्।
पञ्चविंशत्यतीतांश्च पञ्चविंशत्यनागतान्॥
उद्धरेदात्मनो वंश्यान् नात्र कार्य्या विचारणा।
नगरेऽपि वसन् यस्तु भैक्ष्याशी शंसितव्रतः॥
अरण्यादाहृतैः पुष्पैः पत्रमूलफलाङ्कुरैः।
यथोपपन्नैः सततमभ्यर्च्चयति केशवम्॥
सर्व्वकामप्रदो देवस्तस्य स्यान्मधुसूदनः।
पुंसस्तस्याप्यकामस्य परं स्थानं प्रकीर्त्तितं॥
यत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्।

तत्रैव-श्रीवज्र-मार्कण्डेय सम्वादे—

अक्षमैस्तूपवासानां धनहीनैस्तथा नरैः।
अरण्यादाहृतैः पुष्पैः सम्पूज्य मधुसूदनं।
पूर्व्वजन्मनि संप्राप्तं राज्यं शृणु नराधिप!॥ ८॥
नृगो ययातिर्नहुषो विश्वगन्धः करन्धमः।
दिलीपो युवनाश्वश्च शतपर्व्वा भगीरथः॥
भीमश्च सहदेवश्च महाशीलो महामनुः।
देवलः कालकाक्षश्च कृतवीर्य्यो गुणाकरः॥
देवरातः कुसुम्भश्च विनीतो विक्रमो रघुः।
महोत्साहो वीतभयो अलमित्रः प्रभाकरः॥

भाषा टीका।

पूजा करते हैं,-वे यह आराम ही लाभ करते हैं, इस में कोइ ही विचार नहीं। जिस किसि प्रकार से कुसुम लाकर जनार्द्दन की पूजा करने पर स्वर्ग प्राप्त होता है, इस में संशय नहीं। जो पुरुष राष्ट्र (ग्राम ग्राम) से कुसुम संग्रह करके हरि की पूजा करते हैं, वे निःसन्देह अपने पूर्व्वतन (होगये) पच्चीस और भावी (होनेवाले) पच्चीस पुरुषों को उद्धार करते हैं, इस में कोइ विचार न करे। जो पुरुष नगर-वासी हो कर और भिक्षाजीवी तथा व्रतावलम्वी हो, वन में से यथा प्राप्त पुष्प, पत्र, तथा फल, मूल और अङ्कुर संग्रह करके सदा हरि की पूजा करते हैं,- मधुसूदन-देव उस की समस्त कामना सिद्ध कर देते हैं। प्रार्थना न करने पर भी उन के परम-पद को प्राप्त करते हैं। जहां जाने से शोक करना नहीं पड़ता वही हरि का परम-पद है। इसी ग्रंथ के वज्र मार्कण्डेय संवाद में लिखा है कि—हे नृपते! सुनो - पूर्व के समय उपवास करने में असमर्थ और निर्धन मनुष्यों ने वन से कुसुम संग्रह पूर्वक हरि की पूजा करके राज्य प्राप्त किया है॥ ८॥

नृग, ययाति, नहुष, विश्वगंध, करन्धम, दिलीप, युवनाश्व, शतपर्व्व, भगीरथ, भीम, सहदेव, महाशील-महामनु, देवल, कालकाक्ष. कृतवीर्य्य, गुणाकर- देवरात, कुसुम्भ, विनीत- विक्रम, रघु, महोत्साह, विगत-

कपोतरोमा पर्जन्यश्चन्द्रसेनः परन्तपः।
भीमसेनो दृढ़रथः कुशनाभः प्रतर्द्दनः॥
एते चान्ये च वहवः पूर्व्वजन्मनि केशवम्।
पूजयित्वा क्षितावस्यां प्रापू राज्यमकण्टकं॥
यक्षत्वमथ गान्धर्व्वं देवत्वञ्च तथैव च।
विद्याधरत्वं नागत्वं ये गता मनुजोत्तमाः॥
वहुत्वाच्च न ते शक्या मया वक्तुं तवानघ!
तस्माद् यत्नः सदा कार्य्यः पुरुषैः कुसुमार्च्चने॥
अरण्यजातैः कुसुमैः सदैव संपूजयित्वा स्वयमाहृतैस्तु।
सर्व्वेश्वरं यत् फलमाप्नुवन्ति राजेन्द्र! तद्वर्णयितुं न शक्यम्॥
स्वयमाहृत्य पुष्पाणि भिक्षाशी केशवार्च्चनम्।
यः करोति स राजेन्द्र! वंशानामुद्धरेत् शतम्॥
विष्णुधर्म्मे।—पुष्पाणि तु सुगन्धीनि मनोज्ञानि तु यः पुमान्।
प्रयच्छति हृषीकेशे स भागवतमानवः॥
नारासिंहे।—तपः-शीलगुणोपेते पात्रे वेदस्य पारगे।
दश दत्वा सुवर्णानि यत् फलं समवाप्नुयात्॥
तत् फलं लभते मर्त्त्यो हरेः कुसुमदानतः।

भाषा टीका।

अथ—अलमित्र, प्रभाकर, कपोतरोमा, पर्जन्य, चंद्रसेन, परन्तप-भीमसेन, दृढ़रथ, कुशनाभ और प्रतर्द्दन,-यह सब और अन्यान्य अनेक राजा पूर्वजन्म में हरि की पूजा करके, इस पृथ्वी, में निष्कण्टक राज्य को प्राप्त हुए थे। जो सब श्रेष्ठ—मनुष्य, यक्ष, गंधर्व, देवता, अथवा विद्याधर, वा नाग, हुए थे, वे असंख्य हैं; हे पापशून्य! इस कारण मैं उन के नाम लिखने में असमर्थ होता हूँ—अतएव मनुष्य को कुसुम से हरि की पूजा करने में सदा यत्न करना चाहिये। हे राजेन्द्र! वनोतपन्न कुसुम संग्रह कर नित्य सर्व्वेश्वर हरि की पूजा करने पर मनुष्यों को जो फल होता है, वह वर्णनातीत है, अर्थात् उस का वर्णन नहीं हो सकता। हे राजेन्द्र! जो नर भिक्षा का अन्न भोजन पूर्वक स्वयं पुष्प लाकर हरि की पूजा करते हैं-वे अपने कुल के सौ पुरुषों को उद्धार करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,— जो मनोहर सुगन्धि पुष्प हृषीकेश को अर्पण करते हैं, वे भगवद्भक्त कहकर कीर्त्तित होते हैं। नृसिंहपुराण में लिखा है कि,—तपःशील-गुण-युक्त वेद के जानने वाले पात्र में-दश सुवर्णमुद्रा अर्पण करने से जो फल होता है,-हरिको पुष्प प्रदान करने से मनुष्य उसी फल को पाते हैं। वही ग्रंथ के आगे लिखा है कि,— मल्लिका, मालती, जाती, केतकी, अशोक, चम्पक, पुन्नाग, नाग, वकुल, पद्म और उत्पल-जातीय सब प्रकार के कुसुम और अन्यान्य श्रेष्ठ पुष्पों से हरि की पूजा करने पर प्रति पुष्प में दश स्वर्णमुद्रा अर्पण करने का फल प्राप्त होता है। हे नृपते! यह मैं ने तुम से

तत्रैवाग्रे।— मल्लिका-मालती-जाती-केतकाशोक-चम्पकैः।
पुन्नाग-नाग-वकुलैः पद्मैरुत्पलजातिभिः॥
एतैरन्यैश्च कुसुमैः प्रशस्तैरच्युतं नरः।
अर्च्चन् दशसुवर्णस्य प्रत्येकं फलमाप्नुयात॥
एवं हि राजन्! नरसिंहमूर्त्तेः प्रियाणि पुष्पाणि तवेरितानि।
एतैश्च नित्यं हरिमच्चर्य भक्त्या नरो विशुद्धो हरिमेव याति॥

स्कान्दे।—स्वयमाहृत्य यो दद्यादरण्य-कुसुमानि च।
स राज्यं स्फीतमाप्नोति लोके निहतकण्टकम्॥ ९॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-सम्बादे—
यैः कैश्चिदिह पुष्पैश्च जलजैः स्थलजैरपि।
सम्पूज्य कथितैर्भक्त्या विष्णु-लोके महीयते॥

विष्णुरहस्ये श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-सम्वादे—
ऋतु-कालोद्भवैः पुष्पैर्योऽर्च्चयेद्रुक्मिणी-पतिम्।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्॥ १०॥

अथ विशेषपुष्प-माहात्म्यम्।

तथा च नारसिंहे—
पुष्प-जातिविशेषेण भवेत पुण्यं विशेषतः॥

किञ्च।—एवं पुष्प-विशेषेण फलं तदधिकं नृप!
ज्ञेयं पुष्पान्तरेणापि यथा स्यात्तन्निबोध मे॥

भाषा टीका।

नृसिंह-देव के प्रिय पुष्पों का विषय कहा; केवल इन्हीं से भक्ति-सहित नित्य हरि की पूजा करने पर मनुष्य निष्पाप होकर हरि को लाभ करता है। स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष स्वयं वनोत्पन्न-पुष्प लाकर हरि को निवेदन करते हैं,—वे पृथ्वी में निष्कण्टक सम्वर्द्धित राज्य लाभ करते हैं॥ ९॥

इसी पुराण के शिव पार्व्वती-सम्वाद में लिखा है कि,—क्या जलज, क्या स्थलज, पूर्व्व कथित जिस किसी कुसुम-द्वारा भक्तिपूर्व्वक पूजा करने पर, मनुष्य हरि-धाम में जाय, सन्मान के सहित वास कर सक्ते हैं। विष्णुरहस्य के मार्कण्डेय इन्द्रद्युम्न सम्वाद में लिखा है कि,—जो पुरुष ऋतु-कालोत्पन्न पुष्पों से रुक्मिणी-वल्लभ कृष्ण की पूजा करते हैं, उन की पर-लोक सम्बन्धीय और नर-लोक सम्बन्धीय सम्पूर्ण कामना सिद्ध होती हैं॥ १०॥

अथ विशेषतः कुसुम-माहात्म्य। नृसिंह-पुराण में यही कथा लिखी है कि,—पुष्पों के जाति-भेद में विशेष विशेष पुण्य होता है। और भी लिखा है कि,—हे राजन्! द्रोण-कुसुम के जिस माहात्म्य का विषय लिखा गया है, उसी के अनुसार जानना चाहिये कि,—कुसुम-भेद से फल की भी अधिकता है, इस के

तत्र द्रोणपुष्प-माहात्म्यम् ।

नारसिंहे एव—

द्रोणपुष्पे तथैकस्मिन् माधवाय निवेदिते ।
दत्त्वा दशसुवर्णानि यत फलं तदवाप्नुयात् ॥ ११ ॥

जात्या माहात्म्यम् ।

नारसिंहे ।—द्रोणपुष्प-सहस्रेभ्यः खादिरं वै विशिष्यते ।
शमीपुष्प-सहस्रेभ्यो विल्वपुष्पं विशिष्यते ।
विल्वपुष्प-सहस्रेभ्यो वकपुष्पं विशिष्यते ।
वकपुष्प-सहस्राद्धि नन्द्यावर्त्तं विशिष्यते ॥
नन्द्यावर्त्त-सहस्राद्धि करवीरं विशिष्यते ।
करवीरस्य कुसुमात् श्वेतपुष्पमनुत्तमम् ॥
करवीरश्वेतकुसुमात् पालाशं पुष्पमुत्तमम् ।
पालाशपुष्प-साहस्र्यात् कुशपुष्पं विशिष्यते ॥
कुशपुष्प-सहस्राद्धि वनमाला विशिष्यते ।
वनमाला-सहस्राद्धि चम्पकन्तु विशिष्यते ॥
चम्पकात् पुष्प-शतकादशोकपुष्पमुत्तमम् ।
अशोकपुष्प-साहस्र्यात् सेवन्तीपुष्पमुत्तमम् ॥
कुब्जपुष्प-सहस्राणां मालती-पुष्पमुत्तमम् ।
मालतीपुष्प-साहस्र्यात् त्रिसन्ध्यापुष्पमुत्तमम् ॥
त्रिसन्ध्यारक्तसाहस्र्यात् त्रिसन्ध्याश्वेतकं वरम् ।

भाषा टीका ।

अतिरिक्त अन्यान्य पुष्पों से भी जो फल होता है; वह मुझ से सुनो,—तिन में द्रोण-पुष्प का माहात्म्य।—नृसिंह-पुराण में लिखा है कि,—केवल एकमात्र द्रोण-पुष्प अर्पण करने से दश स्वर्ण-मुद्रा अर्पण करने का फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

नृसिंह-पुराण में जाती-पुष्प के विषय में इस प्रकार लिखा है कि,—एक शमी-पुष्प—हजार द्रोण-पुष्प की अपेक्षा प्रधान है, हजार शमी-पुष्प से एक विल्व-पुष्प श्रेष्ठ, हजार विल्व-पुष्प से एक वक-पुष्प (अगाशिया पुष्प) उत्तम, हजार वक-पुष्प से एक नन्द्यावर्त्त और हजार नन्द्यावर्त्त से एक करवीर (कनेर) श्रेष्ठ है, कनेर के पुष्प में सफेद-कनेर प्रधान है और सफेद कनेर से पलाश श्रेष्ठ है, हजार पलाश-पुष्पों से कुश-पुष्प प्रधान है, हजार कुश-पुष्प से एक वनमाला (मालतीजातीय पुष्प) श्रेष्ठ है, हजार वनमाला से एक चम्पक प्रधान, सौ चम्पक से एक अशोक श्रेष्ठ, हजार अशोक से एक कुब्ज-पुष्प प्रधान, हजार कुब्ज-पुष्प से एक मालती उत्तम, हजार मालती से एक त्रिसन्ध्यापुष्प प्रधान, लोहितवर्ण हजार त्रिसन्ध्या-पुष्प से एकमात्र शुभ्रवर्ण-त्रिसन्ध्या श्रेष्ठ, हजार सफेद त्रिसन्ध्या से

त्रिसन्ध्याश्वेतसाहस्र्यात कुन्दपुष्पं विशिष्यते ॥
कुन्दपुष्प-सहस्राद्धि शतपत्रं विशिष्यते ।
शतपत्र-सहस्राद्धि मल्लिकापुष्पमुत्तमम् ॥
मल्लिकापुष्प-साहस्र्याज्जातीपुष्पं विशिष्यते ।
सर्व्वासां पुष्पजातीनां जातीपुष्पमिहोत्तमम ॥
जातीपुष्प-सहस्रेण यच्छन्मालां सुशोभनाम् ।
विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्य-फलं शृणु ॥
कल्प-कोटि-सहस्राणि कल्प-कोटि-शतानि च ।
वसेत विष्णु-पुरे श्रीमान् विष्णुतुल्य-पराक्रमः ॥
शेषाणां पुष्पजातीनां यत् फलं विधिदर्शितम् ।
ततफलस्यानुसारेण विष्णु-लोके महीयते ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

सर्व्वासां पुष्प-जातीनां जात्यः श्रेष्ठतमा मताः ।
जातीनामपि सर्व्वासां शुक्ला जातिः प्रशस्यते ॥

स्कान्देऽपि, ब्रह्मनारद-सम्वादे मल्लिकेत्यादि श्लोकत्रयमास्ते ॥ किञ्च तत्रैवान्यत्र—

जातीपुष्पप्रदानेन गन्धर्व्वैः सह मोदते ।
जातीपुष्पाष्टकं दत्त्वा वह्निष्टोम-फलं लभेत ॥ १२ ॥
जातीपुष्प-सहस्रेण यथेष्टां गतिमाप्नुयात ।
श्वेतद्वीपमवाप्नोति लक्षपूजा-विधायकः ॥ १३ ॥

भाषा टीका ।

एक कुन्द-पुष्प श्रेष्ठ, हजार कुन्द-पुष्प से एक पद्म प्रधान, हजार पद्म से एक मल्लिका-पुष्प श्रेष्ठ और हजार मल्लिका से एक जाती-पुष्प उत्तम है । यहाँ जितने पुष्पों का विषय लिखा गया; उन सब में एक जाती-पुष्प की प्रधानता जाननी चाहिये । जो हजार जाती-पुष्पों से मनोहर-माला गूँथकर भक्ति-सहित यथाविधि हरि को प्रदान करते हैं, उन के पुण्य का विषय सुनों; वे पुरुष श्रीमान् और हरि के समान पराक्रमशाली होकर कल्प-कोटिसहस्र अथवा कल्प-कोटिशत-काल हरि के धाम में वास करते हैं। यथाविधि अवशिष्ट पुष्पों का जो फल निरूपण किया गया है, उसके अनुसार पूजा करने वाला पुरुष हरि के धाम में सन्मान को प्राप्त होता है । विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—जितने प्रकार के पुष्प हैं; उन सब से जाती-पुष्प प्रधान कहा गया है। समस्त जाती में फिर शुक्ल-वर्ण जाती प्रधान है । स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद-में मल्लिका इत्यादि तीन श्लोक वर्णित हैं। इसी पुराण के स्थानान्तर में लिखा है कि,—जाती-पुष्प अर्पण करने पर गन्धर्व्वों के सङ्ग वास करता हुआ आनन्द से समय व्यतीत करता है । आठ जाती-पुष्प अर्पण करने से अग्निष्टोम-यज्ञ का फल मिल जाता है ॥ १२ ॥

हजार जाती-पुष्प अर्पण करने से यथेच्छ गति प्राप्त हो सकती है, लक्ष जाती-पुष्प से पूजा करने पर श्वेतद्वीप प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

जातीपुष्पकृतां मालां कर्पूरपटवासिताम्।
निवेद्य देव-देवस्य यत् फलं प्राप्नुयान्नरः।
न तद्वर्णयितुं शक्यमपि वर्ष-शतैरपि॥

मालत्या माहात्म्यम्।

स्कान्दे, श्रीब्रह्मनारद-सम्वादे—

वर्णानान्तु यथा विप्रस्तीर्थानां जाह्नवी यथा।
सुराणान्तु यथा विष्णुः पुष्पाणां मालती तथा॥
मालत्या हि तथा देवं योऽर्च्चयेद्गरुड़ध्वजम्।
जन्म-दुःख-जरा-रोगैर्मुक्तोऽसौ मुक्तिमाप्नुयात॥ १४॥

तत्रैवान्यत्र—

योऽर्च्चयेन्मालतीपुष्पैः कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम्।
तेनाप्तं नास्ति सन्देहस्तत् पदं दुर्ल्लभं हरेः॥
मालती-कलिकामालामीषद्विकसितां हरेः।
दत्त्वा शिरसि विप्रेन्द्र! बाजिमेध-फलं लभेत॥

गारुड़े।—पक्षीन्द! न श्रुतं दृष्टं भूतं वा न भविष्यति।
मालत्या न समं पुष्पं द्वादश्या न समा तिथिः॥
पुष्पेणैकेन मालत्याः प्रीतिर्या केशवस्य हि।
न सा क्रतु-सहस्रेण भवते नारदोऽब्रवीत्॥
यत्र यत्र खगश्रेष्ठ! भवते मालती-वनम्।

भाषा टीका।

जाती-पुष्पद्वारा गूँथी हुई माला कपूर-चूर्ण से सुवासित कर, देव-देव-हरि को अर्पण करने पर मनुष्य को जो फल होता है; शतवर्ष वर्णन करने से भी उस फल का वर्णन शेष नहीं हो सक्ता है। मालती-पुष्प के विषय में स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—जैसे—वर्णों में ब्राह्मण, तीर्थों में गङ्गा और देवताओं में विष्णु श्रेष्ठ हैं, ऐसे ही पुष्पों में मालती प्रधान है। जो मालती-पुष्प से गरुड़-ध्वज हरि की पुजा करते हैं; वे जन्म, दुःख, जरा और व्याधि से छूट कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥ १४॥

उक्त स्कन्द-पुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि,—जो मालती-पुष्प से त्रिभुवन-पति हरि की पुजा करते हैं; वे हरि के उस दुर्लभ स्थान को प्राप्त होते हैं, इस में सन्देह नहीं। हे विप्रसत्तम! कुछ विकसित मालती पुष्प की कलिका-निर्म्मित माला जनार्द्दन के मस्तक पर अर्पण करने पर; अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—हे विहगसत्तम! मालती की समान पुष्प और द्वादशी की समान तिथि—नहीं सुनी गई, न दिखाई दी और भविष्यत् में होगी भी नहीं। नारद ने कहा है कि,—एक मालती पुष्प से हरि को जिस प्रकार प्रीति-सञ्चार होती है; हजार यज्ञों से भी वैसी प्रीति नहीं होती। हे पक्षिश्रेष्ठ! जिस जिस स्थान में मालती-वन विद्यमान है, हरि इसी प्रकार

पत्रे पत्रे तथा तुष्टो वसते तत्र केशवः ॥
दृष्ट्वा तु मालती-पुष्पं वैष्णवेन करे धृतम्।
प्रीतो भवति दैत्यारिः सुतं दृष्ट्वा यथा खग !
पुष्पे पुष्पे खगश्रेष्ठ ! मालत्याः सुमनो हरेः।
अक्षयं प्राप्यते स्थानं दाहप्रलयवर्जितम् ॥
वल्लभं मालतीपुष्पं माधवस्य सदैव हि।
हेलया दापयेत् स्थानं स्वकीयं गरुड़ध्वजः ॥१५॥
दत्तमात्रं हरेः पुष्पं निर्म्माल्यं भवति क्षणात्।
अहोरात्रं प्रभुक्तं हि मालती-कुसुमं न हि ॥
विष्णोरङ्गात्परिभ्रष्टं मालतीकुसुमं खग !
यो धारयेच्च शिरसि सर्व्वधर्म्म-फलं लभेत् ॥
अदत्वा केशवे यस्तु स्व-मूर्द्ध्नि मालतीं वहेत्।
स नरः खगशार्दूल ! सर्व्वधर्म्मच्युतो भवेत् ॥

कार्त्तिके च तस्या माहात्म्य-विशेषः।

तथा च गारुड़े—

सुवर्ण-दानं गो-दानं भूमि-दानं खगेश्वर !
विहाय कार्त्तिके मासि मालतीं यच्छ केशवे ॥
सर्व्वमासेषु पक्षीन्द्र ! मालती केशवप्रिया।
प्रबोधन्यां विशेषेण अश्वमेधादिदायिनी ॥ १६ ॥

भाषा टीका।

प्रसन्न होकर उसी के पत्ते पत्ते पर वास करते हैं। हे विहङ्गम ! जिस प्रकार पुत्र के देखने से आनन्द उदय होता है, ऐसे ही वैष्णव के हाथ में मालती पुष्प होने से दैत्यों को नाश करने वाले हरि आनन्दित होते हैं। हे विहगसत्तम ! मनोहर मालती पुष्प अर्पण करने पर— प्रतिपुष्प में तापविहीन, प्रलय-रहित, अक्षय स्थान प्राप्त होता है। मालती-पुष्प सदा ही हरि को प्रसन्न करने वाला है, गरुड़ध्वज हरि पूजा करने वाले को सहज में ही अपना धाम दे देते है ॥ १५ ॥

जनार्द्दन को पुष्प प्रदान् करते ही निर्माल्य होता है, किन्तु दिनभुक्त (बासी) होने पर भी मालती-कुसुम निर्म्माल्य नहीं होता। हे विहग ! जो हरि के अंग से उतरा हुआ मालती—कुसुम शिर पर धारण करते हैं, वे सम्पूर्ण धर्मों का फल पाते हैं। हे पक्षि-श्रेष्ठ ! जो हरि को विना अर्पण किये मालती—कुसुम अपनी देह में धारण करते हैं उन को सब कर्म्मों से भ्रष्ट होना पड़ता है। कार्त्तिक मास में मालती-पुष्प का विशेष माहात्म्य।—गरुड़पुराण में कहा है कि,— हे खगपते ! स्वर्ण दान, गोदान और पृथ्वी दान न करके कार्त्तिक-मास में हरि को मालती-कुसुम प्रदान करो। हे विहङ्गोत्तम ! मालती सभी महीनों में हरि को प्रसन्न करती है; विशेष कर कार्त्तिक-मास में अश्वमेधादि का फल देती है ॥ १६ ॥

स्कान्दे,ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

मालती-मालया विष्णुः पूजितो येन कार्त्तिके ।
पापाक्षरकृतां मालां हठात् सौरिः प्रमार्जति ॥ १७ ॥

पाद्मे,उत्तरखण्डेकार्त्तिक-माहात्म्ये—

मालती-जातिकापुष्पैः स्वर्णजात्या च चम्पकैः ।
पूजितो माधवो दद्यात् कार्त्तिके वैष्णवं पदम् ॥

कमलस्य माहात्म्यम् ।

स्कान्दे,ब्रह्म-नारद-सम्बादे—

शुभ्राशुभ्रैर्महागन्धैः कुसुमैः पङ्कजोद्भवैः ।
अधोक्षजं समभ्यर्च्य नरो याति हरेः पदम् ॥

तत्रैवान्यत्र—

अहो नष्टा विनष्टास्ते पतिताः कलि-कन्दरे ।
यैर्नार्च्चितो हरिर्भक्त्या कमलैरसितैः सितैः ॥
पद्मेनैकेन देवेशं योऽर्च्चयेत् कमलाप्रियम् ।
वर्षायुतसहस्रस्य पापस्य कुरुते क्षयं ॥
पद्मैः पद्मालया-भर्त्ता पूजितः पद्महस्तभृत् ।
ददाति वैष्णवान् पुत्रान् भक्तिमव्यभिचारिणीम् ॥ १८ ॥

तत्रैवश्रीशिवोमा-सम्बादे—

पद्मपुष्पाणि यो दद्यात्तस्माच्छतगुणं भवेत् ॥ १९ ॥

भाषा टीका ।

स्कन्दपुराण के ब्रह्म नारद सम्वाद में लिखा है कि,— कार्त्तिक मास में जो मालती-पुष्प से केशव की पूजा करते हैं, यम उनकी हठात् पातक रूप अक्षर द्वारा-रचित पंक्ति दूर कर देते हैं, अर्थात् उन के समस्त पात कों का विनाश होजाता है ॥ १७ ॥

पद्मपुराण के उत्तर खंड के कार्त्तिक-माहात्म्य में लिखा है कि,—कार्त्तिक-मास में मालती, जाती, स्वर्ण-जाती, अथवा चम्पक द्वारा पूजित होने पर हरि,—हरि-धाम प्रदान करते हैं। स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद सम्वाद में पद्म-विषय में इस प्रकार लिखा है कि,— मनुष्य महागंध पूर्ण शुक्ल अथवा नील पद्म से हरि की पूजा करने पर विष्णु के धाम में जाता है । स्कन्दपुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि.—अहो! जिन मनुष्यों ने भक्ति-सहित नील अथवा श्वेत पद्म से हरि की पूजा नहीं की है, वे नष्ट और विनष्ट होकर कलि की कन्दरा में निमग्न हुए हैं, इस में सन्देह नहीं। जो एक कमल से कमला प्रिय देव-देव हरि की पूजा करते हैं,- वे, करोड़ वर्ष के पाप नष्ट करते हैं । कमलकर कमलाकान्त, पद्म द्वारा पूजित होने पर, वैष्णव पुत्र को अव्यभिचारिणी भक्ति प्रदान करते हैं ॥ १८ ॥

स्कन्दपुराण के शिव पार्वती सम्वाद में लिखा है कि,—जो पद्म अर्पण करेंगे, वे उससे भी अर्थात् स्वर्णमय दशपुष्प अर्पण का फलप्रद-कनेर अर्पण से भी शत गुण अधिक फल पावेंगे ॥ १९ ॥

तत्र वर्ण-विशेषेण माहात्म्य-विशेषः। तथा च स्कान्दे—

रक्तपद्म-प्रदानेन रुक्म-माषकदो भवेत्।
शतं दत्त्वा च धर्म्मात्मा वह्निष्टोम-फलं लभेत्॥
सहस्रञ्च तथा दत्त्वा सूर्य्य-लोके महीयते।
विष्णु-लोकमवाप्नोति लक्षपूजा-विधायकः॥
स्वयमेव तथा लक्ष्मीर्भजते नात्र संशयः।
रक्तपद्म-प्रदानाद्धि श्वेतस्य द्विगुणं फलम्॥

तत्रापि कार्त्तिके विशेषः।

पाद्मोत्तरखण्डे, कार्त्तिक-माहात्म्ये—

कमलैः कमलाकान्तः पूजितः कार्त्तिके तु यैः।
कमला अनुगा तेषां जन्मान्तरशतेष्वपि॥

स्कान्दे च, श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—

कार्त्तिके नार्च्चितो यैस्तु कमलैः कमलेक्षणः।
जन्मकोटिषु विप्रेन्द्र! न तेषां कमला गृहे॥

नीलोत्पलस्य माहात्म्यम्।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दत्त्वा नीलोत्पलं मुख्यं कुसुमं कुङ्कुमस्य च।
तुल्यं फलमवाप्नोति बन्धुजीवस्य च द्विजाः!

भाषा टीका।

वर्ण भेदसे माहात्म्य विशेष। स्कन्दपुराण में लिखा है कि,— लाल-कमल अर्पण करने से एक-माषे सुवर्ण दान का फल मिलता है। धर्मात्मा पुरुष एक सौ पद्म प्रदान करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है, हजार पद्म प्रदान करने से सूर्य-लोक में सन्मान के सहित वास कर सकता है, जो एक लक्ष लाल-कमल से पूजा करते हैं,–वे हरि धाम में जाते हैं, लक्ष्मी अपनी इच्छा से ही उन का भजन करती हैं,– इस में सन्देह नहीं। लाल-कमल निवेदन करने की अपेक्षा श्वेत-कमल से दूना फल होता है। कार्त्तिक मास में विशेष यथाः— पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में कार्त्तिक माहात्म्य में लिखा है कि,— जो कार्त्तिक मास में पद्म द्वारा हरि की पूजा करते हैं,– लक्ष्मी सौ जन्म तक उन का अनुगमन करती हैं। स्कन्दपुराण के ब्रह्म नारद सम्वाद में लिखा है कि,— हे विप्रसत्तम! जो पुरुष कार्त्तिक मास में कमल द्वारा कमल-नयन हरिकी पूजा नहीं करते हैं, करोड़ करोड़ जन्म तक उन के घर लक्ष्मीदेवी वास नहीं करती हैं। विष्णुधर्मोत्तर में नील कमल के विषय में लिखा है कि,— हे विप्रगण! मुख्य नील-कमल और कुंकुम-कुसुम तथा बन्धुजीव-फूल हरि को अर्पण करने से समान फल होता है, हरि को नील–कमल प्रदान करने से मनुष्य दश स्वर्ण-मुद्रा दान का फल पाता है, इस में सन्देह नहीं। सौ नील-कमल निवेदन

सुवर्ण-दशदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
दत्त्वा नीलोत्पलं विष्णोर्नात्र कार्य्या विचारणा ॥
नीलोत्पल-शतं दत्त्वा वह्निष्टोम-फलं लभेत् ।
नीलोत्पल-सहस्रेण पुण्डरीकमवाप्नुयात् ॥
लक्षपूजां नरः कृत्वा राजसूय-फलं लभेत् ।

कुमुदस्य माहात्म्यम् ।

बिष्णुधर्म्मोत्तरे—

रूप्यमाषक-दानस्य फलं कुमुदतो भवेत् ।
कुमुदानां शतं दत्त्वा चन्द्र-लोके महीयते ॥
सहस्रञ्च तथा दत्त्वा यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ।
अश्वमेधमवाप्नोति लक्षपूजा-विधायकः ॥
रक्तोत्पल-प्रदे विष्णोस्तथा स्याद्द्विगुणं फलम् ॥ २० ॥

कदम्बस्य माहात्म्यम् ।

स्कान्दे, ब्रह्म-नारद-सम्बादे—

जातरूपनिभैर्विष्णुं कदम्ब-कुसुमैर्मुने !
येऽर्च्चयन्ति च गोविन्दं न तेषां सौरिजं भयम् ॥
कदम्बकुसुमैर्हृद्यैर्येऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम् ।
तेषां यमालयो नैव, न जायन्ते कुयोनिषु ॥ २१ ॥

भाषा टीका ।

करने से अग्निष्टोम-यज्ञ का फल मिलता है, हजार नील-कमल प्रदान करने से पुण्डरीक-यज्ञ का फल मिलसकता है और लक्ष द्वारा पूजा करने से राजसूय-यज्ञ का फल प्राप्त होता है। विष्णुधर्म्मोत्तर में कुमुद के विषय इस प्रकार लिखा है कि,—कुमुद-पुष्प प्रदान करने से एक माँसा चाँदी दान करने का फल मिलता है, एक सौ कुमुद-पुष्प निवेदन करने से, चन्द्र-धाम में सन्मान के सहित वास कर सक्ता है, सहस्र संख्यक प्रदान करने से इच्छानुरूप गति प्राप्त होती है और एक लक्ष द्वारा पूजा करने पर अश्वमेध-यज्ञ का फल मिलता है। हरि को लाल-कमल निवेदन करने से इसी प्रकार दूना फल होता है ॥ २० ॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म नारद सम्वाद में कदम्ब विषय में लिखा है कि,— हे तपोधन ! जो पुरुष काञ्चन-वर्ण के कदम्ब-पुष्प से हरि की पूजा करते हैं— उन को यम का भय नहीं रहता है। जो पुरुष मनोहर कदम्ब-पुष्प से हरि की पूजा करते हैं— उन को यमपुर में जाना नहीं पड़ता है और कुयोनि में भी देह धारण करना नहीं पड़ता है ॥ २१ ॥

किञ्च।— न तथा केतकी-पूष्पैर्मालती-कुसुमैर्न हि।
तोषमायाति देवेशः कदम्व-कुसुमैर्यथा॥
दृष्ट्वा कदम्व-पुष्पाणि प्रीतो भवति माधवः।
किं पुनः पुजितस्तैश्च सर्व्वकाम-प्रदो हरिः॥
यथा पद्मालयां प्राप्य प्रीतो भवति माधवः।
कदम्व-कुसुमं लब्धा तथा प्रीणाति लोककृत्॥
सकृत् कदम्व-पुष्पेण हेलया हरिरर्च्चितः।
सप्तजन्मानि देवेशस्तस्य लक्ष्मीरदूरतः॥
कदम्व-पुष्प-गन्धेन केशवो वा सुवासितः।
जन्मायुतार्ज्जितस्तेन निहतःपापसञ्चयः॥ २२॥

आषाढ़े विशेषः।

तत्रैव।— घनागमे घनश्यामः कदम्व-कुसुमार्च्चितः।
ददाति वाञ्छितान् कामान् शतजन्मानि सम्पदः॥
कदम्व-कुसुमैर्देवं घनवर्ण घनागमे।
येऽर्च्चयन्ति मुनिश्रेष्ठ! तैराप्तं जन्मनः फलम्॥

करवीरस्य माहात्म्यम्।

स्कान्दे,-श्रीशिवोमा सम्वादे—
करवीरैर्महादेवि! यः पूजयति केशवं।
दशसौवर्णकैः पुष्पैर्यत् फलं तदवाप्नुयात॥

भाषा टीका।

और भी लिखा है कि,—कदम्व-पुष्प से जिस प्रकार हरि का सन्तोष होता है, केतकी अथवा मालती पुष्प से वैसा नहीं होता। कदम्व-पुष्प के देखते ही हरि प्रसन्न होते हैं, सुतरां उसके द्वारा पूजित होने पर, जो किस प्रकार होते हैं वह और क्या कहूँ? तव वे सभी वासना पूर्ण करते हैं। लोक कि सृष्टि करने वाले माधव, कमला के पाने से जैसे प्रसन्न होते हैं,-कदम्व-पुष्प के पाने से भी वैसे ही प्रसन्न होते हैं। केवल एक वार मात्र कदम्व-पुष्प द्वारा अवहेला से भी जनार्दन की पूजा करने से, हरि और कमला सात जन्म तक उसके समीप अधिष्ठित रहते हैं। हरि को कदम्व-पुष्प द्वारा सुवासित करने से प्रभु दश हजार जन्म के पातक समूह ध्वंश कर देते हैं॥ २२॥

आषाढ़ मास में उस का माहात्म्य विशेष।—स्कंदपुराण में वर्णित है कि,—वर्षा ऋतु समागत होने पर यदि घनश्याम श्रीकृष्ण (मेघ की समान श्याम वर्ण) की कदम्व-पुष्प से पूजा की जाय तो, वे सौ जन्म तक प्रति जन्म की अभिलषित वासना सिद्ध करते हैं और सव प्रकार की सम्पत्ति देते हैं। हे तापस प्रवर! जो पुरुष वर्षा

करवीरैः सुरक्तैश्च यो विष्णुं सकृदर्च्चयेत् ।
गवामयुतदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥

तत्रैव,-ब्रह्म नारद सम्वादे—

येऽर्च्चयन्ति सुराध्यक्षं करवीरैः सितासितैः ।
चतुर्युगानि विप्रेन्द्र ! प्रीतो भवति केशवः ॥
सितरक्तैर्महापुण्यैः कुसुमैः करवीरजैः ।
योऽच्युतं पूजयेद्भक्त्या स याति गरुड़ध्वजम् ॥ २३ ॥

पुरन्ध्रि-पुष्पस्य माहात्म्यम् ।

पुरन्ध्रि-पुष्पैर्यः कुर्य्यात् पूजां मधुरिपोर्नरः ।
तस्य प्रसादमायाति देवश्चक्रगदाधरः ॥
रम्याः पुरन्ध्रि-मञ्जर्य्यो दयितास्तस्य नित्यशः ।
पुरन्ध्रि-पुष्पं यो दद्यादेकमप्यस्य मण्डले ॥
तिलप्रस्थ-प्रदानस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम् ।
पुरन्ध्रि-मञ्जरी-पुष्पैः सहस्रेणार्च्चयेद्धरिम् ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलमुद्धरते तथा ।
कर्पूर-पट-वासेन पुरन्ध्रिमधिवासिताम् ॥
महारजन रक्ते च तथा सूत्रे निवेशिताम् ।
मालां पुष्पसहस्रेण यः प्रयच्छति भक्तितः ॥
अश्वमेध-फलं तस्य नात्र कार्य्या विचारणा ।

भाषा टीका ।

ऋतु में देवदेव नीरद वर्ण श्रीकृष्ण की कदम्ब-पुष्प से पूजा करते हैं उन्हीं का जन्म सार्थक है। करवीर (कनेर) पुष्प के सम्वन्ध में स्कंदपुराण के शिव पार्वती सम्वाद में लिखा है कि,—हे महेश्वरि ! जो पुरुष कनेर के पुष्प से हरि की पूजा करते हैं, उन को दश स्वर्ण मुद्रा दान का फल होता है। जो पुरुष अत्यन्त लाल वर्ण के कनेर-पुष्प से एक वार मात्र हरि की पूजा करते हैं, उन को अयुत (दशहजार) गोदान का फल होता है। स्कंदपुराण के ब्रह्म नारद सम्वाद में लिखा है कि,—जो नर सफेद वा लाल कनेर से देव-देव हरि की पूजा करते हैं, हे विप्रेन्द्र ! चारों युग के अवसान (अंत) तक हरि उन पर सन्तुष्ट रहते हैं। अत्यन्त पवित्र सफेद वा लाल कनेर के पुष्प से भक्ति-सहित माधव की पूजा करने पर, अच्युत देव को प्राप्त कर सक्ता है ॥ २३ ॥

अनन्तर पुरान्ध्रि-पुष्प का विषय कहा जाता है। जो पुरुष पुरन्ध्रि-कुसुम से मधुसूदन की पूजा करते हैं, चक्र-गदापाणि-हरि उन पर प्रसन्न रहते हैं। रमणीय पुरन्ध्रि की मञ्जरी सदा ही हरि को सन्तुष्ट करती है। जो प्रभु के मण्डल में, केवल एक मात्र पुरन्ध्रि-कुसुम अर्पण करते हैं, उन को प्रस्थ परिमित तिल दान का फल मिलता है, इस में सन्देह नहीं। जो पुरुष हजार पुरन्ध्रि की मञ्जरी वा उस के पुष्प

शतेन वाजपेयस्य फलमाप्नोत्यसंशयम् ॥
लक्षपूजां तथा कृत्वा सर्व्वज्ञानमवाप्नुयात् ॥ २४ ॥

अगस्त्य-पुष्पस्य माहात्म्यम् ।

स्कान्दे,-ब्रह्म नारद सम्वादे—

अगस्त्य-कुसुमैर्देवं योऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम् ।
दर्शनात्तस्य देवर्षे ! नरकाग्निः प्रशाम्यति ॥
न तत् करोति विप्रेन्द्र ! तपसा तोषितो हरिः ।
यत् करोति हृषीकेशो मुनि-पुष्पैरलङ्कृतः ॥
मुनि-पुष्पकृतां मालां ये यच्छन्ति जनार्द्दने ।
देवेन्द्रोऽपि मुनिश्रेष्ठ ! कम्पते तस्य शङ्कया ॥

किञ्च,-तत्रैवान्यत्र—

मुनि-पुष्पकृतां मालां दृष्ट्वा कण्ठेविलम्बिताम् ।
प्रीतो भवति दैत्यारिर्दशजन्मनि नारद !
अगस्त्य-वृक्षसम्भूतैः कुसुमैरसितैः सितैः ।
येऽर्च्चयिष्यन्ति देवेशं संप्राप्तं परमं पदम् ॥ २५ ॥

विष्णुरहस्ये—

अगस्त्य सम्भवैः पुष्पैः किंशुकैः सुमनोहरैः ।
समभ्यर्च्य हृषीकेशं जन्मदुःखाद्विमुच्यते ॥

भाषा टीका ।

से जनार्दन की पूजा करता है, उस को अग्निष्टोम-यज्ञ का फल मिलता है और वह अपने कुल को उद्धार करता है। कुसुम-पुष्प से रंगे सूत्र से हजार पुरन्धि पुष्प गूँथकर कपूर चूर्ण से सुगन्धित करके माला भक्ति सहित हरि को प्रदान करने से अश्वमेध-यज्ञ का फल होता है, इस में कोई ही विचार न करे। एक सौ पुरंध्रि-पुष्प प्रदान करने से निःसन्देह वाजपेय-यज्ञ का फल होता है और लक्ष से पूजा करने पर सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

वक-पुष्प का विषय स्कन्दपुराण के ब्रह्म नारद सम्वाद में लिखा है कि,— हे नारद ! जो पुरुष बक-पुष्प से हरि की पूजा करते हैं, उन का दर्शन करने से नरकाग्नि निर्व्वापित होती है। हे विप्रसत्तम ! वक-कुसुम द्वारा विभूषित करने से, हरि जो करते हैं तपोनुष्ठान द्वारा प्रसन्न करने पर वह नहीं करते हैं। हे तापस श्रेष्ठ ! जो पुरुष केशव को वक-कुसुम की माला प्रदान करते हैं,— देवराज इन्द्र भी उन के भय से काम्पित होते हैं। इस पुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि,—अपने कण्ठ में वा भक्त के कण्ठ में वक-पुष्प रचित माला लम्बायमान देखने से हरि उस के प्रति दश जन्म तक सन्तुष्ट रहते हैं, जो पुरुष शुभ्र अथवा कृष्ण-वर्ण वक-कुसुम से देव-देव—जनार्दन की पूजा करते हैं,-उन को परम-पद मिलता है ॥ २५ ॥

विष्णुरहस्य में लिखा है कि,— पलाश-पुष्प की तुल्य मनोहर वक-पुष्प द्वारा माधव की पूजा करने

स्कान्दे,-तत्रैव — तत्र च कार्त्तिके विशेषः।

विहाय सर्व्वपुष्पाणि मुनि-पुष्पेण केशवम् ।
कार्त्तिके योऽर्च्चयेद्भक्त्या वाजिमेध-फलं लभेत् ॥ २६ ॥
मुनि-पुष्पार्च्चितो विष्णुः कार्त्तिके पुरुषोत्तमः।
ददात्यभिमतान् कामान् शशी सूर्य्यस्थितो यथा ॥ २७ ॥
गवामयुतदानेन यत् फलं प्राप्यते मुने !
मुनि-पुष्पेण चैकेन कार्त्तिके तत्फलं स्मृतम् ॥

पाद्मे,-कार्त्तिक माहात्म्ये च—

मुनि-पुष्पैर्यदि हरिः पूजितः कार्त्तिके नरैः।
मुनीनामेव गतिदो ज्ञानिनामूर्द्ध्वरेतसां ॥

केतकी-पुष्पस्य माहात्म्यम्। स्कान्दे,-तत्रैव—

केतकी-पुष्पकेणैव पूजितो गरुड़ध्वजः।
समाः सहस्रं सुप्रीतो जायते मधुसूदनः ॥
अर्च्चयित्वा हृषीकेशं कुसुमैः केतकोद्भवैः।
पुण्यं तद्भवनं याति केशवस्य रमालयम्॥ २८ ॥

किञ्च।— सुवर्णकेतकी-पुष्पं यो ददाति जनार्द्दने।
सुवर्ण-दानजं पुण्यं लभते स महामुने !

भाषा टीका।

पर, जन्म-दुःख से छुटकारा मिलता है। कार्त्तिक मास में वक-पुष्प दान का फल विशेष।— जो अन्यान्य पुष्प छोड़ कर केवल मात्र वक-पुष्प द्वारा कार्त्तिक मास में भक्ति-सहित हरि की पूजा करते हैं उन को अश्वमेध-यज्ञ अनुष्ठान करने का फल मिलता है ॥ २६ ॥

कार्त्तिक मास में वक-पुष्प द्वारा पूजित होने पर पुरुषप्रवर-हरि जिस प्रकार अमावस्या के दिन अर्चित होने पर फल देते हैं, वैसे ही अभिलषित विषय पूर्ण करते हैं। हे तापस ! दशहजार गो दान करने से जो फल मिलता है,—कार्त्तिक मास में केवल मात्र वक-पुष्प द्वारा पूजा करने पर वही फल प्राप्त हो सक्ता है। पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में लिखा है कि,— मनुष्य वक-पुष्प द्वारा कार्त्तिक-मास में जनार्द्दन की पूजा करने पर, प्रभु उन को ज्ञानी, ऊर्द्ध्वरेता और तापसों की गति दे देते हैं। केतकी-पुष्प का विषय स्कन्द-पुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,— केवल मात्र केतकी-पुष्प के द्वारा गरुड़-ध्वज हरि की पूजा करने पर ही, वे हजार-वर्ष तक पूजा करने वाले के प्रति सन्तुष्ट रहते हैं। केतकी-वृक्षोत्पन्न पुष्प द्वारा हरि की पूजा करने पर जिस स्थान में लक्ष्मी वास करती हैं उसी पवित्र विष्णु-धाम में गमन कर सक्ते हैं ॥ २८ ॥

और भी लिखा है कि,— जो पुरुष काञ्चन-वर्ण केतकी-पुष्प हरि को अर्पण करते हैं, हे महर्षे ! वे काञ्चन दान का पुण्य प्राप्त करते हैं, सूर्य्यदेव

विशेषतश्चाषाढ़े।

तत्रैव।— केशवः केतकी-पुष्पैर्मिथुनस्थे दिवाकरे।
येनार्च्चितः सकृद्भक्त्या स मुक्तो नरकार्णवात॥
केतकी-पुष्पमादाय मिथुनस्थे दिवाकरे।
येनार्च्चितो हरिर्भक्त्या प्रीतो मन्वन्तरं मुने!

श्रावणे,—माहात्म्य विशेषः।

कर्कराशि गते सूर्य्ये केतकी-पत्रकोमलैः।
येऽर्च्चयिष्यन्ति गोविन्दं संप्राप्ते दक्षिणायने॥
कृत्वा पापसहस्राणि महापाप-शतानि च।
तेऽपि यास्यन्ति विप्रेन्द्र! यत्र विष्णुः श्रिया सह॥ २९॥

कार्त्तिकेऽपि माहात्म्य विशेषः।

तत्रैव।— कार्त्तिके केतकीपुष्पं दत्तं येन कलौ हरेः॥
दीपदानञ्च देवर्षे! तारितं स्व-कुलायुतम्॥ ३०॥

कुन्दस्य माहात्म्यम्।

स्कान्दे तत्रैव—
अभ्यर्च्य कुन्द-कुसुमैः केशवं कल्मषापहम्।
प्रयाति भवनं विष्णोर्व्वन्दितं मुनि-चारणैः॥

भाषा टीका।

के मिथुन-राशि गत होने पर जो पुरुष केतकी-पुष्प ग्रहण करके भक्ति-सहित श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं, वे नरकार्णव से रक्षा पाते हैं। हे तापस! सूर्य्य के मिथुन राशिगत होने पर, जो पुरुप केतकी-पुष्प द्वारा भक्ति-सहित केशव की पूजा करते हैं, हरि एक मन्वन्तर तक उन के प्रति सन्तुष्ट रहते हैं। श्रावण-मास में केतकी का माहात्म्य।— हे विप्रसत्तम! दक्षिणायन समागत होने पर जिस समय सूर्य्य-देव कर्कट-राशि का आश्रय करते हैं, उस समय जो पुरुष केतकी-पुष्प द्वारा हरि की पूजा करते हैं, हजार हजार अथवा सौ सौ महा पापों से पातकी होने पर भी, वे जिस स्थान में हरि लक्ष्मी के सहित विराजमान रहते हैं, उसी लोक में गमन करते हैं॥ २९॥

कार्तिक मास में केतकी-पुष्प के दान का विषय।— जिस पुरुष ने कार्तिक मास में हरि को केतकी-पुष्प और दीप प्रदान किया है, उस ने अपने अयुत (दशहजार) कुल की रक्षा की है॥ ३०॥

कुन्द-पुष्प का माहात्म्य।—स्कन्दपुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,— कुन्द-पुष्प द्वारा पाप-नाशक हरि की पूजा करने पर, मनुष्य,—ऋषि और चारण गणों के पूजनीय—हरि-धाम में प्रस्थान करते हैं। दशमस्कन्ध के साक्षाद्भगवद्देश वर्णन में लिखा है कि,— गोपी गणोंने हरिणी-कुल की दृष्टि प्रसन्न देखकर श्रीहरि का दर्शन मिलने की संभावना करके कहा (अर्थात् जब गोपिकाओं ने हरणियों

दशमस्कन्धे च साक्षात् श्रीभगवद्देशवर्णने—

अप्येण पत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि! सुनिर्वृति मच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्द-स्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥ ३१॥

तथा।— कुन्ददामकृतकौतुकवेशो गोपगोधनवृतो यमुनायाम्॥
नन्दसूनुरनघे! तव वत्सो नर्म्मदः प्रणयिनां विजहार॥ ३२॥

पावन्ती-कुसुमस्य माहात्म्यम्। विष्णुपुराणे—

अर्च्चयित्वा हृषीकेशं पावन्ती-कुसुमैर्नरः।
हृष्टपुष्टगणाकीर्णं कार्ष्णं लोकमवाप्नुयात्॥ ३३॥

कर्णिकारस्य माहात्म्यम्।

तत्रैव।— कर्णिकारमयैः पुष्पैः कान्तैः कनकसुप्रभैः।
अर्च्चयित्वाच्युतं लोके तस्य लोके महीयते॥

दशमस्कन्धे च तथैव —

वर्हापीड़ं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम्

भाषा टीका।

के बड़ेबड़े नेत्रों को प्रसन्न देखा, तब उन्हों ने यह समझा कि,— इन्हें अवश्य ही कृष्ण का दर्शन लाभ हुआ होगा) हे हरिणपत्नीगण! हमारे हरि अपने सुन्दर मुख और बाहु इत्यादि द्वारा तुम्हारी दृष्टि की प्रीति विस्तार पूर्वक प्रिया सहित क्या निकटवर्त्ती हुए थे? क्यों कि,— इस स्थान में कान्ताङ्ग सङ्ग के कारण तदीय कुच-कुंकुम से अनुरञ्जिता श्रीहरि की कुन्द-पुष्प-माला की गन्ध आ रही है॥ ३१॥

और भी लिखा है कि,—श्रीशुकदेव जी ने कहा है,—हे राजन्! श्रीहरि इस प्रकार वृन्दावन-भूमि में क्रीड़ाकरते हुए सन्ध्या-काल में गोधन को लौटा कर, जिस समय कालिन्दी में क्रीड़ा करते हैं, गोपिका उस समय अपना सौभाग्य कीर्तन पूर्वक कहती हैं— हे यशोमति! तुम्हारे वत्स,-नन्दनन्दन-श्रीहरि गोपिकाओं के उत्साहार्थ कौतूहली होकर कुन्द-पुष्प की माला से सुशोभित हो, जिस समय क्रीड़ा करते हैं, उस समय मन्दमन्द समीरण चन्दन सदृश सुगन्ध और सुशीतल स्पर्श द्वारा उन का सन्मान करता हुआ अनुकूल रूप से वीजन करता है और गन्धर्व इत्यादि उपदेवता स्तुति-वादक होकर वाद्य, गीत और कुसुम वर्षणादि द्वारा सदा आराधना करते हैं॥ ३२॥

पावन्ती-कुसुम माहात्म्य।—विष्णुपुराण में लिखा है कि,— पावन्ती-पुष्प से हरि की पूजा करने पर, मनुष्य अन्तर्वाह्य आनंद-पूर्ण-पार्षदों से वेष्टित कृष्ण-धाम में जाते हैं॥ ३३॥

कर्णिका का माहात्म्य।— उक्त पुराण में ही लिखा है कि,— काञ्चन की समान दिव्य-कान्ति मनोहर कर्णिका के पुष्प से हरि की पुजा करने पर, उन के धाम में सन्मान सहित वास होता है। दशमस्कन्ध में लिखा है कि,— शुकदेव जी ने कहा था

विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ॥
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्त्तिः ॥ ३४ ॥

रक्तशतपत्रिकाया माहात्म्यम्। स्कान्दे,- तत्रैव—

कुङ्कुमारुणवर्णाभ्यां गन्धाढ्यां शतपत्रिकाम् ।
यो ददाति जगन्नाथे श्वेतद्वीपात् पतेन्नहि ॥

सेवन्ती-पलाश-पुष्पयोर्माहात्म्यम् ।

तत्रैव ।— सेवन्ती-कुसुमैः पुण्यैः किंशुकैः सुमनोहरैः ।
समभ्यर्च्य हृषीकेशं जन्मदुःखाद्विमुच्यते ॥

कुब्जस्य माहात्म्यम् ।

तत्रैव ।— गन्धाढ्यैर्विमलैर्वन्यैः कुसुमैः कुब्जकोद्भवैः ।
भक्त्याभ्यर्च्य हृषीकेशं श्वेतद्वीपे वसेन्नरः ॥

चम्पकस्य माहात्म्यम् ।

स्कान्दे,- तत्रैव—

नीलोत्पलसमं दानं चम्पकस्य जनार्द्दने ॥

तत्रैव,- ब्रह्म नारद- सम्वादे—

वर्षाकाले तु देवेशं कुसुमैश्चम्पकोद्भवैः ।
येऽर्च्चयन्ति नरा भक्त्या संसारे न पुनर्गतिः ॥

भाषा टीका।

हे नरपते ! किस प्रकार श्रीहरि के स्मरण में व्रजवालाओं का चित्त लुब्ध हुआ था, वह कहता हूँ सुनों—गोपिकाओं ने मन में समझा श्रीहरि नटवर-वेश धारण करके स्वीयपद-चिह्नित वृन्दावन में प्रविष्ट हुए उनके मस्तक पर मयूरपुच्छ-निर्मित मुकुट, दोनों कानों में कर्णिकार, परिधान में स्वर्णवत पीतवर्ण-वस्त्र और गले में वैजयन्ती-माला विराज मान है। वे स्वयं अधरामृत द्वारा वेणुरंध्र पूर्ण करते हैं और गोप गण उनके चारों ओर उन्हीं का यश गाते हैं ॥ ३४॥

रक्त-वर्ण शत-पत्रिका का माहात्म्य।— स्कन्द-पुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,— जो कुंकुम की समान अरुण वर्ण गन्धपूर्ण शत-पत्रिका (कमल) का पुष्प हरि को प्रदान करते हैं, उन को फिर श्वेत-दीप से पतित होना नहीं पड़ता। सेवन्ती और पलाश का माहात्म्य।— स्कन्द-पुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,— विशुद्ध सेवन्ती और मनोहर पलाश-पुष्प द्वारा जनार्दन की पूजा कर ने पर, पुरुष जन्म-दुःख से उत्तीर्ण हो जाता है। कुब्ज-पुष्प का माहात्म्य।—स्कन्दपुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,— मनुष्य गन्ध युक्त सफेद-वर्ण के कुब्ज-पुष्प द्वारा भक्ति-सहित जनार्दन की पूजा करने पर, श्वेत-द्वीप में वास कर सक्ते हैं। चम्पक माहात्म्य।— स्कन्दपुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,— हरि को चम्पक-पुष्प अर्पण करने पर नील-कमल अर्पण करने का फल मिलजाता है। उक्त पुराण के ब्रह्म नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—

अशोक-वकुलयोर्माहात्म्यम् । तत्रैव,-विष्णुरहस्ये च—

अशोक-कुसुमैरम्यैर्जन्म-शोक-भयापहम् ।
पूजयित्वा हरिं देवं याति विष्णुमनामयम् ॥

अन्यच्च,स्कान्दे,-तत्रैव—

वकुलाशोक-कुसुमैर्येऽर्च्चयन्ति जगत्पतिम् ।
ते वसन्ति हरेर्लोके यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

पाटलस्य माहात्म्यम् ।

तत्रैव ।— योऽर्च्चयेत् पाटलापुष्पैः सर्व्वपापहरं हरिम् ।
स पुण्यात्मा परं स्थानं वैष्णवं व्रजते ध्रुवम् ॥

यः पुनः पाटला-पुष्पैर्वसन्ते गरुड़ध्वजम् ।
अर्च्चयेत् परया भक्त्या मुक्तिभागी भवेद्धि सः ॥

तिलकस्य माहात्म्यम् । विष्णुरहस्ये—

तिलकस्योज्ज्वलैः पुष्पैः सम्पूज्य मधुसूदनम् ।
धूतपाप्मा निरातङ्कः कृष्णस्यानुचरो भवेत् ॥ ३५ ॥

जवाया माहात्म्यम् । विष्णुरहस्ये—

समुज्ज्लैर्जवा-पुष्पैरभ्यर्च्य जलशायिनम् ।
सुपुण्यां गतिमाप्नोति वीतभीर्वीतमत्सरः ॥

भाषा टीका ।

जो वर्षा ऋतु में चम्पक-पुष्प द्वारा भक्ति-सहित देव-देव हरि की पूजा करते हैं, उन को फिर संसार में देह धारण करना नहीं पड़ता । अशोक और वकुल-पुष्प का माहात्म्य ।— विष्णुरहस्य में लिखा है कि,— मनोहर अशोक-पुष्प द्वारा जन्मरहित, भय-नाशक, शोकरहित-देवदेव माधव की पूजा करने पर, रोग-रहित विष्णु-धाम में गति होती है। स्कन्द-पुराण के पूर्वोक्त स्थान में और भी लिखा है कि,— जो पुरुष वकुल-पुष्प और अशोक-पुष्प से विश्व-पतिकी पूजा करते हैं, चौदह इन्द्र के आधिपत्य काल तक विष्णु-धाम में उन का वास होता है। पाटल-पुष्प का माहात्म्य ।— स्कन्दपुराण के पूर्वोक्त स्थान में लिखा है कि,— जो पाटल-पुष्प से सर्वपाप नाशक हरि की उपासना करते हैं, वे पुण्यवान्, निःसन्देह हरि के परम-धाम में जाते हैं। जो पुरुष वसन्त-ऋतु में दृढ़-भक्ति-सहित पाटल-पुष्प से गरुड़ध्वज-हरि की पूजा करते हैं, उन को निःसन्देह मुक्ति प्राप्त होती है। तिल-पुष्प का माहात्म्य-विष्णुरहस्य में लिखा है कि,— शुक्ल - वर्ण तिल-पुष्प द्वारा सम्यक् विधि से हरि की पूजा करने पर, पाप हीन और भय रहित होकर श्रीहरि का अनुचर होता है ॥ ३५ ॥

जवा-पुष्प का माहात्म्य ।— विष्णुरहस्य में लिखा है कि,—शुक्ल-वर्ण जवा-कुसुम से जल शायी हरि की पूजा करने पर भय-रहित और मत्सर हीन होकर

जवापुष्पैः पुमान् भक्त्या सम्पूज्य पुरुषोत्तमम्।
उत्तमां गतिमाप्नोति प्रसन्ने गरुड़ध्वजे ॥

अटरूषकस्य माहात्म्यम्।

स्कान्दे, तत्रैव—
अटरूषक-पुष्पैर्यः पूजयेत जगतां पतिम् ॥
स पुण्यवान्नरो याति विष्णोस्तत् परमां गतिम् ॥ ३६ ॥

कुसुम्भस्य माहात्म्यम्।

तत्रैव।— कुसुम्भ-कुसुमैर्हृद्यैर्येऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम्।
तेषां ममालये वासः प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥ ३७ ॥

मल्लिकाया माहात्म्यम्।

स्कान्दे, तत्रैव—
मल्लिका-पुष्पजातीनां यूथिकायास्तथैव च।
तथा कुब्जकजातीनां फलस्यार्द्धं प्रकीर्त्तितम् ॥

तत्रैव, श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—
सुगन्धैर्मल्लिका-पुष्पैरर्च्चयित्वाच्युतं नरः।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो विष्णु-लोके महीयते ॥ ३८ ॥
मल्लिका-कुसुमैर्देवं वसन्ते गरुड़ध्वजम्।
योऽर्च्चयेत् परया भक्त्या दहेत् पापं त्रिधार्ज्जितम् ॥ ३९ ॥

भाषा टीका।

अत्यन्त विशुद्ध गति को प्राप्त होते हैं। जो पुरुष जवा-पुष्प से विधि-पूर्व्वक भक्ति-सहित गरुड़ध्वज हरि की पूजा करते हैं; उन के परितुष्ट होने से उक्त पुरुष भी परम-गति को प्राप्त होते हैं। अटरूषक माहात्म्य।—स्कन्द पुराण के पूर्व्वोक्त स्थान में लिखा है कि,—जो अटरूषक-पुष्प (अडूषा) से विश्व-पति की पूजा करते हैं, वे पुण्य-शील हरि के परम पद को प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

कुसुम्भ-कुसुम का माहात्म्य।—इसी पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष मनोहर कुसुम्भ-पुष्प (कसूम) से हरि की पूजा करते हैं, चक्रपाणि प्रभु की कृपा से मेरे (ब्रह्मा के) धाम में उन का वास होता है ॥ ३७ ॥

मल्लिका का माहात्म्य।—स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,—मल्लिका-जातीय-पुष्प, यूथिका-जातीय और कुब्ज-जातीय-पुष्प, का फल पूर्व्वकथित नील-कमल दान के आधे फल की समान कहा गया है। स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—मनुष्य सुगन्ध-पूर्ण मल्लिका-पुष्प द्वारा हरि की पूजा करता हुआ सब पापों से छूट, हरि-धाम में गमनपूर्व्वक सन्मान के सहित वहाँ वास करता है ॥ ३८ ॥

जो वसन्त-ऋतु में मल्लिका-पुष्प द्वारा दृढ़ा भक्ति के सहित जनार्दन की पूजा करते हैं, वे क्या शरीरोद्भव, क्या मनोजात, क्या वाक्य-सम्भूत;—यह तीन प्रकार के पातक भस्म करते हैं ॥ ३९ ॥

कुम्भी-पुष्पस्य माहात्म्यम् । स्कान्दे, तत्रैव—

कुम्भी-पुष्पन्तु देवर्षे ! यः प्रयच्छेज्जनार्द्दने ।
सुवर्णपलमात्रान्तु पुष्पे पुष्पे भवेन्मुने !

गोकर्णादीनां माहात्म्यम् । विष्णुरहस्ये—

गोकर्ण-नागकर्णाभ्यां तथा विल्लातकेन च ।
अर्च्चयित्वाऽच्युतं देवं देवानामाधिपो भवेत ॥
अञ्जली-वोतकीपुष्पैः कुष्माण्डातिमिरोद्भवैः ।
अलङ्कृत्वा नरः कृष्णं कृतार्थो हरि-लोकभाक् ॥

दूर्व्वादि पुष्पाणां माहात्म्यम् । स्कान्दे, तत्रैव—

गृह-दूर्व्वामयैः पुष्पैस्तथा काश-कुशोद्भवैः ।
भूधरं समलङ्कृत्य विष्णु-लोके व्रजेन्नरः ॥

विष्णुरहस्ये च—

शर-दूर्व्वामयैः पुष्पैस्तथा काश-कुशोद्भवैः ।
भुवनेशमलङ्कृत्य विष्णु-लोके व्रजेन्नरः ॥ इति ॥
वर्ण-भेदेन पुष्पाणां फल-भेदश्च दर्शितः ।
तथा तेषाञ्च सर्व्वेषां मालाया महिमाधिकः ॥

तथा च स्कान्दे, विष्णुधर्म्मोत्तरे च—

श्वेतैः पुष्पैः समभ्यर्च्च्य नरो मोक्षमवाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयाल्लोके पीतैर्देवं समर्च्चयन् ॥
शत्रूणामभिचारेषु तथा कृष्णैः प्रपूजयेत् ।

भाषा टीका ।

कुम्भी-पुष्प का माहात्म्य ।—उक्त स्कन्द-पुराण मे ही वर्णित है कि,—हे नारद ! जो पुरुष हरि को कुम्भी-पुष्प (पारुल) अर्पण करते हैं, प्रत्येक पुष्प में वे एक पल परिमित काञ्चन दान का फल पाते हैं। गोकर्ण-माहात्म्य ।-विष्णुरहस्य में लिखा है कि,—गोकर्ण नागकर्ण और विल्लातक (वहेड़े के) कुसुम-द्वारा हरिकी पूजा करने पर देवता ओं का अधिपति हो जाता है। अञ्जली, वोतकी, कुष्माण्ड और तिमिरा-पुष्प से जनार्द्दन को अलङ्कृत करने पर, मनुष्य कृत-कृत्य होकर गोलोक-धाम में जाता है। दूर्व्वादि का माहात्म्य ।—स्कन्द-पुराण में ही कहा है कि,—गृह में उपजी दूर्व्वा-पुष्प, काश-पुष्प और कुश-पुष्प द्वारा हरि को विभूषित करने पर, मनुष्य हरि-धाम में जाता है । विष्णुरहस्य में लिखा है कि,—शर-पुष्प (राम वान) दूर्व्वा-पुष्प, काश-पुष्प और कुश-पुष्प द्वारा भुवनपति हरि को विभूषित करने पर, मनुष्य हरि-धाम में प्रस्थान करते हैं । वर्ण-विशेष में पुष्पों का भी फल-भेद दिखाया गया है और इन सब पुष्पों की माला गूँथ कर प्रदान करने पर, महिमा की अधिकता होती है, यह भी दिखाया गया । स्कन्द-पुराण और विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—पुरुष

विष्णुरहस्ये च—

स्वर्ण-लक्षाधिकं पुष्पं माला कोटिगुणाधिका।
दत्ता भवति कृष्णाय नरैर्भक्तिसमन्वितैः॥ इति॥
मल्लिकान्तु दिवा-रात्र्योर्नक्तं चम्पक-यूथिके।
नन्द्यावर्त्तं चार्द्धरात्रे मालतीं प्रातरेव हि॥
इतराणि च पुष्पाणि दिवा भगवतेऽर्पयेत्।
एवं केचिच्च मन्यन्ते पूजाविधि-विशारदाः॥

किञ्च।— प्रहरं तिष्ठते जाती करवीरमहर्न्निशम्।
जलजं सप्तरात्राणि षण्मासन्तु वकं तथा॥ इति॥
अवचायोत्तरे काले ज्ञेयमेतद्विचक्षणैः॥ ४०॥

अथ पुष्प-मण्डपादि।

पुष्पाणां मण्डपं छत्रं वितानं वैष्णवोत्तमः।
दोलादिकञ्च निर्म्माय श्रीकृष्णाय समर्पयेत्॥

अथ पुष्प-मण्डप-माहात्म्यम्।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

कृष्ण-वेश्मनि यः कुर्य्यात् सुरूपं पुष्प-मण्डपम्।
स पुष्पक-विमानैस्तु कोटिभिः क्रीड़ते दिवि॥

तत्रैव,स्कान्दे च—

कृत्वा पुष्प-गृहं विष्णोः पुष्पैर्व्वा तद्वितानकम्।
फलेन योगमायाति राजसूयाश्वमेधयोः॥

भाषा टीका।

शुभ्र-वर्ण-पुष्प से हरि की पूजा करने पर, मुक्ति पाता है। पीत-वर्ण के पुष्प से हरि की पूजा करने पर, संसार में उस की सब कामना पूर्ण होती हैं। शत्रु के प्रति अभिचार की इच्छा करने वाले पुरुष कृष्ण-पुष्प से पूजा करे। विष्णुरहस्य में लिखा है कि,—लक्ष स्वर्ण मुद्रा दान न करके, भक्ति-सहित पुष्प दान करने पर, फल की अधिकता है। और पुष्प की माला गूँथ कर देने से करोड़ गुण की अपेक्षा भी अधिक फल होता है। क्या दिन, क्या रात्रि, सभी समय में हरि को मल्लिका-पुष्प दे सक्ता है। रात्रि में यूथिका (जुही) आधी-रात में नन्द्यावर्त्त और केवल मात्र प्रभात में मालती-पुष्प निवेदन कर सक्ता है। अन्यान्य समस्त पुष्प दिन में ही प्रदान करने चाहिये। किसी किसी पूजा-विचक्षण महात्मा ने इस प्रकार निर्देश किया है। और भी लिखा है कि,—जाती एक प्रहर, कनेर अहोरात्र, पद्म सात रात्र और वक-पुष्प छै मास तक रहाता है। पुष्प-सञ्चय करने के अन्तर यह नियम समझना चाहिये॥ ४०॥

अथ पुष्प-मण्डपादि।—वैष्णव-प्रधान पुरुष; कुसुम का मण्डप, छत्र, वितान और झूला आदि प्रस्तुत कर श्रीहरि को प्रदान करे। पुष्प-मण्डप का माहात्म्य,—विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—जो पुरुष हरि-मन्दिर में मनोहर कुसुम-मण्डप की रचना करते हैं, वे पुष्प-रचित विमान में चढ़, सुर-पुर गमन-पूर्व्वक क्रीड़ा

तत्रैव, श्रीशिवोमा-सम्वादे—

केशवोपरि यः कुर्य्याच्छत्रं वा पुष्प-मण्डपम् ।
पुष्पैस्तन्मञ्चकं वापि तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥
प्राप्तैश्वर्य्यो महाभोगैः क्रीडा-रति-समन्वितैः ।
नित्यन्तु मोदते स्वर्गे स नरो नात्र संशयः ॥

विशेषतः कार्त्तिके ।

स्कान्दे; श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—

मालती-मालया येन कार्त्तिके पुष्प-मण्डपम् ।
केशवस्य गृहे चक्रे न मया विदितं फलम् ॥ ४१ ॥

अथ सुवर्णादिपुष्पाणि ।—

स्वर्ण-रत्नादि-पुष्पैश्च भगवन्तं समर्च्चयेत ।
न च निर्म्माल्यतां यान्ति तानि तन्मुहुरर्पयेत ॥

तथा चोक्तं देव्या—

न निर्माल्यं हेमपुष्पमर्पयेदर्पितं सदा ॥ ४२ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे, स्कान्दे च—

कृत्रिमाण्यनुलेपानि गन्धनातिसुगन्धिना ।
धूपेन पटवासेन चन्दनाद्यनुलेपनैः ॥ ४३ ॥

भाषा टीका ।

करते हैं। विष्णुधर्म्मोत्तर और स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,—पुष्प-द्वारा हरि-मन्दिर और तत्रस्थ शय्या की रचना करने पर, राजसूय-यज्ञ और अश्वमेध-यज्ञ का फल मिल जाता है। इसी स्कन्द-पुराण के शिव-पार्व्वती—सम्वाद में लिखा कि,— जो माधव के उपरी-भाग में कुसुम छत्र वा कुसुम-मण्डप अथवा उन के लिये पर्य्यङ्क प्रस्तुत करते हैं; उन के पुण्य की बात कहता हूँ,—वे पुरुष ऐश्वर्य्य, अनेक प्रकार के उत्तम भोग, क्रीड़ा और विहार भोगकर नित्य सुर-पुर में वास करते हैं, इस में सन्देह नहीं। कार्त्तिक मास में फल-विशेष।— स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—जिन्हों ने मालती—पुष्प से कार्त्तिक मास में हरि-मन्दिर में मण्डप प्रस्तुत किया है, उनको जो फल मिलता है, मैं उसको नहीं जानता ॥ ४१ ॥

अथ सुवर्णादि पुष्प।—स्वर्णनिर्म्मित और रत्नादि-निर्म्मित-पुष्प से भगवान् की पूजा करे, यह सब पुष्प निर्म्माल्यता को प्राप्त नहीं होते, वे दूसरी बार निवेदन किये जाते हैं। भगवती ने भी कहा है कि,—सुवर्ण-पुष्प निर्म्माल्यता को प्राप्त नहीं होते, वे निवेदित होकर भी वारम्बार प्रदान किये जा-सक्ते हैं ॥ ४२ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर और स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,—अत्यन्त सुगन्धि गन्ध-द्रव्य, धूप, पटवास [कर्पूर-चूर्ण] और चन्दनादि अनुलेपन सामग्री के सहित कृत्रिम (स्वर्णादि निर्म्मित) पुष्प निवेदन करे ॥ ४३ ॥

अथ स्वर्ण-पुष्पादि-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ।— स्वर्णपुष्पार्च्चितो यस्य गृहे तिष्ठति केशवः ।
तस्यैव पाद-रजसा शुद्ध्यति क्षिति-मण्डलम् ॥ ४४ ॥
सुवर्णपुष्पैरभ्यर्च्च्य राजसूय-फलं लभेत् ।
रत्नैर्देवमथाभ्यर्च्च्य राजा भवति भूतले ॥

तत्रैव, श्रीशिवोमा-सम्वादे—
पुष्पजातिषु सर्व्वासु सौवर्ण-पुष्पमुत्तमम् ॥ इति ॥४५ ॥
एवमुक्तैरनुक्तैश्च शोभाढ्यैर्व्वा सुगन्धिभिः ।
संपूज्यो भगवान् पुष्पैर्न निषिद्धैस्तु दुःखदैः ॥ ४६ ॥

अथ निषिद्धानि पुष्पाणि ।

तत्र सामान्यतः; विष्णुधर्म्मोत्तरे—
श्मशानचैत्यद्रुमजं भूमौ वापि निपातितम् ।
कलिका च न दातव्या देव-देवस्य चक्रिणः ॥
शुक्लान्यवर्णकुसुमं न देयञ्च तथा भवेत् ।
सुगन्धि शुक्लं देयं स्याज्जातं कण्टकिनो द्रुमात् ॥
दत्त्वा कण्टकि-सम्भूतमनुक्तं परिभूयते ।
अनुक्त-रक्तकुसुमादसौभाग्यमवाप्नुयात् ॥
उग्रगन्धि तथा दत्त्वा नित्यमुद्वेगमाप्नुयात् ।
अगन्धि दत्त्वा वाप्नोति ह्यशुभं परमं नरः ॥

भाषा टीका ।

सुवर्ण पुष्पादि का माहात्म्य ।—स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—जनार्द्दन-देव जिस के घर सुवर्ण पुष्पादि से पूजित होकर अधिष्ठान करते हैं, उस के पैरों की धूलि से पृथ्वी-मण्डल पवित्र होता है ॥ ४४ ॥

स्वर्ण-पुष्प द्वारा श्रीहरि की पूजा करने पर राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान करने का फल मिलता है और रत्नमय पुष्प से पूजा करने पर, पृथ्वी-पति हो सक्ता है। इसी पुराण के शिव-पार्व्वती—सम्वाद में लिखा है कि,—सर्व्व-पुष्प-जाति में स्वर्ण-पुष्प ही सब से प्रधान है ॥ ४५ ॥

जिन सब पुष्पों का विषय लिखा गया है और जो अलिखित हैं, सुदृश्य (देखने में सुन्दर) और सुगन्धियुक्त होने पर, वे सब भी हरि को अर्पण करे । किन्तु सब निषिद्ध पुष्प वा जिन के अर्पण करने से, वे भगवान् को क्लेशदायक हों, उन को प्रदान न करे ॥ ४६ ॥

अथ निषिद्ध पुष्प ।—विष्णुधर्म्मोत्तर में सामान्यतः लिखा है कि,—श्मशान-वृक्षोत्पन्न अथवा चैत्य * वृक्षोत्पन्न-पुष्प, भूमि में गिरा हुआ पुष्प और कलियं;—यह सब-देव देष जनार्द्दन को प्रदान न करे । सफेद-

* चैत्यवृक्ष—जिस का थाँवला आदि बनाकर पूजा करी गई है ।

तत्रैव तृतीयकाण्डे—

उग्रगन्धीन्यगन्धीनि कुसुमानि न दापयेत।
अन्यायतनजातानि कण्टकीनि तथैव च ॥ ४७ ॥
रक्तानि यानि धर्म्मज्ञाश्चैत्यवृक्षोद्भवानि च।
यानि श्मशानजातानि तथा चाकालजानि च।
दानं विवर्जयेद्यत्नात् पुष्पाणामप्यगन्धिनाम् ॥

नारदीये राक्षसी-शपथे—

पारक्यारामजातैश्च कुसुमैरर्च्चयेत सुरान्।
तेन पापेन लिप्येयं यद्येतदनृतं वदे ॥

ज्ञानमालायाम्—

कलिकाभिस्तथा नेज्यं विना चम्पकजैः शुभैः।
शुष्कैर्न पूजयेद्विष्णुं पत्रैः पुष्पैः फलैरपि ॥ इति ॥ ४८ ॥
जाति-यूथ्योस्तथा मल्ली-नवमालिकयोरपि।
कलिकाभिर्हरेर्भक्तैः सौरभ्यात् कैश्चिदिष्यते ॥

विष्णुरहस्ये—

न शुष्कैः पूजयेद्विष्णुं कुसुमैर्न महीगतैः।

भाषा टीका।

वर्ण के अतिरिक्त अन्यवर्ण का पुष्प प्रदान न करे। कण्टकवृक्षोत्पन्न-पुष्प—शुभ्रवर्ण और सुगन्धि-पूर्ण होने पर प्रदान कर सक्ता है। जिन सब कण्टकवृक्षोत्पन्न-पुष्प-दान की विधि निर्दिष्ट हुई है; उन के अतिरिक्त प्रदान करने से दुःख प्राप्त होता है। जो सब रक्त-पुष्प लिखे गये हैं—उन के अतिरिक्त अन्य रक्तवर्ण के पुष्प देने से दारिद्र आदि प्राप्त होता है। मनुष्य; तीव्रगन्धपूर्ण पुष्प प्रदान करने पर, नित्य उद्विग्न रहता है, और गन्धविहीन पुष्प अर्पण करने से अत्यन्त अमङ्गल होता है। विष्णुधर्म्मोत्तर के तीसरे काण्ड में लिखा है कि,—तीव्रगन्धपूर्ण वा गन्ध-विहीन पुष्प निवेदन न करे, तथा दूसरे के घर में उत्पन्न हुआ और कण्टकी-वृक्षोत्पन्न पुष्प भी प्रदान न करे ॥ ४७ ॥

हे धर्म्मनिष्ठगण! रक्तवर्ण-पुष्प, चैत्यवृक्षोत्पन्न-पुष्प, श्मशानक्षेत्रोत्पन्न-पुष्प, अकालोत्पन्न-पुष्प और गन्ध-विहीन-पुष्प प्रदान न करे। नारदपुराण में राक्षसी की शपथ में लिखा है कि,—मैं यदि मिथ्या कहूँ; तो—अन्य पुरुषों के उद्यानोत्पन्न पुष्प-द्वारा देवता की पूजा करने से जो पाप होता है,—मैं भी उसी पाप में लिप्त हूँ। ज्ञानमाला में लिखा है कि,—चम्पक और कमल के अतिरिक्त अन्य पुष्प की कलियों से पूजा न करे एवं सूखा पत्ता वा सूखे फूल से भी पूजा न करे ॥ ४८ ॥

जाती, यूथी, मल्लिका, और नवमल्लिका;—इन सब पुष्पों के कलियों की गन्ध भी अति उत्तम, इस कारण कोई

नाविशीर्णदलैः क्लिष्टैर्न चैवाशुविकासितैः ॥ ४९ ॥

पाद्मे — कीट-कोषोपविद्धानि शीर्ण-पर्य्युषितानि च ।
वर्ज्जयेदूर्णनाभेन वासितं यदि शोभनम् ॥
गन्धवन्त्यपवित्राणि उग्रगन्धीनि वर्ज्जयेत् ॥ ५० ॥
गन्धहीनमपि ग्राह्यं पवित्रं यत् कुशादिकम् ॥

वैहायसपञ्चरात्रे—

चतुष्पथ-शिवावास-श्मशानावनि-मध्यतः ।
सुगन्धिफल-पुष्पाणि नाददीतार्च्चने हरेः ॥ ५१ ॥

स्कान्दे श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—

न विशीर्णदलैः श्लिष्टैर्नाशुभैर्नाविकासिभिः ।
पूतिगन्ध्युग्रगन्धीनि अम्लगन्धीनि वर्ज्जयेत् ॥ ५२ ॥
कीट-कोषोपविद्धानि शीर्ण-पर्य्युषितानि च ।
भग्नपत्राश्च न ग्राह्यं कृमि-दुष्टं न चाहरेत् ॥
वर्ज्जयेदूर्णनाभेन वासितं यदि शोभनम् ।
स्थलस्थं नोद्धरेत् पुष्पं छेदयेज्जलजं न तु ॥

भाषा टीका ।

कोई भक्त उस के निवेदन करने का मत देते हैं । विष्णुरहस्य में लिखा है कि,—शुष्क, पृथ्वी में गिरने पर जिस का दल खिला न हो, जो क्लिष्ट (आघातप्राप्त) और जो वलपूर्व्वक विकसित है, ऐसे पुष्प से भगवान् की पूजा करनी उचित नहीं है ॥ ४९ ॥

पद्मपुराण में लिखा है कि;—जो कीट-कोषोपविद्ध अर्थात् जिन में कीड़ों के घोंसले लगे हैं,—ऐसा दूषित, जो शीर्ण (मलीन) है, जो वासी और जो ऊर्णनाभ से अधिवासित हैं—ऐसे पुष्प उत्तम-होने से भी उस से पूजा न करे । अपवित्र सुगन्धि-पुष्प वा तीव्रगन्धि-पुष्प प्रदान करना भी अनुचित है ॥ ५० ॥

कुशादि गन्धहीन होने पर भी पवित्र है,—इस कारण वह निवेदन कर सक्ता है । वैहायस पञ्चरात्र में लिखा है कि,—हरि की पूजा के लिये चौराय, महादेव के वासस्थान और श्मशान-भूमि से सुगन्धिपूर्ण फल पुष्प भी ग्रहण न करे ॥ ५१ ॥

स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—जिन पुष्पों का दल मुरझाया हुआ है, जिन का दल परस्पर संलग्न है, जो अशुद्ध वा जो अविकसित हैं अर्थात् खिले नहीं हैं,—उन सब से पूजा न करे । एवं दुर्गन्धपूर्ण, तीव्रगन्धयुक्त और अम्ल-गन्धयुक्त-पुष्प भी प्रदान न करे ॥ ५२ ॥

कीट-कोषोपविद्ध अर्थात् जिस पुष्प के भीतर कीड़ों का घोंसला विद्यमान है, जो शीर्ण, वासी, भग्नपत्र और कृमि-द्वारा दूषित हैं,—उन सब को ग्रहण न करे । जिस पुष्प में ऊर्णनाभ अवस्थिति करता है,—वह उत्तम होने पर भी त्याग देवे । स्थल में उत्पन्न हुए पुष्प जड़ से न उखाड़े और

यानि स्पृष्टानि चास्पृश्यैर्लोकायुक्तैश्च वर्ज्जयेत् ॥ ५३ ॥

अत्रापवादः ।

ज्ञानमालायाम्—

न पर्य्युषित-दोषोऽस्ति जलजोत्पलचम्पके ।
तुलस्यगस्त्य-वकुले विल्वे गङ्गा-जले तथा ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे च—

न गृहे करवीरस्थैः कुसुमैरर्च्चयेद्धरिम् ।
पतितैर्मुकुलैर्म्लानैः श्वासैर्वा जन्तु-दूषितैः ।
आघ्रातैरङ्ग-संस्पृष्टैर्दूषितैश्चैव नार्च्चयेत ॥ ५४ ॥

अथ विशेषतो निषिद्धानि ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे तृतीयकाण्डे—

क्रकरस्य च पुष्पाणि तथा धुस्तूरकस्य च ।
कृष्णश्च कूटजं चार्कं नैव देयं जनार्द्दने ॥ ५५ ॥

किञ्चान्यत्र—

नार्कं नोन्मत्तकं झिण्टिं तथैव गिरिकर्णिकाम् ।
न कण्टकारिका-पुष्पमच्युताय निवेदयेत् ॥
कूटजं शाल्मली-पुष्पं शिरीषञ्च जनार्द्दने ।
निवेदितं भयश्चोग्रं निःसत्त्वञ्च प्रयच्छति ॥

भाषा टीका ।

जलज-पुष्प को छेदन नहीं करना चाहिये । जिन पुष्पों से अस्पृश्य अथवा लोक-विगर्हित वस्तु वा मनुष्य का स्पर्श हुआ है,—उन को त्याग देना ही उचित है ॥ ५३ ॥

इस विषय की विशेष व्यवस्था ।—ज्ञानमाला में लिखा है कि,—पद्म, उत्पल, चम्पक, तुलसी, वक, और वकुल-पुष्प तथा वेल-पत्र और गङ्गा-जल बासी होने पर भी दोष नहीं होता । विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—गृहस्थित सफेद वा लाल कनेर के वृक्षोत्पन्न पुष्प-द्वारा श्रीहरि की पूजा न करे । भूमि में गिरा हुआ अविकसित, मलीन, वास से दूषित, जन्तु ओं के द्वारा दूषित, आघ्रात अर्थात् सूंघा हुआ, शरीर से मला हुआ अथवा गर्हित—इन सब पुष्पों से भी पूजा करना निषिद्ध है ॥ ५४ ॥

अथ विशेषतः निषिद्ध पुष्प ।— विष्णुधर्म्मोत्तर के तीसरे काण्ड में लिखा है कि,—धतूरा कृष्णवर्ण-कूटज और आक—यह सब पुष्प हरि को प्रदान न करे ॥ ५५ ॥

अन्यत्र भी लिखा है कि,—आक, धतूरा, झिण्ट गिरिकर्णिका और कण्टकारि (कटेली वा कटैया) का पुष्प हरि को प्रदान न करे । कूटज, शाल्मली (सैमल) और सिरिस का पुष्प हरि को प्रदान करने से महाभय उत्पन्न होता है और दुर्व्वलता का संचार होता है ॥ स्कन्द-पुराण के उक्त स्थान में ही लिखा

स्कान्दे तत्रैव —

येऽर्च्चयन्ति त्रिलोकेशमर्कपुष्पैर्जनार्द्दनम् ।
तेभ्यः क्रुद्धो भयं दुःखं क्रोधं विष्णुः प्रयच्छति ॥
उन्मत्तकेन ये मूढ़ाः पूजयन्ति त्रिविक्रमम ।
उन्मादं दारुणं तेभ्यो ददाति गरुड़ध्वजः ॥
काञ्चनावयवैः पुष्पैर्येऽर्च्चयन्त्यसुरद्विषम् ।
दारिद्र्यदुःखवहुलं तेषां विष्णुः प्रयच्छति ॥
गिरिकर्णिकया विष्णुं येऽर्च्चयन्त्यवुधा नराः ।
तेषां कुल-क्षयं घोरं कुरुते मधुसूदनः ॥ इति ॥ ५६ ॥

अथ पुष्प-ग्रहण-कालादि ।

मध्याह्ने स्नानमाचर्य्य कुसुमैस्तु समाहृतैः ।
नैव सम्पूजयेद्विष्णुं यन्निषिद्धानि तान्यपि ॥ ५७ ॥

तथा च स्कान्दे—

तत्रैव ।— स्नानं कृत्वा तु यत्किञ्चित् पुष्पं गृह्णन्ति वै नराः ।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति पितरः खलु वै द्विज !
ऋषयस्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत् ॥ इति ॥ ५८ ॥

कुसुमानामलाभे तु चौर्य्यादानं न दुष्यति ।
देवतार्थन्तु कुसुममस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ५९ ॥

भाषा टीका ।

है कि,— जो पुरुष आक के पुष्प से त्रिलोक-पति हरि की पूजा करते हैं, हरि कुपित होकर उन को भय, कष्ट और शास्ति (दुःख आदिका शाशन) प्रदान करते हैं। जो मूर्ख धतूरे के पुष्प से पूजा करते हैं, गरुड़ध्वज जनार्द्दन उन को भयंकर उन्माद रोग प्रदान करते हैं। जो पुरुष कांचनाकृति पुष्पों से दैत्यनिसूदन-केशव की पूजा करते हैं, हरि उन को अनेक प्रकार का दारिद्र दुःख प्रदान करते हैं। जो गिरिकर्णिका [अपराजिता] के पुष्प से माधव की पूजा करते हैं, हरि भयंकर रूप से उन के वंश का नाश करते हैं ॥ ५६ ॥

अथ पुष्प ग्रहरण का कालादि ।— मध्याह्न काल में स्नान के पीछे लाये हुए पुष्प से और निषिद्ध पुष्प से हरि की पूजा न करे ॥ ५७ ॥

स्कन्दपुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,— हे विप्र ! स्नान के पीछे जो पुष्प चयन किये जाते हैं, देवता, पितृ और ऋषि कभी उनको ग्रहण नहीं करते; वे काष्ठ की समान भस्मीभूत हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

यदि पुष्प प्राप्त न हो-तो चोरी करके भी ला सक्ता है, इस में दोष नहीं है। मनुजी कह गये हैं कि,— देवता के लिये पुष्प चुराने से चोरी में नहीं गिना जाता ॥ ५९ ॥

तथा कौर्म्मे श्रीव्यास-गीतायाम्—

पुष्पे शाकोदके काष्ठे तथा मूले फले तृणे ।
अदत्तादानमस्तेयं मनुः प्राह प्रजापतिः ॥ ६० ॥
ग्रहीतव्यानि पुष्पाणि देवार्च्चनविधौ द्विजाः !
नैकस्मादेव नियतमननुज्ञाप्य केवलम् ॥ इति ॥ ६१ ॥
विहितेषु निषिद्धानां विहितालाभतो मतम् ।
कुसुमानामुपादानं निषिद्धानां न कर्हिचित् ॥ ६२ ॥
विहितप्रतिषिद्धैस्तु विहितालाभतोऽर्च्चयेत् ॥६३ ॥

निषिद्धपुष्पसंग्रह-श्लोकौ ।—

क्लिष्टं पर्य्युषितञ्च भूमिपतितं छिद्रञ्च कीटान्वितं
यत् केशोपहतञ्च गन्धरहितं यच्चोग्रगन्धान्वितम् ।
हस्ते यद्विधृतं प्रणाम-समये यद्वामहस्ते कृतं
यच्चान्तर्जलधौतमर्च्चन-विधौ पुष्पञ्च तद्वर्ज्जयेत् ॥
भङ्क्त्वा यद्विटपादिकं क्षितिरुहं चोत्पाद्य यच्चाहृतं
यच्चाक्रम्य समाहृतं तदखिलं पुष्पं भवत्यासुरम् ।
चौर्य्याकृष्टमनुक्तिदुष्टमशुचिस्पृष्टं यदप्रोक्षितं
यच्चाघ्रातमधोऽम्बरे विनिहितं क्रीतञ्च तद्वर्ज्जयेत् ॥
पत्राणि चार्पयेद्दूर्व्वाअङ्कुरानपि भक्तितः ।
किन्तु श्रीतुलसीपत्रं सर्व्वत्रैव विशेषतः ॥

भाषा टीका ।

कूर्म्मपुराण की व्यास गीता में लिखा है कि,—प्रजापति मनुने कहा है,— पुष्प, शाक, जल, काष्ठ, मूल, फल, और तृण,—यह सब वस्तु किसी के प्रदान न करने पर भी यदि लाइ जांय,— तो वह चोरी करना नहीं होता है ॥ ६० ॥

हे विप्रगण ! पूजा के लिये केवल एक पुरुष के उद्यान से विना अनुमति सर्वदा पुष्प ग्रहण न करे ॥६१॥

शास्त्र विहित पुष्प प्राप्त न होने पर, निषिद्ध पुष्प भी ग्रहण कर सकता है, किन्तु जो सब पुष्प एक वार ही निषिद्ध हैं, वे ग्रहण के योग्य नहीं हैं ॥ ६२ ॥

विहित पुष्प के अभाव में निषिद्ध पुष्प से पूजा करे ॥ ६३ ॥

निषिद्ध-पुष्प लाने के विषय में दो श्लोक हैं यथा,— सूखा वा दलित, वासी, भूमि में गिरा हुआ, छिद्रयुक्त, कीटयुक्त, केश से दूषित, गन्ध-हीन, उग्र-गन्धयुक्त, और जिस पुष्प को हाथ में लेकर प्रणाम किया है और जो जल में डुबाकर धोया गया है,— ऐसे पुष्प पूजा के विषय में त्याग देवे । शाखा इत्यादि तोड़ कर, वृक्ष उखाड़ कर, और उस पर चढ़ कर, जो पुष्प लाये जाते हैं, वे सब असुर-ग्राह्य हैं, अर्थात् असुरों के ग्रहण करने योग्य हैं । चोरी से संगृहीत, अधिकारी से छिपाकर लाये हुए, अपवित्र-वस्तु से छुए हुए, अप्रोक्षित, सूंघे हुए, अधोवस्त्र (धोती इत्यादि) में रक्खे हुए अथवा मोल लिये पुष्प त्याग

अथ पत्राणि ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

पुष्पाभावेन यो दद्यादत्र दूर्व्वाङ्कुरानपि ।
सोऽपि पुण्यमवाप्नोति पुष्पदानस्य वै द्विजाः !
पुष्पाभावे हि देयानि पत्राण्यपि जनार्द्दने ।
पत्राभावे पयो देयं तेन पुण्यमवाप्नुयात् ॥

निवेद्य भक्त्या मधुसूदनाय द्रुम-च्छदं वाप्यथ सत्तमप्रसूनम् ।
दूर्व्वाङ्कुरं वा सलिलं द्विजेन्द्राः ! प्राप्नोति तत्तन्मनसा यथेच्छति ॥ ६४ ॥

तत्रैव,तृतीयकाण्डे ।

भृङ्गराजस्य विल्वस्य वक-पुष्पस्य च द्विजाः !
जम्ब्वाम्रवीजपूराणां पत्राणि विनिवेदयेत् ॥
एतेषामपि चैकस्य पत्रदानं महाफलम् ।
पत्राणि स-सुगन्धीनि पल्लवानि मृदूनि च ॥
तेन पुण्यमवाप्नोति पुष्पदानसमुद्भवम् ॥ ६५ ॥

नारसिंहे।—पत्राण्यपि सुपुण्यानि हरि-प्रीतिकराणि च ।
प्रवक्ष्यामि नृपश्रेष्ठ ! शृणुष्व गदतो मम ॥
अपामार्गन्तु प्रथमं भृङ्गराजं ततः परम् ॥ ६६ ॥
ततस्तमाल-पत्रञ्च ततश्च शमि-पत्रकम् ।
दूर्व्वा-पत्रं ततः श्रेष्ठं ततोऽपि कुश-पत्रकम् ॥

भाषा टीका ।

देवे । पत्र और दुर्वाङ्कुरादि से भी भक्ति सहित पूजा करनी चाहिये । किन्तु विशेषतः सर्वत्र ही तुलसी-पत्र से पूजा करे। अथ पत्र समूह।— विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,— हे विप्रगण ! जो पुरुष पुष्प के अभाव में दूर्वाङ्कुर-समूह निवेदन करते हैं, उनको भी पुष्प प्रदान का फल मिल जाता है । हरि को पुष्प के अभाव में पत्र और पत्र के अभाव में जल प्रदान करे, इस में भी पुण्य सञ्चय होता है । हे द्विजसत्तमगण ! वृक्ष के पत्ते, उत्कृष्ट पुष्प, दूर्वाङ्कुर वा जल भक्ति-सहित एकान्त मन से केशव को अर्पण करने पर, अभिलषित फल मिल सक्ता है ॥ ६४ ॥

विष्णुधर्मोत्तर के तीसरे कांड में लिखा है कि,— भृंगराज (भाँगरा) वेल, वक [वकायन] जम्बू [जामन] आम और जम्वीर पत्र [जँवीरी नीबू के पत्ते] प्रदान करे । इन सवों में से एक वृक्ष का पत्र प्रदान करने पर भी मोक्ष-फल प्राप्त होता है । उत्कृष्ट गन्ध-युक्त पत्र और कोमल पल्लव हरि को प्रदान करने पर, पुष्प दान का पुण्य प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

नृसिंह पुराण में लिखा है कि,— हे नृपवर ! हरि का सन्तोष जनक अतीव विशुद्ध पत्रसमूह का विषय मैं वर्णन करता हूँ सुनो,— प्रथम अपामार्ग (ओंगा) फिर भृंगराज [भाँगरा] ॥ ६६ ॥

तदनन्तर तमाल-पत्र, फिर शमीपत्र और इस से भी दूर्वा-पत्र प्रधान है, फिर दूर्वा से कुशपत्र, कुश-पत्र से

तस्मादामलकं श्रेष्ठं ततो विल्वस्य पत्रकम् ।
विल्व-पत्रादपि हरेस्तुलसी-पत्रमुत्तमम् ॥
एतेषाञ्च यथालब्धैः पत्रैर्यश्चार्च्चयेद्धरिम् ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो विष्णु-लोके महीयते ॥

वामने।— विल्व-पत्रं शमी-पत्रं पत्रं भृङ्गरजस्य च ।
तमालामलकी-पत्रं शस्तं केशव-पूजने ॥
येषां न सन्ति पुष्पाणि प्रशस्तान्यर्च्चने विभोः ।
पल्लवान्यपि तेषां स्युः शस्तान्यर्च्चाविधौ हरेः॥

आग्नेये।— केतकी-पुष्पपत्रञ्च भृङ्गराजस्य पत्रकम् ।
तुलसी कालतुलसी सद्यस्तुष्टिकरं हरेः ॥
विल्व-पत्रं शमी-पत्रं पत्रं भृङ्गरजस्य च ।
तमालपत्रञ्च हरेः सद्यस्तुष्टिकरं भवेत् ॥

स्कान्दे,श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—
शमी-पत्रैश्च यो देवं पूजयत्यसुरद्विषम् ।
यम-मार्गो महाघोरो निस्तीर्णस्तेन नारद !
कुम्भी-पत्रेण देवर्षे ! येऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम् ।
कोटिजन्मार्ज्जितं पापं दहते गरुड़ध्वजः ॥
सकृदभ्यर्च्य गोविन्दं विल्व-पत्रेण मानवः ।
हरिर्दद्यात् फलं तस्मै सर्व्वयज्ञैः सुदुर्ल्लभम् ॥

भाषा टीका ।

आमलक-पत्र (आँवले के पत्ते) और आमलक-पत्र से वेल-पत्र श्रेष्ठ हैं। हरि की पूजा में वेल-पत्र से तुलसी-पत्र प्रधान हैं। जो पुरुष इन सब के यथाप्राप्त-पत्र द्वारा जनार्द्दन की पूजा करते हैं— वे सब पापों से छूट कर हरि के धाम में सन्मान क सहित वास करते हैं । वामनपुराण में लिखा है कि,–वेल-पत्र, शमी-पत्र, भृंगराज के पत्र, तमाल-पत्र और आमलकी-पत्र,–यह सब हरि की पूजा में श्रेष्ठ हैं। प्रभु की पूजा के उपयुक्त प्रशस्त पुष्प जिन पुरुषों के संचित नहीं है,— वे पल्लव-द्वारा जनार्द्दन की पूजा करने पर भी उत्तम फल प्राप्त करते हैं । अग्निपुराण में लिखा है कि,–केतकी-पुष्प का पत्र, भृंगराज-पत्र और तुलसी-पत्र, जनार्द्दन को आशु (तत्काल) प्रसन्न करने वाला है। वेल-पत्र, शमी--पत्र, भृंगराज-पत्र और तमाल-पत्र से पूजा करने पर, जनार्द्दन तत्काल प्रसन्न होते हैं। स्कन्दपुराण के ब्रह्म--नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—हे देवर्षे! जो शमी-पत्र द्वारा दैत्यनिसूदन हरि की पूजा करते हैं;—भयंकर शमन-मार्ग से उन को छुटकारा मिलता है। हे नारद ! जो पुरुष कुंभी-पत्र से हरि की पूजा करते हैं—गरुड़ध्वज जनार्द्दन उनके करोड़जन्म- संचित पाप नष्ट कर देते हैं। केवल एक वार मात्रं, वेल-पत्र से हरि की पूजा करने पर, हरि उनको सब प्रकार के यज्ञानुष्ठान का फल प्रदान

विल्व-पत्रेण ये देवं कार्त्तिके कलिवर्द्धन ।
पूजयन्ति महाभक्त्या मुक्तिस्तेषां मयोदिता ॥
मारुकं केतकी-पत्रं तथा दमनकं मुने ।
दत्तमात्रं हरेः प्रीतिं करोति शतवार्षिकीम् ॥ ६७ ॥
दमनेकेन देवेशं संप्राप्ते मधु-माधवे ।
गो-सहस्रस्य तु मुने ! संपूज्य लभते फलम् ॥
दूर्व्वाङ्कुरं हरेर्यस्तु पूजा-काले प्रयच्छति ।
पूजा-फलं शतगुणं सम्यगाप्नोति मानवः ॥
मञ्जरीं सहकारस्य केशवे यदि नारद !
ये यच्छन्ति महाभागास्ते कोटिफल-भागिनः ॥

किञ्च ।— शक्त्या दूर्व्वाङ्कुरैः पुम्भिः पूजितो मधुसूदनः ।
ददाति हि फलं नूनं यज्ञदानादि-दुर्ल्लभम् ॥

तत्रैव, श्रीशिवोमा-सम्वादे—

विल्व-पत्रैरखण्डैश्च सकृद्देवं प्रपूज्य वै ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो मम लोके स तिष्ठति ॥

विष्णुरहस्ये च—

सकृदभ्यर्च्चय गोविन्दं विल्व-पत्रेण मानवः ।
मुक्ति-भागी निरातङ्कः कृष्णस्यानुचरो भवेत् ॥

भाषा टीका ।

करते हैं। हे कलिवर्द्धन ! जो कार्त्तिक मास में वेल-पत्र द्वारा महती-भक्ति सहित हरि की पूजा करते हैं— उनके मोक्ष का विषय वर्णन किया है। हे ऋषे ! मारुक-पत्र, केतकी-पत्र और दमनक-पत्र, जनार्द्दन को अर्पण करते ही प्रभु सौ वर्ष-तक प्रसन्न रहते हैं ॥६७॥

चैत मास और वैशाख मास में दमनक-पत्र (दौने के पत्र) द्वारा हरि की पूजा करने पर, हजार गो-दान का फल मिल जाता है। गोविन्द के पूजा-काल में दूर्वाङ्कुर अर्पण करने पर हरि,— पूजा का शतगुण फल प्रदान करते हैं। हे देवर्षे ! हृषीकेश को आम की मंजरी प्रदान करनें पर, वे सब सौभाग्यवान् पुरुष करोड़ गुण फल पाते हैं। और भी लिखा है कि,— शक्ति के अनुसार दूर्वाङ्कुर द्वारा हरि की पूजा करने पर हरि;—यज्ञ दानादि सदनुष्ठान का अलभ्य फल भी प्रदान करते हैं,—इस में सन्देह नहीं । इसी स्कन्दपुराण के शिव-पार्वती-संवाद में लिखा है कि,— जो अखण्डित वेल-पत्र से केवल एकवार—मात्र हरि की पूजा करते हैं,—वे सब पापों से उत्तीर्ण हो कर, मेरे धाम में वास करते हैं। विष्णु-रहस्य में लिखा है कि,— वेल-पत्र से केवल एकवार मात्र जनार्द्दन की पूजा करने पर,मुक्त और निर्भय होकर, हरि का अनुचर हो सक्ता है । विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,— मरुक-पत्र [मरुआ] और दमनक-पत्र (दौंना) तत्काल गोविन्द को सन्तुष्ट करते हैं। और भी

विष्णुधर्म्मे च—

मरुको दमनश्चैव सद्यस्तुष्टिकरो हरेः ।

किञ्च ।— देयान्यूर्द्ध्वमुखान्येव पत्र-पुष्प-फलानि हि ॥

तथा,ज्ञानमालायाम्—

पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम् ।
दुःखदं तत् समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम् ॥ ६८ ॥

अथ श्रीतुलस्यर्पण-नित्यता ।

पाद्मे ।— तुलसी न येषां हरि-पूजनार्थं सम्पद्यते माधव-पुण्यवासरे ।
धिग्यौवनं जीवनमर्थसन्ततिं तेषां सुखं नेह च दृश्यते परे ॥ ६९ ॥

गारुड़े,श्रीभगवदुक्तौ—

तुलसीं प्राप्य यो नित्यं न करोति ममार्च्चनम् ।
तस्याहं प्रतिगृह्णामि न पूजां शतवार्षिकीम् ॥

बृहन्नारदीये च, यज्ञध्वजाख्यानान्ते—

यद्गृहे नास्ति तुलसी शालग्रामशिलार्च्चने ।
श्मशान-सदृशं विद्यात्तद्गृहं शुभवर्ज्जितम् ॥

अतएवोक्तं—

तुलसीं विना या क्रियते न पूजा स्नानं न तद्यत्तुलसीं विना कृतम् ।
भुक्तं न तद्यत्तुलसीं विना कृतम् पीतं न तद्यत्तुलसीं विना कृतम् ॥

भाषा टीका ।

लिखा है कि,— ऊर्द्ध्वमुख के पत्र, पुष्प और फल गोविन्द को अर्पण करने चाहिये । इसी प्रकार ज्ञानमाला में भी वर्णित है कि,— अधोमुख पत्र, फूल अथवा फल गोविन्द को अप्रसन्न करने वाले हैं,—यह सब दुःखदायक कहे गये हैं, अतएव जिस भाव से उत्पन्न हों—उसी भाव से इन सब को हरि को अर्पण करे ॥ ६८ ॥

अथ तुलसी प्रदान की अवश्य कर्त्तव्यता ।— पद्मपुराण में लिखा है कि,— वैशाख मास के पुण्य दिन में (वा श्रीकृष्ण के पुण्य वासर में) अथवा अक्षयतीज वा एकादशी इत्यादि तिथि में, जो पुरुष जनार्द्दन की पूजा के लिये तुलसी संग्रह नहीं करता— उस पुरुष के यौवन, जीवन और धनोपार्जन को धिक्कार है; क्या इस-काल, क्या परकाल— किसी काल में भी उसको सुख दिखाई नहीं देता ॥ ६९ ॥

गरुड़पुराण में श्रीमद्भगवद्वाक्य में प्रकाशित है कि,—जो पुरुष प्रतिदिन तुलसी संग्रह करके मेरी पूजा नहीं करता, मैं सौ वर्ष तक उसकी पूजा ग्रहण नहीं करता हूँ । बृहन्नारदीय पुराण में यज्ञ ध्वज आख्यान के पीछे लिखा है कि,—जिस के घर शालग्रामशिला की पूजा के लिये तुलसी विद्यमान नहीं रहती, उसका घर श्मशान की समान अमंगल करने वाला है; अतएव कहा है कि,— तुलसीविहीनपूजा,- पूजा में नहीं गिनी जाती, तुलसी रहित स्नान,

वायुपुराणे च—

तुलसी-रहितां पूजां न गृह्णाति सदा हरिः।
काष्ठं वा स्पर्शयेत्तत्र नोचेत्तन्नामतो यजेत् ॥
तुलसी-दलमादाय योऽन्यं देवं प्रपूजयेत।
ब्रह्महा स हि गोघ्नश्च स एव गुरु-तल्पगः ॥

अतएवोक्तं,गारुडे,नैवेद्य-प्रसङ्गे —

तुलसी-दलसंमिश्रं हरेर्यच्छेच्च तत्सदा ॥ इति ॥ ७० ॥
भगवद्दुर्ल्लभायास्तु तुलस्या महिमाद्भुतः।
सर्व्वशास्त्रेषु विख्यातः संक्षेपेणेह लिख्यते ॥ ७१ ॥

अथ तुलसी-माहात्म्यम् ,तत्र स्वतः परमोत्तमता।

स्कान्दे।— सर्व्वौषधि-रसेनैव पुरा ह्यमृत-मन्थने।
सर्व्वसत्त्वोपकाराय विष्णुना तुलसी कृता ॥

अतएव तत्र—न विप्र-सदृशं पात्रं न दानं सुरभी-समम्।
न च गङ्गा-समं तीर्थं न पत्रं तुलसी-समम् ॥

अतएव च विष्णुरहस्ये—

अभिन्नपत्रां हरितां हृद्यमञ्जरि-संयुताम्।
क्षीरोदार्णवसम्भूतां तुलसीं दापयेद्धरेः ॥ ७२ ॥

भाषा टीका।

स्नान में नहीं गिना जाता, तुलसी हीन भोजन,—भोजन नहीं है और तुलसी रहित पान, पान में नहीं गिना जाता। वायुपुराण में लिखा है कि,—जनार्द्दन कभी तुलसी के विना पूजा ग्रहण नहीं करते,—इस कारण तुलसी प्राप्त न होने पर, उसका काष्ठ प्रभु के अंग में स्पर्श करावे। यदि वह भी न मिले—तो तुलसी का नाम उच्चारण करके जनार्द्दन की पूजा करनी चाहिये। जो पुरुष तुलसी-पत्र ग्रहण कर के दूसरे देवता की पूजा करता है,—वह ब्रह्मघाती, गोघाती और गुरुनकी स्त्री से सम्भोग करने वाले के समान पापी होता है। अतएव कहा है कि,— तुलसी पत्र-युक्त नैवेद्य सदा निवेदन करे ॥ ७० ॥

भगवद्दुष्प्राप्य श्रीतुलसी की अनिर्वचनीय महिमा का विषय सब शास्त्रों में ही कथित है; यहां संक्षेप से—वह विषय कुछ लिखा जाता है ॥ ७१ ॥

तुलसी का माहात्म्य।— स्कन्दपुराण में स्वतः ही तुलसी की परमोत्तमता वर्णित है। पूर्व काल में अमृत मथने के समय जीवों के उपकारार्थ हरि ने सर्वौषधि-रस द्वारा तुलसी को सृजन किया है। अतएव कहा है कि,— ब्राह्मण के समान दान का पात्र नहीं है, गोदान के सदृश दान नहीं है, गंगा के तुल्य तीर्थ नहीं है, और तुलसी-पत्र के समान दूसरा पत्र भी दिखाई नहीं देता। विष्णुरहस्य में लिखा है कि,— अखाण्डित-पत्र हरि-द्वर्ण-मनोहर मंजरी--युक्त क्षीरसागर-उत्पन्न तुलसी जनार्द्दन को अर्पण करे ॥ ७२ ॥

श्रीभगवद्दुर्ल्लभता ।

नारदीये।—तावद्गर्ज्जन्ति पुष्पाणि मालत्यादीनि भूसुर !
यावन्न प्राप्यते पुण्या तुलसी कृष्ण-वल्लभा ॥
विष्णुरहस्ये-कृष्णा वाप्यथवाऽकृष्णा तुलसी कृष्ण-वल्लभा ।
सिता वाप्यथवा कृष्णा द्वादशी वल्लभा हरेः ॥
तावद्गर्ज्जन्ति रत्नानि कौस्तुभादीन्यहर्न्निशम् ।
यावन्न प्राप्यते कृष्णा तुलसी-पत्र-मञ्जरी ॥
अगस्त्यसंहितायाम् —
पूर्व्वमुग्रतपः कृत्वा वरं वव्रे मनस्विनी ।
तुलसी सर्व्वपुष्पेभ्यः पत्रेभ्यो वल्लभा ततः ॥
पाद्मे,वैशाख-माहात्म्ये,श्रीयम ब्राह्मण-सम्वादे—
सर्व्वासां पत्रजातीनां तुलसी केशव-प्रिया ।
किञ्च ।— सर्व्वथा सर्व्वकालेषु तुलसी विष्णु-वल्लभा ॥ ७३ ॥
तत्रैवोत्तरखण्डे,कार्त्तिक-माहात्म्ये,श्रीनारदोक्तौ—
तुलसी-दल-पूजायां मया वक्तुं न शक्यते ।
अत्यन्तवल्लभा सा हि शालग्रामाभिधे हरौ ॥ ७४ ॥
पातिव्रत्येन वृन्दासौ हरिमाराध्य कर्म्मणा ।
पूर्व्वजन्मन्यसौ लेभे कृष्ण-संयोगमुत्तमम् ॥

भाषा टीका ।

तुलसी की भगवद्दुर्लभता ।— नारदपुराण में लिखा है कि,— हे ब्राह्मण ! जब तक कृष्ण-प्रिया पवित्र-तुलसी प्राप्त न हो,—तब तक मालत्यादि के पुष्प गर्व प्रकाश करते हैं । विष्णुरहस्य में लिखा है कि,— क्या कृष्णवर्ण, क्या हरिद्वर्ण,—समस्त तुलसी ही गोविन्द की प्रिया हैं। और क्या कृष्णपक्षीय, क्या शुक्लपक्षीय,—दो प्रकार की द्वादशी तिथि प्रभु की परम प्यारी हैं । जब तक कृष्णवर्ण तुलसी-पत्र और मञ्जरी प्राप्त नहीं होती है, तब तक कौस्तुभादि रत्न सदा गर्व प्रकाशित करते हैं। अगस्त्य-संहिता में लिखा है कि,— पूर्व काल में बुद्धिमती तुलसी-देवी ने कठोर तप का आचरण करके वर की प्रार्थना की थी,-इसी कारण वे संपूर्ण पुष्प और पत्रों की अपेक्षा गोविन्द की प्यारी हुई हैं । पद्म-पुराण के वैशाख-माहात्म्य में यम-ब्राह्मण—संवाद में लिखा है कि,—सर्व जातीय पत्रों की अपेक्षा, तुलसी हरि को प्रसन्न करने वाली हैं; और भी लिखा है कि,— तुलसी सर्वथा और सब समय में जनार्दन की प्यारी है ॥ ७३ ॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में कार्त्तिक-माहात्म्य की नारदोक्ति में प्रकाशित है कि,— तुलसीपत्र द्वारा पूजा करने के माहात्म्य का वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ । यह तुलसी शालग्रामशिला-रूपी जनार्दन को अत्यन्त प्यारी है ॥ ७४ ॥

वृन्दादेवी पातिव्रत्य-जनक क्रिया द्वारा जनार्दन की उपासना करती हुई गत जन्म में उनके संग उत्तम सहवास को प्राप्त हुई थी। उक्त उत्तर खण्ड

तत्रैव, श्रीवृन्दोपाख्यानान्ते—

सत्त्वं प्रीतिकरं वाक्यं कोपस्तस्यास्तु तामसः ।
भावद्वयं हरौ जातं यत्तद्वर्णद्वयं ह्यभूत ॥
श्यामाऽपि तुलसी विष्णोः प्रिया गौरी विशेषतः ॥

द्वारका-माहात्म्ये च, श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-सम्वादे—

यथा लक्ष्मीः प्रिया विष्णोस्तुलसी च ततोऽधिका ।

स्कान्दे ।— योगिनां विरतौ वाञ्छा कामिनाञ्च यथा रतौ ॥
पुष्पेष्वपि च सर्व्वेषु तुलस्याञ्च तथा हरेः ।
निरस्य मालती-पुष्पं मुक्ता-पुष्पं सरोरुहम् ॥
गृह्णाति तुलसीं शुष्कामपि पर्य्युषितां हरिः ॥

अतएव चतुर्थस्कन्धे, श्रीध्रुवं प्रति श्रीनारदोपदेशे —

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूल-फलादिभिः ।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्च्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥ ७५ ॥

रासक्रीड़ायाञ्च दशमस्कन्धे, श्रीगोपीनां भगवदन्वेषणे—

कच्चित्तुलसि ! कल्याणि ! गोविन्द-चरण-प्रिये !
सह त्वालिकुलैर्विभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७६ ॥

अतएव स्कान्दे—

यत् फलं सर्व्वपुष्पेषु सर्व्वपत्रेषु नारद !
तुलसी-दलमात्रेण प्राप्यते केशवार्च्चने ॥ ७७ ॥

भाषा टीका ।

में वृन्दोपाख्यान के पीछे लिखा है कि,— वृन्दा का प्रीतिजनक वचन ही सत्व और उसका रोष ही तम है । इन दो गुणों के स्पर्श से हरि के दो भाव उत्पन्न होते हैं, इसी कारण तुलसी द्विविधवर्ण युक्ता हुई है । उन में कृष्णवर्ण-तुलसी हरि की प्यारी होने पर भी हरिद्वर्ण अधिक प्यारी है । द्वारकामाहात्म्य के मार्कण्डेय इन्द्रद्युम्न सम्वाद में लिखा है कि,— लक्ष्मी जिस प्रकार हरि की प्यारी हैं, तुलसी उनसे भी अधिक हैं। स्कन्दपुराण में लिखा है कि,— जिस प्रकार योगियों की वैराग्य में और कामियों की रतिकार्य में प्रीति है, ऐसे ही सब पुष्पों की अपेक्षा तुलसी के प्रति केशव की अधिक प्रीति है। भगवान् केशव मालती-पुष्प मुक्ता-पुष्प और कमल छोड़ कर भी वासी और सूखी तुलसी-पत्र ग्रहण करते हैं; अतएव चौथे स्कन्ध में ध्रुव के प्रति नारदोपदेश है कि,— जल, विशुद्ध माला, फल, मूलादि प्रसस्त-दूर्वांकुर, वल्कल और प्रियतमा-तुलसी से हरि की पूजा करे ॥ ७५ ॥

दशमस्कन्द की रासक्रीड़ा में भगवान् के अन्वेषण में लिखा है कि,— हे गोविन्दचरणप्रिये ! मंगलमयि-तुलसि ! जो तुम्हारे अतीव प्रियतम हैं, जो तुम को अलिकुल के सहित चरण पर धारण करते हैं, उन हरि को क्या देखा है ? ॥ ७६ ॥

स्कन्दपुराण में लिखा है,—हे देवर्षे ! एक मात्र तुलसी-पत्र द्वारा हरि की पूजा करने पर, समस्त

पाद्मे, वैशाख-माहात्म्ये, तत्रैव—

त्यक्त्वा तु मालती-पुष्पं मुक्त्वा चैव सरोरुहम्।
गृहीत्वा तुलसी-पत्रं भक्त्या माधवमर्च्चयेत्॥
तस्य पुण्य फलं वक्तुमलं शेषोऽपि नो भवेत्॥ ७८॥

तत्रैव, श्रीमाघ-माहात्म्ये, देवदूत विकुण्डल-सम्वादे—

मणि-काञ्चन-पुष्पाणि तथा मुक्तामयानि च।
तुलसी-पत्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम्॥ ७९॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

नीलोत्पलसहस्रेण त्रिसन्ध्यं योऽर्च्चयेद्धरिम्।
फलं वर्षशतेनापि तदीयं नैव लभ्यते॥
विद्वन्! सर्व्वेषु पुष्पेषु पङ्कजं श्रेष्ठमुच्यते।
तत्पुष्पेष्वपि तन्माल्यं कोटिकोटिगुणं भवेत्॥
विष्णोः शिरसि विन्यस्तमेकं श्रीतुलसी-दलम्।
अनन्तफलदं विद्वन्! मन्त्रोच्चारण पूर्व्वकम्॥

किञ्च।— वर्णाश्रमेतराणाञ्च पूजायाश्चैव साधनम्।
अपेक्षितार्थदं नान्यत् जगत्यस्ति तपोधन!॥ ८०॥

अतएव नारदीये—

वर्ज्ज्यं पर्य्युषितं पुष्पं वर्ज्ज्यं पर्य्युषितं जलम्।
न वर्ज्ज्यं तुलसी-पत्रं न वर्ज्ज्यं जाह्नवी-जलम्॥ ८१॥

भाषा टीका।

पुष्प और समस्त पत्र द्वारा पूजा करने का फल मिल जाता है। पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में इसी विषय में लिखा है कि,— मालती और कमल छोड़ कर यदि एक मात्र तुलसी-पत्र लेकर भक्ति-सहित हरि की पूजा करी जाय तो, उस से जो पुण्य होता है, वह अनन्त देव भी वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं॥ ७८॥

पद्मपुराण के माघ माहात्म्य में देवदूत विकुण्डल सम्वाद में लिखा है कि,— हरि को तुलसी-पत्र अर्पण करने से जो फल मिलता है, मणि, कांचन, कुसुम और मुक्ता-पुष्प देने पर भी, उस के सोलह वें अंश का एक अंश भी प्राप्त नहीं होता॥ ७९॥

अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,— जो हजार नील-कमलों से तीनों सन्ध्या ओं में केशव की पूजा करते हैं, सौ वर्ष इस प्रकार करने पर भी, तुलसी-पत्र के दान का फल नहीं मिलता। हे विद्वन्! सब पुष्पों में पद्म प्रधान कहा गया है,—इस पुष्प से इस की गूँथी हुई माला करोड़ गुण प्रधान है। मंत्र पाठ सहित केवल एक तुलसी-पत्र हरि के मस्तक में समर्पित होने से, वह पत्र अनन्त-फल अर्पण करता है। और भी लिखा है कि,— हे तापस! इस विश्वब्रह्माण्ड में वर्णाश्रम और अन्य के पक्ष में तुलसी-पत्र के अतिरिक्त अपर पूजोपहार वैसे वांछित फल दायक नहीं होते॥ ८०॥

अतएव नारदपुराण में लिखा है कि,— वासी पुष्प और वासी जल त्याग दे, किन्तु तुलसी-दल

अथ श्रीभगवदर्पणेन पापहारित्वम् । पाद्मे —

श्रीमत्तुलास्यार्च्चयते सकृद्धरिं पत्रैः सुगन्धैर्विमलैरखण्डितैः ।
यस्तस्य पापं पटसंस्थितं प्रभुर्निरीक्षयित्वा मृजते स्वयं यमः ॥ ८२ ॥

स्कान्दे ।— तुलसी-दल-लक्षेण योऽर्च्चयेद्द्वारका-प्रियम् ।
जन्मायुतसहस्राणां पापस्य कुरुते क्षयम् ॥

ब्राह्मे ।— लिङ्गमभ्यर्च्चितं दृष्ट्वा प्रतिमां केशवस्य च ।
तुलसी-पत्रनिकरैर्मुच्यते ब्रह्म-हत्यया ॥ ८३ ॥
नित्यमभ्यर्च्चयेद्यो वै तुलस्या हरिमीश्वरम् ।
महापापानि नश्यन्ति किम्पुनश्चोपपातकम् ॥

अन्यत्र च—गुह्यानि यानि पापानि अनाख्येयानि मानवैः ।
नाशयेत्तानि तुलसी दत्ता माधव-मूर्द्धनि ॥
हरेर्गृहं यदा यस्तु तुलसी-दलविप्रुषैः ।
त्रिसन्ध्यं प्रोक्षयेद्भक्त्या महापापैः प्रमुच्यते ॥ ८४ ॥

अतएव स्कान्दे, अवन्तीखण्डे—
किं करिष्यति संरुष्टो यमोऽपि सहकिङ्करैः ।
तुलसी-दलेन देवेशः पूजितो येन दुःखहा ॥

अगस्त्यसंहितायाञ्च—
न तस्य नरक-क्लेशो योऽर्च्चयेत्तुलसी-दलैः ।
पापिष्ठो वाप्यपापिष्ठः सत्यं सत्यं न संशयः ॥

भाषा टीका ।

और गंगा जल वासी होने पर भी नहीं त्यागना चाहिये ॥ ८१ ॥

भगवत् अर्पण में तुलसी की पाप नाशन शक्ति ।— पद्मपुराण में लिखा है कि,— जो पुरुष सुगन्धित, स्वच्छ और अखण्ड (सावत) तुलसीदल से केवल एकवारमात्र विष्णु की पूजा करते हैं, तो गुप्त हों वा प्रकाशित हों, पापियों के नियन्ता स्वयं यम सूक्ष्मानुसूक्ष्मरूप से तदीय पटस्थ (उसके लेखे में-लिखे) समस्त पातक देख कर क्षमा करते हैं ॥ ८२ ॥

स्कन्दपुराण में लिखा है कि,— जो पुरुष लक्ष तुलसी-पत्र से पूजित हरि की श्रीमूर्त्ति का दर्शन करते हैं, उनके ब्रह्महत्या जनित पाप ध्वंश हो जाता है ॥ ८३ ॥

जो पुरुष नित्य तुलसी--पत्र से परमेश्वर-केशव की पूजा करते हैं— उन के उप-पातकों का विषय और क्या कहुं ? सम्पूर्ण महापाप भी ध्वंश होते हैं । अन्यत्र भी लिखा है कि,— श्रीहरि के शिर पर तुलसी अर्पित होने पर, वह तुलसी मनुष्य के अकथ्य गोपनीय पातक-पुञ्ज भी ध्वंश कर देती है। जो पुरुष भक्तिसहित तुलसी-पत्र के निकले जल-विन्दु से, तीनों सन्ध्या में हरि का गृह-मार्जन करते हैं;— वे सब महापापों से रक्षा पाते हैं ॥ ८४ ॥

स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड में वर्णित है कि,— जो पुरुष तुलसी-दल से दुःखनाशन कृष्ण की पूजा

तथा वैरि–नाशकत्वम् ।

पुरा क्रौञ्च–वधार्थाय कोमलैस्तुलसी-दलैः ।
अर्च्चयित्वा हृषीकेशं स्वामिना निहतो रिपुः ॥ ८५ ॥

सर्व्वसम्पत्–प्रदत्वम् ।

अगस्त्यसंहितायाम्––

माल्यानि तन्वते लक्ष्मीं कुसुमान्तरितान्यपि ।
तुलस्याः स्वयमानीय निर्म्मितानि तपोधन ! ॥

परमपुण्य–जनकत्वम् ।

स्कान्दे ।— कृष्ण-मूर्द्धनि विन्यस्ता तुलसी-पत्र-मञ्जरी ।
सुवर्णकोटिपुण्यानां फलंयच्छत्यतोऽधिकम् ॥८६॥
तीर्थयात्रादिभिरहो ! कालक्षेपेण किं जनाः ।
येऽर्च्चयन्ति हरेर्विम्वं तुलसी-दलकोमलैः ॥ ८७ ॥

अगस्त्यसंहितायाम् ––

पुष्पान्तरैरन्तरितं निर्म्मितं तुलसी–दलैः ।
माल्यं मलयजालिप्तं दद्यात् श्रीराम-मूर्द्धनि ॥
किं तस्य वहुभिर्यज्ञैः सम्पूर्णवरदक्षिणैः ।
किन्तीर्थसेवया दानैरुग्रेण तपसाऽपि वा ॥
वाचं नियम्य चात्मानं मनो विष्णौ निधाय च ।

भाषा टीका ।

करते हैं;— यमराज वा उन के अनुचर क्रोधित होने पर भी, उन का कुछ अनिष्ट नहीं कर सक्ते हैं । अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,— पापात्मा हो वा धर्मनिष्ठ हो,— जो तुलसी-दल से विष्णु की पूजा करते हैं, मैं वारंवार सत्य करके कहताहूँ— उन को फिर नरक का दुःख भोगना नहीं पड़ता। तुलसी की शत्रुनाशन–शक्ति ।— पूर्वकाल में षड़ानन ने क्रौञ्च विनाशार्थ कोमल–तुलसी–पत्र से हरि की पूजा करके वह शत्रु निहत किया था ॥ ८५ ॥

तुलसी की सर्वसम्पत–प्रदत्व-शक्ति। अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,— हे तापस ! स्वयं आहरण पूर्वक वीच वीच में अन्य पुष्प सह गूँथी हुई तुलसी की माला निर्माण करने पर, सम्पत्ति वढ़ती है। तुलसी की परमपुण्यजनकता ।— स्कन्दपुराण में लिखा है कि,— तुलसी का दल और मञ्जरी श्रीहरि के मस्तक में समर्पित होने पर, वह करोड़ काञ्चन दान-जनित पुण्य से भी अधिक फल प्रदान करती है ॥ ८६ ॥

जो पुरुष तुलसी के कोमल-दल से केशव की श्रीमूर्त्ति को पूजते हैं, फिर तीर्थयात्रादि द्वारा उन को समय विताने का क्या प्रयोजन है ? ॥ ८७ ॥

अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,— वीच वीच में पुष्प प्रदान पुर्वक तुलसी-दल द्वारा माला वनाय उस में चंदन लेपन कर, श्रीराम के मस्तक पर प्रदान करने से, पूर्ण और प्रधान दक्षिणायुक्त अनेक यज्ञों के अनुष्ठान करने का क्या प्रयोजन है ? अथवा तर्थों में पर्यटन करने से ही क्या फल है ? जो वाक्य संयम और शरीर को शुद्ध कर, एकाग्रचित्त

योऽर्च्चयेत्तुलसी-माल्यैर्यज्ञ-कोटि-फलं लभेत् ॥ ८८ ॥
भवान्धकूपमग्नानामेतदुद्धारकारणम् ॥ ८९ ॥

गारुड़े ।— यस्यारामोद्भवैः पत्रैस्तुलसी-सम्भवैर्हरिः ।
पूज्यते खगशार्द्दूल ! त्रिदशं पुण्यमाप्नुयात् ॥ ९० ॥

अन्यत्र च ।–तुलसी-दलमाल्येन विष्णु-पूजां करोति यः ।
पत्रे पत्रेऽश्वमेधानां दशानां लभते फलम् ॥

अतएव विष्णुरहस्ये, स्कान्दे च—
गृहीत्वा तुलसी-पत्रं भक्त्या विष्णुं समर्च्चयेत् ।
अर्च्चितं तेन सकलं स-देवासुरमानुषम् ॥ ९१ ॥

किञ्च, काशीखण्डे—
शालग्रामशिला येन पूजिता तुलसी-दलैः ।
स पारिजात-मालाभिः पूज्यते सुर-सद्मनि ॥

सर्व्वार्थ-साधकत्वम् ।

स्कान्दे ।—समञ्जरी-दलैर्युक्तं तुलसी-सम्भवैः क्षितौ ।
कुर्व्वन्ति पूजनं विष्णोस्ते कृतार्थाः कलौ नराः ॥

अगस्त्यसंहितायाम्—
पत्रं पुष्पं फलञ्चैव श्रीतुलस्याः समर्पितम् ।

भाषा टीका ।

हो—तुलसी की माला से हरि की पूजा करते हैं—उन को करोड़ यज्ञों के अनुष्ठान करने का फल प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

तुलसी की माला से हरि की पूजा, संसाररूपी अँधेरे कुए में डूबे हुए मनुष्यों की रक्षा करने का एक मात्र हेतु है ॥ ८९ ॥

गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—हे विहगसत्तम ! श्रीहरि जिस पुरुष के उपवनोत्पन्न तुलसी-दल से पूजित होते हैं,—वह पूजक के सञ्चित पुण्य के त्रयोदश अंश के एक अंश को प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

अन्यत्र भी लिखा है कि,—जो तुलसी-दल की माला से हरि की पूजा करते हैं,—वे प्रति पत्रार्पण में दश अश्वमेध के अनुष्ठान करने का फल पाते हैं। विष्णुरहस्य और स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,—जो तुलसी-दल संग्रह करके भक्ति-सहित हरि की पूजा करते हैं—उन से देवता, दानव, नर-इत्यादि सभी पूजित होते हैं ॥ ९१ ॥

काशीखण्ड में भी लिखा है कि,—जो पुरुष तुलसी-दल से शालग्रामशिला की पूजा करते हैं—वे सुर-पुर में पारिजात की माला से पूजित होते हैं । तुलसी की सर्व्वार्थ-साधन-शक्ति ।—स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष नर-लोक में तुलसी-मञ्जरी के सहित पत्र-द्वारा हरि की पूजा करते हैं, कालि काल में वे ही पुरुष धन्य हैं । अगस्त्य-संहिता में लिखा है कि,—जो तुलसी-दल, पुष्प, फल श्रीराम को प्रदान करते हैं,—उन का मोक्षमार्ग साफ होता है

रामाय मुक्ति-मार्गस्य द्योतकं सर्व्वसिद्धिदम् ॥ ९२ ॥

मुक्ति-प्रदत्वम् ।

पाद्मे, देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

तुलसी-मञ्जरीभिर्यः कुर्य्याद्धरि-हरार्च्चनम् ।
न स गर्भ-गृहं याति मुक्ति-भागी भवेन्नरः ॥ ९३ ॥

गारुड़े ।— तावद्भ्रमति संसारे विमूढ़ः कलि-वर्त्मनि ।
यावन्नाराधयेद्देवं तुलसीभिः प्रयत्नतः ॥

तत्रैव, श्रीभगवदुक्तौ—

तुलसी-पत्रमादाय यः करोति ममार्च्चनम् ।
न पुनर्योनिमायाति मुक्ति-भागी भवेन्नरः ॥ ९४ ॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

तुलसी-पत्रमादाय योऽर्च्चयेद्राममन्वहम् ।
स याति शाश्वतं ब्रह्म पुनरावृत्तिदुर्ल्लभम् ॥
पूजा-योग्यैः फलैः पत्रैः पुष्पैर्वा योऽर्च्चयेद्धरिम् ।
स मातुर्गर्भ-वासादि-दुःखं नैव लभेत क्वचित् ॥ ९५ ॥

श्रीवैकुण्ठलोक-प्रापकत्वम् ।

पाद्मे, तत्रैव।-आरोप्य तुलसीं वैश्य ! सम्पूज्य तद्दलैर्हरिम् ।
वसन्ति मोदमानास्ते यत्र देवश्चतुर्भुजः ॥

भाषाटीका ।

और वे पुरुष सब विषयों में सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥ ९२ ॥

तुलसी का मोक्ष-प्रदानत्व । पद्म-पुराण के देवदूत-विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है कि,—जो पुरुष तुलसी की मञ्जरी से जनार्द्दन की पूजा करते हैं—उन पुरुषों को फिर गर्भागार में प्रवेश करना नहीं पड़ता और उन को मोक्ष प्राप्ति होती है ॥ ९३ ॥

गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—जब-तक यत्न-सहित तुलसी-दल द्वारा हरि की उपासना नहीं करी जाती,—तब-तक मूढ़ पुरुष को पातकमय संसारमार्ग में विचरना पड़ता है । गरुड़-पुराण में भगवान् की उक्ति है कि,—जो तुलसी-दल ग्रहण करके मेरी पूजा करते हैं,—उनको फिर दूसरी बार जन्म लेना नहीं पड़ता,—उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ९४ ॥

अगस्त्य-संहिता में लिखा है कि,—जो तुलसी-दल ग्रहण करके प्रतिदिन राम की पूजा करते हैं—उनकी दुर्लभ नित्यस्वरूप ब्रह्म-धाम में गति होती है और फिर उनको दूसरी बार जन्म लेना नहीं पड़ता । जो पूजा के उपयुक्त फल, पत्र और पुष्प से माधव की पूजा करते हैं,—उनको फिर कभी जननी के जठर में वासादि करने का दुःख भोगना नहीं पड़ता ॥ ९५ ॥

अथ तुलसी की वैकुण्ठ-लोक-प्रापकत्व शक्ति।—पद्मपुराण के उसी स्थान में लिखा है कि;—हे वैश्य ! जो पुरुष तुलसी का वृक्ष आरोपण कर उस के पत्र से हरि की पूजा करते हैं,—वे चतुर्भुज

तत्रैवान्यत्र।—तुलसी कृष्ण-गौराभा तयाभ्यर्च्च्य जनार्द्दनम्।
नरो याति तनुं त्यक्त्वा वैष्णवीं शाश्वतीं गतिम् ॥ ९६ ॥

विष्णुरहस्ये।—कृष्णं कृष्ण-तुलस्या हि यो भक्त्या पूजयेन्नरः।
स याति भुवनं शुभ्रं यत्र विष्णुः श्रिया सह ॥ ९७ ॥

बृहन्नारदीये,श्रीयम-भगीरथ-सम्वादे—
योऽर्च्चयेद्धरि-पादाब्जं तुलसी-कोमलच्छदैः।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्म-लोकात् कदाचन ॥ ९८ ॥

गारुड़े।— कृष्णार्च्चनार्थं भिक्षूणां यच्छन्ति तुलसी-दलम्।
अन्येषामपि भक्तानां यान्ति तत् परमं पदम् ॥

अतएव हरिभक्तिसुधोदये,वैष्णवं विप्रं प्रति यम-दूतानामुक्तौ—
सुकृती दुष्कृती वापि तुलस्या योऽर्च्चयेद्धरिम्।
तस्यान्ते हि वयं नेशा विष्णु-दूतैः स नीयते ॥

अतएवोक्तं स्कान्दे—
योऽभ्यस्येत् परमात्मानं त्यक्तसर्व्वैषणो मुनिः।
तुलस्या योऽर्च्चयेद्विष्णुं जगतः सम्मतावुभौ ॥ ९९ ॥

श्रीभगवत्-प्रीणनत्वञ्च।

ब्राह्मे।— तुलसी-दल-गन्धेन मालती-कुसुमेन च।

भाषा टीका।

हरि-अधिष्ठित धाम में सुख से वास करते हैं। पद्म-पुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि,—जो कृष्णवर्ण और गौरवर्ण-युक्त तुलसी-दल से हरि की पूजा करते हैं,—वे मनुष्य-शरीर छोड़ कर अक्षय हरि-धाम में जाते हैं ॥ ९६ ॥

विष्णुरहस्य में लिखा है कि,—जो कृष्णवर्ण तुलसी-द्वारा भक्ति-सहित हरि की पूजा करते हैं; वो—जहाँ कमला के सहित विष्णु विराजमान रहते हैं,—उस विमल-धाम में उन की गति होती है ॥ ९७ ॥

बृहन्नारदीय-पुराण के यम-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है कि,—जो पुरुष मृदु तुलसी-दल से विष्णु के चरणकमलों की पूजा करते हैं,—उनका फिर कभी ब्रह्मधाम (वैकुण्ठ) से लौटना नहीं पड़ता ॥ ९८ ॥

गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष हरि की पूजा के निमित्त भिक्षुकाश्रमी और अन्यान्य भक्त-गणों को तुलसी-दल अर्पण करते हैं,—उस प्रधान धाम में उनकी गति होती है। हरिभक्तिसुधोदय में वैष्णव के प्रति यमदूत की उक्ति है यथा,—क्या धर्म्मनिष्ठ, क्या अधार्म्मिक;—जो कोई क्यों न हो; तुलसी-द्वारा केशव की पूजा करने से, उस के मरने पर हम उस को स्पर्श नहीं कर सक्ते,—वह विष्णु के दूतों द्वारा लाया जाता है। स्कन्द-पुराण में भी कहा है कि,—जो ऋषि सम्पूर्ण कामना—(पुत्र वित्त और लोक की कामनादि) छोड़ कर परमात्मा की उपासना करते हैं, और जो तुलसी-दल से हरि की पूजा करते हैं; वे, दोनों ही संसार में प्रशंसित हैं ॥९९॥

तुलसी की भगवत्प्रीतिजनन-शक्ति।—ब्रह्म-पुराण में लिखा है कि,—तुलसी-पत्र की गन्ध-मालती-पुष्प और कपिला गौ का दूध,—इन तीन

कपिला-क्षीर-दानेन सद्यस्तुष्यति केशवः ॥

पाद्मे, कार्त्तिक-माहात्म्ये, वृन्दोपाख्यानान्ते—

इत्येवं वल्लभा विष्णोः पूर्व्वजन्मन्यथाधुना।
प्रीयते पूजितो ह्यस्या दलैर्दैत्य-बलान्तकः ॥

स्कान्दे च।—सुवर्ण-मणि-पुष्पैस्तु प्रीतो भवति नाच्युतः।
तुलसी-दल-भागेन यथा प्रीयेत केशवः ॥

अतएव तत्रैव, ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं तुलसी-गन्धवासितम्।
फलं लक्षगुणं प्रोक्तं केशवाय निवेदितम् ॥
तुलसी-गन्धमिश्रन्तु यत्किञ्चित कुरुते हरेः।
कल्प-कोटिसहस्राणि प्रीतो भवति केशवः ॥

किञ्च, द्वारकामाहात्म्ये, मार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-सम्वादे—

यः पुनस्तुलसी-पत्रैः कोमलैर्मञ्जरीयुतैः।
पूजयेत सूत्रबद्धैस्तु कृष्णं देवकि-नन्दनम् ॥
या गतिर्योगयुक्तानां या गतिर्यज्ञशीलिनाम्।
या गतिर्दानशीलानां या गतिस्तीर्थसेविनाम् ॥
या गतिर्मातृ-भक्तानां द्वादशी-वेधवर्ज्जिनाम्।
कुर्व्वतां जागरं विष्णोर्नृत्यतां गायतां फलम् ॥
वैष्णवानान्तु भक्तानां यत् फलं वेदवादिनाम्।

भाषा-टीका।

द्रव्यों से हरि शीघ्र प्रसन्न होते हैं। पद्म-पुराण के कार्त्तिक-माहात्म्य में वृन्दोपाख्यान के अन्त में लिखा है कि,—पूर्व्वजन्म में यह (तुलसीरूपिणी वृन्दा) इस प्रकार से हरि की प्रियतमा हुई थीं; सुतरां इस जन्म में इस के पत्र-द्वारा पूजित होने पर—दैत्यबलान्तक-हरि अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। स्कन्द-पुराण में वर्णित है कि,—तुलसी-दल से हरि जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं,—काञ्चन और मणिमय-पुष्प द्वारा भी वैसे प्रसन्न नहीं होते। स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—यदि तुलसी-पत्र की गन्ध से सुगन्धि किये हुए—पत्र, फूल, फल और जल,—जनार्दन को प्रदान किये जाँय—तो लक्षगुण फल होता है,—ऐसा कहा है। तुलसी-पत्र की गन्ध से युक्त जो कोई द्रव्य केशव के अर्पण करने पर, उस से वे सहस्र करोड़ कल्प काल तक प्रसन्न रहते हैं। द्वारका-माहात्म्य के मार्कण्डेय इन्द्रद्युम्न-सम्वाद में लिखा है कि,—हे राजन्! जो पुरुष सूत्र (डोरे) द्वारा ग्रथित, मञ्जरीयुक्त, मृदु (कोमल) तुलसी-पत्र से देवकी-तनय हरि की पूजा करते हैं,—वे योगाभ्यास करने वाले की, यज्ञानुष्ठान करने वाले की, दाता की, तीर्थों में भ्रमण करने वाले की, जननी के भक्त की और द्वादशी-वेध त्याग करने वाले की गति को प्राप्त होते हैं, हरि के उद्देश में जागरण करने वाले को और नृत्य-गीत करने वाले को जो फल होता है, हरि-भक्तों का जो फल

पठतां वैष्णवं शास्त्रं वैष्णवेभ्यश्च यच्छताम् ।
फलमेतन्महीपाल ! लभते नात्र संशयः ॥

कार्त्तिकादौ फल-विशेषः ।

तत्र कार्त्तिके, गारुडे—
गवामयुत-दानेन यत् फलं लभते खग !
तुलसी-पत्रकैकेन तत् फलं कार्त्तिके स्मृतम् ॥

स्कान्दे, श्रीब्रह्म नारद-सम्वादे—
तुलसी-दल-लक्षेण कार्त्तिके योऽर्च्चयेद्धरिम् ।
पत्रे पत्रे मुनिश्रेष्ठ ! मौक्तिकं लभते फलम् ॥ १०० ॥

तत्रैवाग्रे ।— तुलसी-दलानि पुण्यानि ये यच्छन्ति जनार्द्दने ।
कार्त्तिकं सकलं वत्स ! पापं जन्मायुतं दहेत् ॥
इष्ट्वा क्रतु-शतैः पुण्यैर्दत्त्वा रत्नान्यनेकशः ।
तुलसी-दलेन तत् पुण्यं कार्त्तिके केशवार्च्चनात् ॥

किञ्च ।— यः पुनस्तुलसीं प्राप्य कार्त्तिकं सकलं मुने !
अर्च्चयेद्देव-देवेशं स याति परमां गतिम् ॥

पाद्मे, कार्त्तिक-माहात्म्ये—
मञ्जरीभिः सपत्राभिर्मालाभिश्चापि केशवः ।

भाषा टीका ।

सञ्चय होता है, वेदाध्यायी का, वैष्णवशास्त्राध्यायी और वैष्णवों को दान देने वाले का जो फल होता है, उनको भी—वही फल होता है, इस में सन्देह नहीं ।

कार्त्तिकादि मास में तुलसी का विशेष फल ।—तिस में कार्त्तिक मास के फल सम्वन्ध में गरुड़पुराण में लिखा है कि,— हे पतग ! अयुत [दश हजार] गोदान से जो फल होता है,—कार्त्तिक मास में हरि को केवल एक मात्र तुलसी प्रदान करने से— वही फल प्राप्त हो सक्ता है। स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,— हे तापसश्रेष्ठ ! कार्त्तिक मास में एक लक्ष तुलसी-पत्र द्वारा हरि की पूजा करने पर,– प्रतिपत्र में मोक्ष अथवा मोक्ष का फल-स्वरूप भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १०० ॥

इसी पुराण के शेष अंश में लिखा है कि,—हे वत्स ! जो पुरुष समस्त कार्त्तिक मास में तुलसी-दल हरि को प्रदान करते हैं,— उन के दश हजार जन्म के पाप नष्ट होते हैं। शत शत विशुद्ध अश्वमेध के आचरण से और बहुत से रत्न अर्पण करने पर, जो पुण्य उदय होता है, कार्त्तिक मास में तुलसी-दल द्वारा हरि की पूजा करने पर,— वही पुण्य प्राप्त हो जाता है। और भी लिखा है कि,— हे तापस ! जो सब पुरुष कार्त्तिक मास में देव-देव जनार्द्दन की पूजा करते हैं,— उन को अति उत्तम गति मिलती है । पद्मपुराण के कार्त्तिक-माहात्म्य में लिखा है कि,– कार्त्तिक मास में तुलसी-दल सहित मंजरी और माला हरि को प्रदान करने पर, वे सन्तुष्ट होकर अनश्वर [नित्य] पद अर्पण करते हैं ।

तुलस्याः कार्त्तिके प्रीतो ददाति पदमव्ययम् ॥

अथ माघे । स्कान्दे, तत्रैव—

स्नात्वा महानदी-तोये कोमलैस्तुलसी-दलैः ।
योऽर्च्चयेन्माधवं माघे कुलानां तारयेच्छतम् ॥
सुकोमलैर्द्दलैर्यस्तु मञ्जरीभिर्जनार्द्दनम् ।
अर्च्चयेन्माघमासे तु क्रतूनां लभते फलम् ॥ १०१ ॥

अथ चातुर्म्मास्ये ।

स्कान्दे ।— संपूज्य तुलसी-भक्त्या घनश्यामं जनार्द्दनम् ।
चतुरो वार्षिकान् मासान् अश्वमेधायुतं लभेत् ॥ १०२ ॥

अथ वैशाखे ।

पाद्मे, वैशाख-माहात्म्ये, श्रीयम-ब्राह्मण-सम्वादे—

तुलसी-गौरकृष्णाख्या तयाभ्यर्च्य मधुद्विषम् ।
विशेषेण तु वैशाखे नरो नारायणो भवेत् ॥
माधवं सकलं मासं तुलस्या योऽर्च्चयेन्नरः ।
त्रिसन्ध्यं मधुहन्तारं नास्ति तस्य पुनर्भवः ॥ १०३ ॥

अथ तुलसी-ग्रहण-विधिः ।

वायुपुराणे—अस्नात्वा तुलसीं छित्वा यः पूजां कुरुते नरः ।
सोऽपराधी भवेत् सत्यं तत् सर्व्वं निष्फलं भवेत् ॥

भाषा टीका ।

माघ के महीने में तुलसी दान का फल ।— स्कन्द-पुराण के ब्रह्म नारद-सम्वाद में लिखा है कि,— जो माघ मास में महानदी [गंगा] के जल में स्नान करके कोमल तुलसी-दल से हरि की पूजा करते हैं,— वह अपने सौ कुलों को उद्धार करते हैं । माघ के महीने में अत्यन्त कोमल तुलसी-दल और मंजरी से केशव की पूजा करने पर, सब यज्ञों का फल प्राप्त किया जाता है ॥ १०१ ॥

अथ चातुर्मास में तुलसी-दान का फल ।—स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,— तुलसी की माला आदि रचना द्वारा चातुर्मास में घनश्याम-जनार्दन का पूजन करने से दश हजार अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है ॥ १०२ ॥

पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में श्रीयम-ब्राह्मण सम्वाद में लिखा है कि,—विशेषतः वैशाख मास में गौर-वर्ण और कृष्णवर्ण तुलसी से, जो पुरुष हर्षीकेश की पूजा करते हैं,— वे नारायण के तुल्य होते हैं। जो पुरुष समस्त वैशाख मास—तुलसी से तीनों संध्या ओं में मधुरिपु-हरि की पूजा करते हैं,— उन को फिर जन्म लेना नहीं पड़ता ॥ १०३ ॥

तुलसी के ग्रहण करने की विधि ।— वायुपुराण में लिखा है कि,— जो पुरुष विना स्नान किये तुलसी छेदन करके पूजा करते हैं,— वे निःसन्देह अपराधी होते हैं और उनके सम्पूर्ण कर्म्म विफल होते हैं।

तत्रादौ मन्त्रः।—

स्कान्दे।—"तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया।
केशवार्थे चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने॥ १०४॥
त्वदङ्गसम्भवैः पत्रैः पूजयामि यथा हरिम्।
तथा कुरु पवित्राङ्गि! कलौ मल-विनाशिनि॥

गारुड़े च—मोक्षैकहेतो! धरणी-प्रशस्ते! विष्णोः समस्तस्य गुरोः प्रिये! ते।
आराधनार्थं वरमञ्जरीकं लुनामि पत्रं तुलसि! क्षमस्व"॥
इत्युक्त्वा तुलसीं नत्वा चित्वा (छित्वा) दक्षिणपाणिना।
पत्राण्येकैकशो न्यस्येत् सत्पात्रे मञ्जरीरपि॥ १०५॥

तन्माहात्म्यञ्च।

स्कान्दे।—मन्त्रेणानेन यः कुर्य्याद्गृहीत्वा तुलसी-दलम्।
पूजनं वासुदेवस्य लक्षकोटि-फलं लभेत्॥

किञ्च।—शालग्रामशिलार्च्चार्थं प्रत्यहं तुलसी-क्षितौ।
तुलसीं ये विचिन्वन्ति धन्यास्ते करपल्लवाः॥ इति॥ १०६॥
संक्रान्त्यादौ निषिद्धोऽपि तुलस्यवचयः स्मृतौ।
परं श्रीविष्णुभक्तैस्तु द्वादश्यामेव नेष्यते॥ १०७॥

भाषा टीका।

इस विषय में प्रथम मंत्र।— स्कन्दपुराण में लिखा है कि,— हे शोभने! हे तुलसि! अमृत से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है, तुम सदा ही जनार्दन की प्यारी हो, केशव की पूजा के लिये मैं तुमको चयन करता हूँ तुम वरदायिनी हो ओ॥ १०४॥

हे पवित्र शरीर वाली! हे कलि के पापों को हरने वाली! तुम्हारे अंगोत्पन्न पत्र से मैं जिस प्रकार जनार्दन की पूजा कर सकूँ—तुम वही करो। गरुड़-पुराण में भी लिखा है कि,— हे तुलसि! तुम मुक्ति का एक मात्र कारण हो, पृथ्वी में तुम्हारी समान श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, तुम चराचर के गुरु भगवान् हरि की प्यारी हो, अतएव उन को उपासना के लिये मैं तुमारी सर्वोत्तम मञ्जरी और पत्र छेदन करता हूँ, तुम (मुझे) क्षमा करो,—यह मन्त्र उच्चारण-पूर्वक तुलसी को प्रणाम कर, दहिने हाथ से एक एक पत्र और मञ्जरी चयन कर, उत्तम पात्र में रक्खे॥ १०५॥

तुलसी चयन-मंत्र का माहात्म्य।— स्कन्दपुराण में लिखा है,— जो पुरुष इस मंत्र से तुलसीपत्र लेकर जनार्दन की पूजा करते हैं,—उनको करोड़ यज्ञों का फल मिलता है। और भी लिखा है कि,— जो पुरुष तुलसी-क्षेत्र में शालग्रामशिला की पूजा के लिये नित्य तुलसी चयन करते हैं,— उन पुरुषों की अंगुली धन्य है और धराधाम में तुलसी के सद्भाव से धरणी भी चरितार्थ होती है॥ १०६॥

स्मृतिशास्त्र में संक्रान्त्यादि * दिन में तुलसी

* यहां संक्रान्त्यादि कहने से— संक्रान्ति, अमावस्या, पूर्णिमा, द्वादशी और रविवार समझना चाहिये।

अथ तुलस्यवचयनिषेध-कालः। विष्णुधर्म्मोत्तरे—
न च्छिन्द्यात्तुलसीं विप्राः! द्वादश्यां वैष्णवः क्वचित्।
गारुड़े।— भानुवारं विना दूर्व्वां तुलसीं द्वादशीं विना॥
जीवितस्याविनाशाय अवचिन्वीत धर्म्मवित्।
पाद्मे च, श्रीकृष्ण-सत्या-सम्वादीय कार्त्तिक-माहात्म्ये—
द्वादश्यां तुलसी-पत्रं धात्री-पत्रञ्च कार्त्तिके।
लुनाति स नरो गच्छेन्निरयानतिगर्हितान्॥
अतएवोक्तं।-देवार्थे तुलसी-च्छेदो होमार्थे समिधां तथा।
इन्दुक्षये न दुष्येत गवार्थे तु तृणस्य च॥ १०८॥
एवं कृत्वा महापूजामङ्गोपाङ्गादिकं प्रभोः।
क्रमाद्यथासम्प्रदायं तत्तत्स्थानेषु पूजयेत्॥ १०९॥

अथाङ्गोपाङ्ग-पूजा।

मन्त्र-वर्णपदान्यादौ तत्तन्न्यासपदेषु च।
वेणुञ्च मालां श्रीवत्सं कौस्तुभञ्च यथास्पदम्॥ ११०॥
ततश्च मूलमन्त्रेण क्षिप्त्वा पुष्पाञ्जलि-त्रयम्।

भाषा टीका।

चयन करना निषिद्ध होने पर भी, हरि-भक्तगण केवलमात्र द्वादशी में ही तुलसी-चयन करने की इच्छा न करें॥ १०७॥

तुलसी चयन का निषिद्ध समय।— विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,— हे द्विजगण! वैष्णवगण कभी द्वादशी तिथि में तुलसी-छेदन न करें। गरुड़पुराण में लिखा है कि,— धर्म का जानने वाला मनुष्य यदि परमायु के घटने की कामना न करे— तो रविवार में दूर्वा और द्वादशी तिथि में तुलसी-चयन न करे, क्यों कि,— ऐसा करने से परमायु घटती है। पद्म-पुराण के भी कृष्ण-सत्यभामा सम्वाद के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है कि,— जो पुरुष द्वादशी तिथि में तुलसी-पत्र और कार्त्तिक के महीने में आमलकी-पत्र छेदन करता है;— वह अत्यन्त गर्हित नरक में गिरता है; अतएव कहा है कि,— अमावस्या-तिथि में देवता के लिये तुलसी-छेदन, होम के लिये काष्ठ-छेदन और गौ के लिये तृण-छेदन करने में दोष नहीं॥ १०८॥

इस प्रकार से भगवान् की महापूजा समापन-पूर्वक तत्तद्वर्णादि के स्थल में क्रमानुसार— और सम्प्रदायानुसार— गन्धादि द्वारा अंग अर्थात् श्रीमूर्त्ति में मंत्रवर्णादि का न्यास-स्थलसमूह और उपांगादि— अर्थात् वेणु इत्यादि चारों और श्रीमूर्त्तिस्थ मंत्र पद तथा समस्त अक्षर एवं आवरण की पूजा करनी चाहिये॥ १०९॥

अथ अंग और उपाङ्गपूजा।— पहिले तत्तत् न्यासस्थान में स्थानानुसार मंत्र का वर्ण और पद एवं वेणु, वनमाला, श्रीवत्स और कौस्तुभ की पूजा करे *॥ ११०॥

फिर मूल मंत्रोच्चारण पूर्वक तीनवार पुष्पाञ्जलि

* श्रीमूर्त्ति के जिस अंग में जो विन्यस्त हैं,— उनकी क्रमानुसार— पूजा करे। पूजा-प्रयोग टीका में ही वर्णित है अर्थात् मस्तक में "ओम् ह्रीं नमः" इत्यादि प्रकार से करनी चाहिये॥

प्रार्थ्यानुज्ञां भगवतोऽर्च्चयेदावृतिदेवताः ॥ १११ ॥
ताश्च प्रत्येकमावाह्य स्नानादि परिकल्प्य च।
पूजयेद्गन्ध-पुष्पाभ्यां यथास्थानं यथाक्रमम् ॥ ११२ ॥

अथावरण-पूजा।

कर्णिकायां चतुर्द्दिक्षु द्योतमानान् प्रभोः सखीन्।
दामं सुदामञ्च वसुदामंनंकिङ्किणिनं तथा ॥ इति प्रथमावरणम् ॥ ११३ ॥
तद्वहिश्चाग्निकोणादौ केशरेष्वङ्गदेवताः।
हृदयादियुताः पूज्याः स्व-स्व-वर्णादिशोभिताः ॥ इति द्वितीयम् ॥ ११४ ॥
ततो वहिश्च पूर्व्वादि-दिग् दलेष्वष्टसु प्रभोः।
महिषी रुक्मिणी सत्यभामा नाग्नजिती क्रमात् ॥
सुनन्दा मित्रविन्दा च सम्पूज्याथ सुलक्षणा।
जाम्ववती सुशीला च तत्तद्द्रव्यादि-भूषिता ॥ इति तृतीयम् ॥ ११५ ॥
पूर्व्वाद्यष्टदलाग्रेषु वसुदेवञ्च देवकीम्।
श्रीनन्दं श्रीयशोदाञ्च वलभद्रं सुभद्रिकाम् ॥
गोपान् गोपीश्च तद्भाव त्रपया दूरतः स्थिताः।
विचित्ररूपवेशादि शोभमानानिमान् यजेत् ॥

इति चतुर्थम् ॥

भाषा टीका।

प्रदान करके भगवान् की अनुमति से आवरण देवताओं में प्रत्येक को आवाहन कर, स्नानादि कराय, गन्ध पुष्प के द्वारा यथा स्थान में क्रमानुसार पूजा करनी चाहिये ॥ १११ ॥—॥ ११२ ॥

अथ आवरण पूजा।— भगवान् के पूर्वादि चारों ओर कर्णिका में शोभायमान उन के सखा—वसुदाम, सुदाम, दाम और किङ्किणी की पूजा करे, यही प्रथमावरण है ॥ ११३ ॥

फिर उस के वहिर्देश में अग्नि आदि चारों कोण में, केशर में विराजमान अंगदेवता ओं की निज-निज-वर्णादि और हृदयादि मंत्र के सहित पूजा करे,—यह दूसरा आवरण है ॥ ११४ ॥

उसके वहिर्भाग में पूर्वादि दिक्स्थित दलाष्टक में कमलादि वस्तु से अलङ्कृत रुक्मिणी, सत्यभामा, नाग्नजिती, सुनन्दा, मित्रविन्दा, सुलक्षणा, जाम्ववती और सुशीला,—इन सव कृष्ण-महिषियों की क्रमानुसार पूजा करे,—यही तीसरा आवरण है ॥ ११५ ॥

पूर्वादि दिक्स्थित दलाष्टक में विचित्र रूप और वेश इत्यादि द्वारा अलंकृत वसुदेव, देवकी, श्रीनन्द, यशोदा, वलराम, सुभद्रा, गोपवर्ग और श्रीकृष्ण के प्रति अधिक अनुरागयुक्त लज्जा के कारण दूरस्थित गोपीकुल की क्रमानुसार पूजा करनी चाहिये;—यही चौथा आवरण है। कर्णिका में भगवान् के पीछे की ओर मन्दार सह वांछितफलदायक स्वर्गीय

तद्बहिश्चतुरस्रान्तःपूर्व्वाद्याशाचतुष्टये ।
सन्तानं पारिजातञ्च कल्पद्रुममथार्च्चयेत् ॥ ११६ ॥

हरिचन्दनमप्येवं दिव्यवृक्षानभीष्टदान् ।
कर्णिकायाञ्च सम्पूज्य मन्दारं देव-पृष्ठतः ॥ इति पञ्चमम् ॥ ११७ ॥

तद्बहिश्चाष्टदिक्पालान् स्व-स्व-दिक्ष्वेव पूजयेत् ।
तत्तद्बीजाधिपत्याद्यवाहनस्वजनान्वितान् ॥ ११८ ॥

तत्तद्वर्णान् दिव्यवेशाननन्तञ्च तथार्च्चयेत् ।
निर्ऋत्यम्बुपयोर्मध्ये ब्रह्माणं चेन्द्ररुद्रयोः ॥ इति षष्ठम् ॥ ११९ ॥

ततो वहिश्चाष्टदिक्षु मौलिस्थानात्मलक्षणान् ।
भगवत्पार्षदांस्तत्र वर्णायुधविभूषणान् ॥

वज्रं शक्तिञ्च दण्डञ्च खड्गपाशाङ्कुशान् क्रमात् ।
यजेद्गदां त्रिशूलञ्च चक्राब्जेत्वध-ऊर्द्धयोः ॥ १२० ॥

तन्माहात्म्यञ्च विष्णुधर्म्मोत्तरे—

शंखं चक्रं गदां पद्मं तोमरं मूषलं हलम् ।
अन्यद्वपि हरेः शस्त्रं स्मृत्वा पापात् प्रमुच्यते ॥ इति सप्तमम् ॥ १२१ ॥

भाषा टीका ।

पाँच तरु की उपासना करे; वसुदेवादि के वहिर्देश में चारों कोण के मध्यस्थित पूर्वादि दिशा में क्रमानुसार सन्तान, पारिजात, कल्पतरु और हरिचन्दन की पूजा करनी चाहिये,—यही पाँचवां आवरण है ॥ ११६ ॥—॥ ११७ ॥

उसके वहिर्देश में पूर्वादि आठों ओर तत्तत् कपिशादि वर्णयुक्त दिव्य-वेशसमन्वित इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, पवन, कुवेर और ईशान;—इन आठ दिक्पालों की नैर्ऋत और वरुण कोण के मध्य में अधोदिक्पाल अनन्त की, एवं इन्द्र और रुद्र के वीचमें ऊर्द्ध-दिक्पाल ब्रह्माजी की निज निज वीज, वर्ण, आधिपत्य, अस्त्र, वाहन और स्वजन सहित पूजा करे,—यही छटा आवरण है। ॥११८॥-११९ ※

तिस के वहिर्देश में पूर्वादि आठ ओर वर्ण, मंत्र और विभूषण सहित निज निज लक्षणयुक्त भगवान् के श्रेष्ठ श्रेष्ठ पार्षदों की उपासना करे, तिस में आठों ओर क्रमशः वज्र, शक्ति, दंड, खड्ग, पाश, अङ्कुश, गदा, और त्रिशूल की एवं नीचे की ओर तथा ऊर्द्धभाग में चक्र और पद्म की पूजा करे ॥ १२० ॥

अब उसका माहात्म्य कहा जाता है ।— विष्णु-

※ पूजा का प्रयोग टीका में देखना चाहिये अर्थात "ओम् लां इन्द्राय देवाधिपतये सायुधाय सवाहनाय सपरिवाराय कपिशवर्णाय विविधमणिगणकिरण-प्रस्फुरद्भूषणाय नमः" इत्यादि प्रकार से प्रयोग करे।

सर्व्वानन्दप्रदं ह्येतत् सप्तावरण-पूजनम् ।
अशक्तोऽङ्गेन्द्र-वज्राद्यमावृतित्रयमर्च्चयेत् ॥ १२२ ॥

ईदृक् चैकान्तिभिर्ज्ञेयं तत्तत् कामवतां मतम् ।
अन्यथा गोकुले कृष्णदेवे तत्तदसम्भवात् ॥ १२३ ॥

एकान्तिभिस्तु राधाद्या यथाध्यानं प्रभोः प्रियाः ।
प्रथमावरणे पूज्याः काले कृष्णान्तिकं गताः ॥ १२४ ॥

ततो गोपकुमाराश्च तद्वयस्यास्ततो वहिः ।
नन्दो यशोदा-रोहिण्यौ गोपा गोप्यश्च तत्समाः ॥

ततश्च वत्सा गावश्च वृषारण्य-मृगादयः ।
ततो ब्रह्मादयो देवाः प्राप्ता नीराजनोत्सवे ॥ १२५ ॥

रामः कदाचित् कृष्णस्य कदाचिन्मातुरन्तिके ।
श्रीनारदश्च परितो भ्रमन् हर्षभराकुलः ॥ १२६ ॥

एवं यद्ध्यानपूजादावेकान्तिभ्यः प्ररोचते ।
कृष्णाय रोचतेऽत्यन्तं तदेव च सतां मतम् ॥ १२७ ॥

भाषा टीका ।

धर्म्मोत्तर में लिखा है कि,— शंख, चक्र, गदा, पद्म, तोमर, मूशल, हल अथवा जनार्द्दन के अन्य किसी अस्त्र को स्मरण करने पर, पातक से रक्षा मिलती है,—यही सातवां आवरण है ॥ १२१ ॥

यह सात आवरण सर्वानन्द दायक हैं। सब आवरणों की पूजा करने में यदि असमर्थ हो तो अङ्ग, इन्द्र और वज्रयुक्त तीन आवरण की पूजा करे ॥ १२२ ॥

इस प्रकार आवरण पूजा शत्रु ओं के जीतने की इच्छा करने वाले मनुष्यों की सम्मत है। भगवद्भक्तिपरायण महात्मा ओं को इस का स्मरण रखना चाहिये, नहीं तो अर्थात् तत्तत् कामना के विना गोकुल में हरि के सहित उस उस विषय का संघटन अर्थात्— रुक्मिणी आदि के सहित मिलन असंभव है ॥ १२३ ॥

भगवद्भक्तिपरायण प्रथमावरण में श्रीराधिकादि प्रभु की प्रिया ओं की पूर्वकथित ध्यानानुसार पूजा करे,— उन की लज्जा के कारण दूरस्थित होने पर भी पूजा के समय समीप रहें ॥ १२४ ॥

फिर प्रभु की समानवयस्क गोप-कुमारों की पूजा करनी चाहिये। उसके बाहर नंद और उन्हीं के समान गोपों की एवं यशोदा, रोहिणी, और तत्तुल्य गोपियों की पूजा करे। फिर वत्स, गाय, वैल और वन के मृगादि की पूजा करे। अनन्तर नीराजनोत्सव काल में प्राप्त ब्रह्माजी इत्यादि देवता ओं की उपासना करे ॥ १२५ ॥

वलदेवजी की किसी समय कृष्ण के समीप और किसी समय माता रोहिणी के समीप उपासना करे। इन के अतिरिक्त आनन्द में भर कर सर्वत्र विचरने वाले श्रीनारद जी की भी पूजा करे ॥ १२६ ॥

इस प्रकार ध्यान पूजादि के विषय में भगवद्भक्ति-परायण पुरुषों को जो रुचिकर हो,—वही श्रीहरि को प्रसन्न करने वाला और साधु-सम्मत है ॥ १२७ ॥

तथा च तृतीयस्कन्धे, श्रीकर्द्दमस्तुतौ—

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥

किञ्च—। यद्यद्धिया त उरुगाय ! विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥१२८॥

अथ श्रीमन्नामाष्टक-पूजा ।

ततोऽष्टनामभिः कृष्णं पुष्पाञ्जलिभिरर्च्चयेत् ।
कुर्य्यात्तैरेव वा पूजामशक्तोऽखिलदैः प्रभोः ॥ १२९ ॥

श्रीकृष्णो वासुदेवश्च तथा नारायणः स्मृतः ।
देवकीनन्दनश्चैव यदुश्रेष्ठस्तथैव च ॥
वार्ष्णेयश्चासुराक्रान्तभारहारी तथापरः ।
धर्म्मसंस्थापकश्चेति चतुर्थ्यन्तैर्नमोयुतैः ॥ १३० ॥

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते भगवद्भक्ति-
विलासे पौष्पिको नाम सप्तमो
विलासः ॥
॥ ७ ॥

भाषा टीका ।

भागवत के तृतीय-स्कन्ध की श्रीकर्दम स्तुति में लिखा है कि,— हेभगवन्! तुम परमावतारी हो, तुम्हारे जो जो रूप भक्तों को रुचिकारक हैं,— वे सब रूप ही तुम्हारे योग्य हैं। साधुपुरुष अपने अपने अन्तर में तुम्हारी जिस जिस मूर्त्ति की चिन्ता करते हैं,— तुम उन पर दया करके उन्ही मूर्त्तियों को धारण करते हो ॥ १२८ ॥

श्रीकृष्ण की नामाष्टक पूजा ।— फिर नामाष्टक-रूप मंत्र से श्रीहरि को पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। पूर्पकथित विधान से पूजा करने में यदि असमर्थ हो,— तो अष्टनाम में ही पूजा करे, इसी में सब पूजा का फल मिलेगा। उक्त अष्टनाम यथा।— श्रीकृष्ण, वासुदेव, नारायण, देवकीनन्दन, यदुश्रेष्ठ, वार्ष्णेय, असुराक्रान्तभारहारी और धर्मसंस्थापक। चतुर्थी विभक्त्यन्त "नमः" शब्दान्वित नाम से पूजा करे अर्थात् "श्रीकृष्णाय नमः" इत्यादि प्रकार से पूजा करनी चाहिये ॥ १२९ ॥ १३० ॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते भगवद्भक्तिविलासे भाषाटीकायां पौष्पिको नाम सप्तमो विलासः ॥ ७ ॥

सप्तमविलासः समाप्तः

श्रीश्रीराधामदनगोपालदेवो जयति ॥

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

अष्टम विलासः।

श्रीचैतन्य-प्रभुं वन्दे यत्पादाश्रय-वीर्य्यतः।
संगृह्णात्याकरव्रातादज्ञो रत्नावलीमयम् ॥ १ ॥

अथ धूपनम्।

ततश्च धूपमुत्सृज्य नीचैस्तन्मुद्रयार्पयेत्।
कृष्णं सङ्कीर्त्तयन् घण्टां वामहस्तेन वादयन् ॥ २ ॥

तथा च वह्वृच-परिशिष्टे—

धूपस्य वीजने चैव धूपेनाङ्गविधूपने।
नीराजनेषु सर्व्वेषु विष्णोर्नामानि कीर्त्तयेत् ॥
जयघोषं प्रकुर्व्वीत कारुण्यं चाभिकीर्त्तयेत्।
तथा मङ्गलघोषश्च जगद्वीजस्य च स्तुतिम् ॥ ३ ॥

अन्यत्र च।—ततः समर्पयेद्धूपं घण्टावाद्य-जयस्वनैः।
धूप-स्थानं समभ्यर्च्य तर्ज्जन्या वामया हरेः ॥

भाषा टीका।

जिन के चरणकमलों के आश्रय से इस दीन जनने आकर (सागरस्थानीय) सम्पूर्ण शास्त्रों से रत्न राजि का संग्रह करना आरम्भ किया है,—मैं उन्हीं श्रीचैतन्यप्रभु की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

अथ धूप दान।— इस के पीछे धूप सुसम्पन्न कर पृथ्वी से देवता की नाभि तक धूप का पात्र उठावे एवं वाम हाथ से घण्टा वजाय और श्रीहरि का नाम-कीर्तन कर, तन्मुद्रा द्वारा प्रदान करे ॥ २ ॥

वह्वृचपरिशिष्ट में यह विषय लिखा है कि,— धूप वीजन में अर्थात् चारों ओर सुगन्धि फैलने के लिये,—धूप-द्वारा अङ्ग में सुगन्धि करने के निमित्त व्यजन इत्यादि द्वारा वायु करने के समय, और सब प्रकार के नीराजन में श्रीहरि के नामों को कीर्त्तन करे और जगत्-कारण प्रभु का "जय" शब्द तथा मङ्गल शब्द उच्चारण, कारुण्य कीर्त्तन (पूतन इत्यादि की सद्गतिप्रदातृत्वादि वर्णन) और ब्रह्मादि-कृत स्तुति का पाठ करे ॥ ३ ॥

अन्यत्र भी लिखा है कि,—वाँये हाथ की तर्जनी से धूप के पात्र की पूजा कर, फिर घण्टा वजाय और "जय" शब्द उच्चारण के सहित प्रभु को धूप देवे। धूप देने का मन्त्र यथा;—तरु-रसोत्पन्न, गन्धयुक्त

तत्र मन्त्रः।—

"वनस्पति-रसोत्पन्नो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः।
आघ्रेयः सर्व्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्" ॥ ४ ॥

अथ धूपाः। वामन पुराणे—

रुहिकाख्यं कणो दारु सिह्लकं चागुरुः सिता।
शंखो जातीफलं श्रीशे धूपानि स्युः प्रियाणि वै ॥

मूलागमे।—सगुग्गुल्वगुरूशीरसिताज्यमधुचन्दनैः।
साराङ्गारविनिःक्षिप्तैः कल्पयेद्धूपमुत्तमम् ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे च—

तथैव शुभगन्धा ये धूपास्ते जगतःपतेः।
वासुदेवस्य धर्म्मज्ञैर्निवेद्या दानवेश्वर ! ॥

अथ धूपेषु निषिद्धम्।

तत्रैव।— न धूपार्थे जीव-जातम्।

तत्रैवापवादः।

विना मृग-मदं धूपे जीव-जातं विवर्ज्जयेत् ॥

कालिकापुराणे—

न यक्ष-धूपं वितरेन्माधवाय कदाचन ॥ ५ ॥

अग्निपुराणे—

न शल्लकीजं न तृणं न शल्करससम्भृतम्।
धूपं प्रत्यङ्गनिर्म्मुक्तं दद्यात् कृष्णाय बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

भाषा टीका।

उत्कृष्टगन्ध—देवताओं के सूँघने के उपयुक्त, यह धूप ग्रहण कीजिये। धूपविषय।— वामनपुराण में लिखा है कि,—वालछड़कण, (एक प्रकार का गुग्गुल) दारु, (देवदारु) सिल्हक, (वकधूप) अगर, शर्करा नखी और जातिफल (जायफल)—इन सब द्रव्यों की बनी धूप विष्णु को प्रसन्न करने वाली है। मूलागम में लिखा है कि,—गुग्गुल, शर्करा, घृत, मधु और चन्दन—इन सब द्रव्यों को उत्तम काष्ठ के अँगारों में डाल कर उत्तम धूप बनावे। विष्णुधर्म्मोत्तर में भी लिखा है कि,— हे दैत्येश्वर ! धर्म के जानने वाले पुरुष ऐसी उत्तम गन्धयुक्त धूप जगत्पति श्रीहरि को निवेदन करे। धूप में निषिद्ध।—विष्णुधर्म्मोत्तर में ही लिखा है कि,—प्राणिज(नखी आदि) द्रव्यों की धूप न बनावे। इस विषय में विशेष विधि।—धूप-विषय में मृग-मद के अतिरिक्त अपर प्राणीज द्रव्य त्याग देवे। कालिकापुराण में लिखा है कि,—माधव को कभी यक्षधूप (शाल निर्य्यासरूप-धूप) अर्पण न करे ॥ ५ ॥

अग्निपुराण में लिखा है कि,—शल्लकी समुत्पन्न, खसादि तृणोत्पन्न, शल्करसोत्पन्न और इन सब की काण्डादि (गुच्छे) प्रत्यङ्गोत्पन्न धूप कृष्ण को प्रदान करना बुद्धिमान पुरुष का कर्तव्य नहीं है ॥ ६ ॥

अथ धूपन-माहात्म्यम्।

नारसिंहे श्रीमार्कण्डेय-शतानीक-सम्वादे—

महिषाख्यं गुग्गुलुञ्च आज्ययुक्तं सशर्करम्।
धूपं ददाति राजेन्द्र! नरसिंहस्य भक्तिमान्॥
स धूपितः सर्व्वदिक्षु सर्व्वपापविवर्जितः।
अप्सरो-गणयुक्तेन विमानेन विराजता।
वायु-लोकं समासाद्य विष्णु-लोके महीयते॥

स्कान्दे।—ये कृष्णागुरुणा कृष्णं धूपयन्ति कलौ नराः।
सकर्पूरेण राजेन्द्र! कृष्ण-तुल्या भवन्ति ते॥ ७॥
साज्येन वै गुग्गुलुना सुधूपेन जनार्द्दनम्।
धूपयित्वा नरो याति पदं तस्य सदा शिवम्॥
अगुरुन्तु सकर्पूरं दिव्यचन्दन-सौरभम्।
दत्त्वा नित्यं हरेर्भक्त्या कुलानां तारयेच्छतम्॥

विष्णुधर्म्मोत्तर-तृतीयकाण्डे—

धूपानामुत्तमं तद्वत् सर्व्वकामफलप्रदम्।
धूपं तुरुष्ककं दत्त्वा वह्निष्टोम-फलं लभेत्॥
दत्त्वा तु कृत्रिमं मुख्यं सर्व्वकामानवाप्नुयात्।
गन्धयुक्तकृतं दत्त्वा यज्ञ-गोसवमाप्नुयात॥

भाषा टीका।

अथ धूपन-माहात्म्य।—नृसिंहपुराण के मार्कण्डेय शतानीक सम्वाद में लिखा है कि,—हे राजेन्द्र। जो भक्त घृत और शर्करा-युक्त का महिषाख्य गुग्गुल का धूप नृसिंह को अर्पण करते हैं, वे सब पापों से छूट चारों ओर से सुवासित होकर, अप्सराओं से युक्त रथ पर चढ़ कर, वायु-धाम लाभ करके फिर वहाँ से हरि-धाम में जाय, सन्मान के सहित वास करते हैं। स्कन्द पुराण में लिखा है कि,—हे राजसत्तम! कलि-युग में जो पुरुष कपूर-युक्त कालीअगर से हरि को धूप देता है,—वह कृष्ण की समान होता है; अर्थात् उस को सारूप्य की प्राप्ति होती है॥ ७॥

घृत के सहित गुग्गुल एकत्र करके उत्तम धूप से वासुदेव को धूपित करने पर, मनुष्य उन्ही को नित्य-कल्याणमय-धाम लाभ करता है। श्रीहरि को भक्ति-सहित कपूर-युक्त और सुगन्धित-चन्दन-युक्त-अगुरु प्रदान करने से, सौ कुलों का उद्धार होता है। विष्णुधर्म्मोत्तर के तीसरे काण्ड में लिखा है कि,—धूपों के बीच में उत्तम धूप,—सकल कामना के फल देने वाला है। शिह्लक (शिलारस) का धूप अर्पण करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिल सक्ता है। उत्तम कृत्रिम धूप प्रदान करने पर सब प्रकार की कामना सफल होती है,—वह गन्धयुक्त करके प्रदान करने से गोमेध-यज्ञ का फल मिल सकता है। हरि को कपूर का अर्क अर्पण करने पर, अश्वमेध-यज्ञ का फल होता है। वसन्त ऋतु में गुग्गुल अर्पण करने से, अग्निष्टोम-यज्ञ का फल होता है। ग्रीष्म ऋतु में चन्दन के सार

दत्त्वा कर्पूर-निर्य्यासं वाजिमेध-फलं लभेत।
वसन्ते गुग्गुलुं दत्त्वा वह्निष्टोममवाप्नुयात्॥
ग्रीष्मे चन्दन-सारेण राजसूय-फलं लभेत्।
तुरुष्कस्य प्रदानेन प्रावृष्युत्तमतां लभेत॥
कर्पूर-दानाच्छरादि राजसूयमवाप्नुयात॥ ८॥
हेमन्ते मृगदर्पेण वाजिमेध-फलं लभेत्।
शिशिरेऽगुरु-सारेण सर्व्वमेध-फलं लभेत्॥ ९॥
पदमुत्तममाप्नोति धूपदः पुष्टिमश्नुते।
धूपलेखा यथैवोर्द्ध्वं नित्यमेव प्रसर्पति॥
तथैवोर्द्ध्वगतो नित्यं धूप-दानाद्भवेन्नरः॥ १०॥

प्रह्लादसंहितायाञ्च—

यो ददाति हरेर्धूपं तुलसी-काष्ठ-वह्निना।
शतक्रतु-समं पुण्यं गोऽयुतं लभते फलम्॥ इति॥ ११॥
धूपयेच्च तथा सम्यक् श्रीमद्भगवदालयम्।
धूपं-शेषं ततो भक्त्या स्वयं सेवेत वैष्णवः॥

तथा च पाद्मे अम्वरीषं प्रति गौतम-प्रश्नं—

धूप-शेषन्तु कृष्णस्य भक्त्या भजसि भूपते!
कृत्वा चारात्रिकं विष्णोः स्व-मुर्द्ध्ना वन्दसे नृप!॥ १२॥

भाषा टीका।

द्वारा धूप प्रदान करने पर, राजसूय-यज्ञ का फल मिल जाता है। वर्षाऋतु में तुरुष्क-धूप (शिलारस) अर्पण करने पर, उत्तमत्व सिद्धि होती है और शरद् ऋतु में कपूर अर्पण करने पर राजसूय-यज्ञ का फल होता है। हेमन्त ऋतु में मृगनाभि अर्पण करने पर अश्वमेध यज्ञ का फल होता है और शीत काल में अगुरु-सार प्रदान करने से सब यज्ञों का फल होता है॥ ८-९॥

जो धूप देते हैं,—वे पर-लोक में उत्तम पद—वैकुण्ठ प्राप्त करते हैं और इस लोक में उन को पुष्टिलाभ होती है। अथवा, पुष्टि-पोषण, अर्थात श्रीभगवान् का अनुग्रह लाभ होता है। धूप की शिखा जिस प्रकार नित्य ऊपर को उठती है,—धूप देने वाला भी उसी प्रकार नित्य धूप-दान के कारण ऊर्द्धगामी होता है॥ १०॥

प्रह्लाद-संहिता में लिखा है कि,—जो तुलसी-काष्ठ की अग्नि से प्रभु को धूप देते हैं, उन को सौ यज्ञ के समान पुण्य प्राप्त होता है और वे दश हजार गो-दान का फल पाते हैं॥ ११॥

वैष्णवजन श्रीभगवान् का मन्दिर सब प्रकार से धूपित करें,—फिर भक्ति सहित स्वयं बची हुई धूपकी सेवा ग्रहण करें। पद्म-पुराण में अम्बरीष गौतम का प्रश्न वर्णित है कि,—हे नरपते! तुम क्या भक्ति से श्रीहरि के धूप-शेष की भजना करते रहते हो? हे नृप! उसकी आरती करके मस्तक-द्वारा क्या उसकी वन्दना करते रहते हो?॥ १२॥

अथ श्रीभगवदालयधूपन-माहात्म्यम्।

कृष्णागुरुसमुत्थेन धूपेन श्रीधरालयम्।
धूपयेद्वैष्णवो यस्तु स मुक्तो नरकार्णवात्॥

धूप-शेष-सेवन-माहात्म्यम्

पाद्मे, श्रीगौतमाम्बरीष-सम्वादे—

तीर्थ-कोटिशतैर्धौतो यथा भवति निर्म्मलः।
करोति निर्म्मलं देहंधूप-शेषस्तथा हरेः॥
न भयं विद्यते तस्य भौमं दिव्यं रसातलम्।
कृष्णधूपावशेषेण यस्याङ्गं परिवासितम्॥ १३॥
नापदो विपदस्तस्य भवन्ति खलु देहिनः।
हरेर्दत्तावशेषेण धूपयेद्यस्तनुं सदा॥ १४॥
नासौख्यं न भयं दुःखं नाधिजं नैव रोगजम्।
यः सेवयेद्धूप-शेषं विष्णोरद्भुतकर्म्मणः॥
क्रूरसत्वभयं नैव न च चौरभयं क्वचित्।
सेवयित्वा हरेर्धूपं निर्म्माल्यं पादयोर्जलम्॥ १५॥

हरिभक्तिसुधोदये च —

आघ्राणं यद्धरेर्द्दत्तं धूपोच्छिष्टस्य सर्व्वतः।

भाषा टीका।

श्रीभगवन्मन्दिर में धूप दान का माहात्म्य।— जो विष्णुभक्त पुरुष कालीअगर की धूप से श्रीहरि के मन्दिर को धूपित करते हैं, वे नरक समुद्र से उत्तीर्ण होते हैं। पद्मपुराण के गौतमाम्बरीष संवाद में लिखा है कि,—सौ करोड़ तीर्थों में स्नान करने से पुरुष जिस प्रकार विशुद्ध होता है,—श्रीहरि का धूपावशेष उसी प्रकार शरीर को पवित्र करता है। जिस पुरुष का शरीर श्रीहरि की धूप-शेष द्वारा सुवासित हुआ है,—क्या स्वर्ग, क्या पृथ्वी और क्या पाताल,—कहीं भी उनको डर विद्यमान नहीं रहता॥ १३॥

जो हरि को धूप अर्पण करके उसकी बची हुई से सदा अपने देह को धूपित करते हैं,—मैं सत्य ही कहता हूँ,—उन पर कभी आपद और विपद * विद्यमान नहीं रहती॥ १४॥

जो अद्भुतकर्मकारी हरि के धूप-शेष की सेवा करते हैं,—उनको किसी सुख का अभाव मात्र भी नहीं होता, उनको कुछ डर विद्यमान नहीं रहता और उनको मनःकष्टजनित वा पीड़ाजनित किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता। हरि के धूप निर्माल्य और चरणोदक की सेवा करने पर, कभी हिंसक जीव का भय एवं चोर का भय नहीं रहता॥ १५॥

हरिभक्तिसुधोदय में भी लिखा है कि,—श्रीहरि के उद्देश में प्रदत्त चारों ओर विस्तृत धूपकी उच्छिष्ट

* यद्यपि आपद और विपद एकार्थ वाची है, तथापि यहां "आपद्" शब्द से विघ्न और "विपद्" शब्द से उसके कारण समझना चाहिये।

तद्भवव्यालदष्टानां भवेत् कर्म्म-विषापहम् ॥ इति ॥ १६ ॥
दर्शनादपि धूपस्य धूपदानादिजं फलम् ।
सर्व्वमन्येऽपि विन्दन्ति तच्चाग्रे व्यक्तिमेष्यति ॥ १७ ॥

अथ दीपनम् ।

तथैव दीपमुत्सृज्य प्राग्वद्घण्टाञ्च वादयन् ।
पादाब्जादादृगब्जं तन्मुद्रयोच्चैः प्रदीपयेत् ॥

तत्र मन्त्रः ।

गौतमीये ।– "सुप्रकाशो महातेजाः सर्व्वतस्तिमिरापहः ।
सवाह्याभ्यन्तरज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् " ॥ १८ ॥

अथ दीपः ।

दीपं प्रज्वालयेच्छक्तौ कर्पूरेण घृतेन वा ।
गव्येन तत्रासामर्थ्ये तैलेनापि सुगन्धिना ॥

तथा च नारदीयकल्पे—
सघृतं गुग्गुलं धूपं दीपं गोघृतदीपितम ।
समस्तपरिवाराय हरये श्रद्धयार्पयेत् ॥

भविष्योत्तरे—
घृतेन दीपो दातव्यो राजन् ! तैलेन वा पुनः ॥ १९ ॥

भाषा टीका ।

का आघ्राण,—संसार रूप महासर्प से डसे हुए पुरुषों का कर्म्मजनित संसार-दुःखनाशक होता है ॥ १६ ॥

जो पुरुष हरि को धूप अर्पण करते हैं,—उन के अतिरिक्त यदि अपर मनुष्य भी धूपदान देखें,—तो वह धूपदानादि का सब फल पा सकते हैं,—यह सब विषय पीछे वर्णन किया जायगा ॥ १७ ॥

अथ दीपदान ।—धूप की समान दीप उत्सर्ग कर पूर्व की सदृश वाम हस्त से पुष्प द्वारा पूजित घंटा वजाय—तन्मुद्रा द्वारा प्रभु के चरण-कमल से नेत्र कमल तक धूप की अपेक्षा अधिक परिमाण से दीपित करे अर्थात् मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक चरणों से नेत्र पर्य्यन्त दीप से हरिको दीपित करै। वाम दिशास्थित घण्टा वाम हस्त से वजाते बजाते दक्षिण हस्त से दीप को नेत्र पर्य्यन्त उठाय कर अर्पण करे ।

दीपदान का मंत्र-यथा ।— गौतमीयतंत्र में लिखा है कि,—अत्यन्त उज्ज्वल महातेजा समस्त दिशाओं का अंधकार हरने वाला और वाहर भीतर ज्योतिः सम्पन्न यह दीप ग्रहण कीजिये ॥ १८ ॥

अब दीपि का विषय वर्णन करते हैं ।—जिस पुरुष की जैसी शक्ति हो—वह उसी के अनुसार कपूर से वा गाय के घृत से दीपक प्रज्वलित करें—इस में भी असमर्थ होने पर, सुगन्धित तैल से दीपक प्रज्वलित करना चाहिये । यह विषय नारदीय कल्प में भी वर्णित है कि,—घृतयुक्त—गुग्गुल—धूप और दीप गाय के घृत से जलाकर श्रद्धा-सहित सपरिवार हरि को प्रदान करे । भविष्यपुराण के उत्तर भाग में लिखा है कि,- हे नृपते ! घृत वा तैल द्वारा दीपक अर्पण करना चाहिये ॥ १९ ॥

महाभारते च—
हविषा प्रथमः कल्पो द्वितीयश्चौषधी-रसैः ।
अथ दीपे निषिद्धम् । भविष्योत्तरे—
वसामज्जादिभिर्दीपो न तु देयः कदाचन ।
महाभारते—वसामज्जास्थि-निर्यासैर्न कार्य्यः पुष्टिमिच्छता ॥
विष्णुधर्म्मोत्तर—तृतीयकाण्डे—
नीलरक्तदशं दीपं प्रयत्नेन विवर्ज्जयेत् ।
कालिकापुराणे—
दीपवृक्षाश्च कर्त्तव्या तैजसाद्यैश्च भैरव !
वृक्षेषु दीपो दातव्यो न तु भूमौ कदाचन ॥ २० ॥
अथ दीपन-माहात्म्यम् ।
स्कान्दे, ब्रह्म-नारद-सम्वादे—
प्रज्वाल्य देवदेवस्य कर्पूरेण च दीपकम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥
अत्रैवान्यत्र च—
यो ददाति महीपाल ! कृष्णस्याग्रे तु दीपकम् ।
पातकन्तु समुत्सृज्य ज्योतीरूपं लभेत् पदम् ॥ २१ ॥
वाराहे ।— दीपं ददाति यो देवि ! मद्भक्त्या तु व्यवस्थितः ।
नात्रान्धत्वं भवेत्तस्य सप्तजन्मानि सुन्दरि !

भाषा टीका ।

महाभारत में भी लिखा है कि,—घृत द्वारा दीपदान मुख्य कल्प और औषधि-रस—(तिल, सरसों और कुसुम इत्यादि के रस) से दीपदान गौणकल्प जानना चाहिये। दीपदान में निषिद्ध द्रव्य ।—भविष्यपुराण के उत्तर भाग में लिखा है कि,—वसा (चर्बी) और मज्जा (अस्थि-सार आदि) से कभी दीप प्रदान न करे। महाभारत में लिखा है कि,—जो पुरुष पुष्टि की कामना करते हैं,—वसा, मज्जा और अस्थिनिर्यास इन सब से दीपक अर्पण करना उन के पक्ष में अनुचित है। विष्णुधर्म्मोत्तर के तृतीय काण्ड में भी लिखा है कि,—नील और लोहितवर्ण दशा (वस्त्र तन्तु) युक्त दीप यत्नसहित परित्याग करे । कालिकापुराण में लिखा है कि,—हे भैरव ! तैजसादि [धातुप्रभृति] निर्म्मित दीप-वृक्ष में दीप निवेदन करना चाहिये। पृथ्वी में दीपक रखना उचित नहीं है, वृक्षाकार आधार में दीप अर्पण करना उचित है ॥ २० ॥

दीपदान का माहात्म्य ।—स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद संवाद में लिखा है कि,—देव-देव के लिये कर्पूर द्वारा दीपक जलाने से अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान का फल मिलता है और वंश का उद्धार होता है। इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी लिखा है कि,—हे नृपते ! श्रीकृष्ण के सन्मुख दीपदान करने पर, पापों से छूट कर ज्योतिःस्वरूप-वैकुण्ठ-पद प्राप्त हो सकता है ॥ २१ ॥

वराहपुराण में लिखा है कि,—हे देवि ! हे सुन्दरि ! एकाग्रचित्त से भक्तियुक्त हो—मुझ को दीप प्रदान

यस्तु दद्यात् प्रदीपं मे सर्व्वतः श्रद्धयान्वितः।
स्वयंप्रभेषु देशेषु तस्योत्पत्तिर्विधीयते ॥ २२ ॥

हरि-भक्तिसुधोदये—

दत्तं स्वज्योतिषे ज्योतिर्यद्विस्तारयति प्रभाम्।
तद्वर्द्धयति सज्ज्योतिर्दातुः पापतमोपहम् ॥

नारसिंहे।—घृतेन वाथ तैलेन दीपं प्रज्वालयेन्नरः।
विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्य-फलं शृणु ॥
विहाय पापं सकलं सहस्रादित्यसप्रभः।
ज्योतिष्मता विमानेन विष्णु-लोके महीयते ॥ २३ ॥

प्रह्लादसंहितायाञ्च—

तुलसी-पावकेनैव दीपं यः कुरुते हरेः।
दीप-लक्ष-सहस्राणां पुण्यं भवति दैत्यज! इति ॥ २४ ॥
पश्चाद्दीपञ्च तं भक्त्या मूर्द्धना वन्देत वैष्णवः।
धूपस्येवेक्षणात्तस्य लभन्तेऽन्येऽपि तत् फलम् ॥ २५ ॥
केचिच्चानेन दीपेन श्रीमूर्त्तेर्मूर्द्धनि वैष्णवाः।
नीराजनमिहेच्छन्ति महानीराजने यथा ॥ २६ ॥

भाषा टीका।

करने पर, इस जन्म से सात जन्म तक—अन्धे नहीं होते हैं। सम्यक्प्रकार श्रद्धायुक्त होकर मुझको दीप प्रदान करने पर, स्वप्रकाश ब्रह्मलोकादि वा श्वेत-दीपादि स्थान में जन्म ले सकता है ॥ २२ ॥

हरि-भक्तिसुधोदय में लिखा है कि,—स्वप्रकाश-स्वरूप भगवान् को दिया दीपक अपनी जो प्रभा विस्तार करता है—वह दाता के पातकरूपी अंधकार को हरणे वाले दिव्य ज्ञान की वृद्धि करती है। नृसिंह-पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष भक्तिसहित घृत वा तेल से दीपक जलाकर यथाविधि हरि को निवेदन करता है—उसके पुण्य का फल सुनों—वह सब पापों से छूट कर हजार सूर्य की समान तेजस्वी-रूप से ज्योतिर्मय विमान में चढ़ कर हरिधाम में गमनपूर्व्वक सन्मानसहित वास करता है ॥ २३ ॥

प्रह्लाद संहिता में भी लिखा है कि,—हे दैत्य-कुमार! जो तुलसी-काष्ठ की अग्नि से हरि को दीप प्रदान करते हैं, उनको हजार दीप अर्पण करने का फल मिलता है ॥ २४ ॥

वैष्णवजन दीप प्रदान करके पीछे भक्तिसहित उस दीप की मस्तक द्वारा वंदना करे। जिस प्रकार धूप देने वाले का फल धूपदर्शक भी पाते हैं;—ऐसे ही दीप देने वाले के समान दीपनदर्शक भी फल पाते हैं ॥ २५ ॥

कोई कोई वैष्णव दीप दान के समय भी महा-नीराजनवत् * भगवान् के मस्तक में नीराजन की इच्छा करते हैं ॥ २६ ॥

* नृत्यगीत के अनन्तर पूजा के अंत में जो नीराजन होता है,—उसको महानीराजन कहते हैं।

तथा च रामार्च्चनचन्द्रिकायां धूपानन्तरदीप-प्रसङ्गे—

आरात्रिकन्तु विषमवहुवर्त्तिसमन्वितम् ।
अभ्यर्च्चय रामचन्द्राय वाममध्यमथार्पयेत ॥
"नमो दीपेश्वराये"ति दद्यात् पुष्पाञ्जलिं ततः ।
अवधूप्याभ्यर्च्चय वाद्यैर्मूर्द्धि नीराजयेत् प्रभुम् ॥ इति ॥ २७ ॥
अतएवेष्यते तस्य कराभ्यां वन्दनञ्च तैः ।
नाम चारात्रिकेत्यादि वर्त्त्योऽपि वहुलासमाः ॥ २८ ॥
प्रसङ्गाल्लिख्यतेऽत्रैव श्रीमद्भगवदालये ।
दीप-दानस्य माहात्म्यं कार्त्तिकीयञ्च तद्विना ॥ २९ ॥

अथ श्रीभगवदालये प्रदीपप्रदान-माहात्म्यम् ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे प्रथम-काण्डे —

दीपदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति ।
केशवायतने कृत्वा दीप-वृक्षं मनोहरम् ॥
अतीव भ्राजते लक्ष्म्या दिवमासाद्य सर्व्वतः ।
दीपमालां प्रयच्छन्ति ये नराः शार्ङ्गिणो गृहे ॥
भवन्ति ते चन्द्रसमाः स्वर्गमासाद्य मानवाः ।
दीपागारं नरः कृत्वा कूटागारनिभं शुभम् ॥
केशवालयमासाद्य लोके भाति स शक्रवत् ।
यथोज्ज्वलो भवेद्दीपः सम्प्रदातापि यादव !

भाषा टीका ।

रामार्चनचंद्रिका में धूप दानके पीछे दीपदान के प्रसंग में लिखा है कि,—अयुग्म और वहुत वत्तीयुक्त वाम मध्यमा-सहित नीराजन-दीपक में पुष्पादि द्वारा अर्चना पूर्वक श्रीरामचंद्रजी को प्रदान करे फिर "दीपेश्वराय नमः" कह कर पुष्पाञ्जली अर्पण करनी चाहिये और यह दीपक घुमाकर वाजे से देव-देव की पूजा करके उन के मस्तक में नीराजन करे ॥२७॥

इसी कारण श्रीरामचन्द्र के पूजापरायण वैष्णव जन हाथों से उनकी वंदना, वहुत सी अयुग्म वत्ती और आरात्रिक नीराजन नाम का इच्छा करते हैं ॥ २८ ॥

यह प्रसंगानुसार श्रीभगवन्मंदिर में कार्तिक मास में देय, दीप के अतिरिक्त दीपदान का माहात्म्य वर्णित होता है ॥ २९ ॥

अनन्तर श्रीभगवन्मंदिर में दीपदान का माहात्म्य ।—

विष्णुधर्म्मोत्तर के प्रथमकांड में लिखा है कि,—दीपदान के समान दान. न हुआ और न आगे को होगा, जो हरि-मंदिर में मनोहर दीप-तरु निर्माण करते हैं— वे सुर-पुर में जाकर परम शोभा से विभूषित होते हैं। जो सव लोक हरि-मंदिर में दीपमाला अर्पण करते हैं,—वे सब सुर-धाम में जाकर चन्द्रमा की सदृश होते हैं। जो हरि-मंदिर में जाय—उस देव-गृह को दीपालोक से मञ्च-गृह की समान करते हैं— वे इस धाम में देवेन्द्र की समान शोभा को प्राप्त होते हैं । हे यादव ! दीप जिस प्रकार

तथा नित्योज्ज्वलो लोके नाक-पृष्ठे विराजते ।
सदीपे च यथा देशे चक्षूंषि फलवन्ति च ॥
तथा दीपस्य दातारो भवन्ति सफलेक्षणाः ।
एकादश्याञ्च द्वादश्यां प्रतिपक्षन्तु यो नरः ॥
दीपं ददाति कृष्णाय तस्य पुण्य-फलं शृणु ।—
सुवर्णमणिमुक्ताढ्यं मनोज्ञमतिसुन्दरम् ॥
दीप-मालाकुलं दिव्यं विमानमधिरोहति ॥ ३० ॥
पद्मसूत्रोद्भवां वर्त्तिं गन्धतैलेन दीपकान् ।
विरोगः सुभगश्चैव दत्त्वा भवति मानवः ॥
दीप-दानं महापुण्यमन्यदेवेष्वपि ध्रुवम् ।
किं पुनर्वासुदेवस्यानन्तस्य तु महात्मनः ॥ ३१ ॥

तत्रैव तृतीयकाण्डे—

दीपं चक्षुःप्रदं दद्यात् तथैवोर्द्धगतिप्रदम् ।
ऊर्द्ध्वं यथा दीप-शिखा दाता चोर्द्धगतिस्तथा ॥
यावदक्षि-निमेषाणि दीपो देवालये ज्वलेत् ।
तावद्वर्ष-सहस्राणि नाक-पृष्ठे महीयते ॥ ३२ ॥

बृहन्नारदीये, वीतिहोत्रं प्रति यज्ञध्वजस्य पूर्व्वजन्म-वृत्तकथने—

प्रदीपः स्थापितस्तत्र सुरतार्थं द्विजोत्तम !

भाषा टीका ।

समुज्ज्वल होता है,—दीपदाता भी उसी प्रकार नित्य समुज्ज्वलमूर्त्ति ग्रहण करके सुर-धाम में विराजमान होता है। जिस प्रकार दीपालोक-युक्त स्थल में नेत्र सफल होते हैं,—ऐसे ही दीपदाता ओं के नेत्र भी सफल होते हैं। जो पुरुष प्रतिपक्ष की एकादशी और द्वादशी तिथि में श्रीहरि को उद्देश में दीप अर्पण करते हैं,—उन के पुण्य का फल सुनो,—वे पुरुष स्वर्ण-मणि-मुक्तागठित, मनोहर अति सुन्दर दीपावली से अलंकृत स्वर्गीय विमान में आरोहण करते हैं ॥ ३० ॥

जो पुरुष पद्मसूत्रोत्थ वर्त्ती गंध तैल में भिजो कर दीप प्रदान करते हैं,—वे निरोग और सौभाग्यवान् होते हैं। जब अन्यान्य देवता ओं को दीप प्रदान करने से निसंदेह महापुण्य-संचय होता है—तब देव-देव अनन्त वासुदेव को दीप प्रदान करने से जो बहुत पुण्य उपार्जन होगा—इस में संदेह ही क्या है? ॥ ३१ ॥

इस ग्रंथ के ही तृतीय काण्ड में लिखा है,—दीप—चक्षुःप्रद है; उस के द्वारा ऊर्द्धगति-लाभ होती है। जिस प्रकार दीप-शिखा ऊपर को उठती है,—दीप दाता भी वैसे ही ऊची गति लाभ करता है। देव-मंदिर में दीप, नेत्र के जितने निमेष काल पर्यन्त प्रदीप्त रहता है, दीपदाता उतने ही हजार वर्ष सन्मान के सहित वैकुण्ठ-धाम में वास करता है ॥ ३२ ॥

बृहन्नारदीयपुराण में वीतिहोत्र के समीप यज्ञध्वज की पूर्वजन्म-कथा के प्रसंग में लिखा है कि,—हे विप्रप्रवर! मैंने संभोग की इच्छा से उस हरि-

तेनापि मम दुष्कर्म्म निःशेषं क्षयमागतम् ॥

विष्णुधर्म्मे च—

विलीयते स्वहस्ते तु स्वातन्त्र्ये सति दीपकः ।
महाफलो विष्णु-गृहे न दत्तो नरकाय सः ॥ ३३ ॥

नारदीये, मोहिनीं प्रति श्रीरुक्माङ्गदोक्तौ—

तिष्ठन्तु वहुवित्तानि दानार्थं वरवर्णिनि !
हृदयायासकतॄणि दीप-दानाद्दिवं व्रजेत् ॥
तस्याप्यभावे सुभगे ! पर-दीपप्रवोधनम् ।
कर्त्तव्यं भक्ति-भावेन सर्व्वदानाधिकश्च यत् ॥ इति ॥ ३४ ॥
सदा कालविशेषेऽपि भक्त्या भगवदालये ।
महादीप-प्रदानस्य महिमाप्यत्र लिख्यते ॥

अथ महादीप-माहात्म्यम् ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे, प्रथमकाण्डे—

महावर्त्तिः सदा देया भूमिपाल ! महाफला ।
कृष्णपक्षे विशेषेण तत्रापि च विशेषतः ॥
अमावस्या च निर्द्दिष्टा द्वादशी च महाफला ।

भाषा टीका ।

निकेतन में दीप जलाकर रक्खा था,—उसी पुण्य से मेरे सब पातक नष्ट हो गये हैं *। विष्णुधर्म में भी लिखा है कि,—स्वातन्त्र्य एवं दीर्घ स्वीय हस्त विद्यमान रहने से जो पुरुष श्रीहरि-मन्दिर में महाफलदायक दीपक अर्पण नहीं करता,—वह नरक में जाता है ॥३३ ॥

नारदपुराण में मोहिनी के प्रति श्रीरुक्माङ्गदवाक्य है, यथा;—हे वरवर्णिनी ! दान के अर्थ वहुत से धन का नाश करना हृदय के क्लेशदायक है,—सुतरां ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है, दीप-दान करने से ही सुर-पुर में गमन कर सकता है। हे सुभगे ! दीप के भी अभाव होने पर, उस स्थान में भक्तिसहित अन्य का दीप जला देना उचित है; क्योंकि—वह भी सब दानों से अधिक फलप्रद कहा गया है ॥ ३४ ॥

भगवन्मंदिर में सब दिन में और काल भेद (अमावास्यादि तिथि) में महादीप अर्पण करने का माहात्म्य यहां वर्णित होता है।—

अनन्तर महादीप का माहात्म्य।—विष्णुधर्म्मोत्तर के प्रथम काण्ड में लिखा है कि,—हे नरपते ! निरन्तर महाफलप्रद महावर्त्ती समर्पण करे, विशेष कर कृष्णपक्ष में दान

* इस जगह की इस प्रकार अख्यायिका के विषय शास्त्र में लिखा है कि,—“ यज्ञध्वजनामक राजा पहिले जन्म में महापापों से लिप्त वर्णशंकर चंडाल थे। कोई समय में वह पर-स्त्री से सम्भोग करने के लिये, पूजादिरहित श्रीभगवन्मन्दिर में जाकर, वह जगह साफ करके, दिया जलाकर, पाप कार्य्य में समस्त रात्रि विता रहे थे; उस वक्त अचानक, मन्दिर-रक्षकगण आकर उनको निधन (मार-डाला) करने के बाद, उसी वक्त वह श्रीवैकुण्ठ लोक प्राप्त हुए। वहां पर और ब्रह्मादि लोक-समूह में विविध भोग उपभोग करके, फिर वह निज इच्छा से पृथिवी में जन्म ग्रहण करके श्रीभगवद्भावपरायण राजा हुए थे”।

आश्वयुज्यामतीतायां कृष्णपक्षश्च यो भवेत् ॥
अमावस्या तदा पुण्या द्वादशी च विशेषतः।
देवस्य दक्षिणे पार्श्वे देया तैल-तुला नृप !
पलाष्टकयुतां राजन् ! वर्त्तिं तत्र तु दापयेत्।
वाससा तु समग्रेण सोपवासो जितेन्द्रियः ॥ ३५ ॥
महावर्त्तिद्वयमिदं सकृद्दत्त्वा महामते !
स्वर्लोकं सुचिरं भुक्त्वा जायते भूतले यदा ॥
तदा भवति लक्ष्मीवान् जयद्रविणसंयुतः।
राष्ट्रे च जायते स्वस्मिन् देशे च नगरे तथा ॥
कुले च राजशार्दूल ! तत्र स्यात् दीपवत्प्रभः।
प्रत्युज्ज्वलश्च भवति युद्धेषु कलहेषु च ॥
ख्यातिं याति तथा लोके सद्‌गुणानाञ्च सद्‌गुणैः।
एकमप्यथ यो दद्यादभीष्टमनयोर्द्वयोः ॥
मानुष्ये सर्व्वमाप्नोति यदुक्तं ते मयानघ !
स्वर्गे तथात्वमाप्नोति भोग-काले तु यादव !
सामान्यस्य तु दीपस्य राजन्! दानं महाफलम्।
किं पुनर्महतो दीपस्यात्रेयत्ता न विद्यते ॥ ३६ ॥

भाषा टीका।

करना वहुत ही उचित है और उस में भी फिर द्वादशी-तिथि और अमावस्या-तिथि में अर्पण करने से अधिकतर फल होता है। हे राजन् ! आश्विन मास की पूर्णिमा के पीछे कृष्णपक्ष की पवित्र द्वादशी-तिथि में और अमावस्या के दिन देव-देव के दक्षिण भाग में एक तेल की तुला दान करनी उचित है। हे राजन्! इन्द्रिय दमनपूर्वक उपवासी हो—उस में एक सौ आठ पल-तैलयुक्त एक वत्ति देना चाहिये। अथवा सावत वस्त्र से वत्ती वनाकर डाल देवे ॥ ३५ ॥

हे महाबुद्धिमान् ! जो एक बार-मात्र इस प्रकार दो महावत्ती हरि को अर्पण करते हैं,—वे सुरपुर में वहुत दिनों तक सुख भोगते हैं और जब वे फिर धरा-धाम में देह धारण करते हैं,—तव श्रीमान् धनवान् और जयशाली होते हैं। और भी लिखा है,—हे नृपश्रेष्ठ ! वह पुरुष राज्य में, अपने देश में, नगर में और अपने वंश में दीपक की समान प्रकाशमान होते हैं,—वे संग्राम और विवाद में अति उज्ज्वल प्रतिभाशाली होते हैं और इस लोक में सद्‌गुणवान् पुरुषों के बीच में सद्‌गुणों से विख्याति लाभ करते हैं।—इन दो प्रकार की वत्तियों के वीच में अपने इच्छानुरूप जो केवल एक भी हरि को अर्पण करते हैं—हे निष्पाप यादव ! तुम्हारे निकट जो जो वर्णन किया—वे पुरुष नरलोक में उन सब को प्राप्त होते हैं,—वे भोग के समय, स्वर्ग और लक्ष्मीवत्त्वादि को प्राप्त होते हैं। हे राजन्! साधारण दीप अर्पण करने से जब महाफल संचित होता है,—तव महादीप प्रदान करने से जो कितना फल होगा—उसकी सीमा का निर्णय नहीं होता है ॥ ३६ ॥

अथ शोणमलिनादिवस्त्र-वर्त्त्या दीपदान-निषेधः।

शोणं वादरकं वस्त्रं जीर्णं मलिनमेव च।
उपभुक्तं न वा दद्यात् वर्त्तिकार्थं कदाचन ॥ इति ॥
स्वयमन्येन वा दत्तं दीपं न श्रीहरेर्हरेत्।
निर्व्वापयेन्न हिंस्याच्च शुभमिच्छन् कदाचन ॥ ३७ ॥

अथ दीपनिर्व्वापणादि-दोषः।

विष्णुधर्म्मोत्तरे प्रथमकाण्डे—

दत्त्वा दीपो न हर्त्तव्यस्तेन कर्म्म विजानता।
निर्व्वापणञ्च दीपस्य हिंसनञ्च विगर्हितम् ॥
यः कुर्य्याद्धिंसनं तेन कर्म्मणा पुष्पितेक्षणः—
दीपहर्त्ता भवेदन्धः काणो निर्वाणकृद्भवेत् ॥ ३८ ॥

विष्णुधर्म्मे च नारकान् प्रति श्रीधर्म्मराजोक्तौ—

युष्माभिर्य्यौवनोन्मादमुदितैरविवेकिभिः।
द्यूतोद्योताय गोविन्द-गेहाद्दीपः पुरा हृतः ॥
तेनाद्य नरके घोरे क्षुत्तृष्णा-परिपीड़िताः।
भवन्ति पतितास्तीव्र शीतवातविदारिताः ॥ ३९ ॥

तत्रैव श्रीपुलस्त्योक्तौ च—

तस्मादायतने विष्णोर्दद्याद्दीपान् द्विजोत्तम !

भाषा टीका।

अनन्तर लोहितवर्ण और मलिनादि वस्त्र की बनी वत्ती से दीप-दान का निषेध।— लोहितवर्ण के, जीर्ण, मैले और वरते हुए कार्पास वस्त्र से वत्ती बनाकर दीप-दान करना कभी उचित नहीं है। अपने मंगल की इच्छा करने वाला पुरुष कभी हरि के समीप अपने वा दूसरे के रक्खे हुए दीपक को अन्यत्र न ले जाय, न बुझावे और तैलादिशून्य भी न करे ॥ ३७ ॥

अनन्तर दीप निर्वापनादि का दोष।— विष्णुधर्म्मोत्तर के प्रथम कांड में लिखा है कि,— दीप निर्वापण-दोष जानने वाले को दीप प्रदान-पूर्वक उसको हरण करना उचित नहीं है। क्यों कि— दीपक का बुझाना और तैल-रहित करना निन्दित कर्म्म है। दीपक को तैलादि-रहित करने से उस के नेत्र में पुष्परोग (चक्षु-रोगविशेष) होता है, जो पुरुष दीपक हरण करता है,—वह अंधा (दोनों नेत्र-रहित) होता है और बुझा देने से काणा (एक-नेत्र-रहित) होता है ॥ ३८ ॥

विष्णुधर्म में नरकस्थित पुरुषों के प्रति श्रीधर्मराज के वचन में प्रकाशित है, यथा;— तुम लोगोंने पूर्व काल में यौवन के गर्व से उन्मत्त और ज्ञान-हीन होकर जुए प्रकाश करने के लिये हरि के मंदिर से दीपक हरण किया था, इसी कारण अब भूख, प्यास से पीड़ित और अत्यन्त शीतल वायु से क्लिष्ट होकर तीव्र भयंकर नरक में निमग्न हुए हो ॥ ३९ ॥

इसी विष्णुधर्म के पुलस्त्य-वचन में वर्णित है कि,—हे द्विजश्रेष्ठ ! अतएव हरि के मंदिर में दीप प्रदान

तांश्च दत्त्वा न हिंसेत न च तैलवियोजितान् ॥
कुर्व्वीत दीपहन्ता च मूकोऽन्धो जायते मृतः ।
अन्धे तमसि दुष्पारे नरके पच्यते किल ॥ ४० ॥

भूमौ दीपदान-निषेधः ।

कालिकापुराणे —

दीप-वृक्षाश्च कर्त्तव्यास्तैजसाद्यैश्च भैरव !
वृक्षेषु दीपो दातव्यो न तु भूमौ कदाचन ॥

अथ नैवेद्यम् ।

दत्त्वा पुष्पाञ्जलिं पीठं पाद्यमाचमनं तथा ।
कृत्वा पात्रेषु कृष्णायार्पयेद्भोज्यं यथाविधि ॥ ४१ ॥

अथ नैवेद्यार्पण-विधिः ।

अस्त्रं जप्त्वाम्बुना प्रोक्ष्य निवेद्यं चक्रमुद्रया—
संरक्ष्य प्रोक्षयेद्वायु-वीजजप्तजलेन च ॥
तेन संशोष्य तद्दोषमग्नि-वीजञ्च दक्षिणे—
ध्यात्वा कर-तलेऽन्यत्तत् पृष्ठे संयोज्य दर्शयेत ॥
तदुत्थवह्निना तस्य शुष्कदोषं हृदा दहेत् ।
ततः कर-तले सव्येऽमृत-वीजं विचिन्तयेत ॥ ४२ ॥

भाषा टीका ।

करे और दीपदान करके उसको निर्वाण (बुझाना) वा तैल-रहित न करे। जो पुरुष दीपक बुझा देता है,—वह इस लोक में वाक्शक्ति-हीन (गूँगा) और अंधा होता है और देह के अंत में अंधतामिस्र-नामक अपार नरक में वास करता है,—इस में संदेह नहीं ॥ ४० ॥

पृथ्वी में दीपदान का निषेध।— कालिकापुराण में लिखा है कि,—हे भैरव ! तैजसादि-द्वारा दीप-तरु (झाड़ आदि)प्रस्तुत करे और उसी में प्रदीप अर्पण करे, दीपक कभी भूमि में न रक्खे।

अथ नैवद्य।–पुष्पाञ्जलि, आसन, पाद्य और आचमन अर्पण करने के पीछे पात्र में भोज्य [पायसादि नैवेद्य] रखकर विधि-पूर्वक [छत्र, चामर-वीजन, गीत, वाद्यादि—उत्सव सहित] लाय के श्रीकृष्ण को प्रदान करे * ॥ ४१ ॥

अनन्तर नैवेद्य-दान की विधि।— "अस्त्राय फट्" मंत्र द्वारा जप्त अर्थात् अभिमन्त्रित जल से नैवेद्य प्रोक्षण-पूर्वक चक्र-मुद्रा घुमाकर रक्षा करे । फिर वायु-वीज [यं] का दशवार जल में जप करके—वह जल नैवेद्य पर छिड़कना चाहिये, उस से नैवेद्य-द्रव्य के दोष का शुष्क करके दहिने हाथ के तल [हथेली] में वह्नि-वीज (रं) की भावना करे और दहिने हाथ की हथेली के पृष्ठ-भाग में बाँये हाथ की हथेली लगाकर दिखावे। और उस से निकली हुई वह्निद्वारा नैवेद्य-द्रव्य का शुष्कत्व दोष मन मन में दहन करना चाहिये । फिर बाँये हाथ की हथेली में अमृतवीज (ठं) की चिन्ता करे ॥ ४२ ॥

* 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'—इस मंत्र से जल-गण्डूष भी अर्पण करना चाहिये।

तत्पृष्ठे दक्षिणं पाणि-तलं संयोज्य दर्शयेत ।
तदुत्थया निवेद्यं तत् सिञ्चेदमृत-धारया ॥ ४३ ॥
जलेन मूलजप्तेन प्रोक्ष्य तच्चामृतात्मकम्—
सर्व्वं विचिन्त्य संस्पृश्य मूलं वाराष्टकं जपेत् ॥ ४४ ॥
अमृतीकृत्य तद्धेनु-मुद्रया सलिलादिभिः ।
तच्च कृष्णञ्च संपूज्य गृहीत्वा कुसुमाञ्जलिम् ॥
श्रीकृष्णं प्रार्थ्य तद्वक्त्रात्तेजो ध्यात्वा विनिर्गतम् ।
संयोज्य च निवेद्यैतत् पात्रं वामेन संस्पृशन् ॥
दक्षेण पाणिनादाय गन्धपुष्पान्वितं जलम् ।
स्वाहान्तं मूलमुच्चार्य्य तज्जलं विसृजेद्भुवि ॥ ४५ ॥
तत् पाणिभ्यां समुत्थाप्य निवेद्यं तुलसीयुतम्—
पात्राढ्यं तस्य मन्त्रेण भक्त्या भगवतेऽर्पयेत ॥

निवेदन-मन्त्रश्चायम्—
"निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे !" ॥ इति ॥ ४६ ॥
अमृतोपस्तरणमसि स्वाहेत्युच्चारयन् हरेः—

भाषा टीका ।

अनन्तर दहिने हाथ का तल-देश बाँये हाथ के पृष्ठ-भाग में लग्न करके दिखावे और उक्त मुद्रा से उत्पन्न सुधा-द्वारा उस नैवेद्य द्रव्य को सेचन करे, अर्थात् मन मन में इस प्रकार चिन्ता करे। तीन ताल और दिग्बन्धन-द्वारा उस नैवेद्य को रक्षा करके कवच-मन्त्र— (ओं अस्त्राय फट्) से अवगुण्ठन करे अर्थात् हस्त-तल से आवरण करे। ॥ ४३ ॥

फिर मूल मंत्र से अभिमंत्रित जल द्वारा इस नैवेद्य को प्रोक्षण कर—उस सब को सुधामय चिन्ता करे। फिर उसको दहिने हाथ से छू-कर आठवार मूल मंत्र का जप करे ॥ ४४ ॥

फिर धेनु-मुद्रा से उक्त नैवेद्य को परिपूर्ण जान-कर जल सहित गंधपुष्प-द्वारा उस की और "श्रीकृष्णाय नमः"—यह मन्त्र पाठ कर श्रीहरि की पूजा करे। अनन्तर पुष्पाञ्जलि ग्रहणपूर्वक श्रीहरि को यह कहकर प्रार्थना करे कि,—"हे भगवन् ! नैवेद्य-ग्रहण करने के अर्थ तुम्हारे श्रीमुखकमल से तेजः वहिर्गत हो"— इस प्रकार से प्रार्थना करके, मानों प्रभु के वदनकमल से तेजः निकल कर नैवेद्य में मिलित होता है,— इस भांति चिन्ता करके निवेदन करे। फिर बाँये हाथ से नैवेद्य के पात्र को छू-कर दहिने हाथ में गंधपुष्प सहित जल लेवे और स्वाहान्त मूल मंत्र का पाठ कर "श्रीकृष्णाय इदं नैवेद्यं कल्पयामि"—कहकर गंध-पुष्पादि-सहित दहिने हाथ का —वह जल देव-तीर्थ से पृथ्वी में छोड़ दे * ॥ ४५ ॥

फिर तुलसी-दलयुक्त पात्रसहित नैवेद्य दोनों हाथों में धारण-पूर्वक पृथ्वी से उठाय— भक्तिसहित नैवेद्य प्रदान के मंत्र से प्रभु को निवेदन कर दे। निवेदन मंत्र का अर्थ यथा,—"हे भगवन् ! यह हविः आप को निवेदन करता हूं, आप ग्रहण कीजिये ॥ ४६ ॥

फिर "अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा"—यह मंत्र पढ़-

* अंगुलियों के अग्र भाग को "देव-तीर्थ" कहा है।

दत्त्वाथ विधिवद्वारि-गण्डूषं वामपाणिना—
दर्शयेद्ग्रासमुद्रान्तु प्रफुल्लोत्पलसन्निभाम् ॥ ४७ ॥
प्राणादिमुद्रा हस्तेन दक्षिणेन तु दर्शयेत् ।
मन्त्रैश्चतुर्थीस्वाहान्तैस्ताराद्यैस्तत्तदाह्वयैः ॥ ४८ ॥
ततः स्पृशंश्च करयोरङ्गुष्ठाभ्यामनामिके ।
प्रदर्शयेन्निवेद्यस्य मुद्रां तस्य मनुं जपन् ॥ ४९ ॥

मन्त्रश्चायं;— क्रमदीपिकायाम्—

नन्दजोऽम्बुमनु-विन्दुयुग्नतिः पार्श्व-रा-मरु-दवात्मनेऽनि च ।
रुद्रङेयुत-निवेद्य-मात्मभू-मांस-पार्श्व-मनिल-स्तथाऽग्नियुग् ॥ इति ॥
निवेद्यस्य मनुत्वेन स्वाभीष्टं मनुमेव ते—
एकान्तिनो जपन्तस्तु ग्रास-मुद्रां वितन्वते ॥
न च ध्यायन्ति ते कृष्ण-वक्त्रात्तेजो-विनिर्गमम् ।

भाषा टीका ।

कर भगवान् के हस्त में विधि-पूर्वक जल-गण्डूष प्रदान करे और बाँये हाथ से विकसित कमल की समान ग्रास-मुद्रा दिखावे ॥ ४७ ॥

फलतः पहिले प्रणवयुक्त और अंत में चतुर्थी-विभक्ति और स्वाहायुक्त प्राणादि-मंत्र द्वारा दहिने हाथ से प्राणादि पाँच मुद्रा दिखानी चाहिये ※ ॥ ४८ ॥

फिर निवेद्य द्रव्य का मंत्र जपता हुआ दोनों हाथों के दोनों अंगुष्ठों से अपनी अपनी अनामा अङ्गुलियों का स्पर्श करके निवेद्य मुद्रा दिखावे ॥ ४९ ॥

निवेद्यमुद्रा × का मंत्र यथा,—क्रमदीपिका में लिखा है कि,— नन्दज, (ठ) अम्बुमनु, (औ) विन्दु, (०)—इन संगयुक्त (संयुक्त) नति, (नमः) शब्द;—इन सब के एकत्र होने पर ही "ठौं नमः" होता है। पार्श्व, (प) "रा" एवं मरुत् (य)—इन तीनों में "पराय" होता है। फिर "अवात्मने" फिर "नि" एवं "रुद्र"—इन दोनों शब्द में ङे,—(चतुर्थी विभक्ति) मिलाने से "निरुद्राय" होता है। फिर "निवेद्यं" फिर आत्मभू, (क) मांस, (ल) तद्युक्त "प" (ल्प) अनिल, (य) एवं (अमि)— इन सब को एकत्र करने पर ही,— "ठौं नमः पराय अवात्मनेऽनिरुद्धाय निवेद्यं कल्पयामि,,— यह मंत्र हुआ। भगवद्भक्तिपरायण-गण अपने अभीष्ट मंत्र का निवेद्य मंत्र रूप में जप करते करते ग्रास-मुद्रा दिखाते हैं। "हरि के मुखकमल से जो तेजः निकलता है"—वे वैसी चिन्ता नहीं करते। तात्पर्य यह है,—

※ प्रयोग यथा— "ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समनाय स्वाहा"। क्रमदीपिका में इस प्रकार प्राणादि-मुद्रा कथित है,—कनिष्ठा और अनामा के अग्र-देश में अंगुष्ठ का अग्रभाग लगाने से "प्राण-मुद्रा" होती है। तर्जनी और मध्यमा के अग्रदेश में अंगुष्ठ का अग्र भाग लगाने से "अपान-मुद्रा" होती है। अनामा और मध्यमा के अग्रदेश में अंगुष्ठ का अग्रभाग लगाने से "व्यान-मुद्रा" होती है। अनामा तर्जनी और मध्यमा के अग्रभाग में अंगुष्ठ का अग्रभाग लगाने से "उदान-मुद्रा" होती है और चारों अंगुलियों के अग्रभाग में अंगुष्ठ का अग्र लगाने से "समान-मुद्रा" होती है।

× दोनों हाथों के दोनों अंगूठों से स्व-स्व-दोनों अनामा स्पर्श करने से ही—उसका नाम निवेद्य मुद्रा है अथवा पाँचों अंगुलीयों का अग्रदेश परस्पर संलग्न होकर ऊर्द्ध्वमुख से अवस्थिति करने पर ही—उसको निवेद्य-मुद्रा कहा जाता है।

मञ्जुलव्यवहारेण भोजयन्ति हरिं मुदा ॥ ५० ॥

अन्यत्र च।—शालीभक्तं सुभक्तं शिशिरकर-सितं पायसापूपसूपं
लेह्यं पेयं सुचूष्यं सितममृतफलं घारिकाद्यं सुखाद्यम् ।
आज्यं प्राज्यं समिज्यं नयन-रुचिकरं वाजिकैलामरीच-
स्वादीयः शाकराजी-परिकरममृताहारजोषं जुषस्व ॥ ५१ ॥

किञ्च गरुड़पुराणे—
नैवेद्यं परया भक्त्या घण्टाद्यैर्जय-निस्वनैः ।
नीराजनैश्च हरये दद्याद्दीपासनं बुधः ॥ ५२ ॥

अथ नैवेद्य-पात्राणि ।

स्कान्दे श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—
नैवेद्य-पात्रं वक्ष्यामि केशवस्य महात्मनः —
हैरण्यं राजतं ताम्रं कांस्यं मृन्मयमेव च ।
पालाशं पाद्मपत्रञ्च पात्रं विष्णोरातिप्रियम् ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
पात्राणान्तु प्रदानेन नरकञ्च न गच्छति ।

पात्र-परिमाणञ्चोक्तम्—

देवीपुराणे।—षट्त्रिंशदङ्गुलं पात्रमुत्तमं परिकीर्त्तितम् ।
मध्यमञ्च त्रिभागोनं कन्यसं द्वादशाङ्गुलम् ॥

भाषा टीका ।

शिष्टाचारानुसार—मनोहर व्यवहार से आनन्द-पूर्वक हरि को भोजन कराते हैं ॥ ५० ॥

अन्यत्र भी लिखा है,— "हे भगवन्! शाल्योदन—शिशिरकर [चंद्रमा] की तुल्य अर्थात अतिशय श्वेतवर्ण उत्कृष्ट शाल्यन्न, खीर, पिष्टक, [पिठ्ठी] सूप, [दाल] लेह्य, पेय, चोष्य और श्वेत सुधास्वरूप फल-घारिकादि [घिवर] उत्तम खाद्य, घृत, नेत्रप्रीतिकर—घृतपक्व द्रव्य, वाजिका इलायची, मिरचादि से सुस्वादु भति उत्तम शाकादि उपकरण,-इन सब सुधा-सरिस द्रव्यों के आस्वाद का आनंद भोगिये" यह श्लोक जवनिका (परदा) के वाहर आयके पाठ करना चाहिये ॥ ५१ ॥

और गरुड़पुराण में लिखा है कि,— विशेष सदाचार का जानने वाला पुरुष घंटादि "जय" शब्द और नीराजना कर परमभक्ति-सहित श्रीकृष्ण को नैवेद्य—भोजन-काल तक स्थायी एकप्रदीप और आसन अर्पण करे ॥ ५२ ॥

नैवेद्य के पात्र ।— स्कंदपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखा है कि,—महात्मा हरि के नैवेद्य-पात्र का विषय वर्णन करता हूँ। सोने का पात्र, चाँदी का पात्र, ताँवे का पात्र, काँसी का पात्र, मिट्टी का पात्र, पलाश-पात्र (ढाक के पत्तों के दौने) और कमल-पत्र-रचित पात्र;—यह सब हरि को अतीव प्रसन्न करने वाले हैं। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—जो श्रीकृष्ण को पात्र-समूह अर्पण करते हैं,— उनको फिर नरक में जाना नहीं पड़ता।

पात्र का परिमाण।—देवीपुराण में लिखा है कि,—छत्तीस अंगुली-परिमाण पात्र—उत्तम, चौवीस अंगुली-

वरवङ्गुल-विहीनन्तु न पात्रं कारयेत् क्वचित् ॥ ५३ ॥

अथ भोज्यानि ।

गौतमीयतन्त्रे—

निवेदयेदुत्तमान्नं न कदन्नं कदाचन ।
उत्तमं—विधिना प्राप्तं, कदन्नं—मुनिदूषितम् ॥
शिलोञ्छं विधिना प्राप्तमथवा यदयाचितम् ।
स्व-वित्तोपचितं वाथ कृष्णाय परिकल्पयेत् ॥
शूद्रान्नं यच्छलाल्लब्धमथ वार्द्धुषिकाचितम् ।
इत्याद्यन्नं कदन्नन्तु दानान्नरकमाप्नुयात् ॥

एकादशस्कन्धे—

गुड़-पायस-सर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयाव-दधि-सूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥ ५४ ॥

किञ्च ।— यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ ५५ ॥

षष्ठस्कन्धे ।—नैवेद्यञ्चाधिगुणवद्दद्यात् पुरुष-तुष्टिदम् ॥ ५६ ॥

बौधायनस्मृतौ च—

नानाविधान्न-पानैश्च भक्षणाद्यैर्मनोहरैः ।

भाषा टीका ।

प्रमाण—मध्यम और वारह अंगुली प्रमाण पात्र—अधम है; कभी आठ अंगुल से कम पात्र निर्माण न करे ॥५३॥

अथ भोज्य ।— श्रीगौतमीय तन्त्र में लिखा है कि,—अति उत्तम अन्न श्रीभगवान् को निवेदन करे, कदन्न (कुत्सित अन्न) निवेदन करना कभी उचित नहीं है । उत्तम,—जो शास्त्र की विधि से प्राप्त हुआ है, और कदन्न,—जिसका दोष मुनिगण कहे हैं । शिल और उञ्छ * वृत्ति लब्ध वस्तु, विधिप्राप्त, (शास्त्र-विहित) अयाचित और अपने धन से उपार्ज्जित वस्तु श्रीकृष्ण को निवेदन करे । शूद्र जाति से अथवा सूद-खोरों से लब्ध,— इत्यादि जो अन्न-वह कदन्न हैं;-इन सब को श्रीभगवान् के उद्देश में दान करने से नरक प्राप्त होता है ।

एकादश-स्कन्ध में लिखा है,— गुड़, पायस, (खीर) घृत, शष्कुली, (पूरी) आपूप,(पिष्टक) संयाव, (कसार) दधि और सूप (कढ़ी या दाल) इन सब वस्तुओं की नैवेद्य वित्तानुसार अर्पण करे ॥५४॥

और भी लिखा है,—अथवा संसार में जो जो वस्तु प्रिय और जो जो द्रव्य अपनी अतीव प्रीतिकारी हैं,—वह सब मुझे अर्पण करने से—वह अनन्त फल के लिये कल्पित होता है ॥ ५५ ॥

षष्ठ-स्कंध में लिखा है,—पुरुष के [भगवान् के] प्रीतिकर वा पुरुष के [एक मनुष्य के] आहार-परि-मित, प्रीतिजनक, अधिकगुणशाली—नैवेद्य अर्पण करे ॥ ५६ ॥

बौधायनस्मृति में भी लिखा है कि,—नानाप्रकार अन्न, पान और उत्तम भक्ष्यादि वस्तु द्वारा हरि को

* दुकान और हाट में पतित धान्यादि वस्तुओं का संग्रह-" उञ्छ " है एवं पथ और क्षेत्रादि में पतित अवशिष्ट धान्यादिका संग्रह-" शिल " है । कोइ कोइ महात्मा इन सब को शिलोञ्छ भी कहते हैं ।

नैवेद्यं कल्पयेद्विष्णोस्तदभावे च पायसम् ॥
केवलं घृतसंयुक्तं ॥ ५७ ॥

वामनपुराणे—
हविषा संस्कृता ये च यव-गोधूम-शालयः ।
तिल-मुद्गादयो माषा व्रीहयश्च प्रिया हरेः ॥

गारुड़े ।—अन्नं चतुर्व्विधं पुण्यं गुणाढ्यञ्चामृतोपमम् ।
निष्पन्नं स्व-गृहे यद्वा श्रद्धया कल्पयेद्धरेः ॥ ५८ ॥

भविष्ये ।—पुष्पं धूपं तथा दीपं नैवेद्यं सुमनोहरम् ।
खण्डलड्डुक-श्रीवेष्ट-कासाराशोकवर्त्तिकाः ॥
स्वतिकोल्लासिकादुग्धतिलवेष्टकिलाटिकाः ।
फलानि चैव पक्कानि नागरङ्गादिकानि च ।
अन्यानि विधिना दत्त्वा भक्ष्याणि विविधानि च ॥
एवमादीनि चान्यानि दापयेद्भक्तितो नृप ! ॥ ५९ ॥

वाराहे ।— यस्तु भागवतो देवि ! अन्नाद्येन तु प्रीणयेत् ।
प्रीणितास्तिष्ठतेऽसौ वै वहुजन्मानि माधवि !
सर्व्वव्रीहिमयं गृह्य शुभं सर्व्वरसान्वितम् ।
मन्त्रेण मे प्रदीयेत न किञ्चिदपि संस्पृशेत् ॥ ६० ॥
इङ्गुदीफल-विल्वानि वदरामलकानि च ।

भाषा टीका ।

नैवेद्य अर्पण करे। इस के अभाव में केवल-मात्र घृतयुक्त पायस [खीर] निवेदन करे । क्यों कि—घृतहीन अन्न असुरान्न कहा गया है ॥ ५७ ॥

वामनपुराण में लिखा है,—यव, गेंहूँ, धान्य, तिल, मूँगादि, कलाय [मटर] और चने—इत्यादि शस्य, गाय के घी से संस्कृत होने पर विष्णु के प्रीति-जनक होते हैं। गरुड़पुराण में लिखा है कि,—अपने घर में पक्क, गुणयुक्त, सुधासदृश और विशुद्ध,—यह चारप्रकार का अन्न श्रद्धासहित विष्णु को अर्पण करे ॥ ५८ ॥

भविष्यपुराण में लिखा है,—हे नृपते ! पुष्प, धूप, दीप, मनोहर-नैवेद्य, खंडलड्डू, श्रीवेष्ट [लडुयी नाम से प्रसिद्ध अथवा दही-वड़े] कसेरु, सेवालड्डू, स्वस्तिक, [एक मस्तकयुक्त (पिण्डाकार) पिष्टतण्डुलमय वस्तु-भेद] उल्लासिका, [लप्सी] दुग्धवेष्ट, [दूध के बड़े] तिलवेष्ट, [अरसी वा तिलमुग्गे] किलाटिका (पटक्षीरसा वा मावा) और नारंगी आदि पके हुए फल, श्रद्धासहित अर्पण कर,—फिर अपरापर नानाप्रकार भक्ष्य वस्तु और भी अन्यान्य द्रव्य प्रदान करे ॥ ५९ ॥

वराहपुराण में लिखा है,—हेमाधवि ! हे देवि ! जो अन्न इत्यादि भक्ष्य-पेय वस्तु-द्वारा हम को प्रसन्न करते हैं,—वह अनेक जन्म-तक प्रसन्न रहते हैं। सब रस-युक्त शुभदायक सब शस्यों से निर्म्मित वस्तु ग्रहण कर मंत्रद्वारा मुझे अर्पण करे, इसके अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी स्पर्श नहीं करे ॥ ६० ॥

इङ्गुदीफल, विल्वफल, वदर, आमलकी, खजूर, आसन, (चारवीज) नारियल, परूषक, (फरुषा वा

खर्जूरांश्चासनांश्चैव मानवांश्च परूषकान् ॥
शालोडुम्वरिकांश्चैव तथा प्लक्षफलानि च।
पैप्पलं कण्टकीयश्च तुम्वुरुश्च प्रियङ्गुकम् ॥
मरीचं शिंशपाकश्च भल्लात-करमर्द्दकम्।
द्राक्षाश्च दाड़िमं चैव पिण्डखर्ज्जुरमेव च ॥
सौवीरं कोलिकं चैव तथा शुभफलानि च।
पिण्डारकफलश्चैव पुन्नागफलमेव च ॥
शमीश्चैव करीरश्च खर्जूरकमहाफलम्।
कुमुदस्य फलश्चैव वहेड़कफलन्तथा ॥
अजं कर्कोटकश्चैव तथा तालफलानि च।
कदम्वं कौमुदश्चैव द्विविधं स्थल-कञ्जयोः ॥
पिण्डिकन्देति विख्यातं वंशनीपं (पीतं)ततः परम्।
मधुकन्देति विख्यातं माहिषं कन्दमेव च ॥
करमर्द्दककन्दश्च तथा नीलोत्पलस्य च।
मृणालं पौष्करश्चैव शालूकस्य फलं तथा ॥
एते चान्ये च वहवः कन्द-मूल-फलानि च।
एतानि चोपयोज्यानि ये मया परिकीर्त्तिताः ॥
मूलकस्य ततः शाकं चिश्चाशाकं तथैव च।
शाकश्चैव कलायस्य सर्षपस्य तथैव च ॥

भाषा टीका।

परवल) शाल, उडुम्वरिक, (गूलरनिर्मित) लक्षफल, [पिलखन–फल] पिप्पलीफल, [पीपलफल] पनस तुम्वुरु, (धनियां) प्रियङ्गु, (राई) मिर्च, शीसम, भल्लातक, (भिलावा) करमर्द्दक, (करौंदा) द्राक्षा, दाड़िम, पिंडखजूर, सौवीर, (वेर) केलिक, (कदम्व-विशेष) विशुद्ध फलादि, पिण्डारकफल, (पिंडालू) पुन्नागफल, शमी, करीर, खजूरक, महाफल–कुमुद-फल, (घँगोर) वहेड़े का फल, अज, कर्कोटक, ताल-फल, कदम्व, कौमुद, द्विविध स्थलकंज, पिंडिकंद वंशपीत, मधुकंद, महिषकंद, करमर्दककन्द, नीलोत्पल-कंद मृणाल, पुष्करफल, शालूकफल,—यह सव और अपरापर कंद, मूल, फल का विषय जो वर्णन किया है,–वह सभी मेरे भक्ष्य हैं। मूलकाशाक, चिश्चाशाक, (नाली का शाक) कलाय-शाक, सरसों का शाक, वंशकशाक, कलम्वीशाक, (शाक-विशेष) आर्द्रकशाक, पालङ्कशाक, (पालक का शाक) अम्वि-लोडक शाक, कौमारकशाक, और शुकमण्डलपत्र, (सिरस सरसों, सोया) —यह दो प्रकार के वृक्षों के शाक चरईशाक, मधुक, (मधुपर्णी) और गूलर,—यह सव और अन्यान्य सैंकड़ों हजारों प्रकार के शाकादि के विषय जो वर्णन किया है,—वह सभी कर्म्म के उपयुक्त है। हे सुंदरि ! हे माधवि ! अव सव भक्ष्य व्रीहि का विषय वर्णन करता हूँ,—तुम एकाग्रचित्त होकर— वह सव सुनों।— हे सुंदरि ! धर्म्मरक्तशालि, अधर्मिकरक्तशालि, सुगन्धितरक्तशालि, दीर्घशूक, (धान्य-

वंशकस्य तु शाकश्च शाकमेव कलम्बिकम्।
आर्द्रकस्य च शाकं वै पालङ्कं शाकमेव च॥
अम्बिलोड़कशाकञ्च शाकं कौमारकं तथा।
शुकमण्डलपत्रञ्च द्वाविव तरुवानकौ॥
चरस्य चैव शाकञ्च मधुकोडुम्बरं तथा।
एते चान्ये च बहवः शतशोऽथ सहस्रशः।
कर्म्मण्याश्चैव सर्व्वे वै ये मया परिकीर्त्तिताः॥
व्रीहीणाञ्च प्रवक्ष्यामि उपयोगांश्च माधवि!
एकचित्तं समाधाय तत् सर्व्वं शृणु सुन्दरि!
धर्म्माधर्म्मिकरक्तञ्च सुगन्धं रक्तशालिकम्॥
दीर्घशूकं महाशालि वरकुङ्कुमपत्रकम्।
ग्रामशालिं समुद्राशां सश्रीशांकुशशालिकाम्॥
यवाश्च द्विविधा ज्ञेयाः कर्म्मण्या मम सुन्दरि!
कर्म्मण्याश्चैव मुद्गाश्च तिलाः कृष्णाः कुलत्थकाः॥
गोधूमकं महामुद्गमुद्गाष्टकमवाटजित।
कर्म्मण्येतानि चोक्तानि व्यञ्जनानि प्रियान्वितान्।
प्रतिगृह्णाम्यहं ह्येतान् सर्व्वान् भागवतात् प्रियान्।

किञ्च।— ये ममैवोपयोज्यानि गव्यं दधि पयो घृतम्॥

स्कान्दे च ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

हविः शाल्योदनं दिव्यमाज्ययुक्तं सशर्करम्।
नैवेद्यं देव-देवाय यावकं पायसं तथा॥
नैवेद्यानामभावे तु फलानि विनिवेदयेत्॥

भाषा टीका।

विशेष) महाशालि, श्रेष्ठ कुंकुमपत्र, ग्रामशालि, समुद्रशालि, सश्रीशालि, कुशशालि और दो प्रकार का यव मुझे कर्म के उपयुक्त है। मूंग, तिल, कृष्णकुलुत्थ (काली उर्द) गेंहूं, महामूंग, मुद्गाष्टक (मूंग विशेष)—यह सब कर्म के उपयुक्त हैं। इन सब द्रव्य और जिन सब व्यंजनों का विषय कहा गया है,—इन सभी प्रियद्रव्यों को वैष्णवों के निकट से ग्रहण करता हूं। और भी लिखा है कि,—गाय का दही, गाय का दूध, और गाय का घी मेरे भोजन के उपयुक्त है। स्कन्द-पुराण के ब्रह्मनारद-सम्वाद में लिखा है कि,—अति उत्तम घृतयुक्त सट्ठी के चावलों का अन्न, घृत और शर्करायुक्त नैवेद्य; तथा यव की खीर देव-देव हरि को प्रदान करे। नैवेद्य इत्यादि का अभाव होने पर—फल अर्पण करे, यदि फल का भी अभाव हो-तो तृण, गुल्म और औषधि प्रदान करे। यदि औषधि का अभाव हो-तो केवल—मात्र जल प्रदान करे। जल के भी अभाव में केवल-मात्र मन से द्रव्यादि

फलानामप्यभावे तु तृणगुल्मौषधीरपि ॥
औषधीनामलाभे तु तोयञ्च विनिवेदयेत् ॥
तदलाभे तु सर्व्वत्र मानसं प्रवरं स्मृतम् ॥

स्कान्दे महेन्द्रं प्रति श्रीनारद-वचनम् ।—

यच्छन्ति तुलसीशाकं शृतं ये माधवाग्रतः ।
कल्पान्तं विष्णु-लोके तु वसन्ति पितृभिः सह ॥ ६१ ॥

अथ नैवेद्ये निषिद्धानि ।

हारीतस्मृतौ—

नाभक्ष्यं नैवेद्यार्थे भक्ष्येष्वप्यजा-महिषी-क्षीरं पञ्चनखा मत्स्याश्च ॥

द्वारका-माहात्म्ये—

नीली-क्षेत्रे वापयन्ति मूलकं भक्षयन्ति ये ।
नैवास्ति नरकोत्तारः कल्प-कोटि-शतैरपि ॥

वाराहे ।— माहिषञ्चाविकं चाजमयज्ञिय मुदाहृतम् ॥

किञ्च ।— माहिषं वर्जयेन्मह्यं क्षीरं दधि घृतं यदि ॥ ६२ ॥

विष्णुधर्मोत्तरे तृतीयकाण्डे—

अभक्ष्यञ्चाप्यहृद्यञ्च नैवेद्यं न निवेदयेत ।
केशकीटावपन्नञ्च तथा चाविहितञ्च यत् ॥
मूषिका-लाङ्गलोपेतमवधूतमवक्षुतम् ।
उडुम्बरं कपित्थञ्च तथा दन्तशठञ्च यत् ॥

भाषा टीका।

कल्पना करके प्रदान करे। स्कंदपुराण में इन्द्र के प्रति नारदजी ने कहा है कि,—जो पुरुष पक्क तुलसी-शाक हरि को प्रदान करते हैं,—उनका प्रलय काल-तक पितरों के सहित विष्णु-धाम में वास होता है ॥ ६१ ॥

नैवेद्य में निषिद्ध द्रव्य।—हारीतस्मृति में लिखा है कि,-अभक्ष्य वस्तु नैवेद्य में अर्पण न करे, भक्ष्य वस्तुओं में भी बकरी का दूध, भैंष का दूध, पंचनख-युक्त जीव और मत्स्य अर्पण न करे। द्वारका-माहात्म्य में लिखा है,-जो पुरुष क्षेत में नीली बोते हैं और जो मूलक (मूली विशेष) भोजन करते हैं,—उनका करोड़ कल्प में भी नरक से उद्धार नहीं होता। वराहपुराण में लिखा है कि,-भैंष, भेड़ और बकरी का दूध, घी और दही पूजा के अनुपयुक्त कह कर निरूपित हुआ है। और भी लिखा है कि,-यदि कोई मनुष्य मुझको दही, दूध और घृत प्रदान करे—तो वह महिष-सम्बन्धीय—यह सब द्रव्य त्याग करे ॥ ६२ ॥

विष्णुधर्मोत्तर के तीसरे काण्ड में लिखा है कि,-अखाद्य और स्वादरहित नैवेद्य अर्पण न करे। जो निषिद्ध, केशयुक्त, कीटयुक्त, मूषिक और लाङ्गला (एक प्रकार के जन्तु) की उच्छिष्ट हुई वस्तु निरादर से त्यागी हुई और जिस वस्तु के ऊपर छुचकी हुई है,-ऐसी वस्तु और गूलर, कैथ, दन्तशठ (जम्बीर-फल)

एवमादीनि देवाय न देयानि कदाचन ॥ ६३ ॥

अथाभक्ष्याणि ।

कौर्म्मे ।— वृन्ताकं जालिकाशाकं कुसुम्भाश्मन्तकं तथा ।
पलाण्डुं लशुनं शुक्तं निर्यासञ्चैव वर्जयेत् ॥
गृञ्जनं किंशुकं चैव कुकुण्डञ्च तथैव च ।
उडुम्बरमलाबुञ्च जग्ध्वा पतति वै द्विजः ॥ ६४ ॥

वैष्णवे ।— भुञ्जीतोद्धृतसाराणि न कदाचिन्नरेश्वर !

स्कान्दे — यो भक्षयति वृन्ताकं तस्य दूरतरो हरिः ।

किञ्चान्यत्र।—वार्त्ताकुं बृहतीञ्चैव दग्धमन्नं मसूरकम् ।
यस्योदरे प्रवर्त्तेत तस्य दूरतरो हरिः ॥

किञ्च ।—अलावुं भक्षयेद्यस्तु दग्धमन्नं कलम्बिकाम् ।
स निर्लज्जः कथं ब्रूते—"पूजयामि जनार्द्दनम्" ॥

अतएवोक्तं यामले—
यत्र मद्यं तथा मांसं तथा वृन्ताक-मूलके ।
निवेदयेन्नैव तत्र हरेरैकान्तिकी रतिः ॥ ६५ ॥

अथ नैवेद्यार्पण-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ।— नैवेद्यानि मनोज्ञानि कृष्णस्याग्रे निवेदयेत् ।
कल्पान्तं तत्पितॄणान्तु तृप्तिर्भवति शाश्वती ॥

भाषा टीका ।

इत्यादि द्रव्य भी देवता के अर्थ कभी प्रदान न करे ॥६३॥

अथ अभक्ष्य वस्तु ।— कूर्मपुराण में लिखा है कि,— वार्त्ताकी, (बैंगनी भाटा) जालिकाशाक, कुसुम्भ-शाक, अश्मन्तकशाक, पलाण्डु (प्यांज) लहसन, शुक्त (कांजी) और निर्यास (मद)—यह सब वस्तु त्याज्य हैं । गाजर, किंशुक, कुकुण्ड, (एक प्रकार, का फल) गूलर और कद्दू,—यह सब द्रव्य भक्षण करने से द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-जाति) को पतित होना पड़ता है ॥ ६४ ॥

विष्णुपुराण में लिखा है,—हे राजन् ! उद्धृतसार (अर्थात जिस का सार अंश निकल गया हो—ऐसा) द्रव्य अभक्ष्य है । स्कन्दपुराण में लिखा है कि;— बैंगन-भोजी पुरुष से श्रीहरि बहुत दूर अवस्थित रहते हैं । अन्यत्र और भी लिखा है कि,—बैंगनी बैंगन बृहती, दग्ध (भुना) अन्न और मसूर,—यह सब द्रव्य, जिस पुरुष के उदर में जाता है,—श्रीहरि उस से दूर रहते हैं । और भी लिखा है कि,—जो पुरुष अलाबु (कद्दू) दग्ध (भुना) अन्न और कलम्बिका (कलोंजी का शाक) भोजन करता है—वह लज्जाहीन पुरुष—"मैं हरि की पूजा करता हूं"—यह बात किस प्रकार मुख से उच्चारण करेगा ? अतएव यामल में कहा है कि,— जिस में सुरा, मांस, तथा बैंगन और मूलक निवेदन किया जाता है,—उस में जनार्द्दन की ऐकान्तिकी प्रीति नहीं रहती ॥ ६५ ॥

नैवेद्यार्पण-माहात्म्य —स्कंदपुराण में लिखा है कि, — श्रीहरि के सन्मुख मनोहर नैवेद्य निवेदन करने पर कल्पान्त—तक उस के पितृ-गण अक्षय तृप्ति लाभ करते हैं ।

फलानि यच्छते यो वै सुहृद्यानि नरेश्वर !
कल्पान्तं जायते तस्य सफलश्च मनोरथः ॥

नारसिंहे।— हविः शाल्योदनं दिव्यमाज्ययुक्तसशर्करम् ।
निवेद्य नरसिंहाय यावकं पायसं तथा ।
समास्तण्डुल-संख्याया यावत्यस्तावतीर्नृप !
विष्णु-लोके महाभोगान् भुञ्जन्नास्ते स वैष्णवः ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे —

अन्नदस्तृप्तिमाप्नोति स्वर्ग-लोकञ्च गच्छति ।
दत्त्वा च संविभागाय तथैवान्नमतन्त्रितः ।
त्रैलोक्ये तर्पिते पुण्यं तत्क्षणात् समवाप्नुयात् ॥ ६६ ॥
अक्षय्यमन्न-पानञ्च पितृभ्यश्चोपतिष्ठते ॥
ओदनं व्यञ्जनोपेतं दत्त्वा स्वर्गमवाप्नुयात ॥
परमान्नं तथा दत्त्वा तृप्तिमाप्नोति शाश्वतीम् ।
विष्णु-लोकमवाप्नोति कुलमुद्धरते तथा (शतं) ॥
घृतौदन-प्रदानेन दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥
दध्योदन-प्रदानेन श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥
क्षीरौदन-प्रदानेन दीर्घजीवितमाप्नुयात ॥
इक्षूणाञ्च प्रदानेन परं सौभाग्यमश्नुते ।
रत्नानां चैव भागी स्यात् स्वर्ग-लोकञ्च गच्छति ॥

भाषा टीका ।

हे राजन् ! उत्तम फलों को निवेदन करने पर कल्पान्त—तक उस फल-दाता के मनोरथ सिद्ध होते हैं । नृसिंहपुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष नृसिंह देव को उत्तम घृतसहित शर्करायुक्त सट्ठी के चांवलों का अन्न—और यव की खीर निवेदन करते हैं,—चांवलों की संख्यानुसार—उतने ही वर्ष—वे वैष्णवों के सहित विष्णु-धाम में परम सुख भोगते हैं । विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि,—अन्नदाता तृप्ति लाभ करते हैं और उनको स्वर्ग मिलता है । सावधान होकर हरि को अन्नदान करने पर तत्क्षणात त्रिभुवन तृप्त करने का पुण्य पाता है और उसका पितृलोकों के उद्देश में प्रदत्त अन्न-पानादि अक्षय होता है ॥ ६६ ॥

व्यञ्जनयुक्त अन्न प्रदान करने पर सुर-पुर में गति होती है और परमान्न अर्पण करने से अक्षय तृप्ति लाभ होती है, अन्त में हरि-धाम में वास होता है और अपने सौ वंश का उद्धार होता है । घृतयुक्त अन्न प्रदान करने से दीर्घायु लाभ होती है । दधिसंयुक्त अन्न दान द्वारा अति उत्तम ऐश्वर्य्य पाता है, दुग्धसंयुक्त अन्नदान करने से दीर्घ जीवन लाभ होता है । इक्षु प्रदान करने से अत्यन्त सौभाग्यवान्, रत्नभागी और सुर-पुरगामी होता है । फाणित (बताशा) अर्पण करने से अग्न्याधान का फल प्राप्त होता है और गुड़ प्रदान करने पर मनोरथ सिद्ध होते हैं ।

फाणितस्य प्रदानेन अग्न्याधान-फलं लभेत ॥
तथा गुड़-प्रदानेन कामितामीष्टमाप्नुयात ॥ ६७ ॥
मुख्य खण्डं तथा दत्त्वा मैत्रीं सर्वत्र विन्दति ॥
स्त्रीषु वल्लभतां याति दत्त्वा च गुड़िकां तथा ॥
सितायाश्च प्रदानेन कामिताभीष्टमाप्नुयात् ॥
निवेद्येक्षु-रसं भक्त्या परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥
सर्व्वान् कामानवाप्नोति क्षौद्रं यश्च प्रयच्छति ॥
तदेव तुहिनोपेतं राजसूयमवाप्नुयात ।
वह्निष्टोममवाप्नोति यावकस्य निवेदकः ॥
अतिरात्रमवाप्नोति तथापूप-निवेदकः ॥ ६८ ॥
वैदलानाञ्च भक्ष्याणां दानात् कामानवाप्नुयात् ॥
दीर्घजीवितमाप्नोति घृत-पूरनिवेदकः ॥
मोदकानां प्रदानेन कामानाप्नोत्यभीप्सितान् ॥ ६९ ॥
नानाविधानां भक्ष्याणां दानात् स्वर्गमवाप्नुयात् ॥
भोजनीय-प्रदानेन तृप्तिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ ७० ॥
तथा लेह्य-प्रदानेन सौभाग्यमधिगच्छति ॥
बल-वर्णमवाप्नोति चोष्याणाञ्च निवेदने ॥ ७१ ॥
कुल्माषोल्लासिकादाता वह्न्याधेय-फलं लभेत् ॥
तथा कृषर-दानेन वह्निष्टोममवाप्नुयात् ॥ ७२ ॥

भाषा टीका।

मुख्य खण्ड (खांड़) प्रदान करने से सब स्थान में मित्रता लाभ करता है। गुड़िका प्रदान करने से स्त्री-गणों का प्रिय होता है। सिता—[भूरा] प्रदान से वाञ्छातीत अभीष्ट लाभ होता है। ॥ ६७ ॥

जो भक्ति-सहित इक्षु (गन्डे) का रस अर्पण करते हैं,—वे अतीव सौभाग्यवान् होते हैं—मधु प्रदान करने से सब कामना सिद्ध होती हैं और हिमयुक्त मधु होने पर राजसूय-यज्ञ का फल होता है। यव की क्षीर प्रदान करने पर अग्निष्टोम-यज्ञ का फल होता है और पिष्टकार्पण द्वारा अतिरात्र-यज्ञ का फल होता है ॥ ६८ ॥

मूंग चने आदि का सूप (दाल)अर्पण करने से कामना सफल होती है। घृत-पूर (भोज्य पदार्थ) अर्पण करने से दीर्घायु प्राप्त हो सकती है और मोदक अर्पण करने से वांछित अभिलाष सिद्ध होती है ॥ ६९ ॥

अनेक प्रकार के खाद्य (पिष्टकादि) द्रव्य अर्थात् चर्वण वस्तु अर्पण करने से सुर-पुर में गति होती है और भोज्य [पायसादि] द्रव्य प्रदान करने से परम तृप्ति प्राप्त होती है ॥ ७० ॥

लेह्य द्रव्य(गुड़ादि)अर्पण करने से सौभाग्यवान् होता है और चोष्य द्रव्य (इक्षु-दण्डादि) प्रदान करने से शक्ति एवं रूप लाभ करता है ॥ ७१ ॥

कुलमाष, (ईषत् स्विन्न माष) उल्लासिका (लपसी) अर्पण करने पर अग्न्याधान का फल मिल जाता है, कृषर (खिचड़ी) अर्पण करने पर अग्निष्टोम-यज्ञ का फल मिलता है ॥ ७२ ॥

धानानां क्षौद्रयुक्तानां लाजानाञ्च निवेदकः ।
मुख्यानाञ्चैव सक्तूनां वह्निष्टोममवाप्नुयात् ॥ ७३ ॥
वानप्रस्थाश्रितं पुण्यं लभेच्छाक-निवेदकः ।
दत्त्वा हरीतकञ्चैव तदेव फलमाप्नुयात् ॥ ७४ ॥
दत्त्वा शाकानि रम्याणि विशोकस्त्वभिजायते ।
दत्त्वा च व्यञ्जनार्थाय तथोपकरणानि च ॥
सुकुले लभते जन्म कन्द-मूल-निवेदकः ॥
नीलोत्पलविदारीणां तरुटस्य तथा द्विजाः ।
कन्द-दानादवाप्नोति वानप्रस्थ-फलं शुभम् ॥
त्रपुषेर्व्वारुकं दत्त्वा पुण्डरीक-फलं लभेत् ॥
कर्कन्धु-वदरे दत्त्वा तथा पारैवतं फलम् ।
परूषकं तथाम्रञ्च पनसं नारिकेलकम् ।
भव्यं मोचं तथा चोचं खर्ज्जूरमथ दाड़िमम् ।
आम्रातकस्तुवाम्लोटफलमानपियालकम् ।
जम्बुविल्वामलञ्चैव जात्यं वीणातकं तथा ।

भाषा टीका ।

मधुसंयुक्त धान (भुना यव)खीलें और सक्तु प्रदान करने से अग्निष्टोम-यज्ञ का फल होता है ॥ ७३ ॥

शाक अर्पण करने से वानप्रस्थाश्रम का पुण्य प्राप्त होता है और हरितकशाक अर्पण करने से भी यही फल मिल सकता है ॥ ७४ ॥

मनोहर शाक और व्यञ्जन के निमित्त सामग्री अर्पण करने से शोक-रहित होता है। जो कंद,मूल-अर्पण करते हैं,- उनका उत्तम वंश में जन्म होता है। हे ब्राह्मण-गण ! नीलकमल , विदारी और पद्म-बीज का कंद अर्पण करने से वानप्रस्थाश्रम का फल मिलता है। त्रपुष (सुखाशं वा दूधलप्सी) और ककड़ी-फल अर्पण करने से पुण्डरीक का फल प्राप्त किया जाता है। कर्कन्धु, (बृहत् वदरी-विशेष) बदर, (क्षुद्र) तिन्दुकाकार पारैवतनामक फल, परूषक, (परवल) आम, कंठाल, नारियल, कामराङ्ग, केले की फली, चोच, (कश्मीर-देशजात गुड़ावश्व फल अथवा नारिकेलफल-विशेष) खजूर, दाड़िमा, आंवला, सुवा, अम्लोट, (साहुली) फलमान, (वीजपूर का भेद) पियालक, [पेयशाल] जामन, वेल, आंमला, जात्य, [जातीफल] वीणातक, [खरगुज] नारंगी, वीज पूर, [विजौरा नीबू] वीजफल, [क्षीरिका] फल्गु-फल —इसी प्रकार अन्यान्य उत्तम फल, उत्तमोत्तम कंद भक्ति-पूर्वक देव-देव हरि को प्रदान करने पर दाता,— वल और आरोग्य लाभ करता है। द्राक्षा अर्पण करने से उत्तम रस लाभ करता है एवं परमसौभाग्यवान् होता है। जो आम्र के द्वारा देव-देव हरि की पूजा करते हैं,—वे अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान करने का फल पाते हैं। और भी लिखा है कि,—मोचा, कांटाल, जम्बु , कुम्भलीफल (कारभर्ड़ी) प्राचीनामलक, [पानिपारा] मधुक एवं उडुम्बर फल,—यह सभी श्रेष्ठ फल कहे गये हैं। उत्कृष्ट कदलीफल यत्नसहित पक्व करने पर भी ग्राह्य है । हरिभक्ति-सुधोदय में लिखा है,— श्रीभगवान्,-भक्त की भक्ति-रससिक्त नैवेद्य थोड़ीसी भी

नारङ्ग-वीजपूरे च राजफल्गुफलान्यपि ॥ ७५ ॥
एवमादीनि दिव्यानि यः फलानि प्रयच्छति ।
तथा कन्दानि मुख्यानि देव-देवाय भक्तितः ॥
क्रिया-साफल्यमाप्नोति स्वर्गलोकं तथैव च ॥
प्राप्नोति वलमारोग्यं मृद्वीकानां निवेदकः ।
रसान् मुख्यानवाप्नोति सौभाग्यमपि चोत्तमम् ॥
आम्रैरभ्यर्च्च्य देवेशमश्वमेध-फलं लभेत् ॥

किञ्च ।— मोचकं पनसं जम्बु तथान्यत्कुम्भलीफलम् ।
प्राचीनामलकं श्रेष्ठं मधुकोडुम्बरस्य च ॥
यत्नपक्कमपि ग्राह्यं कदलीफलमुत्तमम् ।

हरिभक्तिसुधोदये च—
यत्किञ्चिदल्पं नैवेद्यं भुक्त्वा भक्ति-रसप्लुतम् ।
प्रतिभोजयति श्रीशस्तद्दातॄन् स्व-सुखं द्रुतम् ॥ इति ॥ ७६ ॥
ततः प्राग्वद्विचित्राणि पानकान्युत्तमानि च ।
सुगन्धि शीतलं स्वच्छं जलमप्यर्पयेत्ततः ॥ ७७ ॥

अथ पानकानि तन्माहात्म्यञ्च ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
पानकानि सुगन्धीनि शीतलानि विशेषतः ।
निवेद्य देव-देवाय वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥
त्वगेला-नागकुसुम-कर्पूर-सित-संयुतैः ।
सिता-क्षौद्र-गुडोपेतैर्गन्धवर्णगुणान्वितैः ॥
वीजपूरक-नारङ्ग-सहकार-समन्वितैः
राजसूयमवाप्नोति पानकैर्विनिवेदितैः ॥ ७८ ॥

भाषा टीका ।

भोजन करके नैवेद्य दाता ओं को तत्काल अपने सुख-भोग कराते हैं ॥ ७५—७६ ॥

नैवेद्य-दान के पछि अनेक प्रकार की उत्कृष्ट पानक (सरवत् शिखरिणी प्रभृति सामग्री) और सुगन्धि-पूर्ण शीतल निर्म्मल जल पूर्ववत प्रदान करे ॥ ७७ ॥

पानीय द्रव्य और उसके माहात्म्य ।—विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—सुगंधियुक्त विशेषतः शीतल पानीय देव-देव ईश्वर हरि को अर्पण करने पर अश्वमेध-यज्ञ का फल होता है। दालचीनी, इलायची, नाग-कुसुम [पुन्नाग] कपूर और दधि—वीजपूरादि [विजौरा नीवू आदि] फल के रस से युक्त, शर्करा मधु और गुड़समान्वित, गंधवर्ण—गुणयुक्त, विजौरा नीवू नागरंग (नरंगी) और सहकार अर्थात् आमयुक्त पानक निवेदित होने पर राजसूय के अनुष्ठान का फल होता है ॥ ७८ ॥

निवेद्य नारिकेलाम्बु वह्निष्टोमफलं लभेत्।
सर्व्वकामवहा नद्यो नित्यं यत्र मनोरमाः॥
तत्र पानप्रदा यान्ति यत्र रामा गुणान्विताः॥ इति॥ ७९॥
इत्थं समर्प्य नैवेद्यं दत्त्वा जवनिकां ततः।—
वहिर्भूय यथाशक्ति जपं सध्यानमाचरेत्॥ ८०॥

अथ ध्यानम्।

"ब्रह्मेशाद्यैः परित ऋषिभिः सूपविष्टैः समेतो
लक्ष्म्या शिञ्जद्वलयकरया सादरं वीज्यमानः।
नर्म्मक्रीड़ाप्रहसितमुखो हासयन् पंक्तिभोक्तॄन्
भुङ्क्ते पात्रे कनक-घटिते षड्रसं श्रीरमेशः" ॥ इति॥
एकान्तिभिश्चात्म-हृद्यं सवयस्यस्य गोकुले।
यशोदा-लाल्यमानस्य ध्येयं कृष्णस्य भोजनम्॥

अथ होमः।

नित्यश्चावश्यकं होमं कुर्य्यात् शक्त्यनुसारतः।
होमाशक्तौ तु कुर्व्वीत जपं तस्य चतुर्गुणम्॥ ८१॥
केऽप्येवं मन्वतेऽवश्यं नित्य (त्यं) होमं सदा-(मा) चरेत्।
पुरश्चरणहोमस्याशक्तौ हि स विधिर्म्मतः॥
पूर्व्वं दीक्षा-विधौ होम-विधिश्च लिखितः कियान्।

भाषा टीका।

नारियल का जल अर्पण करने से अग्निष्टोम-यज्ञ का फल मिलता है। जहां चित्तरञ्जन करने वाली नदियें सदा समस्तकामना पूर्ण करती हैं और गुणवती स्त्रियें विराजित रहती हैं,—पानीयदाता वहीं जाता है॥ ७९॥

इस प्रकार नैवेद्य प्रदान करके परदे के बाहर शक्ति के अनुसार ध्यान के सहित जप करना चाहिये॥ ८०॥

ध्यान यथा,—"ब्रह्मा महादेवादि देवता और ऋषि-गण जिनके चारों ओर समासीन हैं, जिनके कर-वलय शब्दायमान हैं,—ऐसी लक्ष्मीजी अपने कर-द्वारा आदरपूर्वक जिन का वीजन (पंखा) करती हैं और जो परिहास के समय स्वयं हास्यमुख होकर पंक्ति में भोजन करने वालों को हँसाते हैं—वे कमला-पति कांचन के पात्र में छै-प्रकार का रस सेवन करते हैं।" गोकुलधाम में यशोदा के द्वारा लाल्यमान, समान अवस्था वालों के सहित श्रीकृष्ण के स्व-कृत भोजन के विषय की वैष्णव-गण चिन्ता करें।

अथ होम।—शक्ति के अनुसार नित्य आवश्यक होम करे। होम में असमर्थ होने पर होम का चार-गुण जप करना चाहिये॥ ८१॥

कोई कोई पुरुष इस प्रकार कहते हैं कि,—नित्य ही होम अवश्य करना चाहिये, किन्तु पुरश्चरण के समय जो होम का विधान है,—उस में असमर्थ होने पर,—उक्त विधि जाने अर्थात् होम-संख्या का चार गुण जप करना उचित है। इस से पहिले दीक्षा विधि में होम का विधान कुछेक वर्णित हुआ है; अतएव यदि किसी को—उस विषय के विस्तार जानने

तद्विस्तारश्च विज्ञेयस्तत्तच्छास्त्रात्तदिच्छुभिः ॥ ८२ ॥
समाप्तिं भोजने ध्यात्वा दत्त्वा गाण्डूषिकं जलम् ।
" अमृतापिधानमसि स्वाहे-" त्युच्चारयेत् सुधीः ॥
विसृजेद्देव-वक्त्रे तत्तेजः संहार-मुद्रया ।
नैकान्ती तेजसः कुर्य्यान्निष्क्रान्तिमिव संक्रमम् ॥ ८३ ॥

अथ बलि-दानम् ।

ततो जवनिकां विद्वानपसार्य्य यथाविधि ।
विष्वक्सेनाय भगवन्नैवेद्यांशं निवेदयेत् ॥

तथा च पञ्चरात्रे श्रीनारद-वचनम् —

विष्वक्सेनाय दातव्यं नैवेद्यं तच्छतांशकम् ।
पादोदकं प्रसादश्च लिङ्गे चण्डेश्वराय च ॥ ८४ ॥

तद्विधिश्चोक्तः—

मुख्यादीशानतः पात्रान्नैवेद्यांशं समुद्धरेत् ॥
" सर्व्वदेव-स्वरूपाय पराय परमेष्ठिने ।
श्रीकृष्ण-सेवायुक्ताय विष्वक्सेनाय ते नमः " ॥
इत्युक्त्वा श्रीहरेर्वामे तीर्थ-क्लिन्नं समर्पयेत ॥
शतांशं वा सहस्रांशमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥ ८५ ।—
पश्चाच्च " बलि "-रित्यादिश्लोकावुच्चार्य्य वैष्णवः ।

भाषा टीका ।

की इच्छा हो;—तो उस शास्त्र से विशेष जान सकेंगे॥८२॥

बुद्धिमान् पुरुष देव-देव के आहारावशेष चिन्ता करता हुआ जल-गण्डूष दान और " अमृतापिधानमसि स्वाहा "— यह मंत्र पाठ करे । फिर संहार-मुद्रा की सहायता द्वारा श्रीहरि के मुख से—उस [निवेद्य-ग्रहणार्थ निष्क्रान्त] तेजः का त्याग करे । एकान्ती वैष्णव-गण तेजः के निष्क्रमण की समान उसका संकोच न करें ॥ ८३ ॥

अथ बलि-दान ।—फिर विद्वान् पुरुष परदा हटा-कर हरि का नैवेद्यांश—यथाविधि विष्वक्सेन को प्रदान करें। इस विषय में पंचरात्र में नारदोक्ति है-यथा;—नैवेद्य के सौ भाग का एक भाग,-प्रसाद और चरणो-दक विष्वक्सेन को अर्पण करना चाहिये । यदि लिंग में शिवजी की पूजा करी जाय तो— यह नैवेद्यांश " चण्डेश्वर " को भी अर्पण करे ॥ ८४ ॥

उसकी विधि कथित है,-यथा;- ईशान दिशा से श्रेष्ठपात्रस्थित नैवेद्य का अंश उठा लेवे और—" सर्व-देव स्वरूपाय पराय परमेष्ठिने । श्रीकृष्ण-सेवायुक्ताय विष्वक्सेनाय * ते नमः " ॥—इस मंत्र से श्रीचरणामृत द्वारा सिक्त उसका शत भाग वा सहस्र भाग श्रीहरि के बाँई ओर प्रदान करें,-इसके विपरीत होने पर-समस्त ही विफल होता है ॥ ८५ ॥

इसके पीछे वैष्णवजन-मूलस्थित दो श्लोक पढ़ कर

* व्रजोपासक साधक,-" विष्वक्सेन " के स्थान में " भद्रसेन " पाठ करें, क्यों कि—वैकुण्ठ-पार्षद-" विश्वक्सेन " हैं, परन्तु श्रीगोलोक में भगवदुच्छिष्टभोजी पार्षद—" भद्रसेन " नाम में अभिहित हैं ।

सर्व्वेभ्यो वैष्णवेभ्यस्तच्छतांशं विनिवेदयेत् ॥

तौ च श्लोकौ—

"वलिर्व्विभीषणो भीष्मः कपिलो नारदोऽर्ज्जुनः ।
प्रह्लादश्चाम्वरीषश्च वसुर्व्वायु-सुतः शिवः ।
विष्वक्सेनोद्धवाक्रूराः सनकाद्याः शुकादयः ।
श्रीकृष्णस्य प्रसादोऽयं सर्व्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः"॥ ८६ ॥
इदं यद्यपि युज्येत दर्पणार्पणतः परम् ।
तथापि भक्त-वात्सल्यात् कृष्णस्यात्रापि सम्भवेत् ॥ ८७ ॥

अथ बलिदान-माहात्म्यम् ।

नारसिंहे-। ततस्तदन्न-शेषेण पार्षदेभ्यः समन्ततः ।
पुष्पाक्षतैर्व्विमिश्रेण वलिं यस्तु प्रयच्छति ।
वलिना वैष्णवेनाथ तृप्ताः सन्तो दिवौकसः ॥
शान्तिं तस्य प्रयच्छन्ति श्रियमारोग्यमेव च ॥ ८८ ॥

अथ जल-गण्डूषाद्यर्पणम् ।

उपलिप्य ततो भूमिं पुनर्गाण्डूषिकं जलम् ।
दद्यात्त्रिरग्रे कृष्णस्य ततोऽस्मै दन्त-शोधनम् ॥
पुनराचमनं दत्त्वा श्रीपाण्योः श्रीमुखस्य च ।—
मार्ज्जनार्थांशुकं दत्त्वा सर्व्वाण्यङ्गानि मार्ज्जयेत् ॥

भाषा टीका ।

वैष्णव-गणों को उक्त नैवेद्य के शतभाग का एक भाग "सर्व्वेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमः"—यह विधि से अर्पण करे । वे दो श्लोक का अर्थ यथा;—वलि, विभीषण, भीष्म, कपिल, नारद, अर्जुन, प्रह्लाद, अम्बरीष, वसु, वायु-सुत, शिव, विष्वक्सेन, उद्धव, अक्रूर, सनकादि और शुकादि वैष्णव-गण श्रीहरि का—यह प्रसाद ग्रहण करें ॥ ८६ ॥

दर्पण-प्रदान के पीछे यद्यपि वैष्णव-गणों को वलि अर्पण करना युक्तिसंगत है, तथापि श्रीहरि की,—भक्तों के प्रति प्रीति के कारण—यहां उसके करने में दोष नहीं है ॥ ८७ ॥

अब वलि-दान का माहात्म्य कहते हैं ।—नृसिंह पुराण में लिखा है कि,—फिर जो पुष्प और अक्षत-युक्त—उस शेष अन्न द्वारा पार्षदगणों को वलि अर्पण करते हैं,—देवता-गण हरि-संबंधीय उस वलि से प्रसन्न होकर उनको शान्ति, वित्त [धन] और आरोग्यता प्रदान करते हैं ॥ ८८ ॥

अनन्तर जल-गण्डूषादि—प्रदान ।—पहिले, स्थान मार्जन करके आचमनार्थ श्रीहरि के सन्मुख—गण्डूष मात्र जल तीनवार अर्पण करे । फिर उनको दांतों की शुद्धि के लिये सूक्ष्म तृणाग्र प्रदान करे। पुनर्वार आचमन के अर्थ जल की धारा प्रदान करके श्रीकर-कमल और श्रीमुखारविन्द पोंछने के लिये वस्त्र प्रदान कर-सब अंग पोंछ देवे । फिर अन्य दो वस्त्र धारण कराकर पुनर्वार क्रमशः आसन और पाद्य अर्पणपूर्वक फिर आचमन के लिये जल देवे । पीछे हस्त-मार्जन के लिये (हाथ की गन्धादि दूर करने के लिये) चंदन

परिधाप्यापरे वस्त्रे पुनर्दत्त्वासनान्तरम् ।
पाद्यमाचमनीयञ्च पूर्व्ववत् पुनरर्पयेत् ॥
चन्दनागुरु-चूर्णादि प्रदद्यात् कर-मार्जनम् ।
कर्पूराद्यास्य-वासञ्च ताम्बूलं तुलसीमपि ॥

अथ मुख-वासादि-माहात्म्यम् ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे तृतीयकाण्डे—
पूग-जातीफले दत्त्वा जाती-पत्रं तथैव च ।
लवङ्गफल-कक्कोलमेला-कटफलं तथा ।
ताम्बूलीनां किशलयं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ।
सौभाग्यमतुलं लोके तथा रूपमनुत्तमम् ॥

स्कान्दे ।— ताम्बूलञ्च सकर्पूरं सपूगं नरनायक !
कृष्णाय यच्छति प्रीत्या तस्य तुष्टो हरिः सदा ॥ ८९ ॥

अथ पुनर्गन्धार्पणम् ।

दिव्यं गन्धं पुनर्दत्त्वा यथेष्टमनुलेपनैः ।
दिव्यैर्विचित्रैः श्रीकृष्णं भक्ति-च्छेदेन लेपयेत् ॥
रम्याणि चोर्द्धपुण्ड्राणि सद्वर्णेन यथास्पदम् ।
सुगन्धिनानुलेपेन कृष्णस्य रचयेत्तराम् ॥

तथा चागमे ध्यान-प्रसङ्गे—
ललाटे हृदये कुक्षौ कण्ठे बाह्वोश्च पार्श्वयोः ।
विराजतोर्द्धपुण्ड्रेन सौवर्णेन विभूषितम् ॥ इति ॥ ९० ॥

भाषा टीका ।

और अगर—इत्यादि समर्पण करे और मुख में सुगंधि के लिये कपूर-लवंगादियुक्त ताम्बूल और तुलसी-दल भी प्रदान करना चाहिये ।

मुखवासादि का माहात्म्य ।—विष्णुधर्म्मोत्तर के तीसरे कांड में लिखा है,—गुवाक, [सुपारी] जाती-फल, [जायफल] जायफल के पत्ते, लवंग, कंकोल, इलायची, कट्फल और ताम्बूल-पत्र प्रभु को निवेदन करने पर देव-लोक में गति होती है, दाता अनुपम सौभाग्यवान् और अतीव रूपवान् हो-सक्ता है । स्कंद-पुराण में लिखा है कि,—हे नृपते ! जो प्रसन्नचित्त से कपूर और सुपारी के सहित ताम्बूल—श्रीहरि को अर्पण करते हैं,—उन पर जनार्दन नित्यही प्रसन्न रहते हैं ॥ ८९ ॥

पुनर्वार गंध-दान ।—पुनर्वार उत्तम गंध प्रदान पूर्वक उत्तमोत्तम अनुलेपन-सामग्री से श्रीहरि का सर्वाङ्ग लेपन करे और प्रभु की तथा अपनी रुचि के अनुसार अनेक भांति से तिलक की रचना करै । इसके अतिरिक्त उत्तम वर्ण- (श्रीश्यामसुन्दर के श्याम अंग का उपयुक्त पीतादि वर्ण) युक्त सुगंधपूर्ण अनु-लेपन द्रव्य से श्रीहरि के यथा-योग्य (ललाटादि) स्थानों में मनोहर ऊर्द्धपुण्ड्र की रचना करनी चाहिये । आगम में ध्यान-प्रसङ्ग में—इन सब स्थानों का विषय कहा है; यथा,—ललाट, हृदय, कुक्षि, कंठ, दोनों बाहु और दोनों पार्श्व में शोभायमान मनोहर-वर्णयुक्त ऊर्द्ध-पुण्ड्र से वे अलङ्कृत हुए हैं ॥ ९० ॥

दिव्यानि कञ्चुकोष्णीषकाञ्च्यादीनि पराण्यपि ।
वस्त्राणि सुविचित्राणि श्रीकृष्णं परिधापयेत् ॥
ततो दिव्यकिरीटादिभूषणानि यथारुचि ।
विचित्रदिव्यमाल्यानि परिधाप्य विभूषयेत् ॥ ९१ ॥

अथ महाराजोपचारार्पणम् ।

ततश्च चामर-च्छत्र-पादुकादीन् परानपि ।
महाराजोपचारांश्च दत्त्वादर्शं प्रदर्शयेत ॥ ९२ ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

यथादेशं यथाकालं राज-लिङ्गं सुरालये ।
दत्त्वा भवति राजैव नात्र कार्य्या विचारणा ॥

तत्र चामर-माहात्म्यम् ।

तथा चामर-दानेन श्रीमान् भवति भूतले ॥
मुच्यते च तथा पापैः स्वर्गलोकश्च गच्छति ।

अथ छत्रस्य

तत्रैव ।— छत्रं बहुशलाकञ्च झल्लरीवस्त्रसंयुतम् ।
दिव्यवस्त्रैश्च संयुक्तं हेम-दण्डसमान्वितम् ॥
यः प्रयच्छति कृष्णस्य क्षत्र-लक्षयुतैर्वृतः ।
प्रार्थ्यते सोऽमरैः सर्व्वैः क्रीड़ते पितृभिः सह ॥

तत्रैवान्यत्र—

राजा भवति लोकेऽस्मिन् छत्रं दत्त्वा द्विजोत्तमाः ।

भाषा टीका ।

अति उत्तम कञ्चुक, (चोला) उष्णीष, (पगड़ी) कांञ्ची(कोदनी)-इत्यादि गहने और अनेक प्रकार के मनोहर वस्त्र श्रीहरि को पहिरावे। फिर उत्तम किरीटादि विभूषण और अनेक प्रकार की मनोहर माला रुचि के अनुसार पहिरा कर वस्त्रोभूषण से सुशोभित करे॥ ९१ ॥

अथ महाराज-योग्य उपचार दान ।—फिर चमर-छत्र-पादुकादि महाराजोचित सामग्री और अन्यान्य ध्वज-पताकादि अर्पण-पूर्वक दर्पण दिखाना चाहिये॥९२॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—देश-कालानुसार देव-मंदिर में नृप-चिह्न [छत्रचमरादि] अर्पण करने पर राजा हो सकता है,-इस विषय में कुछ विचार न करे ।

अथ चमर-माहात्म्य ।—उक्त ग्रंथ के इस स्थान में ही लिखा है कि,—चमर अर्पण करने से पृथ्वी में श्रीमान् होता है, पापों से छूट जाता है और सुर-पुर में जाता है ।

छत्र का माहात्म्य ।—उक्त स्थान में लिखा है कि,—बहुत शलाका (कांपों से) युक्त, झालर और सुन्दर वस्त्रयुक्त, सुवर्ण-दण्ड—छत्र हरि को अर्पण करने पर दाता लक्ष छत्रों से परिवेष्टित होकर देवताओं का प्रार्थनीय होता है और पितृ-गणों के संग क्रीड़ा

नाप्नोति रिपुजं दुःखं संग्रामे रिपुजिद्भवेत् ॥ ९३ ॥
उपानत्सम्प्रदानेन विमानमधिरोहति ।
यथेष्टं तेन लोकेषु विचरत्यमरप्रभः ॥ ९४ ॥

ध्वजस्य ।

तत्रैव ।— लोकेषु ध्वजभूतः स्याद्दत्त्वा विष्णोर्व्वरं ध्वजम् ।
शक्र-लोकमवाप्नोति बहूनब्द-गणान्नरः ॥

किञ्च ।— युक्तं पीतपताकाभिर्निवेद्य गरुड़ध्वजम् ।—
केशवाय द्विजश्रेष्ठाः! सर्व्वलोके महीयते ॥ इति ॥
यत् प्रासादे ध्वजारोप-माहात्म्यं लिखितं पुरा ।
तदत्राप्यखिलं ज्ञेयं तत्रात्रत्यमिदं तथा ॥

किञ्च भविष्ये—
विष्णोर्ध्वजे तु सौवर्णं दण्डं कुर्य्याद्विचक्षणः ।
पताका चापि पीता स्याद्गरुड़स्य समीपगा ॥

व्यजनस्य ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
तालवृन्त-प्रदानेन निर्वृतिं प्राप्नुयात् पराम् ॥

वितानस्य ।

तत्रैव ।— वितानक-प्रदानेन सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।

भाषा टीका ।

करता है । उस स्थान के अन्यत्र भी लिखा है कि,— हे ब्राह्मणगण ! इस धाम में छत्र अर्पण करने से नृपतित्व लाभ करता है, शत्रु-कृत क्लेश पाना नहीं होता और युद्ध में विपक्षियों के जीतने में समर्थ होता है ॥९३॥

पादुका अर्पण करने पर—विमान में बैठ—देवताओं की समान प्रभावान् हो—इच्छानुसार तत्तल्लोकों में विचरण कर सकता है ॥ ९४ ॥

अथ ध्वज-माहात्म्य ।—उसी स्थान (विष्णु धर्म्मोत्तर) में लिखा है कि,—जो पुरुष श्रीहरि को उत्तम ध्वजा अर्पण करते हैं,—समाज में वे ध्वजा की नांई सर्व्व प्रधान होते हैं और बहुत वर्षों—तक इन्द्र-पुर में वास करते हैं । और भी लिखा है कि,—हे द्विज-सत्तम-गण ! पीतवर्णपताका-युक्त गरुड़ाकार वा कृत्रिम गरुड़युक्त ध्वजा हरि को अर्पण करने पर, सब लोकों में पूजित होता है । इस से पहिले प्रासाद के ऊपर जो ध्वजारोपण का माहात्म्य वर्णित हुआ है,—इस स्थान में भी ध्वजा दान करने पर—उसी प्रकार संपूर्ण फल का प्राप्त होना समझना चाहिये । भविष्यपुराण में और भी लिखा है कि,—बुद्धिमान् पुरुष हरि को प्रदान करने के लिये सुवर्ण-द्वारा ध्वज-दण्ड प्रस्तुत करावे । पताका भी पीतवर्ण और गरुड़ के निकट-वर्त्ती होनी चाहिये ।

व्यजन का माहात्म्य ।—विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—तालवृन्त (ताड़ का पंखा) हरि को अर्पण करने से परम सुख प्राप्त होता है ।

वितान (चंदोवे) का माहात्म्य ।—उक्त ग्रंथ में लिखा

परां निर्वृतिमाप्नोति यत्र यत्राभिजायते ॥ ९५ ॥

खड्गादीनाम् ।

दत्त्वा निस्त्रिंशकान् मुख्यान् शत्रुभिर्नाभिभूयते ।
दत्त्वा तद्बन्धनं मुख्यमग्न्याधेय-फलं लभेत् ॥ ९६ ॥

किञ्च ।— पतद्ग्रहं तथा दत्त्वा शुभगस्त्वभिजायते ॥
पादपीठ-प्रदानेन स्थानं सर्व्वत्र विन्दति ॥

दर्पणस्य ।

दर्पणस्य प्रदानेन रूपवान् दर्पवान् भवेत् ॥
मार्जयित्वा तथा तश्च शुभगस्त्वभिजायते ॥ ९७ ॥
यत् किञ्चिद्देव-देवाय दद्याद्भक्तिसमन्वितः ।
तदेवाक्षयमाप्नोति स्वर्गलोकं स गच्छति ॥

किञ्च वामनपुराणे,श्रीवलिं प्रति श्रीप्रह्लादोक्तौ—

श्रद्दधानैर्भक्तिपरैर्यान्युद्दिश्य जनार्द्दनम् ।
वलिदानादि दीयन्ते अक्षयाणि विदुर्व्वुधाः ॥ ९८ ॥
अत्रापि केचिदिच्छन्ति दत्त्वा पुष्पाञ्जलि-त्रयम् ।
पूर्वोक्ता दशसंख्याद्या मुद्राः संदर्शयेदिति ॥ ९९ ॥

अथ गीत-वाद्य-नृत्यानि ।

ततो विचित्रैर्ललितैः कारितैर्वा स्वयं-कृतैः ।
गीतैर्वाद्यैश्च नृत्यैश्च श्रीकृष्णं परितोषयेत् ॥ १०० ॥

भाषा टीका ।

है,—श्रीहरि को चन्द्रातप(चंदोवे) अर्पण करने पर दाता सव पापों से छूट जाता है और जिस जिस स्थान में जन्म लेता है,—वह उसी उसी स्थान में परम सुख पाता है ।

खड्गादि का माहात्म्य ।— जो पुरुष हरि को उत्तम खड्गादि अर्पण करते हैं,—उन को वैरी नहीं जीत सकते । अति उत्तम असि-कोष (तलवार की म्यान) अर्पण करने से अग्न्याधान का फल मिलता है ॥ ९६ ॥

और भी लिखा है कि,—पतद्ग्रह (पीकदानी) अर्पण करने से—वह सौभाग्यवान् होता है । पादपीठ (पायदान) प्रदान करने से सर्वत्र स्थान प्राप्त होता है ।

दर्पण-अर्पण-माहात्म्य इस प्रकार लिखा है,—दर्पण-अर्पण करने से रूपवान् और दर्पशील होता है और दर्पण को झाड़ पोंछ कर निवेदन करने पर सौभाग्यवान् होता है ॥ ९७ ॥

भक्तिपूर्वक देव-देव हरि को जो कोई वस्तु अर्पण करी जाय—वह अक्षय होती है और वे द्रव्य-दाता सुर-लोक में जाते हैं । वामनपुराण में वालि के प्रति प्रह्लाद जी ने कहा है कि,—श्रद्धावान् होकर भक्ति-सहित विष्णु के निमित्त जो सब वलि-दान समर्पित होते हैं,—बुद्धिमान् पुरुष उस को अक्षय कह-कर निरूपण करते हैं ॥ ९८ ॥

कोई कोई पण्डित ऐसी इच्छा करते हैं कि,—इस समय भी प्रथम तीन वार पुष्पाञ्जलि प्रदान करके फिर पूर्व-कथित शंखादि दश मुद्रा दिखावे ॥९९॥

अथ गीत, वाद्य और नृत्य ।—फिर अपने किये

अथ तत्र निषिद्धम् ।

नृत्यादि कुर्व्वतो भक्तान्नोपविष्टोऽवलोकयेत् ।
न च तिर्य्यग्व्रजेत्तत्र तैः सहान्तरयन् प्रभुम् ॥ १०१ ॥

तथा चोक्तं—

नृत्यन्तं वैष्णवं हर्षादासीनो यस्तु पश्यति ।
खञ्जो भवति राजेन्द्र ! सोऽयं जन्मनि जन्मनि ॥ १०२ ॥

किञ्च ।— नृत्यतां गायतां मध्ये भक्तानां केशवस्य च ।
तानृते यस्तिरोयाति तिर्यग्योनिं स गच्छति ॥ १०३ ॥

अथ गीतादि-माहात्म्यम् ।

आदौ सामान्यतो नारसिंहे—

गीत-वाद्यादिकं नाट्यं शंखतूर्य्यादि-निःस्वनम् ।
यः कारयति विष्णोस्तु सन्ध्यायां मन्दिरे नरः ॥
सर्बकाले विशेषेण कामगः कामरूपवान् ॥ १०४ ॥
सुसंगीतविदग्धैश्च सेव्यमानोऽप्सरो-गणैः ।
महार्हेण विमानेन विचित्रेण विराजता ।
स्वर्गात् स्वर्गमनुप्राप्य विष्णु-लोके महीयते ॥ १०५ ॥

स्कान्दे विष्णु-नारद-सम्वादे—

गीतं वाद्यञ्च नृत्यञ्च नाट्यं विष्णु-कथां मुने !

भाषा टीका ।

अथवा दूसरे के लिये मनोरञ्जन अनेक प्रकार के गीत, वाद्य और नृत्य-द्वारा श्रीहरि को संतुष्ट करे ।

अनन्तर इन सब विषयों में निषिद्ध कहा जाता है ।— भक्तगण जब नृत्य-गीतादि करें,—तब कोई बैठकर नहीं देखे एवं नृत्यादि करने वाले भक्त और प्रभु को अन्तराल (मध्यभाग में विच्छेद) करके उस के बीच में होकर वक्र-भाव से गमन भी न करे ॥ १०१॥

इस विषय में कहा है कि,—प्रेम से पुलकित होकर नृत्य करने वाले वैष्णव-जन को बैठकर देखने पर जन्म जन्म में खञ्ज (लूले लँगड़े) होते हैं ॥ १०२॥

और भी लिखा है कि,—भक्त-गणों के अतिरिक्त अन्य जो कोई पुरुष हरि और उनके भक्त-कुल का मध्यदेश आच्छादन करता है,—उसको तिर्यग्-योनि मिलती है ॥ १०३ ॥

अथ गीतादि का माहात्म्य ।— प्रथम तो सामान्य रूप से नृसिंहपुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष सर्वदा विशेष कर संध्या के समय हरि-मंदिर में गीत-वाद्यादि नाट्य और शंख-तूर्य्यादि को वजाता है वा दूसरे से वजवाता है,—वह यथेच्छगामी और स्वेच्छा-रूपधारी हो सकता है ॥ १०४ ॥

वह वहुमूल्य विचित्र देवयान में वैठकर संगीत-निपुण अप्सराओं से सेवित होते होते क्रमशः विल-स्वर्ग से भूमि-स्वर्ग, भूमि-स्वर्ग से दिव्य-स्वर्ग, दिव्य-स्वर्ग से महर्लोकादि में गमन कर-तत्तत् स्थान में स्वेच्छानुसार—सुख भोग करके फिर हरि-धाम में जाकर सन्मान के सहित वास करता है ॥ १०५ ॥

स्कन्दपुराण के विष्णु-नारद-संवाद में लिखा है

यः करोति स पुण्यात्मा त्रैलोक्योपरि संस्थितः ॥ १०६ ॥

बृहन्नारदीये श्रीयम-भगीरथ-सम्वादे—

देवतायतने यस्तु भक्तियुक्तः प्रनृत्यति ।
गीतानि गायत्यथवा तत् फलं श्रृणु भूपते ! ॥
गन्धर्व-राजतां गानैर्नृत्याद्रुद्र-गणेशताम् ।
प्राप्नोत्यष्ट-कुलैर्युक्तस्ततः स्यान्मोक्षभाङ्नरः ॥ १०७ ॥

लैङ्गे श्रीमार्कण्डेयाम्बरीष-सम्वादे—

विष्णु-क्षेत्रे तु यो विद्वान् कारयेद्भक्तिसंयुतः ॥
गान-नृत्यादिकञ्चैव विष्ण्वाख्याश्च कथां तथा ।
जातिं स्मृतिञ्च मेधाञ्च तथैव परमां स्थितिम् ।
प्राप्नोति विष्णु-सालोक्यं सत्यमेतन्नराधिप ! ॥

अन्यत्र च श्रीभगवदुक्तौ—

विसृज्य लज्जां योऽधीते गायते नृत्यतेऽपि च ।
कुलकोटि-समायुक्तो लभते मामकं पदम् ॥ १०८ ॥

अतएवोक्तं-भारते नृत्य-गीतं तु कुर्य्यात स्वाभाविकेऽपि वा ।
"स्वाभाविकेन भगवान् प्रीणाती-"त्याह शौनकः ॥ १०९ ॥

अतएव नारदीये—

विष्णोर्गीतञ्च नृत्यञ्च नटनञ्च विशेषतः ।

भाषा टीका ।

कि,—हे ऋषे ! जो पुण्यवान् पुरुष—गीत, वाद्य, नृत्य और नाटय और हरि-कथा करते हैं,-वे तीनों लोकों के ऊपर-स्थित वैकुण्ठ-धाम में जाकर विराजित रहते हैं ॥ १०६ ॥

बृहन्नारदीयपुराण के यम-भगीरथ-संवाद में लिखा है कि,—हे नृपते ! जो भक्तिमान् होकर देव-मंदिर में नृत्य वा संगीत करते हैं,-उसका फल सुनो;-- वे पुरुष संगीत-द्वारा गन्धर्वाधिपतित्व लाभ करते हैं, नृत्य-द्वारा रुद्र-गणों के अधीश्वरत्व को प्राप्त होते हैं और फिर आठ कुलों के सहित संसार से रक्षा पाते हैं ॥ १०७ ॥

लिङ्गपुराण के श्रीमार्कण्डेय-अम्बरीष-सम्वाद में लिखा है कि,—हे राजन् ! जो बुद्धिमान् पुरुष भक्तिमान् होकर हरि-मंदिर में हरि-कथा और नृत्य गीतादि करते हैं-वे उत्तम जाति, स्मृति, मेधा और स्थिति [भगवद्भजन में निष्ठा] को प्राप्त होते हैं और निसन्देह हरि के सालोक्य को प्राप्त होते हैं। अन्यत्र भी भगवान् की उक्ति है कि,—जो लज्जा त्याग कर मेरे समीप अध्ययन, संगीत वा नृत्य करते हैं,—वे मेरे धाम में करोड़ कुल के सहित वास को प्राप्त होते हैं ॥ १०८ ॥

अतएव कहा है कि,—भरतमुनि-प्रणीत अथवा स्वाभाविक (निज-स्वभावसिद्ध) नृत्य-गीत करे, "स्वाभाविक नृत्य-गीत से भगवान् प्रसन्न होते हैं"— शौनक मुनि इस प्रकार कह गये हैं ॥ १०९ ॥

इसी कारण नारदपुराण में कहा है कि,— हे ब्रह्मन् ! हरि के उद्देश में नृत्य-गीत और अभिनयादि

ब्रह्मन् ! ब्राह्मणजातीनां कर्त्तव्यं नित्यकर्म्मवत् ॥ ११० ॥

किन्तु स्मृतौ—

गीत-नृत्यानि कुर्व्वीत द्विज-देवादि-तुष्टये ।
न जीवनाय युञ्जीत विप्रः पाप-भिया क्वचित् ॥ इति ॥
एवं कृष्ण-प्रीणनत्वाद्गीतादेर्नित्यता परा ।
संसिद्धैरविशेषेण ज्ञेया सा हरिवासरे ॥ १११ ॥

तथा चोक्तं-केशवाग्रे नृत्य-गीतं न करोति हरेर्दिने ।
वह्निना किं न दग्धोऽसौ गतः किं न रसातलम् ॥ ११२ ॥

अथ विशेषतो गीतस्य माहात्म्यम् ।

द्वारका-माहात्म्ये श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-सम्वादे—

कृष्णं सन्तोषयेद्यस्तु सुगीतैर्मधुरस्वनैः ।
सर्व्ववेद-फलं तस्य जायते नात्र संशयः ॥११३॥

स्कान्दे श्रीमहादेवोक्तौ—

श्रुति-कोटिसमं जप्यं, जप-कोटि-समं हविः ।
हविः-कोटि-समं गेयं, गेयं गेय-समं विदुः ॥ ११४ ॥

काशीखण्डे विष्णुदूत-शिवशर्म्म-सम्वादे—

यदि गीतं क्वचिद्गीतं श्रीमद्धरि-हराङ्कितम् ।
मोक्षन्तु तत्फलं प्राहुः सान्निध्यमथवा तयोः ॥ ११५ ॥

भाषा टीका ।

ब्राह्मणों को नित्य-क्रिया की समान अवश्य-कर्त्तव्य है ॥ ११० ॥

किन्तु स्मृति में भी लिखा है,—देव-ब्राह्मण की प्रीति के अर्थ द्विजाति-गण नृत्य-गीत करें, किन्तु जीविका के लिये कभी न करें, जीविका के लिये नृत्य-गीतादि करने पर पाप में निमग्न होना पड़ता है। इस प्रकार श्रीहरि का सन्तोषजनक होने से सिद्ध पुरुषों ने संगीतादि की नित्यता,—विशेष कर एकादशी में अधिक नित्यता का विषय वर्णन किया है । अतएव कहा है कि,—जो एकादशी इत्यादि दिन में भी हरि के सन्मुख नृत्य—गीत नहीं करते,—उनको क्या अग्नि से दग्ध होना नहीं पड़ता ? अथवा उनको क्या पाताल जाना नहीं पड़ेगा ? ॥ १११ ॥ ११२ ॥

अनन्तर विशेष प्रकार से गीतादि का विषय ।—द्वारकामाहात्म्य के मार्कण्डेय-इन्द्रद्युम्न-संवाद में लिखा है कि,—जो श्रेष्ठ स्वर से मधुर संगीत द्वारा श्रीहरि को संतुष्ट करते हैं—वे निःसंदेह सब वेदों के पढ़ने का फल पाते हैं ॥ ११३ ॥

स्कन्द-पुराण में श्रीशिवोक्ति है कि,—जप-द्वारा करोड़ श्रुति का फल मिलता है, नैवेद्य देने से करोड़ जप का फल सिद्ध होता है, संगीत,—करोड़ नैवेद्य दान के सदृश और गान,—गान के समान अर्थात "उपमारहित" कह कर निर्दिष्ट है ॥ ११४ ॥

काशीखण्ड के विष्णु-दूत और शिवशर्म्मा-संवाद में लिखा है कि,—यदि किसी स्थान में हरि-हर-विषयक संगीत हो;-तो उस का फल मोक्ष अथवा हरि-हर के समीप अवस्थान होना निर्दिष्ट है ॥११५॥

विष्णुधर्म्मे श्रीभगवदुक्तौ—

रागेणाकृष्यते चेतो गान्धर्व्वाभिमुखं यदि ।
मयि बुद्धिं समास्थाय गायेथा मम सत्कथाः ॥ ११६ ॥

हरिभक्तिसुधोदये—

यो गायतीशमनिशं भुवि भक्त उच्चैः स द्राक् समस्तजन-पापभिदेऽलमेकः ।
दीपेष्वसत्स्वपि ननु प्रतिगेहमन्तर्ध्वान्तं किमत्र विलसत्यमले द्यु-नाथे ॥ ११७ ॥

यदानन्द-कलं गायन् भक्तः पुण्याश्रु वर्षति ।
तत् सर्व्वतीर्थ-सलिलस्नानं स्व-मलशोधनम् ॥ ११८ ॥

वाराहे ।— ब्राह्मणो वासुदेवार्थं गायमानोऽनिशं परम् ।
सम्यक् ताल-प्रयोगेण सन्निपातेन वा पुनः ।
नववर्ष-सहस्राणि नववर्ष-शतानि च ।
कुवेर-भवनं गत्वा मोदते वै यदृच्छया ॥
कुवेर-भवनाद्भ्रष्टः स्वच्छन्दगमनालयः ।
फलमाप्नोति सुश्रोणि ! मम कर्म्मपरायणः ॥ ११९ ॥
नारायणानां विधिना गानं श्रेष्ठतमं स्मृतम् ।
गानेनाराधितो विष्णुः स्व—कीर्त्ति-ज्ञान-वर्च्चसा ।

भाषा टीका ।

विष्णुधर्म्म में श्रीभगवान् की उक्ति है यथा;—यदि तुम्हारा चित्त मल्लारादि राग में समाकृष्ट होकर संगीत करने के लिये उत्कण्ठित हो–तो मुझ में चित्त स्थापन कर सत्कथा (रास-क्रीड़ादिविषयक कथा अथवा समयानुसार साधुजनों की कथा) अवलम्बनपूर्वक-गान करो ॥ ११६ ॥

हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है कि,—जो भक्त पृथ्वी-तल में सदा उच्च स्वर से ईश्वर-विषयक संगीत करते हैं,—वे सब लोकों के पाप दूर करने में समर्थ होते हैं। यदि दीपक का प्रकाश न हो—और यदि आकाश में विमल सूर्य्य उदय हों;—तो क्या घर में अन्धकार विद्यमान रह सकता है ? ॥ ११७ ॥

भक्त-जन पुलक से गद्गद-चित्त होकर संगीत करते करते जो प्रेमाश्रु-धारा वर्षण करते हैं,–वह अपने पापों की हरने वाली और समस्त तीर्थ-जल में स्नान के समान फलदायक है ॥ ११८ ॥

वराहपुराण में लिखा है,—हे सुन्दरि ! यदि ब्राह्मण-गण सम्यक् ताल-प्रयोग और अनेक प्रकार के रागादि-द्वारा जनार्द्दन के उद्देश में निरन्तर गान करें,–तो वे कुवेरालय में जाकर, नौ-सहस्र नौ-सौवर्ष पर्य्यन्त अपनी इच्छानुसार विचरण करते हैं । फिर अपनी इच्छा से उस स्थान को छोड़कर जहां तहां गमन और अवस्थिति करते हैं और मेरे प्रति भक्तिनिष्ठ होने से जो फल होता है,–उसको प्राप्त करते हैं ॥ ११९ ॥

जनार्द्दन के सब कार्य्यों में अथवा जीवों के अनुष्ठेय कर्म्मों में विधाता ने संगीत को ही श्रेष्ठ कहकर निरूपण किया है। जो पुरुष संगीत–द्वारा हरि की उपासना करते हैं,—देव-देव सन्तुष्ट हो—उनको कौशिक विप्र की

ददाति तुष्टः स्थानं स्वं यथास्मै कौशिकाय वै ॥ १२० ॥

किञ्च ।— एष वो मुनिशार्दूलाः प्रोक्तो गीत-क्रमो मुनेः ।
ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं परम् ।
हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्र-गानाधिको भवेत् ॥ १२१ ॥
कर्म्मणा मनसा वाचा वासुदेवपरायणः ।
गायन्नृत्यंस्तमाप्नोति तस्माद्गेयं परं विदुः ॥ १२२ ॥

प्रथमस्कन्धे श्रीनारदोक्तौ—
प्रगायतः स्व-वीर्य्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥ १२३ ॥

द्वादशस्कन्धे श्रीसूतोक्तौ
मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसतकथा न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।

भाषा टीका ।

समान, अपनी कीर्त्ति, ज्ञान और प्रभाव के सहित स्वीय स्थान अर्पण करते हैं * ॥ १२० ॥

और भी लिखा है,—हे तापस प्रवर-गण ! तुम्हारे निकट देवर्षि की गीत-शिक्षा का क्रम वर्णन करते हैं । ब्राह्मण-गण निरन्तर श्रीकृष्णविषयक संगीत करने पर सालोक्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं और संगीत के विषय में रुद्रदेव से भी अधिक चतुरता को प्राप्त होते हैं । काय-मन-वचन से भगवन्निष्ठ होकर संगीत और नृत्य करने पर हरि को प्राप्त कर-सकता है,— इस कारण संगीत ही "प्रधान" कह कर वर्णित हुआ है ॥ १२१ — १२२ ॥

श्रीमद्भागवत के प्रथम-स्कन्ध में नारदोक्ति है कि ,— जिनके चरणकमल से गङ्गादि तीर्थों की उत्पत्ति हुई है, जिनकी कीर्त्ति अतीव प्रिय हैं,—उन श्रीकृष्ण की लीला गाने के समय;—वे मानों-आहूतवत् (बुलाये हुए की समान) होकर सत्वर मेरे हृदय-मन्दिर में दर्शन देते हैं + श्रीमद्भागवत के द्वादश-स्कन्ध में श्रीसूत के वाक्य में प्रकाशित है कि,—हरि-संकीर्त्तन ही महाफल कहा गया है,—इसके अतिरिक्त सब बृथा प्रलाप-मात्र हैं, यही विस्तार-सहित वर्णन करके कहा कि,—जिस कथा में देव-देव हरि का प्रसंग नहीं है, वह वाणी असती (दुष्टा) और मिथ्या है, किन्तु जिस में श्रीभगवान् के गुण का प्रसंग विद्यमान् हैं,—वही सत्य;—वही कल्याणकारक और—वही पुण्यप्रद है । जिस में उत्तमःश्लोक श्रीहरि का यशो-गान विस्तार-सहित वर्णित है;-वही रमणीय,—वही मनोहर,—वही क्षण क्षण में नवीन नवीन प्रतीत होने वाला,—वही सर्वदा

* इस प्रकार आख्यायिका है कि,—कौशिक-नामक किसी ब्राह्मण ने श्रीहरि-विषयक संगीत करके उस के फल से शिष्य, परिचारक और गीत सुनने वालों के सहित विष्णु-लोक में गमन किया और वहां हरि ने उसे आदरपूर्वक ग्रहण किया था ।

+ ध्यानादि-द्वारा हरि का साक्षात् लाभ होना कठिन है, किन्तु संगीत-द्वारा सहज में ही उनका दर्शन मिल जाता है,—इसी कारण भगवान् के माहात्म्य-गानकी महिमा ध्यान से भी अधिक है ।

तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमःश्लोक-यशोऽनुगीयते ॥ १२४ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दत्त्वा च गीतं धर्म्मज्ञा ! गन्धर्व्वैः सह मोदते ।
स्वयं गीतेन संपूज्य तस्यैवानुचरो भवेत् ॥

पाद्मे श्रीकृष्ण-सत्यभामा-सम्वादीयकार्त्तिक-माहात्म्ये पृथुनारदसम्वादे श्रीभगवदुक्तौ—

नाहं वसामि वैकुण्ठे न योगि-हृदये रवौ ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ! ॥
तेषां पूजादिकं गन्ध-पाद्याद्यैः क्रियते नरैः ।
तेन प्रीतिं परां यामि न तथा मत्प्रपूजनात् ॥ १२५ ॥

अतएवोक्तम्—

कर्म्मण्यौपयकत्वेन ब्राह्मणोऽन्य इति स्मृतः ।
कारिकायामतः प्रोक्तं--"विप्रो गीतैरमे--"दिति ॥ १२६ ॥

अथ नृत्यस्य ।

द्वारका-माहात्म्ये तत्रैव —

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहु सुभक्तितः ।
स निर्द्दहति पापानि जन्मान्तर-शतेष्वपि ॥ १२७ ॥

भाषा टीका ।

चित्त का महोत्सवस्वरूप और—वही मनुष्यों का शोक-सागर—शोषक है ॥ १२३-१२४ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,— हे धर्म्मनिष्ठ-गण ! जो पुरुष दूसरे के किये संगीत से देव-देव की उपासना करते हैं,—वे गन्धर्वों के संग क्रीड़ा करते हैं और जो निज-गीत संगीत-द्वारा हरि की उपासना करते हैं,—वे हरि के अनुचर होते हैं। पद्म-पुराण में श्रीकृष्ण-सत्यभामा-सम्वाद—सम्बन्धीय कार्त्तिकमाहात्म्य के नारद-पृथु-संवाद में श्रीभगवान् की उक्ति है कि,—हे नारद ! मैं वैकुण्ठधाम में अथवा योगियों के हृदय-मंदिर में या भास्कर-मण्डल में भी वास नहीं करता, किन्तु मेरे भक्त-गण जिस स्थान में गान करते हैं,—मैं वहां वास करता हूँ । मनुष्य-गण गंध-पाद्यादि द्वारा उन भक्तों की पूजा करने से मैं जैसा सन्तुष्ट होता हूँ,—मेरी पूजा होने से वैसा प्रसन्न नहीं होता ॥ १२५ ॥

इसी कारण कहा है कि,—आराधना-कार्य्य में ब्राह्मणों के ही उपयुक्त होने से शास्त्रकार-गण—उनको "विष्णु का दास" कह गये हैं । इसी लिये कारिका में (उपनिषद् के अंश-भेद में अथवा छन्दो-वद्ध श्रुत्यादि-व्याख्या-ग्रन्थ में) कहा है कि,— ब्राह्मण-गण भगवद्विषयक संगीत से पुलकित होते हैं ॥ १२६ ॥

अथ नृत्य-माहात्म्य ।—द्वारका-माहात्म्य के उक्त स्थान में ही लिखा है कि,—जो प्रफुल्लमन और परम-भक्ति-सहित, यत्नपूर्व्वक, नानाप्रकार चेष्टा-द्वारा नृत्य करते हैं,—उनके सैंकड़ों जन्मों के पातक भस्म हो—जाते हैं ॥ १२७ ॥

हरि-भक्तिसुधोदये—

वहुधोत्सार्य्यते हर्षाद्विष्णु-भक्तस्य नृत्यतः।
पद्भ्यां भूमेर्दिशोऽक्षिभ्यां दोर्भ्यां वा मङ्गलं दिवः॥ १२८॥

वाराहे।— यश्च नृत्यति सुश्रोणि ! पुराणोक्तं समासतः।
त्रिंशद्वर्ष-सहस्राणि त्रिंशद्वर्ष-शतानि च।
पुष्करद्वीपमासाद्य मोदते वै यदृच्छया॥
पुष्कराच्च परिभ्रष्टः स्वच्छन्दगमनालयः॥
फलमाप्नोति सुश्रोणि ! मम कर्म्मपरायणः॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

नृत्यं दत्त्वा तथाप्नोति रुद्र-लोकमसंशयम्।
स्वयं नृत्येन संपूज्य तस्यैवानुचरो भवेत्॥ १२९॥

अन्यत्र श्रीनारदोक्तौ—

नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिका-वादनैर्भृशम्।
उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्व्वे पातकपक्षिणः॥ १३०॥

अथ वाद्यस्य।

सङ्गीतशास्त्रे—

वीणा-वादनतत्त्वज्ञः श्रुति-जाति-विशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्ष-मार्गं नियच्छति॥ १३१॥

भाषा टीका।

हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है,—हर्ष के कारण नृत्य करने वाले हरि-परायंण पुरुष के चरणों से—धरणी का, नेत्र से—दिङ्मण्डल का और वाहु से—सुर-धाम का अमङ्गल नष्ट होता है॥ १२८॥

वराहपुराण में लिखा है,—हे सुश्रोणि ! जो भरतादि-ऋषिप्रणीत शास्त्रानुसार अल्पपरिमाण भी नृत्य करते हैं,—वे स्वाधीनता के अनुसार पुष्कर-द्वीप में जाकर तीस हजार और तीस सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द भोग करते हैं। फिर इच्छानुसार—वह स्थान छोड़ कर जहां तहां गमन और वास करते हैं और मुझ में भक्तिनिष्ठ होने से जो फल होता है—उसी को पाते हैं। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है,—दूसरे के किये नृत्य से प्रभु की उपासना करने पर, रुद्र-लोक प्राप्त होता है,—इस में सन्देह नहीं। स्वयं नृत्य करता हुआ देव-देव की उपासना करने से हरि का अनुचर हो—सकता है॥ १२९॥

अन्यत्र भी नारदोक्ति है कि,—जो पुरुष कमलापति के सन्मुख हाथों की ताली वजाते वजाते वारम्वार नृत्य करते हैं,—उनके देह-स्थित पातकरूपी पक्षिगण उड़-कर भाग जाते हैं॥ १३०॥

अथ वाद्य-माहात्म्य।—संगीत-शास्त्र में लिखा है कि,—जो पुरुष वीणा वजाने में चतुर, श्रुति और जाति विषय में पारदर्शी और ताल-प्रयोग (देने) में निपुण हैं,—वे मुक्तिप्राप्य हरि को सहज में ही वशीभूत कर सकते हैं॥ १३१॥*

* श्रुति;—वाजे का एक अङ्ग; जो छत्तीस प्रकार है। जाति;—सात स्वर अथवा मेघनाद और वसन्तादि-राग का आलाप-विशेष।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

वाद्यं दत्त्वा तथा विप्रः शक्र-लोकमवाप्नुयात् ।
स्वयं वाद्येन संपूज्य तस्यैवानुचरो भवेत् ॥
वाद्यानामपि देवस्य तन्त्री-वाद्यं सदा प्रियम् ।
तेन संपूज्य वरदं गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥

अथ शक्तौ पुनः पूजा ।

शक्तश्चेत् सपरीवारं कृष्णं गन्धादिभिः पुनः ।
पञ्चोपचारैर्मूलेन संपूज्यार्घ्यं समर्पयेत् ॥ १३२॥

अथ नीराजनम् ।

ततश्च मूलमन्त्रेण दत्त्वा पुष्पाञ्जलि-त्रयम् ।
महानीराजनं कुर्य्यान्महावाद्य-जयस्वनैः ॥
प्रज्वालयेत्तदर्थञ्च कर्पूरेण घृतेन वा ।
आरात्रिकं शुभे पात्रे विषमानेकवर्त्तिकम् ॥ १३३ ॥

अथ नीराजन-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

वहुवर्त्तिसमायुक्तं ज्वलन्तं केशवोपरि ।
कुर्य्यादारात्रिकं यस्तु कल्प-कोटिं वसेद्दिवि ॥
कर्पूरेण तु यः कुर्य्याद्भक्त्या केशव-मूर्द्धनि ।

भाषा टीका ।

विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—ब्राह्मण-गण दूसरे के वजाये वाजे से हरि की पूजा करने पर, इन्द्र-लोक प्राप्तकर-सकते हैं और स्वयं वाजा वजाकर आराधना करने पर हरि के अनुचर होते हैं। सब वाजों में तन्त्री वाजा जनार्द्दन को सदा प्रीतिदायक है। उस तन्त्री वाजे से वरप्रद हरि की उपासना करने पर गणपति-लोक प्राप्त होता है।

समर्थ होने पर पुनर्वार पूजा।—समर्थ होने पर मूल-मन्त्र-द्वारा गन्धादि पञ्चोपचार से फिर सपरिवार हरि की पूजा करके अर्घ्य देवे ॥ १३२ ॥ ×

अथ नीराजन।—फिर मूल-मंत्र पाठपूर्वक तीन वार पुष्पाञ्जलि देकर महावाद्य और जयध्वनि के सहित महानीराजन करना चाहिये एवं इस नीराजन के लिये काञ्चनमयादि उत्कृष्ट पात्र में कर्पूर वा घृत-द्वारा अयुग्म और वहुत सी वत्तियों से युक्त दीपक जलावे ॥ १३३ ॥

अथ महानीराजन-माहात्म्य।—स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद—संवाद में लिखा है कि,—जो वहुत सी वत्तियों से युक्त जलते हुए दीपक से हरि के मस्तक पर आरती करते हैं,—उनका करोड़ कल्प—तक सुर-पुर में वास होता है। हे तापसप्रवर! जो पुरुष कपूर से

× प्रयोग यथा,—मूल मन्त्र—उच्चारणपूर्वक देय द्रव्य का नाम ले—"सपरिवाराय कृष्णाय नमः"—यह मंत्र पढ़ता हुआ पञ्चोपचार से फिर पूजा करके "सपरिवाराय श्रीकृष्णाय इदमर्घ्यं स्वाहा"—कहकर अर्घ्य देवे।

आरात्रिकं मुनिश्रेष्ठ ! प्रविशेद्विष्णुमव्ययम् ॥ १३४ ॥

तत्रैवान्यत्र।-दीप्तिमन्तं सकर्पूरं करोत्यारात्रिकं नृप !

कृष्णस्य वसते लोके सप्तकल्पानि मानवः ॥ १३५ ॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-सम्वादे—

मन्त्र-हीनं क्रिया-हीनं यत् कृतं पूजनं हरेः।

सर्व्वं सम्पूर्णतामेति कृते नीराजने शिवे! ॥ १३६ ॥

हरि-भक्तिसुधोदये—

कृत्वा नीराजनं विष्णोर्दीपावल्या सुदृश्यया।

तमो-विकारं जयति जिते तस्मिंश्च को भवः ॥ १३७ ॥

अन्यत्र च।-कोटयो ब्रह्महत्यानामगम्यागम-कोटयः।

दहत्यालोक-मात्रेण विष्णोः सारात्रिकं मुखम् ॥ इति ॥ १३८ ॥

यच्च दीपस्य माहात्म्यं पूर्व्वं लिखितमस्ति तत् ।—

द्रष्टव्यं सर्व्वमत्रापि प्रायेणाभेदतोऽनयोः ॥ १३९ ॥

अतः सादरमुत्थाय महानीराजनन्त्विदम् ।—

द्रष्टव्यं दीपवत् सर्व्वैर्वन्द्यमारात्रिकञ्च तत ॥ १४० ॥

भाषा टीका।

भक्ति-पूर्वक हरि के मस्तक पर नीराजन करते हैं, वे हरि का अक्षय सान्निध्य लाभ करते हैं ॥ १३४ ॥

इसी पुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि,—जो पुरुष जलते हुए कर्पूरयुक्त दीप से नीराजन करते हैं,—उनका सात कल्प-तक कृष्ण-पुर में वास होता है। इसी स्थान के शिव-पार्वती—संवाद में लिखा है कि,—हे देवि ! देव-देव का नीराजन करने से क्या मन्त्रहीन, क्या क्रिया-हीन,-जो कोई पूजा की गई है,-वह सभी सम्पूर्णता को प्राप्त (फलवती) होती है ॥ १३५—१३६ ॥

हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है कि,—मनोहर-दृश्य दीपावली-द्वारा हरि का नीराजन करने पर, तमो-विकार (काम-क्रोधादि) अथवा अज्ञान-विकार (अभिमानादि) दूर होते हैं और उनके दूर होने पर, फिर-संसार-धाम में देह धारण करना नहीं पड़ता ॥१३७॥

अन्यत्र भी लिखा है,—नीराजन-काल में दीपालोक से अधिक विराजित हरि के मुख का दर्शन करते ही करोड़ करोड़ ब्रह्म-वध-पाप और करोड़ करोड़ अगम्या-गमन पातक—भस्म होते हैं ॥ १३८ ॥

धूप के अनन्तर समर्पित दीप और नीराजन-दीप;—इन दोनों दीपों में भेद न होने से पहिले दीप का जो माहात्म्य वर्णित हुआ है,-यहां भी प्राय— * वही सब जानना चाहिये ॥ १३९ ॥

अतएव सब आदर-पूर्वक उठकर इस महा-नीराजन दीप को भी दीप को समान दर्शन और नमस्कार करे ॥ १४० ॥

* यहां "प्राय" शब्द का तात्पर्य्य यह है,—" धूप की पीछे जो दीप-दान कहे हैं—उस में बहुत वत्ती का प्रयोजन नहीं है"।

तदुक्तं श्रीपुलस्त्येन विष्णुधर्म्मे—

धूपं चारात्रिकं पश्येत् कराभ्याञ्च प्रवन्दते ।
कुल-कोटिं समुद्धृत्य याति विष्णोः परं पदम् ॥

मूलागमे च—

नीराजनञ्च यः पश्येद्देव-देवस्य चक्रिणः ।
सप्तजन्मानि विप्रः स्यादन्ते च परमं पदम् ॥

अथ शंखादिवादन-माहात्म्यम् ।

वृहन्नारदीये श्रीयम-भगीरथ-सम्वादे—

केशवायतने राजन् ! कुर्व्वन् शंख-रवं नरः ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो ब्रह्मणा सह मोदते ॥
कर-शब्दं प्रकुर्व्वन्ति केशवायतनेषु ये ।
ते सर्व्वे पाप-निर्म्मुक्ता विमानेशा युगद्वयम् ॥ १४१ ॥
तालादिकांस्य-निनदं कुर्व्वन् विष्णु-गृहे नरः ।
यत् फलं लभते राजन् ! शृणुष्व गदतो मम ॥
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो विमान-शत-सङ्कुलः ।
गीयमानश्च गन्धर्व्वैर्विष्णुना सह मोदते ॥
भेरी-मृदङ्ग-पटह-निशानाद्यैश्च डिण्डिमैः ।
सन्तर्प्य देव-देवेशं यत् फलं लभते शृणु ॥—

भाषा टीका ।

विष्णुधर्म्मोत्तर में पुलस्त्यजी ने यह विषय कहा है कि,—धूप और नीराजनदीप-दर्शन एवं हस्त-द्वारा प्रणाम करने पर, करोड़ कुलों की रक्षा करके हरि का परम पद प्राप्त होता है । मूलागम में भी लिखा है कि,—जो पुरुष देव-देव चक्रधर का नीराजन अवलोकन करते हैं,—वे सात जन्म-तक ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होकर अन्त में परम पद को प्राप्त होते हैं ।

अथ शंखादि वजाने का माहात्म्य ।—वृहन्नारदीय पुराण के श्रीयम-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है कि,—हे नरपते ! जो पुरुष हरि-मन्दिर में शंख वजाते हैं,—वे सब पापों से छूट कर ब्रह्म-धाम में आनन्द भोगते हैं । जो पुरुष केशव के मन्दिर में करताली की ध्वनि करते हैं,—वे पाप-समूह से उत्तीर्ण होकर दो युग-तक विमान के अधीश्वरत्व को प्राप्त होते हैं ॥ १४१ ॥

हे नृपते ! हरि-मंदिर में तालादि कांस्य (कांसी का प्रसिद्ध करताल) शब्द करने पर मनुष्य जिस फल को प्राप्त होते हैं,—मैं उस का वर्णन करता हूँ, सुनों ;—वह वादक पुरुष पापों से उत्तीर्ण होकर शत शत विमान में आरोहणपूर्वक विष्णु के सहित सुखानुभव करते हैं और गधर्व-गण उनकी कीर्त्ति गाते हैं । भेरी, मृदंग, पटह, निशान, डिमृडिम;—इत्यादि वाद्य यन्त्र-द्वारा देव-देव हरि को प्रसन्न करने पर जो फल प्राप्त होता है, सो सुनों,—वह वादक-पुरुष शत शत देव-नारीयों से परिवेष्टित और सर्व कामना-युक्त होकर सुर-धाम में प्रस्थान करते हैं और

देव-स्त्रीशतसंयुक्तः सर्वकामसमन्वितः ।
स्वर्गलोकमनुप्राप्य मोदते कल्प-पञ्चकम् ॥ इति ॥१४२॥ *

अथ सजलशंख-नीराजनम् ।

ततश्च सजलं शंखं भगवन्मस्तकोपरि ।
त्रिर्भ्रामयित्वा कुर्व्वीत पुनर्नीराजनं प्रभोः ॥ १४३ ॥

तन्माहात्म्यञ्च ।

द्वारका-माहात्म्ये तत्रैव—

शंखे कृत्वा तु पानीयं भ्रामितं केशवोपरि ।
सन्निधौ वसते विष्णोः कल्पान्तं क्षीर-सागरे ॥ इति ॥ १४४ ॥
नीराजन-द्वयं चैतत्ताम्बूलस्यार्पणात् परम् ।
केचिदिच्छन्ति, केचिच्च दर्पणार्पणतः परम् ॥

तथा च पञ्चरात्रे—

पुनराचमनं दद्यात् करोद्वर्त्तनमेव च ।
सकर्पूरञ्च ताम्बूलं कुर्य्यान्नीराजनं तथा ॥
समर्प्य मुकुटादीनि भूषणानि विचक्षणः ।
आदर्शयेत्तथादर्शं प्रकल्प्य छत्र-चामरे ॥

गारुड़े च ।—अथ भुक्तवते दत्त्वा जलैः कर्पूर-वासितैः ।
आचमनञ्च ताम्बूलं चन्दनैः कर-मार्जनम् ॥
पुष्पाञ्जलिं ततः कृत्वा भक्त्यादर्शं प्रदर्शयेत् ।
नीराजनं पुनः कार्य्यं कर्पूरं विभवे सति ॥

भाषा टीका ।

पाँच कल्प-काल—तक उसी स्थान में आनन्द करते हैं ॥ १४२ ॥

अथ सजल शंख-द्वारा नीराजन।—इसके पीछे फिर जल-पूरित शंख भगवान् के मस्तक पर तीन वार घुमाकर प्रभु का नीराजन करे ॥ १४३ ॥

द्वारका-माहात्म्य के उसी स्थान में उसका माहात्म्य कथित हुआ है कि,—जो जल-पूरित शंख हरि के मस्तक पर घुमाते हैं,—कल्पान्त काल—तक वे क्षीर-समुद्र में हरि के संग वास करते हैं ॥ १४४ ॥

कोई कोई महात्मा ताम्बूल-प्रदान करने के पीछे, कोई कोई दर्पण-प्रदान करने के पीछे—इस द्विविध नीराजन की इच्छा करते हैं । यह विषय पञ्चरात्र में कहा है कि,—पुनर्वार आचमन और कर्पूर-युक्त ताम्बूल अर्पणपूर्वक नीराजन करें । बुद्धिमान् पुरुष मुकुटादि अलंकार (गहने) छत्र और चमर प्रदान करके दर्पण दिखावे । गरुड़पुराण में लिखा है कि,—भोजन के पीछे, कृतभोजन श्रीभगवान् के उद्देश में प्रथम आचमन के लिये कर्पूर-युक्त जल, फिर ताम्बूल और फिर हस्त-मार्जन के निमित्त चन्दन

* अत्र श्लोके वहुबचनान्तो बा पाठः ।

अतएव वायुपुराणे—

आरात्रिकन्तु निःस्नेहं निःस्नेहयति देवताम् ।
अतः संशमयित्वैव पुनः पूजनमाचरेत् ॥

अतएव द्वारका-माहात्म्ये तत्रैव—

कृत्वा पूजादिकं सर्व्वं ज्वलन्तं कृष्ण-मूर्द्धनि ।
आरात्रिकं प्रकुर्व्वाणो मोदते कृष्ण-सन्निधौ ॥ इति ॥ १४५ ॥
केचिन्नीराजनात् पश्चादिच्छन्ति प्रणतिं, ततः ।
प्रदक्षिणं, ततः स्तोत्रं, गीत-नृत्यादिकं ततः ॥ १४६ ॥
एवं भागवताः स्व-स्व-सम्प्रदायानुसारतः ।
प्रवर्त्तन्ते प्रभोर्भक्तौ, भक्त्या सर्व्वं हि शोभनम् ॥
ततो निक्षिप्य देवस्योपरि पुष्पाञ्जलि-त्रयम् ।
विचित्रैर्मधुरैः स्तोत्रैः स्तुतिं कुर्व्वीत भक्तिमान् ॥ १४७ ॥

अथ स्तुति-विधिः । महाभारते—

"आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम् ।
तया व्यास-समासिन्या प्रीयतां मधुसूदनः" ॥ इति ॥ १४८ ॥
आरम्भे च स्तुतेरेतं श्लोकं स्तुतिपरः पठेत् ।
सत्यां तस्यां समाप्तौ च श्लोकं सङ्कीर्त्तयेदिमम् ॥

भाषा टीका ।

प्रदान करके पुष्पाञ्जलि प्रदान करे । फिर भक्ति-सहित दर्पण दिखावे । समर्थ होने पर, फिर कर्पूर-द्वारा पुनर्वार नीराजन करना चाहिये । अतएव वायु-पुराण में कहा है कि,—नीराजन-पात्र स्नेह-रहित (घृतादि-हीन) होने पर देवता को स्नेह—(दया) हीन कर देता है,—इस कारण इसको निर्वापित करके फिर पूजा आरम्भ करे * । इसी कारण द्वारका-माहात्म्य में—यह विषय कहा है कि,—जो पूजादि निखिल कार्य्य साधन करके प्रज्वलित दीप-पंक्ति-द्वारा श्रीहरि के मस्तक पर नीराजन करते हैं,—वे श्रीहरि के समीप सुख भोगते हैं ॥ १४५ ॥

कोई कोई पुरुष नीराजन के पीछे प्रणाम, फिर प्रदक्षिणा, फिर स्तुति और अन्त में नृत्यादि की अभिलाषा करते हैं ॥ १४६ ॥

वैष्णव-गण इस भांति अपनी अपनी सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति-सहित प्रभु की पूजादि करें। क्यों कि,—भक्तिपूर्वक जो कोई कार्य्य किया जाय—वह सभी फलदायक होता है । फिर भक्तिमान् होकर श्रीहरि के मस्तक पर तीन वार अञ्जलि-प्रदानपूर्वक विचित्र और मधुर स्तुति-द्वारा स्तव करे ॥ १४७ ॥

अथ स्तुति-विधान ।—महाभारत में लिखा है कि,—श्रीहरि की उपासना करने की इच्छा करके जो सब वाक्य कहने की अभिलाषा करता हूँ,—संक्षिप्त और विस्तृत—उन सब वचनों से मधुसूदन प्रसन्न हों ॥ १४८ ॥

स्तव करने वाला पुरुष, स्तव के आरम्भ में पूर्वकथित "आरिराधयिषुः"—इत्यादि श्लोक और

* इति पूर्व में दीप-निर्वाण के जो सब दोष वर्णित हुए हैं,— वह नीराजन-विषयक नहीं है । उन को "गृह-दीप"- सम्बन्ध में ही समझना चाहिये ।

"इति विद्या-तपो-योनिरयोनिर्विष्णुरीड़ितः ।
वाग्यज्ञेनार्च्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्द्दनः ॥ १४९ ॥

अथ स्तोत्राणि ।

पूर्व्वतापनीयश्रुतिषु —

"ओँ नमो विश्वरूपाय विश्व-स्थित्यन्त-हेतवे ।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे ।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने ।
नमः कमलनाभाय कमला-पतये नमः ॥
वर्हापीड़ाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
रमा-मानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
कंस-वंशविनाशाय केशि-चाणूरघातिने ।
वृषभध्वज-वन्द्याय पार्थ-सारथये नमः ॥
वेणु-वादनशीलाय गोपालायाहिमर्द्दिने ।
कालिन्दी-कुललोलाय लोलकुण्डलवल्गवे ॥
वल्लवी-नयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने ।
नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥
नमः पापप्रणाशाय गोवर्द्धनधराय च ।
पूतना-जीवितान्ताय तृणावर्त्तासुहारिणे ॥ १५० ॥

भाषा टीका ।

स्तुति समाप्त होने पर पीछे कही "इति विद्या" इत्यादि श्लोक उच्चारण करे। विद्या और तपस्या के योनि-(कारण) स्वरूप अयोनिज वाक्य यज्ञ-द्वारा पूजित हरि मेरे प्रति प्रसन्न हों ॥ १४९ ॥

अथ स्तुति का अर्थ ।—पूर्वतापनीय श्रुति में लिखा है कि,—जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय के कारण विश्वेश्वर-विश्वरूप-गोविन्द को नमस्कार करता हूँ । जो ज्ञान और परमानन्द-स्वरूप हैं,—उन गोपीनाथ, गोविन्द, कृष्ण को प्रणाम करता हूँ। पद्मलोचन, पद्ममाल्यधारी, पद्मनाभ, पद्मा-नाथ को नमस्कार है । जिन का शिरो-देश मयूर-वर्ह से विराजित, जो अकुण्ठ-बुद्धिमान् और कमलारूपी मानसरोवर के हंस-स्वरूप हैं,—उन गोविन्द को प्रणाम करता हूँ । कंस-कुल के विनाशकारी, केशि और चाणूर-निसूदन, शिव के वन्दनीय, और अर्जुन के सारथी को नमस्कार है । जो वेणु वजाने में निरत, गो-पालक, कालिय-दमन, यमुना-कुल में क्रीड़ानिरत, चपल, कुण्डल-द्वारा मनोहर, गोपीयों के लोचन कमल की माला-धारण करने वाले, नृत्यपरायण और प्रणत जनों के प्रतिपालक हैं,—उन श्रीकृष्ण को प्रणाम है । जो पापनाशक, गोवर्द्धन-धारी, पूतना और तृणावर्त्त के जीवन-विनाशक हैं,—उनको नमस्कार है ॥ १५० ॥

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धिवैरिणे ।
अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥
प्रसीद परमानन्द ! प्रसीद परमेश्वर !
आधि-व्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो !
श्रीकृष्ण ! रुक्मिणी-कान्त ! गोपीजन-मनोहर !
संसार-सागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो !
केशव ! क्लेशहरण ! नारायण ! जनार्द्दन !
गोविन्द ! परमानन्द ! मां समुद्धर माधव ! ॥ १९१ ॥

विशेषतः कलिकाले ।

एकादशस्कन्धे—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिव-विरिञ्चि-नुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपाल ! भवाब्धि-पोतं वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम् ॥१९२॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यज-सुरेप्सितराज्य-लक्ष्मीं धर्म्मिष्ठ आर्य्य-वचसा यदगादरण्यम् ।

भाषा टीका ।

जो परिपूर्ण, निर्मोह, शुद्ध, परमपवित्र, अद्वितीय और सब के वन्दनीय हैं,—उन श्रीकृष्ण को नमस्कार है। हे परमानन्दस्वरूप ! आप प्रसन्न हों। हे परमेश ! आप प्रसन्न हों। हे प्रभो ! मन की पीड़ा और व्याधि-रूपी सर्प ने मुझको दंशन किया है,—आप उससे मेरी रक्षा कीजिये। हे रुक्मिणी-कान्त ! हे गोपियों का चित्त हरने वाले ! हे जगद्गुरो ! हे कृष्ण ! मैं भव सागर में निमग्न हो रहा हूँ, मेरी रक्षा करो। हे केशव ! हे दुःखनाशन ! हे नारायण ! हे जनार्द्दन ! हे गोविन्द ! हे परमानन्द ! हे माधव ! मेरा उद्धार कीजिये ॥ १५१ ॥

विशेषतः कलियुग में स्तुति ।—श्रीमद्भागवत के एकादश-स्कन्ध में लिखा है कि,—हे प्रणतजन-रक्षक ! हे महापुरुष ! आप के जो चरण—सब के द्वारा ध्यान किये जाने के योग्य हैं, जो (इन्द्रिय कुटुम्बादिजनित) पराभव का विनाश करने वाले हैं, जो अभीष्टफल-दाता अर्थात् मनोरथ-परिपूरक, गंगा आदि तीर्थों के आश्रय हेतु परम पावन, शिव और ब्रह्मा से स्तुति किये, शरण्य अर्थात् आश्रय करने के योग्य हैं, भक्त मात्र का दुःख हरने वाले और संसार समुद्र से रक्षा करने वाले हैं,—मैं उन्ही चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ ॥ १५२ ॥

हे धर्म्मिष्ठ ! हे सदाचार-प्रवर्त्तक ! हे महापुरुष ! दूसरे के पक्ष में त्यागना कठिन और देवताओं की भी अभिलषित राज्य-लक्ष्मी छोड़कर आपने पिता के वचन से वन में प्रस्थान किया था और अपनी प्यारी जानकी की प्रसन्नता के लिये मायामृग की

मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम् ॥१५३॥
वैदिकानीदृशान्येव कृष्णे पौराणिकान्यपि ।
तान्त्रिकाणि च शस्तानि स्तोत्राण्यभिनवान्यपि ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे हंसगीतायाम् —
अभ्रष्टलक्षणैः कृत्वा स्वयं विरचिताक्षरैः ।
स्तवं ब्राह्मणशार्द्दूलास्तस्मात् कामानवाप्नुयात् ॥ १५४ ॥

स्तुति-माहात्म्यम् ।

विष्णुधर्म्मे—सर्व्वदेवेषु यत् पुण्यं सर्व्ववेदेषु यत फलम् ।
नरस्तत् फलमाप्नोति स्तुत्वा देवं जनार्द्दनम् ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
न वित्तदान-निचयैर्बहुभिर्मधुसूदनः ।
तथा तोषमवाप्नोति यथा स्तोत्रैर्द्विजोत्तमाः !

नारसिंहे ।—स्तोत्रैर्जपैश्च देवाग्रे यः स्तौति मधुसूदनम् ।
सर्व्वपाप-विनिर्म्मुक्तो विष्णु-लोकमवाप्नुयात् ॥

हरिभक्तिसुधोदये—
स्तुवन्नमेयमाहात्म्यं भक्तिप्रथितरम्यवाक् ।

भाषा टीका ।

ओर धावमान हुए थे, अतएव आपके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ ॥ १५३ ॥ *

इस प्रकार वेद-कथित, पुराण-लिखित, तन्त्रोक्त और नवीन कवि-कुल-प्रणीत स्तव श्रीहरि के सन्तुष्ट करने में प्रशस्त है । विष्णुधर्म्मोत्तर की हंसगीता में लिखा है कि,—हे विप्रसत्तम-गण ! जिसके लक्षण भ्रष्ट नहीं हुए हैं,—ऐसी स्वयं-प्रणीत वर्णावली द्वारा प्रभु की स्तुति करने पर वे समस्त कामना परिपूर्ण कर देते हैं ॥ १५४ ॥

अथ स्तव-माहात्म्य ।—विष्णुधर्म्म में लिखा है कि—सम्पूर्ण देवताओं की उपासना करने से जो पुण्य-सञ्चय होता है और चारों वेद पढ़ने से जो फल प्राप्त होता है,—देव-प्रवर जनार्द्दन की स्तुति करने पर —वही फल मिलता है । विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—हे विप्रसत्तम ! हरि स्तुति से जैसे प्रसन्न होते हैं, अनेकानेक धन देने से भी वैसे प्रसन्न नहीं होते । नृसिंह-पुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष स्तुति और जप-द्वारा श्रीहरि के सन्मुख स्तव करते हैं,—वे पापों से छूट-कर

* कलिकाल में श्रीकृष्ण ही परमपूज्य; अतएव उनकी लीला-वर्णन-द्वारा उन्हीं का ही स्तव करते हैं,—धर्म्मिष्ठ(पूर्व जन्म में एकाग्र चित्त से श्रीभगवान्‌की आराधना में निष्ठायुक्त) आर्य्य श्रीवसुदेव और श्रीदेवकी के वचन [" अयं त्वसभ्य " इत्यादि श्रीवसुदेव का एवं " जन्म ते मय्यसौ "—इत्यादि श्रीदेवकी के वचन] से जो;—त्यागने का अत्यन्त अनुपयोगि, सुर-गण के अभिलषित राज्य-लक्ष्मी (श्रीमथुरा-सम्पत्ति) त्याग करके, अरण्य (वृहद्वनादि) में गमन किया है । हे महापुरुष ! मायामृग, (श्रीलक्ष्मी को भी अन्वेषणीय) दयिता (श्रीराधा) को अभिलषित, गोपालनादि के लिये वन के सब दिशाओं में विचरणशील आप का यह श्रीचरणारविन्द को प्रणाम करता हूँ ।

भवेद्ब्रह्मादिदुर्लभ्यं प्रभु-कारुण्यभाजनम् ॥ १५५ ॥
यथा नरस्य स्तुवतो वालकस्येव तुष्यति ।
मुग्धवाक्यैर्न हि तथा विबुधानां जगत् पिता ॥ १५६ ॥
अवलं प्रभुरीप्सितोन्नतिं, कृतयत्नं स्वयशः-स्तवे घृणी ।
स्वयमुद्धरति स्तनार्थिनं, पदलग्नं जननीव वालकम् ॥

स्कान्दे, अमृतसारोद्धारे—
श्रीकृष्ण-स्तवरत्नौघैर्येषां जिह्वा त्वलंकृता ।
नमस्या मुनि-सिद्धानां वन्दनीया दिवौकसाम् ॥

तत्रैव कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—
स्तोत्राणां परमं स्तोत्रं विष्णोर्नाम-सहस्रकम् ।
हित्वा स्तोत्र-सहस्राणि पठनीयं महामुने !
तेनैकेन मुनिश्रेष्ठ ! पठितेन सदा हरिः ।
प्रीतिमायाति देवेशो युग-कोटिशतानि च ॥ इति ॥ १५७ ॥
स्नाने यत् स्तोत्र-माहात्म्यं लिखितं, लेख्यमग्रतः ।—
यच्च कीर्त्तन-माहात्म्यं;—सर्व्वं ज्ञेयमिहापि तत् ॥ १५८ ॥

तन्नित्यता—

विष्णुधर्म्मे—नूनं तत् कण्ठशालूकमथवा प्रतिजिह्विका ।

भाषा टीका ।

हरि-धाम लाभ करते हैं । हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है कि,—जो भक्तिसहित विरचित मनोहर स्तव-द्वारा भगवान् का असीम माहात्म्य वर्णन करते हैं, ब्रह्मा इत्यादि देवता प्रभु का जो अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकते,—वे उसी अनुग्रह के पात्र होते हैं । ॥ १५५ ॥

वालक की समान स्तुति करने वाले मनुष्यों के सुन्दर वचनों से जगतपिता जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं,—ज्ञानी पुरुषों के वचनों से भी वैसे प्रसन्न नहीं होते ॥ १५६ ॥

माता जिस प्रकार स्तन पीने की इच्छा करने वाले चरणों में पड़े वालक को उठाकर स्वयं ग्रहण करती है,—वैसे ही दयावान् प्रभु यत्न—सहित स्तुति करने वाले उन्नतिका भी असमर्थ पुरुष को स्वयं उद्धार करते हैं । स्कन्दपुराण के अमृत-सारोद्धार में वर्णित है कि,—जिन पुरुषों की रसना श्रीहरि की स्तुति-रूप रत्न-राजि में सुशोभित होती है,—वे सिद्ध, ऋषि और देवता ओं के वन्दनीय होते हैं। उक्त पुराण के कार्त्तिक—माहात्म्य में ब्रह्म-नारद—संवाद में लिखा है कि,—हे महर्षे ! सहस्र स्तव छोड़-कर, सब स्तवों में श्रेष्ठ विष्णु की सहस्रनामरूप स्तुति पाठ करे । हे मुनि-प्रवर ! वह एकमात्र सहस्रनाम-स्तुति सदा पाठ करने पर, देव-देव हरि सौ करोड़ युग-काल—तक सन्तुष्ट रहते हैं ॥ १५७ ॥

स्नान-प्रकरण में जो स्तुति का माहात्म्य वर्णित हुआ है और पीछे जो कीर्त्तन-माहात्म्य वर्णित होगा,—वह सब माहात्म्य इस स्तुति-प्रकरण में भी ज्ञात होगा ॥ १५८ ॥

स्तोत्र की नित्यता ।—विष्णुधर्म्मोत्तर में कथित है कि,—जो रसना हरि के गुण-वर्णन नहीं करती,—

रोगो वान्यो न सा जिह्वा या न स्तौति हरेर्गुणान् ॥ १५९ ॥

अथ वन्दनम् ।

प्रणमेदथ साष्टाङ्गं तन्मुद्राञ्च प्रदर्शयेत ।
पठेत् प्रतिप्रणामञ्च—"प्रसीद भगव-"न्निति ॥

तदुक्तमेकादशे श्रीभगवता—
स्तवैरुच्चावचैस्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा "प्रसीद-भगव"न्निति वन्देत दण्डवत् ॥ १६० ॥

अथ प्रणाम-विधिः ।

तत्रैव ।— शिरो मत्पादयोः कृत्वा वाहुभ्याञ्च परस्परम् ।
"प्रपन्नं पाहि मामीश ! भीतं मृत्युग्रहार्णवात्" ॥ १६१ ॥

किञ्चागमे।—दोर्भ्यां पद्भ्याञ्च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥ १६२ ॥
जानुभ्याञ्चैव वाहुभ्यां शिरसा वचसा धियां ।
पञ्चाङ्गकः प्रणामः स्यात् पूजासु प्रवराविमौ ॥ इति ॥ १६३ ॥
गरुड़ं दक्षिणे कृत्वा कुर्य्यात्तत्पृष्ठतो बुधः ।

भाषा टीका ।

वह कण्ठ-शालुक (गल-रोग-विशेष) अथवा प्रति-जिह्वा (आलजिह्वा) या अन्य प्रकार की पीड़ा है ॥१५९॥

अथ वन्दन ।—अन्त में साष्टाङ्ग प्रणाम और उसकी मुद्रा दिखावे और प्रत्येक प्रणाम में ही "प्रसीद भगवन् !" अर्थात् "हे भगवन् ! मुझ पर प्रसन्न हो-ओ" इसका पाठ करना चाहिये। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में, वही लिखा है कि,—पौराणिक और आधुनिक अनेक प्रकार की स्तुतियें पढ़कर "प्रसीद भगवन् !" अर्थात "हे भगवन् आप प्रसन्न हू-जिये" कहता हुआ दण्ड की समान गिर-कर वन्दना करनी चाहिये ॥ १६० ॥

अथ प्रणाम-विधि ।—इस एकादश स्कन्ध में ही लिखा है कि,—दोनों वाहु से मेरे दोनों पैर पकड़, मस्तक झुकाय—"प्रपन्नं पाहि" इत्यादि अर्थात्—"हे ईश ! मैं मृत्यु के आक्रमणरूप-समुद्र से त्रसित और आपका आश्रित हूँ-मेरी रक्षा कीजिये" यह कहकर प्रणाम करे ॥ १६१ ॥

आगम में भी लिखा है कि,—(१) दोनों वाहु, (२) दोनों चरण, (३) दोनों जानु, (४) वक्ष (हृदय), (५) मस्तक, [६] दृष्टि, [७] मन, और [८] वचन;—यह अष्टाङ्ग-द्वारा प्रणाम—"अष्टाङ्ग" शब्द में निर्दिष्ट हुआ है* ॥१६२॥

(१) दोनों जानु, (२) दोनों वाहु, (३) मस्तक, [४] वचन और [५] बुद्धि;—इन पञ्चाङ्ग-द्वारा प्रणाम को "पञ्चाङ्ग" शब्द में निरूपण किया जाता है। अर्चना कार्य्य में—यह पञ्चाङ्ग और अष्टाङ्ग प्रणाम ही प्रशस्त है ॥ १६३ ॥

बुद्धिमान् पुरुष प्रणाम-काल में भगवान् के सन्मुख-स्थित गरुड़ को दक्षिण-दिशा में रखकर तिस की

---

* नेत्र के ईषत निमीलन-द्वारा "दृष्टि" गत प्रणाम, तथा वाहु-द्वारा देव-देव के चरण पकड़ कर अवनत मस्तक से प्रणत हुआ है,—इस प्रकार के ध्यान का नाम "मानसिक" प्रणाम और "हे भगवन् ! प्रसन्न होओ"—इत्यादि वाक्य उच्चारण पूर्वक स्तुति को ही "वाक्य" गत प्रणाम कहते हैं।

अवश्यञ्च प्रणामांस्त्रीन् शक्तश्चेदधिकाधिकान् ॥ १६४ ॥

तथा च नारदपञ्चरात्रे—

सन्धिं वीक्ष्य हरिं चाद्यं गुरून् स्व-गुरुमेव च।
द्विचतुर्व्विंशदथवा चतुर्विंशत्तदर्द्धकम् ॥
नमेत्तदर्द्धमथवा तदर्द्धं सर्व्वथा नमेत् ।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

देवार्च्चा-दर्शनादेव प्रणमेन्मधुसूदनम् ।
स्थानापेक्षा न कर्त्तव्या दृष्ट्वार्च्चां द्विजसत्तमाः !
देवार्च्चा-दृष्टि-पूतं हि शुचि सर्व्वं प्रकीर्त्तितम् ॥ १६५ ॥

अथ नमस्कार-माहात्म्यम् ।

नारसिंहे।—नमस्कारः स्मृतो यज्ञः सर्व्वयज्ञेषु चोत्तमः ।
नमस्कारेण चैकेन नरः पूतो हरिं व्रजेत् ॥ १६६ ॥

स्कान्दे ।—दण्डप्रणामं कुरुते विष्णवे भक्तिभावितः ।
रेणु-संख्यं वसेत् स्वर्गे मन्वन्तर-शतं नरः ॥ १६७ ॥

भाषा टीका ।

पीठ (बाँई ओर) में अवश्य ही तीन प्रणाम करे, अर्थात देव-देव के अत्यन्त समीप प्रणाम न करे। किन्तु समर्थ होने पर, इसकी अपेक्षा अधिक-बार करना चाहिये। अर्थात् अपने सामर्थ्य के अनुसार-छै, बारह, चौविश, अड़ताळीश अथवा एक सौ आठ बार करें ॥ १६४ ॥

नारदपञ्चरात्र में यह विषय कहा है कि,—शयन-भोजनादि के अतिरिक्त समय में प्रथम हरि को फिर गुरु-जनों को (पिता, माता, विद्यादाता, बड़े भाई और पति को) तथा अपने गुरु को अड़ताळीस बार अथवा चौविस, बार या बारह किम्वा छै बार प्रणाम करे। तीनवार अवश्य ही करना चाहिये। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—हे द्विजसत्तमगण ! देव-प्रतिमा का दर्शन करते ही श्रीहरि को प्रणाम करे, प्रतिमा दर्शन करके स्थान की अपेक्षा न करे। क्यों-कि देव-मूर्त्ति का दृष्टिपूत जिस किसी वस्तु होय उस सब को ही पवित्र कहा गया है ॥ १६५ ॥

नमस्कार का माहात्म्य।—नृसिंह पुराण में लिखा है कि,—स्मृति-गण कहे हैं-"नमस्कार,-सब यज्ञों में देवता की उत्तम आराधना है, एकमात्र नमस्कार से ही मनुष्य विशुद्ध होकर हरि को प्राप्त करता है" ॥१६६॥

स्कन्द पुराण में लिखा है,—जो भक्तिसहित दण्ड-वत् हरि को प्रणाम करते हैं; प्रणाम-काल में धूरि के जितने कण उनके शरीर में लगते हैं-उतने ही सैकड़ों× मन्वन्तर वे सुर-पुर में वास करते हैं *॥१६७॥

× सैकड़ों मन्वन्तर—अर्थात् असंख्य मन्वन्तर।

---

* श्रीभगवद्भक्त का देव-लोक में वास-अनुपयुक्त है, अतएव श्रीवैकुण्ठ-प्राप्ति में कोइ कोइ भक्त का क्रम-गति अपेक्षा में यहां "सुर-धाम" कहा है। साधक मनुष्य भजन के परिपाक में दो-गति से श्रीवैकुण्ठ प्राप्त होते हैं, एक-सद्यःप्राप्ति, वा सद्योगति, अपर—क्रमप्राप्ति वा क्रमगति। तत्काळ जो प्राप्ति है उसको सद्यः-प्राप्ति और स्वर्गलोक,ब्रह्मलोक,प्रभृति स्थानों में सुख-भोग करके जो प्राप्ति है उसको "क्रमप्राप्ति" कहा है॥

तत्रैव श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण योऽर्च्चयेत् ।
स यां गतिमवाप्नोति न तां क्रतु-शतैरपि ॥
नमस्कारेण चैकेन नरः पूतो हरिं व्रजेत् ।

तत्रैव श्रीशिवोमा-सम्वादे—

भूमिमापीड्य जानुभ्यां शिर आरोप्य वै भुवि ।
प्रणमेद्यो हि देवेशं सोऽश्वमेध-फलं लभेत् ॥

तत्रैवान्यत्र—

तीर्थ-कोटिसहस्राणि तीर्थ-कोटिशतानि च ।
नारायण-प्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥
शाठ्येनापि नमस्कारं कुर्व्वतः शार्ङ्गधन्वने ।
शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ १६८ ॥
रेणुमण्डितगात्रस्य कणा देहे भवन्ति ये ।
तावद्वर्ष-सहस्राणि विष्णु-लोके महीयते ॥ १६९ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

अभिवाद्य जगन्नाथं कृतार्थश्च तथा भवेत् ।
नमस्कार-क्रिया तस्य सर्व्वपाप-प्रणाशिनी ॥
जानुभ्याञ्चैव पाणिभ्यां शिरसा च विचक्षणः ।
कृत्वा प्रणामं देवस्य सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् ॥

भाषा टीका ।

इसी पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—भूमि में दण्डवत प्रणामपूर्वक जो नमस्कार-रूप पूजा करते हैं,—उसका जैसा फल होता है—सौ यज्ञों का अनुष्ठान करने पर भी—वैसा फल प्राप्त नहीं किया जा सकता । केवलमात्र नमस्कार से ही मनुष्य शुद्ध होकर श्रीहरि को प्राप्त करता है । उक्त पुराण के शिव-पार्वती-सम्वाद में लिखा है कि,—पृथ्वी में दोनों जानु ठेक कर और उसी में मस्तक रखकर जो देव-देव भगवान् को प्रणाम करते हैं,—उनको अश्वमेध-यज्ञ का फल मिलता है । उक्त पुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि,—नारायण को नमस्कार करने से जो पुण्य-सञ्चय होता है,—हजार करोड़ तीर्थों से उस के सोलहवें अंश का एक अंश भी नहीं होता । शठता-सहित शार्ङ्गधन्वा हरि को प्रणाम करने पर भी सौ जन्म के इकट्ठे किये पाप तत्काल ध्वंश हो-जाते हैं ॥१६८॥

प्रणाम-काल में धूलि-धूसरित कलेवर में जितने धूलि के कण लगते हैं,—उतने ही हजार वर्ष—वह हरि-धाम में सन्मान के सहित वास करता है ॥ १६९ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—जो जगत्पति को नमस्कार करते हैं,—वे कृतार्थ होते हैं और उनके सब पाप नाश को प्राप्त हो-जाते हैं । बुद्धिमान् पुरुष दोनों जानु, दोनों हाथ और मस्तक द्वारा भगवान्

विष्णुपुराणे—

अनादिनिधनं देवं दैत्य-दानवदारणम्।
ये नमन्ति नरा नित्यं न हि पश्यन्ति ते यमम्॥
ये जना जगतां नाथं नित्यं नारायणं द्विजाः।
नमन्ति, न हि ते विष्णोः स्थानादन्यत्रगामिनः॥

नारदीये।—एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो, दशाश्वमेधावभृतैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म, कृष्ण-प्रणामी न पुनर्भवाय॥

हरिभक्तिसुधोदये—

विष्णोर्दण्डप्रणामार्थं भक्तेन पतता भुवि।
पातितं पातकं कृत्स्नं नोत्तिष्ठति पुनः सह॥ १७०॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

तपस्तप्त्वा नरो घोरमरण्ये नियतेन्द्रियः।
यत् फलं समवाप्नोति तन्नत्वा गरुड़ध्वजम्॥
कृत्वापि बहुशः पापं नरो मोहसमन्वितः।
न याति नरकं, नत्वा सर्व्वपापहरं हरिम्॥

तत्रैव वेदनिधि-स्तुतौ—

अपि पापं दुराचारं नरं त्वत्प्रणतं हरे!

भाषा टीका।

को नमस्कार करने पर, समस्त कामना लाभ कर-सकते हैं। विष्णुपुराण में लिखा है कि,—अनादि, अनन्त, दैत्य-दानवनिसूदन भगवान् को नित्य नमस्कार करने पर, फिर यम का दर्शन करना नहीं पड़ता। हे विप्रगण! जो जगन्नाथ नारायण को नमस्कार करते हैं,—उनको फिर हरि-धाम से दूसरे लोक में जाना नहीं पड़ता। नारदपुराण में लिखा है,—श्रीकृष्ण को केवल एकवार-मात्र प्रणाम करने से जो फल मिल जाता है,—दश अश्वमेध-यज्ञ के अवभृत अर्थात् यज्ञान्तस्नान से भी वैसा फल नहीं होता। दश अश्वमेध करने वाले को फिर देह-धारण करना पड़ता है; किन्तु श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाले फिर जन्म नहीं लेते। हरि-भक्तिसुधोदय में लिखा है कि,—श्रीहरि को दण्डवत् प्रणाम-काल में भक्त-गण जब भूमि में गिरते हैं,—तब उस समय उनके सब पातक भी पतित होते हैं, उठने के समय फिर पातक के सहित नहीं उठते। अर्थात् फिर उन में पातक विद्यमान नहीं रहते॥ १७०॥

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है कि,—मनुष्य इन्द्रिय-निग्रह कर—वन में सदा कठिन तपस्या के अनुष्ठान से जो फल पाता है, गरुड़ध्वज जनार्द्दन को प्रणाम करने पर—उसे वही फल मिल जाता है। जो पुरुष अनेकानेक पाप करके अज्ञान से मुग्ध रहता है,—सर्वपापनाशक हरि को नमस्कार करने पर, फिर उस को नरकगामी होना नहीं पड़ता। इसी पुराण की वेदनिधि-स्तुति में लिखा है,—पातकी और दुराचारी पुरुष, हरि को प्रणाम करने पर-उल्लू जिस प्रकार सूर्य्य की ओर दृष्टि डालने में समर्थ नहीं होता,—

नेक्षन्ते किङ्करा याम्या उलूकास्तपनं यथा ॥ १७१ ॥

विष्णुपुराणे श्रीयमस्य निज-भटानुशासने—

हरिममर-गणार्च्चिताङ्घ्रिपद्मं, प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्त्यः।
तमपगतसमस्तपाप-वन्धं, व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम् ॥ १७२ ॥

ब्रह्मवैवर्त्ते।— शरणागतरक्षणोद्यतं, हरिमीशं प्रणमन्ति ये नराः।
न पतन्ति भवाम्बुधौ स्फुटं, पतितानुद्धरति स्म तानसौ ॥ १७३ ॥

अष्टमस्कन्धे च वलि-वाक्ये—

अहो! प्रणामाय कृतः समुद्यमः प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्तदनुग्रहोऽमरैरलब्धपूर्व्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ १७४ ॥

अतएव नारायणव्यूह-स्तवे—

अहो! भाग्यमहो! भाग्यमहो! भाग्यं नृणामिदम्।
येषां हरि-पदाब्जाग्रे शिरो न्यस्तं यथा तथा ॥ १७५ ॥

किञ्च नारसिंहे श्रीयमोक्तौ—

तस्य वै नारसिंहस्य विष्णोरमिततेजसः।
प्रणामं ये प्रकुर्व्वन्ति तेषामपि नमो नमः ॥

भविष्योत्तरे च जलधेनु-प्रसङ्गे—

विष्णोर्देवजगद्धातुर्जनार्द्दनजगत्पतेः।

भाषा टीका।

ऐसे ही यम-दूत भी उस पातकी के प्रति दृष्टि डालने में समर्थ नहीं होते ॥ १७१ ॥

विष्णुपुराण में दूतों के प्रति यम के उपदेश समय में वर्णित है कि,—देवता भी जिनके चरणकमलों की पूजा करते हैं—उन श्रीहरि को भक्तिसहित जो पुरुष प्रणाम करता है,—उसके यथार्थ ही सब पाप दूर होते हैं, अतएव घृतसिक्त अग्नि की समान उस मनुष्य को छोड़कर तुम अन्यत्र प्रस्थान करना ॥ १७२ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में लिखा है कि,—जो शरणागत-पालक ईश्वर हरि को प्रणाम करते हैं—वे भवसागर में नहीं गिरते, अथवा यदि आगे वा पीछे गिरने की सम्भावना हो—तो हरि उनकी रक्षा करते हैं ॥ १७३ ॥

श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में वलि-वाक्य से प्रकाशित है कि,—हे भगवन्! शरणागत भक्तजनों की समान सावधान होकर मैंने आपको प्रणाम करने के निमित्त केवल-मात्र उद्योग किया है, किन्तु यथार्थ में मैं प्रणत नहीं हुआ हूँ; किन्तु तो—भी आपने इस हीन दानव के प्रति जैसा अनुग्रह दिखाया,—ऐसे अनुग्रह को पूर्वकाल में सत्वप्रधान लोकपालदेवतागण भी प्राप्त नहीं हुए ॥ १७४ ॥

अतएव नारायणव्यूह-स्तव में कहा है कि,—जिन पुरुषों का मस्तक-प्रदेश किसी प्रकार से हरि के चरण-कमलों में समर्पित रहता है, अहो! उनका क्या ही सौभाग्य है? ॥ १७५ ॥

नृसिंहपुराण में श्रीयमने कहा है,—जो असीमतेजः-सम्पन्न नृसिंहरूपी उन हरि की वन्दना करते हैं,—उनको वार-वार नमस्कार है। भविष्यपुराण के उत्तर भाग में जलधेनु-प्रसङ्ग में लिखा है कि,—जो जगद्धाता

प्रणामं ये प्रकुर्व्वन्ति तेषामपि नमो नमः ॥ इति ॥ १७६ ॥

अथ प्रणाम-नित्यता ।

वृहन्नारदीये लुब्धकोपाख्यानारम्भे—

सकृद्वा न नमेद्यस्तु विष्णवे शर्म्मकारिणे ।
शवोपमं विजानीयात् कदाचिदपि नालपेत् ॥ १७७ ॥

किञ्च, पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये यम-ब्राह्मण-सम्वादे—

पश्यन्तो भगवद्द्वारं नाम-शस्त्रपरिच्छदम् ।
अकृत्वा तत्प्रणामादि यान्ति ते नरकौकसः ॥ १७८ ॥

अथ नमस्कारे निषिद्धानि ।

विष्णु-स्मृतौ—

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित् पुमान् वै धर्म्ममाचरेत् ।
सर्व्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात् ॥

वायुपुराणे सेवापराध-कथने—

"धूपोपहार-वेलायां यो नमेत् पुरुषोत्तमम् ।
एकहस्त-प्रणामेन"—इति च दोष उक्तः ॥

वाराहे ।— वस्त्रप्रावृतदेहस्तु यो नरः प्रणमेत माम् ।
श्वित्री स जायते मूर्खः सप्तजन्मानि भामिनि !

किञ्चान्यत्र—अग्रे पृष्ठे वाम भागे समीपे गर्भमन्दिरे ।

भाषा टीका ।

जनार्द्दन विश्वनाथ हरि को प्रणाम करते हैं,—उन सब पुरुषों को भी बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥ १७६ ॥

प्रणाम की नित्यता ।— बृहन्नारदीयपुराण में लुब्धक-उपाख्यान के आरम्भ में लिखा है कि,—जो पुरुष कल्याणकारक हरि की केवल एक बार-मात्र भी वन्दना नहीं करते,—वे शव (मृतक) की समान हैं,—उनसे कभी वार्त्तालाप न करे ॥ १७७ ॥

पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में यम-ब्राह्मण सम्वाद में लिखा है कि,—जो पुरुष भगवान् जनार्द्दन को प्रणाम और दर्शनादि विना किये श्रीकृष्णादि नाम और सुदर्शनादि अस्त्र-द्वारा विराजमान देव-मन्दिर का केवल दर्शन करके ही प्रस्थान करते हैं,—उनका नरक में वास होता है ।

नमस्कार में निषिद्ध ।—विष्णुस्मृति में लिखा है कि,—एक हाथ से प्रभु को प्रणाम करने से आजन्म सञ्चित धर्माचरण विफल हो जाता है । वायुपुराण में सेवापराध की कथा में लिखा है कि,—धूप का उपहार देने के समय-जो प्रणाम करता है और एक हात से प्रणाम करता है,—उन सब को दोष होता है ॥

वराह पुराण में लिखा है,—हे भामिनी ! यदि कोई वस्त्रावृत देह होकर मेरी वन्दना करे—तो वह सात जन्म श्वेत कुष्ठी और मूर्ख होता है । अन्यत्र और भी लिखा है कि,—प्रभु के सन्मुख, पीछे, वाम-पार्श्व में, निकट

जप-होम-नमस्कारान्न कुर्य्यात् केशवालये ॥ १७९ ॥

अपि च।—सकृद्भूमौ निपतितो न शक्तः प्रणमेन्मुहुः।
उत्थायोत्थाय कर्त्तव्यं दण्डवत् प्रणिपातनम् ॥ इति ॥ १८० ॥

अथ प्रदक्षिणा।

ततः प्रदक्षिणां कुर्य्यात् भक्त्या भगवतो हरेः।
नामानि कीर्त्तयन्, शक्तौ ताश्च साष्टाङ्गवन्दनाम् ॥

प्रदक्षिणा-संख्या चोक्ता नारसिंहे—
एकां चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्याद्विनायके।
चतस्रः केशवे दद्यात् शिवे त्वर्द्धप्रदक्षिणाम् ॥ १८१ ॥

अथ प्रदक्षिणा-माहात्म्यम्।

वाराहे।— प्रदक्षिणां ये कुर्व्वन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा।
न ते यम-पुरं यान्ति, यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥ १८२ ॥
यस्त्रिः प्रदक्षिणं कुर्य्यात् साष्टाङ्गकप्रणामकम्।
दशाश्वमेधस्य फलं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥

स्कान्दे श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—
विष्णोर्विमानं यः कुर्य्यात् सकृद्भक्त्या प्रदक्षिणम्।

भाषा टीका।

और मन्दिर के भीतर जप, होम और वन्दना न करे ॥ १७८-१७९ ॥

और भी लिखा है,—समर्थ होने पर एक वार-मात्र पृथ्वी में गिर कर वारं वार प्रणाम न करे। प्रत्येकवार गात्रोत्थान पूर्वक दण्डवत् प्रणाम करे ॥१८०॥

अथ प्रदक्षिणा।—फिर भक्ति-सहित भगवान् विष्णु के नामों का कीर्त्तन करता हुआ उनकी प्रदक्षिणा करे और समर्थ होने पर, साष्टाङ्ग प्रणाम-सहित प्रदक्षिणा करे।

प्रदक्षिणा की संख्या भी नृसिंहपुराण में लिखा है,—चण्डी देवी की एक वार, सूर्य्य की सात वार, गणपति की तीन वार, हरि की चार वार और महादेव की अर्द्ध वार प्रदक्षिणा करे * ॥ १८१ ॥

अथ प्रदक्षिणा-माहात्म्य।—वाराहपुराण में लिखा है;--जो पुरुष भक्तिभाव-द्वारा पवित्र हुए मन से हरि की प्रदक्षिणा करते हैं,--उनको यम-पुर में जाना नहीं पड़ता, वे भक्त-जनों की गति प्राप्त करते हैं ॥ १८२ ॥

साष्टाङ्गप्रणामसहित भगवान् की तीन वार प्रदक्षिणा करने से दश अश्वमेध का फल होता है,—इस में सन्देह नहीं। स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—जो भक्तिसहित एकवार-मात्र हरि-मन्दिर अथवा रथ की प्रदक्षिणा करते हैं,--उनको एक

* "शिव-प्रदक्षिणे मन्त्री अर्द्धचन्द्र-क्रमेण तु। सव्यासव्य-क्रमेणैव सोम-सूत्रं न लङ्घयेत् ॥"

अर्थः—शिव की प्रदक्षिणा करनी हो—तो अर्द्धचन्द्राकार से प्रदक्षिणा करनी चाहिये। अर्थात् बाँईं ओर से दक्षिण ओर गमन करे, किन्तु सोमसूत्र लंघन न करे। सोमसूत्र;—जल निकलने का मार्ग।

अश्वमेध-सहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ॥ १८३ ॥

तत्रैव चातुर्म्मास्य-माहात्म्ये—

चतुर्व्वारं भ्रमीभिस्तु जगत सर्व्वं चराचरम् ।
क्रान्तं भवति विप्राग्र्य ! तत्तीर्थ-गमनाधिकम् ॥ इति ॥ १८४ ॥

तत्रैवान्यत्र। प्रदक्षिणन्तु यः कुर्य्याद्धरिं भक्त्या समन्वितः ।
हंस-युक्तविमानेन विष्णु-लोकं स गच्छति ॥

नारसिंहे।—प्रदक्षिणेन चैकेन देव-देवस्य मन्दिरे ।
कृतेन यत् फलं नृणां तच्छृणुष्व नृपात्मज !
पृथ्वी-प्रदक्षिण-फलं यत्तत् प्राप्य हरिं व्रजेत् ॥

अन्यत्र च।—एवं कृत्वा तु कृष्णस्य यः कुर्य्याद्धि प्रदक्षिणम् ।
सप्तद्वीपवती-पुण्यं लभते तु पदे पदे ॥
पठन्नाम-सहस्रन्तु नामान्येवाथ केवलम् ।

हरिभक्ति-सुधोदये—

विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्व्वन् यस्तत्रावर्त्तते पुनः ।
तदेवावर्त्तनं तस्य पुनर्नावर्त्तते भवे ॥ १८५ ॥

बृहन्नारदीये यम-भगीरथ-सम्वादे—

प्रदक्षिण-त्रयं कुर्य्यात् यो विष्णोर्मनुजेश्वर !
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो देवेन्द्रत्वं समश्नुते ॥

भाषा टीका।

सहस्र अश्वमेध के अनुष्ठान करने का फल मिलता है ॥ ॥ १८३ ॥

उसी स्थान में चातुर्मास्य-माहात्म्य में लिखा है कि,—हे द्विजसत्तम ! भगवान् की चार—वार प्रदक्षिणा करने पर, चराचर सम्पूर्ण विश्व की प्रदक्षिणा हो-जाती है। और तिस के द्वारा तीर्थ-गमन से भी अधिक फल होता है ॥ १८४ ॥

उक्त ग्रन्थ के अन्यत्र भी लिखा है,—जो भक्तिमान् होकर जनार्दन की प्रदक्षिणा करते हैं,—वे हंसयान-पर चढ़कर हरि के धाम में प्रस्थान करते हैं। नृसिंह पुराण में लिखा है,—हेराज-कुमार ! मनुष्य-गण देव-श्रेष्ठ हरि के मन्दिर की एक-बार मात्र—प्रदक्षिणा करने से जो फल पाते हैं,—वह सुनो;—वे सब मनुष्य पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने का फल—लाभ करते हैं और भगवान् हरि को प्राप्त होते हैं। अन्यत्र भी लिखा है,—सहस्रनाम तथा प्रभु के नाम-मात्र का कीर्तन करते करते जो पुरुष इस प्रकार हरि की प्रद-क्षिणा करते हैं—उनको पद पद में सप्तद्वीपा वसुन्धरा की प्रदक्षिणा अथवा दान का फल प्राप्त होता है। हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है कि,—सभी जीवों का घूमकर संसार में आगमन होता है, किन्तु जो पुरुष श्रीहरि की प्रदक्षिणा करते करते आवर्त्तित होते हैं अर्थात घूमकर आते हैं,—वही उनका आवर्त्तन (संसार में लोटना) है, परन्तु फिर उनको संसार में आना नहीं पड़ता ॥ १८५ ॥

बृहन्नारदीय पुराण के यम-भगीरथ—संवाद में लिखा है,—हे नृपते ! जो हरि की तीनवार प्रदक्षिणा

तत्रैव प्रदक्षिण-माहात्म्ये सुधर्म्मोपाख्यानारम्भे—

भक्त्या कुर्व्वन्ति ये विष्णोः प्रदक्षिण-चतुष्टयम् ।
तेऽपि यान्ति परं स्थानं सर्व्वलोकोत्तमोत्तमम् ॥ इति ॥ १८६ ॥
तत् ख्यातं यत् सुधर्म्मस्य पूर्व्वस्मिन् गृध्रजन्मनि ।
कृष्ण-प्रदक्षिणाभासान्महासिद्धिरभूदिति ॥ १८७ ॥

अथ प्रदक्षिणायां निषिद्धम् ।

विष्णुस्मृतौ। एकहस्त-प्रणामश्च एका चैव प्रदक्षिणा ।
अकाले दर्शनं विष्णोर्हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥ १८८ ॥
किञ्च ।—कृष्णस्य पुरतो नैव सूर्य्यस्यैव प्रदक्षिणाम् ।
कुर्य्याद्भ्रमरिकारूपां वैमुख्यापादनीं प्रभो ॥
तथा चोक्तं—प्रदक्षिणं न कर्त्तव्यं विमुखत्वाच्च कारणात् ॥ १८९ ॥

अथ कर्म्माद्यर्पणम्।

ततः श्रीकृष्ण-पादाब्जे दास्येनैव समर्पयेत् ।
त्रिभिर्मन्त्रैः स्व-कर्म्माणि सर्व्वाण्यात्मानमप्यथ ॥ १९० ॥

मन्त्राश्चैते ।—

(१) इतः पूर्व्वं प्राण-बुद्धि-देह-धर्म्माधिकारतो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्म्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं

भाषा टीका ।

करते हैं,—वे सब पापों से छूटकर इन्द्रत्व लाभ करते हैं। इसी ग्रन्थ के प्रदक्षिणा-माहात्म्य में सुधर्म्मोपाख्यान के आरम्भ में लिखा है,—जो पुरुष भक्ति सहित हरि की चार-वार प्रदक्षिणा करते हैं,-उत्तम स्थान से भी उत्तम स्थान में उनकी गति होती है ॥१८६॥

पूर्व्वतन गृध्रजन्म में श्रीहरि की प्रदक्षिणा का आभास करने से सुधर्म्मा को जो महासिद्धि प्राप्त हुई थी,-वह बृहन्नारदीय पुराण में प्रसिद्ध है ॥१८७॥

अथ प्रदक्षिणा क्रिया में निषिद्ध कर्म्म।—विष्णुस्मृति में लिखा है,—एक हाथ से प्रणाम, एकवार प्रदक्षिणा और असमय में [भोजनादि-काल में] हरि को दर्शन करने से पूर्व-सञ्चित पुण्य का नाश होता है ॥ १८८ ॥

और भी लिखा है,—श्रीकृष्ण के सन्मुख मण्डलाकार-भास्कर देव की प्रदक्षिणा न करे । ऐसा करने से भगवान् के सन्मुख पश्चाद्देश स्थापित होता है । इस विषय कहा है कि,—वैमुख्य कारण निवन्धन प्रदक्षिणा निषिद्ध अर्थात् उनकी ओर से पृष्ठ-कर प्रदक्षिणा करने का निषेध है ॥ १८९ ॥

अथ कर्म्मादि-समर्पण ।—फिर तीन मंत्र-द्वारा अपने सब कर्म्म दासत्व-भाव से हरि के चरणकमलों में समर्पण करे,—इसके पीछे आत्मार्पण भी करना चाहिये ॥ १९० ॥

उक्त तीन मन्त्रों का अर्थ।—(१) मैंने प्राण, बुद्धि, शरीर और धर्म्म में अधिकारी होकर इति पूर्व्व में जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति के समय चित्त में जो स्मरण किया है, वाक्य से जो प्रकाश किया है और कर्म्म, (शारीरिक व्यापार) हाथ, पैर, जठर, और शिश्न से जो किया है,—वह सब श्रीहरि को समर्पित होवे ।

तत् सर्वं श्रीकृष्णार्पणं भवतु स्वाहा। (२) मां मदीयञ्च सकलं हरये समर्पयामि (समर्पयेत्)। (३) ओं तत् सत्॥ इति॥ १९१॥

अथ तत्र कर्म्मार्पणम्।

बृहन्नारदीये—

विरागी चेत् कर्म्म-फले न किञ्चिदपि कारयेत्।
अर्पयेत् स्व-कृतं कर्म्म प्रीयतामिति मे हरिः॥ १९२॥

अतएव कूर्म्मपुराणे—

प्रीणातु भगवानीशः कर्म्मणानेन शाश्वतः।
करोति सततं बुद्ध्या ब्रह्मार्पणमिदं परम्॥
यद्वा फलानां सन्न्यासं प्रकुर्य्यात् परमेश्वरे।
कर्म्मणामेतदप्याहुर्ब्रह्मार्पणमनुत्तमम्॥ १९४॥

अथ कर्म्मार्पण-विधिः।

दक्षेण पाणिनार्घ्यस्थं गृहीत्वा चुलुकोदकम्।
निधाय कृष्ण-पादाब्ज-समीपे प्रार्थयेदिदम्॥
"पादत्रय-क्रमाकान्तत्रैलोक्येश्वर! केशव!

भाषा टीका।

(२) अपने को और अपनी समस्त वस्तु श्रीहरि को प्रदान करता हूँ। (३) वे ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मक और नित्य स्वरूप हैं॥ १९१॥

अनन्तर तिस में कर्म्म-समर्पण।—बृहन्नारदीय-पुराण में लिखा है,—कर्म्म-फल से विरागी होने पर, कुछ भी न करे। "हरिर्मे प्रीयताम्"—अर्थात् "भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों"—यह कह कर अपने किये कर्म्म-समर्पण करे॥ १९२॥

कूर्म्मपुराण में कहा है,—"नित्यस्वरूप भगवान् परमेश्वर मेरे इस कर्म्म से प्रसन्न हों"—यदि ऐसा जानकर कुछ अनुष्ठान किया जाय—तो वह सब श्रेष्ठ ब्रह्मार्पण जाने। * अथवा कर्म्म का सम्पूर्ण फल परमेश्वर में अर्पण करने पर भी उसको श्रेष्ठ ब्रह्मार्पण कहते हैं॥ १९३॥

* अर्थात् "ब्रह्म—द्वारा ही सब अनुष्ठान होता है,—मैं कुछ नहीं करता"—ऐसे ज्ञान का नाम ब्रह्मार्पण है।

अथ कर्म्मार्पण-विधि।—दहिने हाथ में अर्घ्य-पात्र का एक चुल्लू जल लेकर हरि के चरणकमलों के समीप स्थापन-पूर्वक "पादत्रय"—इत्यादि मन्त्र से प्रार्थना करें। अर्थः—"त्रिविक्रम! हे त्रिभुवनाधिपते! हे केशव! हे जनार्द्दन! आपके अनुग्रह से—यह जल आप का चरणोदक हो।

अथ कर्म्मार्पण-माहात्म्य।—बृहन्नारदीयपुराण में लिखा है,—जो परलोक में फल मिलने की इच्छा से सावधान होकर क्रिया का अनुष्ठान करते हैं और वे सब कर्म्म हरि को अर्पण करते हैं,—उनके वे सब कर्म्मफल अक्षय होते हैं। अतएव नारायणव्यूह-स्तव में कहा है,—जो पुरुष हरि-भक्तिनिष्ठ होकर श्रीहरि को कर्म्म-फल अर्पण करके अपने अपने धर्म्मानुसार—उनकी पूजा करते हैं,—वे ही पुरुष धन्यवाद के पात्र हैं; सुतरां उनको वारम्वार नमस्कार करता हूँ॥१९४॥

अथ आत्म-समर्पण-विधि।—"मैं प्रभु का अंश-स्वरूप और निरन्तर सब प्रकार से उन का दास

त्वत्प्रसादादिदं तोयं पाद्यं तेऽस्तु जनार्द्दन !"

अथ कर्म्मार्पण-माहात्म्यम्।

बृहन्नारदीये—

परलोक-फलप्रेप्सुः कुर्य्यात् कर्म्माण्यतन्द्रितः।
हरेर्निवेदयेत्तानि तत् सर्व्वं त्वक्षयं भवेत्॥

अतएव नारायणव्यूह-स्तवे—

कृष्णार्पितफलाः कृष्णं स्व-धर्म्मेण यजन्ति ये।
विष्णु-भक्त्यर्थिनो धन्यास्तेभ्योऽपीह नमो नमः॥ १९४॥

अथात्मार्पण-विधिः।

"अहं भगवतोंऽशोऽस्मि सदा दासोऽस्मि सर्व्वथा।
तत्कृपापेक्षको नित्य-"मित्यात्मानं समर्पयेत्॥ १९५॥

तथा चोक्तं श्रीशङ्कराचार्य्यपादैः—

सत्यपि भेदापगमे, नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥ १९६

अथात्मार्पण-माहात्म्यम्।

सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादोक्तौ—

धर्म्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग, ईक्षा त्रयी नय-दमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं, स्वात्मार्पणं स्व-सुहृदः परमस्य पुंसः॥ १९७॥

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-सम्वादे—

मर्त्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।

भाषा टीका।

(टहलुआ) हूँ, मैं सदा उनकी कृपा का प्रार्थी हूँ"—इस प्रकार से आत्म-समर्पण करना चाहिये॥ १९५॥

इस विषय में शङ्कराचार्य्य की उक्ति है कि,—हे नाथ! भेद-(मायाकृत संसारित्वादि) का अभाव अर्थात आत्म-तत्त्व-ज्ञान होने पर भी, अर्थात् मैं तुमको दास हूँ, किन्तु तुम मुझको नहीं हो, क्यौं कि—अंश, कभी अंशी को व्याप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार अभेद में भी दृष्टान्त से भेद-संस्थापन करते हैं,—समुद्र की तरङ्ग सलिलमय होने पर भी, तरङ्ग शब्द से पुकारी जाती हैं, कभी उनको समुद्र कह-कर नहीं पुकारा जाता॥ १९६॥

अथ आत्मार्पण-माहात्म्य।—श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद की उक्ति है कि,—धर्म्मार्थकामरूप त्रिवर्गसाधन के अर्थ जो ईक्षा, (आत्मज्ञान) त्रयी, (धर्म्म-ज्ञान) नय, (तर्क) दम, (दण्डनीति) और वार्त्ता का (जीविका का) विषय कहा है—वह सब वेद का ही प्रतिपादित जाना जाता है और अन्तर्य्यामी पुरुषोत्तम हरि में जो आत्मार्पण है,—वही सत्य बोध होता है॥ १९७॥

एकादश-स्कन्ध के श्रीभगवत-उद्धव-संवाद में लिखा है,—जब मनुष्य सब कर्म्मों को छोड़कर मुझ में आत्म-समर्पण करे; तब प्रेम-भक्ति-आदि प्रदान करने की मेरी इच्छा का विषयीभूत होता है, अर्थात उसी भक्त को

तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥ १९८ ॥

अथ जपः ।

जपस्य पुरतः कृत्वा प्राणायाम-त्रयं बुधः ।
मन्त्रार्थ-स्मृतिपूर्व्वञ्च जपेदष्टोत्तरं शतम् ।
मूलं लेख्येन विधिना सदैव जप-मालया ॥ १९९ ॥
शक्तोऽष्टाधिकसाहस्रं जपेत्तं चार्पयन् जपम् ।
प्राणायामांश्च कृत्वा त्रीन् दद्यात् कृष्ण-करे जलम् ॥

तत्र चायं मन्त्रः ।—

"गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देव ! त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते" ॥ इति ॥ २०० ॥
जपप्रकारो योऽपेक्ष्यो मालादि-नियमात्मकः ।
पुरश्चर्य्या-प्रसङ्गे तु स विलेखिष्यतेऽग्रतः ॥ २०१ ॥
अर्पितं तच्च सञ्चिन्त्य स्वीकृतं प्रभुणाखिलम् ।
पुनः स्तुत्वा यथाशक्ति प्रणम्य प्रार्थयेदिदम् ॥ २०२ ॥

अथ प्रार्थनम् ।

आगमे ।— "मन्त्र-हीनं क्रिया-हीनं भक्ति-हीनं जनार्द्दन !
यत् पूजितं मया देव ! परिपूर्णं तदस्तु मे ॥

भाषा टीका ।

प्रेम-भक्ति प्रदान करने को मेरी इच्छा होती है और तब भी वह अमरत्व प्राप्त करके मेरे सहित एकत्र होने को निश्चय समर्थ होता है ॥ १९८ ॥

अथ जप ।—बुद्धिमान् पुरुष जप करने के पहिले तीन-वार प्राणायाम करके मन्त्रार्थ * स्मरण करें। और पीछे लिखे विधान से जप-माला से ही एक सौ आठ-वार मूलमन्त्र का जप करें ॥ १९९ ॥

और समर्थ होने पर अष्टाधिक सहस्र-वार जप करना चाहिये । जप के अन्त में तीन-वार प्राणायाम करके श्रीकृष्ण के हाथ में जल देवे ।

उसका मन्त्र-यथा ।—हे देव ! आप गुह्य से भी अत्यन्त गुह्य विषय के भी रक्षा करने वाले हैं, (अतएव) मेरे किये जप को ग्रहण कीजिये । आप के प्रति निष्ठावान् पुरुष जिस सिद्धि को प्राप्त होते हैं, आपके अनुग्रह से मुझ को-वही सिद्धि प्राप्त हो ॥ २०० ॥

माला के नियम—इत्यादियुक्त जप का विशेष भेद पीछे पुरश्चरण-प्रकरण में लिखा जायगा ॥ २०१ ॥

भगवान् में अर्पित होने पर—वह सब जप, मानों—उन्हों ने ग्रहण किया—इस प्रकार भावना करे और शक्ति के अनुसार फिर स्तुति और प्रणाम कर यह—(वक्ष्यमाण) प्रार्थना करे ॥ २०२ ॥

अथ प्रार्थना ।—तन्त्र में लिखा है,—हे देव ! हे जनार्द्दन ! मन्त्र-हीन, क्रिया-हीन और भक्ति-हीन होकर मैं जो पूजा करता हूँ,—वह सब परिपूर्ण हो । और भी लिखा है,—भक्तिपूर्वक जो-पत्र, पुष्प, फल और जल समर्पित

---

* "व्रजयुवतीयों के प्रिय के उद्देश में अपना अपनपे को भी समर्पण करता हूँ"—इस प्रकार श्रीभगवच्चरणारविन्द में आत्म-समर्पणरूप ही मन्त्र का अर्थ है ।

किञ्च ।— यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
आवेदितं निवेद्यन्तु तद्गृहाणानुकम्पया ॥
विधि-हीनं मन्त्र-हीनं यत् किञ्चिदुपपादितम् ।
क्रिया-मन्त्र-विहीनं वा तत् सर्व्वं क्षन्तुमर्हसि ॥

किञ्च ।— अज्ञानादथवा ज्ञानादशुभं यन्मया कृतम् ।
क्षन्तुमर्हसि तत् सर्व्वं दास्येनैव गृहाण माम् ॥ २०३ ॥
स्थितिः सेवा गतिर्यात्रा स्मृतिश्चिन्ता स्तुतिर्व्वचः ।
भूयात् सर्व्वात्मना विष्णो ! मदीयं त्वयि चेष्टितम् ॥ २०४ ॥

अपि च ।—कृष्ण ! राम ! मुकुन्द ! वामन ! वासुदेव ! जगद्गुरो !
मत्स्य ! कच्छप ! नारसिंह ! वराह ! राघव ! पाहि माम् ॥
देव-दानव-नारदादि-मुनीन्द्रवन्द्य ! दयानिधे !
देवकी-सुत ! देहि मे तव पाद-भक्तिमचञ्चलाम् ॥

श्रीविष्णुपुराणे—
नाथ ! योनि-सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥ २०५ ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

पाण्डवगीतायाम् —
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षः-पिशाच-मनुजेष्वपि यत्र तत्र ।

भाषा टीका ।

हुआ है,—उत्सर्ग किये हुए वे सब द्रव्य आप कृपा करके ग्रहण कीजिये। विधि-रहित और मन्त्र-रहित अथवा क्रिया और मन्त्र-हीन जो कोई कर्म्म सम्पादित हुआ है,—वह सब आप क्षमा कीजिये। और भी लिखा है,—अज्ञान से हो वा ज्ञान से हो,—मैंने जो जो अशुभ कार्य्य किये हैं,—वे सब आप क्षमा कीजिये। और मुझको दास्य भाव से ग्रहण कीजिये ॥ २०३ ॥

हे विष्णो ! स्थिति, सेवा, गति, यात्रा, स्मृति, चिन्ता, स्तुति और वाक्य—इत्यादि मेरी समस्त चेष्टा आपके उद्देश में ही समाहित हों ॥ २०४ ॥

और भी लिखा है,—हे कृष्ण ! हे राम ! हे मुकुन्द ! हे वामन ! हे वासुदेव ! हे जगद्गुरो ! हे मत्स्य ! हे कूर्म्म ! हे नृसिंह ! हे वराह ! हे-राघव ! मेरी रक्षा कीजिये। हे देव-दैत्य-नारदादि मुनीन्द्रों के पूजनीय ! हे करुणानिधे ! हे देवकी-सुत ! अपने चरण कमलों में मुझको अचला भक्ति दान करो। विष्णुपुराण में लिखा है,—हे नाथ ! हे अच्युत ! मैं सहस्र योनि के बीच जिस जिस योनि में देह-धारण करूँ,—उस उस जन्म में आपके प्रति मेरी अचला भक्ति विद्यमान रहै ॥ २०५ ॥

विषयानुरागी पुरुषों को जो प्रीति केवल-मात्र विषयों में ही आसक्त रहती है,—किन्तु आपको स्मरण करने की समय—वही प्रीति मेरे अन्तर से अन्तर्हित न हो अर्थात् यह मेरे मन से कभी दूर न हो। पाण्डवगीता में लिखा है,—हे केशव ! कीट, पक्षी, मृग,

जातस्य मे भवतु केशव ! ते प्रसादात् त्वय्येव भक्तिरतुलाऽव्यभिचारिणी च ॥
पाद्मे ।—युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवतौ यथा ।
मनोऽभिरमते, तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि"॥ २०६ ॥

अथापराध-क्षमापनम् ।

ततोऽपराधान् श्रीकृष्णं क्षमाशीलं क्षमापयेत् ।
सकाकु कीर्त्तयन् श्लोकानुत्तमान् साम्प्रदायिकान् ॥
तथा हि ।—"अपराध-सहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽहमिति मां मत्वा क्षमस्व मधुसूदन !
किञ्च ।— प्रतिज्ञा तव गोविन्द !-"न मे भक्तः प्रणश्यति"।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम् ॥ २०७ ॥

अथापराधाः ।

आगमे ।— यानैर्वा पादुकैर्व्वापि गमनं भगवद्गृहे ।
देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः ॥
उच्छिष्टे वाऽथवाऽशौचे भगवद्दर्शनादिकम् ।
एकहस्त-प्रणामश्च तत्पुरस्तात् प्रदक्षिणम् ॥
पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्य्यङ्क-बन्धनम् ।
शयनं भक्षणं वापि मिथ्याभाषणमेव च ॥
उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः ।
निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूरभाषणम् ॥

भाषा टीका ।

सरीसृप, [सर्प-आदि] राक्षस, पिशाच और मनुष्य;—इन सब के बीच में जिस किसी योनि में उत्पन्न होऊं, आप की कृपा से—उसी जन्म में आपके प्रति मेरी अतुलनीया अव्यभिचारिणी भक्ति विद्यमान रहे। पद्मपुराण में लिखा है कि,—जिस प्रकार युवा में युवती का और युवती में युवा का चित्त आसक्त होता है,—इसी प्रकार मेरा चित्त आप में जाकर एकान्त अनुरक्त रहे ॥ २०६ ॥

अथ अपराध की क्षमा-प्रार्थना।—इसके पीछे सम्प्रदाय-विशुद्ध उत्तम श्लोक कातर स्वर से उच्चारण करके क्षमाशील श्रीहरि के समीप क्षमा की प्रार्थना करे। इस विषय में कहा है कि,—हे मधुसूदन! मैंने दिन रात में जो हज़ारों दोष किये हैं,—मुझको दास जान कर—वे सब क्षमा कीजिये। और भी लिखा है,—हे गोविन्द ! आपकी यह प्रतिज्ञा है कि—"मेरा भक्त कभी नाश को प्राप्त नहीं होता" मैं—इस को स्मरण करता हुआ जीवन धारण करता हूँ ॥ २०७ ॥

अथ अपराध-समूह।—तन्त्र में लिखा है,—[१] यान [शकट प्रभृति] पर चढ़-कर अथवा चरणों में पादुका पहर कर भगवान् के मंदिर में जाना, [२] देवोत्सव-इत्यादि का न करना वा न देखना, [३] देवता के सन्मुख प्रणाम न करना, [४] उच्छिष्ट वा अपवित्र अवस्था में भगवान् का दर्शन-इत्यादि, [५] एक हाथ से प्रणाम, [६] भगवान् के सन्मुख प्रदक्षिणा, [७] उनके आगे पैर फैलाना, [८] उन के आगे पर्यङ्क-बन्धन

कम्वलावरणञ्चैव पर-निन्दा पर-स्तुतिः ।
अश्लीलभाषणं चैव अधोवायु-विमोक्षणम् ॥
शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदित-भक्षणम् ।
तत्तत्कालोद्भवानाञ्च फलादीनामनर्पणम् ॥
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके ।
पृष्ठीकृत्यासनञ्चैव परेषामभिवादनम् ॥
गुरौ मौनं निज-स्तोत्रं देवता-निन्दनं तथा ।
अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत परिकीर्त्तिताः ॥ २०८ ॥

वाराहे ।—द्वात्रिंशदपराधा ये कीर्त्यन्ते वसुधे ! मया ।
वैष्णवेन सदा ते तु वर्ज्जनीयाः प्रयत्नतः ॥
ये वै न वर्ज्जयन्त्येतानपराधान् मयोदितान् ।
सर्व्वधर्म्मपरिभ्रष्टाः पच्यन्ते नरके चिरम् ॥
राजान्न-भक्षणञ्चैकमापद्यपि भयावहम् ।
ध्वान्तागारे हरेः स्पर्शः परं सुकृतनाशनः ॥ २०९ ॥
तथैव विधिमुल्लङ्घ्य सहसा स्पर्शनं हरेः ।

भाषा टीका ।

(पलंग का विछाना) [९] उनके आगे शयन, [१०] उनके आगे भोजन, [११] उनके आगे मिथ्याकथन, (१२) उनके आगे ऊंचा वाक्य वोलना, (१३) उनके आगे आपस में वात चीत करना (१४) उनके आगे रोदन करना, (१५) उनके आगे विरोध, (१६) उनके आगे निग्रह, (१७) उनके आगे अनुग्रह, (१८) उनके आगे मनुष्य के प्रति निष्ठुर वाक्य वोलना, [१९] उनके आगे कम्वल-आवरण, (२०) उनके आगे पर की निन्दा, (२१) उनके आगे पर की स्तुति [२२] उनके आगे अश्लील-भाषण, [२३] उनके आगे अधोवायु का निकालना, [२४] शक्ति विद्यमान होने पर गौणोपचार, अर्थात्-यदि मुख्य उपचारों के करने की शक्ति हो, तौ—भी उन्हें न करके गौण उपचार करना, [२५] अनिवेदित द्रव्य भोजन, (२६) जिस समय जो फल हो-वह सव अप्रदान, (२७) जिस वस्तु का आघ्राण दूसरे ने लिया है-ऐसी वस्तु का अवशिष्ट अर्पण, (२८) भगवान् की ओर पीठ करके वैठना, [२९] भगवान् के सन्मुख दूसरे को प्रणाम करना, (३०) गुरु की स्तुति आदि न करना (३१) अपने मुख से अपनी प्रशंसा और (३२) देवता की निन्दा;— हरि के समीप यह वत्तीस प्रकार के अपराध वर्णित हुए हैं ॥ २०८ ॥

वराह पुराण में लिखा है,—हे धरणि ! मैंने जो वत्तीस प्रकार के अपराध वर्णन किये—वैष्णव-गण यत्नसहित सदा उन सव का त्याग करें। जो पुरुष मेरे कहे यह सव अपराध नहीं त्यागता,—वह सम्पूर्ण धर्म्मों से भ्रष्ट होकर सदा नरक में वास करता है। विपत्ति के समय भी राजा का अन्न भोजन करने से एक विषम अपराध होता है और अन्धकारमय घर में भगवान् को स्पर्श करने से पुण्य-ध्वंश होता है,- इस में सन्देह नहीं ॥ २०९ ॥

उसी प्रकार विधि-उल्लंघन करके हरि को स्पर्श, वाजे के विना हरि-मन्दिर का द्वार खोलना, शूकर-

द्वारोद्घाटो विना वाद्यं क्रोड़-मांसनिवेदनम् ॥ २१० ॥
पादुकाभ्यां तथा विष्णोर्मन्दिरायोपसर्पणम् ।
कुक्कुरोच्छिष्ट-कलनं मौन-भङ्गोऽच्युतार्च्चने ॥
तथा पूजन-काले च विड्डुत्सर्गाय सर्पणम् ।
श्राद्धादिकमकृत्वा च नवान्नस्य च भक्षणम् ॥
अदत्त्वा गन्ध-माल्यादि-धूपनं मधुघातिनः ।
अकर्म्मण्यप्रसूनेन पूजनञ्च हरेस्तथा ॥
अकृत्वा दन्त-काष्ठञ्च कृत्वा निधुवनं तथा ।
स्पृष्ट्वा रजस्वलां दीपं तथा मृतकमेव च ॥
रक्तं नीलमधौतञ्च पारक्यं मलिनं पटम् ।
परिधाय मृतं दृष्ट्वा विमुच्यापानमारुतम् ॥
क्रोधं कृत्वा श्मशानञ्च गत्वा भूत्वाप्यजीर्णभुक् ।
भक्षयित्वा क्रोड़-मांसं पिण्याकं जालपादकम् ॥
तथा कुसुम्भशाकञ्च तैलाभ्यङ्गं विधाय च ।
हरेः स्पर्शो हरेः कर्म्म-करणं पातकावहम् ॥ २११ ॥

किञ्च तत्रैव—

मम शास्त्रं बहिष्कृत्य अस्माकं यः प्रपद्यते ।
मुक्त्वा च मम शास्त्राणि शास्त्रमन्यत् प्रभाषते ॥ २१२ ॥
मद्यपन्तु समासाद्य प्रविशेद्भवनं मम ।
यो मे कुसुम्भशाकेन अर्पणं कुरुते नरः ॥ २१३ ॥

भाषा टीका ।

मांस अर्पण, पैरों में पादुका पहिरे देव-मन्दिर में प्रवेश, कुक्कुर की उच्छिष्ट-स्पर्श, हरि की पूजा में मौनव्रत-भङ्ग, पूजा के समय मल-त्यागने को जाना, श्राद्धादि विना किये नवान्न-भोजन, गंध-माल्यादि और धूप के विना तथा अप्रशस्त कुसुम से श्रीहरि की पूजा, दँतौन न करके, सम्भोग के अन्त में, रजस्वला नारी को स्पर्श करके, दीपक और मृत [शव] स्पर्श करके, लोहितवर्ण, नीलवर्ण, विना धुले, पराये और मलीन वस्त्र धारण करके, शव-दर्शन करके, अधोवायु विसर्जन करके, रोष करके, श्मशान में जाकर, अजीर्ण-भोजी होकर, शूकर-मांस, पिण्याक, (खर) हंस और कुसुम्भशाक भोजन करके, और सर्वाङ्ग में तेल मलकर हरि को स्पर्श और तदीयकर्म्मकरण,—यह सब करने से अतीव पाप होता है ॥ २१०-२११ ॥

उक्त ग्रन्थ में और भी लिखा है कि,—जो मेरे पञ्चरात्रादि शास्त्र वा भक्ति-प्रधान ग्रन्थों का अनादर करके मेरी उपासना करता है, एवं मेरे शास्त्रों को त्याग कर अन्यशास्त्र को शास्त्र जानता है, सुरापान करने वाले का सङ्ग करके मेरे मन्दिर में प्रवेश करता है, जो पुरुष कुसुम्भ-शाक के सहित मुझको नैवेद्य प्रदान करता है,—वह अपराधी होता है। और भी लिखा

अपि च ।—मम दृष्टेरभिमुखं ताम्बूलं चर्व्वयेत्तु यः ।
उरुवूक-पलाशस्थैः पुष्पैः कुर्य्यान्ममार्च्चनम् ॥
ममार्च्चामासुरे काले यः करोति विमूढ़धीः ।
पीठासनोपविष्टो यः पूजयेद्वा निरासनः ॥
वामहस्तेन मां धृत्वा स्नापयेद्यो विमूढ़धीः ।
पूजा पर्य्युषितैः पुष्पैः ष्ठीवनं गर्व्वकल्पनम् ॥ २१४ ॥
तिर्य्यक्पुण्ड्रधरो भूत्वा यः करोति ममार्च्चनम् ।
याचितैः पत्र-पुष्पाद्यैर्यः करोति ममार्च्चनम् ॥
अप्रक्षालितपादो यः प्रविशेन्मम मन्दिरम ।
अवैष्णवस्य पक्वान्नं यो मह्यं विनिवेदयेत् ॥
अवैष्णवेषु पश्यत्सु मम पूजां करोति यः ।
अपूजयित्वा विघ्नेशं सम्भाष्य च कपालिनम् ॥ २१५ ॥
नरः पूजान्तु यः कुर्य्यात् स्नपनञ्च नखाम्भसा ।
अमौनी घर्म्मलिप्ताङ्गो मम पूजां करोति यः ॥ २१६ ॥
ज्ञेयाः परेऽपि वहवोऽपराधाः सदसम्मतैः ।
आचारैः शास्त्रविहित-निषिद्धातिक्रमादिभिः ॥
तत्रापि सर्व्वथा कृष्ण-निर्म्माल्यन्तु न लङ्घयेत ॥

तथा च नारसिंहे शान्तनुं प्रति नारद-वाक्यम्—
अतः परन्तु निर्म्माल्यं न लङ्घय महीपते !
नरसिंहस्य देवस्य तथान्येषां दिवौकसाम् ॥

भाषा टीका ।

है कि,—जो पुरुष मेरी दृष्टि के सन्मुख पान चावता है, डरुवूक (अण्डी) पत्रस्थ कुसुम से मेरी पूजा करता है, मूढ़मति जो पुरुष आसुरिक समय में मेरी पूजा करता है, जो पीठासन में वा निरासन में मेरी पूजा करता है, जो मूर्ख व्यक्ति वाँये हाथ से पकड़ कर मुझको स्नान कराता है, जो पुरुष वासी पुष्प से मेरी पूजा करता है, जो पुरुष हरि-मन्दिर में खखार डालता है, जो पुरुष गर्व-प्रकाश करता है, जो पुरुष वक्र पुण्ड्र धारण करके मेरी पूजा करता है, सामर्थ्य होने पर भी अपर के निकट प्रार्थना करके पत्र-पुष्पादि-ग्रहणपूर्वक मेरी पूजा करता है, जो पुरुष विना चरण धोये मेरे मन्दिर में घुसता है, जो पुरुष, वैष्णव को छोड़कर दूसरे का पक्वान्न मुझे प्रदान करता है, जो व्यक्ति अवैष्णव पुरुष के सन्मुख मेरी पूजा करता है, जो पुरुष गणपति की पूजा न करके और कपालधारी के सहित वात चीत करके मेरी पूजा करता है,—जो व्यक्ति नख-स्पृष्ट जल-द्वारा मुझको स्नान और पूजा करता है,—मौनभङ्ग करके और स्वेदाक्त देह होकर मेरी पूजा करता है;—ये सभी अपराधी होते हैं ॥ २१२—२१६ ॥

इसके अतिरिक्त साधुजनों का असम्मत, शास्त्र कथित, निषिद्ध तथा आदि शब्द से निज-सम्प्रदाय के आचार लंघन करने से भी अपराधी होता है। श्रीहरि की निर्म्माल्य

कृष्णस्य परितोषेप्सुर्न तच्छपथमाचरेत् ।
नान्यदेवस्य निर्म्माल्यमुपयुञ्जीत च क्वचित् ॥

तथा विष्णुधर्म्मोत्तरे—

आपद्यपि च कष्टायां देवेश-शपथं नरः ।
न करोति हि यो ब्रह्मंस्तस्य तुष्यति केशवः ॥
न धारयति निर्म्माल्यमन्यदेव-धृतन्तु यः ।
भुङ्क्ते न चान्य-नैवेद्यं तस्य तुष्यति केशवः ॥ इति ॥

अथापराध-शमनम् ।

सम्वत्सरस्य मध्ये च तीर्थे शौकरके मम ।
कृतोपवासः स्नानेन गङ्गायां शुद्धिमाप्नुयात् ॥
मथुरायां तथाप्येवं सापराधः शुचिर्भवेत् ।
अनयोस्तीर्थयोरङ्के यः सेवेत् सुकृती नरः ॥
सहस्रजन्म-जनितानपराधान् जहाति सः ॥

स्कान्दे ।— अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्यायन्तु संपठेत् ।
द्वात्रिंशदपराधैस्तु अहन्यहनि मुच्यते ॥

तत्र कार्त्तिकमाहात्म्ये—

तुलस्या कुरुते यस्तु शालग्रामशिलार्च्चनम् ।
द्वात्रिंशदपराधांश्च क्षमते तस्य केशवः ॥

तत्रैवान्यत्र।-द्वादश्यां जागरे विष्णोर्यः पठेत् तुलसी-स्तवम् ।
द्वात्रिंशदपराधानि क्षमते तस्य केशवः ॥

भाषा टीका ।

में कभी अश्रद्धा न करे । इस विषय में नृसिंहपुराण में शान्तनु के प्रति नारदोक्ति है कि,—हे नृपते ! अब से नृसिंहदेव की और अपरापर देवता की निर्म्माल्य में कदापि असन्मान-भाव न करना । जो पुरुष श्रीहरि को प्रसन्न करने की इच्छा करते हैं—वे कभी उनकी शपथ न करें और किसी समय भी बहुत से देवताओं की नैवेद्य सेवन न करें। विष्णुधर्म्मोत्तर में भी लिखा है कि,—हे ब्रह्मन् ! आपद के समय अथवा कष्ट उपस्थित होने पर भी जो प्रभु की शपथ नहीं करते,–हरि उनके प्रति सन्तुष्ट रहते हैं। जो पुरुष अन्य देवता की धारण की हुई निर्म्माल्य धारण नहीं करता और अपर देवता के नैवेद्य का सेवन नहीं करता,–उस पर हरि प्रसन्न रहते हैं ।

अथ अपराध–शमन ।--एक वर्ष शौकर-तीर्थ में अनाहार रहकर गङ्गा-जल में स्नान करने से पवित्रता लाभ होती है । इसी प्रकार मथुरापुरी में करने से भी अपराधी पवित्र हो-सकता है । इन दोनों तीर्थों के समीप रहकर जो जनार्द्दन की सेवा करते हैं,—वे ही यथार्थ पुण्यवान् हैं,—उनके सहस्र जन्म के सञ्चित पाप नष्ट होते हैं । स्कन्दपुराण में लिखा है,—जो पुरुष नित्य गीताध्याय पढ़ता है,--वह दिन दिन वत्तीस प्रकार

यः करोति हरेः पूजां कृष्ण-शस्त्राङ्कितो नरः ।
अपराध-सहस्राणि नित्यं हरति केशवः ॥ इति ॥ २१७ ॥

अथ शेषा-ग्रहणम् ।

ततो भगवता दत्तां मन्यमानो दयालुना ।
"महाप्रसाद" इत्युक्ता शेषां शिरसि धारयेत् ॥ २१८ ॥

अथ निर्म्माल्यधारण-नित्यता ।

पाद्मे श्रीगौतमाम्बरीष-सम्वादे—

अम्वरीष ! हरेर्लग्नं नीरं पुष्पं विलेपनम् ।
भक्त्या न धत्ते शिरसा श्वपचादधिको हि सः ॥

अथ श्रीभगवन्निर्म्माल्य-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे व्रह्मनारद-सम्वादे—

कृष्णोत्तीर्णन्तु निर्म्माल्यं यस्याङ्गं स्पृशते मुने !
सर्व्वरोगैस्तथा पापैर्मुक्तो भवति नारद !
विष्णोर्निर्म्माल्य-शेषेण यो गात्रं परिमार्जयेत् ।
दुरितानि विनश्यन्ति व्याधयो यान्ति खण्डशः ॥
मुखे शिरसि देहे तु विष्णूत्तीर्णान्तु यो वहेत् ।
तुलसीं, मुनिशार्द्दूल ! न तस्य स्पृशते कलिः ॥ २१९ ॥

भाषा टीका ।

के अपराधों से छूटता है । इसी पुराण के कार्त्तिक-माहात्म्य में लिखा है,—जो तुलसी-द्वारा शालग्राम की पूजा करते हैं,—श्रीहरि उनके वत्तीस प्रकार के अपराधों को क्षमा करते हैं । इसी पुराण के अन्यत्र भी लिखा है कि,--जो पुरुष द्वादशी तिथि में जागरण करके तुलसी-स्तव पाठ करता है,—हरि उसके वत्तीस प्रकार के अपराध क्षमा करते हैं । जो पुरुष कृष्ण-शस्त्र (शङ्खचक्रादि) से चिह्नित होकर जनार्द्दन की पूजा करते हैं,—प्रभु सदा उनके सहस्रों अपराध क्षमा करते हैं ॥ २१७ ॥

अथ निर्म्माल्य-ग्रहण ।—इसके पीछे मानो--"प्रभु ने कृपापूर्वक दान किया"—इस प्रकार चिन्ता करके "महाप्रसाद"— यह वाक्य उच्चारणपूर्वक मस्तक पर निर्म्माल्य धारण करे ॥ २१८ ॥

अथ निर्म्माल्य-धारण की अवश्यकर्त्तव्यता ।—पद्मपुराण के गौतमाम्वरीष-सम्वाद में लिखा है कि,—हरि के अङ्ग में लगा हुआ जल, कुसुम और चन्दन; जो पुरुष भक्तिसहित मस्तक-पर धारण नहीं करता,—उस को चाण्डाल से भी अधम जानना चाहिये ।

अथ भगवन्निर्म्माल्य-माहात्म्य ।—स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—हे देवर्षे ! जिस के अङ्ग में कृष्णाङ्ग से उत्तरी हुई निर्म्माल्य का स्पर्श होता है,—वह पुरुष सव रोग और सव पापों से छूट जाता है । जो पुरुष विष्णु-निर्म्माल्य के शेष अंश-द्वारा देह-मार्जन करते हैं,—उनके सव पाप ध्वंश होते हैं और व्याधियें खण्ड खण्ड हो जाती हैं । जिसके वदन में, शिर में और शरीर में हरि के अङ्ग से उत्तरी हुई तुलसी स्थापित रहती है, हे तापसप्रवर ! कलि उसको स्पर्श करने में समर्थ नहीं होता ॥ २१९ ॥

किञ्च ।— विष्णु-मूर्त्तिस्थितं पुण्यं शिरसा यो वहेन्नरः ।
अपर्य्युषितपापस्तु यावद्युग-चतुष्टयम् ॥
किं करिष्यति सुस्नातो गङ्गायांभूसुरोत्तम !
यो वहेत् शिरसा नित्यं तुलसीं विष्णुसेविताम् ॥
विष्णु-पादाब्जसंलग्नामहोरात्रोषितां शुभाम् ।
तुलसीं धारयेद्यो वै तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥ २२० ॥
अहोरात्रं शिरे यस्य तुलसी विष्णुसेविता ।
न स लिप्यति पापेन पद्म-पत्रमिवाम्भसा ॥ २२१ ॥
किञ्च ।— विष्णोः शिरः-परिभ्रष्टां भक्त्या यस्तुलसीं वहेत् ।
सिद्ध्यन्ति सर्व्वकार्य्याणि मनसा चिन्तितानि च ॥
अपि च ।—प्रमार्जयति यो देहं तुलस्या वैष्णवो नरः ।
सर्व्वतीर्थमयं देहं तत्क्षणाद्द्विज ! जायते ॥ २२२ ॥
गारुड़े ।— हरेर्मूर्त्यवशेषन्तु तुलसी-काष्ठचन्दनम् ।
निर्म्माल्यन्तु वहेद्यस्तु कोटितीर्थ-फलं लभेत् ॥
नारदपञ्चरात्रे—
भोजनानन्तरं विष्णोरर्पितं तुलसी-दलम् ।
तत्क्षणात् पापनिर्म्मोकश्चान्द्रायण-शताधिकः ॥ २२३ ॥

भाषा टीका ।

और भी लिखा है,—जो हरि के अङ्ग में लगी हुई पवित्र तुलस्यादि निर्म्माल्य मस्तक पर धारण करते हैं,—उनके चारयुगों का किया पाप तत्काल लय को प्राप्त हो जाता है। हे विप्रप्रवर ! जो हरि की निर्म्माल्य-तुलसी नित्य मस्तक पर धारण करते हैं,—उनको फिर गङ्गाजल में यथाविधि स्नान करना नहीं पड़ता हरि के चरणकमलों में दिन-रातस्थित विशुद्ध तुलसी धारण करने से पुण्य की सीमा नहीं रहती ॥ २२० ॥

जिसके मस्तक में विष्णुसेविता, अर्थात् हरि को चढ़ी हुई तुलसी भक्तिसहित स्थापित होती है,—जैसें कमल-पत्र में जल नहीं लगता—ऐसें उसके अङ्ग में पाप का सम्बन्ध नहीं होता ॥ २२१ ॥

श्रीविष्णु से उत्तीर्ण हुई तुलसी जो भक्तिपूर्वक मस्तक में धारण करते हैं,—उनके सब कार्य्य मन से चिन्ता करने पर भी सिद्ध होता है। और भी लिखा है,—हे द्विज ! जो वैष्णव शरीर में हरि की निर्म्माल्य-तुलसी मलते हैं,—तत्काल उन का गात्र सर्वतीर्थमय होता है ॥ २२२ ॥

गरुड़पुराण में लिखा है,—विष्णु की देह में लगा तुलसी-काष्ठ-चन्दन का अवशेष और निर्म्माल्य धारण करने से करोड़ तीर्थ का फल मिल जाता है। नारदपञ्चरात्र में लिखा है,— हरि का प्रसाद होने पर फिर यदि तुलसी-दल अपने अङ्ग में प्रदान किया जाय—तो तत्काल पापों से छुटकारा होता है और सौ चान्द्रायण से भी अधिक फल होता है ॥ ॥ २२३ ॥

किञ्चान्यत्र। कौतुकं शृणु मे देवि ! विष्णोर्निर्म्माल्य-वह्निना ।
तापितं नाशमायाति ब्रह्महत्यादि-पातकम् ॥
एकादशस्कन्धे श्रीभगवन्तं प्रत्युद्धवोक्तौ—
त्वयोपयुक्तस्रग्-गन्ध-वासो-ऽलङ्कार-चर्च्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥
अतएव स्कान्दे श्रीयमस्य दूतानुशासने—
पादोदकरता ये च हरेर्निर्म्माल्यधारकाः ।
विष्णु-भक्तिरता ये वै ते तु त्याज्याः सुदूरतः ॥ इति ॥
विसर्ज्जनन्तु चेत् कार्य्यं विसृज्यावरणानि तत् ।
देवे, तन्मुद्रया प्रार्थ्य देवं हृदि विसर्ज्जयेत् ॥
तथा चोक्तम्—
"पूजितोऽसि मया भक्त्या भगवन् ! कमलापते !
सलक्ष्मीको मम स्वान्तं विश विश्रान्ति-हेतवे ॥
प्रार्थ्यैवं पादुके दत्त्वा साङ्गमुद्वासयेद्धरिम् ।
प्राणायामं षड़ङ्गञ्च कृत्वा मुद्रां विसर्ज्जनीम् ॥ २२४ ॥
अथ पूजा-विधिविवेकः ।
अयं पूजा-विधिर्मन्त्र-सिद्धयर्थस्य जपस्य हि ।

भाषा टीका ।

अन्यत्र भी लिखा है,—हे देवि ! कौतुक की बात सुनो,—ब्रह्मवधादि जो कोई पाप ही क्यों न हो,—विष्णु निर्म्माल्यरूप अग्नि से भस्मीभूत होकर नष्ट होता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् के प्रति उद्धवजी की उक्ति है कि,—तुम जो माल्य, चन्दन, वस्त्र, भूषण भोग कर छोड़ देते हो,—वह सब धारण और तुम्हारी उच्छिष्ट सेवन करके ही हम तुम्हारी माया के जीतने में समर्थ होंगे। स्कन्दपुराण में दूत के प्रति यम का उपदेश है कि,—जो पुरुष हरि के चरणामृत में आसक्त हैं, जो पुरुष केशव की निर्म्माल्य धारण करते हैं और जो हरि-भक्ति में अत्यन्त अनुरक्त हैं,—उन सब पुरुषों के समीप होकर मत जाना। विसर्जन करना हो—तो आवरण देवताओं को मूल-देवता में विसर्जन कराकर विसर्जनी मुद्रा-द्वारा प्रार्थनापूर्वक देवता को अपने हृदय में विसर्जन करे । इस विषय में कहा है कि,—"हे भगवन् ! हे कमलाकान्त ! मैंने भक्तिपूर्वक देवी कमला के सहित तुम्हारी पूजा करी; अब विश्राम के लिये मेरे अन्तर में प्रविष्ट हूजिये"—इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक पादुका निवेदन कर प्राणायाम, षड़ङ्ग-न्यास और विसर्जनी मुद्रा करके अङ्गसहित श्रीहरि को विसर्जन करना चाहिये ॥२२४॥

अथ पूजाविधि-निरूपण ।—मन्त्र-साधन ही जप का प्रयोजन है,—उस जप का अङ्गस्वरूप—(पञ्चमादि चार विलास में) पूजा-विधि लिखी है। परन्तु नौ प्रकार भक्ति का अङ्ग जो "पूजा-विधि"—उसकी, भक्तिनिष्ठ मनुष्यगण न्यासादि (न्यास, आवाहन आदि और कुछेक मुद्रा) छोड़कर इच्छा करते हैं। क्यों कि—भक्तिपरायणगण, श्रीमूर्त्ति में साक्षाद्भगवद्बुद्धि करते हैं,

अङ्गं भक्तेस्तु तन्निष्ठैर्न्यासादीनन्तरेष्यते ॥ २२५ ॥
तत्र देवालये पूजा नित्यत्वेन महाप्रभोः ।
काम्यत्वेनापि, गेहे तु प्रायो नित्यतया मता ॥ २२६ ॥
सेवादि-नियमो देवालये देवस्य चेष्यते ।
प्रायः स्व-गेहे स्वच्छन्दसेवा स्व-व्रतरक्षया ॥ २२७ ॥

किञ्च विष्णुधर्म्मोत्तरे—

घृतेन स्नपितं देवं चन्दनेनानुलेपयेत् ।
सितजात्याश्च कुसुमैः पूजयेत्तदनन्तरम् ॥
श्वेतेन वस्त्र-युग्मेन तथा मुक्ताफलैः शुभैः ।
मुख्यकर्पूरधूपेन पयसा पायसेन च ॥
पद्म-सूत्रस्य वर्त्त्या च घृतधूपेन चाप्यथ ।
पूजयेत् सर्व्वथा यत्नात् सर्व्वकामप्रदार्च्चनाम् ॥
कृत्वेमां मुच्यते रोगी रोगाच्छीघ्रमसंशयम् ।
दुःखार्त्तो मुच्यते दुःखात् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥
राजग्रस्तश्च मुच्येत तथा राज-भयान्नरः ।
क्षेमेण गच्छेदध्वानं सर्व्वानर्थविवर्जितः ॥ २२८ ॥

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते भगवद्भक्ति-
विलासे प्रातरर्च्चासमापनो
नामाष्टमो विलासः ॥

भाषा टीका ।

अतएव उनकी पूजा-विधि में न्यासादि नहीं करते ॥२२५॥

भक्त्यङ्ग पूजन-विधि-विषय में देव-मन्दिर में जो पूजा होती, उपासकों के पक्ष में—वह 'नित्य' और 'काम्य' दोनों प्रकार की होती है, किन्तु अपने घर में पूजा उनके पक्ष में प्राय ही नित्य होती है ॥ २२६ ॥

देव-मन्दिर में पूजा करनी हो—तो सेवा इत्यादि के नियम की रक्षा करनी चाहिये । अपने घर अपनी इच्छानुसार पूजा कर सकेंगे, किन्तु यह सब अपना व्रत-भङ्ग न होने पर ही हो सकता है ॥ २२७ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में भी लिखा है,—हरि को घृत से स्नान कराकर चन्दनानुलेपन प्रदान कर, फिर सफेद जाति के पुष्प से पूजा करे। अनन्तर शुभ्र परिधेय (ओढ़ने का वस्त्र) और उत्तरीय (दुपट्टा) शुभ्र मुक्ताफल, उत्तम कपूर, धूप, दूध, खीर, कमल-तन्तु की वत्ती और घृतयुक्त धूप से भी भक्तिसहित पूजा करे। यह पूजा सब कामना सिद्ध करती है, इस पूजा के द्वारा रोगी रोग से तत्काल रक्षा पाता है,—इस में सन्देह नहीं । जो पुरुष दुःख में निमग्न हो रहे हैं,—इस पूजा के प्रसाद से उनका दुःख दूर होता है और वन्दी का वन्धन छूट जाता है । इसके प्रसाद से अपराधी पुरुष राज-भय से छुटकारा पाते हैं और पथिक किसी विपद् से ग्रसित न होकर सुख से मार्ग में गमन करते हैं ॥ २२८ ॥

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखित श्रीभगवद्भक्तिविलासे भाषाटीकायां प्रातरर्च्चा समापनो नामाष्टमो विलासः॥८॥

अष्टम विलासः समाप्तः ॥

श्रीश्रीराधा-मदनगोपालदेवो जयति ॥

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

नवम विलासः।

स प्रसीदतु चैतन्यदेवो यस्य प्रसादतः।
महाप्रसादजाताहः सद्यः स्यादधमोऽप्ययम् ॥ १ ॥

अथ शंखोदकं तच्च कृष्ण-दृष्टिसुधोक्षितम् ।
वैष्णवेभ्यः प्रदायाभिवन्द्य मूर्द्धनि धारयेत् ॥ २ ॥

शंखोदक-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ब्रह्मनारद-सम्वादे—

शंखोदकं हरेर्भक्तिर्निर्म्माल्यं पादयोर्जलम् ।
चन्दनं धूप-शेषन्तु ब्रह्महत्यापहारकम् ॥ ३ ॥

तत्रैव शंख-माहात्म्ये—

शंखस्थितन्तु यत्तोयं भ्रामितं केशवोपरि ।
वन्दते शिरसा नित्यं गङ्गा-स्नानेन तस्य किम् ? ॥ ४ ॥

भाषा टीका ।

अब महाप्रसाद लिखने के निमित्त परमगुरु श्रीभगवान् का प्रसाद (प्रसन्नता) प्रार्थना करते हैं,—जिनके प्रसाद से मैं अधम होकर भी सद्यः (तत्काल) महाप्रसाद (श्रीभगवान् का नाम और उच्छिष्ट आदि) पाने का उपयुक्त पात्र हो सकूं,—वे प्रसिद्ध श्रीचैतन्यप्रभु मेरे प्रति प्रसन्न हों ॥ १ ॥

इसके पीछे जिस शङ्खस्थ जल में हरि की दृष्टिरूप सुधा गिरी है,—प्रथम, वह जल वैष्णव को प्रदानपूर्वक फिर नमस्कार करके अपने मस्तक पर धारण करे ॥ २ ॥

अब शङ्ख के जल का माहात्म्य लिखा जाता है।—स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है,—गोविन्द की पूजा से बचे हुए शङ्ख-जल, श्रवण-कीर्त्तनादि नौ प्रकार की भक्ति, हरि की निर्म्माल्य, उनके चरणोंदक, उनके उपयुक्त चन्दन और धूप,—इन सब के द्वारा ब्रह्महत्या का पाप दूर होता है ॥ ३ ॥

इसी ग्रन्थ के शङ्ख-माहात्म्य-वर्णन में लिखा है कि,—जो जल शङ्ख में रख कर भगवान् श्रीविष्णु के मस्तक पर घुमाया गया है,—उस जल को जो नित्य मस्तक पर धारण करते हैं,—उनको फिर गङ्गा-जल में स्नान करने की क्या आवश्यकता है ? ॥ ४ ॥

न दाहो न क्लमो नार्त्तिर्नरकाग्नि-भयं नहि।
यस्य शंखोदकं मूर्द्ध्नि कृष्ण-दृष्टयावलोकितम्॥
न ग्रहा न च कुष्माण्डाः पिशाचोरगराक्षसाः।
दृष्ट्वा शंखोदकं मूर्द्ध्नि विद्रवन्ति दिशो दश॥ ५॥
कृष्ण-मूर्द्ध्नि भ्रामितन्तु जलं तच्छंख-संस्थितम्।
कृत्वा मूर्द्धन्यवाप्नोति मुक्तिं विष्णोः प्रसादतः॥
भ्रामयित्वा हरेर्मूर्द्ध्नि मन्दिरं शंख-वारिणा।
प्रोक्षयेद्वैष्णवो यस्तु नाशुभं तद्गृहे भवेत्॥ ६॥

किञ्च।— नीराजन-जलं यत्र यत्र पादोदकं हरेः।
तिष्ठते, मुनिशार्दूल! वर्द्धन्ते तत्र सम्पदः॥

तत्रैवाग्रे।—नीराजन-जलं विष्णोर्यस्य गात्राणि संस्पृशेत्।
यज्ञावभृथ-लक्षाणां स्नानजं लभते फलम्॥

तत्रैव श्रीशिवोक्तौ—
पादोदकेन देवस्य हत्यायुतसमन्वितः।
शुद्ध्यते नात्र सन्देहस्तथा शंखोदकेन हि॥

वृहद्विष्णुपुराणे च—
तीर्थाधिकं यज्ञ-शताच्च पावनं, जलं सदा केशव-दृष्टिसंस्थितम्।

भाषा टीका।

शङ्ख-स्थित जिस जल के ऊपर श्रीहरि की दृष्टि पड़ी है,—वह जल जिस पुरुष के मस्तक में विद्यमान रहता है,—उसको अङ्ग की ज्वाला, ग्लानि, पीड़ा अथवा नरक और अग्नि का डर कुछ भी विद्यमान नहीं रहता। मस्तक पर शङ्ख के जल को देखने से ग्रह, कुष्माण्ड, पिशाच, सर्प, राक्षस;- सभी डर-कर दशों दिशा में भाग जाते हैं॥ ५॥

हरि के मस्तक पर जो शङ्ख का जल घुमाया गया है,—उसको मस्तक पर धारण करने से हरि के प्रसाद से मुक्ति प्राप्त होती है। जो वैष्णव पुरुष (आरति के समय) जल सहित शङ्ख विष्णु के मस्तक पर घुमा कर—उस जल से अपना घर प्रोक्षित करते हैं,—उनके उस घर में अशुभ विद्यमान नहीं रहता॥ ६॥

और भी लिखा है कि,—हे मुनिप्रवर! जिस में श्रीहरि का नीराजन-जल और चरणोदक (चरणामृत) विद्यमान रहता है,—उस का सब प्रकार की सम्पद् बढ़ती रहती है। उस स्थान के आगे और भी लिखा है;—हरि का नीराजन-जल जिस पुरुष का अङ्ग स्पर्श करता है,—उस को लक्ष यज्ञ के अवभृत स्नान (यज्ञान्त-स्नान) का फल मिलता है। इसी स्थान में श्रीमहादेवजी ने कहा है कि,—दश सहस्र हत्याजनित पाप में लिप्त होने पर भी हरि-चरणोदक और नीराजन-जल जिस व्यक्ति का अङ्ग स्पर्श करता है,—वह तत्काल पवित्र हो-सक्ता है,—इस में सन्देह नहीं। वृहद्विष्णु-पुराण में लिखा है,—हरि-दृष्टिप्राप्त तुलसीयुक्त जल, विशेष कर शालग्रामशिलोदक सदा ही सब तीर्थों के जल से भी अधिक विशुद्ध और सौ यज्ञों से भी

छिनत्ति पापं तुलसी-विमिश्रितं, विशेषतश्चक्रशिलाविनिर्म्मितम् ॥ ७ ॥

अथ तीर्थ-धारणम् ।

कृष्ण-पादाब्जतीर्थञ्च वैष्णवेभ्यः प्रदाय हि ।
स्वयं भक्त्याभिवन्द्यादौ पीत्वा शिरसि धारयेत् ॥
तस्य मन्त्रो विधिश्च प्राक् प्रातःस्नान-प्रसङ्गतः ।—
लिखितो, ह्यधुना पाने विशेषो लिख्यते कियान् ॥ ८ ॥

स श्लोकः—"ओं चरणं पवित्रं विततं पुराणं, येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता, अपि पाप्मानमरातिं तरेम ॥
लोकस्य द्वारमर्च्चिष्मत् पवित्रं, ज्योतिष्मद्विभ्राजमानं महस्तत् ।
अमृतस्य धारा वहुधा दोहमानं, चरणं लोके सुधितां दधातु" ॥ इति ॥ ९ ॥

इमं मन्त्रं समुच्चार्य्य सर्व्वदुष्टग्रहापहम् ।
प्राश्नीयात् प्रोक्षयेद्देहं पुत्र-मित्र-परिग्रहम् ॥

किञ्च ।— विष्णोः पादोदकं पीतं कोटिहत्याघनाशनम् ।
तदेवाष्टगुणं पापं भूमौ विन्दु-निपातनात् ॥ १० ॥

अथ चरणोदक-पान-माहात्म्यम् ।

पाद्मे गौतमाम्वरीष-सम्वादे—

हरेः स्नानावशेषन्तु जलं यस्योदरे स्थितम् ।

भाषा टीका ।

शुद्धिकारक है, अतएव उस के द्वारा पातक दूर होते हैं ॥ ७ ॥

पादोदक (चरणामृत) धारण ।—श्रीहरि का चरण-कमलोदक सव से पहिले वैष्णव को प्रदान करना चाहिये, फिर नमस्कार पूर्वक प्रथम कुछेक पान करके मस्तक पर धारण करे । इस से पहिले प्रातःस्नान-प्रसङ्ग में उक्तविषयक मन्त्र-विधि वर्णित हुई है,—अव यहां पान-विषयक कुछ विशेषता वर्णित होती है ॥ ८ ॥

उक्त मन्त्र, यथा;—"ओंम् चरणं पवित्रं" इत्यादि, अर्थात चरणोदक पवित्र, प्रथित,(विश्वविख्यात) और पुरातन (पूर्वकाल से ही विदित) है, समस्त लोक इस पवित्र चरणामृत-द्वारा पवित्रता लाभ करके नरक से उत्तीर्ण होते हैं और इस चरणामृत के स्पर्श से हम पूत (शुद्ध) होकर पाप-पूर्ण संसार से रक्षा को प्राप्त होते हैं,—यह चरणोदक स्वर्ग का द्वारस्वरूप, ज्योतिः-युक्त, समुज्ज्वल और पूजनीय है,—मैंने उसी चरणोदक की पूजा करी । यह अमृत की धारास्वरूप चरणामृत वारम्वार विगलित अर्थात् नीचे गिर-कर पृथ्वीमण्डल में पियूषवत आदरणीय हो ॥ ९ ॥

यह मन्त्र सम्पूर्ण दुष्टग्रहों को दूर करता है,—इस मन्त्र का पाठकर चरणामृत पान करे और अपने देह तथा पुत्र-स्त्री-आदि के अङ्ग में प्रोक्षण करे । और भी लिखा है कि,—हरि का चरणामृत पीने से करोड़ हत्या-जनित पाप दूर होते हैं,—वह चरणामृत एक बूंद-मात्र भी भूमि में गिरने से अठ-गुना पाप होता है ॥ १० ॥

अव चरणामृत पान करने का माहात्म्य वर्णित होता है ।—पद्म-पुराण के गौतमाम्वरीष संवाद में

अम्वरीष ! प्रणम्योच्चैः पाद-पांशुः प्रगृह्यताम् ॥

तत्रैव देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

ये पिवन्ति नरा नित्यं शालग्रामशिला-जलम् ।
पञ्चगव्य-सहस्रैस्तु सेवितैः किं प्रयोजनम् ॥
कोटितीर्थ-सहस्रैस्तु सेवितैः किं प्रयोजनम् ।
नित्यं यदि पिवेत् पुण्यं शालग्रामशिला-जलम् ॥
शालग्रामशिला-तोयं यः पिवेद्विन्दुना समम् ।
मातुः स्तन्यं पुनर्नैव स पिवेद्भक्तिभाङ्नरः ॥

किञ्च ।— दहन्ति नरकान् सर्व्वान् गर्भवासञ्च दारुणम् ।
पीतं यैस्तु सदा नित्यं शालग्रामशिला-जलम् ॥

तत्रैव श्रीयम-धूम्रकेतु-सम्वादे —

शालग्रामशिला-तोयं विन्दु-मात्रन्तु यः पिवेत् ।
सर्व्वपापैः प्रमुच्येत मुक्तिमार्गे कृतोद्यमः ॥

तत्रैव पुलस्त्य-भगीरथ-सम्वादे—

पादोदकस्य माहात्म्यं भगीरथ ! वदामि ते ।
पावनं सर्व्वतीर्थेभ्यो हत्याकोटि-विनाशकम् ॥
धृते शिरसि पीते च सर्व्वास्तुष्यन्ति देवताः ।
प्रायश्चित्तन्तु पापानां कलौ पादोदकं हरेः ॥

किञ्च ।— त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु नार्म्मदम् ।

भाषा टीका ।

लिखा है कि,—हे अम्वरीष ! श्रीविष्णु के स्नान से वचा हुआ जल जिस पुरुष के उदर में जाता है,—तुम साष्टाङ्ग प्रणाम करके उसकी पद-रज ग्रहण करना। उक्त पुराण के देवदूत—विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है कि,—नित्य शालग्रामशिलोदक पान करने पर फिर सहस्र वार पञ्चगव्य पीने का क्या प्रयोजन है ? प्रतिदिन पवित्र शालग्राम—शिलोदक पान करने पर, फिर सहस्र कोटि तीर्थों का सेवन करने की क्या आवश्यकता है ? भक्तिमान् होकर विन्दुमात्र शालग्राम-शिलोदक पान करने से फिर उस मनुष्य को दूसरी वार माता का स्तन पीना नहीं पड़ता अर्थात् उस का गर्भवास-जनित क्लेश दूर होता है। और भी लिखा है कि,—नित्य शालग्राम-शिलोदक पीने वाले के द्वारा सम्पूर्ण नरक-यातना और कठोर जठर-यन्त्रणा भस्मीभूत होती है। उक्त पुराण के यम-धूम्रकेतु-सम्वाद में लिखा है कि,—एक बूँद-मात्र शालग्रामोदक पीने के फल से ही सव पापों से रक्षा हो सक्ती है और वह पुरुष मोक्ष—मार्ग का पथिक होने को उद्यत होता है। उक्त ग्रन्थ के पुलस्त्य-भगीरथ-सम्वाद में पुलस्त्य-जी की उक्ति है कि,—हे भगीरथ ! समस्त तीर्थों से भी पवित्र, करोड़ हत्या के हरने वाले चरणामृत का माहात्म्य तुम्हारे समीप वर्णन करता हूँ। हरि-पादोदक मस्तक पर स्थापित होने पर अथवा पान किया जाने पर सम्पूर्ण देवता ओं को सन्तोष होता है,

सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव यामुनम् ॥
पुनन्त्येतानि तोयानि स्नान-दर्शनकीर्त्तनैः।
पुनाति स्मरणादेव कलौ पादोदकं हरेः ॥
अर्च्चितैः कोटिभिर्लिङ्गैर्नित्यं यत् क्रियते फलम्।
तत् फलं शतसाहस्रं पीते पादोदके हरेः ॥
अशुचिर्व्वा दुराचारो महापातकसंयुतः।
स्पृष्ट्वा पादोदकं विष्णोः सदा शुद्ध्यति मानवः ॥
पाप-कोटियुतो यस्तु मृत्युकाले शिरो-मुखे।
देहे पादोदकं तस्य न प्रयाति यमालयम् ॥ ११ ॥
न दानं न हविर्येषां स्वाध्यायो न सुरार्च्चनम्।
तेऽपि पादोदकं पीत्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ १२ ॥
कार्त्तिके कार्त्तिकी-योगे किं करिष्यति पुष्करे।
नित्यं च पुष्करं तस्य यस्य पादोदकं हरेः ॥
विशाखा-ऋक्ष-संयुक्ता वैशाखी किं करिष्यति।
पिण्डारके महातीर्थे उज्जायिन्यां भगीरथ !
माघमासे प्रयागे तु स्नानं वै किं करिष्यति।
प्रयागः सततं तस्य यस्य पादोदकं हरेः ॥
प्रबोध-वासरे प्राप्ते मथुरायाश्च तस्य किम् ?

भाषा टीका।

(एक मात्र) हरि का चरणामृत ही कलिकाल में पापों का प्रायश्चित्त-स्वरूप है। और भी लिखा है कि,—तीन दिन में सरस्वती का जल, सप्ताह में नर्म्मदा का जल, सद्यः (तत्काल) में गङ्गा-जल और दर्शन-मात्र से यमुना का जल पवित्रता सम्पादन करता है, किन्तु यह समस्त जल; दर्शन, स्नान और कीर्तन-द्वारा ही पवित्रता सम्पादन करता है, किन्तु कलिकाल में केवल-मात्र स्मरण-द्वारा ही श्रीहरि-चरणामृत पवित्र करता है। हरि का चरणामृत पीने से नित्य करोड़ शिव-लिङ्ग की पूजा करने की अपेक्षा भी शत सहस्र-गुण फल मिलता है। हरि के चरणामृत का स्पर्श होते ही, क्या अशुचि, (अपवित्र) क्या दुराचारी, क्या महापापी,—सभी पवित्रता लाभ करते हैं। मरण-काल में मस्तक, वदन और अङ्ग में हरि के चरणामृत का स्पर्श होने पर करोड़ पापों में लिप्त पापी को भी फिर शमन-भवन में जाना नहीं पड़ता ॥ ११ ॥

जिस पुरुष के द्वारा किसी समय भी दान, होम, वेदाध्ययन अथवा देव-पूजा का अनुष्ठान नहीं हुआ, हरि का चरणामृत पीने के फल से उसको भी परमा गति लाभ होती है ॥ १२ ॥

हरि-चरणामृत पीने वाले का नित्य ही पुष्कर स्नान साधित होता है, अतएव उसके पक्ष में फिर कृत्तिका-नक्षत्रयुक्त कार्त्तिकी पूर्णिमा में पुष्कर-स्नान की क्या आवश्यकता है ? हे भगीरथ ! अथवा विशाखायुक्त वैशाखी पूर्णिमा में उज्जयिनीस्थ पिण्डारक महातीर्थ में स्नान करने से ही उसको क्या अधिक फल होगा ? नित्य हरि-चरणामृत पीने वाले का प्रयाग स्नान साधित

नित्यञ्च यामुनं स्नानं यस्य पादोदकं हरेः ॥
काश्यामुत्तरवाहिन्यां गङ्गायान्तु मृतस्य किम् ?
यस्य पादोदकं विष्णोर्मुखे चैवावतिष्ठते ॥
किञ्च ।— हित्वा पादोदकं विष्णोर्योऽन्यतीर्थानि गच्छति ।
अनर्घ्यं रत्नमुत्सृज्य लोष्ट्रं वाञ्छति दुर्म्मतिः ॥
कुरुक्षेत्र-समो देशो विन्दुः पादोदकं मतः ॥ १३ ॥
पतेद्यत्राक्षयं पुण्यं नित्यं भवति तद्गृहे ।
गया-पिण्डसमं पुण्यं पुत्राणामपि जायते ॥
पादोदकेन देवस्य ये कुर्य्युः पितृ-तर्पणम् ।
नासुराणां भयं तस्य प्रेतजन्यं न राक्षसम् ॥
न रोगस्य भयञ्चैव नास्ति विघ्नकृतां भयम् ।
न दुष्टा नैव घोराक्षाः श्वापदोत्थभयं नहि ॥
ग्रहाः पीड़ां न कुर्व्वन्ति चौरा नश्यन्ति दारुणाः ।
किन्तस्य तीर्थ-गमने देवर्षीणाञ्च दर्शने ॥
यस्य पादोदकं मूर्द्ध्नि शालग्रामशिलोद्भवम् ।
प्रीतो भवति मार्त्तण्डः प्रीतो भवति केशवः ।
ब्रह्मा भवति सुप्रीतो प्रीतो भवति शङ्करः ॥
पादोदकस्य माहात्म्यं यः पठेत् केशवाग्रतः ।

भाषा टीका ।

होता है, सुतरां माघमास में प्रयागक्षेत्र में स्नान कर के उसको किस अधिक पुण्य की आशा है ? नित्य पादोदक पीने वाले के पक्ष में प्रतिदिन यमुना-स्नान साधित होता है, सुतरां उत्थान-द्वादशी के दिन मथुरापुरी में उसको फिर यमुना-स्नान करने की क्या आवश्यकता है ? हरि-चरणामृत मुख-विवर में विराजित होने पर मृत्यु के समय उसको फिर वाराणसी-धाम में उत्तरवाहिनी गङ्गा के तट पर जीवन विसर्जन करने का क्या प्रयोजन है ? और भी लिखा है कि,—जो दुर्म्मति हरि का चरणामृत छोड़कर अन्यान्य तीर्थों में जाता है,—वह अमूल्य रत्न त्याग कर लोहे की अभिलाषा करता है। एक बूँद चरणामृत भी सज्जन के समीप कुरुक्षेत्र की समान होता है ॥ १३ ॥

नित्य जिस घर में हरि का चरणामृत गिरता है,—वहां अक्षय पुण्य का सञ्चार होता है । हरि के चरणामृत से पितृ-तर्पण करने पर पुत्रों को गया-धाम में पिण्ड देने का फल होता है। मस्तक पर शालग्रामोदक विराजित होने से असुर-भय, प्रेत-भय, राक्षस-भय, पीड़ा-भय, विघ्नकारी ओं से भय, दुष्ट से भय, भयङ्कर नेत्रयुक्त जन्तु ओं से भय, हिंसक जन्तु का भय, विद्यमान नहीं रहता । अधिक क्या ? ग्रह-कुल किसी प्रकार का विघ्न करने में समर्थ नहीं होते और दारुण चोरों का भय भी दूर हो जाता है एवं उन को तीर्थ में जाने की क्या आवश्यकता है ? और देव ऋषि के दर्श

स याति परमं स्थानं यत्र देवो जनार्द्दनः ॥

ब्रह्माण्डपुराणे श्रीब्रह्म-नारद सम्वादे—

प्रायश्चित्तं यदि प्राप्तं कृच्छ्रं वा त्वघमर्षणम् ।
सोऽपि पादोदकं पीत्वा शुद्धिं प्राप्नोति तत्क्षणात् ॥
अशौचं नैव विद्येत सूतके मृतकेऽपि च ।
येषां पादोदकं मूर्द्धि, प्राशनं ये च कुर्व्वते ॥
अन्तकालेऽपि यस्येह दीयते पादयोर्जलम् ।
सोऽपि सद्गतिमाप्नोति सदाचारैर्वहिष्कृतः ॥ १४ ॥
अपेयं पिबते यस्तु भुङ्क्ते यश्चाप्यभोजनम् ।
अगम्यागमना ये वै पापाचाराश्च ये नराः ॥
तेऽपि पूज्या भवन्त्याशु सद्यः पादाम्बु-सेवनात् ।

किञ्च ।— अपवित्रं यदन्नं स्यात् पानीयञ्चापि पापिनाम् ॥
भुक्त्वा पीत्वा विशुद्धः स्यात् पीत्वा पादोदकं हरेः ॥ १५ ॥
तप्तकृच्छ्रात् पञ्चगव्यान्महाकृच्छ्राद्विशिष्यते ।
चान्द्रायणात् पादकृच्छ्रात पराकादपि सुव्रत ।
काय-शुद्धिर्भवत्याशु पीत्वा पादोदकं हरेः ॥ १६ ॥
अगुरुं कुङ्कमञ्चापि कर्पूरञ्चानुलेपनम् ।
विष्णुपादाम्बु-संलग्नं तद्वै पावन-पावनम् ॥

भाषा टीका।

करने से ही क्या फल है ? सूर्य्य, विष्णु, ब्रह्मा और शिव उसके प्रति सदा प्रसन्न रहते हैं। श्रीहरि के सन्मुख पादोदक का माहात्म्य पाठ करने से देव-देव जनार्द्दनाधिष्ठित परमधाम में उस पाठक की गति होती है। ब्रह्माण्डपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—प्रायश्चित्त का प्रयोजन होने पर अथवा अघमर्षण मन्त्र जप करने की आवश्यकता होने पर, हरि का चरणामृत पीने से ही तत्काल पवित्रता लाभ होती है। मस्तक पर चरणामृत विराजित होने से अथवा उसको सेवन करने से जननाशौच वा मृताशौच में लिप्त होना नहीं पड़ता। यह संसार में सदाचार-हीन पुरुषको भी अन्तिम काल में हरि का चरणामृत प्रदान करने से भी उसको (पीने वाले को) उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

हरि का चरणामृत पीने से अपेयपायी (मदिरा आदि का पीने वाला) अभोज्यभोजी, अगम्यागामी और पापाचारनिष्ठ पुरुष भी आशु वन्दनीय होता है। और भी लिखा है कि,—हरि-चरणामृत पान करके अभक्ष्यभोजी और अपेयपायी पापी भी पवित्रता लाभ करता है ॥ १५ ॥

हे व्रतधारिन् ! हरि-चरणामृत पीते ही कलेवर शुद्ध होता है,—यह पञ्चगव्य, तप्तकृच्छ्र, महाकृच्छ्र, चान्द्रायण, पादकृच्छ्र और पराक् व्रतादि सब से ही श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥

हरि-चरणामृत के सङ्ग मिलित अगर, कुङ्कुम, कपूर और चन्दनादि अनुलेपन-सामग्री—पवित्र वस्तु

दृष्टिपूतन्तु यत्तोयं विष्णुना प्रभविष्णुना।
तद्वै पापहरं पुत्र! किं पुनः पादयोर्जलम्॥
एतदर्थमहं पुत्र! शिरसा विष्णुतत्परः।
धारयामि पिबाम्यद्य माहात्म्यं विदितं मम॥ १७॥
प्रियस्त्वमग्रजः पुत्रस्त्वदर्थं गदितं मया।
रहस्यं मे त्वनर्हस्य न वक्तव्यं कदाचन॥ १८॥
धारयस्व सदा मूर्द्ध्नि प्राशनं कुरु नित्यशः।
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैर्मोक्षं यास्यसि पुत्रक!

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

सद्यः फलप्रदं पुण्यं सर्व्वपापविनाशनम्।
सर्व्वमङ्गलमङ्गल्यं सर्व्वदुःखविनाशनम्॥
दुःस्वप्ननाशनं पुण्यं विष्णु-पादोदकं शुभम्।
सर्व्वोपद्रवहन्तारं सर्व्वव्याधिविनाशनम्॥ १९॥
सर्व्वोत्पात-प्रशमनं सर्व्वपापनिवारणम्।
सर्व्वकल्याणसुखदं सर्व्वकाम-फलप्रदम्॥
सर्व्वसिद्धिप्रदं धन्यं सर्व्वधर्म्मविवर्द्धनम्।
सर्व्वशत्रुप्रशमनं सर्व्वभोग प्रदायकम्॥
सर्व्वतीर्थस्य फलदं मूर्द्ध्नि पादाम्बु-धारणम्।
प्रयागस्य प्रभासस्य पुष्करस्य च सेवने॥

भाषा टीका।

को भी पवित्र करती है। हे वत्स! भगवान् हरि का देखा हुआ जल जब विशुद्ध होकर पातकहारि होता है—तो फिर उस स्थल में हरि के चरणामृत का माहात्म्य और अधिक क्या वर्णन करूँ? हे पुत्र! इसी कारण—मैं अब हरि-भक्तिपरायण होकर चरणामृत धारण और सेवन करता हूँ और मैं इस का माहात्म्य जानता हूँ॥ १७॥

हे प्रियतम! वड़ा पुत्र होने के कारण ही तुम्हारे समीप यह गुप्त कथा प्रकाश की है। अपात्र के निकट कभी इसको प्रकाशित न करना॥ १८॥

हे वत्स! नित्य हरि-चरणामृत धारण और सेवन करो। जरा, मरण और दुःख-राशि से रक्षा प्राप्त होगे। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—हरि का चरणामृत—पवित्र, तत्काल फल देने वाला, सर्वपापनाशक, सर्व मङ्गलों का मङ्गलस्वरूप, सर्वदुःखहारक, दुःस्वप्नाशक, पुण्य देने वाला, सब उपद्रवों को शान्त करने वाला और सब व्याधियों को नाश करने वाला है॥१९॥

हरि के चरणामृत को मस्तक पर स्थापित करने से—वह उत्पातों को शान्त करने वाला, सब दुःखों को नाश करने वाला, सब प्रकार का कल्याण और सुख देने वाला, सर्वकामनादायक, सर्व सिद्धि-कारक, यशःप्रद, सर्व धर्म्मवर्द्धक, सर्वशत्रुनाशक,

पृथूदकस्य तीर्थस्य आचान्तो लभते फलम् ॥ २० ॥
चक्रतीर्थे-फलं यादृक् तादृक् पादाम्बुधारणात्
सरस्वत्यां गयायाञ्च गत्वा यत् प्राप्नुयात् फलम् ॥
तत् फलं लभते श्रेष्ठं मूर्द्धि पादाम्बुधारणात् ।

स्कान्दे ।— पादोदकस्य माहात्म्यं देवो जानाति शङ्करः ।
विष्णु-पादच्युता गङ्गा शिरसा येन धारिता ॥
स्थानं नैवास्ति पापस्य देहिनां देह-मध्यतः ।
सवाह्याभ्यन्तरं यस्य व्याप्तं पादोदकेन वै ॥ २१ ॥
पादोदं विष्णु-नैवेद्यमुदरे यस्य तिष्ठति ।
नाश्रयं लभते पापं स्वयमेव विनश्यति ॥
महापापग्रहग्रस्तो व्याप्तो रोग-शतैर्यदि ।
हरेः पादोदकं पीत्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥
शिरसा तिष्ठते येषां नित्यं पादोदकं हरेः ।
किं करिष्यन्ति ते लोके तीर्थ-कोटि-मनोरथैः ॥
अयमेव परो धर्म्म इदमेव परं तपः ।
इदमेव परं तीर्थं विष्णु-पादाम्बु यत् पिबेत् ॥२२॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-सम्वादे—
विलयं यान्ति पापानि पीते पादोदके हरेः ।

भाषा टीका ।

सर्वभोगप्रद और सब तीर्थों का फल देने वाला होता है। हरि का चरणामृत पीने से प्रयाग, प्रभास, पुष्कर और पृथूदकतीर्थ के जल पीने का फल मिल जाता है ॥ २० ॥

हरि के चरणामृत को मस्तक पर धारण करने से चक्र-तीर्थ का फल मिलता है और सरस्वती-तीर्थ तथा गया क्षेत्र में जाने से जो फल होता है,—वही परमोत्तम फल मिल जाता है। स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—जिन्होंने हरि के चरण से निकली हुई गङ्गा को मस्तक पर धारण किया है,—वह श्रीमहादेवजी ही चरणामृत का माहात्म्य जानते हैं । देहधारियों के बीच केवल उन्ही के देह में पातक विद्यमान नहीं है,—जिनका वाह्य और अभ्यन्तर चरणोदक से व्याप्त रहै॥ २१ ॥

हरि का चरणामृत और नैवेद्य उदरस्थ होने पर,—उसके देह में पाप विद्यमान नहीं रहता, पाप अपने आप ही पलायन करते हैं। हरि के चरणामृत को सेवन करने से महापापग्रह-ग्रसित और सेकड़ों पीड़ाओं से जकड़ा हुआ पुरुष भी क्लेश से रक्षा पाता है,—इस में सन्देह नहीं शिर—पर सदा हरि-चरणामृत विद्यमान रहने पर—उस को फिर करोड़ तीर्थों की कामना करने का क्या प्रयोजन है? हरि-चरणामृत का पीना ही परम धर्म्म,—वही परम तप और—वही परम तीर्थ-स्वरूप हैं ॥ २२ ॥

इसी ग्रन्थ के शिव-पार्वती-सम्वाद में लिखा है कि,—हरि-प्रतिमा का चरणामृत सेवन करने से सब पाप दूर होते हैं । हे प्यारी ! शालग्राम शिला के निकले चरणामृत का माहात्म्य अधिक और क्या कहूँ?—वह ब्रह्महत्यादि पापों को भी जड़ से नाश करता है ।

किं पुनर्विष्णु-पादोदं शालग्रामशिलाप्लुतम् ।
विशेषेण हरेत् पापं ब्रह्महत्यादिकं प्रिये !
पीते पादोदके विष्णोर्यदि प्राणैर्विमुच्यते ।
हत्वा यम-भटान् सर्व्वान् वैष्णवं लोकमाप्नुयात् ॥

तत्रैव श्रीशिव-कार्त्तिकेय-सम्वादे श्रीशालग्रामशिला-माहात्म्ये—

छिन्नस्तेन महासेन ! गर्भवासः सुदारुणः ।
पीतं येन सदा विष्णोः शालग्रामशिला-जलम् ॥
ये पिबन्ति नरा नित्यं शालग्रामशिला-जलम् ।
पञ्चगव्य-सहस्रैस्तु प्राशितैः किं प्रयोजनम् ?
प्रायश्चित्ते समुत्पन्ने किं दानैः किमुपोषणैः ।
चान्द्रायणैश्च तीर्थैश्च पीत्वा पादोदकं शुचि ॥

बृहन्नारदीये लुब्धकोपाख्यानारम्भे—

हरि-पादोदकं यस्तु क्षणमात्रञ्च धारयेत ।
सः स्नातः सर्व्वतीर्थेषु विष्णोः प्रियतरस्तथा ॥
अकालमृत्युशमनं सर्व्वव्याधिविनाशनम् ।
सर्व्वदुःखोपशमनं हरि-पादोदकं शुभम् ॥

तत्रैव तदुपाख्यानान्ते—

हरि-पादोदकस्पर्शाल्लुब्धको वीतकल्मषः ।
दिव्यं विमानमारुह्य मुनिमेनमथाब्रवीत् ॥—
"हरि-पादोदकं यस्मान्मयि त्वं क्षिप्तवान् मुने !
प्रापितोऽस्मि त्वया तस्मात्तद्विष्णोः परमं पदम् "॥

भाषा टीका ।

हरि-चरणामृत पानपूर्वक देह त्याग करने से यम-दूतों को ताड़ित करके विष्णु-लोक में गमन कर सक्ता है। इसी पुराण के शिव-कार्त्तिक—सम्वाद में शालग्राम शिला-माहात्म्य-प्रसङ्ग में लिखा है कि,—हे कार्त्तिकेय! जिन्होंने नित्य शालग्रामशिलोदक पान किया है;—उन्होंने दारुण जठर-यन्त्रणा (गर्भवास का दुःख) छेदन की है। नित्य शालग्राम शिलोदक पीने पर, फिर पञ्चगव्य पीने की क्या आवश्यकता है ? पवित्र हरि-चरणामृत पीने पर फिर प्रायश्चित्त का अर्थ-दान, उपवास, चान्द्रायण अथवा तीर्थ पर्य्यटन करने की क्या आवश्यकता है ? बृहन्नारदीय—पुराण में लुब्धक-उपाख्यान के आरम्भ में लिखा है कि,—जो क्षणकाल हरि-चरणामृत धारण करते हैं,—उनको सब तीर्थों में स्नान करने का फल मिलता है और वे श्रीहरि के अत्यन्त प्रियजन होते हैं । हरि-चरणामृत—पवित्र, अकालमृत्युनाशक, सर्वव्याधिनिवारक और सब दुःखों का हरने वाला है। इसी लुब्धकोपाख्यान के अन्त में लिखा है कि,—व्याध ने हरि-चरणामृत-स्पर्श के फल से पापरहित होकर देव-यान में बैठकर ऋषि से कहा;—"हे ऋषे ! आप के द्वारा मेरे अङ्ग में हरि-चरणामृत निक्षिप्त

हरिभक्तिसुधोदये—

पादं पूर्व्वं किल स्पृष्ट्वा गङ्गाभूत स्मर्त्तृ-मोक्षदा।
विष्णोः सद्यस्तु तत्साङ्गि पादाम्बु कथमीड्यते॥
तापत्रयानलो योऽसौ न शाम्येत सकलाब्धिभिः।
द्रुतं शाम्यति सोऽल्पेन श्रीमद्विष्णु-पदाम्बुना॥ २३॥

अघास्त्राभेद्य-कवचं भवाग्नि-स्तम्भनौषधम्।
सर्व्वाङ्गैः सर्व्वथा धार्य्यं पाद्यं शुचिपदः सदा॥
अमृतत्वावहं नित्यं विष्णु-पादाम्बु यः पिबेत।
स पिबत्यमृतं नित्यं मासे मासे तु देवताः॥
माहात्म्यमियदित्यस्य वक्ता योऽपि स निर्भयः।
नन्वनर्घ्यमणेर्मूल्यं कल्पयन्नघमश्नुते॥

अन्यत्रापि।—स ब्रह्मचारी स व्रती आश्रमी च सदा शुचिः।
विष्णु-पादोदकं यस्य मुखे शिरसि विग्रहे॥
जन्म-प्रभृति पापानां प्रायश्चित्तं यदीच्छति।
शालग्रामशिला-वारि पापहारि निषेव्यताम्॥ २४॥

अतएव तेजोद्रविणपञ्चरात्रे श्रीब्रह्मणोक्तम्—
पीठ-प्रणालादुदकं पृथगादाय पुत्रक!

भाषा टीका।

होने से, मैंने हरि का प्रथित (लोकप्रसिद्ध) परम धाम प्राप्त किया। हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है कि,—पूर्वकाल में सुरधुनी गङ्गा हरि के चरणों का स्पर्श करके स्मरणकारी के तत्काल मुक्ति देने वाली हुई हैं,—अतएव हरि का पाद-सम्बन्धि चरणोदक की मैं किस प्रकार स्तुति करूँ? जिस तीन-तापरूप अग्नि के बुझाने की सामर्थ्य सब समुद्रों की भी नहीं है, किञ्चिन्मात्र श्रीहरि के चरणामृत से—वह अग्नि भी तत्काल बुझ जाती है॥ २३॥

पवित्रचरण हरि-पादपद्म का पाद्य सदा नाभि के ऊर्द्ध्वभाग में धारण करे, क्यों कि—वह पापरूप अस्त्र के पक्ष में अभेद्यकवच-स्वरूप और संसाररूपी अग्नि को स्तम्भन करने वाली औषधी है। देवता प्रतिमास में अमृत सेवन करते हैं,—किन्तु देवत्व-सम्पादक हरि-चरणामृत नित्य पीने से उसी में नित्य ही अमृत-पान होता है। चरणामृत की माहात्म्य-संख्या का कीर्त्तन करने से भी सम्पूर्ण भय दूर होता है, किन्तु इस चरणामृतरूपी अमूल्य मणि का मूल्य करने से (फल का परिमाण करने से) पाप में लिप्त होना पड़ता है। अन्यत्र भी लिखा है कि,—वदन, शिर और अङ्ग में हरि का चरणामृत विराजित होने पर—उसी को ब्रह्मचारी, व्रती, आश्रमी और नित्य पवित्र कहा जाता है। आजन्म-सञ्चित पापों का नाश करने के लिये प्रायश्चित्त करना हो—तो पापनाशक शालग्राम शिलोदक पान करो॥ २४॥

तेजोद्रविणपञ्चरात्र में ब्रह्माजी की उक्ति है कि,—हे वत्स! हरि-पीठ-प्रणाली से जल लेकर भक्त के

सिञ्चयेन्मूर्द्ध्नि भक्तानां सर्व्वतीर्थमयं हि तत् ॥ इति ॥ २५ ॥
पादोदकस्य माहात्म्यं विख्यातं सर्व्वशास्त्रतः।
लिखितुं शक्नुयात् को हि सिन्धूर्म्मीन् गणयन्नपि ॥
विशेषतश्च पादोदं तुलसीदल-संयुतम्।
शंखे कृत्वा वैष्णवेभ्यो दत्त्वा भागवत् पिवेत् स्वयम् ॥

अथ शंख-कृतपादोदक-माहात्म्यम्।

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-सम्वादे—

कृत्वा पादोदकं शंखे वैष्णवानां महात्मनाम्।
यो दद्यात्तुलसीमिश्रं चान्द्रायण-शतं लभेत् ॥
गृहीत्वा कृष्ण-पादाम्बु शंखे कृत्वा तु वैष्णवः।
यो वहेत शिरसा नित्यं स मुनिस्तापसोत्तमः ॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

शालग्रामशिला-तोयं यदि शंखभृतं पिवेत्।
हत्याकोटि-विनाशश्च कुरुते नात्र संशयः ॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

शालग्रामशिलातोयं तुलसी-दलवासितम्।
ये पिवन्ति पुनस्तेषां स्तन्यपानं न विद्यते ॥ इति ॥ २६ ॥
श्रीविष्णोर्वैष्णवानाञ्च पावनं चरणोदकम्।
सर्व्वतीर्थमयं पीत्वा कुर्य्यादाचमनं न हि ॥ २७ ॥

भाषा टीका।

शिरो-देश में सिञ्चन करे, क्यों कि—उक्त जल समस्त तीर्थमय है ॥ २५ ॥

चरणामृत का माहात्म्य सभी शास्त्रों में विख्यात है, समुद्र की तरङ्गें भी गिना जा-सकती हैं; किन्तु चरणामृत-माहात्म्य के लिखने में किस पुरुष की सामर्थ्य है? विशेषतः तुलसीदल-युक्त चरणामृत शंख में लेकर मन्त्र-पाठसहित वैष्णवों को प्रदानपूर्वक आप भी सेवन करे।

अब शंख-स्थापित चरणोदक (चरणामृत) का माहात्म्य लिखा जाता है।—स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद-सम्वाद में वर्णित है कि,—महानुभव वैष्णवगणों को तुलसी-दलसंयुक्त, शंखस्थापित हरि-चरणामृत प्रदान करने से शत चान्द्रायण का फल मिल जाता है। शंख-स्थापित हरि-चरणामृत सदा मस्तक पर धारण करने से—वही वैष्णव तापस-प्रधान मुनि कहा जाता है। पद्मपुराण के देवदूत विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है कि,—शंखस्थापित शालग्रामशिलोदक पान करने से निःसन्देह करोड़ हत्या का पाप दूर होता है। अगस्त्य-संहिता में लिखा है कि,—तुलसी-दलद्वारा सुरभीकृत (सुगन्धित किया) शालग्रामशिलोदक पान करने से फिर माता का स्तन पीना नहीं पड़ता अर्थात् वे मुक्त हो जाते हैं ॥ २६ ॥

हरि-चरणामृत और वैष्णव-चरणामृत;—यह दोनों ही निखिल (सर्व) तीर्थ-स्वरूप हैं,—इनको पीने के पीछे आचमन करना अनुचित है ॥ २७ ॥

तदुक्तं स्कान्दे शिवेन—

विष्णोः पादोदकं पीत्वा पश्चादशुचि-शङ्कया ।
आचामति च यो मोहाद्ब्रह्महा स निगद्यते ॥

श्रुतिश्च ।— भगवान् पवित्रं भगवत्पादौ पवित्रं भगवत्पादोदकं पवित्रं
न तत्पान आचमनीयम्, यथाहि सोम इति ॥

सौपर्णे च।—विष्णु-पादोदकं पीत्वा भक्त-पादोदकं तथा ।
य आचामति सम्मोहाद्ब्रह्महा स निगद्यते ॥ इति ॥

ततः शुद्धं पयः-पूर्णं गन्ध-पुष्पाक्षतान्वितम् ।
आधारोपरि संन्यस्येच्छंखं भगवदग्रतः ॥ २८ ॥

अथ श्रीभगवदग्रतः शंख-स्थापन-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे शंख-माहात्म्ये —

पुरतो वासुदेवस्य सपुष्पं सजलाक्षतम् ।
शंखमभ्यर्च्चितं पश्येत् तस्य लक्ष्मीर्न दुर्लभा ॥
सपुष्पं वारिजं यस्य दूर्व्वाक्षत-समन्वितम् ।
पुरतो वासुदेवस्य तस्य श्रीः सर्व्वतोमुखी ॥ इति ॥ २९ ॥
गत्वाथ भक्तिमान् श्रीमत्तुलस्याः कानने प्रभुम् ।
संपूज्याभ्यर्च्चयेत्ताश्च श्रीकृष्ण-चरणप्रियाम् ॥ ३० ॥

अथ श्रीतुलसीवन-पूजा ।

प्राग् दत्वार्घ्यं ततोऽभ्यर्च्य गन्धपुष्पाक्षतादिना ।

भाषा टीका ।

स्कन्द-पुराण में शिवोक्ति है कि,—हरि-चरणामृत पीने के पीछे 'अपवित्र' समझ कर; अज्ञान से मुख धोने पर—वह पुरुष ब्रह्मघातियों में गिना जाता है। इस विषय में श्रुति भी है कि,—भगवान् पवित्र, उनके दोनों चरण पवित्र और उनका चरणामृत पवित्र है,—इस चरणामृत को पान करने के पीछे आचमन न करे। यह सोम कह कर निरूपित हुआ है। गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—हरि का और भक्त का चरणामृत पान करने पर भूलकर भी आचमन करने से ब्रह्मघाती कह कर परिगणित होता है। चरणामृत पान करने पर जल-पूरित गन्ध, पुष्प और तण्डुल समन्वित विशुद्ध शङ्ख प्रभु के सन्मुख आधार पर रक्खे ॥ २८ ॥

अब प्रभु के सन्मुख शङ्ख-स्थापन करने का माहात्म्य लिखा जाता है।—स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में शङ्ख-माहात्म्य के प्रस्ताव में वर्णित है—जो व्यक्ति श्रीहरि के सन्मुख स्थापित और अर्च्चित, पुष्प-जल-तण्डुल-संयुक्त शङ्ख का दर्शन करता है,—उसे कमला (लक्ष्मी) दुर्लभ नहीं होती। हरि के सन्मुख पुष्प-दूर्वाक्षतसंयुक्त शङ्ख स्थापन करने पर चारों ओर से सम्पद् प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

फिर भक्तिमान् होकर तुलसी-वन में जाय-भगवान् हरि की पूजा करके श्रीकृष्णचरण-प्रिया तुलसी की भी पूजा करनी चाहिये ॥ ३० ॥

अब श्रीतुलसी-वन की पूजा लिखी जाती है,—पहिले अर्घ्य देकर गन्ध, पुष्प और अक्षत-द्वारा पूजा

स्तुत्वा भगवतीं ताञ्च प्रणमेत् प्रार्थ्य दण्डवत् ॥

तत्रार्घ्य-मन्त्रः ।—

"श्रीयः श्रिये श्रियावासे नित्यं श्रीधर-सत्कृते ।
भक्त्या दत्तं मया देवि ! अर्घ्यं गृह्ण नमोऽस्तु ते" ॥ ३१ ॥

पूजा-मन्त्रः ।—

"निर्म्मिता त्वं पुरा देवैरर्च्चिता त्वं सुरासुरैः ।
तुलसि ! हर मे पापं पूजां गृह्ण नमोऽस्तु ते ॥"

स्तुतिश्च ।—

"महाप्रसादजननी सर्व्वसौभाग्यवर्द्धिनी ।
आधिव्याधिहरी नित्यं तुलसि ! त्वं नमोऽस्तु ते ॥

प्रार्थना ।—

"श्रियं देहि यशो देहि कीर्त्तिमायुस्तथा सुखम् ।
वलं पुष्टिं तथा धर्म्मं तुलसी त्वं प्रसीद मे" ॥ ३२ ॥

प्रणाम-वाक्यम् ।

अवन्तीखण्डे —

"या दृष्टा निखिलाघसंघशमनी, स्पृष्टा वपुःपावनी,
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी, सिक्तान्तकत्रासिनी ।

भाषा टीका ।

करे, फिर भगवती तुलसी को साष्टाङ्ग नमस्कार करके प्रार्थना करे ।

तुलसी को अर्घ्य देने का मन्त्र का अर्थ ।—"हे देवि ! आप श्री का आश्रय और निवास-भूमि हो । आप सदा ही श्रीधर की आदरिणी हो, मैंने भक्तिसहित अर्घ्य प्रदान किया,—ग्रहण कीजिये । आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ३१ ॥"

तुलसी की पूजा-मन्त्र का अर्थ ।—" हे तुलसी ! आप पूर्वकाल में देवता ओं के द्वारा वनाई गई हो, सुर, असुर-सभी आपकी पूजा करते हैं, आप मेरे पातक दूर कीजिये और मेरी करी हुई पूजा ग्रहण कीजिये । आप को नमस्कार है ।"

तुलसी की स्तुति-वाक्य का अर्थ।—"हे तुलसी ! आप प्रभु की प्रसन्नता-साधन करने वाली हो, सर्व सौभाग्य वढ़ाने वाली और नित्य आधि-व्याधि हरने वाली हो, आपको नमस्कार करता हूँ "।

तुलसी की प्रार्थना मन्त्र का अर्थ ।—"हे देवि ! तुलसी ! आप मुझको श्री, यशः, कीर्त्ति, दीर्घायु, सुख, वल, पुष्टि और धर्म्म प्रदान कीजिये और मुझ पर प्रसन्न हूजिये ॥ ३२ ॥

अवन्तीखण्ड के प्रणाम-वाक्य का अर्थ यथा,—जिन का दर्शन करने से सव पाप छूट जाते हैं, जो स्पर्श करने से देह को पवित्र करती हैं , जिनकी वन्दना करने पर रोग-समूह नष्ट होते हैं, जिन में जल सिञ्चन करने पर अन्तक (यम) का भय अन्तर्ध्यान होता है , जो रोपिता होने (लगाई जाने) पर रोपणकारी के सहित भगवान् का सम्वन्ध-विशेष

प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता,
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा; तस्यै तुलस्यै नमः ॥ ३३ ॥
भगवत्यास्तुलस्यास्तु माहात्म्यामृत-सागरे ।
लोभात् कूर्द्दितुमिच्छामि क्षुद्रस्तत् क्षम्यतां त्वया ॥ ३४ ॥

अथ तुलसीवन-पूजा-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ।—श्रवणद्वादशी-योगे शालग्रामशिलार्च्चने ।
यत् फलं सङ्गमे प्रोक्तं तुलसी-पूजनेन तत् ॥

गारुड़े ।— धात्रीफलेन यत् पुण्यं जयन्त्यां समुपोषणे ।
खगेन्द्र ! भवते नृणां तुलसी-पूजनेन तत् ॥ ३५ ॥
प्रयाग-स्नाननिरतौ काश्यां प्राण-विमोक्षणे ।
यत् फलं विहितं देवैस्तुलसी-पूजनेन तत् ॥

अगस्त्यसंहितायाम् —
चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमाणां विशेषतः ।
स्त्रीणाञ्च पुरुषाणाञ्च पूजितेष्टं ददाति हि ॥
तुलसी रोपिता सिक्ता दृष्टा स्पृष्टा च पावयेत् ।
आराधिता प्रयत्नेन सर्व्वकामफलप्रदा ॥

किञ्च ।— प्रदक्षिणं भ्रमित्वा ये नमस्कुर्व्वन्ति नित्यशः ।
न तेषां दुरितं किञ्चिदक्षीणमवशिष्यते ॥

भाषा टीका ।

विधान करती हैं और जिनको श्रीकृष्ण के चरण कमलों में अर्पण करने पर जो श्रीवैकुण्ठ-प्राप्तिलक्षण फल (प्रेम-भक्ति) प्रदान करती हैं,—उन तुलसी देवी को नमस्कार है ॥ ३३ ॥

मैं क्षुद्र होकर भी लोभ से आप के माहात्म्य-रूप सुधासागर में कूदने की इच्छा करता हूँ, आप मुझ को क्षमा कीजिये ॥ ३४ ॥

अब तुलसी-वन की पूजा का माहात्म्य लिखा जाता है,—स्कन्दपुराण में लिखा है कि,—श्रवणा-द्वादशी के योग में सङ्गमस्थान में शालग्राम की पूजा से जो फल कहा है, तुलसी की पूजा करने से भी वही फल मिल जाता है। गरुड़पुराण में लिखा है कि,—हे खगपते ! आमलकी-सेवन द्वारा और जन्माष्टमी वा जयन्ती महाद्वादशी में उपवास करने से जो फल मिलता है, मनुष्यों को तुलसी की पूजा से भी-वही फल मिल सकता है ॥ ३५ ॥

देवताओं ने नित्य प्रयाग-धाम में अवगाहन (स्नान) द्वारा और वाराणसी-क्षेत्र में देह त्याग करने का जो फल निरूपण किया है, तुलसी की पूजा से निःसन्देह—वही फल मिल जाता है। अगस्त्य-संहिता में लिखा है कि,—चारों वर्णों में, विशेष कर चारों आश्रमों में नर-नारी जो कोई क्यों न हो—तुलसी देवी की पूजा करने से देवी उनको अभिलषित फल प्रदान करती हैं। तुलसी-रोपण, सेवन, दर्शन और स्पर्श द्वारा पवित्रता लाभ होती है और यत्नसहित उपासना करने से सब

बृहन्नारदीये यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

पूज्यमाना च तुलसी यस्य वेश्मनि तिष्ठति ।
तस्य सर्व्वाणि श्रेयांसि वर्द्धन्तेऽहरहर्द्विजाः !

अतएव पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

पक्षे पक्षे तु सम्प्राप्ते द्वादश्यां वैश्यसत्तम !
ब्रह्मादयोऽपि कुर्व्वन्ति तुलसी-वनपूजनम् ॥

अतएव श्रीतुलसी-स्तुति-महिमा ।

अनन्यमनसा नित्यं तुलसीं स्तौति यो नरः ॥
पितृ-देव-मनुष्याणां प्रियो भवति सर्व्वदा ॥

अथ तुलसीवन-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ।— रतिं वध्नाति नान्यत्र तुलसीकाननं विना ॥
देव-देवो जगत्स्वामी कलिकाले विशेषतः ।
हित्वा तीर्थ-सहस्राणि सर्व्वानपि शिलोच्चयान् ॥
तुलसी-कानने नित्यं कलौ तिष्ठति केशवः ॥
निरीक्षिता नरैर्यैस्तु तुलसी-वन-वाटिका ।
रोपिता यैश्च विधिना सम्प्राप्तं परमं पदम् ॥
न धात्री सफला यत्र न विष्णुस्तुलसी-वनम् ।
तत् श्मशानसमं स्थानं सन्ति यत्र न वैष्णवाः ॥

भाषा टीका ।

अभिलाष सिद्ध होते हैं। और भी लिखा है कि,—प्रतिदिन प्रदक्षिणा करने के पीछे तुलसी को नमस्कार करने से कोई पाप भी ध्वंश होने को वाकी नहीं रहता । बृहन्नारदीय-पुराण में यज्ञध्वजोपाख्यान के अन्त में लिखा है कि,—हे ब्राह्मणगण ! जिस घर में तुलसी विराजित रहती हैं और जिस घर में नित्य तुलसी की पूजा होती है, उसके सव मङ्गलों की वृद्धि होती है। पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल—सम्वाद में लिखा है कि,—हे वैश्यप्रवर ! जव प्रति पक्ष की द्वादशी तिथि समागत होती है, तव ब्रह्मादि देवता भी तुलसी-वन की पूजा करते हैं।

तुलसी-स्तुति का माहात्म्य।—जो पुरुष एकाग्रचित्त से नित्य तुलसी देवी की पूजा करते हैं,—वे पितृ, देवता और मनुष्यों के प्रिय होते हैं।

तुलसी के वन का माहात्म्य।-स्कन्दपुराण में लिखा है,—देव-देव जगत्पति हरि, तुलसी-वन को छोड़ कर विशेषतः कलिकाल में अन्य किसी वस्तु से प्रसन्न नहीं होते। कलिकाल में हरि, सहस्र सहस्र तीर्थ-क्षेत्र और अखिल भूधर (पाहाड़) त्याग कर एकमात्र तुलसी-वन में ही नित्य अधिष्ठान करते हैं । जो तुलसी-वन दर्शन वा यथाविधि रोपण करते हैं,-वे परम पद प्राप्त करते हैं। जहां फलित धात्रीवृक्ष, हरि-मूर्त्ति, तुलसी-कानन और वैष्णवजन विद्यमान् नहीं होते-वह स्थान श्मशान की समान है। जो कलियुग में पृथ्वी-पर हरि की प्रीति के लिये तुलसी रोपण करते हैं, यमराज वा उनके दूत क्रोधित होकर उनका क्या अनिष्ट कर सकते हैं?

केशवार्थे कलौ ये तु रोपयन्तीह भूतले ।
किं करिष्यत्यसन्तुष्टो यमोऽपि सह किङ्करैः ॥
तुलस्यारोपणं कार्य्यं श्रवणेन विशेषतः ।
अपराध-सहस्राणि क्षमते पुरुषोत्तमः ॥
देवालयेषु सर्व्वेषु पुण्यक्षेत्रेषु यो नरः ।
वापयेत्तुलसीं पुण्यां तत्तीर्थं चक्रपाणिनः ॥
घटैर्यन्त्रघटीभिश्च सिञ्चितं तुलसी-वनम् ।
जल-धाराभिर्विप्रेन्द्र ! प्रीणितं भुवनत्रयम् ॥ ३६ ॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-सम्वादे —

तुलसी-गन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः ।
दिशो दश च पूताः स्युर्भूत-ग्रामश्चतुर्व्विधः ॥ ३७ ॥
तुलसी-काननोद्भूता छाया यत्र भवेद्द्विज !
तत्र श्राद्धं प्रदातव्यं पितॄणां तृप्तिहेतवे ॥
तुलसीवीज-निकरः पतते यत्र नारद !
पिण्डदानं कृतं तत्र पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥

तत्रैवाग्रे ।—दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्त्तिता नमिता स्तुता ।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा ॥ ३८ ॥
नवधा तुलसीं नित्यं ये भजन्ति दिने दिने ।
युगकोटि-सहस्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे ॥

भाषा टीका ।

विशेषतः श्रवणा नक्षत्र के योग में तुलसी-रोपण करना चाहिये । ऐसा होने पर, हरि उस रोपण करने वाले के सहस्र अपराध क्षमा करते हैं । जिस देव-मन्दिर अथवा पुण्यभूमि में पवित्र तुलसी का बृक्ष लगाया जाता है, वे सभी स्थान चक्रधर हरि के तीर्थस्वरूप हैं । हे ब्राह्मणोत्तम ! घट वा यन्त्र-घटी—जल-धारा द्वारा तुलसी के सींचने से तीनों लोक की प्रीति साधित होती है ॥ ३६ ॥

इसी पुराण के ब्रह्मनारद-सम्वाद में लिखा है कि,—जिस स्थान में वायु, तुलसी की गन्ध लेकर प्रवाहित होती है,—उसकी दशों दिशा और उन उन दिशा ओं के चतुर्विध जीव भी विशुद्ध होते हैं ॥ ३७ ॥

हे विप्र ! जहां तुलसी-वन की छाया गिरती है,—वहां पितरों के अर्थ श्राद्ध करना चाहिये, क्यौं कि,—उसके द्वारा वह विशेष प्रसन्न होते हैं । हे देवर्षे ! तुलसी-वीज पतित होने पर, यदि उसी स्थान में पितरों के अर्थ पिण्ड दिया जाय, तो—वह पिण्ड अक्षय होता है । इसी ब्रह्म-नारद-सम्वाद के कुछ पीछे लिखा है कि,—नित्य तुलसी का दर्शन, स्पर्श, चिन्तन कीर्त्तन, प्रणाम, स्तुति, रोपण, सेवा अथवा पूजा करने से कल्याण लाभ होता है ॥ ३८ ॥

जो पुरुष नित्य इस नौ प्रकार से तुलसी की उपासना करते हैं,—उनको हजारों करोड़ों युगों तक श्रीहरि के धाम में वास मिलता है । कलिकाल में तुलसी-रोपण करने पर, उसकी जड़ जितनी फैलती

रोपिता तुलसी यावत् कुरुते मूल-विस्तरम् ।
तावत्कोटि-सहस्रन्तु तनोति सुकृतं कलौ ॥
यावच्छाखा-प्रशाखाभिर्वीज-पुष्पैः फलैर्मुने !
रोपिता तुलसी पुम्भिर्वर्द्धते वसुधा-तले ॥
कुले तेषान्तु ये जाता ये भविष्यन्ति ये मृताः ।
आकल्पं युग-साहस्रं तेषां वासो हरेर्गृहे ॥ ३९ ॥

तत्रैवावन्तीखण्डे—

तुलसीं ये विचिन्वन्ति धन्यास्तत्-करपल्लवाः ।
केशवार्थे कलौ ये च रोपयन्तीह भूतले ॥
स्नाने दाने तथा ध्याने प्राशने केशवार्च्चने ।
तुलसी दहते पापं रोपणे कीर्त्तने कलौ ॥ ४० ॥

काशीखण्डे स्व-दूतान् प्रति श्रीयमानुशासने—

तुलस्यलङ्कृता ये ये तुलसीनाम-जापकाः ।
तुलसी-वनपाला ये ते त्याज्या दूरतो भटाः !

तत्रैव ध्रुवचरिते—

तुलसी यस्य भवने प्रत्यहं परिपूज्यते ।
तद्गृहं नोपसर्पन्ति कदाचिद्यम-किङ्कराः ॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

न पश्यन्ति यमं वैश्य ! तुलसी-वनरोपणात् ।

भाषा टीका ।

है, रोपण करने वाले का पुण्य भी उतना ही हजार करोड़ गुण फैलता है । हे तापस ! पृथ्वी में तुलसी रोपण करने पर, उसकी शाखा उपशाखा, वीज, फूल और फल जितनि वृद्धि को प्राप्त होते हैं; रोपणकारी के वंश में उत्पन्न, भावी और मृत पुरुष-गण; सभी दिव्य सहस्रयुग-तक, हरि के धाम में वास करते हैं । ॥३९॥

स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड में लिखा है,—कलियुग में पृथ्वी पर जो पुरुष हरि को प्रसन्न करने के लिये तुलसी-चयन वा रोपण करते हैं,—उन्ही सव पुरुषों के कर-पल्लव धन्य हैं । कलियुग में तुलसी-जल से स्नान, तुलसी प्रदान, तुलसी ध्यान, तुलसी भोजन, तुलसी द्वारा हरि-पूजा और तुलसी की महिमा कीर्त्तन करने से तुलसीदेवी पातक भस्मकर देती हैं ॥ ४० ॥

काशीखण्ड में दूतों के प्रति यम की उक्ति है कि,—हे दूतगण ! तुलसी के गहनों से अलङ्कृत, तुलसी के नाम का जपने वाला और तुलसी के वन की रक्षा करने वाले रक्षकों को दूर से ही त्याग देना अर्थात् उनको मेरे पुर में कभी मत लाना । ध्रुव-चरित में भी इस विषय में लिखा है कि,—जिस पुरुष के घर तुलसी की नित्य पूजा होती है,—यम-दूत कभी उस घरके समीप गमन करने में समर्थ नहीं होते । पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है,— हे वैश्य ! तुलसी-वन सव पापों का नाशक और सम्पूर्ण अभिलाषों का साधक है,—इस वन के रोपण करने (लगाने) से फिर यम का दर्शन करना नहीं पड़ता।

सर्व्वपापहरं सर्व्वकामदं तुलसी-वनम् ॥
तुलसी-काननं वैश्य ! गृहे यस्मिंस्तु तिष्ठति !
तद्गृहं तीर्थभूतं हि नो यान्ति यम-किङ्कराः ॥
तावद्वर्ष-सहस्राणि यावद्बीज-दलानि च ।
वसन्ति देव-लोके तु तुलसीं रोपयन्ति ये ॥
तुलसी-गन्धमाघ्राय पितरस्तुष्टमानसाः ।
प्रयान्ति गरुड़ारूढ़ास्तत् पदं चक्रपाणिनः ॥ ४१ ॥
दर्शनं नर्म्मदायास्तु गङ्गा-स्नानं विशाम्वर !
तुलसीदल-संस्पर्शः सममेतत्त्रयं स्मृतम् ॥
रोपणात् पालनात् सेकाद्दर्शनात् स्पर्शनान्नृणाम् ।
तुलसी दहते पापं वाङ्मनःकाय-सञ्चितम् ॥
आम्रवृक्ष-सहस्रेण पिप्पलानां शतेन च ।
यत् फलं हि तदेकेन तुलसी-विटपेन तु ॥
विष्णु-पूजनसंयुक्तस्तुलसीं यस्तु रोपयेत् ।
युगायुतदशैकं स रोपको रमते दिवि ॥

तत्रैव वैशाख-माहात्म्ये—

पुष्करादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा ।
वासुदेवादयो देवा वसन्ति तुलसी-दले ॥
दारिद्र्य-दुःख-रोगार्त्ति-पापानि सुवहून्यपि ।

भाषा टीका।

हे वैश्य ! तुलसी-वन से विभूषित घर तीर्थ-स्वरूप है, यम-दूत उसके समीप नहीं जाते । तुलसी-वृक्ष में जितने पत्ते और जितने वीज उत्पन्न होते हैं,—रोपणकारी उतने ही हजार वर्ष सुर-धाम में वास करता है । पितृ-गण तुलसी-गन्ध को सूंघ कर प्रसन्नचित्त से गरुड़ यान में बैठ चक्रधारी के लोकविख्यातवैकुण्ठधाम में पयानकरते हैं ॥४१

हे वैश्यप्रवर ! विख्यात है कि,—नर्म्मदा-दर्शन, गङ्गा में स्नान और तुलसी-दलस्पर्श;—यह तीन समान पुण्यकारक हैं । मनुष्य-गण वाक्य, मन और शरीर द्वारा जो कुछ पापाचरण करते हैं, तुलसीवृक्ष-रोपण, रक्षण, जल-सेचन, दर्शन और स्पर्श-द्वारा वे-सव पाप भस्म होते हैं । हजार आम्र-तरु और सौ अश्वत्थ-तरु में जो फल है,—तुलसी-तरु की एक शाखा में वह फल विद्यमान है,-इस में सन्देह नहीं । जो हरि-पूजा-निष्ठ पुरुष तुलसी रोपण करते हैं,—उनका लाख युगों तक सुर-लोक में परम सुख से वास होता है । इसी पुराण के वैशाख-माहात्म्य में लिखा है कि,—पुष्करादि तीर्थ, गङ्गा—इत्यादि स्रोतस्वती और विष्णु-इत्यादि देवता तुलसी-दल में अधिष्ठित रहते हैं । जिस प्रकार हरीतकी (हरॅर) रोग के शान्त करने वाली है,—ऐसे ही तुलसी वहुत दारिद्रदुःखनाशिनी है। उक्त ग्रन्थ के कार्त्तिक-माहात्म्य-प्रसङ्ग में लिखा है,—जिस घर में जल से तुलसी सेचित हो,—रक्षापूर्वक

तुलसीं हरति क्षिप्रं रोगानिव हरीतकी ॥

तत्रैव कार्त्तिक-माहात्म्ये—

यद्गृहे तुलसी भाति रक्षाभिर्जल-सेचनैः।
तद्गृहं यम-दूताश्च दूरतो वर्जयन्ति हि ॥ ४२ ॥
तुलस्यास्तर्पणं ये च पितॄनुद्दिश्य मानवाः।
कुर्व्वन्ति,तेषां पितरस्तृप्ता वर्षायुतं जलैः ॥
परिचर्य्याश्च ये तस्याः रक्षया वाल-वन्धनैः।
शुश्रूषितो हरिस्तैस्तु नात्र कार्य्या बिचारणा ॥ ४३ ॥
नावज्ञा जातु कार्य्यास्या बृक्ष-भावान्मनीषिभिः।
यथा हि वासुदेवस्य वैकुण्ठे भोगविग्रहः ॥
शालग्रामशिलारूपं स्थावरं भुवि दृश्यते।
तथा लक्ष्म्यैक्यमापन्ना तुलसी भोगविग्रहा ॥
अपरं स्थावरं रूपं भुवि लोक-हिताय वै।
स्पृष्टा दृष्टा रक्षिता च महापातकनाशिनी ॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

विष्णोस्त्रैलोक्यनाथस्य रामस्य जनकात्मजा।
प्रिया,तथैव तुलसी सर्व्वलोकैकपावनी ॥ ४४ ॥
तुलसी-वाटिका यत्र पुष्पान्तर-शतावृता।
शोभते राघवस्तत्र सीतया सहितः स्वयम् ॥
तुलसी-विपिनस्यापि समन्तात् पावनं स्थलम्।

भाषा टीका।

विद्यमान रहती है, यम-दूतगण दूर से ही—उस घर को त्याग देते हैं ॥ ४२ ॥

तुलसी-युक्त जल से पितृ-तर्पण करने पर अयुत (दश सहस्र) वर्ष पितृ-गण तृप्त रहते हैं। यत्नसहित आलवाल वन्धन (थांवला वनाने) द्वारा तुलसी की पूजा करने पर, हरि की पूजा हो-जाती है,—इस में सन्देह नहीं ॥ ४३ ॥

तुलसी को वृक्ष समझकर निरादर करना अनुचित है, वैकुण्ठविहारी वासुदेव का भोगविग्रह को जिस प्रकार धराधाम में शालग्राम-शिलास्वरूप स्थावर देह देखाजाता है,-ऐसे ही तुलसी भी लक्ष्मी का देहस्वरूप हैं। लोक-हितार्थ; स्थावर (तुलसी) रूप में लक्ष्मी देवी का अपर देह पृथ्वी-तल पर विराजित रहता है,-यह देह स्पर्श, दर्शन और रक्षण करने पर महापाप दूर होता है। अगस्त्य संहिता में लिखा है कि,—जनकराज-नन्दिनी (सीता) जिस प्रकार रामरूपी त्रिभुवन-पति हरि की प्यारी हैं, सब लोकों को पवित्र करने वाली तुलसी भीं उसी प्रकार विष्णु की प्रिया हैं ॥ ४४ ॥

जहां स्थान स्थान में नाना भाँति पुष्प-राजित तुलसी की वाटिका विद्यमान है, श्रीराम जनकनन्दिनी के सहित—वहां अधिष्ठित रहते हैं। गङ्गा-जल के समान तुलसी-वन के चारों ओर का क्रोश-परिमित स्थान पवित्र कहा गया है। हे तापस-प्रवर ! तुलसी के

क्रोशमात्रं भवत्येव गाङ्गेयस्येव पाथसः ॥
तुलसी-सन्निधौ प्राणान् ये त्यजन्ति मुनीश्वर !
न तेषां नरक-क्लेशः प्रयान्ति परमं पदम् ॥

किञ्च।— अनन्यदर्शनाः प्रातर्ये पश्यन्ति तपोधन !
अहोरात्रकृतं पापं तत्क्षणात् प्रहरन्ति ते ॥

गारुड़े।— कृतं येन महाभाग ! तुलसीवन-रोपणम्।
मुक्तिस्तेन भवेद्दत्ता प्राणिनां विनतासुत ! ॥ ४५ ॥
तुलसी वापिता येन पुण्यारामे वने गृहे।
पक्षीन्द्र ! तेन सत्योक्तं लोकाः सप्त प्रतिष्ठिताः ॥ ४६ ॥
तुलसी-कानने यस्तु मुहूर्त्तमपि विश्रमेत्।
जन्म-कोटिकृतात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः ॥
प्रदक्षिणां यः कुरुते पठन्नाम-सहस्रकम्।
तुलसी-कानने नित्यं यज्ञायुत-फलं लभेत् ॥

हरिभक्तिसुधोदये—
नित्यं सान्निहितो विष्णुः सस्पृहस्तुलसी-वने।
अपि मे क्षतपत्रैकं कश्चिद्धन्योऽर्पयेदिति ॥

वृहन्नारदीये गङ्गा-प्रसङ्गे—
संसारपापविच्छेदि गङ्गा-नाम प्रकीर्त्तितम्।
तथा तुलस्या भक्तिश्च हरि-कीर्त्तिप्रवक्तरि ॥ ४७ ॥

भाषा टीका।

समीप देह त्याग करने पर, फिर नरक का दुःख भोगना नहीं पड़ता वरने हरि के धाम में गति मिलती है। और भी लिखा है,—हे तापस ! प्रातः समय शय्या से उठ, अन्य वस्तु न देख कर, पहिले तुलसी का दर्शन करने पर तत्काल उसके दिन-रात्रिकृत पाप नष्ट होते हैं। गरुड़पुराण में लिखा है,—हे महाभाग वैनतेय ! तुलसी-वन रोपण करने पर जीव-कुल को मुक्ति प्रदान की जाती है ॥ ॥ ४५ ॥

हे विहगवर ! मैं सत्य ही कहता हूँ,—विशुद्ध उपवन, वन अथवा घर में तुलसी रोपण करने पर, सब लोकों का स्थापित करना हो जाता है ॥ ४६ ॥

मुहूर्तमात्र तुलसी-वन में विश्राम करने पर करोड़ जन्मों का इकट्ठा किया पाप दूर होता है,—इस में सन्देह नहीं। नित्य सहस्र-नाम का पाठ करके तुलसी-वन की प्रदक्षिणा करने पर अयुत (दश हजार) यज्ञ का फल मिलता है। हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है,—"कदाचित् कोई धन्य पुरुष एक अखण्ड वा खण्ड तुलसी-पत्र मुझको प्रदान करे" हरि निरन्तर-इस अभिलाष से तुलसी-वन के समीप अधिष्ठित रहते हैं। वृहन्नारदीयपुराण के गङ्गा-माहात्म्य-प्रसङ्ग में लिखा है, यह प्रसिद्ध है कि,—जिस प्रकार गङ्गा के नामों का कीर्तन करने से सांसारिक पाप दूर होते हैं—उसी प्रकार तुलसी-नाम-कीर्तन तथा श्रीहरि के गुणों का कीर्तन करने वाले के प्रति भक्ति-प्रदर्शन करने पर भी—वही फल मिल जाता है ॥ ४७ ॥

तुलसी-काननं यत्र यत्र पद्मवनानि च ।
पुराण-पठनं यत्र तत्र सन्निहितो हरिः ॥

तत्रैव यम-भगीरथ-सम्वादे—

तुलसी-रोपणं ये तु कुर्व्वते मनुजेश्वर !
तेषां पुण्यफलं वक्ष्ये वदतस्त्वं निशामय ॥
सप्तकोटिकुलैर्युक्तो मातृतः पितृतस्तथा ।
वसेत् कल्प-शतं साग्रं नारायण-समीपगः ॥
तृणानि तुलसी-मूलात् यावन्त्यपहिनोति वै ।
तावतीर्ब्रह्महत्या हि छिनत्त्येव न संशयः ॥ ४८ ॥
तुलस्यां सिञ्चयेद्यस्तु चुलुकोदकमात्रकम् ।
क्षीरोदशायिना सार्द्धं वसेदाचन्द्रतारकम् ॥
कण्टकावरणं वापि वृतिं काष्ठैः करोति यः ।
तुलस्याः शृणु राजेन्द्र ! तस्य पुण्य-फलं महत् ॥
यावद्दिनानि सन्तिष्ठेत् कण्टकावरणं प्रभो !
कुल-त्रययुतस्तावत्तिष्ठेद्ब्रह्मपदे युगम् ॥
प्राकारकल्पको यस्तु तुलस्या मनुजेश्वर !
कुल-त्रयेण सहितो विष्णोः सारूप्यतां व्रजेत् ॥ ४९ ॥

अतएव तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

दुर्ल्लभा तुलसी-सेवा दुर्ल्लभा सङ्गतिः सताम् ।

भाषा टीका ।

जहां तुलसी-वन और कमल-वन विराजित रहता है और जिस स्थान में पुराणों का पाठ होता है, श्रीहरि–वहां वास करते हैं। इसी पुराण के यम-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है,—हे नरपते ! तुलसी रोपण करने वाले का पुण्य–फल वर्णन करता हूँ, मुझ से सुनो,—वह पुरुष सात करोड़ पितृ-कुल और सात करोड़ मातृ-कुल के पुरुषों समेत हरि के समीप कुछ अधिक सौ कल्प–तक वास करता है। तुलसी-वृक्ष की जड़ से जितने तृण उठाकर फेंके जांय—उतनी ही ब्रह्महत्या का पाप दूर होता है,—इस में सन्देह नहीं ॥ ४८ ॥

तुलसी के वृक्ष में एक चुल्लू जल सींचने से भी जब तक तारा-चन्द्र विद्यमान हैं, तब तक—वह क्षीर-समुद्र में शयन करने वाले हरि के सङ्ग वास कर सक्ता है। हे नृपेन्द्र ! काटों से वा काष्ठ-द्वारा तुलसी को सब ओर से ढक देने पर, जो महापुण्य होता है,—वह कहता हूँ-सुनों; जब तक कण्टकावरण (काटों का घेरा) विद्यमान रहता है, तब तक आवरणदाता तीन कुल के सहित ब्रह्मधाम में युगों तक वास करता है। हे नृपेन्द्र ! तुलसी के चारों ओर वेष्टन करने पर, तीन कुल के सहित हरि की सारूप्य मुक्ति लाभ होती है। उक्त ग्रन्थ के इसी स्थान में यज्ञध्वजोपाख्यान के अन्त में लिखा है कि,—संसार समुद्र में डूबे हुए मनुष्यों के पक्ष में तुलसी की सेवा, साधु ओं का सङ्ग और हरि-भक्ति;—यह तीन अत्यन्त दुर्ल्लभ हैं। अपरापर पुराणों में भी लिखा है,—दक्षिणा-प्रदान और वर लाभ कर,

दुर्ल्लभा हरि-भक्तिश्च संसारार्णवपातिनाम् ॥

पुराणान्तरेषु च—

यत् फलं क्रतुभिः स्विष्टैः समाप्तवरदक्षिणैः ।
तत् फलं कोटिगुणितं रोपयित्वा हरेः प्रियाम् ॥
तुलसीं ये प्रयच्छन्ति सुराणामर्च्चनाय वै ।
रोपयन्ति शुचौ देशे तेषां लोकोऽक्षयः स्मृतः ॥ ५० ॥

रोपितां तुलसीं दृष्ट्वा नरेण भुवि भूमिप !
विवर्णवदनो भूत्वा तल्लिपिं मार्जयेद्यमः ॥
तुलसीति च यो ब्रूयात् त्रिकालं वदने यदि ।
नित्यं स गो-सहस्रस्य फलमाप्नोति भूसुर !
तेन दत्तं हुतं जप्तं कृतं श्राद्धं गया-शिरे ।
तपस्तप्तं खगश्रेष्ठ ! तुलसी येन रोपिता ॥
श्रुताभिलषिता दृष्टा रोपिता सिञ्चिता नता ।
तुलसी दहते पापं युगान्ताग्निरिवाखिलम् ॥
केशवायतने यस्तु कारयेत्तुलसी-वनम् ।
लभते चाक्षयं स्थानं पितृभिः सह वैष्णवः ॥

अन्यत्रापि—तुलसी-कानने श्राद्धं पितॄणां कुरुते तु यः ।
गया श्राद्धं कृतं तेन भाषितं विष्णुना पुरा ॥
तुलसी-गहनं दृष्ट्वा विमुक्तो याति पातकात् ।
सर्व्वथा मुनिशार्द्दूल ! ब्रह्महा पुण्यभाग्भवेत् ॥

भाषा टीका ।

अनेक भांति के यज्ञ सम्यक् प्रकार से सम्पादन करने पर जो फल होता है, श्रीहरि-प्रिया तुलसी को रोपण करने पर, उसकी अपेक्षा करोड़ गुण फल होता है। देवता की पूजा के अर्थ तुलसी प्रदान करने वाले को और तुलसी के रोपण करने वाले को अक्षय लोक की प्राप्ति होती है ॥४९—५०॥

हे नृपते ! यदि कोई व्यक्ति पृथ्वी-तल पर तुलसी रोपण करे—तो यमराज उसके देखने से मलीनमुख होकर तदीय लिपि मार्जन करते हैं अर्थात् उसके दोष क्षमा कर देते हैं। हे द्विज ! तीनों सन्ध्या में तुलसी का नाम मुख से उच्चारण करने पर नित्य हजार गोदान का फल मिलता है। हे खगपति ! जिस पुरुष ने तुलसी को रोपण किया है,—उस के उसी कार्य्य में दान, होम, जप, गया-शिर में श्राद्ध और तपस्या समस्त सम्पादित हुई है। प्रलयकाल की अग्नि जिस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों को भस्म करती है,—वैसे ही तुलसी की महिमा-श्रवण, तुलसी की प्रार्थना, तुलसी-दर्शन, तुलसी-रोपण, तुलसी सिञ्चन और तुलसी को प्रणाम करने से सब पाप दग्ध हो जाते हैं। जो विष्णु-परायण पुरुष हरि-मन्दिर में तुलसी का वन लगाते हैं,—इनका पितरों के सङ्ग अक्षय स्थान में वास

किञ्च स्कान्दे वशिष्ठमान्धातृ-सम्वादे—

शुक्लपक्षे यदा राजन् ! तृतीया बुधसंयुता !
श्रवणेन महाभाग ! तुलसी चातिपुण्यदा ॥ इति ॥
प्रसङ्गाच्छ्रीतुलस्या हि मृदः काष्ठस्य चाधुना ।
माहात्म्यं लिख्यते कृष्णे अर्पितस्य दलस्य च ॥

अथ श्रीतुलसी-मृत्तिका-काष्ठादि-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

भूगतैस्तुलसी-मूलैर्मृत्तिकास्पर्शिता तु या ।
तीर्थ-कोटि-समा ज्ञेया धार्य्या यत्नेन सा गृहे ॥
यस्मिन् गृहे द्विजश्रेष्ठ ! तुलसी-मूलमृत्तिका ।
सर्व्वदा तिष्ठते देहे देवता न स मानुषः ॥
तुलसी-मृत्तिकालिप्तो यदि प्राणान् परित्यजेत् ।
यमेन नेक्षितुं शक्तो युक्तः पाप-शतैरपि ॥
शिरसि क्रियते यैस्तु तुलसीमूल-मृत्तिका ।
विघ्नानि तस्य नश्यन्ति सानुकूला ग्रहास्तथा ॥ ५१ ॥
तुलसी-मृत्तिका यत्र काष्ठं पत्रञ्च वेश्मनि ।
तिष्ठते मुनिशार्दूल ! निश्चलं वैष्णवं पदम् ॥ ५२ ॥

भाषा टीका ।

होता है। अन्यत्र भी लिखा है,—श्रीविष्णु ने स्वयं कहा है,—तुलसी-वन में पितृ-श्राद्ध करने से गयाश्राद्ध सम्पन्न होता है। हे तापस-प्रवर ! मनुष्य-गण तुलसी-वन का दर्शन करने पर सम्पूर्ण पापों से सम्यक् प्रकार छूट जाते हैं और ब्रह्मघाती पुरुष भी पवित्र होता है। स्कन्द-पुराण के वशिष्ठ-मान्धाता-सम्वाद में लिखा है,—हे राजन् ! बुधवार युक्त श्रावणी शुक्ल तृतीया में तुलसी-रोपण करने पर, यह देवी अतिशय पुण्यदायिनी होती हैं,—प्रसङ्ग के कारण अब श्रीहरि को तुलसी-मृत्तिका, तुलसी-काष्ठ-चन्दन और तुलसी-दल प्रदान करने का माहात्म्य वर्णन करता हूँ।

श्रीतुलसी-मृत्तिका-काष्ठादि का माहात्म्य ।—स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद सम्वाद में लिखा है,—मृत्तिका के भीतर प्रविष्ट तुलसी की जड़ जिस मिट्टी में संलग्न हुई है,—वह करोड़ तीर्थ के समान है, यह मिट्टी अत्यन्त यत्न-सहित धारण करनी चाहिये। हे विप्रसत्तम ! जिस पुरुष के घर और जिस के अङ्ग में तुलसी-मूल की मृत्तिका विद्यमान रहती है,—उसको देव-स्वरूप जानना चाहिये,—वह मनुष्य नहीं हैं। अङ्ग में तुलसी-मृत्तिका-लेपन पूर्वक जीवन त्याग करने पर, सैंकड़ो पापों में लिप्त पुरुष के प्रति भी यमराज दृष्टि डालने में समर्थ नहीं होते। तुलसी मूल की मिट्टी मस्तक पर धारण करने से सम्पूर्ण विघ्न दूर होते हैं और ग्रह-गण उनके प्रति प्रसन्न रहते हैं ॥ ५१ ॥

हे ऋषिप्रवर ! जिस घर में तुलसी-मृत्तिका, तुलसी-काष्ठ और तुलसी-पत्र विराजित रहता है,—वह घर निःसन्देह हरि की वास भूमि है ॥ ५२ ॥

तत्रैवान्यत्रामङ्गलार्थञ्च दोषघ्नीं पवित्रार्थं द्विजोत्तम !
तुलसी-मूलसंलग्नां मृत्तिकामावहेद्बुधः ॥
तन्मूलमृत्तिकां यो वै धारयिष्यति मस्तके ॥
तस्य तुष्टो वरान् कामान् प्रददाति जनार्द्दनः ॥ ९३ ॥

बृहन्नारदीये गङ्गा-प्रसङ्गे—
तुलसी-मूलसम्भूता हरिभक्त-पदोद्भवा ।
गङ्गोद्भवा च मृल्लेखा नयन्त्यच्युत-रूपताम् ॥ ९४ ॥

गारुड़े ।— यद्गृहे तुलसी-काष्ठं पत्रं शुष्कमथार्द्रकम् ।
भवते नैव पापं तद्गृहे संक्रमते कलौ ॥

श्रीप्रह्लादसंहितायां, तथा विष्णुधर्म्मोत्तरेऽपि—
पत्रं पुष्पं फलं काष्ठं त्वक्-शाखा-पल्लवाङ्कुरम् ।
तुलसी-सम्भवं मूलं पावनं मृत्तिकाद्यपि ॥
होमं कुर्व्वन्ति ये विप्रास्तुलसीकाष्ठ-वह्निना ।
लवे लवे भवेत् पुण्यमग्निष्टोमशतोद्भवम् ॥
नैवेद्यं पचते यस्तु तुलसीकाष्ठ-वह्निना ।
मेरु-तुल्यं भवेदन्नं तद्दत्तं केशवाय हि ॥
शरीरं दह्यते येषां तुलसीकाष्ठ-वह्निना ।
न तेषां पुनरावृत्तिर्विष्णु-लोकात् कथञ्चन ॥

भाषा टीका ।

इसी पुराण के दूसरे स्थान में लिखा है,—हे विप्र-सत्तम ! बुद्धिमान् पुरुष को मङ्गल लाभ और शुद्धि विधान के लिये दोषहारिणी तुलसी-मूल की मृत्तिका मस्तक पर धारण करने से जनार्द्दन प्रसन्न होकर उसके मन की अभिलाषा पूर्ण कर देते हैं ॥ ५३ ॥

बृहन्नारदीयपुराण के गङ्गा माहात्म्य प्रसङ्ग में लिखा है,—तुलसी मूल की मिट्टी, वैष्णवों की पद-लग्न मिट्टी और गङ्गा की मिट्टी देह में तिलकादि-रूप से धारण करने पर—वह पुरुष साक्षात् हरि के स्वरूप में गिना जा सकता है ॥ ५४ ॥

गरुड़पुराण में लिखा है,—कलिकाल में, क्या—नीरस, क्या—सरस,—जिस किसी प्रकार का तुलसी-काष्ठ वा तुलसी-पत्र घर में विद्यमान होने पर—वहां पातक नहीं घुस सकता। प्रह्लादसंहिता और विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है,—तुलसी का पत्र, फूल, फल, काष्ठ, वल्कल, शाखा, पल्लव, अङ्कुर, मूल और मृत्तिका समस्त ही विशुद्ध हैं। जो ब्राह्मण तुलसी-काष्ठ की अग्नि में आहुति देते हैं,—प्रतिलव में उनको सौ अग्निष्टोम-यज्ञ का फल मिलता है। तुलसी-काष्ठ की अग्नि में नैवेद्य अन्न राँध कर हरि को निवेदन करने पर—वह अन्न सुमेरु की समान होता है। जिन पुरुषों का देह तुलसी काष्ठ की अग्नि में भस्म होता है,—उनको फिर किसी समय भी हरि-धाम से पुनर्वार (संसार में) लौटना नहीं पड़ता। मरने के पीछे तुलसी-काष्ठाग्निद्वारा देह को दाह करने पर, अगम्या-गमनादि महापापों में लिपटा हुआ पापी भी

ग्रस्तो यदि महापापैरगम्या-गमनादिकैः ।
मृतः शुद्ध्यति दाहेन तुलसीकाष्ठ-वह्निना ॥
तीर्थं यदि न सम्प्राप्तं स्मृतिर्व्वा कीर्त्तनं हरेः ।
तुलसी-काष्ठदग्धस्य मृतस्य न पुनर्भवः ॥
यद्येकं तुलसी-काष्ठं मध्ये काष्ठ-चयस्य हि ।
दाह-काले भवेन्मुक्तिः पापकोटि-युतस्य च ॥
जन्मकोटि-सहस्रैस्तु तोषितो यैर्जनार्द्दनः ।
दह्यन्ते ते जना लोके तुलसीकाष्ठ-वह्निना ॥

अगस्त्यसंहितायाम्—
यः कुर्य्यात्तुलसी-काष्ठैरक्षमालां सुरूपिणीम् ।
कण्ठमालाञ्च यत्नेन कृतं तस्याक्षयं भवेत् ॥

अथ तुलसीपत्र-धारण-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—
यस्य नाभिस्थितं पत्रं मुखे शिरसि कर्णयोः ।
तुलसीसम्भवं नित्यं तीर्थैस्तस्य मखैश्च किम् ॥

तत्रैवान्यत्र ।—शत्रुघ्नञ्च सुपुण्यञ्च श्रीकरं रोग-नाशनम् ।
कृत्वा धर्म्ममवाप्नोति शिरसा तुलसी-दलम् ॥ ५५ ॥
यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी ।
पुनाति सकलान् लोकान् शिरसा तुलसीं वहन् ॥

भाषा टीका ।

इन इन पापों से रक्षा पाता है। जो पुरुष कभी तीर्थ में नहीं गया, हरि को स्मरण अथवा हरि के गुणों को कीर्त्तन नहीं किया, मरने के पीछे तुलसी-काष्ठ की अग्नि से देह दाह करने पर—उस पुरुष को भी फिर पृथ्वी में देह धारण करना नहीं पड़ता। देह दाह करने के समय अन्यान्य काष्ठों के सङ्ग केवल तुलसी-काष्ठ का एक टुकड़ा होने पर भी करोड़ों पापों में पापी मृत पुरुष, पातक-समूह से रक्षा पाता है। एकादि क्रम से हजार करोड़ जन्म-तक हरि को प्रसन्न करने पर, तब भाग्य से तुलसी-काष्ठ की अग्नि में देह दाह होता है। अगस्त्यसंहिता में लिखा है कि,—तुलसी-काष्ठ-द्वारा मनोहर जप-माला और कण्ठ-माला बना कर पूजादि करने से—वह अक्षय होती है॥

अब तुलसी के पत्र धारण करने का माहात्म्य कहते हैं।—स्कन्द-पुराण के श्रीब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—जिस पुरुष की नाभि में, वदन में, मस्तक में और दोनों कानो में नित्य (भगवन्निवेदित) तुलसी-पत्र विराजित रहता है,—उसको फिर तीर्थ में जाने का क्या प्रयोजन है? अथवा यज्ञानुष्ठान करने की ही क्या आवश्यकता है? इसी पुराण के दूसरे स्थान में भी लिखा है कि,—तुलसी-दल शत्रु-नाशक, पुण्यकारक, सौभाग्यजनक और रोग को हरने वाला है। उसको शिर पर धारण करने से धर्म्म लाभ होता है॥ ५५॥

मिथ्याचारवान् और आश्रम-धर्म्मभ्रष्ट होकर भी मस्तक पर तुलसी धारण करने से—वह वैष्णव त्रिभुवन को पवित्र करने में समर्थ होता है। बृहन्नारदीय-

बृहन्नारदीये श्रीयम-भगीरथ-सम्वादे—

कर्णेन धारयेद्यस्तु तुलसीं सततं नरः।
तत्काष्ठं वापि राजेन्द्र ! तस्य नास्त्युपपातकम् ॥

हरिभक्तिसुधोदये वैष्णवविप्रं प्रति यमदूतानामुक्तौ—

कस्मादिति न जानीमस्तुलस्या हि प्रियो हरिः।
गच्छन्तं तुलसीहस्तं रक्षन्नेवानुगच्छति ॥ ५६ ॥

पुराणान्तरे च—

यः कृत्वा तुलसी-पत्रं शिरसा विष्णुतत्परः।
करोति धर्म्मकार्य्याणि फलमाप्नोति चाक्षयम् ॥ ५७ ॥

अथ तुलसीभक्षण-माहात्म्यम् ।

गरुड़पुराणे—

मुखे तु तुलसी-पत्रं दृष्ट्वा शिरसि कर्णयोः।
कुरुते भास्करिस्तस्य दुष्कृतस्य तु मार्जनम् ॥
त्रिकालं विनता-पुत्र ! प्राशयेत्तुलसीं यदि।
विशिष्यते काय-शुद्धिश्चान्द्रायणशतं विना।

स्कान्दे श्रीवशिष्ठ-मान्धातृ-सम्वादे—

चान्द्रायणात्तप्तकृच्छ्रात् ब्रह्मकूर्च्चात् कुशोदकात् ॥
विशिष्यते काय-शुद्धिस्तुलसीपत्र-भक्षणात् ॥ ५८ ॥
तथा च तुलसी-पत्र-भक्षणाद्भाववर्जितः।

भाषा टीका।

पुराण के यम-भगीरथ-सम्वाद में वर्णित है कि,—हे नृपसत्तम ! सदा कर्णमूल में तुलसी-दल वा तुलसी-काष्ठ धारण करने पर, किसी प्रकार का उपपातक विद्यमान नहीं रहता। हरिभक्तिसुधोदय में वैष्णव ब्राह्मण के प्रति यम-दूतों की उक्ति में है,—तुलसी किस कारण से हरि की प्यारी हैं,—यह नहीं जानते, तुलसी हाथ में लेकर गमन करने पर, हरि उसकी रक्षा के निमित्त पीछे पीछे गमन करते हैं ॥ ५६ ॥

पुराणान्तर में भी लिखा है,—मस्तक-पर तुलसी धारणपूर्वक धर्म्म कार्य्य का अनुष्ठान करने से—उस वैष्णव के सम्पूर्ण कार्य्य अक्षय फलके देन वाले होते हैं ॥ ५७ ॥

अब तुलसी-दल के भक्षण करने का माहात्म्य लिखा जाता है।—गरुड़पुराण में लिखा है कि,—यमराज जिस पुरुष के वदन में, शिर में और कानों में तुलसी-दल देखते हैं,—उस के पाप दूर कर देते हैं। हे वैनतेय ! सौ चान्द्रायण न करके भी तीनों सन्ध्या में तुलसी-दल भक्षण-द्वारा उसकी अपेक्षा अधिकतर देह शुद्ध होता है। स्कन्दपुराण के वशिष्ठ-मान्धाता-सम्वाद में लिखा है कि,—तुलसीदल-भक्षणद्वारा चान्द्रायण, तप्तकृच्छ्र, ब्रह्मकूर्च्च और कुशोदक व्रत से भी अधिक शरीर की शुद्धि होती है ॥ ५८ ॥

कहा है कि,—तुलसी-दल भक्षण करने पर देह के अन्त में भक्तिहीन पापी को भी शुभगति मिलती है। स्कन्द-पुराण में ब्रह्माकर्त्तृक नारद के प्रति कथित अमृतसारो-

पापोऽपि सद्गतिं प्राप्त इत्येतदपि विश्रुतम् ॥

तथा च स्कान्दे श्रीब्रह्मणा नारदं प्रति कथिते अमृतसारोद्धारे लुब्धकोपाख्यानान्ते यमदूतान् प्रति श्रीविष्णुदूतानां वचनम् —

क्षीराब्धौ मथ्यमाने हि तुलसी कामरूपिणी।
उत्पादिता महाभागा लोकोद्धारण-हेतवे ॥
यस्याः स्मरणमात्रेण दर्शनात् कीर्त्तनादपि।
विलयं यान्ति पापानि किं पुनर्विष्णु-पूजनात् ॥
जातरूपमयं पुष्पं पद्मरागमयं शुभम्।
हित्वा तु रत्न-जातानि गृह्णाति तुलसी-दलम् ॥
भक्षितं लुब्धकेनापि पत्रं तुलसि-सम्भवम्।
पश्चाद्दिष्टान्तमापन्नो भस्मीभूतं कलेवरम् ॥ ५९ ॥
सितासितं यथा नीरं सर्व्वपाप-क्षयावहम्।
तथा च तुलसी-पत्रं प्राशितं सर्व्वकामदम् ॥
यथा जातवलो वह्निर्दहते काननादिकम्।
प्राशितं तुलसी-पत्रं तथा दहति पातकम् ॥
यथा भक्तिरतो नित्यं नरो दहति पातकम्।
तुलसी-भक्षणात्तद्वद्दहते पाप-सञ्चयम् ॥
चान्द्रायण-सहस्रस्य पराकाणां शतस्य च।
न तुल्यं जायते पुण्यं तुलसी-पत्र-भक्षणात् ॥
कृत्वा पाप-सहस्राणि पूर्व्वे वयसि मानवः।

भाषा टीका।

द्वार प्रसङ्ग में लुब्धकोपाख्यान के पीछे यमदूतों के प्रति विष्णु-दूतों की उक्ति है कि,—क्षीर-समुद्र मथने के समय जनों की रक्षा करने के अर्थ कामरूपा महाभागा तुलसी समुत्थित हुई थीं, जब तुलसी के स्मरण, दर्शन, और माहात्म्य वर्णन-द्वारा पाप नष्ट होते हैं, तब हरि की पूजा का माहात्म्य और क्या वर्णन करूँ? काञ्चनपुष्प, पद्मरागमणिमय पुष्प और अनेक प्रकार के रत्न;—इन सब को ग्रहण न करके हरि तुलसी-दल ग्रहण करते हैं। तुलसी-दल भक्षणपूर्वक अन्त काल में देह त्याग करने पर, व्याध का भी देह एकवार भस्मीभूत हो-जाता है ॥ ५९ ॥

शुक्ल और कृष्णवर्ण गङ्गा-यमुना का जल जिस प्रकार सब पापों को दूर करता है,—ऐसे ही तुलसी-दल भक्षण करने से भी समस्त कामना पूर्ण होती हैं। प्रवल अग्नि से वनादि भस्म होने की समान तुलसी-दल भक्षण से सम्पूर्ण पाप भस्म होते हैं। प्रतिदिन हरि-भक्ति में निरत रहने से जिस प्रकार पाप ध्वंश होते हैं,—वैसे ही तुलसी-दल भक्षण करने से भी सञ्चित सब पाप नष्ट होते हैं। हजार चान्द्रायण और शत पराक-व्रत का पुण्य भी तुलसी-पत्र-भक्षणजनित पुण्य की सदृश नहीं है। पहिले हरि के मुख से सुना है,—

तुलसी-भक्षणान्मुच्येत् श्रुतमेतत् पुरा हरेः ॥ ६० ॥
तावत्तिष्ठन्ति पापानि देहिनां यम-किङ्कराः ।
यावन्न तुलसी-पत्रं मुखे शिरसि तिष्ठति ॥
अमृताद्‌त्थिता धात्री तुलसी विष्णु-वल्लभा ।
स्मृता संकीर्त्तिता ध्याता प्राशिता सर्व्वकामदा ॥

तत्रैव श्रीयमं प्रति श्रीभगवद्वाक्यम्—

धात्री-फलञ्च तुलसी मृत्यु-काले भवेद्यदि ।
मुखे यस्य शिरे देहे दुर्गतिर्नास्ति तस्य वै ॥ ६१ ॥
युक्तो यदि महापापैः सुकृतं नार्ज्जितं क्वचित् ।
तथापि गीयते मोक्षस्तुलसी भक्षिता यदि ॥
लुब्धकेनात्म-देहेन भक्षितं तुलसी-दलम् ।
सम्प्राप्तो मत्पदं नूनं कृत्वा प्राणस्य संक्षयम् ॥

पुराणान्तरे च—

उपोष्य द्वादशीं शुद्धां पारणे तुलसी-दलम् ।
प्राशयेद्यदि विप्रेन्द्र ! अश्वमेधाष्टकं लभेत् ॥ इति ॥ ६२ ॥
तथैव तुलसी-स्पर्शात् कृष्ण-चक्रेण रक्षितः ।
ब्रह्मबन्धुरिति ख्यातो हरिभक्तिसुधोदये ॥

अतएवोक्तम्—

किञ्चित्रमस्याः पतितं तुलस्या दलं जलं वा पतितं पुनीते ।

भाषा टीका ।

प्रथम अवस्था में हजार पाप करके अन्त में तुलसी-दल भक्षण करने पर सब पापों से रक्षा मिलती है ॥६०॥

हे यमदूतगण ! जब तक मनुष्य के वदन में तुलसी-दल विराजित नहीं होता,—तब तक उसके देह में पाप विद्यमान रहता है । अमृत से उत्पन्न धात्री और हरि-प्रिया (तुलसी)—इन दोनों का स्मरण, कीर्त्तन, चिन्तन और भक्षण करने से—वह समस्त कामना देती हैं । स्कन्दपुराण में यम के प्रति भगवान् की उक्ति है कि,—मरने के समय वदन में, शिरोदेश में और देह में धात्री-फल एवं तुलसी विद्यमान होने से कभी उसको दुर्गति भोगनी नहीं पड़ती ॥ ६१ ॥

जिस पुरुष ने किसी समय कुछ पुण्य-सञ्चय नहीं किया और जो सम्पूर्ण महापापों में लिप्त है, तुलसी-पत्र भक्षण करने से उनको भी मुक्ति प्राप्त होती है । व्याध ने अपने देह से तुलसी-दल भक्षण करके प्राण-त्याग करने पर निःसन्देह मेरे लोक में गमन किया है । अन्यपुराण में भी लिखा है कि,—हे विप्र-सत्तम ! पवित्र द्वादशी तिथि में उपवासी रह कर पारणा के दिन तुलसी-दल भक्षण करने से आठ अश्व-मेध यज्ञ के अनुष्ठान करने का फल मिलता है ॥६२॥

"इसी प्रकार ब्रह्मबन्धु तुलसी-दलस्पर्श से हरि-चक्र के द्वारा रक्षित हुआ,"—यह हरिभक्तिसुधोदय ग्रन्थ में प्रसिद्ध है । अतएव कहा है,—तुलसी

लग्नाधिभालस्थलमालवाल-मृत्स्नापि कृत्स्नाघविनाशनाय॥ इति ॥ ६३ ॥

श्रीमत्तुलस्याः पत्रस्य माहात्म्यं यद्यपीदृशम् ।
तथापि वैष्णवैस्तत्र ग्राह्यं कृष्णार्पणं विना ॥ ६४ ॥

तथा च वायुपुराणे—

अस्पृष्टां विष्णु-पादेन चान्यदेवसमर्पिताम् ।
भक्षयन्ति दुरात्मानस्तुलसीं पापकारिणः ॥ इति ॥
कृष्ण-प्रियत्वात् सर्व्वत्र श्रीतुलस्याः प्रसङ्गतः ।
संकीर्त्त्यमानं धात्र्याश्च माहात्म्यं लिख्यतेऽधुना ॥

अथ धात्री-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

धात्रीच्छायां समाश्रित्य योऽर्च्चयेच्चक्रपाणिनम् ।
पुष्पे पुष्पेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥

तत्रैवाग्रे।—धात्रीच्छायान्तु संस्पृश्य कुर्य्यात् पिण्डं तु यो मुने !
मुक्तिं प्रयान्ति पितरः प्रसादान्माधवस्य च ॥
मूर्द्ध्नि घ्राणे मुखे चैव देहे च मुनिसत्तम !
धत्ते धात्री-फलं यस्तु स महात्मा सुदुर्ल्लभः ॥ ६५ ॥
धात्री-फलविलिप्ताङ्गो धात्री-फल विभूषितः ।
धात्री-फलकृताहारो नरो नारायणो भवेत् ॥

भाषा टीका ।

का आश्चर्य्यदायक माहात्म्य और अधिक क्या कहूँ? उसका गिरा हुआ दल और स्खलित जल—पवित्रकारक है एवं तुलसी-मूलगत मृत्तिका ललाट में लगने से सब पाप दूर हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

तुलसी-दल का माहात्म्य इस प्रकार होने पर भी, वैष्णव-गण श्रीहरि को विना प्रदान किये-उसको कभी ग्रहण न करें ॥ ६४ ॥

वायुपुराण में इस प्रकार भी लिखा है,—श्रीविष्णु-पादपद्म से अस्पृष्ट और श्रीहरि के विना अन्य देवताओं को समर्पित तुलसी जो दुरात्मा भक्षण करे,-वह पाप में लिप्त होते हैं।
श्रीहरि का प्रिय होने के कारण तुलसी-प्रसङ्ग में सर्वत्र आमलकी-माहात्म्य भी कहा गया है, सुतरां अब आमलकी-माहात्म्य लिखा जाता है।

आमलकी-माहात्म्य।—स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है,—धात्री-वृक्ष की छाया का आश्रय लेकर चक्रपाणि हरि की पूजा करने से प्रति पुष्प में अश्वमेध का फल मिलता है । उक्त पुराण में इस स्थान के कुछ आगे लिखा है,—हे तापस ! आमलकी की छायास्पर्श-पूर्वक पिण्ड देने पर, श्रीहरि की प्रीति के कारण पितृ-गण मुक्ति को प्राप्त होते हैं। हे तापसप्रवर ! शिर में, नासिका में, वदन में और हस्त इत्यादि अङ्गों में धात्री-फल धारण करने वाले महात्मा अत्यन्त दुर्ल्लभ हैं ॥ ६५ ॥

मनुष्य, धात्री-फल अङ्ग में लेपन करने से, धात्री-फलरूप भूषण धारण करने से और धात्री-फल भोजन करने से नारायण की समान होता है ।

यः कश्चिद्वैष्णवो लोके धत्ते धात्री-फलं मुने !
प्रियो भवति देवानां मनुष्याणान्तु का कथा ॥
यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽपि दुष्टधीः ।
पुनाति सकलाँल्लोकान् धात्री-फलदलान्वितः ॥
धात्री-फलानि यो नित्यं वहते कर-सम्पुटे ।
तस्य नारायणो देवो वरमेकं प्रयच्छति ॥
धात्री-फलञ्च भोक्तव्यं कदाचित् करसम्पुटात् ।
यशः श्रियमवाप्नोति प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥
धात्री-फलञ्च तुलसी-मृत्तिका द्वारकोद्भवा ।
सफलं जीवितं तस्य त्रितयं यस्य वेश्मनि ॥ ६६ ॥

धात्री-फलन्तु संमिश्रं तुलसी-दलवासितम् ।
पिवते वहते यस्तु तीर्थकोटि-फलं लभेत् ॥
यस्मिन् गृहे भवेत्तोयं तुलसी-दलवासितम् ।
धात्री-फलैश्च विप्रेन्द्र ! गाङ्गेयैः किं प्रयोजनम् ? ॥
तुलसी-दलनैवेद्यं धात्र्या यस्य फलं गृहे ।
कवचं वैष्णवं तस्य सर्व्वपापविनाशनम् ॥

ब्रह्मपुराणे च—

धात्री-फलानि तुलसी ह्यन्तकाले भवेद्यदि ।
मुखे चैव शिरस्यङ्गे पातकं नास्ति तस्य वै ॥ इति ॥ ६७ ॥

भाषा टीका ।

हे ऋषे! संसारमें धात्री-फल धारण करने पर, मनुष्य की वात तो दूर है, वह वैष्णव देवता ओं का भी प्रिय होता है। यदि कोई वैष्णव, भ्रष्टाचार अथवा दुष्टबुद्धि होकर भी धात्री-फल वा धात्री-पत्र धारण करता है,—वह सव लोकों को पवित्र करता है। नित्य अञ्जलि में धात्री-फल धारण करने पर श्रीहरि उसके प्रति प्रसन्न होकर एक वर देते हैं । भोजनयोग्य—धात्री-फल अञ्जलि में भोजन करने पर, देव-देव चक्रधारी के प्रसाद से यशः और सम्पद् प्राप्त होती है। आमलकी-फल, तुलसी और गोपीचन्दन;—यह तीन वस्तु जिस के घर में विद्यमान रहती है,—वह गृहस्थ का जीवन सार्थक है ॥ ६६ ॥

धात्री-फलयुक्त और तुलसी-दलवासित जल-पान और वहन करने पर, करोड़ तीर्थों का फल मिल जाता है । हे विप्रसत्तम ! तुलसी-दलवासित और धात्रीफलयुक्त जल घर में विद्यमान होने पर, फिर उस घर में गङ्गा-जल की क्या आवश्यकता है ? तुलसी-पत्रयुक्त नैवेद्य और धात्री-फल जिसके गृह में विद्यमान रहे—वह गृह उसका वैष्णवकवच-स्वरूप है,—उसके द्वारा सव पाप दूर होते हैं । ब्रह्मपुराण में भी कहा है कि,—मरण-समय वदन, मस्तक और देह में आमलकी-फल (आंवला) और तुलसी-दल विद्यमान होने पर, फिर निःसन्देह उसके देह में पाप नहीं रहता ॥ ६७ ॥

कृत्वा तु भगवत्पूजां न तीर्थे स्नानमाचरेत्।
न च देवालयोपेताऽस्पृश्य-संस्पर्शनादिना ॥ ६८ ॥

अथ स्नाननिषेध-कालः।

स्मृत्यर्थसारे—

न स्नायादुत्सवे तीर्थे माङ्गल्यं विनिवर्त्त्य च।
अनुव्रज्य सुहृद्बन्धूनर्च्चयित्वेष्टदेवताम् ॥ ६९ ॥

विष्णुस्मृतौ च—

विष्ण्वालय-समीपस्थान् विष्णु-सेवार्थमागतान्।
चाण्डालान् पतितान् वापि स्पृष्ट्वा न स्नानमाचरेत् ॥
देवयात्रा-विवाहेषु यज्ञोपकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्व्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥ ७० ॥
एवं प्रातः समभ्यर्च्य श्रीकृष्णं तदनन्तरम्।
शास्त्राभ्यासं द्विजः शक्त्या कुर्य्याद्विप्रो विशेषतः ॥ ७१ ॥

यदुक्तम्।—श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते।
एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः ॥

किञ्च कौर्म्मे व्यासगीतायाम्—

योऽन्यत्र कुरुते यत्नमनधीत्य श्रुतिं द्विजाः!
स संमूढ़ो न सम्भाष्यो वेद-बाह्यो द्विजातिभिः ॥

भाषा टीका।

भगवान् की पूजा करके तीर्थ-जल में (भी) स्नान न करे और देव-मन्दिर में उपस्थित नीच-जाति का स्पर्श आदि * होने पर भी स्नान न करे ॥ ६८ ॥

अब स्नान का निषिद्ध काल कहा जाता है।—स्मृत्यर्थसार में लिखा है,—उत्सव में, माङ्गलिक कार्य्य-साधन करने पर, सुहृद् और बन्धुजनों का अनुगमन करके और अभीष्ट देवता की पूजा करके जल में स्नान निषिद्ध है ॥ ६९ ॥

विष्णुस्मृति में भी लिखा है कि,—हरि-मन्दिर के निकटवर्त्ती और हरि की सेवा के लिये उपस्थित चाण्डाल वा पतित पुरुषों का स्पर्श करके स्नान करना निषिद्ध है। देव-यात्रा, विवाह, यज्ञोपकरण और उत्सव;–इन सब के समय नीच-जाति का स्पर्श होने पर भी अस्पृश्य दोष नहीं होता ॥ ७० ॥

तीनों वर्ण, विशेषतः ब्राह्मण-जाति—इस प्रकार प्रातःकाल में श्रीहरि की पूजा करके फिर शास्त्र का अभ्यास करें ॥ ७१ ॥

इसके कारण कहा है कि,—ब्राह्मणजाति के नेत्र दो हैं,—'श्रुति' और 'स्मृति'—इन में एक भी न होने से उसको काणा कहते हैं और दोनों न होने से अन्धा कहा जाता है। और भी कूर्म्मपुराण की व्यास-

---

* "आदि" शब्द प्रयोग के कारण—जिस किसी स्थल में ही क्यों न हो–भगवान् के पूजादि उत्सव में आये हुए नीच-जाति का स्पर्श होने पर भी स्नान न करे।

न वेद-पाठमात्रेण सन्तुष्येदेष वै द्विजाः !
यथोक्ताचारहीनस्तु पङ्के गौरिव सीदति ॥
योऽधीत्य विधिवद्वेदं वेदार्थं न विचारयेत् ।
स चान्धः शूद्रकल्पस्तु पदार्थं न प्रपद्यते ॥ इति ॥ ७२ ॥
अतोऽधीत्यान्वहं विद्वानथाध्याप्य च वैष्णवः ।
समर्प्य तच्च कृष्णाय यतेत निज-वृत्तये ॥ ७३ ॥
वृत्तौ सत्याञ्च शृणुयात् साधून् सङ्गत्य सत्कथाम् ॥ ७४ ॥

अथ वृत्तिसम्पादनम् ।

सप्तमस्कन्धे—

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्व-वृत्त्या कदाचन ॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतन्तु नित्यं याच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
सत्यानृतन्तु वाणिज्यं श्व-वृत्तिर्नीच-सेवनम् ।
आत्मनो नीचलोकानां सेवनं वृत्ति-सिद्धये ॥
नितरां निन्द्यते सद्भिर्वैष्णवस्य विशेषतः ।
तदुक्तं ।— सेवा श्व-वृत्तिर्यैरुक्ता न सम्यक् तैरुदाहृतम् ॥
स्वच्छन्दचरितः क्व श्वा विक्रीतासुः क्व सेवकः ।
पणीकृत्यात्मनः प्राणान् ये वर्त्तन्ते द्विजाधमाः ॥

भाषा टीका।

गीता में लिखा है,—हे विप्रगण ! वेद-पाठ न करके अन्य विषय में यत्नवान् होने पर—उसको अत्यन्त मूढ़ और वेदबहिर्भूत कहा जाता है, ब्राह्मण-गण उसके सङ्ग बात चीत न करें। हे ब्राह्मण-गण ! केवलमात्र वेदाध्ययन करके ही प्रीति प्राप्त न करें, यथाविहित आचार से भ्रष्ट होने पर, कीच में गिरी गाय के समान दुःख पाना पड़ता है। वेद के अर्थ का विचार न करके विधिपूर्वक वेद पाठ करने पर भी—उसको अन्धा और शूद्र की समान जानना चाहिये, सुतरां —वह पुरुष पदार्थ लाभ नहीं कर सकता ॥ ७२ ॥

इस कारण नित्य वेद पाठ करे, शास्त्रवेत्ता होने पर, शिष्य को अध्ययन कराय के और वैष्णव होने पर, अध्ययन और अध्यापना श्रीहरि को अर्पण-पूर्वक अपनी जीविका के लिये यत्नवान् होना चाहिये । जीविका रहने से साधुपुरुषों का सङ्ग कर, श्रीविष्णु और वैष्णवाश्रिता कथा सुने ॥ ७३—७४ ॥

अब वृत्तिसम्पादन कहते हैं ।—श्रीमद्भागवत के सप्तम-स्कन्ध में लिखा है,—हे नृपते ! ब्राह्मण के पक्ष में जो चार वृत्ति कही गई हैं,—उस में सभी जाति 'ऋत' और 'अमृत' द्वारा, 'मृत' और 'प्रमृत' द्वारा वा 'सत्य' और अनृत द्वारा जीविका निर्वाह कर सकता है। किन्तु जीविका के अर्थ श्व-वृत्ति अवलम्बन न करे। हे नरपते ! 'ऋत' शब्द से 'उञ्छ' और 'शिल' समझा जाता है, 'अमृत' शब्द से 'अयाचित,' 'मृत' शब्द से 'नित्ययाच्ञा,' 'प्रमृत' शब्द से 'कृषि', 'सत्यानृत'

तेषां दुरात्मनामन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणञ्चरेत् ॥ इति ॥
शुक्लवृत्तेरसिद्धौ च भोज्यान्नान् शूद्रवर्गतः।
तथैव ग्राह्याग्राह्याणि जानीयाच्छास्त्रतो बुधः ॥
शुक्लवृत्तिश्च।

श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे तृतीयकाण्डे—

प्रतिग्रहेण यल्लब्धं याज्यतः शिष्यतस्तथा।
गुणान्वितेभ्यो विप्रस्य शुक्लं तत्त्रिविधं स्मृतम् ॥
युद्धोपकाराल्लब्धञ्च दण्डाच्च व्यवहारतः।
क्षत्रियस्य धनं शुक्लं त्रिविधं परिकीर्त्तितम् ॥
कृषि-वाणिज्य-गोरक्षाः कृत्वा शुक्लं तथा विशः।
द्विज-शुश्रूषया लब्धं शुक्लं शूद्रस्य कीर्त्तितम् ॥
क्रमागतं प्रीतिदानं प्राप्तञ्च सह-भार्य्यया।
अविशेषेण सर्व्वेषां धनं शुक्लं प्रकीर्त्तितम् ॥

अथ ग्राह्याग्राह्याणि।

कौर्म्मे तत्रैव—

नाद्याच्छूद्रस्य विप्रोऽन्नं मोहाद्वा यदि कामतः।
स शूद्र-योनिं व्रजति यस्तु भुङ्क्ते ह्यनापदि ॥

भाषा टीका।

शब्द से 'वाणिज्य' और 'श्व-वृत्ति' शब्द से 'हीन-जाति की सेवा' समझना चाहिये। सज्जनों ने जीविका-निर्वाह करने के लिये अपने से नीच पुरुष की सेवा ही निन्दा कही जाती है। विशेष कर वैष्णवों के पक्ष में निन्दनीय है। इस विषय में कहा है,—जिन पुरुषों ने सेवा को 'श्व-वृत्ति' कहा है,—वे भली भांति नहीं कहते। इच्छानुसार विचरने वाला कुत्ता कहाँ? और प्राण-विक्रयी सेवक कहाँ? अर्थात् इन दोनों की परस्पर तुलना होनी असम्भव है। जो ब्राह्मणाधम अपने प्राण को पण (विक्रेय वस्तु) करके जीविका चलाते हैं,—उन पापात्माओं का अन्न भोजन करने पर, चान्द्रायण प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना पड़ता है। शुक्ल (पवित्र) वृत्ति की असिद्धि में जिन शूद्रों का अन्न ग्रहण कर सकता है-उनसे अन्न ग्रहण करना चाहिये। बुद्धिमानों को सब शास्त्र से इसी प्रकार ग्रहण और अग्रहण समझना चाहिये

अब 'शुक्लवृत्ति' अर्थात् पवित्र जीविका कही जाती है।—विष्णुधर्म्मोत्तर के तीसरे काण्ड में लिखा है,—गुणान्वित जनों से प्रतिग्रह द्वारा लब्ध, यजमान के निकट से प्राप्त और शिष्य से लब्ध; ब्राह्मण के पक्ष में—यह तीन प्रकार की शुक्ल (पवित्र) जीविका निर्दिष्ट हैं। क्षत्रियों के पक्ष में तीन वृत्ति पवित्र हैं,—युद्धोपकार-लब्ध (युद्ध-द्वाराप्राप्त) दण्डलब्ध (अर्थ-दण्डलब्ध) और व्यवहार लब्ध अर्थात् कार्य्याकार्य्य के विचार से प्राप्त। कृषि (खेती) वाणिज्य (व्यापार) और गो-रक्षा से जो धन उपार्जित होता है,—वही वैश्य की पवित्र वृत्ति है। शूद्र के पक्ष में ब्राह्मण की सेवा-द्वारा प्राप्त धन ही पवित्र वृत्ति कहा गया है। कुल-परम्परा में समुपस्थित धन, प्रसन्नतासहित दिया धन, और स्त्री के साथ

दुष्कृतं हि मनुष्यस्य सर्व्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्विषम् ॥
आर्द्धिकः कुल-मित्रश्च स्व-गोपालश्च नापितः ।
एते शूद्रेषु भोजान्ना दत्त्वा स्वल्पपणं बुधैः ॥
पायसं स्नेहपक्वं यद्गोरसं चैव शक्तवः ।
पिण्याकश्चैव तैलञ्च शूद्राद्ग्राह्यं तथैव च ॥

अङ्गिराः।—गोरसं चैव शक्तूंश्च तैल-पिण्याकमेव च ।
अपूपान् भक्षयेच्छूद्राद्यत्किञ्चित् पयसा कृतम् ॥

अत्रिस्मृतौ—
स्व-सुतायाश्च यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवी-मलम् ।
नरेन्द्र-भवने भुक्त्वा विष्ठायां जायते कृमिः ॥ ७५ ॥

अन्यत्र च ।—दास-नापित-गोपाल-कुलमित्रार्द्धसीरिणः ।
भोज्यान्नाः शूद्र-वर्गेऽमी तथात्मविनिवेदकः ॥ ७६ ॥
मधूदकं फलं मूलमेधांस्यभयदक्षिणा ।
अभ्युद्यतानि त्वेतानि ग्राह्याण्यपि निकृष्टतः ॥

भाषा टीका ।

(यौतुक अर्थात् दहेज रूप) में आया धन,—यह तीन प्रकार का धन सव के पक्ष में शुक्लवृत्ति कहा गया है।

अव ग्रहण-अग्रहण के योग्य अन्न का विषय वर्णन किया जाता है।—कूर्म्मपुराण में जीविका के विषय में लिखा है,—शूद्र का अन्न भोजन करना ब्राह्मण के पक्ष में निषिद्ध है, भूल कर वा अपनी इच्छानुसार-आपदा के अतिरिक्त अन्य समय में शूद्र का अन्न भोजन करने से शूद्र-योनि मिलती है। अन्न में मनुष्य के सव पाप वास करते हैं, सुतरां जो पुरुष जिसका अन्न भोजन करता है,—वह उसके पाप सेवन करता है। शूद्रजाति में आर्द्धिक * कुलमित्र, × निज-गोरक्षक, नापित (नाई)-इन सवों का अन्न भोजन करने में दोष नहीं है। पण्डित पुरुष कुछ मूल्य देकर शूद्र से पायस, घी में पकी हुई वस्तु, दूध, शक्तु, (भुनायव का चूर्ण) पिण्याक और तेल ग्रहण कर सकते हैं। अङ्गिरा ने कहा है,—शूद्र से दूध, तैल, पिण्याक, पिष्टक (पिट्ठी) और दूध की वनी वस्तु लेकर भोजन कर सकते हैं। अत्रि-स्मृति में लिखा है,—अपनी कन्या की वस्तु सेवन करने पर, मानों—उसने पृथ्वी के सव मलों को भोजन किया और राज-भवन में भोजन करने पर, विष्ठाकाकीड़ा होकर देह धारण करना पड़ता है। अन्यत्र भी लिखा है कि,—शूद्रजाति में नापित, (नाई) गोपालक, कुल-मित्र, अर्द्धसीरी *—इन सव का अन्न भोजन कर सकता है, ।जो पुरुष आत्म-प्रदान करे,—उस का अन्न भी भोजन कर लेना चाहिये ॥ ७५—७६ ॥

हीनजाति के निकट से यदि मधु, जल, फल, मूल, काष्ठ और अभय-दान,—यह सव, विना ही मांगे उपस्थित हों-तो ग्रहण कर सकता है। अग्राह्य जाति के निकट से खामार क्षेत्रस्थ धान्य,

* आर्द्धिक— जिस पुरुष के सहित शस्य का—अर्द्धांश भाग हो,-उसको आर्द्धिक कहते हैं।

× कुलमित्र—परम्परा से अपने कुल का हितकारी

* अर्द्धसीरी ।—धनादि का विभाग करने वाला।

खलक्षेत्रगतं धान्यं कूप-वापीषु यज्जलम् ।
अग्राह्यादपि तद्ग्राह्यं यच्च गोष्ठगतं पयः ॥
पानीयं पायसं भक्ष्यं घृतं लवणमेव च ।
हस्तदत्तं न गृह्णीयात् तुल्यं गो-मांसभक्षणैः ॥

मनुस्मृतौ ।—सामुद्रं सैन्धवं चैव लवणे परमाद्भुते ।
प्रत्यक्षे अपि ते ग्राह्ये निषेधस्त्वन्य-गोचरः ॥
आयसेनैव पात्रेण यदन्नमुपनीयते ।
भोक्ता तद्विट्समं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत् ।
गो-रक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकशीलिनः ।
प्रेष्यान् वार्द्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ ७७ ॥

कौर्म्मे च तत्रैव—

तृणं काष्ठं फलं पुष्पं प्रकाशं वै हरेद्बुधः ।
धर्म्मार्थं केवलं विप्रा ! ह्यन्यथा पतितो भवेत् ॥
तिल-मुद्ग-यवादीनां मुष्टिर्ग्राह्या पथि स्थितैः ।
क्षुधार्त्तैर्नान्यथा विप्रा ! धर्म्मविद्भिरिति स्थितिः ॥
वैष्णवानां हि भोक्तव्यं प्रार्थ्यान्नं वैष्णवैः सदा ।
अवैष्णवानामन्नन्तु परिवर्ज्यममेध्यवत् ॥ ७८ ॥

भाषा टीका ।

कूप-जल, वापी, बाउरी-जल और गोष्ठ का दूध ग्राह्य है, *अर्थात्* इन वस्तु ओं को ग्रहण कर लेवे । जल, पायस, भक्ष्य—घी और लवण (नमक)—यह सब वस्तु हाथ से दी-जाने पर अग्राह्य हैं । यदि—इनको ग्रहण किया जाय—तो वह गो-मांस सेवन की समान होती हैं । मनुस्मृति में लिखा है,—नमक में सागरोत्पन्न नमक और सेंधा नमक उत्तम है,—यह दोनों नमक स्वयं-प्रत्यक्ष होने पर-ग्रहण करने चाहिये, अन्य-गोचर में अग्राह्य हैं (अर्थात् औरों के ज्ञानपूर्वक लेना अनुचित है) । लोहे के पात्र में आया हुआ अन्न सेवन करने पर—उसने मानों विष्ठा भोजन किया और दाता नरक-गामी होता है । ब्राह्मण होकर जो गो-पालक, व्यवसायी, कटादि-प्रस्तुतकारी [चटाई आदि बनाने वाले] भृत्य और वृद्धिजीवी हैं,—उनके प्रति शूद्र के समान आचरण करना चाहिये ॥ ७७ ॥

कूर्म्मपुराण के उपरोक्त स्थान में ही लिखा है;—हे द्विज ! बुद्धिमान् पुरुष केवलमात्र धर्म्म के लिये ही प्रकाश भाव से तृण, काष्ठ, फल और फूल हरण करें अन्यथा पतित होना पड़ता है । हे ब्राह्मणगण ! धर्म्मशास्त्र जानने वालों की—इस प्रकार मर्य्यादा निर्दिष्ट है कि,—यदि पथिक [मुसाफिर] पुरुष भूख से आर्त्त हो—तो मूँग, तिल और यव—इत्यादि शस्य की मुट्ठी ग्रहण कर सकता है,—इसके अतिरिक्त अन्य अवस्था में नहीं कर सकता । वैष्णव-गण माँग कर वैष्णवों का ही अन्न भोजन करें, वैष्णव के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण का अन्न भी अपवित्रवत् त्यागने योग्य है ॥ ७८ ॥

तथा च पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

प्रार्थयेद्वैष्णवादन्नं प्रयत्नेन विचक्षणः ।
सर्व्वपापविशुद्ध्यर्थं तदभावे जलं पिवेत ॥

नारदीये।—महापातकसंयुक्तो व्रजेद्वैष्णव-मन्दिरम् ।
याचयेदन्नममृतं तदभावे जलं पिवेत ॥

विष्णुस्मृतौ —
श्रोत्रियान्नं वैष्णवान्नं हुत-शेषश्च यद्धविः ।
आनखात शोधयेत पापं तुषाग्निः कनकं यथा ॥ ७९ ॥

स्कान्दे मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—
शुद्धं भागवतस्यान्नं शुद्धं-भागीरथी-जलम् ।
शुद्धं विष्णुपरं चित्तं शुद्धमेकादशीव्रतम ॥
अवैष्णव-गृहे भुक्त्वा पीत्वा वा ज्ञानतोऽपि वा ।
शुद्धिश्चान्द्रायणे प्रोक्ता इष्टापूर्त्तं वृथा सदा ॥

श्रीप्रह्लाद-वाक्ये च—
केशवार्च्चा-गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते !
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं स्मृतम् ॥ ८० ॥
केचिद्वृत्त्यनपेक्षस्य जप-श्रद्धावतः प्रभौ ।
विश्वस्तस्यादिशन्त्यस्मिन् कालेऽपि कृतिनो जपम् ॥ ८१ ॥

भाषा टीका ।

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है,—बुद्धिमान् पुरुष सव पापों से शुद्ध होने के लिये यत्नसहित वैष्णव के समीप अन्न की प्रार्थना करें, किन्तु इसके अभाव में केवलमात्र जल पान करें। नारदपुराण में कहा है,—महापापी पुरुष, वैष्णव के घर जाकर सुधामय अन्न की याचना करें,—उस के न मिलने पर जल पान करें। विष्णुस्मृति में लिखा है कि,—तुषानल जिस प्रकार काञ्चन को शुद्ध करता है—ऐसे ही श्रोत्रिय पुरुष का अन्न, वैष्णव का अन्न और होम की वची हवि,—नख से देह के सव पातकों को शुद्ध कर देती हैं ॥ ७९ ॥

स्कन्दपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है कि,—जो भगवद्भक्तिपरायण हैं,—उनका अन्न पवित्र, गङ्गा-जल पवित्र, हरि-तत्पर पुरुष का चित्त पवित्र और एकादशी का व्रत पवित्र है। भूल कर भी अवैष्णव के घर अन्न भोजन वा जलादि पीने से चान्द्रायण-द्वारा शुद्धि लाभ करे,—नहीं तो उसके इष्ट और पूर्त्तादि सभी कर्म्म निष्फल हो जाते हैं। श्रीप्रह्लादोक्ति है कि,—हे नृपते ! जिस पुरुष के घर श्रीहरि की मूर्त्ति विराजित नहीं है,—उसके अन्न का भोजन करना निषिद्ध है, क्यों कि,—वह अभक्ष्य की समान कहा गया है ॥ ८० ॥

जो वृत्ति (जीविका) सम्पादन में अपेक्षारहित, क्यों कि—“श्रीविश्वम्भर भगवान् सव संसार के जीविका दाता हैं, उसके कारण चेष्टा करने से क्या फल है” ? जो इस प्रकार विश्वासप्राप्त, जपनिष्ठ और अभिज्ञ हैं,—उनके सम्वन्ध में कोइ कोइ विद्वान् अध्ययन और अध्यापनासम्वन्धी काल में भी जप का उपदेश देते हैं ॥ ८१ ॥

अथ माध्याह्निककृत्यानि ।

मध्याह्ने स्नानतः पूर्व्वं पुष्पाद्याहृत्य वा स्वयम् ।
भृत्यादिना वा सम्पाद्य कुर्य्यान्माध्याह्निकीः क्रियाः ॥
स्नानाशक्तौ च मध्याह्ने स्नानमाचर्य्य मान्त्रिकम् ।
यथोक्तां भगवत्पूजां शक्तश्चेत् प्राग्वदाचरेत् ॥ ८२ ॥

अथ वैष्णववैश्वदेवादि-विधिः ।

ततः कृष्णार्पितेनैव शुद्धेनान्नेन वैष्णवः ।
वैश्यदेवादिकं दैवं कर्म्म पैत्रञ्च साधयेत् ॥

तदुक्तं ।— षष्ठे दिन-विभागे तु कुर्य्यात् पञ्च महामखान् ।
दैवो होमेन यज्ञः स्याद्भौतस्तु वलिदानतः ॥
पैत्रो विप्रान्नदानेन पैत्रेण वलिनाथवा ।
किञ्चिदन्नप्रदानाद्वा तर्पणाद्वा चतुर्व्विधः ॥
नृयज्ञोऽतिथि-सत्काराद्धन्तकारेण चाम्बुना ।
ब्रह्मयज्ञो वेद-जपात् पुराण-पठनेन वा ॥

तन्नित्यता च ।

कौर्म्मे ।— अकृत्वा च द्विजः पञ्च महायज्ञान् द्विजोत्तमाः !
भुञ्जीत चेत् सुमुढ़ात्मा तिर्य्यग्योनिं स गच्छति ॥ ८३ ॥

अथ वैष्णव-श्राद्धविधिः ।

प्राप्ते श्राद्धदिनेऽपि प्रागन्नं भगवतेऽर्पयेत् ।

भाषा टीका ।

अब मध्याह्नकाल-सम्बन्धि क्रिया ओं का वर्णन किया जाता है,—मध्याह्नकाल में स्नान के पहिले स्वयं पुष्पादि संग्रह करके मध्याह्न-क्रिया करे अथवा सेवक-इत्यादि के द्वारा भी पुष्पादि मँगाकर मध्याह्न-कार्य्य सम्पन्न कर सकता है,—यदि मध्याह्नकाल के स्नान करने में असमर्थ हो-तो मन्त्र-स्नान करके पूर्वोक्त प्रकार से प्रभु की पूजा करे और समर्थ होने पर, प्रातःकृत्यानुसार-अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ८२ ॥

अब वैष्णवों की वैश्वदेवादि-विधि कहते हैं,—फिर वैष्णव-गण श्रीहरि के उद्देश में निवेदित विशुद्ध अन्न-द्वारा वैश्वदेवादि, दैव और पितृ-क्रिया सम्पादन करें। इस विषय में कहा है कि,—पञ्च महायज्ञ अर्थात् दैवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, नरयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ;—यह सब, दिन के षष्ठ भाग में सम्पादन करने चाहियें। दैव-यज्ञ—होम-द्वारा, भूतयज्ञ—वलिदान-द्वारा एवं ब्राह्मण-जाति को अन्न दान द्वारा वा पितृ-सम्बन्धीय वलि-दान-द्वारा अथवा किञ्चित् अन्नदान वा तर्पण-द्वारा पितृयज्ञ सम्पादन करे। अतिथि-सेवा-द्वारा वा पानीय-शाला-द्वारा अथवा जल-द्वारा नरयज्ञ और वेदाध्ययन द्वारा वा पुराणाध्ययन-द्वारा ब्रह्मयज्ञ सम्पादन करे।

अब पञ्चयज्ञ की नित्यता का वर्णन किया जाता है,—कूर्म्मपुराण में लिखा है,—हे द्विजसत्तमगण ! पञ्च महायज्ञ का अनुष्ठान विना किये भोजन करने पर—उस मूढ़मति को पशु-योनि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

अब वैष्णव-गणों की श्राद्धविधि लिखी जाती है,—

तच्छेषेणैव कुर्व्वीत श्राद्धं भागवतो नरः ॥ ८४ ॥

यच्च स्मृतौ –गृहाग्नि-शिशु-देवानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
पितृ-पाको न दातव्यो यावत् पिण्डान्न निर्व्वपेत् ॥ इति ॥ ८५ ॥
ईदृक् सामान्यवचनं विशेषवचन-व्रजैः ।
श्रुति-स्मृति-पुराणादिवर्त्तिभिर्वाध्यते ध्रुवम् ॥ ८६ ॥

तथा च पाद्मे—
विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् ।
पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते ॥ ८७ ॥

मोक्षधर्म्मे नारदोक्तौ—
सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्य्य-मुखनिःसृतम् ।
पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥ ८८ ॥

ब्रह्माण्डपुराणे—
यः श्राद्ध-काले हरिभुक्त-शेषं ददाति भक्त्या पितृ-देवतानाम् ।
तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रानाकल्पकोटिं पितरः सुतृप्ताः ॥ ८९ ॥

स्कान्दे श्रीशिवोक्तौ—
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य यद्विष्णोर्व्विनिवेदितम् ।
तानुद्दिश्य ततः कुर्य्यात् प्रदानं तस्य चैव हि ॥ ९० ॥

भाषा टीका।

भगवन्निष्ठ पुरुष श्राद्ध के दिन प्रथम भगवान् को अन्न प्रदान पूर्वक—उसी निवेदित अन्न से श्राद्ध का अनुष्ठान करे ॥ ८४ ॥

स्मृति में कहा है कि,—जब तक घर की अग्नि (शालाग्नि) शिशु, देवता, यति और ब्रह्मचारी को पिण्ड न दिया जाय, तब तक पितरों के अर्थ बनाया हुआ अन्न अर्पण करना निषिद्ध है ॥ ८५ ॥

गृहाग्नि-इत्यादि सामान्य वचन; श्रुति, स्मृति, पुराण इत्यादिवर्त्ति विशेष वचन-द्वारा निःसन्देह वाधा होती है ॥ ८६ ॥

पद्मपुराण में इस विषय में लिखा है कि,—हरि को निवेदित किये अन्न से अपरापर देवता ओं की पूजा करनी उचित है और पितरों को—वही हरि को निवेदन किया हुआ अन्न अर्पण करे,—तो वह अक्षय फल के लिये कल्पित होता है ॥ ८७ ॥

मोक्षधर्म्म में नारदजी की उक्ति है कि,—वैष्णव को विधि का आश्रयपूर्वक पहिले (सूर्य्योदय के अन्त में) श्रीभगवान् की पूजा, पीछे निर्माल्य से पितामहगणों की पूजा करनी चाहिये ॥८८॥

ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है कि,—श्राद्ध के समय भक्तिसहित भगवान् का उच्छिष्ट महाप्रसाद और उसी के साथ तुलसीयुक्त पिण्ड पितृ-लोक वा देवता ओं को अर्पण करने से, उसके पितृ-लोक करोड़ कल्प तक सम्यक् प्रकार तृप्त रहते हैं ॥ ८९ ॥

स्कन्दपुराण में शिवोक्ति है कि,—देवता ओं के उद्देश में और पितरों के उद्देश में हरि को निवेदित वस्तु तत्तत्देवता और तत्तत् पितरों के उद्देश में ही अर्पण करे ॥ ९० ॥

प्रयान्ति तृप्तिमतुलां सोदकेन तु तेन वै।
मुकुन्द-गात्रलग्नेन ब्राह्मणानां विलेपनम् ॥
चन्दनेन तु पिण्डानां कर्त्तव्यं पितृ-तृप्तये।
देवानाञ्च पितॄणाञ्च जायते तृप्तिरक्षया ॥
एवं कृते महीपाल! मा भवेत् संशयः क्वचित् ॥ ९१ ॥

तत्रैव श्रीपुरुषोत्तमखण्डे—

अन्नाद्यं श्राद्धकाले तु पतिताद्यैर्निरीक्षितम्।
तुलसी-दल-मिश्रेण सलिलेनाभिषिञ्चयेत् ॥
तदन्नं शुद्धतामेति विष्णोर्नैवेद्यमिश्रितम्।
विष्णोर्नैवेद्य-शेषन्तु तस्माद्देयं द्विजन्मनाम् ॥
पिण्डं चैव विशेषेण पितॄणां तृप्तिमिच्छता ॥ ९२ ॥

तत्रैव श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—

पितॄनुद्दिश्य यैः पूजा केशवस्य कृता नरैः।
त्यक्त्वा ते नारकीं पीड़ां मुक्तिं यान्ति महामुने!
धन्यास्ते मानवा लोके कलिकाले विशेषतः।
ये कुर्व्वन्ति हरेर्नित्यं पित्रर्थं पूजनं मुने!
किं दत्तैर्व्वहुभिः पिण्डैर्गयाश्राद्धादिभिर्मुने!
यैरर्च्चितो हरिर्भक्त्या पित्रर्थञ्च दिने दिने।

भाषा टीका।

यदि पिण्ड अर्पण करने के समय विष्णु-निवेदित जल मिला दिया जाय—तो वह पितरों को अतुल प्रीति-साधन करता है। हरि के अङ्ग में लग्न चन्दन से ब्राह्मणों का विलेपन कार्य्य सम्पादन करें और पितरों की तृप्ति के अर्थ उसी से पिण्ड लेपन करे। हे नरपते! इस प्रकार करने से निःसन्देह देवता और पितरों को अक्षय प्रीति प्राप्त होती है ॥ ९१ ॥

उक्त पुराण के पुरुषोत्तम खण्ड में लिखा है,—पतित पुरुष के द्वारा श्राद्धकालीन अन्न देखा जाने पर, उसके शुद्ध करने को तुलसीयुक्त जल से सिञ्चन करे और विष्णु की नैवेद्य के साथ मिश्रित होने पर भी—उक्त अन्न शुद्ध होता है, सुतरां विष्णु की बची हुई नैवेद्य ब्राह्मण को प्रदान करें और सम्यक् प्रकार पितरों को प्रसन्न करने की इच्छा हो—तो पिण्ड में हरि की बची हुई नैवेद्य अर्पण करे ॥ ९२ ॥

उक्त पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है,—हे तापसप्रवर! पितरों को उद्देश करके जनार्द्दन की पूजा करने पर, मनुष्य नरक के दुःख से छूटकर मोक्ष लाभ करता है। हे ऋषे! संसार में; विशेष कर कलियुग में जो पुरुष पितरों के लिये नित्य केशव की पूजा करते हैं,—वे ही धन्य हैं। हे ऋषे! जो पुरुष पितरों के उद्देश में प्रतिदिन भक्तिसहित जनार्द्दन की पूजा करते हैं,—गया-श्राद्धादि में उनको बहुत से पिण्ड देने का क्या प्रयोजन है? हे ऋषिप्रवर! जिसके उद्देश में जनार्द्दन की पूजा की जाती है,—वह नरक-वास से रक्षा पाकर परम पद में स्थापित होता है। हे देवर्षे! जो व्यक्ति पितरों के उद्देश से जनार्द्दन को स्थान प्रदान करते हैं, तो पितरों के लिये जो कुछ कर्त्तव्य

यमुद्दिश्य हरेः पूजा क्रियते मुनिपुङ्गव !
उद्धृत्य नरकावासात्तं नयेत् परमं पदम् ॥
यो ददाति हरेः स्थानं पितॄनुद्दिश्य नारद !
कर्त्तव्यं हि पितॄणां यत्तत् कृतं तेन भो द्विज !

श्रुतौ च।—एक एव नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेमे द्यावा-पृथिव्यौ,सर्व्वे देवाः सर्व्वे पितरः सर्व्वे मनुष्याः—विष्णुना अशितमश्नन्ति, विष्णुना घ्रातं जिघ्रन्ति, विष्णुना पीतं पिबन्ति; तस्माद्विद्वांसो विष्णूपहृतं भक्षयेयुः॥ इति ॥ ९३ ॥

अतएवोक्तं श्रीभगवता विष्णुधर्म्मे—

प्राणेभ्यो जुहुयादन्नं मन्निवेदितमुत्तमम् ।
तृप्यन्ति सर्व्वदा प्राणा मन्निवेदित-भक्षणात् ॥
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन प्रदेयं मन्निवेदितम् ।
ममापि हृदयस्थस्य पितॄणाञ्च विशेषतः ॥ ९४ ॥

किञ्च तत्रैवान्यत्र —

भोक्ष्यं भोज्यञ्च यत्किञ्चिदनिवेद्याग्र-भोक्तरि ।
न देयं पितृ-देवेभ्यः प्रायश्चित्ती यतो भवेत् ॥ ९५ ॥
सर्गादौ कथितो देवैरग्रभुग् भगवान् हरिः ।
यज्ञभागभुजो देवास्ततस्तेन प्रकल्पिताः ॥ ९६ ॥

अथ श्राद्धे वैष्णवभोजन-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—

यस्तु विद्याविनिर्म्मुक्तं मूर्खं मत्वा तु वैष्णवम् ।

भाषा टीका।

अनुष्ठित हो सकता है,—उन्हों ने मानों—उस सब का ही आचरण कर लिया । श्रुति में भी कहा है,—केवल-मात्र नारायण विद्यमान थे, ब्रह्माजी नहीं थे, द्यावा-पृथ्वी भी उस समय नहीं थी । सब देवता, पितृ-गण और सब मनुष्य हरि के भोजन से बचा हुआ अन्न आहार करते हैं, हरि के सूँघने का द्रव्य सूँघते हैं और हरि की पीत वस्तु पान करते हैं; सुतरां बुद्धिमान् पुरुष हरि को निवेदन की हुई समस्त वस्तु आहार करें ॥ ९३ ॥

इसी कारण विष्णुधर्म्म में भगवान् कह गये हैं,—मेरे उद्देश में निवेदित उत्तम अन्न की प्राण-समूह में आहुति प्रदान करे । मेरे उद्देश में निवेदित द्रव्य-भोजन से प्राणादि-वायु सदा प्रसन्न होते रहते हैं, अतएव यत्नसहित प्रत्येक के हृदय में अधिष्ठित परमात्म-रूप मुझ को विशेष कर पितरों को मेरे उद्देश में निवेदित अन्न अर्पण करे ॥ ९४ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर के दूसरे स्थान में भी लिखा है कि,—प्रथम अग्रभुक् भगवान् को कुछ भक्ष्य भोज्य विना दिये पितरों को नहीं देवे । क्यों कि—अनिवेदित द्रव्य अर्पण करने से प्रायश्चित्त करना पड़ता है ॥ ९५ ॥

देवता ओं ने सृष्टि के प्रथम; भगवान् को ही अग्र-भुक् कहकर वर्णन किया है,—इस कारण उन्हों ने भी देवता ओं को अर्द्धांश भोक्त-रूप में निर्देश किया है ॥९६॥

अब श्राद्ध में वैष्णव के भोजन कराने का

वेदविद्भ्योऽददाद्विप्रः श्राद्धं तद्राक्षसं भवेत् ॥
सिक्थमात्रन्तु यद्भुङ्क्ते जलं गण्डूषमात्रकम् ।
तदन्नं मेरुणा तुल्यं तज्जलं सागरोपमम् ॥

ब्रह्मपुराणे श्रीब्रह्मवचनम्—

शंखाङ्किततनुर्विप्रो भुङ्क्ते यस्य च वेश्मनि ।
तदन्नं स्वयमश्नाति पितृभिः सह केशवः ॥ ९७ ॥

स्मृतिश्च।—सुरा-भाण्डस्थपीयूषं यथा नश्यति तत्क्षणात् ।
चक्राङ्क-रहितं श्राद्धं तथा शातातपोऽब्रवीत् ॥

किञ्च विष्णुरहस्ये—

निवेशयेन्नरो मोहादन्य-पङ्क्तौ हरेः प्रियम् ।
स पतेन्निरये घोरे पङ्क्तिभेदी नराधमः ॥ ९८ ॥

अथ श्रीभगवदर्पणे निषिद्धम् ।

निवेदितं यदन्यस्मै तदुच्छिष्टं हि कथ्यते ।
अतः कथञ्चिदपि तन्न श्रीभगवतेऽर्पयेत्॥

तथा चैकादशस्कन्धे श्रीभगवदुक्तौ—

अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ ९९ ॥

भाषा टीका ।

माहात्म्य लिखा जाता है । —स्कन्द- पुराण के मार्कण्डेय भगीरथ-सम्वाद में वर्णित है कि,—विद्याविहीन वैष्णव को मूढ़ जान कर वेद के जानने वाले को श्राद्ध प्रदान करने से ब्राह्मण के किये—उस श्राद्ध को राक्षस ग्रहण करते हैं। वैष्णव पुरुष, श्राद्ध में एक ग्रास-परिमित अन्न के भोजन करने पर और एक चुल्लू-प्रमाण जल पीने पर—वह अन्न सुमेरु की समान होता है और-वह जल समुद्र की तुल्य होता है। ब्रह्मपुराण के बीच ब्रह्माजी की उक्ति में प्रकाशित है कि,—शङ्ख के चिह्न से विभूषित अङ्ग वाला ब्राह्मण जिसके घर भोजन करता है,—उस घर में हरि स्वयं पितरों के सङ्ग—वह अन्न भोजन करते हैं ॥ ९७ ॥

स्मृति में लिखा है कि,—शातातप ने कहा है,—"अमृत सुरा के पात्र में रक्खा जाने पर, जिस प्रकार तत्काल क्रिया के अनुपयुक्त होता है, वैष्णवविहीन श्राद्ध भी—वैसे ही तत्काल विनष्ट (कर्मकाण्ड के अनुपयुक्त) होता है।" विष्णुरहस्य में और भी लिखा है,-भूल कर भी वैष्णव पुरुष को अवैष्णव पुरुष की पंक्ति में प्रवेशित करने से—उस पंक्तिभेदी पुरुष को दारुण नरक में डूबना पड़ता है ॥ ९८ ॥

अब भगवदर्पण-विषय में निषिद्ध कथित होता है—दूसरे को निवेदन की हुई वस्तु ही उच्छिष्ट कही गई है,—इस कारण कभी-वह भगवान् को अर्पण न करे। एकादश-स्कन्ध में श्रीभगवान् की उक्ति है,—मेरे अर्थ निवेदित दीपक के प्रकाश में अन्य कर्म्म का अनुष्ठान करना निषिद्ध है और जो वस्तु दूसरे देवता के लिये अर्पण की गई,—वह भी मुझको प्रदान न करे॥ ९९ ॥

नारदीये।—पितृ-शेषन्तु यो दद्याद्धरये परमात्मने।
रेतोदाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः॥ १००॥

श्रीविष्णुधर्म्मे—
हरि-शेषं हविर्दद्यात् पितॄणामक्षयं भवेत्।
न पुनः पितृ-शेषन्तु हरेर्ब्रह्मादि-सद्गुरोः॥

अन्यत्र च।—दक्षादयश्च पितरो भृत्या इन्द्रादयः सुराः।
अतस्तद्भुक्त-शेषन्तु विष्णोर्नैव निवेदयेत्॥ इति॥ १०१॥

एवमावश्यकं कृत्वा वैष्णवेभ्यो विभज्य च।
श्रीमन्महाप्रसादान्नं भुञ्जीत सह बन्धुभिः॥ १०२॥

तथा च प्रह्लादपञ्चरात्रे—
स्वभावस्थैः कर्म्मजड़ान् वञ्चयन् द्रविणादिभिः।
हरेर्नैवेद्य-सम्भारान् वैष्णवेभ्यः समर्पयेत्॥ १०३॥

अतएव वैष्णवतन्त्रे—
हरेर्निवेदितं किञ्चिन्न दद्यात् कर्हिचिद्बुधः।
अभक्तेभ्यः सशल्येभ्यो यद्ददन्निरये व्रजेत्॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे च—
अवैष्णवे देव-धृतं निर्म्माल्यं न प्रयच्छति।
नैवेद्यं वा महाभाग! तस्य तुष्यति केशवः॥ इति॥ १०४॥

भाषा टीका।

नारदपुराण में लिखा है,—हरि के निमित्त पितृ-शेष द्रव्य अर्थात् पितरों से बचा हुआ द्रव्य अर्पण करने पर, दाता के पितृ-लोक रेतः-पान करते हुए दारुण दुःख भोगते हैं॥ १००॥

विष्णुधर्म्म में लिखा है,—जो परमान्न हरि के निमित्त अर्पण किया गया है,—वह पितरों को प्रदान करने से अक्षय होता है, किन्तु पितरों के अर्थ जो अर्पित हुआ है,—वह कभी हरि को प्रदान न करें; क्यों कि—श्री हरि ब्रह्मादि देवताओं के भी सद्गुरु कहे गये हैं। दूसरे स्थान में भी कहा है,—क्या दक्ष-इत्यादि पितृ-गण, क्या इन्द्र-इत्यादि देवता,—सभी श्रीहरि के किङ्कर हैं, इस कारण-उनके भोजन से बची हुई वस्तु हरि को अर्पण न करे॥ १०१॥

इस प्रकार आवश्यकीय कार्य्य समाप्त करने पर, वैष्णव-गण को श्रीमन्महाप्रसाद बाँट कर बन्धु-बान्धवों के सङ्ग सेवन करे॥ १०२॥

प्रह्लाद पञ्चरात्र में लिखा है,—जो कर्म्मजड़ अर्थात् वैष्णव नहीं है,—उनको अनिवेदित द्रव्य दान-द्वारा वा अर्थादि-द्वारा वञ्चन करके वैष्णवों को श्रीहरि का नैवेद्य प्रदान करे॥ १०३॥

वैष्णव तन्त्र में भी लिखा है,—विद्धोपवासी [जिसने विद्ध-व्रत का धारण किया हो] कर्म्मजड़ अवैष्णव को श्रीहरि के बचे हुए नैवेद्य का कुछ अंश भी प्रदान करना बुद्धिमान् पुरुष को कभी उचित नहीं है,—उसको देने से—उसकी नरक में गति होती है। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है,—हे महाभाग! देवता-श्रीहरि की धारण की हुई निर्म्माल्य अथवा देव-नैवेद्य अवैष्णव व्यक्ति को अर्पण नहीं करने से हरि—उस पर प्रसन्न रहते हैं॥ १०४॥

कथञ्चिदपि नाश्नीयादकृत्वा कृष्ण-पूजनम् ।
न चासमर्प्य गोविन्दे किञ्चिद्भुञ्जीत वैष्णवः ॥

अथ पूजाव्यतिरिक्तभोजन-दोषाः ।

श्रीकूर्म्मपुराणे—

अनर्च्चयित्वा गोविन्दं यैर्भुक्तं धर्म्मवर्ज्जितैः ।
श्वानविष्ठासमं चान्नं नीरञ्च सुरया समम् ॥ १०९ ॥

किञ्च गारुड़े—

यो मोहादथवालस्यादकृत्वा देवतार्च्चनम् ।
भुङ्क्ते स याति नरकं शूकरेष्विह जायते ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

एककालं द्विकालम्वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम् ।
अपूज्य भोजनं कुर्व्वन् नरकाणि व्रजेन्नरः ॥ १०६ ॥

नारदीये च—

प्रातर्मध्यन्दिनं सायं विष्णु-पूजा स्मृता वुधैः ॥
अशक्तो विस्तरेणैव प्रातः सम्पूज्य केशवम् ।
मध्याह्ने चैव सायञ्च पुष्पाञ्जलिमपि क्षिपेत् ॥
मध्याह्ने वा विस्तरेण संक्षेपेणाथवा हरिम् ।
सम्पूज्य भोजनं कुर्य्यादन्यथा नरकं व्रजेत् ॥

अथानर्पित-भोगनिषेधः ।

हयशीर्षपञ्चरात्रे—

न त्वेवापूज्य भुञ्जीत भगवन्तं जनार्द्दनम् ।

भाषा टीका ।

श्रीकृष्ण की पूजा विना किये भोजन करना कभी वैष्णव पुरुष को उचित नहीं है और प्रथम, हरि को विना निवेदन किये भी किसी वस्तु का कुछ अंश भी स्वयं भोजन न करे ।

अब पूजा के विना भोजन में दोष कहा जाता है ।— कूर्म्मपुराण में लिखा है,—हरि की पूजा विना किये भोजन करने पर-उस धर्म्मभ्रष्ट पुरुष का अन्न—कुत्ते की विष्ठा के समान होता है और जल—मद्य के सदृश होता है ॥ १०५ ॥

और भी लिखा है,—भूल कर अथवा आलस्य से हरि की विना पूजा किये भोजन करने से नरकगामी होता है और भूलोक में शूकर-योनि में जन्म धारण करना पड़ता है । विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है कि,—एक काल, द्विकाल अथवा त्रिकाल गोविन्द की पूजा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है । हरि की पूजा विना किये भोजन करने से नरक में गिरना पड़ता है ॥ १०६ ॥

नारदपुराण में कहा है,—प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या;—इन तीनों काल में बुद्धिमानों ने हरि की पूजा करना उचित कहा है, तीन समय की पूजा में असमर्थ होने पर, केवल-मात्र प्रातःकाल में बहुत सी पूजा कर—मध्याह्न-काल और सायं-काल में पुष्पाञ्जलि देने से ही पूजा साधित होती है अथवा मध्याह्नकाल में श्रीहरि

न तत् स्वयं समश्नीयाद्यद्विष्णोर्न निवेदयेत् ॥

ब्रह्माण्डपुराणे—

पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधम् ।
अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् ॥ १०७ ॥
अनिवेद्य तु भुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ।
तस्मात् सर्व्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्व्वदा ॥ १०८ ॥

पाद्मे गौतमाम्वरीष-सम्वादे—

अम्वरीष ! गृहे पक्वं यदभीष्टं सदात्मनः ।
अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तकल्पानि नारकी ॥

तत्रैवोत्तरखण्डे शिवोमा-सम्वादे—

अवैष्णवानामन्नञ्च पतितानां तथैव च ।
अनर्पितं तथा विष्णौ श्व-मांससदृशं भवेत् ॥

विष्णुस्मृतौ —

अनिवेद्य तु यो भुङ्क्ते हरये परमात्मने ।
मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥

अतएव गौतमाम्वरीष-सम्वाद एव—

अम्वरीष ! नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् ।
कृत्वा विष्णूपभुक्तन्तु सदा सेव्यं हि वैष्णवैः ॥

भाषा टीका ।

को विस्तररूप से वा संक्षेप से पूजन कराकर स्वयं भोजन करे,—इसके विपरीत होने पर नरक में जाना पड़ता है।

अव विना अर्पण किये भोग में निषेध कहा जाता है।—(अर्थात् जो ईश्वर को अर्पित नहीं हुया—इस प्रकार के द्रव्य का भोजन करना जो निषिद्ध है—उसी का वर्णन किया जाता है) हयशीर्ष पञ्चरात्र में लिखा है,--परमेश्वर हरि की पूजा विना किये आहार न करे और जो वस्तु हरि के निमित्त प्रदान नहीं की गई है,--उसका भी स्वयं भोजन करना अनुचित है। ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है,—पत्र, पुष्प, फल, जल, अन्न-पानादि, औषध और जो वस्तु अपने भोग के लिये स्थिर की गई है, विना निवेदन किये--उसका भोजन करना उचित नहीं है ॥ १०७ ॥

अनिवेदित द्रव्य भोजन करने पर, विना प्रायश्चित्त किये मनुष्य शुद्ध नहीं होता, अतएव सदा ही सब वस्तु हरि को निवेदन करके भोजन करे ॥ १०८ ॥

पद्मपुराण के गौतमाम्वरीष-सम्वाद में लिखा है,--हे अम्वरीष ! अपनी अभिलषित जो कोई अभीष्ट वस्तु घर में पकती है—वह जनार्द्दन को विना अर्पण किये भोजन करने से सात कल्प-तक नरक की यातना भोगनी पड़ती है। इसी पुराण के उत्तर खण्ड में शिव-पार्वती-सम्वाद में लिखा है,—अवैष्णव पुरुष का अन्न, पतित का अन्न और हरि को विना निवेदित किया अन्न,—कुत्ते के मांस की समान है। विष्णुस्मृति में कहा है,—परमात्मा जनार्द्दन को विना दिये भोजन करने से पितृ-कुल असीम काल-तक नरक में पिचते हैं—इसी

विष्णुधर्म्माग्नि-पुराणयोः--

गन्धान्नवरभक्ष्यांश्च स्रजो वासांसि भूषणम् ।
दत्त्वा तु देव-देवाय तच्छेषाण्युपभुञ्जते ॥ १०९ ॥

गारुड़े ।— पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः ।
शेषाश्च मस्तके धार्य्या इति वेदानुशासनम् ॥ ११० ॥

षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रत-प्रसङ्गे--

उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः ।
अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्व्वकामार्थ-सिद्धये ॥ १११ ॥

अष्टमस्कन्धे च पयोव्रतप्रसङ्गे--

निवेदितं तद्भक्ताय दद्याद्भुञ्जीत वा स्वयम् ॥ ११२ ॥

गौतमीय तन्त्रे--

शुक्लोपचार-सम्भारैर्नित्यशो हरिमर्च्चयेत् ।
निवेद्य कृष्णाय विधिवदन्नं भुञ्जीत तत् स्वयम् ॥
अथवा सात्वते दद्याद्यदि लभ्येत भक्तितः ॥

शरत्प्रदीपे च —

भक्तक्षणः क्षणो देवः स्मृतिः सेवा स्व-वेश्मनि ।
स्व-भोज्यस्यार्पणं दानं फलमिन्द्रादि-दुर्ल्लभम् ॥ ११३ ॥

भाषा टीका ।

कारण गौतमाम्बरीष-सम्वाद में लिखा है,—हे अम्बरीष ! नवीन वस्त्र, फल, अन्न और रसादि समस्त वस्तु हरि को प्रदान करके फिर उसका सेवन करना ही वैष्णव का कर्त्तव्य है । विष्णुधर्म्म और अग्निपुराण में लिखा है,—गन्ध, अन्न, अतिउत्तम--भक्ष्य-द्रव्य, (मोद-कादि) माल्य, वस्त्र और भूषण,—यह सब द्रव्य देव-देव हरि को देकर फिर भोग करना ही साधु ओं का कर्त्तव्य है ॥ १०९ ॥

गरुड़पुराण में लिखा है कि,—नित्य हरि का चरणामृत पीवे, नित्य हरि की नैवेद्य सेवन करे और नित्य शिर-पर तुलसी--इत्यादि धारण करे, वेद में--इस प्रकार आज्ञा निरूपित है ॥ ११० ॥

श्रीमद्भागवत के षष्ठ-स्कन्ध में पुंसवन व्रत के प्रसङ्ग में लिखा है कि,—प्रथम, देव-देव हरि को अपने हृदय में विसर्जन करके आत्म-शुद्धि के अर्थ और सम्पूर्ण काम की समृद्धि के अर्थ प्रभु के निवेदित द्रव्य को सेवन करे ॥ १११ ॥

श्रीमद्भागवत के अष्टम-स्कन्ध में पयोव्रत-प्रसङ्ग में लिखा है,—फिर प्रभु को अर्पण की हुई वस्तु भगवद्भक्ति-परायण पुरुषों को भोजन करावे और स्वयं भोजन करे ॥ ११२ ॥

गौतमीय-तन्त्र में लिखा है,--प्रतिदिन विशुद्ध उप-चारों से जनार्द्दन की पूजा करनी चाहिये । विधिपूर्व्वक हरि को अन्न प्रदान करके--वह निवेदित अन्न स्वयं भोजन करे अथवा वैष्णव के प्राप्त होने पर, भक्तिमान् होकर उसी को प्रदान करे । शरत्प्रदीप में लिखा है,—भक्त-गणों का उत्सव ही श्रीहरि का उत्सवस्वरूप है, अपने घर रह कर श्रीहरि का स्मरण ही, हरि-सेवा और अपने भोजन की वस्तु का अर्पण ही श्रीहरि को दान कहा गया है,—इन सब का फल देवेन्द्र—इत्यादि देवता ओं के पक्ष में भी दुर्लभ है ॥ ११३ ॥

अथ नैवेद्य-भक्षण-विधिः ।

दृष्ट्वा महाप्रसादान्नं तत्प्राङ्नत्वाभिमन्त्रयेत् ।
स्वेष्ट-नाम्ना ततो मूलमनुना वारसप्तकम् ॥ ११४ ॥
धर्म्मराजादि-भागश्चापास्य श्रीचरणामृतम् ।
तुलसीश्चात्र निक्षिप्य श्लोकान् संकीर्त्तयेदिमान् ॥ ११५ ॥
"यस्योच्छिष्टं हि वाञ्छन्ति ब्रह्माद्या ऋषयोऽमलाः ।
सिद्धाद्याश्च हरेस्तस्य वयमुच्छिष्टभोजिनः ॥
यस्य नाम्ना विनश्यन्ति महापातक-राशयः ।
तस्य श्रीकृष्णदेवस्य वयमुच्छिष्टभोजिनः" ॥

किञ्च ।— "उच्छिष्टभोजिनस्तस्य वयमद्भुतकर्म्मणः ।
यो बाल्यलीलया तांस्तान् पूतनादीनपातयत्" ॥

एकादशस्कन्धे —
"त्वयोपयुक्तस्रग् गन्ध-वासोऽलङ्कारचर्च्चिताः ।
उच्छिष्ट-भोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि" ॥ ११६ ॥
ततो "ऽमृतोपस्तरणमसी"त्युक्त्वा यथाविधि ।
पञ्चप्राणाहुतीः कृत्वा भुञ्जीत पुरतः प्रभोः ॥ ११७ ॥

तत्र च विशेषः ।

श्रीविष्णुपुराणे और्व्व-सगरसम्वादे—
प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ॥ ११८ ॥

भाषा टीका ।

अब नैवेद्य-भक्षण की विधि लिखी जाती है ।—प्रथम श्रीमन्महाप्रसाद का अन्न देखकर वन्दना करे, फिर गायत्री के पाठ-द्वारा उसको अभिमन्त्रित कर, मूलमन्त्र से सात वार अभिमन्त्रित करना चाहिये ॥ ११४ ॥

फिर—उस महाप्रसाद के अन्न में से धर्म्मराज और पितृ-इत्यादि का अंश निकाल कर—उस में तुलसी-पत्र और श्रीचरणामृत डाले । फिर मूल में लिखे श्लोकों का उच्चारण करना चाहिये ॥ ११५ ॥

तदर्थ, यथा—ब्रह्मा-इत्यादि देवता, निष्पाप ऋषि-गण और सिद्ध-गण जिन के उच्छिष्ट को ग्रहण करते हैं, मुझको—उन्हीं गोविन्द का उच्छिष्टभोजी जानना चाहिये। और भी—जिन का नाम-उच्चारण करने से महापाप-राशि नष्ट होते हैं, मुझको उन्हीं श्रीहरि का उच्छिष्टभोजी जानों । बाल्य-लीला के समय जिन के हाथ से पूतना-इत्यादि मारी गई हैं, मुझको—उन्हीं विचित्रकर्म्मकारी हरि का उच्छिष्टभोजी जानना चाहिये । एकादश-स्कन्ध में लिखा है,—मुझ को अपना टहलुआ जानों, मैं तुमको निवेदन की हुई—माला, चन्दन, वस्त्र और गहने आदि से अलङ्कृत होकर त्वदीय उच्छिष्ट-भोजनपूर्वक तुम्हारी माया को जीतूंगा ॥ ११६ ॥

फिर विधिपूर्वक "अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा" मन्त्र पढ़कर वायु-पञ्चक के अर्थ आहुति देवे और देव-देव के सन्मुख-भाग में भोजन करे * ॥ ११७ ॥

* वराहपुराण में "श्रीभगवान् के आगे" जो भोजन—अपराध में गिना गया है,—वह वहिदेवालय में श्रीमूर्त्ति-पूजाविषयक जानना चाहिये । परन्तु स्व-गृह में श्रीशालग्राम-शिला के सन्मुख श्रीमहाप्रसाद भोजन में दोष नहीं है ।

पुण्यगन्धधरः शस्तमाल्यधारी नरेश्वर !
नैकवस्त्रधरोऽथार्द्रपाणिपादो नराधिप !
विशुद्धवदनः प्रीतो भुञ्जीत न विदिङ्मुखः ।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि न चैवान्यमुखो नरः ॥ ११९ ॥
दत्त्वा तु भक्तं शिष्येभ्यः क्षुधितेभ्यस्तथा गृही ।
प्रशस्तशुद्धपात्रेषु भुञ्जीताकुपितो नृप ! ॥ १२० ॥
नासन्दीसंस्थिते पात्रे नादेशे च नरेश्वर !
नाकाले नातिसंकीर्णे दत्त्वाग्रञ्च नरोऽग्नये ।
नाशेषं पुरुषोऽश्नीयादन्यत्र जगतीपते ! ॥ १२१ ॥
मध्वम्बु-दधि-सर्पिभ्यः शक्तुभ्यश्च विवेकवान् ।
अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वन्तु मधुरं रसम् ॥ १२२ ॥
लवणाम्ले तथा मध्ये कटु-तिक्तादिकांस्ततः ।
प्राग् द्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये च कठिनाशनम् ॥
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु वलारोग्ये न मुञ्चति ।
पञ्चग्रासं महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत् ॥
भुक्त्वा सम्यगथाचम्य प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
यथावत् पुनराचामेत् पाणी प्रक्षाल्य मूलतः ॥

भाषा टीका ।

उक्त विषय की विशेष-विधि लिखी जाती है ।— विष्णुपुराण के और्व-सगर-सम्वाद में लिखा है,— हाथ में श्रेष्ठ-रत्न लेकर विशुद्ध भाव से भोजन करना ही गृही को उचित है ॥ ११८ ॥

हे मनुजेश्वर ! आहार के समय अङ्ग में पवित्र गन्ध लेपन करनी चाहिये, गले में उत्तम माला धारण करनी चाहिये और गीले हाथ गीले, चरण हों, पूर्व वा उत्तर को मुख करके प्रफुल्लित, प्रक्षालितमुख और सन्तुष्टचित्त से भोजन करना चाहिये । एकवस्त्र से भोजन निषिद्ध है, अग्नि-इत्यादि कोंण के सन्मुख वैठ कर भोजन न करे और अन्यान्य दिशाओं की ओर मुख करके भीं भोजन करना उचित नहीं है ॥ ११९ ॥

हे राजन् ! शिष्य और और भूखे मनुष्यों को अन्न देकर क्रोध-रहित हृदय से विशुद्ध प्रशस्त पात्र में भोजन करना ही गृही का कर्त्तव्य है ॥ १२० ॥

हे नृपते ! काष्ठ की वनी तिपाई के उपर आहार का पात्र रखकर भोजन न करे, अयोग्य स्थान में भी आहार करना ठीक नहीं है, असमय (सन्ध्यादि काल) में भी आहार करना अनुचित है और अत्यन्त संकीर्ण स्थान में भी भोजन करना निषिद्ध है । परिशिष्ट (परोसे हुए) अन्न का कुछ अंश अग्नि में फेंक कर भोजन करे, एकवार ही सम्पूर्ण भोजन करना ठीक नहीं है ॥ १२१ ॥

मधु, जल, दधि, घृत, और शक्तु इत्यादि वस्तु का 'अच्छा' 'बुरा' विचार कर अन्न-पर मन लगाय पहिले मधुर रस भोजन करे ॥ १२२ ॥

भोजन के मध्यभाग में लवण और अम्लरस सेवन करना चाहिये और कड़वी तथा चरपरी वस्तु का

सुखञ्च मे तत् परिणामसम्भवं, यच्छत्वरोगं मम चास्तु देहे ।
विष्णुः समस्तेन्द्रियदेहदेहि-प्रधानभूतो भगवान् यथैकः
सत्येन तेनान्नमशेषमेतदारोग्यदं मे परिणाममेतु" ॥
इत्युच्चार्य्य स्व-हस्तेन परिमृज्य तथोदरम् ।
अनायासप्रदायीनि कुर्य्यात कर्म्माण्यतन्त्रितः ॥

कौर्म्मे व्यासगीतायाम्—

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्य्याभिमुखमेव वा ।
आसीनः स्वासने शुद्धे भूम्यां पादौ निधाय च ॥
आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते उदङ्मुखः ॥
पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्य्याद्भूमौ पात्रं निधाय च ।
उपवासेन तत्तुल्यं मनुराह प्रजापतिः ॥
उपलिप्ते शुचौ देशे पादौ प्रक्षाल्य वै करौ ।
आचम्यार्द्राननोऽक्रोधः पञ्चार्द्रो भोजनञ्चरेत् ॥
महाव्याहृतिभिस्त्वन्नं परिवार्य्योदकेन तु ।
"अमृतोपस्तरणमसी"-त्यपोशानाक्रियां चरेत्॥
स्वाहाप्रणवसंयुक्तं प्राणायेत्याहुतिं ततः ।
अपानाय ततो हुत्वा व्यानाय तदनन्तरम् ॥

भाषा टीका ।

अन्त में भोजन करे। सब से पहिले द्रव पदार्थ (पिघला हुआ द्रव्य) बीच में कठिन वस्तु और अन्त में फिर द्रव पदार्थ भोजन करने से बल और आरोग्यता नहीं घटती। भोजन के प्रारम्भ में पूर्वमुख वा उत्तरमुख से बैठ कर आचमन-पूर्वक मौन-भाव से प्राणादि की तृप्ति के अर्थ, सब से पहिले पाँच ग्रास भोजन करे। विधि-पूर्वक भोजन के पीछे आचमन करके तृण आदि से दाँतों की शोधन कर पुनराचमन करे। इसके पीछे दोनों हाथों को कोंहनी पर्य्यन्त धोकर स्वस्थ और प्रशान्त मन से आसन पर बैठ, अभीष्ट देवता स्मरण करे। फिर मूल के लिखे दो मन्त्र पढ़ने चाहिये। तदर्थ, यथा—"अगस्ति, अग्नि और वड़वाग्नि—यह मेरा समस्त भोजन किया अन्न जीर्ण करें,—वे आहार का परिपाक होने के लिये सुख-विधान करें और मेरा देह नीरोग हो। जिस प्रकार परात्पर श्रीविष्णु समस्त इन्द्रिय शरीरी और शरीर से श्रेष्ठ हैं—उसी सत्य से यह सब अन्न मेरे सम्बन्ध में आरोग्यजनक होकर परि-णाम लाभ करें"—यह दो मन्त्र-पाठपूर्वक अपने हाथों से जठर-देश मार्जित कर—आलस्य हीन हो, परिश्रम-रहित कार्य्य का अनुष्ठान करे।

कूर्म्मपुराण की व्यासगीता में लिखा है,—पूर्व की ओर वा सूर्य्याभिमुख हो, अपने सिद्धासन पर बैठ—पृथ्वी में दोनों चरण स्थापन करके अन्नादि भोजन करना चाहिये पूर्व की ओर मुख करके भोजन करने से परमायु बढ़ती है, दक्षिणमुख होकर भोजन करने से यशः की प्राप्ति, पश्चिममुख होकर भोजन करने से सर्व सम्पत्तिलाभ और उत्तर मुख होकर भोजन करने से अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है। पृथ्वी में पात्र रख कर पञ्चार्द्ररूप से भोजन करने पर—वह उपवास करने की समान होता है,—

उदानाय ततः कुर्य्यात् समानायेति पञ्चमीम् ॥
विज्ञाय तत्त्वमेतेषां जुहुयादात्मनि द्विजाः !
शेषमन्नं यथाकामं भुञ्जीत व्यञ्जनैर्युतम् ॥
ध्यात्वा तन्मनसा देवमात्मानं वै प्रजापतिम् ।
"अमृतापिधानमसी"-त्युपरिष्टादपः पिवेत् ॥

किञ्च तत्रैव—

यद्भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यच्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः ।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते सर्व्वं विद्यात्तदासुरम् ॥
नार्द्धरात्रे न मध्याह्ने नाजीर्णे नार्द्रवस्त्रधृक् ।
न च भिन्नासनगतो न याने संस्थितोऽपि वा ॥
न भिन्नभाजने चैव न भूम्यां न च पाणिषु ।
नोच्छिष्टे घृतमादद्यान्न मूर्द्धानं स्पृशेदपि ॥
न ब्रह्म कीर्त्तयेच्चापि न निःशेषं न भार्य्यया ।
नान्धकारे न सन्ध्यायां न च देवालयादिषु ॥

किञ्च ।— अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत परिवर्जयेत् ॥

किञ्च ।— न वामहस्तेनोद्धृत्य पिवेद्वक्त्रेण वा जलम् ॥

भाषा टीका ।

इस प्रकार प्रजापति-मनुने कहा है। गोवर से लिपे हुए विशुद्ध स्थान में-दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—वे पाँच अङ्ग आर्द्र करके (धोकर) आचमन-सहित, क्रोध परित्याग-पूर्वक भोजन करे। महाव्याहृति- (ओं भूर्भुवः स्वः) पढ़ कर जल-धारा से अन्न को परिवेष्टनपूर्वक "ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा"-यह मन्त्र पढ़ कर, दहिने हात से जल पान करना चाहिये । इसके पीछे "स्वाहा" और प्रणव-(ओंम्) युक्त "प्राणाय" कह कर प्राणादि में ("ओम् प्राणाय स्वाहा"-यह कह कर) आहुति प्रदान करे। फिर क्रमानुसार- 'अपान' 'व्यान' 'उदान' और पञ्चमी 'समान'-इन सव की उस नियम से आहुति देनी चाहिये। हे विप्रगण ! इन सव विषयों का तत्त्व जान कर, आत्मा में आहुति देवे अर्थात् आत्मा के सहित इन सव की एकता भावना करे। फिर अपनी इच्छानुसार--शेष अन्न, व्यञ्जन-सहित भोजन करे । फिर उस में एकाग्रमनाः हो—अपने को प्रजापतिदेवतारूप में चिन्ता कर--आहार के अन्त में "अमृतापिधानमसि स्वाहा)" कहकर आचमन करे। उक्त ग्रन्थ के इस स्थान में और भी लिखा है कि,—मस्तक में डुपट्टा बाँधकर, अग्नि-इत्यादि कोण की ओर मुख करके, और जूता पहर कर जो आहार किया जाय—वह आसुर आहार कहा गया है। आधी रात के समय, मध्याह्नकाल में अजीर्णावस्था में, गीलावस्त्र पहर कर, टूटे हुए आसन पर बैठकर, यान में चढ़कर, टूटे हुए पात्र में, मृत्तिका और हाथ में लेकर भोजन न करे। उच्छिष्ट पात्र में घृत भोजन न करना, भोजन के समय मस्तक को स्पर्श और वेद का कीर्त्तन न करे। अवशेष न रखके भोजन न करे। भार्य्या के सङ्ग, अन्धकार में, सन्ध्या-काल में और देवालयादि में भोजन न करे। अतिभोजन-

विष्णुस्मृतौ—

पिवतः पतते तोयं भाजने मुखनिर्गतम्।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत ॥

मार्कण्डेये —

भुञ्जीतान्नञ्च तच्चित्तो ह्यन्तर्जानुः सदा नरः।
उपघातादृते दोषान्नान्नस्योदीरयेद्बुधः ॥ १२३ ॥

अन्यत्र च —

हस्तादृतेऽम्बु नान्येन नाश्नन् पात्रादृते पिवेत्।
दक्षिणन्तु परित्यज्य वामे नीरं न धापयेत् ।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं पानीयञ्च सुरा-समम् ॥ १२४ ॥
तृप्तो दद्यादन्न-शेषं भूमौ दुर्गत-तृप्तये ॥ १२५ ॥
सम्यगाचम्य दक्षाङ्घ्रेरङ्गुष्ठे वारि निःक्षिपेत् ।
"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ह्यङ्गुष्ठञ्च समाश्रितः।
ईशः सर्व्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणातु विश्वभुक्" ॥
ततः संस्मृत्य सन्तुष्टः पुष्टिदामिष्टदेवताम् ॥
सन्निकृष्टैर्वृतः शिष्टैर्जपेदन्नपतेर्मनून्।—
"अन्नपतेऽन्नस्य नो देही"-त्यादि ॥ १२६ ॥

भाषा टीका।

रोग का कारण, आयु को क्षय करने वाला, स्वर्ग-प्राप्ति में प्रतिकूल, पापकारक और लोकविगर्हित है,—इस लिये अति भोजन को त्याग देना चाहिये। और भी लिखा है,—बाँये हाथ से पात्र उठा कर अथवा पशु ओं के समान मुख से जल पीना निषिद्ध है। विष्णुस्मृति में लिखा है,—जल पीने के समय मुख से जल निकल कर, भोजन के पात्र में गिरने से—वह अन्न अभोज्य है,—उस के भोजन करने पर चान्द्रायण-प्रायश्चित्त करके शुद्धि होती है। मार्कण्डेय-पुराण में लिखा है,—जानुदेश के बीच में हस्त रख कर, अन्न में चित्त-निवेश-पूर्वक भोजन करना उचित है। कौवे, बिल्ली-इत्यादि की उच्छिष्ट के अतिरिक्त अन्न के सम्बन्ध में और किसी प्रकार का दोष पण्डितों ने नहीं कहा है ॥ १२३ ॥

अन्यत्र भी लिखा है,—हाथ से विना पकड़े केवल मात्र मुख-द्वारा जल पीना निषिद्ध है और जल-पात्र के विना केवल-मात्र हाथ में लेकर भी जल पीना उचित नहीं है। दाक्षिण ओर छोड़ कर वाम ओर जल रखने पर—वह जल मदिरा की समान और अन्न अखाद्य होता है ॥ १२४ ॥

दुर्गतियुक्त पुरुष की तृप्ति के लिये भोजन के अन्तमें भोजन से वचा हुआ अन्न भूमिमें समर्पण करे ॥१२५॥

सम्यक्प्रकार आचमन करके "अङ्गुष्ठमात्रः" इत्यादि मन्त्र पाठ कर—दहिने पैर के अँगूठे में जल देवे, तदर्थ यथा—जो अङ्गुष्ठ अङ्गुली परिमित पुरुष अङ्गुष्ठ को आश्रय करके रहैं और जो सब विश्व के ईश्वर हैं, वही विश्व भोजी प्रभु तृप्त हों।" फिर पुष्टिदायक देवता को स्मरण करके प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिये। फिर समीप के शिष्ट-पुरुषों से वेष्टित होकर "अन्नपते अन्नस्य" इत्यादि अन्नपति का मन्त्र जपना चाहिये ॥ १२६ ॥

भक्षयेदथ ताम्बूलं प्रसादं बल्लवी-प्रभोः।
शिष्टैरिष्टैर्जपेद्दिव्यं भगवन्नाममङ्गलम् ॥ १२७ ॥

अथ नैवेद्य-माहात्म्यम्।

वाराहे।— यो ममैवार्च्चनं कृत्वा तत्र प्रापणमुत्तमम्।
शेषमन्नं समश्नाति ततः सौख्यतरं नु किम् ? ॥ १२८ ॥

स्कान्दे।— तवोपहारं भक्त्या यः सेवते यज्ञपूरुष !
सेवितं तेन नियतं पुरोडाशो महाधिया ॥ १२९ ॥

किञ्च तत्रैव—

शङ्खोदकं तीर्थवराद्वरिष्ठं पादोदकं तीर्थ-गणाद्वरिष्ठम्।
नैवेद्य-शेषं क्रतु-कोटिपुण्यं निर्म्माल्य-शेषं व्रतदानतुल्यम् ॥

अपि च।—नैवेद्य-शेषं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पाद-जलेन सिक्तम्।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुत-कोटिपुण्यम् ॥ १३० ॥
षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत् फलं परिकीर्त्तितम्।
विष्णोर्नैवेद्य-सिक्थेन फलं तद्भुञ्जतां कलौ ॥ १३१ ॥

किञ्च तत्र श्रीशालग्रामशिला-माहात्म्ये—

भक्त्या भुनक्ति नैवेद्यं शालग्रामशिलार्पितम्।
कोटिं मखस्य लभते फलं शत-सहस्रशः ॥ १३२ ॥
ब्रह्मचारिगृहस्थैश्च वानप्रस्थैश्च भिक्षुभिः।
भोक्तव्यं विष्णु-नैवेद्यं नात्र कार्य्या विचारणा ॥

भाषा टीका।

फिर श्रीहरि का प्रसादीकृत ताम्बूल-सेवनपूर्वक अभिलषित शिष्ट-पुरुषों के साथ बैठ कर, प्रभु के कल्याणमय अतिउत्तम नामों को जपे ॥ १२७ ॥

अब नैवेद्य का माहात्म्य लिखा जाता है।—वराह-पुराण में लिखा है,—मेरी पूजा समापन करके मेरे अर्थ उत्कृष्ट उपहार दे—शेष अन्न आहार करने पर, उस से अधिक दूसरा सुख क्या हो-सकता है ? ॥१२८॥

स्कन्दपुराण में लिखा है,—हे यज्ञपुरुष ! अपना उपहार भक्तिपूर्वक जो आहार करते हैं, मानो—वह महामति सदा यज्ञ से बची हुई वस्तु सेवन करता है ॥ १२९ ॥

और भी लिखा है,—शंखोदक—तीर्थोत्तम से भी प्रधान, चरणामृत सवतीर्थों से श्रेष्ठ, नैवेद्य का शेष अंश—करोड़ यज्ञजनित पुण्यस्वरूप और निर्म्माल्यावशेष व्रत के और दान के समान है। विष्णु को निवेदन की हुई नैवेद्य का शेष अंश, तुलसीसमन्वित और विशेषतः चरणामृत में अभिषिक्त करके नित्य जनार्द्दन के सन्मुख आहार करने पर, दश-हजार करोड़ यज्ञ का पुण्य प्राप्त कर सकता है। १३० ॥

कलियुग में विष्णु को निवेदन की हुई नैवेद्य का एक ग्रास भोजन करने पर, छै मास—अनशनजनित (भोजन न करने का) फल मिल जाता है ॥ १३१ ॥

इसी पुराण के शालग्राम-शिला-माहात्म्य में लिखा है,—शालग्रामशिला को प्रदान की हुई नैवेद्य का शेष अंश आहार करने पर, शत सहस्र करोड़ यज्ञ का फल मिल जाता है ॥ १३२ ॥

क्या ब्रह्मचारी, क्या गृही, क्या वानप्रस्थ, क्या भिक्षुक,—जो कोई आश्रमी ही क्यों न हो—विष्णु की नैवेद्य भोजन करने में किसी प्रकार का विचार न करे। विप्र-वंशोत्पन्न होकर विष्णु का नैवद्य सेवन करने

भुक्तान्यदेव-नैवेद्यं द्विजश्चान्द्रायणश्चरेत्।
भुक्ता केशव-नैवेद्यं-यज्ञकोटि-फलं लभेत् ॥

तत्रैव श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे —

अग्निष्टोम-सहस्रैस्तु वाजपेय-शतैरपि।
तत् फलं प्राप्यते नूनं विष्णोर्नैवेद्य-भक्षणात् ॥
हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः।
पादोदकञ्च निर्म्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः ॥ १२३ ॥

किञ्च।— पावनं विष्णु-नैवेद्यं सुरसिद्धर्षिभिः स्मृतम्।
अन्यदेवस्य नैवेद्यं भुक्ता चान्द्रायणश्चरेत् ॥
कोटियज्ञैस्तु यत् पुण्यं मासोपोषणकोटिभिः।
तत् फलं प्राप्यते पुम्भिर्विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ॥
तुलस्याश्च रजोजुष्टं नैवेद्यस्य च भक्षणम्।
निर्म्माल्यञ्च धृतं येन महापातकनाशनम् ॥

वृहद्विष्णुपुराणे —

नैवेद्यं जगदीशस्य अन्नपानादिकञ्च यत्।
भक्ष्याभक्ष्य-विचारश्च नास्ति तद्भक्षणे द्विजाः।
ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्।
विकारं ये प्रकुर्व्वन्ति भक्षणे तद्द्विजातयः ॥

भाषा टीका।

पर, करोड़ यज्ञ का फल मिलता है, किन्तु अन्य देवता की नैवेद्य सेवन करने पर, चान्द्रायण प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना चाहिये। उक्त पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—हजार अग्निष्टोम और सौ अश्वमेध का अनुष्ठान करने से जो फल सञ्चित होता है, श्रीहरि की नैवेद्य का शेष अंश भोजन करने से—वही फल मिल जाता है। श्रीहरि का रूप जिस पुरुष के हृदय में विराजमान, मुख में कृष्ण-नाम विराजित, विष्णु-नैवेद्य—जठर में एवं शिर-पर चरणोदक और निर्म्माल्य विराजमान है,—उसको हरि की समान अथवा भक्ति-मार्ग से वा निज-इष्टदेव से अच्युत (अविचलित) जानना चाहिये ॥ १२३ ॥

और भी लिखा है कि,—देवता, सिद्ध और ऋषि-गण—श्रीहरि की नैवेद्य को विशुद्ध कहते हैं और कहते हैं कि,—दूसरे देवता की नैवेद्य भोजन करने पर, चान्द्रायण का अनुष्ठान करना चाहिये। विष्णु की नैवेद्य भोजन करने पर, करोड़ यज्ञानुष्ठानजनित और करोड़ महीने उपवास करने का फल होता है। तुलसी-रज से युक्त नैवेद्य सेवन और निर्म्माल्य-धारण करने पर, सब महापाप दूर हो जाते हैं। वृहद्विष्णुपुराण में लिखा है,—हे ब्राह्मण-गण! श्रीहरि की नैवेद्य और अन्न पानादि जो वस्तु ही क्यों न हो,—उसके भोजन करने में किसी प्रकार से खायाखाय का विचार न करे। हे द्विजगण! श्रीहरि की नैवेद्य ब्रह्मवत् निर्विकार और—वह विष्णु के अनुरूप है। विष्णु की नैवेद्य सेवन करने में जिस के हृदय में विकार-भाव-उदय होता है,—उसको कुष्ठरोगी और पुत्र-

कुष्ठव्याधिसमायुक्ताः पुत्रदार-विवर्जिताः ।
निरयं यान्ति ते विप्रा यस्मान्नावर्त्तते पुनः ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे —

नवमन्नं फलं पुष्पं निवेद्यं मधुसूदने ।
पश्चाद्भुङ्क्ते स्वयं यश्च तस्य तुष्यति केशवः ॥

ब्रह्माण्डपुराणे—

मुकुन्दाशन-शेषन्तु यो हि भुङ्क्ते दिने दिने ।
सिक्थे सिक्थे भवेत् पुण्यं चान्द्रायण-शताधिकम् ॥

अन्यत्रापि।— एकादशी-सहस्रैस्तु मासोपोषणकोटिभिः ।
तत् फलं प्राप्यते पुम्भिर्विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ॥ इति ॥ १३४ ॥

ततो यथोक्तमाचम्य ताम्बूलादि विभज्य च ।
महाप्रसादं दास्येन गृह्णीयात् प्रयतः स्वयम् ॥ १३५ ॥

तथा च नवमस्कन्धे श्रीमदम्बरीष-चरिते —

कामन्तु दास्ये न तु काम-काम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥
नैवेद्य-भक्षणे यश्च निर्म्माल्य-ग्रहणे च यत् ।
माहात्म्यमादौ लिखितं ज्ञेयं सर्व्वमिहापि तत् ॥ १३६ ॥

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते भगवद्भक्ति-
विलासे महाप्रसादो नाम
नवमो विलासः ॥ ९ ॥

भाषा टीका ।

कलत्र-हीन होकर नरकगामी होना पड़ता है, किन्तु नरक से फिर—उसको संसार में लौटना नहीं पड़ता । विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है,—गोविन्द के अर्थ नूतन अन्न, फल और पुष्प निवदन करके पीछे स्वयं सेवन करने पर, हरि—उस पर प्रसन्न होते हैं । ब्रह्माण्डपुराण में वर्णित है कि,—प्रतिदिन श्रीहरि की नैवेद्य का शेष-अंश भोजन करने पर, प्रतिग्रास में चान्द्रायण-व्रत से भी अधिक पुण्य होता है । अन्यत्र भी लिखा है,—विष्णु की नैवेद्य को भोजन करते ही हजार एकादशी व्रत का और करोड़ मासोपवास-व्रत का फल मिल सकता है । ॥ १३४ ॥

फिर विधिपूर्वक आचमन करके ताम्बूल-माल्य-चन्दन—इत्यादिरूप महाप्रसाद अन्यान्य भक्तवर्ग को बाँटकर स्वयं भोजन करे और पवित्र होकर दास्य-भाव के उपयोगी अपने को चिन्ता करे ॥ १३५ ॥

श्रीमद्भागवत के नवम-स्कन्ध में श्रीमदम्बरीष-चरित में लिखा है,—वह स्रक्-चन्दनादि-विषय भोग को, भगवज्जनावलम्बिनी रति जिस प्रकार होती है—उसी प्रकार करके प्रभु के दास्य में तत्पर करते हैं, परन्तु—वह विषय-वासना में नहीं है, केवलमात्र भगवान् का प्रसाद—स्वीकार करने के लिये है । यहां भी पूर्वकथित नैवेद्य-सेवन का और निर्म्माल्यग्रहण का माहात्म्य जानना चाहिये ॥ १३६ ॥

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे भाषाटीकायां पौष्पिको नाम नवमो विलासः ॥ ९ ॥

नवम विलासः समाप्तः ॥

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः।

दशम विलासः ।

श्रीकृष्ण-चरणाम्भोजमधुपेभ्यो नमो नमः ।
कथञ्चिदाश्रयाद्येषां श्वापि तद्गन्धभाग् भवेत् ॥ १ ॥
अथ श्रीकृष्ण-भक्तानां सतां सविनयं शुभाम् ।
गच्छेद्वैष्णवचिह्नाढ्यः पातुं कृष्ण-कथासुधाम् ॥ २ ॥

तथा च स्मृतिः—

इतिहासपुराणाभ्यां षष्ठ-सप्तमकौ नयेत् ॥ ३ ॥

अथ श्रीभगवद्भक्तानां लक्षणानि ।

तत्र सामान्यतः; लैङ्गे—

विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः ॥ ४ ॥

अत्र विशेषः ।

व्रत-कर्म्म-गुण-ज्ञान-भोग-जन्मादिमत्स्वपि ।
शैवेष्वपि च कृष्णस्य भक्ताः सन्ति तथा तथा ॥ ५ ॥

भाषा टीका ।

किसी प्रकार भी जिन का आश्रय ग्रहण करने पर, सारमेय के समान अतिहीन जन भी श्रीकृष्ण के पाद-पद्म की गन्ध का भागी होता है, श्रीकृष्ण के चरणकमलों में भ्रमर की सदृश—उन समस्त भक्त-कुल को वारम्वार नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

महाप्रसाद-इत्यादि ग्रहण करने के पीछे हरि-मन्दिर तिलक, माल्य और मुद्रादि वैष्णवों के चिह्न से विभूषित हो—हरिकथारूपी अमृत पान-निमित्त विनयसहित हरि-भक्त सज्जनगणों के समीप प्रस्थान करें ॥ २ ॥

उक्त विषय में स्मृत्युक्ति है कि,—महाभारत-इत्यादि इतिहास और पुराण-द्वारा अष्टम अंश में अंशीभूत दिन का षष्ठ और सप्तम भाग वितावें ॥ ३ ॥

अव भगवद्भक्त के लक्षण कहते हैं। तिस में साधारणतः लिङ्गपुराण में लिखा है,—जिस के विष्णु ही अभीष्ट देवता हैं—उसी को 'वैष्णव' (विष्णु-भक्त) कहा जाता है ॥४॥

इस विषय में विशेष कथित होता है ।—जो उपवासादि व्रत, सदाचार, करुणा-इत्यादिगुण, आत्मा-नात्मविवेकादि ज्ञान, विषय-सम्भोग, सद्वंश में उत्पत्ति और विद्या-वित्त-इत्यादि से युक्त हैं,—उन में और शैव-गणों के भीतर भी उल्लिखित विशेषप्रकार-व्रतादि द्वारा श्रीहरि के भक्त-गण वर्त्तमान हैं अर्थात् उक्त व्रतादि-निष्ठ तत्तत्सम्प्रदायभुक्त जनों के वीच में भगव-द्भक्ति के हेतु उनके व्रतादिपरायण होकर जो जिस प्रकार विशेषता लाभ करते हैं,—वे तादृश भगवद्भक्त होते हैं ॥ ५ ॥

"तत्र व्रतिषु मध्ये भगवद्भक्ति-हेतुव्रतपरता भगवद्भक्त-लक्षणम् ।"

तथा स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—

दशमी-शेषसंयुक्तं दिनं वैष्णववल्लभम् ।
नोपासते महीपाल ! ते वै भागवता नराः ॥ ६ ॥
प्राणात्यये न चाश्नन्ति दिनं प्राप्य हरेर्नराः ।
कुर्व्वन्ति जागरं रात्रौ सदा भागवता हि ते ॥ ७ ॥
उपोष्य द्वादशीं शुद्धां रात्रौ जागरणान्विताम् ।
अल्पन्तु साधयेद्यस्तु स वै भागवतो नरः ॥
भक्तिर्न विच्युता येषां न च्युतानि व्रतानि च ।
सुप्रियः श्रीपतिर्येषां ते स्युर्भागवता नराः ॥ इति ॥ ८ ॥

"कर्म्मिषु भगवदर्पणादिना तदाज्ञा-वुद्धयादिना वा भक्ति-हेतुः सदाचारपरता" ॥ ९ ॥

धर्म्मार्थं जीवितं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम् ।
पचनं विप्रमुख्यार्थं ज्ञेयास्ते वैष्णवा नराः ॥ १० ॥
अध्वगन्तु पथि श्रान्तं कालेऽत्र गृहमागतम् ।
योऽतिथिं पूजयेद्भक्त्या वैष्णवः स न संशयः ॥ ११ ॥
सदाचार-रताः शिष्टाः सर्व्वभूतानुकम्पकाः ।

भाषा टीका ।

उक्त व्रतिगण में भगवद्भक्ति की हेतु व्रत (श्री एकादशी) उपवासादि-परता को ही भगवद्भक्त का लक्षण कहते हैं । स्कन्दपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में उसी प्रकार लिखा है,—हे नृपते ! जो दशमी-शेषयुक्त विष्णुप्रिय दिन का (एकादशी का) उपवास नहीं करते—उन्हीं को वैष्णव कहा जाता है ॥६॥

मृत्युसंकट उपस्थित होने पर भी हरि-वासर में भोजन न करने से और इस दिन की रात्रि में जागरण करने से—वही भगवद्भक्तों में गिना जाता है ॥ ७॥

जो पुरुष उपवासी रहकर जागरण के सहित थोड़ी भी विशुद्ध द्वादशी का साधन करता है, —उसी को भागवत कहा जाता है। जो भक्ति से विचलित नहीं हैं,—जो एकादशी का व्रत-भङ्ग वा कार्त्तिकादि का नियम नहीं तोड़ते और जो श्रीहरि को ही प्रीति का पात्र जानते हैं,—उन्हीं को भगवद्भक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

जो कर्म्मपरायण हैं—वे यदि भगवान् के प्रति ही कर्म्म-फल अर्पण करें और ऐसा जान कर सदाचार में निष्ठावान् रहें कि,—"श्रुति-स्मृति-भगवान् की आज्ञा हैं, मैं—उसी आज्ञा को पालन करता हूँ" तो उनके पक्ष में—वही भक्ति का हेतु कह कर निर्दिष्ट है ॥९॥

धर्म्म कार्य्यों के लिये ही जिनका जीवन है, सन्तान के अर्थ ही जिन का मैथुन है और श्रेष्ठ ब्राह्मणों के निमित्त ही जिनकी अन्नादि-रन्धन-क्रिया समाहित होती है,—उन्हीं को वैष्णव कहा गया है ॥ १० ॥

यथा काल में मार्ग से पथिक को घर आया देखकर, जो अतिथि जान—प्रसन्नचित्त से उसकी पूजा करते हैं,—वही वैष्णवों में गिने गये हैं,—इस में सन्देह नहीं ॥ ११ ॥

सदाचारनिष्ठ, शास्त्रानुरागी, सब जीवों में दयावान,

शुचयस्त्यक्तरागा ये सदा भागवता हि ते ॥ १२ ॥

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीनारदाम्वरीष-सम्वादे।

जीवितं यस्य धर्म्मार्थे धर्म्मो हर्य्यर्थमेव च ॥
अहोरात्राणि पुण्यार्थे तं मन्ये वैष्णवं जनम् ॥ १३ ॥

लैङ्गे च।—विष्णु-भक्तिसमायुक्तान् श्रौतस्मार्त्तप्रवर्त्तकान्।
प्रीतो भवति यो दृष्ट्वा वैष्णवः स प्रकीर्त्तितः ॥ १४ ॥
"गुणवत्सु भक्ति-हेतुः कृपालुत्वादि-सद्गुण-शीलता।"

स्कान्दे तत्रैव—

पर-दुःखेनात्मदुःखं मन्यन्ते ये नृपोत्तम!
भगवद्धर्म्मनिरतास्ते नराः वैष्णवा नृप! ॥ १५ ॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिल-देवहूति-सम्वादे—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्व्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ १६ ॥

पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवस्य पुत्रानुशासने—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमो-द्वारं योषितां सङ्गि-सङ्गम।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥ १७ ॥

भाषा टीका।

पवित्र और कर्म्म-फल का त्यागी पुरुष निःसन्देह प्रभु के भक्तों में गिना गया है ॥ १२ ॥

पद्मपुराणके वैशाख-माहात्म्य में नारदाम्वरीष-सम्वाद में लिखा है कि,—धर्म्मार्थ ही जिस पुरुष का जीवन श्रीकृष्ण की प्रीति के निमित्त ही जिस का धर्म्म और जो पुण्य कार्य्यों के अनुष्ठान में ही दिन-रात व्यतीत करते हैं,—उनको वैष्णव मानता हूँ ॥ १३ ॥

लिङ्गपुराण में लिखा है कि,—जो पुरुष, श्रुति-विहित और स्मृति-विहित कर्म्मप्रवृर्त्तक हरिभक्ति-परायण जनों को देख कर सन्तुष्ट रहता है—वही यथार्थ वैष्णव कहा गया है ॥ १४ ॥

गुणशील पुरुषों में दयादि जो सब सद्गुण विराजित रहते हैं,—वही भगवद्भक्ति का हेतु कहकर निर्दिष्ट है। स्कन्दपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है,—हेनृप सत्तम! जो पराये दुःख को अपने दुःख की समान समझता है,—वह भगवद्धर्म्मानुरागी महात्मा ही वैष्णव कहा गया है,—वह भगद्धर्मानुरागी महात्मा ही वैष्णव कहा गया है ॥ १५ ॥

श्रीमद्भागवत के तृतीय-स्कन्ध में कपिल-देवहूति-सम्वाद में वर्णित है,—तितिक्षु (सहनशील) कारुणिक (दयालु) सब जीवों के सुहृद्, अजातशत्रु, क्रोधादिहीन वा विनयगुणादियुक्त पुरुष और सुशीलता गुण अथवा तुलसी माला—इत्यादि जिसका एकमात्र गहना है,—वही भगवद्भक्त हैं ॥ १६ ॥

पञ्चम-स्कन्ध में ऋषभदेव के पुत्रानुशासन में वर्णित है,—हे वत्सगण! महत् (भगवद्भक्त) सेवा ही मुक्ति (श्रीवैकुण्ठलोक प्राप्ति) का द्वार और स्त्रीसङ्गि-सङ्ग को ही बुद्धिमानों ने संसार वा नरक का द्वार कहा है। हे पुत्रगण! जो; सब जीवों में समदर्शी, प्रशान्त, क्रोधहीन, सौहार्दयुक्त और शास्त्रानुवर्त्ती हैं,—उन्हीं को महान् (भगवद्भक्त) कहा गया है ॥ १७ ॥

एकादशस्कन्धे श्रीभगवत्-प्रदत्तोद्धवप्रश्नोत्तरे—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्व्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्व्वोपकारकः ॥
कामाक्षुभितधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥१८ ॥

विष्णुपुराणे यम-तद्भटसम्वादे—

न चलति निज-वर्णधर्म्मतो यः, सममतिरात्म-सुहृद्विपक्षपक्षे
न हरति न चलति किञ्चिदुच्चैः, स्थिरमनसं तमवेहि विष्णु-भक्तम् ॥ १९ ॥

"ज्ञानिषु भक्तिहेतुर्ज्ञानवत्ता ।"

एकादशे—सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ॥
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ २० ॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।

भाषाटीका ।

एकादश-स्कन्ध में उद्धव के प्रश्नोत्तर में भगवान् की उक्ति है,—जो किसी जीव से किसी समय भी द्रोहाचरण (अनिष्ट-चिन्ता) नहीं करते, जो तितिक्षु, (अपराधसहिष्णु) कृपालु, (पर-दुःखासहिष्णु) सत्यसार, (सत्यनिष्ठ) अनवद्यात्मा; (असूयाहीन) सुख-दुःख में समानभावयुक्त, सब के उपकारी, काम में अक्षुब्धमन अर्थात् जिनके चित्त में काम से क्षोभ न हो, दान्त (वाह्येन्द्रिय जीतने वाला) मृदु, (परदुःख में आर्द्र-चित्त) शुचि, (सदाचारवान्) अकिञ्चन, (ग्रहणेच्छा-शून्य) अनीह (दुष्टक्रिया-रहित) मितभुग्, (अल्पभोजी) शान्त, (संयतचित्त) स्थिर, (निज-धर्म्म-नियमादि में एकनिष्ठ) मेरी शरणागत, मननशील वा वृथा कथा त्यागने वाला, अप्रमत्त, (हुसियार) गभीरात्मा, (निर्विकार) धृतिमान् (आपदा के समय भी कातरता-हीन) भूख-प्यास-शोक-मोह-जरा-मृत्युजयी, अमानी (सन्मान की आशा हीन) मानप्रद, कल्प (दूसरे को प्रबोध देने में समर्थ) मैत्र, (जो दूसरों को ठगने वाले नहो) कारुणिक (सब स्थान में कृपा-दृष्टि) और सम्पूर्ण ज्ञानी वा हरि-लीलावर्णन शील हैं;—उन्हीं को विष्णु-भक्त जानना चाहिये ॥ १८ ॥

विष्णुपुराण के यम-यमदूत-सम्वाद में लिखा है,—जो अपने वर्णाश्रम से भ्रष्ट नहीं हैं, जो पुरुष अपने सुहृद् और शत्रु के पक्ष में समबुद्धियुक्त हैं, जो पराये द्रव्य के हरने वाले वा उद्धतस्वभाव नहीं हैं और जिन का चित्त स्थिर है,—वही विष्णु-भक्त कहे गये हैं ॥ १९ ॥

ज्ञानियों में जो ज्ञानवत्ता विद्यमान् रहती है,—उसी को भक्ति का कारण जानना चाहिये । एकादश-स्कन्ध में श्रीहरि नामक योगीन्द्र की उक्ति है,—हे नृपते! जो पुरुष सब जीवों में अपना भगवद्भाव और आत्मस्वरूप भगवान् में सब जीवों को देखता है—उसी को भागवत-श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ २० ॥

अपने धन वा पराये धन में जिस का भेद-ज्ञान नहीं है, जो सब के आत्मा में ही सम-ज्ञान करता है, सर्व-

सर्व्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥ २१ ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥ २२॥
ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ २३ ॥
अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ २४ ॥
"भोगवत्सु भक्तिहेतुर्भोगानासक्तता"।

हरियोगेश्वरोत्तरे--
गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥ २५ ॥
"सज्जन्मविद्यादिमत्सु भक्तिहेतुर्निरभिमानता"।

तत्रैव।-- न यस्य जन्म-कर्म्माभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥ २६ ॥
भावाः कथञ्चिद्भक्त्यैव ज्ञानानासक्त्यमानिता।

भाषा टीका।

भूत को तुल्यदर्शन करता है और जो शान्तचित्त है,—उसी को भागवतश्रेष्ठ कहा जाता है ॥ २१ ॥

मुझको देश-काल-परिछिन्न, सर्वात्मा, सच्चिदानन्द-रूप से परिज्ञात हो वा न हो—अनन्य भाव से जो भजन करता है--उसी को मेरा परमभक्त-श्रेष्ठ जानना चाहिये ॥ २२ ॥

जो मनुष्य श्रीभगवान् में प्रेम, भगवद्भक्त में सख्य-भाव, मूर्खव्यक्ति में कृपा और हरिद्वेषी को उपेक्षा करते हैं—(इस प्रकार भेद देखने का हेतु से) वह मध्यम भक्त हैं ॥ २३ ॥

जो श्रद्धासहित प्रतिमा में जनार्द्दन की पूजा करते हैं परन्तु विष्णुभक्त अथवा और की पूजा न करे—उस को प्रथमप्रवृत्त भक्त कहा जाता है,—वह भी क्रम-क्रम से भक्ति के उत्तमाधिकारित्व को प्राप्त होता है ॥२४॥

भोगयुक्त पुरुषों में जो भोग-विषय में अनासक्ति है,—उसी को भक्ति का कारण जानना चाहिये। एकादश-स्कन्ध में लिखा है,—हे राजन् ! जो जनार्द्दन में निविष्टमनाः हैं अर्थात् जिन्होंने अपने चित्त को जनार्द्दन में लगा रक्खा है—वे इन्द्रियों की सहायता से अपने लिये रूप-रसादि ग्रहण करके भी विश्व को विष्णु-माया जानकर, दोषयुक्त वस्तु की इच्छा वा गुणयुक्त वस्तु की निन्दा नहीं करते उन्हीं को भागवत-श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ २५ ॥

श्रेष्ठ वंश में जिसकी उत्पत्ति हुई है और विद्यादि से संपन्न है उन पुरुषों में जो अभिमान शून्यता विराजमान रहती है,—उसी को भक्ति का प्रति कारण जानना चाहिये। उसी स्थान में लिखा है कि,—जो पाञ्चभौतिक देह धारण करके सत्कुल में जन्म जनित, कर्म जनित, ब्राह्मण वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि जनित वा क्षत्रिय-वैश्यादि जाति जनित अहंभाव आदि का आश्रय नहीं करते-उनको कृष्ण-भक्त जानना चाहिय ॥ २६ ॥

ज्ञान, अनासक्ति, अमानितादिभावसमूह किञ्चित

भक्ति-निष्ठापका जातास्ततो ह्युत्तमतोदिता ॥ ॥ २७ ॥

शैवेषु श्रीशिव-कृष्णाभेदकता ।

बृहन्नारदीये—

शिवे च परमेशाने विष्णौ च परमात्मनि ।
समबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥ इति ॥ २८ ॥
अन्यच्च तेषां भगवच्छास्त्रार्थपरतादिकम् ।
साक्षाद्भक्त्यात्मकं मुख्यलक्षणं लिख्यतेऽधुना ॥ २९ ॥

श्रीभागवतशास्त्रपरता ।

स्कान्दे ।—येषां भागवतं शास्त्रं सदा तिष्ठति सन्निधौ ।
पूजयन्ति च ये नित्यं ते स्युर्भागवता नराः ॥ ३० ॥
येषां भागवतं शास्त्रं जीवितादधिकं भवेत् ।
महाभागवताः श्रेष्ठा विष्णुना कथिता नराः ॥ ३१ ॥

वैष्णवसम्मान-निष्ठा ।

लैङ्गे ।— विष्णुभक्तमथायातं यो दृष्ट्वा सुमुखः प्रियः ॥
प्रणामादि करोत्येव वासुदेवे यथा तथा ।
स वै भक्त इति ज्ञेयः स पुनाति जगत्त्रयम् ॥
रुक्षाक्षरा गिरः शृण्वन् तथा भागवतेरिताः ।

भाषा टीका ।

सेवारूप भक्ति-द्वारा भक्ति के परिपाक होते हैं—इसी कारण पूर्व पूर्व भाव से-उनकी उत्तमता उक्त होती है ॥ २७ ॥
शैवसम्प्रदाय में जो शिव और कृष्ण में अभेद ज्ञान करते हैं—उनको वैष्णव कहा जाता है। बृहन्नारदीय-पुराण में लिखा है,—परमेश्वर-शिव और परमात्मा-कृष्ण,—इन दोनों में समबुद्धि होने से ही—उनको भागवत श्रेष्ठ में गिना जाता है ॥ २८ ॥

भगवद्भक्तगणों के अपरापर भगवत्शास्त्र-परतादि भक्ति के लक्षण होने पर भी, इस समय साक्षात् भक्ति स्वरूप भवगद्भक्ति का मुख्य लक्षण लिखा जाता है ॥ २९ ॥

अथ भागवत-शास्त्र-परता ।—स्कन्दपुराण में लिखा है,—जिन पुरुषों के समीप सदा भागवत—शास्त्र विद्यमान रहता है और जो सदा भागवत शास्त्र की पूजा करते हैं—उन्हीं को भगवद्भक्त कहा जाता है ॥ ३० ॥

जो भागवत-शास्त्र को जीवन से भी अधिक समझते हैं, श्रीविष्णु ने उन्हीं मनुष्योत्तमों को महाभागवत कहा है ॥ ३१ ॥

अब वैष्णव-सन्मान की निष्ठा कही जाती है—लिङ्ग-पुराण में वर्णित है,—वासुदेव को जिस प्रकार प्रणाम किया जाता है,—इसी प्रकार विष्णु-भक्त को आता हुआ देख कर जो प्रफुल्लवदन और आनन्दचित्त से उन को प्रणाम करते हैं—उन्हीं को भगवद्भक्त जानना चाहिये और उन्हीं के द्वारा तीनों जगत् पवित्र होते हैं। भगवद्भक्त के मुख से निकले कर्कश-वचन सुन कर भी क्षमा करके प्रणामपूर्वक वार्त्तालाप करने पर,—

प्रणाम-पूर्व्वं क्षान्त्वा यो वदेद्वै वैष्णवो हि सः ॥ ३२ ॥
भोजनाच्छादनं सर्व्वं यथाशक्त्या करोति यः ।
विष्णु-भक्तस्य सततं स वै भागवतः स्मृतः ।
गारुड़े ।— येन सर्व्वात्मना विष्णु-भक्त्या भावो निवेशितः ॥
वैष्णवेषु कृतात्मत्वान्महाभागवतो हि सः ॥ ३३ ॥

श्रीतुलसीसेवा-निष्ठा ।

वृहन्नारदीये श्रीभगवन्मार्कण्डेय-सम्वादे—
तुलसी-काननं दृष्ट्वा ये नमस्कुर्व्वते नराः ।
तत्काष्ठाङ्कितकर्णा ये ते वै भागवतोत्तमाः ॥
तुलसी-गन्धमाघ्राय सन्तोषं कुर्व्वते तु ये ।
तन्मूलमृद्धृता यैश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ३४ ॥

श्रीभगवतः कथापरता ।

वृहन्नारदीये श्रीभगवन्मार्कण्डेय-सम्वादे—
मत्कथा-श्रवणे येषां वर्त्तते सात्त्विकी मतिः ।
तद्वक्तरि सुभक्तिश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥
स्कान्दे श्रीभगवदर्ज्जुनसम्वादे—
मत्कथां कुरुते यस्तु मत्कथाञ्च शृणोति यः ।

भाषा टीका ।

उसी को वैष्णवों में गिना जाता है,—इस में सन्देह नहीं ॥ ३२ ॥

सदा शक्ति के अनुसार भगवद्भक्तों का भोजनाच्छादनादि [अन्न वस्त्रादि] निर्वाहित करने पर, निसन्देह वही भगवद्भक्तों में गिने जाते हैं । गरुड़-पुराण में वर्णित है,—सर्वथा हरि-भक्ति में मन लगाय वैष्णव के प्रति आत्मसमर्पण करने पर, वे महाभागवत नाम से कीर्तित होते हैं,—इस में सन्देह नहीं ॥ ३३ ॥

अब तुलसी-सेवा की निष्ठा कही जाती है ।—वृहन्नारदीय-पुराण के भगवान् और मार्कण्डेयसम्वाद में वर्णित है,—जो तुलसी-वन देख कर प्रणाम और तुलसी-काष्ठ कर्ण-मूल में वहन करते हैं,—वही निःसन्देह प्रधान भगवद्भक्तों में गिने जाते हैं । जो तुलसी की गन्ध सूँघ कर प्रसन्न होते हैं और—उसके जड़ की मिट्टी ललाटादि में तिलकरूप से धारण करते हैं,—उन्हीं को निःसन्देह भागवतोत्तम कहा जाता है ॥३४॥

श्रीभगवान् की कथा में तत्परता कथित होती है ।—वृहन्नारदीय-पुराण के भगवान् मार्कण्डेय-सम्वाद में लिखा है,—मेरी कथा सुनकर जिसकी सात्विकी-मति उत्पन्न होती है और मेरी कथा कहने वाले के प्रति जिसकी भक्ति विद्यमान रहती है, निःसन्देह—वही भागवतोत्तमों में गिने जाते हैं । स्कन्दपुराण के भगवान् अर्जुन-सम्वाद में लिखा है कि,—जो पुरुष मेरी कथा कीर्तन, मेरी कथा श्रवण और मेरी कथा में हर्ष प्रकाश

हृष्यते मत्कथायाश्च स वै भागवतोत्तमः ॥ ३५ ॥

तृतीयस्कन्धे तत्रैव—

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापानैतान्मद्गतचेतसः ॥ ३६ ॥

नाम-परता।

बृहन्नारदीये तत्रैव—

मन्मानसाश्च मद्भक्ता मद्भक्तजनलोलुपाः।
मन्नाम-श्रवणासक्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ३७ ॥
येऽभिनन्दन्ति नामानि हरेः शृण्वन्ति हर्षिताः।
रोमाञ्चितशरीराश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥

तत्रैवान्यत्र—

अन्येषामुदयं दृष्ट्वा येऽभिनन्दन्ति मानवाः।
हरिनाम-पराः ये च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ३८ ॥

स्मरण-परता।

"तत्र स्वधर्म्मनिष्ठया रागद्वेषादिनिवृत्त्या स्मरणम्"

श्रीविष्णुपुराणे यमतद्भटसम्वादे—

न चलति उच्चैः श्रीभगवत्-पदारविन्दे सितमनास्तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥३९॥

भाषा टीका।

करते हैं—उन्ही को भागवतोत्तम कहा जाता है,—इस में सन्देह नहीं ॥ ३५ ॥

तृतीय-स्कन्ध के उक्त स्थान में ही लिखा है,—जो पुरुष मुझमें मनो-निवेश करके मेरी विशुद्ध कथा-श्रवण वा कीर्तन करते हैं, सुतरां अध्यात्मिकादि विविध ताप उनको तापित करने में समर्थ नहीं होते,—उन्ही को भगवद्भक्त कहा जाता है ॥ ३६ ॥

अब भगवान् के नाम में तत्परता कही जाती है।—बृहन्नारदीयपुराण के पूर्वोक्त स्थान में लिखा है,—मद्गतमनाः, (मुझ में निविष्ट मन वाला) मेरी सेवादि में निष्ठावान्, मेरे भक्तों के प्रति प्रेमवान् और मेरे नाम सुनने में आसक्तचित्त-पुरुष ही भागवतोत्तमों में गिना जाता है,—इस में सन्देह नहीं ॥ ३७ ॥

भगवान् के नाम से जिन को आनन्द-उदय होता है, जो प्रसन्न होकर भगवान् के नामों को सुनते हैं और नाम सुनने से जिनका शरीर रोमाञ्चित (कण्टकित) होता है, निस्सन्देह वेही भगवान् के श्रेष्ठ-भक्त कहे गये हैं। उक्त पुराण के दुसरे स्थान में लिखा है कि,—जो दूसरे की उन्नति देखकर अभिनन्दन अर्थात् अतिशय आनन्द प्रकाश करते हैं और जो हरि-नाम में तत्पर हैं, वे निःसन्देह भागवतोत्तम हैं ॥ ३८ ॥

अब भगवान् के नाम-स्मरण में तत्परता का विषय वर्णित होता है। इस विषय में स्वधर्म्म-निष्ठा द्वारा राग-द्वेष कलि-कलुष लोभादि का अपगम (विनाश) होने से ही स्मरणोदय होता है। विष्णु-पुराण के यम-यमदूत-सम्वाद में लिखा है,—जो पुरुष परम उन्नतर श्रीभगवच्चरणारविन्द में निबद्धचित्त हैं और उनसे विचलित नहीं होते—उनको विष्णु-भक्त जानो ॥ ३९ ॥

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।
मनसि कृत-जनार्द्दनम् मनुष्यं सततमवेहि हरेरतीव भक्तम् ॥ ४० ॥
कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्धया तृणमिव यः समवैति वै परस्वम् ।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥ ४१ ॥
स्फटिकगिरिशिला-मलः क विष्णुर्म्मनसि नृणां क च मत्सरादि-दोषः ।
न हि तुहिनमयूखरश्मि-पुञ्जे भवति हुताशनदीप्तिजः प्रतापः ॥ ४२ ॥
विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः शुचिचरितोऽखिलसत्वमित्रभूतः ।
प्रिय-हितवचनोऽस्तमानमायो वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः ॥ ४३ ॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः ।
क्षिति-रसमतिरम्यमात्मनोऽन्तः कथयति चारुतयैव शालपोतः ॥ ४४ ॥
"अन्यविजयवैराग्यादिना च स्मरणम्"

श्रीहरियोगेश्वरोत्तरे—
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययं क्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसार-धर्म्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवत-प्रधानः ॥ ४५ ॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।

भाषा टीका ।

कलिकलुषरूप मल-द्वारा जिस विमलमति का चित्त मलीन नहीं होता अर्थात् जो व्यक्ति मन से भी पापाचरण नहीं करते, जो सदा हृदय पट में भगवान् को धारण करते हैं—उन्ही को हरि का परमभक्त जानना चाहिये ॥ ४० ॥

एकान्त में दूसरे का सुवर्ण धन देखकर भी जो अपनी बुद्धि से उसको तृणवत् समझता है और जिस का मन भगवान् में ही आसक्त है, उसी पुरुष प्रवर को विष्णुभक्त जानना चाहिये ॥ ४१ ॥

स्फटिकपर्वत की शिला के समान हरि कहाँ? और मानव-चित्तगत मत्सरादि दोष कहाँ? अर्थात् इन दोनों में बहुत भेद है। चन्द्रमा की किरणों में अग्नि की दीप्ति का प्रभाव दिखाई नहीं देता ॥ ४२ ॥

वासुदेव निरन्तर अमल बुद्धि, मत्सरहीन, प्रशान्त, (राग-द्वेषादिरहित) विशुद्धाचारवान्, स्वभावतः सर्वजीवोपकारी, प्रिय, (सब जीवों के श्रवण एवं मन का सुखकारी) और हितभाषी तथा गर्व-दम्भहीन पुरुष के हृदय में ही अधिष्ठित रहते हैं ॥ ४३ ॥

शाल-वृक्ष जिस प्रकार कोमलता के कारण अपने भीतर परमोत्तम पृथ्वी-रस की सूचना करता है,—ऐसे ही सनातन हरि, हृदय-पट में अधिष्ठित होने पर—वह पुरुष भी मनोहर-मूर्त्ति धारण करता है ॥ ४४ ॥

अन्य विजय और वैराग्यादि द्वारा स्मरण विषय वर्णित होता है। एकादश-स्कन्ध में श्रीहरि-योगेश्वर के उत्तर में प्रकाशित है कि,—जो भगवान् के स्मरण करने से शरीर की उत्पत्ति और लय, प्राण की क्षुधा, चित्त की भीति, बुद्धि की तृषा और इन्द्रियग्राम के श्रमरूप संसार धर्म्मद्वारा मोहित नहीं हैं—उन्ही को भागवत श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ४५ ॥

इस एकादशस्कन्ध में ही लिखा है कि,—त्रिभुवन की सम्पत्ति मिलने पर भी जो पुरुष लव निमेषार्द्ध के लिये भी इन्द्रादि देवता ओं के अन्वेषणीय भगवत्पाद-

न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥ ४६ ॥
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-नखमणि-चन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥ ४७ ॥

अथ पूजापरता ।

स्कान्दे तत्रैव—
येऽर्च्चयन्ति सदा विष्णुं यज्ञेशं वरदं हरिम् ।
देहिनः पुण्यकर्म्माणः सदा भागवता हि ते ॥

लैङ्गे ।— विष्णु-क्षेत्रे शुभान्येव करोति स्नेहसंयुतः ।
प्रतिमाश्च हरेर्नित्यं पूजयेत् प्रयतात्मवान् ॥
विष्णुभक्तः स विज्ञेयः कर्म्मणा मनसा गिरा ।
नारायणपरो नित्यं भूप । भागवतो हि सः ॥ ४८॥

वैष्णवधर्म्मनिष्ठतादि ।

पाद्मोत्तरखण्डे—
तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्म्मकारकः ।
अर्थपञ्चकविद्विप्रो महाभागवतो हि सः ॥४९॥

एकान्तिता ।

गारुड़े ।— एकान्तेन सदा विष्णौ यस्माद्देवे परायणाः ।
तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः ॥

भाषा टीका ।

पद्म से विचलित न होकर उक्त चरण-कमलों को ही सार जान कर कृतनिश्चय होते हैं—वही वैष्णवों में अग्रणी कहे गये हैं ॥ ४६ ॥

चन्द्रमा के उदय होने पर जैसे सूर्य्य का ताप विद्यमान नहीं रहता—ऐसे ही भगवान् त्रिविक्रम के चरणाङ्गुली की नख-चन्द्रिकाद्वारा उपासक के हृदय का सन्ताप दूर होने पर फिर किस प्रकार उस का अभ्युदय होगा ? ॥ ४७ ॥

अब भगवान् की पूजा-परता वर्णित होती है ।—स्कन्दपुराण के उक्त स्थान में ही लिखा है कि,—सदा वरप्रदयज्ञेश्वर हरि की पूजा करने से ही पुण्य कर्म्मा और भगवद्भक्तों में गिना जा सकता है । लिङ्गपुराण में कहा है,—हे राजन् ! भक्तिमान् होकर हरि-क्षेत्र में देवदेव के यात्रोत्सवादि शुभ कार्य्य का अनुष्ठान करने पर और यत्नसहित-विष्णु—प्रतिमा की पूजा करने से ही उसको विष्णु भक्त जाने और सदा काय-मन वचन से हरि-परायण होने पर ही भागवत नाम से कीर्त्तित हो सकता है ॥ ४८ ॥

अब वैष्णव-धर्म्म की निष्ठतादि का वर्णन किया जाता है ।—पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में लिखा है कि,—तापादि पञ्च संस्कारवान्, नवधा पूजा क्रियावान् और अर्थ-पञ्चक का ज्ञाता ब्राह्मण ही महा भावगत में गिना जाता है,—इस में सन्देह नहीं ॥ ४९ ॥

अब एकान्तिता कही जाती है ।—गरुड़-पुराण में लिखा है कि,—एकान्त भाव से सदा देव-देव हरि के शरणा-

तद्विज्ञानेनानन्यपरता।

एकादशे उद्धव-प्रश्नोत्तरे—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते वै भागवता मताः॥

एकादशस्कन्धे—

न कामकर्म्म-वीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥ ५० ॥

सा च एकान्तिता चतुर्द्धा।

तत्र धर्म्मानादरेन श्रीमदुद्धव-प्रश्नोत्तर एव—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्म्मान् सन्त्यज्य यः सर्व्वान् मां भजेत् स च सत्तमः॥ ५१ ॥

श्रीभगवद्गीतायाम्—

सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ५२ ॥

अतएव हि चतुर्थस्कन्धे—

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ ५३ ॥

भाषा टीका।

गत होने से ही वे भक्तगण एकान्ती नाम से अभिहित और उन्हीं को भगवान् में चित्त लगाने वाला जानना चाहिये। अब भगवद्विज्ञान-द्वारा अनन्यपरता वर्णित होती है, एकादश-स्कन्ध के उद्धव-प्रश्नोत्तर में लिखा है,—मुझ को देशकाल-परिच्छिन्न—सर्वात्मस्वरूप-सच्चिदानन्द जानें वा नहीं जानें,—अनन्यभाव से उपासना करने पर ही मेरे भक्तश्रेष्ठ साधु हो सकते हैं। एकादश-स्कन्ध में और भी लिखा है,—जिस पुरुष के मन में काम कर्म्म-बीज की उत्पत्ति नहीं होती, एकमात्र हरि ही जिन के आश्रय हैं,—उन्हीं को भागवत्-श्रेष्ठ कहा जाता है ॥५०॥ उक्त एकान्तिता चार प्रकार की हैं। * इसी

* एकान्तिता चार प्रकार यथा;—[१] धर्म्मोंपरि अनादर [२] कर्म्मज्ञानादि अशेष निरपेक्षता [३] विघ्ना-कुलत्व में भी रति-परता [४] प्रेमैक-परत्व।

एकादश-स्कन्ध में वर्णाश्रम धर्म्मों के प्रति अनादर-द्वारा श्रीउद्धव के प्रश्नोत्तर में प्रकाशित है कि,—भगवान् ने कहा था—जो पुरुष मत्कर्त्तृक वेदरूप में उपादिष्ट स्व-धर्म्मको भी विसर्जन करके और धर्म्माधर्म्म के गुण-दोष ज्ञात होकर मेरी ही उपासना करते हैं,—वे भी पहिले कहे साधुओं से श्रेष्ठ हैं॥ ५१ ॥

श्रीभगवद्गीता में लिखा है कि,—हे पार्थ! सब धर्म्मों को छोड़ कर, एक-मात्र मेरा ही भजन कर—मेरी ही शरण ग्रहण करो, मैं तुम को सब पापों से मुक्त करूँगा, शोक मत करो॥ ५२ ॥

अतएव चतुर्थ-स्कन्ध में लिखा है,—जब प्रभु किसी के चित्त में ध्यान के विषयीभूत होकर कृपा करते हैं,—उसी समय वह पुरुष वेदविषय में परिनिष्ठिता मति को विसर्जन करता है॥ ५३ ॥

अन्यसर्व्वनिरपेक्षता ।

श्रीमदुद्धवसम्वादे ऐलोपाख्याने—

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्म्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ ९४ ॥

अतएव श्रीकपिल-देवहूति-सम्वादे—

तत्र ते साधवः साध्वि ! सर्व्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः, सङ्ग-दोषहरा हि ते ॥ ९५ ॥

विघ्नाकुलत्वेऽपि मनोरतिपरतया ।

स्कान्दे तत्रैव—

यस्य कृच्छ्रगतस्यापि केशवे रमते मनः ।
न विच्युता च भक्तिर्वै स वै भागवतो नरः ॥
आपद्गतस्य यस्येह भक्तिरव्यभिचारिणी ।
नान्यत्र रमते चित्तं स वै भागवतो नरः ॥ ९६ ॥

प्रेमैकपरतया च ।

श्रीऋषभदेवस्य पुत्रानुशासने—

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु ।
गेहेषु जायात्मज-रातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ९७ ॥

भाषा टीका ।

अव अन्य सव कार्य्यों में निरपेक्षता वर्णित होती है।—श्रीमदुद्धव-सम्वाद के ऐलोपाख्यान में लिखा है,—निरपेक्ष, मेरे प्रति अपने मन को लगाने वाला, प्रशान्तचित्त, समदर्शी, ममतारहित, निरहङ्कार, निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रह [अकिञ्चन] होने पर ही वे साधु कहे जाते हैं ॥ ५४ ॥

कपिल-देवहूति—सम्वाद में लिखा है कि,—हे साध्वि ! सर्व-सङ्ग छोड़ने पर ही उस को साधु कहा जाता है,—ऐसा साधु-सङ्ग ही आप को प्रार्थनीय है । क्यों कि— उस प्रकार साधु पुरुष ही सङ्ग-दोष दूर करते हैं ॥ ५५ ॥

अव विघ्नाकुलत्व में भी चित्त की भाव-निष्ठता कही जाती है । स्कन्दपुराण के इसी स्थान में लिखा है कि,—विघ्न पड़ने पर भी जिस का मन हरि के प्रति अनुरागी और जो हरि-भक्ति से विचलित नहीं है,—उन्हीं को भगवद्भक्त कहा जाता है,—इस में सन्देह नहीं। आपद् प्राप्त होने पर भी जिस की हरि के प्रति ऐकान्तिकी भक्ति विद्यमान रहती है, जिस का मन हरि के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में आसक्त नहीं है,—उसी को भागवत कहा जाता है ॥ ५६ ॥

अव प्रेमैकपरता कही जाती है ।—भागवत के पञ्चम-स्कन्ध में ऋषभ-देव के पुत्रानुशासन में वर्णित है,—जो ईश्वररूपी मुझ में प्रेम-पुरुषार्थ स्थापन करते हैं, परन्तु अन्य विषय में निरपेक्ष हैं, विषयानुरागी मनुष्य के प्रति और पुत्र-कलत्र-धनादि-सम्पन्न घर में जिनकी वासना नहीं है और जो पुरुष शरीरयात्रा-निर्वाह करने के लिये संसार में वहुत से धन की इच्छा नहीं करते—वे ही महत् कहे गये हैं ॥ ५७ ॥

त्रिधा प्रेमैकपरता प्रेम्णः स्यात्तारतम्यतः ।
उत्तमा मध्यमा चासौ कनिष्ठा चेति भेदतः ॥

तत्रोत्तमा, यथा—

एकादशे हवियोगेश्वरोत्तरे—

सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
स्वेष्टदेवस्य भावं यः सर्व्वभूतेषु पश्यति ।
भावयन्ति च तान्यस्मिन्नित्यर्थः सम्मतः सताम् ॥

श्रीकपिलदेवहूति-सम्वादे—

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्व्वन्ति ये दृढ़ाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्म्माणस्त्यक्तस्वजनवान्धवाः ॥ ९८ ॥

हवियोगेश्वरोत्तरे च—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणय-रसनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवत-प्रधान उक्तः ॥ ९९ ॥

मध्यमामाह ।

हवियोगेश्वरोक्ताविव—

ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥

भाषा टीका।

प्रेम के तारतम्यानुसार प्रेमैकपरता त्रिविध हैं,— उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ । तिन में उत्तम प्रेमैकपरता कही जाती है।—एकादश-स्कन्ध के हवि-योगेश्वर की उक्ति में है कि,—सर्वभूतों में अपना भग-वद्भाव और स्वीय चित्त में स्फूर्त्तिशील भगवान् में आश्रय प्राप्तरूप से सर्वभूतों को अनुभव करने से ही उस को भागवत-श्रेष्ठ कहा जाता है । सर्वभूत में अपने अभीष्ट देव की सत्ता दर्शन करने से और भगवान् भूतगणों में अवस्थित हैं,—इस प्रकार चिन्ता करने पर सज्जनों के मत से—वही भागवत कहा गया है । तृतीय-स्कन्ध के कपिल-देवहूति-सम्वाद में लिखा है,—अनन्य से मेरे प्रति दृढ़भक्तिमान् होना, मेरे अर्थ कर्म्म समर्पण करना और मेरे निमित्त स्वजन-वन्धु-वान्धवादि का त्याग करना भक्तगणों का कर्त्तव्य है ॥ ५८ ॥

एकादशस्कन्ध के हवि योगेश्वरोत्तर में लिखा है,—अवश-भाव [वेवशी] से भी जिन का नाम उच्चारण करने पर सब पाप-ध्वंश होते हैं,—वे भगवान् वासुदेव जिस पुरुष के हृदय को न त्यागकर प्रेमरूपी रस्सी से पैर वँधाकर अधिष्ठित रहते हैं,—वे ही पुरुष भागवत श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ ५९ ॥

अब मध्यम प्रेमैक—परता कहते हैं ।—हवि योगेश्वर की उक्ति में प्रकाशित है,—ईश्वर के प्रति जिस का प्रेम, हरि के भक्त से जिस की मित्रता, अज्ञानी के प्रति जिस की करुणा और आत्म-द्वेषी व्यक्ति के प्रति जिस की उपेक्षा दिखाई देती है, भेद-ज्ञान के कारण—वे मध्यम भक्त में गिने गये हैं ।

कनिष्ठा ।

तत्रैव ।— अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥
श्रद्धया पूजनं प्रेम-बोधकं भक्त इत्यपि ।
प्रेमप्रकरणात्तत्तु स्वल्पं भक्तानपेक्षणात् ॥
लक्षणानि च यान्यग्रे भक्तैर्लेख्यानि तान्यपि ।
वन्दनादीनि विद्यन्ते येषु भागवता हि ते ॥
एतानि लक्षणानीत्थं गौण-मुख्यादि-भेदतः ।
ऊह्यानि लक्षणान्येवं विविच्यान्यपराण्यपि ॥ ६० ॥
ईदृगुलक्षणवन्तः स्युर्दुर्लभा वहवो जनाः ।
दिव्या हि मणयो व्यक्तं न वर्त्तेरन्नितस्ततः ॥ ६१ ॥

अतएवोक्तं मोक्षधर्म्मे नारदीये—

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षार्थ-निश्चितः ॥ इति ॥६२ ॥
एवं संक्षिप्य लिखिताद्वैष्णवानान्तु लक्षणात् ।
माहात्म्यमपि विज्ञेयं लिख्यतेऽन्यच्च तत् कियत् ॥ ६३ ॥

भाषा टीका ।

अब कनिष्ठ प्रेमैक-परता कहते हैं।— उक्त हवि योगेश्वर की उक्ति में ही प्रकाशित है,— जो पुरुष श्रद्धा-सहित हरि की प्रतिमा में पूजा करते हैं, किन्तु विष्णु-भक्त अथवा अन्य की पूजा से विमुख हैं,— उन को प्राकृत कहते हैं अर्थात् वे पर्य्याय क्रम से भक्ति के उत्तमाधिकारित्व को प्राप्त होते हैं। प्रेमवान् होकर भक्त पुरुष की जो पूजा की जाती है,—वही प्रेम का बोध कराने वाली है, अतएव पर-वन्दनादि जो सब भक्ति के लक्षण वर्णित होंगे,—उन सब लक्षणों से युक्त होने पर ही भगवद्भक्त कहा जाता है। इस प्रकार जो सब व्रत परावधि (अर्थात् व्रतों के अन्त तक) महाभागवत-लक्षण तक भगवद्भक्त के लक्षण वर्णित हुए हैं,—उन में कुछ अंश को गौण और कुछ अंश को मुख्य जानना चाहिये ॥ ६० ॥

इन सब लक्षणों से युक्त वहुत से मनुष्य दुर्लभ हैं, क्यों कि—चिन्तामणि इत्यादि अमूल्य रत्न सब स्थानों में नहीं पाये जाते ॥ ६१ ॥

नारदीयपुराण के मोक्ष धर्म्म में प्रकाशित है कि,— भगवान् मधुसूदन जिस प्रादुर्भूत हुए पुरुष के प्रति दृष्टि डालते हैं,—वह सात्विक कहा गया है,—वही मनुष्य मुक्ति-फल भक्ति के लिये स्थिरनिश्चय होता है ॥ ६२ ॥

इस प्रकार संक्षेप से वर्णन किये लक्षण-द्वारा वैष्णव-माहात्म्य भी जानना चाहिये। अब संक्षेप से और कुछ वैष्णव-माहात्म्य कहा जाता है ॥ ६३ ॥

अथ भगवद्भक्तानां माहात्म्यम्।

सौपर्णे श्रीशक्रोक्तौ—

कलौ भागवतं नाम यस्य पुंसः प्रजायते।
जननी पुत्रिणीं तेन पितृणान्तु धुरन्धरः॥ ६४॥
कलौ भागवतं नाम दुर्ल्लभं नैव लभ्यते।
ब्रह्म-रुद्र-पदोत्कृष्टं गुरुणा कथितं मम॥ ६५॥
यस्य भागवतं चिह्नं दृश्यते तु हरिर्मुने!
गीयते च कलौ, देवा ज्ञेयास्ते नात्र संशयः॥ ६६॥

श्रीमार्कण्डेयोक्तौ—

समीपे तिष्ठते यस्य ह्यन्तकालेऽपि वैष्णवः।
गच्छेत परमं स्थानं यद्यपि ब्रह्महा भवेत्॥ ६७॥

नारदीये श्रीवामदेव-रुक्माङ्गद-सम्वादे—

श्वपचोऽपि महीपाल! विष्णोर्भक्तो द्विजाधिकः।
विष्णु-भक्तिविहीनो यो यतिश्च श्वपचाधिकः॥ ६८॥

स्कान्दे रेवाखण्डे श्रीब्रह्मोक्तौ—

इन्द्रो महेश्वरो ब्रह्मा परं ब्रह्म तदैव हि।
श्वपचोऽपि भवत्येव यदा तुष्टोऽसि केशव!
श्वपचादपि कष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः।
तदैवाऽच्युत! यान्त्येते यदैव त्वं पराङ्मुखः॥ ६९॥

भाषा टीका।

अब भगवद्भक्त का माहात्म्य कहा जाता है।—गरुड़-पुराण में इन्द्र की उक्ति है,—कलिकाल में 'वैष्णव' नाम से प्रसिद्ध होने पर, उसी पुरुष के द्वारा जननी पुत्रवती होती है और—वही पुरुष पितरों का भार वहन करने वाला (अर्थात उद्धार-कर्त्ता) होता है॥ ६४॥

कलियुग में 'वैष्णव' नाम दुष्प्राप्य है, कभी प्राप्त नहीं होता। 'वैष्णव' नाम रुद्रपद से भी उत्तम है, वृहस्पति ने मेरे समीप ऐसा कीर्त्तन किया है॥ ६५॥

हे ऋषे! कलियुग में जो पुरुष तप्त मुद्रादि-चिह्न से चिह्नित हैं और जिनके मुख से हरि-नाम कीर्त्तित होता है,—वे निःसन्देह देवता की समान हैं॥ ६६॥

मार्कण्डेय की उक्ति है कि,—मरण-काल में वैष्णव-पुरुष, समीप होने पर, ब्रह्मघाती पापी भी परम पद प्राप्त करता है॥ ६७॥

नारदीय-पुराण के वामदेव-रुक्माङ्गद-सम्वाद में लिखा है,—हे नृपते! वैष्णव होने पर श्वपच [चाण्डाल] पुरुष भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ और हरि-भक्तिरहित होने पर यति पुरुष भी श्वपच से हीन कहा गया है॥ ६८॥

स्कन्द-पुराण के रेवाखण्ड में ब्रह्मा जी की उक्ति है,—हे माधव! तुम्हारी प्रसन्नता होने पर, श्वपच पुरुष भी इन्द्र, महादेव, ब्रह्मा और पर-ब्रह्मस्वरूप होता है, और तुम्हारे विमुखता होने पर, महादेव ब्रह्मा-इत्यादि देवता श्वपच से भी नीच होते हैं॥६९॥

स कर्त्ता सर्व्वधर्म्माणां भक्तो यस्तव केशव !
स कर्त्ता सर्व्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ! ॥ ७० ॥
धर्म्मो भवत्यधर्म्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्युत !
पापं भवति धर्म्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे ! ॥ ७१ ॥
निःशेषधर्म्मकर्त्ता वाप्यभक्तो नरके हरे !
सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महापि विशुद्ध्यते ॥ ७२ ॥
निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्द्दन !
मुक्ता एव हि भक्तास्ते तव विष्णोर्यतो हरे ! ॥ ७३ ॥

तत्रैव दुर्व्वासो-नारद-सम्वादे—

नूनं भागवता लोके लोकरक्षाविशारदाः ।
व्रजन्ति विष्णुनादिष्टा हृदिस्थेन महामुने !
भगवानेव सर्व्वत्र भूतानां कृपया हरिः ।
रक्षणाय चरेल्लोकान् भक्तरूपेण नारद ! ॥ ७४ ॥

तत्रैव श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—

यस्तु विष्णुपरो नित्यं दृढभक्तिर्जितेन्द्रियः ।
स्व-गृहेऽपि वसन् याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
अश्वमेध-सहस्राणां सहस्रं यः करोति वै ।
नासौ तत फलमाप्नोति तद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥

भाषा टीका।

हे अच्युत ! तुम्हारे भक्त ही सब धर्म्मों के कर्त्ता और तुम्हारे प्रति भक्तिहीन होने पर ही—उनको सब पापों में पापी जानना चाहिये ॥ ७० ॥

हे अच्युत ! हे हरे ! तुम्हारे भक्तों का किया अधर्म्म भी धर्म्म और तुम्हारे अभक्त-गण द्वारा आचरित धर्म्म भी अधर्म्म में गिना जाता है॥७१॥

हे हरे ! तुम्हारे प्रति अभक्तिमान् पुरुष नरक में वास करता है और तुम्हारे प्रति भक्तिमान् होने पर, ब्रह्मघाती भी पवित्र होता है ॥ ७२ ॥

हे जनार्द्दन ! हे विष्णो ! हे हरे ! तुम्हारे प्रति अटल भक्ति ही मुक्ति कही गई है, अतएव तुम्हारे भक्त ही मुक्त हैं,—इस में सन्देह नहीं ॥ ७३ ॥

स्कन्द-पुराण के रेवाखण्ड में दुर्वासा-नारद—सम्वाद में लिखा है,—हे महर्षे ! लोक-रक्षाविशारद भगवद्भक्त, हृदयाधिष्ठित हरि की आज्ञानुसार संसार में विचरण करते हैं। हे देवर्षे ! भक्तों की रक्षा करने के लिये दया के वशीभूत हो—भगवान् जनार्दन ही भक्तरूप से सम्पूर्ण लोकों में भ्रमण करते हैं ॥ ७४ ॥

इसी पुराण के ब्रह्म-नारद—सम्वाद में लिखा है,—नित्य दृढभक्तिमान् हरिपरायण जितेन्द्रिय पुरुष अपने घर में रहकर भी हरि के प्रसिद्ध परम-धाम को पाता है । दश लक्ष अश्वमेध-यज्ञ करने

तत्रैवामृतसारोद्धारे श्रीयमभट-सम्वादे—

सर्व्वत्र वैष्णवाः पूज्याः स्वर्गे मर्त्ये रसातले।
देवतानां मनुष्याणां तथैवोरगरक्षसाम् ॥
येषां स्मरणमात्रेण पाप-लक्षशतानि च।
दह्यन्ते नात्र सन्देहो वैष्णवानां महात्मनाम् ॥ ७५ ॥

येषां पाद-रजेनैव प्राप्यते जाह्नवी-जलम्।
नार्म्मदं यामुनं चैव किं पुनः पादयोर्जलम् ? ॥ ७६ ॥

येषां वाक्यजलौघेन विना गङ्गा-जलैरपि।
विना तीर्थ-सहस्रेण स्नातो भवति मानवः ॥

तत्रैव चातुर्म्मास्य-माहात्म्ये—

तावद्भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डततपराः।
यावत् कुले भक्तियुक्तः सुतो नैव प्रजायते ॥
स एव ज्ञानवाँल्लोके योगिनां प्रथमो हि सः।
महाक्रतूनामाहर्त्ता हरि-भक्तियुतो हि यः ॥ ७७ ॥

काशीखण्डे ध्रुव-चरिते—

न च्यवन्ते हि तद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि।
अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्व्वगोऽव्ययः ॥
न तस्माद्भगवद्भक्ताद्भेतव्यं केनचित् क्वचित्।

भाषा टीका।

वाला पुरुष भी हरि-भक्तलभ्य फल प्राप्त नहीं कर सकता। इसी पुराण के अमृतसारोद्धार में यम-यमदूत-सम्वाद में लिखा है,—हरि-भक्तगण क्या स्वर्ग, क्या मर्त्य, क्या पाताल;—सर्वत्र ही देवता, मनुष्य, पन्नग [सर्प] और राक्षस-कुल के वन्दनीय होते हैं। वैष्णव-गण के केवल स्मरण करते ही सौ लक्ष पाप भस्म होते हैं,—इस में सन्देह नहीं ॥ ७५ ॥

जिनकी पद-रज में गङ्गा, नर्म्मदा और यमुना-जल लाभ किया जाता है, जिनके उपदेश अथवा हरि-संकीर्तनरूप जल-द्वारा मनुष्यगण असंख्य तीर्थ और गङ्गा-जल के विना भी स्नात होते हैं,—उनके चरणामृत का माहात्म्य और क्या वर्णन करूँ ? उक्त पुराण के ही चातुर्म्मास्य-माहात्म्य में वर्णित है,—जब तक वंश में भक्तिमान् सन्तान उत्पन्न नहीं होती, तब तक ही पितृ-गण पिण्ड के लालच से संसार में विचरण करते हैं। संसार में हरि-भक्तिमान् पुरुष ही ज्ञानी, योगि-श्रेष्ठ और सर्व यज्ञ का कर्त्ता कहा गया है ॥ ७६–७७ ॥

काशीखण्ड के ध्रुव-चरित्र में लिखा है,—महाप्रलय-रूप आपदा में भी हरि के भक्त विचलित नहीं होते,—इसी कारण हरि; सब संसार में अच्युत, सर्वगामी और अव्यय शब्द से कहे जाते हैं, अतएव हरि-भक्त से कभी किसी प्रकार के डरकी आशङ्का नहीं है। विष्णु की भक्ति करने वाले पुरुष कभी दूसरे को ताप नहीं

नियतं विष्णु-भक्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥

तत्रैवाग्रे।— ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रा वा यदि वेतरः ।
विष्णु-भक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्व्वोत्तमोत्तमः ॥ ७८ ॥

शंखचक्राङ्कितनतुः शिरसा मञ्जरीधरः ।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः ? ॥ ७९॥

महाभारते राजधर्म्मे—

ईश्वरं सर्व्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८० ॥

बिष्णुधर्म्मोत्तरे—

शयनादुत्थितो यस्तु कीर्त्तयेन्मधुसूदनम् ।
कीर्त्तनात्तस्य पापानि नाशमायान्त्यशेषतः ॥

तत्रैव ।— यस्याप्यनन्ते जगतामधीशे, भक्तिः परा यादव-देवदेवे ।
तस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित, पात्रं त्रिलोके पुरुषप्रवीरः ॥

द्वारकामाहात्म्ये श्रीप्रह्लाद-वलिसम्वादे—

नित्यं ये प्रातरुत्थाय वैष्णवानान्तु कीर्त्तनम् ।
कुर्व्वन्ति ते भागवताः कृष्णतुल्याः कलौ वले ! ॥

हरिभक्तिसुधोदये—

स्वदर्शन-स्पर्शन-पूजनैः कृती, तमांसि विष्णु-प्रतिमेव वैष्णवः ।

भाषा टीका।

देते । स्कन्दपुराण में इसी स्थान के कुछ पहिले लिखा है,—हरि-भक्तिमान् होने पर, क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, क्या वैश्य, क्या शूद्र, क्या अन्त्यज;—(चाण्डाल) जो कोई जाति ही क्यों न हो—सब की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकती है ॥ ७८ ॥

शङ्ख-चक्र के चिह्न से चिह्निततनु, मस्तक में तुलसी की मञ्जरी धारण करने वाले और गोपीचन्दन से जिसका अङ्ग लिप्त हो—ऐसे महात्मा का दर्शन करने पर, फिर पातक की आशङ्का कहाँ है ? ॥ ७९ ॥

महाभारत के राज-धर्म्म में लिखा है,—जो पुरुष सर्वभूतेश्वर, जगत् को उत्पन्न और लय (नाश) करने वाले हरि की आराधना करते हैं,—वे अनेक भाँति के अपार दुःख से रक्षा पाते हैं ॥ ८० ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है,—नींद से उठकर मधुसूदन के नाम-कीर्त्तन करने पर, तत्काल सम्पूर्ण पातक-पुञ्ज दूर होते हैं। इस ग्रन्थ में और भी लिखा है,—हे पुरुष-प्रवर! जो पुरुष-अनन्त, जगदीश्वर, यादव, देवदेव-हरि के प्रति भक्तिमान् हैं त्रिभुवन में--उनसे अधिक उत्कृष्ट पात्र दूसरा नहीं है । द्वारका-माहात्म्य के प्रह्लाद वलि-सम्वाद में लिखा है,—हे वले ! जो प्रतिदिन प्रातःकाल में उठकर वैष्णव-नाम कीर्त्तन करते हैं, कलिकाल में—वही भागवत नाम से कीर्तित और

धुन्वन् वसत्यत्र जनस्य यन्न तत्, स्वार्थं परं लोक-हिताय दीपवत् ॥ ८१ ॥

इतिहाससमुच्चये श्रीलोमश-वाक्ये—

ये भजन्ति जगद्योनिं वासुदेवं सनातनम् ।
न तेभ्यो विद्यते तीर्थमधिकं राजसत्तम ! ॥ ८२ ॥
यत्र भागवताः स्नानं कुर्व्वन्ति विमलाशयाः ।
तत्तीर्थमधिकं विद्धि सर्व्वपापविशोधनम् ॥ ८३ ॥
यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः ।
तत्र सन्निहितो विष्णुर्नृपते ! नात्र संशयः ॥
न गन्धैर्न तथा तोयैर्न पुष्पैश्च मनोहरैः ।
सान्निध्यं कुरुते देवो यत्र सन्ति न वैष्णवाः ॥
बलिभिश्चोपवासैश्च नृत्यगीतादिभिस्तथा ।
नित्यमाराध्यमानोऽपि तत्र विष्णुर्न तृप्यति ॥ ८४ ॥
तस्मादेते महाभागा वैष्णवा वीतकल्मषाः ।
पुनन्ति सकलाँल्लोकांस्तत्तीर्थमधिकं ततः ॥८५ ॥
शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा ।
वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम् ॥८६ ॥
तस्माद्विष्णु-प्रसदाय वैष्णवान् परितोषयेत् ।

भाषा टीका ।

श्रीकृष्ण के सदृश हैं। हरिभक्तिसुधोदय में वर्णित है,—पुण्यशील वैष्णव पुरुष—जो हरि-प्रतिमावत् दर्शन स्पर्शन और अर्चन द्वारा लोंको का अज्ञान दूर करते हुए संसार में वास करते हैं,—वह केवल दीपक की समान पराये हित के लिये, अपने लिये नहीं ॥ ८१ ॥

इतिहास-समुच्चय में लोमशकी उक्ति है,—हे नृपति-प्रवर ! जो पुरुष जगत् के कारण सनातन हरि की आराधना करते हैं,—वेही प्रधान-तीर्थरूप हैं,—उनसे अधिक और दूसरा श्रेष्ठ तीर्थ विद्यमान नहीं है ॥ ८२ ॥

विमलमति भगवद्भक्तगण जहाँ स्नान करते हैं—उस स्थान को सब से अधिक श्रेष्ठ तीर्थ जानना चाहिये, क्यों कि–उस में सब पापों की सम्यक् प्रकार शुद्धि होती है ॥ ८३ ॥

हे नृपते ! रागादिहीन हरिपरायण वैष्णवों के अधिकृत स्थान में हरि सदा विराजित रहते हैं,—इस में सन्देह नहीं । जहाँ वैष्णवों का वास नहीं है,—वहाँ गन्ध, जल और मनोहर पुष्प-द्वारा पूजित होने पर भी, हरि वास नहीं कर सकते । वैष्णवहीन स्थान में उपहार, अनशन और नृत्य-गीतादि–द्वारा आराधित होने पर भी, हरि प्रसन्न नहीं होते ॥ ८४ ॥

इसी कारण—यह सब पापहीन महाभाग वैष्णव, समस्त लोक पवित्र करते हैं, अतएव—वे ही परम तीर्थ-स्वरूप हैं ॥ ८५ ॥

शूद्र-चाण्डाल वा श्वपच होने पर भी वैष्णव-पुरुष को सामान्य जाति जान (नीच समझ कर) दर्शन न करे। वैष्णव पुरुष को सामान्य जातिरूप में दर्शन करने पर, नरक में जाना पड़ता है,—इस में सन्देह नहीं ॥ ८६ ॥

इस कारण हरि को प्रसन्न करने के लिये वैष्णवों

प्रसादसुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः ॥ ८७ ॥

तत्रैव श्रीनारद-पुण्डरीकाक्षसम्वादे—

ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररताः सदा ।
तेऽपि यान्ति परं धाम नारायणपराश्रयाः ॥ ८८ ॥
लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा विष्णुतत्पराः ।
पुनन्ति सकलाँल्लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ॥
जन्मान्तर-सहस्रेषु यस्य स्याद्बुद्धिरीदृशी ।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्व्वाँल्लोकान् समुद्धरेत् ॥
स याति विष्णु-सालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः ।
किं पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियाः ॥

किञ्च।— स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तमाः ।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥ ८९ ॥

श्रीव्यास-वाक्ये—

जन्मान्तरसहस्रेषु विष्णु-भक्तो न लिप्यते ।
यस्य सन्दर्शनादेव भस्मीभवति पातकम् ॥ ९० ॥

श्रीभगवद्वाक्ये—

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥ ९१ ॥

भाषा टीका ।

को सन्तुष्ट करे, तो निःसन्देह हरि प्रसन्नमुख होंगे ॥८७॥

इसी ग्रन्थ के नारद-पुण्डरीक-सम्वाद में लिखा है,— हरिपरायण वैष्णवों का आश्रय ग्रहण करने पर, क्रूर, दुरात्मा और नित्य पापाचारी पुरुष भी परम धाम वैकुण्ठ में जाते हैं ॥ ८८ ॥

हरिपरायण वैष्णवगण कभी पाप में लिप्त नहीं होते,—वे, सूर्य्य की समान उदय होकर सम्पूर्ण लोकों को पवित्र करते हैं। "सहस्रों जन्म से मैं हरि का दास हूँ"—इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न होने पर—वह पुरुष सब लोकों को उद्धार करता है और निःसन्देह उसको हरि की सालोक्य प्राप्त होती है। फिर हरिगतप्राण अर्थात् हरि की भक्ति में दिन-रात रत रहने वाले जितेन्द्रिय पुरुष की तो बात ही क्या है? और भी लिखा है कि,—हे द्विजसत्तम! हरिभक्त पुरुष चाण्डाल होने पर भी उसको स्मरण, उसके सङ्ग बात चीत और उसकी पूजा करने से पवित्रता लाभ होती है ॥ ८९ ॥

श्रीव्यासजी ने कहा है कि,—हजार जन्मों में कुछ प्रमाद के कारण, पाप अनुष्ठित होने पर भी विष्णु-भक्त उस में लिप्त नहीं होता, यही क्या? उस को देखते ही दूसरे मनुष्य के पाप-समूह भी दग्ध होते हैं ॥ ९० ॥

भगवान् ने कहा है कि,—मद्भक्तिपरायण न होने पर चतुर्वेदसम्पन्न होने पर भी—वह मनुष्य मेरा प्रिय नहीं हो सकता, भक्तिमान् होने पर, श्वपच (अन्त्यज चाण्डालादि) पुरुष भी मेरा प्रिय होता है,—ऐसे श्वपच को ही दान करे,—उसी से ग्रहण करे,—वही पुरुष मेरी समान पूजनीय है ॥९१॥

इतिहाससमुच्चये ब्रह्म-वाक्ये—

सभर्त्तृका वा विधवा विष्णु-भक्तिं करोति या ।
समुद्धरति चात्मानं कुलमेकोत्तरं शतम् ॥

द्वारका-माहात्म्ये प्रह्लाद-वलि-सम्वादे—

संकीर्णयोनयः पूता ये भक्ता मधुसूदने ।
म्लेच्छतुल्याः कुलीनास्ते ये न भक्ता जनार्द्दने ॥

आदिपुराणे श्रीकृष्णार्ज्जुनसम्वादे—

वैष्णवान् भज कौन्तेय ! मा भजस्वान्यदेवताः ।
पुनन्ति वैष्णवाः सर्व्वं सर्व्वदेवमिदं जगत् ॥
मद्भक्तो वल्लभो यस्य स एव मम दुर्लभः ।
ततपरो वल्लभो नास्ति सत्यं सत्यं धनञ्जय ! ॥ ९२ ॥

जगतां गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम् ।
सर्व्वत्र गुरवो भक्ता वयश्च गुरवो यथा ॥

अस्माकं वान्धवा भक्ता भक्तानां वान्धवा वयम् ।
अस्माकं गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम् ॥

मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव !
भक्तानामनुगच्छन्ति मुक्तयः श्रुतिभिः सह ॥

ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥

भाषा टीका ।

इतिहाससमुच्चय में ब्रह्माजी ने कहा है,—हरि-भक्ति-मती होने पर, क्या सधवा, क्या विधवा,—अपने शत (सौ) कुल की रक्षा करती हैं । द्वारका-माहात्म्य के प्रह्लाद-वलि-सम्वाद में लिखा है कि,—हरिभक्ति-परायण होने पर, वर्णशङ्कर जाति भी परम पवित्र होती है, किन्तु हरिभक्तिपरायण न होने पर, कुलीन पुरुष भी म्लेच्छ-समान होता है । आदिपुराण के श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद में लिखा है,—हे पार्थ ! केवलमात्र हरि की आराधना करो, अन्यान्य देवता ओं की उपासना करने का कुछ प्रयोजन नहीं है । वैष्णव-गण सम्पूर्ण देवता ओं के सहित इस जगत् को पवित्र करते हैं । जिसके सम्वन्ध में मेरा भक्त प्रिय है,—मेरे सम्वन्ध में भी—वह पुरुष दुर्लभ प्रिय है । हे अर्जुन ! मैं वारम्वार सत्य करके कहता हूँ,—इसके पीछे और क्या दुर्लभ हो सकता है ? ॥ ९२ ॥

भक्तगण सव जगत् के गुरु और मैं भक्तों का गुरु हूँ, जिस प्रकार मैं सवका गुरु हूँ, भक्त भी उसी प्रकार हैं । भक्त-गण मेरे वान्धव और मैं भक्तों का वान्धव हूँ । भक्त मेरे गुरु और मैं भक्तों का गुरु हूँ । हे धनञ्जय ! भक्त-गण जहाँ जाते हैं, मैं भी-वहाँ जाता हूँ, मुक्ति श्रुति के सहित भक्तों का अनुसरण करती है । हे अर्जुन ! जो मेरे ही

ये केचित् प्राणिनो भक्ता मदर्थे त्यक्तवान्धवाः।
तेषामहं परिक्रीतो नान्यक्रीतो जनार्द्दनः ॥ ९३ ॥
एषां भक्ष्यं सुनिर्णीतं श्रूयतां निश्चितं मम।
उच्छिष्टमवशिष्टञ्च भक्तानां भोजनद्वयम् ॥ ९४ ॥
नामयुक्ता जनाः केचिज्जात्यन्तरसमन्विताः।
कुर्व्वन्ति मे यथा प्रीतिं न तथा वेदपारगाः ॥

बृहन्नारदीये मार्कण्डेयं प्रति श्रीभगवदुक्तौ—

विष्णुर्भक्तकुटुम्वीति वदन्ति विबुधाः सदा।
तदेव पालयिष्यामि मज्जनो नानृतं वदेत् ॥ ९५ ॥
मम जन्म कुले यस्य तत् कुलं मोक्षगामि वै।
मयि तुष्टे मुनिश्रेष्ठ! किमसाध्यं वदस्व मे ॥ ९६ ॥
मयि भक्तिपरो यस्तु मद्याजी मत्कथा-परः।
मद्ध्यानी स्व-कुलं सर्व्वं नयत्यच्युतरूपताम् ॥
मदर्थं कर्म्म कुर्व्वाणो मत्प्रणाम-परो नरः।
मन्मनाः स्व-कुलं सर्व्वं नयत्यच्युतरूपताम् ॥ ९७ ॥
अहमेव द्विजश्रेष्ठ! नित्यं प्रच्छन्नविग्रहः।

भाषा टीका।

भक्त हैं,—उनको यथार्थ भक्तों में नहीं गिनना चाहिये, मेरे भक्तों के भक्त ही मेरे सर्वोत्तम भक्त कहे गये हैं। हे पार्थ! जिसने मेरी भक्ति में तत्पर होकर मेरे अर्थ वन्धु-वाधवों को छोड़ दिया है, मैं उन सब जीवों के निकट क्रीत हूँ, मुझको क्रय करने में और किसी की सामर्थ नहीं है ॥ ९३ ॥

जो कुछ भक्ष्य उन भक्तों के निमित्त निर्दिष्ट हैं,—वह कहता हूँ, सुनो।—भक्तों के लिये दो प्रकार का भोजन-निर्णय किया गया है, उच्छिष्ट और अवशिष्ट,—निवेदित द्रव्य को उच्छिष्ट कहते हैं और आगे का अंश देकर जो राँधने के वर्त्तन में शेष रहे,—उसको अवशिष्ट कहा जाता है ॥ ९४ ॥

अन्यजाति का नीच व्यक्ति मन्नामविशिष्ट होने पर अर्थात् यदि मेरे नाम का कीर्त्तन करने वाला हो तो—उसके द्वारा मैं जितना प्रसन्न होता हूँ, वेदविचक्षण ब्राह्मण से भी उतना प्रसन्न नहीं होता। बृहन्नारदीयपुराण में मार्कण्डेयजी के प्रति श्रीहरि ने कहा है,—देवता सदा यह कथा कहते हैं कि,—भक्त हरि के कुटुम्व हैं, मैं उन्ही की रक्षा करूँगा, मेरे भक्त कभी मिथ्यावादी नहीं होते ॥ ९५ ॥

हे ब्रह्मन्! मैं जिस वंश में उत्पन्न होता हूँ,—वही वंश मोक्ष का भागी होता है। हे तापसप्रवर! मेरे प्रसन्नता होने पर, क्या दुष्प्राप्य हो सकता है कहो? ॥९६॥

मद्भक्तिपरायण, मेरी पूजा करने वाला, मेरी कथा से प्रसन्न होने वाला, मेरा ही ध्यान करने वाला, मेरे अर्थ कर्म्म करने वाला, मुझे ही प्रणाम करने वाला और मुझ में चित्त समर्पण करने वाला पुरुष अपने सब वंश को हरि-सारूप्य प्रदान करता है ॥ ९७ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! मैं सदा ही गुप्त देह से अपने भक्त

भगवद्भक्तरूपेण लोकान् रक्षामि सर्व्वदा ॥ ९८ ॥

तत्रैवादितिमाहात्म्ये श्रीसूतोक्तौ—

विप्राः ! शृणुध्वं माहात्म्यं हरि-भक्तिरतात्मनाम्।
हरि-ध्यानपराणान्तु कः समर्थः प्रवाधितुम् ? ॥ ९९ ॥

हरि-भक्तिपरो यत्र तत्र ब्रह्मा हरिः शिवः।
तत्र देवाश्च सिद्धाद्या नित्यं तिष्ठन्ति सत्तमाः ॥ १०० ॥

निमिषं निमिषार्द्धं वा यत्र तिष्ठन्ति सत्तमाः।
तत्रैव सर्व्वश्रेयांसि तत्तीर्थं तत्तपोवनम् ॥

तत्रैवादितिं प्रति श्रीभगवदुत्तरे—

राग-द्वेष-विहीना ये मद्भक्ता मत्परायणाः।
वहन्ति सततं ते मां गतासूया अदाम्भिकाः ॥
परापकारविमुखा मद्भक्तार्च्चन-तत्पराः।
मतकथा-श्रवणासक्ता वहन्ति सततं हि माम् ॥ १०१ ॥

तत्रैव ध्वजारोपण-माहात्म्ये श्रीविष्णु-दूतोक्तौ—

यतीनां विष्णु-भक्तानां परिचर्य्या-परायणैः।
ईक्षिता अपि गच्छन्ति पापिनोऽपि परां गतिम् ॥ १०२ ॥

तत्रैव श्रीभगवत्तोष-प्रकारप्रश्नोत्तरे—

रिपवस्तं न हिंसन्ति न वाधन्ते ग्रहाश्च तम्।

भाषा टीका।

के रूप में नित्य सब लोकों की रक्षा करता हूँ ॥ ९८ ॥

इसी पुराण के आदित्य-माहात्म्य में सूतजी ने कहा है कि,—हे ब्राह्मणगण ! हरि के भक्तों का माहात्म्य सुनो।—विष्णु की चिन्ता करने वालों में किसी प्रकार के पाप का सञ्चार होने पर भी, क्या—वह विघ्न प्रदान करने में समर्थ हो सकता है ? ॥ ९९ ॥

हे साधुसत्तमगण ! ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, देवता और सिद्ध-गण हरि-भक्त के द्वारा अधिष्ठित स्थान में सदा निवास करते हैं ॥ १०० ॥

विष्णु-भक्त पुरुष एक-निमेष वा अर्द्ध-निमेष काल जिस स्थान में रहते हैं, समस्त मङ्गल ही वहाँ स्थित रहते हैं और वही स्थान तीर्थ-स्वरूप और तपोवन-स्वरूप गिना जाता है। इसी पुराण में अदिति के प्रति भगवान् के वाक्य से प्रकाशित है कि,—मत्-परायण राग-द्वेषरहित भक्त-गण सदा असूया (गुण में दोष का आरोप करना) और दम्भ त्याग कर मुझ को हृदय में धारण करते रहते हैं। जो पुरुष कभी दूसरे का अनिष्ट नहीं करता, मेरे भक्तों की पूजा में रत रहता है और जो पुरुष मेरी कथा सुनने में अनुरागी हैं,—वेही मुझको सदा वहन करते हैं ॥ १०१ ॥

इसी पुराण के ध्वजारोपण-माहात्म्य में विष्णु-दूत ने कहा है कि,—सन्यासी और हरि-भक्त की सेवा करने वाले; जिस पुरुष पर दृष्टि डालते हैं, पापी होने पर भी—वह परम गति प्राप्त करता है ॥ १०२ ॥

इसी पुराण के भगवत्तोष प्रकार के प्रश्नोत्तर में

राक्षसाश्च न खादन्ति नरं विष्णुपरायणम् ॥
भक्तिर्दृढ़ा भवेद्यस्य देव-देवे जनार्द्दने।
श्रेयांसि तस्य सिद्ध्यन्ति भक्तिमन्तोऽधिकास्ततः ॥

तत्रैवाग्रे।—अद्यापि च मुनिश्रेष्ठा ब्रह्माद्या अपि देवताः।
प्रभावं न विजानन्ति विष्णु-भक्तिरतात्मनाम् ॥ १०३ ॥

किञ्च।— धर्म्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्था द्विजोत्तमाः।
हरि-भक्तिपराणां वै सम्पद्यन्ते न संशयः ॥ १०४ ॥

तत्रैव लुब्धकोपाख्यानस्यादौ—
ये विष्णुनिरताः शान्ता लोकानुग्रहतत्पराः।
सर्व्वभूत-दयायुक्ता विष्णुरूपाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १०५ ॥
विष्णु-भक्तिविहीना ये चाण्डालाः परिकीर्त्तिताः।
चाण्डाला अपि वै श्रेष्ठा हरि-भक्तिपरायणाः ॥

तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानस्यादौ श्रीसूत-वाक्यम्—
हरि-भक्ति-रसास्वादमुदिता ये नरोत्तमाः।
नमस्करोम्यहं तेषां तत्सङ्गी मुक्ति-भाग्यतः ॥
हरि-भक्तिपरा ये च हरि-नामपरायणाः।
दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा तेषां नित्यं नमो नमः ॥ १०६ ॥

भाषाटीका।

लिखा है,—शत्रु; हरि-परायण पुरुष की हिंसा करने में समर्थ नहीं होते, ग्रहगण कष्ट प्रदान नहीं कर सकते और राक्षस भी उसको ग्रास करने में समर्थ नहीं है। देव-देव केशव में अचलभक्ति होने से ही कल्याण सिद्ध होता है, क्यों कि—भक्तिपरायण पुरुष सब की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इसी ग्रन्थ में उक्त स्थान के कुछ आगे लिखा है,—हे ऋषिप्रवरगण! ब्रह्मा-इत्यादि देवता भी अब तक, हरि के भक्तों का माहात्म्य नहीं जान सके ॥ १०३ ॥

और भी लिखा है,—हे विप्रसत्तमगण! भक्तों का ही धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्षाख्य पुरुषार्थ सिद्ध होता है,—इस में सन्देह नहीं ॥ १०४ ॥

इसी ग्रन्थ में लुब्धकोपाख्यान के पहिले लिखा है,—हरि के प्रति अनुरागी, शान्त, लोकों के प्रति अनुग्रहवान् और सब जीवों पर दया करने वाला पुरुष ही हरि का स्वरूप कहा गया है ॥ १०५ ॥

हरि-भक्ति से हीन होने पर—उसको चाण्डाल कहते हैं। विष्णु की भक्ति में निरत होने पर, चाण्डाल भी सब से प्रधान गिना जाता है। उक्त ग्रन्थ में ही यज्ञध्वजोपाख्यान के प्रथम सूत जी ने कहा है कि,—जो मनुष्य-श्रेष्ठ विष्णु-भक्तिरूप रस के आस्वादन में प्रफुल्ल हैं,—उन को प्रणाम करता हूँ, क्यों कि—उन के सङ्ग से भी मोक्ष प्राप्त हो जाती है। हरि-भक्तिपरायण और हरि नाम में निरत पुरुष दुर्वृत्त हो वा सुवृत्त हों—उन को सदा वारम्वार नमस्कार करता हूँ ॥ १०६ ॥

अहो ! भाग्यमहो ! भाग्यं विष्णु-भक्तिरतात्मनाम् ।
यस्मान्मुक्तिः करस्थैव योगिनामपि दुर्लभा ॥ १०७ ॥

तत्रैव कलि-प्रसङ्गे—

घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्व्वधर्म्मविवर्जिते ।
वासुदेवपरा मर्त्याः कृतार्था नात्र संशयः ॥
अत्यन्तदुर्ल्लभा प्रोक्ता हरि-भक्तिः कलौ युगे ।
हरि-भक्तिरतानां वै पापवन्धो न जायते ॥ १०८ ॥
वेदवादरताः सर्व्वे तथा तीर्थनिषेविणः ।
हरि-भक्तिरतैः सार्द्धं कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥

अतएवोक्तं देवैस्तत्रैव भारतवर्ष-प्रसङ्गे—

हरि-कीर्त्तनशीलो वा तद्भक्तानां प्रियोऽपि वा ।
शुश्रूषुर्वापि महतां स वन्द्योऽस्माभिरुत्तमः ॥ १०९ ॥

पाद्मे श्रीभगवद्ब्रह्म-सम्वादे—

दर्शन-ध्यान-संस्पर्शैर्मत्स्य-कूर्म्म-विहङ्गमाः ।
पुष्णन्ति स्वान्यपत्यानि तथाहमपि पद्मज ! ॥ ११० ॥
मुहूर्त्तेनापि संहर्त्तुं शक्तौ यद्यपि दानवान् ।
मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः ॥ १११ ॥

भाषा टीका।

अहो ! हरि के भक्तों का क्या ही सौभाग्य है ? क्यों कि—उन के अनुग्रह से दूसरे को भी योगिजन-दुर्लभ मोक्ष प्राप्त होती है ॥ १०७ ॥

इसी ग्रन्थ के कलि-प्रसङ्ग में वर्णित है कि,—सब धर्म्मों से रहित घोर कलि-काल समागत होने पर, जो हरिपरायण होंगे, निःसन्देह वेही कृतार्थ होंगे। इस कलि-काल में हरि-भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, हरि की भक्ति में निष्ठ रहने वाले पुरुषों को पातकरूप वन्धन की आशा नहीं है ॥ १०८ ॥

वेद-वादपरायण और सम्पूर्ण-तीर्थसेवी भी हरि-भक्ति के सोलहवें अंश के एक अंश की समान नहीं है। इसी ग्रन्थ के भारतवर्ष-प्रसङ्ग में देवताओं ने वर्णन किया है कि,—हरि-कीर्त्तनपरायण अथवा हरि के भक्तों का प्रिय वा महाजनों की सेवा में निरत पुरुष ही उत्तम और हमारा वन्दनीय है ॥ १०९ ॥

पद्मपुराण के भगवान् ब्रह्म-सम्वाद में लिखा है कि,—हे ब्रह्मन् ! जैसे मछली, कछुये और पक्षी; दर्शन, ध्यान और स्पर्श-द्वारा अपनी अपनी सन्तान का पोषण करते हैं,—ऐसे ही मैं भी दर्शनादि-द्वारा अपने भक्तों का पोषण करता हूँ ॥ ११० ॥

मैं मुहूर्त्त-काल में दानवों का विनाश कर सकता हूँ, किन्तु तो-भी भक्तों के आमोदार्थ अनेक कर्म्मों का अनुष्ठान करता हूँ ॥ १११ ॥

तत्रैव माघ-माहात्म्ये देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

न यमं यम-लोकं न न दूतान् घोरदर्शनान् ।
पश्यन्ति वैष्णवा नूनं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥
श्वपाकमिव नेक्षेत लोके विप्रमवैष्णवम् ।
वैष्णवो वर्ण-बाह्योऽपि पुनाति भुवनत्रयम् ॥
न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता मताः ।
सर्व्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने ॥
विष्णु-भक्तस्य ये दासा वैष्णवान्नभुजश्च ये ।
तेऽपि क्रतुभुजां वैश्य ! गतिं यान्ति निराकुलाः ॥

तत्रैव वैशाख-माहात्म्ये पञ्चपुरुषाणामुक्तौ—

भव्यानि भूतानि जनार्द्दनस्य, परोपकाराय चरन्ति विश्वम् ॥

तथा ।— सन्तः प्रतिष्ठा दीनानां दैवादुद्भूतपाप्मनाम् ।
आर्त्तानामार्त्तिहन्तारो दर्शनादेव साधवः ॥ ११२ ॥

तत्रैवोत्तरखण्डे श्रीशिव-पार्व्वती-सम्वादे—

न कर्म्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते ।
विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥ ११३ ॥
न दास्यं वै परेशस्य बन्धनं परिकीर्त्तितम् ।
सर्व्वबन्धननिर्म्मुक्ता हरि-दासा निरामयाः ॥ ११४ ॥

भाषा टीका ।

इसी पुराण के माघ-माहात्म्य में देवदूत-विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है,—मैं वारम्वार सत्य करके निःसन्देह कहता हूँ,—वैष्णव पुरुष; यम, यम-पुरी वा घोरदर्शन यम-दूतों को नहीं देखते । संसार में विष्णु-भक्तिहीन ब्राह्मण को श्वपच (चाण्डाल) की समान भी न देखें, वैष्णव पुरुष अन्त्यज जाति होने पर भी तीनों लोकों को पवित्र करते हैं। भगवद्भक्तिपरायण पुरुष को कभी शूद्र नहीं कहा जाता,— उन को भागवत कहा जाता है। केशव के प्रति भक्ति न होने पर, जो कोई जाति ही क्यों न हो—वह शूद्र-जाति में गिनी जाती हैं । हे वैश्य ! हरि-भक्त के दास और वैष्णवान्नसेवी पुरुष निराकुल होकर यज्ञभुक् पुरुषों की गति प्राप्त करते हैं । इसी पुराण के वैष्णव-माहात्म्य में पाँच पुरुषों की उक्ति मे प्रकाशित है कि,—हरि-भक्त परोपकार के लिये ही संसार में विच-रते हैं, जो पूर्वकृत कुकार्य्यजनित पातक में पातकी हैं,—साधुपुरुष उन्हीं दीन जनों के एकमात्र आश्रय हैं। साधु पुरुषों के दर्शन से तत्काल पीड़ित पुरुषों की पीड़ा दूर होती है ॥ ११२ ॥

उक्त पुराण के उत्तर खण्ड में शिव-पार्वती-सम्वाद में लिखा है,—वैष्णवों को कर्म्म-बन्धनजनित जन्म लेना नहीं पड़ता, हरि-दास्य (दासत्व) को ही बुद्धिमानों ने मोक्ष कहा है ॥ ११३ ॥

परमेश्वर हरि का दास्य कभी भवबन्धन का उत्पादक नहीं हो सकता । पापहीन हरि के दास; बन्धन से भी मुक्त हैं ॥ ११४ ॥

ब्रह्माण्डपुराणे जन्माष्टमीव्रत-माहात्म्ये श्रीचित्रगुप्तोक्तौ—

दर्शनस्पर्शनालापसहवासादिभिः क्षणात्।
भक्ताः पुनन्ति कृष्णस्य साक्षादपि च पुक्कशम्॥
त्यक्तसर्व्वकुलाचारो महापातकवानपि।
विष्णोर्भक्तं समाश्रित्य नरो नार्हति यातनाम्॥

वाशिष्ठे।—यस्मिन् देशे मरौ तज्ज्ञो नास्ति सज्जनपादपः।
सफलः शीतलच्छायो न तत्र दिवसं वसेत्॥ ११५॥

सदा सन्तोऽभिगन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न।
या हि स्वैरकथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ते॥ ११६॥

गारुडे।—सत्रयाजि-सहस्रेभ्यः सर्व्ववेदान्तपारगः।
सर्व्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णु-भक्तो विशिष्यते॥
वैष्णवानां सहस्रेभ्य एकान्त्येको विशिष्यते।
एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम्॥ ११७॥

श्रीभगवद्गीतासु—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ११८॥

क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ११९॥

भाषा टीका।

ब्रह्माण्ड-पुराण के जन्माष्टमी-माहात्म्य में चित्रगुप्त की उक्ति है कि,—श्रीहरि के भक्त,—दर्शन, स्पर्शन, आलाप (बातचीत) और सहवासादि-द्वारा साक्षात् चाण्डाल को भी तत्काल पवित्र करते हैं। हरि के भक्त का आश्रय ग्रहण करने पर, समस्त कुलाचार-त्यागी और सब पापों में पापी को भी दुःख भोगना नहीं पड़ता। वशिष्ठ ने कहा है कि,—जिस मरुदेश में भगवत्तत्वविशारद सफल शीतलच्छायायुक्त सज्जन-रूपी वृक्ष विद्यमान नहीं है,—वहाँ एक दिन भी वास न करे॥ ११५॥

सदा साधु-पुरुषों के समीप ही गमन करना उचित है,—वह चाहे उपदेश न भी दें, किन्तु—उन का स्वच्छन्द भाव से कथोपकथन ही उपदेशस्वरूप होता है॥ ११६॥

गरुड़पुराण में लिखा है,—एक सर्ववेदान्तविशारद पुरुष—हजार याज्ञिकगणों से श्रेष्ठ हैं, एक हरि-भक्त,—करोड़ वेदान्तवित् से श्रेष्ठ और एक जन एकान्त-वैष्णव—हजार वैष्णवों से भी उत्तम हैं। एकान्त-वैष्णव ही परम पद प्राप्त करते हैं॥ ११७॥

श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है,—अनन्य भक्त होकर मेरी आराधना करने पर, अत्यन्त दुराचारी पुरुष भी समुचित अध्यवसायवान् (भक्तोचित कार्य्यकर्त्ता) साधु पुरुषों में माननीय हो सक्ता है,—वही आशु धर्म्मशील होता है और नित्य शान्ति का भागी होता है। हे अर्ज्जुन! मेरे भक्त का भी नाश नहीं है,—यह निश्चय जानना चाहिये॥ ११८-११९॥

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥ १२० ॥

किञ्च तत्रैव—

योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ १२१ ॥

श्रीभागवतस्य प्रथमस्कन्धे श्रीपरीक्षित उक्तौ—

येषां संस्मरणात् पुंसः सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥

तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरस्य—

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ १२२ ॥

देवहूतिं प्रति कपिलदेवस्य—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे ! नङ्क्ष्यन्ति नोऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः।

भाषा टीका।

हे अर्ज्जुन ! मेरी शरण ग्रहण करने पर, नीच जाति हो, नारी हो अथवा वैश्य, शूद्र-जो कोई हो—उसे दिव्य गति प्राप्त होती है। फिर उन में पवित्रजन्मा ब्राह्मण वा राजर्षि-कुलोत्पन्न भक्त के पक्ष में क्या सन्देह हो सकता है ? ॥ १२० ॥

उसी गीता में और भी लिखा है कि,—योगिजनों के मध्य जो मुझ में अन्तरात्मा स्थापनपूर्व्वक श्रद्धासहित मेरी ही उपासना करते हैं, योगी की अपेक्षा वे ही मेरे समीप प्रधान हैं ॥ १२१ ॥

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में परीक्षित के वाक्य से प्रकाशित है कि,—हे भगवन् ! आपको स्मरण करने से मनुष्य का घर तत्काल पवित्र होता है, सुतरां दर्शन स्पर्शन, चरण धोने और स्थिति—आदि के द्वारा जो पवित्र होगा,—इस में फिर आश्चर्य क्या है ? तृतीय-स्कन्ध में श्रीविदुरजी की कथा से प्रकाशित है कि,—हे ऋषे ! जिन पुरुषों के हृदय में भगवान् माधव के चरणकमल विराजित हैं,—उनके गुणों का सुनना ही पुरुषों के चिरश्रमार्जित श्रवणादि का फल है, बुद्धिमानों ने उन्हीं का सम्यक् स्तव कहा है ॥ १२२ ॥

तृतीय-स्कन्ध में देवहूति के प्रति कपिलदेवजी ने कहा है कि,—हे शान्तरूपे ! मेरी भक्ति की सहायता से मनुष्य मुक्त होकर वैकुण्ठ में वास करता हुआ अनेक प्रकार के भोग प्राप्त करता है। इस में ऐसा न विचारना कि—स्वर्गादि की समान समय पर एक दिन वैकुण्ठवासी भोक्ता और भोग्य-द्रव्य का भी विनाश होगा। जो केवलमात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण करने वाले हैं,—उनके भोग्य द्रव्य का कभी क्षय (विनाश) नहीं होता। मेरा अनिमिष (प्रतिक्षणगतिशील) कालचक्र भी उनको ग्रास करने में समर्थ नहीं है। इस पर भी—मैं जिसको आत्मा की समान प्रिय, पुत्र की समान स्नेह-पात्र, सखिवत् (मन्त्रिवत्) विश्वास-पात्र, गुरु की समान उपदेष्टा, सुहृद्तुल्य हितकारी और इष्टदेव की

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ १२३ ॥

चतुर्थे श्रीध्रुवस्य—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-ध्यानाद्भव-जन-कथाश्रवणेन वा स्यात्।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ! माभूत् किम्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥१२४॥

श्रीरुद्रस्य।—स्वधर्म्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।

अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥ १२५ ॥

पञ्चमे श्रीजड़भरतस्य—

रहूगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्व्वपणादूगृहाद्वा।

न च्छन्दसा नापि जलाग्निसूर्य्यैर्विना महत्पाद-रजोऽभिषेकम् ॥ १२६ ॥

षष्ठे श्रीपरीक्षितः—

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।

तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥ १२७ ॥

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम!

भाषा टीका।

नाई पूजनीय हुँ, मेरा चक्र क्या—उन पुरुषों को कभी ग्रास कर सकता है? ॥ १२३ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध में श्रीध्रुवजी ने कहा है,--हे नाथ! आपके चरणारविन्दों की चिन्ता वा मुक्त पुरुषों के वचन सुनाने से देहधारी ओं को जो आनन्द प्राप्त होता है, आत्मानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार में भी—उस आनन्द की आशा नहीं है। सुतरां उस में जो यमराज के कालरूपी खड्ग-द्वारा खण्डित विमान से गिरते हैं,--उनकी बात और क्या कहूँ? ॥ १२४ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध में रुद्रदेवजी ने कहा है कि,--अनेक-जन्मों के पीछे स्वधर्म्मपरायण पुरुष को ब्रह्मत्व प्राप्त होता है, फिर--वह मुझ को प्राप्त करता है, किन्तु देह के अन्त में ही भगवद्भक्त का प्रपञ्चातीत (मायाजनित-प्रपञ्च-रहित) वैष्णव पद प्राप्त होता है,--इसका दृष्टान्त यह है कि,--मैं और सब-देवता अधिकृत की समान विद्यमान हैं किन्तु अपने अधिकार के अन्त में लिङ्गदेह भङ्ग होने पर, सब ही प्रपञ्चातीत पद पावेंगे ॥ १२५ ॥

पञ्चम-स्कन्ध में जड़भरत ने कहा है कि,--हे रहूगण! महापुरुषों की पद-रज के अभिषेक से ही श्रीवासुदेवरूप वस्तु मिल जाती है, इसके अतिरिक्त—क्या तप, क्या वैदिक-क्रिया, क्या अन्नादि का त्याग, क्या गृहिधर्म्म के निमित्त परोपकार, क्या वेद-पढ़ना, क्या जल-अग्नि-सूर्य्य की उपासना;—किसी के द्वारा नहीं मिलता ॥ १२६ ॥

षष्ठ-स्कन्ध में परिक्षित ने कहा है कि,--हे ब्रह्मन्! इस वसुधातल में पृथ्वी के परमाणु की समान अनन्त जीव विद्यमान हैं, परन्तु उन में कुछ विरले पुरुष ही अपने धर्म्म के अनुष्ठान में तत्पर हैं ॥ १२७ ॥

हे विप्रसत्तम! इन सब मनुष्यों में सभी मनुष्य मुक्तिकामी दिखाई नहीं देते, बहुत थोड़े मनुष्य मुमुक्षु होते हैं और--ऐसे मुमुक्षु जनों में जो, सभी सिद्धि प्राप्त करते हैं--ऐसा भी नहीं है, हजार मुमुक्षु में कदाचित

मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिद्ध्यति ॥ १२८ ॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ! ॥ १२९ ॥

श्रीशिवस्य—

नारायणपराः सर्व्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ १३० ॥

सप्तमे श्रीप्रह्लादस्य—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पाद-रजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥ १३१ ॥

किञ्च ।— विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स्वकुलं न तु भूरिमानः ॥ १३२ ॥

अष्टमे श्रीगजेन्द्रस्य—

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।

भाषा टीका ।

किसी एक जने को—गृहादि-सङ्ग का त्यागी और तत्त्वज्ञ होते भी देखा जाता है ॥ १२८ ॥

इस प्रकार करोड़संख्यक मुक्त और तत्त्व जानने वाले पुरुषों में भी हरिपरायण प्रशान्त पुरुष दुर्लभ हैं ॥ १२९ ॥

षष्ठ-स्कन्ध में पार्वती के प्रति शिव वाक्य में प्रकाशित है कि,—हे प्रिये ! हरिपरायण पुरुष को किसी जीव से भी भय उत्पन्न नहीं होता,—वह क्या स्वर्ग; क्या मोक्ष, क्या नरक,—इन तीनों में ही समान प्रयोजन देखते हैं ॥ १३० ॥

सप्तम-स्कन्ध में प्रह्लाद ने कहा कि,—केवल मात्र हरि ही सब जीवों में गूढ़भाव से स्थित हैं, वह सर्वव्यापी और अन्तर्य्यामी हैं,— यद्यपि यह बात सत्य है, किन्तु तो भी विषयाभिमानरहित महापुरुषों की पद-रज से जब तक अभिषेक नहीं होता, तब तक वेद-वाणी द्वारा इस प्रकार हरि को जान कर भी गृहानुरागी ओं की मति उनके चरण प्राप्त करने में समर्थ नहीं होती, वरं असम्भावनादि-द्वारा विघ्न प्राप्त होता है । सिद्धान्त—यह है कि,—इस प्रकार से भगवान् के चरण कमल प्राप्त करने पर ही संसार दूर होता है ॥ १३१ ॥

और भी लिखा है, प्रह्लाद ने कहा,—हे प्रभो मुझको अनुमान होता है, जिसका मन, वचन, कर्म्म, अर्थ और प्राण हरि में ही समर्पित है,—ऐसा चाण्डाल भी; पद्मनाभ भगवान् के चरणकमलों से विमुख द्वादशगुणालंकृत ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, क्यों कि—ऐसे चाण्डाल से वंश पवित्र होता है, किन्तु बहुत गर्व करने वाला-वह ब्राह्मण अपनी आत्मा को भी पवित्र नहीं कर सकता; अतएव फिर वंश को किस प्रकार पवित्र करेगा ? इस पर भी अभक्त के गुण आत्म-शुद्धि के लिये नहीं हैं, वरं केवल गर्व ही के लिये हैं, सुतरां वह पुरुष चाण्डाल से भी अधम है ॥ १३२ ॥

अष्टम-स्कन्ध में गजेन्द्र की उक्ति है कि,—जो पुरुष उनके एकान्त-भक्त हैं, ब्रह्मादि मुक्त पुरुषों को आश्रित हैं, सुतरां केवल-मात्र जिन के विचित्र कल्याणमय चरितगान करते करते सुख-सागर में निमग्न

अत्यद्भुतं यच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥ १३३ ॥

नवमे श्रीभगवतः—

अहं भक्त-पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज !
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ १३४ ॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् ! येषां गतिरहं परा ॥ १३५ ॥

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ १३६ ॥

मयि निर्व्वद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः ।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥ १३७ ॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ १३८ ॥

तत्रैव श्रीदुर्व्वाससः—

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।
यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः ॥ १३९ ॥

यन्नाम-श्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्म्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किम्वा दासानामवशिष्यते ॥ १४० ॥

भाषा टीका।

रहे, मोक्ष-वैकुण्ठादि किसी की अभिलाषा भी नहीं करते ॥ १३३ ॥

नवम-स्कन्ध में वैकुण्ठनाथ के वाक्य में प्रकाशित है कि,—हे विप्र ! मैं अस्वतन्त्र (पराधीन) के सदृश हूँ, क्यों कि,—मैं भक्त के अधीन हूँ, भक्त ही मेरे एक मात्र प्रिय हैं,—इस कारण साधु भक्तों ने ही मेरे हृदय में अधिकार किया है ॥ १३४ ॥

हे तापसप्रवर ! मैं ही जिन की परम गति हूँ,—उन साधु पुरुषों के अतिरिक्त स्वीय आत्मा वा आत्यन्तिकी श्री भी मुझ को प्रिय नहीं है ॥१३५॥

इस पर भी जिन्हों ने पुत्र भार्य्या, घर, स्वजन, धन, प्राण, वित्त, यह लोक, परलोक—सब छोड़ कर मेरी ही शरण ली है, मैं किस प्रकार—उन को त्याग दूँ ? ॥ १३६ ॥

अहो ! सती नारी जिस भाँति सत्पति को वशीभूत करती है,—ऐसे ही सर्वत्र समदर्शी साधु-पुरुषों ने मेरे प्रति निज-निज-हृदयवन्धनपूर्वक मुझ को वशीभूत किया है ॥ १३७ ॥

अतएव भक्त ही मेरे हृदय (अन्तरङ्ग वा सार-वस्तु) हैं, वे मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानते ॥ १३८ ॥

नवम-स्कन्ध में दुर्वासा का वाक्य है कि,—जो सात्वत-नाथ भगवान् माधव के संग्रह-कर्त्ता हैं,—उन साधु महात्मा ओं को दुष्कर (कठिन) क्या है ? और उनके दुःसाध्य ही क्या है ? ॥ १३९ ॥

जिनका नाम सुनते ही मनुष्य को निर्म्मलता प्राप्त होती है, तीर्थपाद-उन प्रभु के सेवकों के लिये कौन सा कार्य्य शेष रह सकता है ? ॥ १४० ॥

दशमे देवस्तुतौ—

तथा न ते माधव ! तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि वद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप-मूर्द्धसु प्रभो ! ॥ १४१ ॥

श्रीवादरायणेः—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिका-सुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥ १४२ ॥

श्रीभगवतः—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥ १४३ ॥

किञ्च ।— न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ १४४ ॥

अपि च ।—नाग्निर्न सूर्य्यो न च चन्द्र-तारका न भूर्ज्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त्तसेवया ॥ १४५ ॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।

भाषा टीका ।

दशम-स्कन्ध की देव-स्तुति में लिखा है,—ब्रह्मादि देवता ओं ने कहा,—हे केशव ! जो तुम्हारे भक्त हैं, तुम में ही जिनका सौहार्द वद्ध है, वे वैसी दुर्गति को प्राप्त नहीं होते, वे पुरुष आपके द्वारा रक्षित होकर, निर्भय अन्तर से विघ्न करने वालों के मस्तक पर विचरते हैं अथवा उनके मस्तक को सोपान-(सीढ़ी) स्वरूप करके श्रीवैकुण्ठ में आरोहण करते हैं ॥ १४१ ॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि,—हे राजन् ! भक्ति-निष्ठ पुरुषों के पक्ष में जिस प्रकार गोपिका-सुत [श्रीयशोदानन्दन] भगवान् अनायास-लभ्य हैं, शरीरा-भिमानी तापस के पक्ष में और निवृत्ताभिमान आत्मा-राम जनों के सम्बन्ध में वैसे नहीं हैं ॥ १४२ ॥

दशम-स्कन्ध में श्रीभगवद्वाक्य में प्रकाशित है कि,—स्वधर्म्मनिष्ठ सर्वत्र-समचित्त और आत्मवित्-गणों का अन्तर केवलमात्र मुझ में ही समर्पित रहता है । सूर्य्य के दर्शन से नेत्र का बन्धन दूर होता है—ऐसे ही मेरे दर्शन से भी—इन सब पुरुषों का बन्धन नष्ट हो जाता है ॥ १४३ ॥

और भी लिखा है कि,—जल मय—'तीर्थ' और मिट्टी वा पत्थर की मूर्त्ति—'देवता' में नहीं गिनी जाती—ऐसा न, क्यौं कि—वह वहुत दिनों में मनुष्य को पवित्र करती है, और साधु पुरुषों के दर्शन-मात्र से ही मनुष्य पवित्र हो जाता है अतएव साधु ओं से तीर्थ और देवता का—इस प्रकार महद्भेद होता है ॥ १४४ ॥

और भी लिखा है कि,—भेद-ज्ञान से अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा, तारा, पृथ्वी, आकाश, वायु, वाक्य और मन,—इत्यादि की भजना करने पर, अज्ञान के नष्ट होने की सम्भावना नहीं है; किन्तु मुहूर्त्तकाल साधु-सेवा करने से ही समस्त अज्ञान दूर हो जाते हैं ॥ १४५ ॥

साधुजनों को छोड़कर, आत्मादि बुद्धि-योग से अन्यत्र आसक्त होने पर, अत्यन्त मन्द पुरुषों में गिना जाता है, क्यौं कि—वात-पित्त-कफात्मक देह में आत्म-

यत्तीर्थ-बुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गो-खरः ॥ १४६ ॥

श्रुतिस्तुतौ।-तव परि ये चरन्त्यखिलसत्व-निकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥ १४७ ॥

एकादशे श्रीवसुदेवस्य—
भूतानां देव-चरितं दुःखाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ १४८ ॥
भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्म्मसचिवाः साधवो दीन-वत्सलाः ॥ १४९ ॥

श्रीभगवतः—
न मय्येकान्तभक्तानां गुण-दोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥ १५० ॥

भाषा टीका।

ज्ञान, भार्य्या-पुत्रादि में आत्मीय-ज्ञान, मिट्टी के विकार प्रतिमादि में देव-ज्ञान और जल में तीर्थ-ज्ञान होने पर, और साधु-पुरुषों में—ऐसा ज्ञान न होने पर—उस को गो-तृणवाही गर्द्दभस्वरूप जानना चाहिये* ॥१४६॥

श्रुति-स्तुति में लिखा है कि,—जगदाधाररूप से आपकी आराधना करने पर, अनादर से मृत्यु के शिर में पदाघात किया जाता है; किन्तु आपकी उपासना से विमुख पुरुष—पण्डित होने पर भी, रज्जू-द्वारा पशुबन्धनवत् वेदरूप वाक्य में आवद्ध होता है,—उसको मुक्ति मिलने की सम्भावना नहीं रहती। क्यों कि-जिन्होंने आप से सौहार्द किया है,—वे साधु अपने को और दूसरे को भी पवित्र करते हैं, परन्तु शुष्कज्ञाननिष्ठ भक्तिविमुख जन को पवित्र नहीं करते ॥ १४७ ॥

एकादश-स्कन्ध में श्रीवसुदेवजी ने कहा है कि,—देवताओं को भी महत्पुरुष का सन्मान करना चाहिये, क्यों कि-देवचरित अतिवृष्टि-आदि दुःख और कदाचित् सुख के ही अर्थ होता है, परन्तु आपकी समान अच्युतात्मा (हरिगतचित्त) साधु पुरुषों का आचरण केवलमात्र सुख के लिये ही होता है ॥ १४८ ॥

जो जिस-भाव से देवता की उपासना करते हैं, देवता भी छाया के समान कर्म्मानुसार—उस उस भाव से फल-दायक होते हैं, किन्तु साधुजन सत्कर्म्मादिरहित आर्त्त व्यक्ति में कृपालु हैं ॥ १४९ ॥

एकादश-स्कन्ध में श्रीभगवान् ने कहा है,—हे उद्धव! जिन्हों ने प्रकृति से पर परम पुरुष को प्राप्त किया है, मेरे एकान्त भक्त समचित्त-उन समस्त साधु-पुरुषों के सम्बन्ध में विधिनिषेध-जात पुण्य-पापादि की सम्भावना नहीं है ॥ १५० ॥

* इस श्लोक का-साधुजनों के महिमा में ही तात्पर्य्य है, किन्तु प्रतिमा में देवता-बुद्धि और गङ्गा-जलादि में तीर्थ-बुद्धि की निन्दा में तात्पर्य्य नहीं है। जो साधुजनों को छोड़कर केवल उल्लिखित कार्य्य करता है उसीकी ही निन्दा की है।

किञ्च ।— यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥ १५१ ॥
निमज्जोन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ़ेवाप्सु मज्जताम् ॥ १५२ ॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्त्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्म्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्विभ्यतोऽरणम् ॥ १५३ ॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि वहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता वान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥ १५४ ॥
किञ्च ।— न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ १५५ ॥

द्वादशे च श्रीपरीक्षितः—

न ह्यद्भुतमिदं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् ।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ॥ १५६ ॥

श्रीरुद्रस्य च मार्कण्डेयमधिकृत्य—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः ।
शुद्धयेरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः ॥ १५७ ॥

भाषा टीका ।

और भी लिखा है,—भगवान् विभावसु (सूर्य्य) के आश्रय लेने पर, जिस प्रकार शीत, अन्धकार और डर दूर होता है,—ऐसे ही साधु ओं की सेवा करने से भी पातक ध्वंश होते हैं ॥ १५१ ॥

जल में डूबे हुए पुरुष के पक्ष में नौका जिस प्रकार एक मात्र गति है,—ऐसे ही घोर संसार-समुद्र में डूबे हुए पुरुषों के पक्ष में शान्त साधु ब्रह्म के जानने वाले ही परम गति हैं ॥ १५२ ॥

अन्न जिस प्रकार प्राणी ओं के प्राण है, मैं जिस प्रकार आर्त्त पुरुषों का शरण्य हूँ और धर्म्म जिस प्रकार मनुष्य का पारलौकिक धन है,—ऐसे ही भव-सागर में डूबे हुए मनुष्य के पक्ष में साधु-जन ही एक मात्र शरण्य हैं ॥ १५३ ॥

सूर्य्य सम्यक् प्रकार प्रकाशित होने पर भी केवल वहिर्दृष्टियुक्त नेत्र देते हैं, किन्तु साधुगण प्रत्यक्ष उदय होकर सगुण-निर्गुणज्ञानरूप दोनों नेत्रों को देते हैं,—वही देवता,—वही वान्धव,-वही आत्मस्वरूप और मेरी समान हैं ॥ १५४ ॥

और भी लिखा है,—धीर साधु एकान्त-भक्तगण,—अन्य वस्तु की वात तो दूर रहे, मेरे दिये आत्यन्तिक कैवल्य (मोक्ष) की भी अभिलाषा नहीं करते ॥ १५५ ॥

श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में श्रीपरीक्षित जी ने कहा है कि,—अच्युतात्मा महाजन—जो ताप से तपे हुए अज्ञानी ओं के उपर अनुग्रहवान् होते हैं,—यह विचित्र नहीं है ॥ १५६ ॥

इसी स्कन्ध में मार्कण्डेय के प्रति रुद्रोक्ति है कि,—अन्त्यज . महापापि-गण भी तुम्हारा दर्शन और तुम्हारे नामादि सुनने से पवित्रता लाभ करते हैं,—अतएव तुम्हारे सङ्ग बातचीत करने से जो लाभ होता है,—उसको और क्या वर्णन करूँ ? ॥ १५७ ॥

अतएव श्रीधर्म्मराजस्य स्वदूतानुशासनं षष्ठस्कन्धे—

ते देव-सिद्ध-परिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदर्शो भगवत्प्रपन्नाः।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे॥१५८॥

तथा श्रीविष्णुपुराणे—

यम-नियम विधूतकल्मषाणा,-मनुदिनमच्युत-सक्तमानसानाम्।
अपगतमदमानमत्सराणां, व्रज भट! दूरतरेण मानवानाम्॥ १५९॥
सकलमिदमहञ्च वासुदेवः, परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरमला भवत्यनन्ते, हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात॥ १६०॥
कमलनयन! वासुदेव! विष्णो!, धरणिधराच्युत! शंखचक्रपाणे!
भव शरणमितीरयन्ति ये वै, त्यज भट! दूरतरेण तानपापान्॥ १६१॥
वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा, पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते।
तव गतिरथवा ममास्ति चक्र,-प्रतिहतवीर्य्यवलस्य सोऽन्यलोक्यः॥ १६२॥

नारसिंहे विष्णुरहस्ये च—

अहममर-गणार्च्चितेन धात्रा, यम इति लोक-हिताहिते नियुक्तः।

भाषा टीका।

अतएव धर्म्मराज के दूतानुशिक्षा विषय में लिखा है,—हे दूतगण! आज से तुम सब मेरे अनुशासन-वचन सुन कर-उन को मन में धारण करो। जिन साधु पुरुषों ने भगवान् की शरण ग्रहण की है, सुर-सिद्ध-गण भी जिन की पवित्र गाथा गाते हैं, तुम कभी उन सर्वत्र समदर्शी साधु पुरुषों के समीप मत जाना। भगवान् चक्रपाणि की गदा सर्वथा-उन की रक्षा करती है,—उनका शासन करने में हमारी सामर्थ नहीं है और काल की भी सामर्थ नहीं है॥ १५८॥

विष्णु-पुराण में भी इस प्रकार लिखा है कि,—हे दूत! यम-नियम-द्वारा जो पाप-हीन हुए हैं, जो अप्रमत्त, अमान, मत्सरहीन और भगवान् में निरन्तर आसक्तचित्त हैं,-उन वैष्णव पुरुषों से तुम वहुत दूर रहना॥ १५९॥

हे दूत! अनन्त श्रीभगवान् हृदयगत होने से-"यह दीखने वाला सम्पूर्ण जगत वासुदेव से पृथक नहीं है, मैं भी वासुदेव से पृथक् नहीं हूँ, एक मात्र वही परमेश्वर हैं-क्यों कि-वे परमपुरुष हैं"—ऐसी मति जिनकी उदय होती है उनको छोड़ कर दूर ही स्थित रहना॥ १६०॥

हे दूत! जो पुरुष "हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणीधर! हे अच्युत! हे शङ्खचक्रपाणे! तुम मेरी शरण होंओ"—इस प्रकार कीर्त्तन करते हैं,—तुम उन पापहीन पुरुषों के समीप न जाकर दूर ही रहना॥ १६१॥

वे अव्ययात्मा परमपुरुष जिन के हृदय में अधिष्ठित हैं, वे जितनी दूर दृष्टि डालते हैं—उतनी दूर सुदर्शन चक्र घूमता है,—उस चक्र के द्वारा वीर्य्य, वल और प्रभावादि प्रतिहत होने से वहाँ मेरी वा तुमारी गति-शक्ति नहीं है,—वे पुरुष वैकुण्ठ-लोक में जाने के उपयुक्त पात्र हैं॥ १६२॥

नृसिंहपुराण और विष्णुरहस्य में लिखा है,—सर्व-देव-वन्द्य विधाता ने लोक-हितार्थ (पुण्य-फल-स्वर्गादि-प्रदानार्थ) अहितार्थ (पाप-फल—नरकादि-प्रदानार्थ)

हरिगुरु-विमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान्, हरि-चरणप्रणतान्नमस्करोमि ॥१६३॥

नृसिंहपुराणे—

सुगतिमभिलषामि वासुदेवा,-दहमपि भागवतस्थितान्तरात्मा ।
मधुवरवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि कृष्णः ॥ १६४ ॥

न हि शशकलुषच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः ।
भगवति च हरावनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ॥ १६५ ॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

प्राहास्मान् यमुना-भ्राता सादरं हि पुनः पुनः ।
भवद्भिर्वैष्णवास्त्याज्या न ते स्युर्मम गोचराः ॥ १६६ ॥

दुराचारो दुष्कुलोऽपि सदा पापरतोऽपि वा ।
भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुश्चेद्भजते नरः ॥ १६७ ॥

वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णव-सङ्गतिः ।
तेऽपि वः परिहार्य्याः स्युस्तत्सङ्गहतकिल्विषाः ॥ १६८ ॥

स्कान्दे अमृतसारोद्धारे—

एकादश्यामभुञ्जाना युक्ताः पाप-शतैरपि ।

भाषा टीका ।

मुझको ' यम '—यह पद में प्रतिष्ठित किया है, अतएव मैं गुरुरूप हरि के चरण-कमलों से विमुख मनुष्यों पर शासन करता हूँ और हरिपाद-परायण पुरुषों को नमस्कार करता हूँ ॥ १६३ ॥

नृसिंहपुराण में लिखा है,—हरि-भक्त के प्रति अपना चित्त अटलरूप से सन्निवेशित करके मैं भी हरि के समीप वैकुण्ठ-लाभ की वासना करता हूँ, चाहें वैष्णव कभी किसी पाप का अनुष्ठान करे किन्तु तो भी उस विषय में मैं प्रभु नहीं हूँ, क्यौं कि—मैं स्वाधीन नहीं वरने वासुदेव के अधीन हूँ, वे श्रीहरि शासन-विषय में मेरे भी प्रभु हैं ॥ १६४ ॥

चाहें भगवद्भक्तिपरायण पुरुष कुछ पाप करें, परन्तु तो—भी वे दूषणीय नहीं हैं, वरने जनार्द्दन के प्रति विश्वास के कारण शोभा को प्राप्त होते हैं। चन्द्रमा शश-रूप कलङ्क से युक्त होने पर भी, जिस प्रकार कभी अन्धकार के निकट पराभूत नहीं होता, —ऐसे ही भगवान् वासुदेव में अनन्यचित्त पुरुष अत्यन्त मलीन होने पर भी शोभा पाते हैं ॥ १६५ ॥

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल—सम्वाद में लिखा है कि,—यमुना के सहोदर यमराज ने आदर-पूर्वक वारम्वार हम से कहा है,—"तुम वैष्णवों को त्याग दो, वे मेरे अधिकार में आने के योग्य नहीं हैं ॥ १६६ ॥

दुराचारवान्, दुष्कुलोत्पन्न, निरन्तर-पापाचारी होने पर भी, विष्णु का भजन करने वाले पुरुष वैष्णवों में गिने गये हैं, तुम उनको भी त्याग देना ॥ १६७ ॥

वैष्णव-जन जिन पुरुषों के घर भोजन करते हैं, जिन पुरुषों के सङ्ग वास करते हैं,—वे, वैष्णव-सङ्ग के कारण पाप-रहित होते हैं; सुतरां हे दूत! तुम उनको परित्याग कर देना ॥ १६८ ॥

स्कन्द-पुराण के अमृत-सारोद्धार में लिखा है,—

भवद्भिः परिहर्त्तव्या हिता मे यदि सर्व्वदा ॥ १६९ ॥
ये स्मरन्ति जगन्नाथं मृत्युकाले जनार्द्दनम् ।
पाप-कोटिशतैर्युक्ता न ते ग्राह्या ममाज्ञया ॥ १७० ॥
न ब्रह्मा न शिवाग्नीन्द्रा नाहं नान्ये दिवौकसः ।
शक्ता न निग्रहं कर्त्तुं वैष्णवानां महात्मनाम् ॥
अतोऽहं सर्व्वकालञ्च वैष्णवानां बिभेमि वै ।
भवद्भिः परिहर्त्तव्या वैष्णवा ये सदैव हि ॥ १७१ ॥
वैष्णवा विष्णुवत् पूज्या मम मान्या विशेषतः ।
तेषां कृतेऽपमानेऽपि विनाशो जायते ध्रुवम् ॥ १७२ ॥
किञ्च ।— येषां स्मरणमात्रेण पाप-लक्षशतानि च ।
दह्यन्ते नात्र सन्देहो वैष्णवानां महात्मनाम् ॥ १७३ ॥
येषां पाद-रजेनैव प्राप्यते जाह्नवी-जलम् ।
नार्म्मदं यामुनञ्चैव किं पुनः पादयोर्जलम् ॥ १७४ ॥
येषां वाक्यजलौघेन विना गङ्गा-जलैरपि ।
विना तीर्थ-सहस्रेण स्नातो भवति मानवः ॥ १७५ ॥
किञ्च ।— ब्रह्म-लोके न मे वासो न मे वासो हरालये ।
नालये लोकपालानां वैष्णवानां पराभवे ॥ ॥ १७६ ॥

भाषा टीका ।

हे दूतवृन्द ! यदि मेरे हितकी कामना करो—तो सैंकड़ों पापों में पातकी होने पर भी, जो एकादशी में उपवास करते हैं,—उन को त्याग देना ॥ १६९ ॥

करोड़ करोड़ पापों में पातकी होने पर भी—यदि मरण-काल में जगन्नाथ जनार्द्दन को स्मरण करे, तो मेरी आज्ञा से—उन पुरुषों को छोड़ देना ॥ १७० ॥

महात्मा वैष्णवों का निग्रह करने में ब्रह्मा, हर, अग्नि, देवेन्द्र, मैं और अपरापर देवता;—कोई भी समर्थ नहीं हैं। मैं वैष्णवों से सदा ही डरता रहता हूँ,—इस कारण तुम वैष्णवों को त्याग देना ॥ १७१ ॥

वैष्णव-जन हरि के समान पूज्य और विशेषतः मेरे माननीय हैं, जो वैष्णवों को अपमान करता है,—वह निःसन्देह नष्ट होता है ॥ १७२ ॥

और भी लिखा है,— वैष्णव-गण महात्मा हैं,—उन को स्मरण करने पर, निःसन्देह सौ-लक्ष पातक भस्म हो जाते हैं ॥ १७३ ॥

जिन की पद-रज-द्वारा गङ्गा, नर्म्मदा और यमुना का सलिल लाभ होता है,—उन के चरणामृत की बात और क्या कहूँ ? ॥ १७४ ॥

गङ्गाजल के विना और हजार हजार तीर्थ-क्षेत्रों के विना भी वैष्णवों के वाक्य-जलद्वारा मनुष्य की स्नान-क्रिया सम्पन्न होती है ॥ १७५ ॥

और भी लिखा है कि,—हे दूत-गण ! यदि मेरे द्वारा वा तुम्हारे द्वारा वैष्णव-गण परास्त हों,—तो क्या ब्रह्म-लोक, क्या शिव-लोक, क्या लोकपाल-गण के लोक,—इस कोई लोक में मेरा वास नहीं होगा ॥ १७६ ॥

न देवा न च गन्धर्व्वा न यक्षोरगराक्षसाः ।
त्रातुं समर्था ऋषयो वैष्णवानां पराभवे ॥
करोमि कर्म्मणा वाचा मनसापि न विप्रियम् ।
वैष्णवानां महाभागाः! सुदर्शन-भयादपि ॥
एकतो धावते चक्रमेकतो हरि-वाहनम् ।
एकतो विष्णु-दूताश्च वैष्णवे चार्द्दिते मया ॥

बृहन्नारदीये चैकादशी-माहात्म्ये—

ये विष्णुभक्तिनिरताः प्रणताः कृतज्ञा, एकादशीव्रतपरा विजितेन्द्रियाश्च ।
नारायणाच्युत! हरे! शरणं भवेति, शान्ता वदन्ति सततं तरसा त्यजध्वम् ॥
नारायणार्पितधियो हरिभक्त-भक्तान्, स्वाचारमार्गनिरतान् गुरु-सेवकांश्च ।
सत्पात्रदाननिरतान् हरिकीर्त्तिभक्तान्, दूतास्त्यजध्वमनिशं हरिनामसक्तान् ॥ १७७ ॥
पाषण्ड-सङ्गरहितान् हरि-भक्तितुष्टान्, सत्सङ्गलोलुपतरांश्च तथापि पुण्यान् ।
शम्भोर्हरेश्च समबुद्धिमतस्तथैव, दूतास्त्यजध्वमुपकारपरान् नराणाम् ॥ १७८ ॥
ये वीक्षिता हरि-कथामृतसेवकैश्च, नारायण-स्मृतिपरायणमानसैश्च ।
विप्रेन्द्र-पादजलसेवनसंप्रहृष्टैस्तान् पापिनोऽपि च भटाः! सततं त्यजध्वम् ॥ १७९ ॥

भाषा टीका ।

देव, गन्धर्व, यक्ष, उरग, राक्षस, ऋषि,—कोई भी वैष्णव-पराभव में रक्षा नहीं कर सकता । हे महाभाग-गण ! मैं सुदर्शन-चक्र के भय से ही वाक्य और मन द्वारा वैष्णवों का अप्रिय कार्य्य करने में समर्थ नहीं हूँ । वैष्णवगण मेरे द्वारा पीड़ित होने का उपक्रम प्राप्त होने पर भी अर्थात मैंने वैष्णव को पीड़ा देने में उद्यम करते भी—एक ओर सुदर्शन, एक ओर हरि का वाहन गरुड़, दूसरी ओर विष्णु के दूतगण, मुझ को विघ्न प्रदान करते हैं । बृहन्नारदीय-पुराण के एकादशी-माहात्म्य में लिखा है कि,—हे दूतगण ! शान्त, हरि-भक्तिपरायण—प्रणत (विनयी) कृतज्ञ, एकादशी के व्रत में रत और जितेन्द्रिय होकर, जो—"हे नारायण! हे अच्युत! हे हरे! मेरे आश्रय होओ" सदा शान्तचित्त से इस प्रकार कहा करते हैं,—तत्काल—उन को त्याग देना। हे दूतवृन्द ! जिनकी बुद्धि हरि में समर्पित है, जो पुरुष हरि-भक्त के भक्त, वैष्णव-मार्ग में अनुरागी और गुरु-सेवापरायण हैं; जो वैष्णवों को दान करते हैं,—एवं हरिसंकीर्त्तन में भक्तिमान् और हरि-नाम में निरत हैं—उनको सर्वदा छोड़ देना ॥ १७७ ॥

हे दूतगण! पाषण्ड (हरिविमुख) जनों के सङ्गरहित, हरि की भक्ति में ही परितुष्ट, साधु-सङ्ग में अतिशय लोभवान्, परममङ्गल-रूप वैष्णव-चिह्नधारी, हरि एवं हर में समबुद्धिसम्पन्न और परोपकार में निरत अर्थात भगवद्भक्ति के उपदेश देने वाले मनुष्यों को उसी प्रकार छोड़ देना ॥ १७८ ॥

हे दूतगण! हरि-कथामृतपायी अर्थात् हरिकथामृत पीने वाला, हरि-स्मृति-परायण और वैष्णव विप्र के चरणामृत से प्रफुल्लचित्त-पुरुष जिनका दर्शन करते हैं, नित्य पातकी होने पर भी उन को त्याग देना चाहिये ॥ १७९ ॥

अतएवोक्तं श्रीनारदेन चतुर्थस्कन्ध-शेषे—

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च, द्विपद-पतीन् विबुधांश्च यः स्वपूर्णः।
न भजति निज-भृत्यवर्गतन्त्रः, कथममुं विसृजेत् पुमान् कृतज्ञः॥ १८०॥

अतएव प्रार्थनम्।

नारायणव्यूहस्तवे—

नाहं ब्रह्मापि भूयासं त्वद्भक्तिरहितो हरे!
त्वयि भक्तस्तु कीटोऽपि भूयासं जन्म-जन्मसु॥ १८१॥

श्रीब्रह्म-स्तुतौ च दशमस्कन्धे—

तदस्तु मे नाथ! स भूरिभागो, भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां, भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥ १८२॥

अतएवोक्तं श्रीनारायणव्यूहस्तवे—

ये त्यक्तलोकधर्म्मार्था विष्णु-भक्तिवशं गताः।
भजन्ति परमात्मानं तेभ्यो नित्यं नमो नमः॥ १८३॥
एवं श्रीभगवद्भक्त-माहात्म्यामृतवारिधेः।
विचित्रभङ्गलेखार्हो लोभलोलं विनास्ति कः?॥ १८४॥
अतः श्रीभगवद्भक्त-जनानां सङ्गतिः सदा।
कार्य्या सर्व्वैः प्रयत्नेन द्वौ लोकौ विजिगीषुभिः॥ १८५॥

भाषा टीका।

चतुर्थ-स्कन्ध के अन्त में नारदजी ने कहा है कि,—हेराजन्! जो स्वयं परिपूर्ण और जो अपने भक्तों में आसक्त रहने के कारण अनुगामिनी श्री, कामनावान् नृपतिगण और देवताओं के भी अनुगत नहीं होते,—ऐसे भगवान् को, कौन कृतज्ञ पुरुष त्याग करने में समर्थ होता है?॥ १८०।

अतएव प्रार्थना।—नारायणव्यूहस्तव में लिखा है,—हे हरे! तुम्हारी भक्ति से हीन होकर ब्रह्म-पद पाने की भी हमारी इच्छा नहीं है, तुम्हारे भक्त होकर जन्म जन्म में कीट-योनि पाने की भी हमारी इच्छा है॥ १८१॥

दशम-स्कन्ध के श्रीब्रह्म-स्तुति में लिखा है,—ब्रह्माजी ने कहा; हे नाथ! इस ब्रह्म जन्म में वा भविष्यत् में पशु-पक्षी—आदि जिस किसी योनि में देह धारण क्यों न करूँ, आपके पुरुषों में एक जन होकर तुम्हारे चरण-पल्लव का सेवक हूँ,—मेरा इस प्रकार महासौभाग्य हो॥ १८२॥

अतएव नारायण-व्यूह-स्तव में कहा है,—जो पुरुष स्त्री, पुत्र, वर्णाश्रम-धर्म्म और मोक्षादि सब त्याग कर, हरि-भक्तिनिष्ठ हो—परमात्मा हरि की उपासना करते हैं—उनको नित्य नमस्कार करता हूँ॥ १८३॥

उक्त रस-पिपासा में चञ्चल पुरुष के अतिरिक्त भगवद्भक्ति-माहात्म्यरूप अमृत के समुद्र की अद्भुत तरङ्ग-राजि का उल्लेख करने के लिये उपयुक्त पुरुष दूसरा कौन विद्यमान है?॥ १८४॥

इस कारण इस लोक और परलोक के जीतने की इच्छा करने वाले सदा यत्न-सहित भगवद्भक्त पुरुष का सङ्ग करें॥ १८५॥

अथ श्रीभगवद्भक्तसङ्ग-माहात्म्यम् ।

भगवद्भक्त-पादाब्ज-पादुकाभ्यो नमोऽस्तु मे ।
यत्सङ्गमः साधनञ्च साध्यं चाखिलमुत्तमम् ॥ १८६ ॥

तत्र सर्व्वपातक-मोचकता ।

बृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्यानान्ते—

हरि-भक्तिपराणान्तु सङ्गिनां सङ्गमात्रतः ।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो महापातकवानपि ॥ १८७ ॥

सामान्यतोऽनर्थ-निवर्त्तकताऽर्थ-प्रापकता च ।

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीमुनिशर्म्माणं प्रति प्रेतानामुक्तौ—

विनाशयत्यपयशो बुद्धिं विशदयत्यपि ।
प्रतिष्ठापयति प्रायो नृणां वैष्णव-दर्शनम् ॥ १८८ ॥

तत्र श्रीयमब्राह्मण-सम्वादे महीरथनृपोक्तौ—

यथा प्रपद्यमानस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥ १८९ ॥

तत्रैव प्रेतोपाख्याने प्रेतोक्तौ—

अपाकरोति दुरितं श्रेयः संयोजयत्यपि ।
यशो विस्तारयत्याशु नृणां वैष्णव-सङ्गमः ॥ १९० ॥

भाषा टीका ।

अब भगवद्भक्त के सङ्ग का माहात्म्य कहा जाता है।—जिन का सङ्ग सम्पूर्ण साधन और साध्य का फल-स्वरूप है,—उन भगवद्भक्तिपरायण पुरुषों की पादुका को नमस्कार है ॥ १८६ ॥

अब भगवद्भक्त—सङ्ग की अखिलपाप-नाशकता-शक्ति का वर्णन किया जाता है।—बृहन्नारदीय-पुराण में यज्ञमाली के उपाख्यान के पीछे लिखा है कि,—महा-पापी भी हरि-भक्त के सङ्गी का सङ्गलाभ करते ही सब पापों से रक्षा पाता है ॥ १८७ ॥

अब साधारणतः भगवद्भक्त-सङ्ग की अनर्थनिवर्त्त-कता और अर्थ-प्रापकता वर्णित होती है।—पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में श्रीमुनिशर्म्मा के प्रति प्रेतों की उक्ति है कि,—वैष्णव-दर्शन मनुष्य की अकीर्त्ति का हरने वाला, बुद्धि को निर्म्मल करने वाला और प्रायः—प्रतिष्ठा-सम्पादक है ॥ १८८ ॥

इसी पुराण के यम-ब्राह्मण—सम्वाद में महीरथ-राजा ने कहा है कि,—भगवान् विभावसु (सूर्य्य) का आश्रय लेने पर, जिस प्रकार शीत, डर और अन्धकार दूर होता है,—ऐसे ही साधुसेवी पुरुष के भी सब भय नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८९ ॥

उक्त पुराण के प्रेतोपाख्यान में प्रेतने कहा है कि,—वैष्णव पुरुष का सङ्ग मिलने पर, मनुष्य के सब पाप ध्वंस होते हैं, कल्याण प्राप्त होता है और कीर्त्ति फैलती है ॥ १९० ॥

सर्व्वतीर्थाधिकता।

तत्रैव।— गङ्गादिपुण्यतीर्थेषु यो नरः स्नातुमिच्छति।
यः करोति सतां सङ्गं तयोः सतसङ्गमो वरः॥ १९१॥

सर्व्वसत्कर्म्माधिकता।

तत्रैव महीरथनृपोक्तौ—

यः स्नातः शान्तिसितया साधुसङ्गतिगङ्गया।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः?॥

सर्व्वेष्ट-साधकता।

तत्रैव।— यानि यानि दुरापाणि वाञ्छितानि महीतले।
प्राप्यन्ते तानि तान्येव साधूनामेव सङ्गमात्॥ १९२॥

अनर्थस्याप्यर्थत्वापादकता।

वाशिष्ठे।—शून्यमापूर्णतामेति मृतिरप्यमृतायते।
आपत् सम्पदिवाभाति विद्वज्जन-समागमे॥ १९३॥

तृतीयस्कन्धे श्रीदेवहूत्युक्तौ—

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसतसु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥ १९४॥

भाषा टीका।

अब वैष्णव-सङ्ग की सर्व तीर्थों से अधिक शक्ति कही जाती है।—उक्त पुराण में ही लिखा है कि,—गङ्गादि पवित्र तीर्थों में श्रद्धापूर्वक स्नान करने वाले और सत्सङ्ग करने वाले,—इन दोनों में सत्सङ्गी ही उत्तम है॥ १९१॥

वैष्णव-सङ्ग की सब सत्कर्मों से अधिकता लिखी जाती है। उक्त पुराण में भगीरथ ने कहा है कि,—शान्तिसमुज्जल सत्सङ्गतिरूप गङ्गाजी में स्नान करने पर—क्या दान, क्या तप, क्या तीर्थ-सेवा, क्या यज्ञानुष्ठान, किसी की आवश्यकता नहीं रहती।

अब वैष्णव-सङ्ग की यावतीय इष्ट-साधकता वर्णित होती है।—उक्त पुराण में ही लिखा है कि,—सत्सङ्ग के प्राप्त होते ही तत्काल पृथ्वी-मण्डल की सम्पूर्ण अभिलषित दुष्प्राप्य वस्तु मिल जाती है॥ १९२॥

वैष्णव सङ्ग के अनर्थ की भी अर्थ-साधकत्व-शक्ति वर्णित होती है।—वाशिष्ठ में लिखा है,—जो भगवद्भक्ति के माहात्म्य को जानते हैं—ऐसे विद्वान् पुरुषों का सङ्ग लाभ होते ही बन्धु-वियोगादि-द्वारा शून्य भवन भी पूर्णता धारण करता है, मृत्यु अमृतत्व प्राप्त होती है और आपद् भी सम्पद् की समान प्रकाशित होती है॥ १९३॥

तृतीय-स्कन्ध में देवहूति ने कहा है कि,—हे तापसश्रेष्ठ! विषयानुराग अभय के लिये नहीं है,—यह सत्य; तो भी सुना है कि,—अज्ञान से असद्विषय में अनुराग-प्रयुक्त होने पर, संसार-भीति का हेतु हो उठता है, किन्तु वही फिर साधु पुरुषों में विहित होने पर, निःसङ्गत्व का फलप्रद होता है॥ १९४॥

श्रीकपिलदेवोक्तौ—

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्ष-द्वारमपावृतम् ॥ १९५ ॥

यतः ।— अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्म्मो धर्म्मतां व्रजेत् ।
प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्य्ययः ॥

किञ्च श्रीभगवद्वाक्यम्—

मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्म्माय कल्पते ।
मामनादृत्य धर्म्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥१९६॥

चतुर्थस्कन्धे श्रीध्रुवोक्तौ—

देह-दैहिकादि-विस्मारकता ।

ते न स्मरन्त्यातितरां प्रियमीशमर्त्त्यं,ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ ! भवदीयपदारविन्द,-सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥ १९७ ॥

जगदानन्दकता ।

पाद्मे तत्रैव प्रेतोक्तौ—

रसायनमयी शीता परमानन्ददायिनी ।
नानन्दयति कं नाम वैष्णवाश्रयचन्द्रिका ॥ १९८ ॥

भाषा टीका ।

तृतीय-स्कन्ध में कपिलजी ने कहा है,—कविपुरुषों ने अत्यन्त आसक्ति को ही आत्मा का अजर पाश (वन्धनसामग्री-स्वरूप) कहा है, किन्तु—वही फिर सत्पुरुषों में विहित होने पर, अपावृत (खुले हुये) मुक्ति का द्वारस्वरूप होता है ॥ १९५ ॥

पद्मपलाशलोचन भगवान् प्रसन्न होने पर, शत्रु—मित्र होता है, विष—पथ्य होता है और अधर्म्मभी—धर्म्म-रूप में गिना जाता है और उसके विपर्य्यय में विपर्य्यय होता है अर्थात भगवान् अप्रसन्न होने पर, मित्र—शत्रु होता है, पथ्य—विष होता है और धर्म्म भी—अधर्म्मरूप में गिना जाता है। और भी भगवान् ने कहा है कि—यदि मेरे अर्थ पातक अनुष्ठित हो,—तो भी मेरे प्रभाव से—वह धर्म्मार्थ कल्पित होता है और मेरे प्रति आदर न होने से धर्म्म भी अधर्म्मरूप में कल्पित होता है ॥१९६॥

इसके पीछे देह और दैहिकादि-विस्मारकता कही जाती है अर्थात् भगवद्भक्त का सङ्ग प्राप्त होने पर, देह और देह-सम्बन्धीय विषय भी विस्मृत हो जाता है,—उसी का वर्णन करते हैं।—चतुर्थ-स्कन्ध में ध्रुवोक्ति है कि,—हे पद्मनाभ ! जिन पुरुषों का अन्तःकरण आपके चरणकमल-सौरभ में एकान्त भक्त है,—उनका सङ्गप्राप्त जो मनुष्यगण हैं,—वह अत्यन्त प्रिय मनुष्य-शरीर और मनुष्य शरीर के अनुगामी घर, धन, सुहृद्, पुत्र, भार्य्या—सभी को भूल जाते हैं ॥१९७॥

भगवद्भक्त के सङ्ग से जगत को आनन्द होता है,—अब वही कहते हैं।—पद्मपुराण के उक्त स्थान में प्रेत ने कहा है कि,—रसायन (पुष्टिदायक रोगनिवर्त्तक औषधाविशेष) निर्म्मिता, शीतलत्वमयी, परमानन्दप्रदा—वैष्णवाश्रयस्वरूप चन्द्रिका (चन्द्र की किरण) किस पुरुष को आनन्द प्रदान नहीं करती ? ॥ १९८ ॥

मोक्षप्रदता ।

दशमस्कन्धे श्रीमुचुकुन्द-स्तुतौ—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥ १९९ ॥

अतएवोक्तं श्रीप्रचेतोभिश्चतुर्थस्कन्धे—

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः ।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।
प्रस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥ २०० ॥
तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥ २०१ ॥

सर्व्वसारता ।

वृहन्नारदीये श्रीनारद-सनत्कुमार-सम्वादे—

असारभूते संसारे सारमेतदजात्मज !
भगवद्भक्त-सङ्गो हि हरि-भक्तिसमिच्छताम् ॥ २०२ ॥

पाद्मे तत्रैव महीरथनृपोक्तौ—

असागरोत्थपीयूषमद्रव्यं व्यसनौषधम् ।

भाषा टीका ।

भगवद्भक्त के सङ्ग से जो मोक्ष प्राप्त होती है, अब उसका वर्णन किया जाता है ।—दशम-स्कन्ध की मुचुकुन्द-स्तुति में वर्णित है कि,—हे अच्युत ! जिस समय आपकी कृपा से संसार में डूबे हुए पुरुष का संसार नष्ट होने का काल प्राप्त होता है,—उसी समय साधु-सङ्ग की प्राप्ति होती है,—उसी समय सर्वसङ्ग-निवृत्ति-द्वारा कार्य्य-कारणनियन्ता और साधु जनों के परमगतिस्वरूप तुम में मति का उदय होता है ॥ १९९ ॥

अतएव चतुर्थ-स्कन्ध में प्रचेता ओं ने कहा है कि,—हे भगवन् ! तुम्हारे जिन सङ्गी ओं के निकट तृष्णा को शान्त करने वाली पवित्र कथा का प्रसङ्ग होता है, जिस कथा में सर्वभूत में शत्रुतारहित अर्थात् किसी से वैर-भाव नहीं होता है, किसी प्रकार का उद्वेग निकट आने में समर्थ नहीं होता और सत कथा के वीच में सर्वसङ्गत्यागी पुरुष के परमगतिस्वरूप श्रीनारायण; वही मुक्तसङ्ग माहात्मा ओं से पुनः पुनः कीर्तित होते हैं, चरण से तीर्थों को पवित्र करने की इच्छा में विचरणशील—उन भवदीय पुरुषों का सङ्ग प्राप्त करने में किस डरे हुए पुरुष की इच्छा नहीं होती है ? ॥ २००-२०१ ॥

अब भगवद्भक्त-सङ्ग की सारता (सब से प्रधानता) कही जाती है ।—वृहन्नारदीय-पुराण के नारद-सनत्कुमार-सम्वाद में लिखा है,—हे ब्रह्म-सुत ! इस असार संसार में सम्यक् प्रकार, हरि-भक्ति की इच्छा करने वाले पुरुषों के सम्बन्ध में केवलमात्र भगवद्भक्त का सङ्ग ही सार-वस्तु है ॥ २०२ ॥

पद्मपुराण के पूर्वोक्त स्थान में महीरथ-राजा ने

हर्षश्चाशोकपर्य्यन्तः सतां किल समागमः ॥ २०३ ॥

भगवत्कथामृत-पानैकहेतुता।

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीनारदोक्तौ—

प्रसङ्गेन सतामात्म-मनः-श्रुति-रसायनाः।
भवन्ति कीर्त्तनीयस्य कथाः कृष्णस्य कोमलाः ॥ २०४ ॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवोक्तौ—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसम्विदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि, श्रद्धा-रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २०५ ॥

चतुर्थे श्रीनारदोक्तौ—

यत्र भागवता राजन्! साधवो विशदाशयाः।
भगवद्गुणानुकथन-श्रवण-व्यग्रचेतसः ॥ २०६ ॥

तस्मिन् महन्मुखरितः मधुभिच्चरित्रपीयूष-शेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिवन्त्यवितृषो नृप! गाढ़कर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशन-तृड्-भय-शोक-मोहाः ॥२०७॥

पञ्चमे श्रीब्राह्मण-रहूगण-सम्वादे—

यत्रोत्तमःश्लोक-गुणानुवादः, प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।

भाषा टीका।

कहा है कि,—सत्सङ्ग—अ-समुद्रोत्पन्न अमृतस्वरूप, विना ही पाक प्रस्तुत-हुई अशुभादिव्याधि की औषधी-स्वरूप और सब प्राणी ओं को आनन्द करने वाला है ॥ २०३ ॥

अब भगवत्कथामृत-पान करने की एक हेतुता कही जाती है।—पद्मपुराण के वैष्णव-माहात्म्य-में नारदजी ने कहा है,—सज्जन-प्रसङ्ग के कारण कीर्त्तनीय श्रीकृष्ण की कथा—जीवों के चित्त को सन्तोष देने वाली, कानों को सुख करने वाली और कोमला होती है ॥ २०४ ॥

तृतीय-स्कन्ध में कपिलदेव ने कहा है कि,—हे जननि! सज्जन का सङ्ग प्राप्त होने पर, मद्वीर्य्यप्रकाशिका कथा उपस्थित होती है, चित्त और कानों को आनन्द उत्पन्न होता है,—इसी कारण उसका सेवन करने के प्रसाद से तत्काल मोक्षमार्गस्वरूप मुझ हरि में क्रमानुसार—श्रद्धा, रति और भक्ति का सञ्चार होता है ॥ २०५ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध में नारदजी ने कहा है कि,—हे नृपते! निर्म्मलमति भगवद्भक्तिपरायण साधुपुरुष; प्रभु के गुण-कीर्त्तन और श्रवण करने के लिये व्यग्र-चित्त होकर जहाँ निवास करते हैं,— वहाँ प्राय—महात्मा ओं के मुखकमल से प्रभु माधव के विशुद्ध चरितं कीर्त्तित होते हैं। हे राजन्! महाजन से कीर्त्तित मधुसूदन के चरित्ररूप शुद्ध अमृत वहाने वाली सरित (नदी) जिस स्थान में है, अलंबुद्धिरहित हो सावधानी के सहित इस नदी को सेवा करने पर—भूख, प्यास, डर, शोक, मोह;—कोई भी स्पर्श करने में समर्थ नहीं होता; विशेष कर जो भक्ति-रस में सुरसिक हैं, भूख इत्यादि के द्वारा उनके पक्ष में विघ्न उत्पन्न होने की सम्भावना कहाँ है? ॥ २०६—२०७ ॥

पञ्चम-स्कन्ध के ब्राह्मणरहूगण-सम्वाद में लिखा

निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो,-र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥ २०८ ॥

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-सम्वादे श्रीऐलोपाख्यानान्ते—

तेषु नित्यं महाभाग ! महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुणन्त्यघम् ॥ २०९ ॥
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥

भक्तिसम्पादकता ।

बृहन्नारदीये तत्रैव—

भक्तिस्तु भगवद्भक्त-सङ्गेन परिजायते।
सत्सङ्गः प्राप्यते पुम्भिः सुकृतैः पूर्व्वसञ्चितैः ॥ २१० ॥

श्रीभगवद्वशीकारिता ।

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-सम्वादे—

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन !
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा ॥
न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म एव वा ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥

भाषा टीका ।

है,—हे राजसत्तम ! सज्जन पुरुषों के समीप ग्राम्य-कथा का आन्दोलन सुनाई नहीं देता, उनके निकट सदा उत्तमःश्लोक हरि के गुणों का ही कीर्तन होता है। सर्वदा उक्त गुणानुकीर्त्तन सेव्यमान होने पर, वही हरि के प्रति मुमुक्षु पुरुष को सद्बुद्धि प्रदान करता है ॥ २०८ ॥

एकादश-स्कन्ध के श्रीभगवदुद्धव-सम्वाद में ऐलो-पाख्यान के अन्त में लिखा है,—हे महाभाग ! शिष्ट पुरुषों के हित करने वाली मेरी कथा साधु ओं के समीप ही उपस्थित होती है, जो भक्त उसको सुनते हैं, यह सब कथा हितजनक होकर उनके पापों का नाश करती हैं ॥ २०९ ॥

मेरे प्रति श्रद्धासहित आदरपूर्वक—यह सब कथा श्रवण वा कीर्त्तन अथवा उसका अनुमोदन करने से मुझ में भक्ति का सञ्चार होता है।

अब भगवद्भक्त-सङ्ग की भक्तिसम्पादकता वर्णित होती है।— बृहन्नारदीय-पुराण के उक्त स्थान में लिखा है,—भगवद्भक्त का सङ्ग मिलने पर, भगवद्भक्ति उदय होती है, जन्मान्तरीण पुण्य के प्रभाव से ही सत्सङ्ग प्राप्त होता है ॥ २१० ॥

अब भगवद्भक्त की सङ्ग-द्वारा जो श्रीभगवान् को भी वशीभूत किया जाता है,—वही लिखते हैं।— एकादश-स्कन्ध के श्रीभगवदुद्धव-सम्वाद में लिखा है कि,—हे यदुनन्दन ! तुम मेरे भृत्य, (सेवक) सुहृद् और सखा हो—इस कारण सुगोप्य होने पर भी तुम्हारे निकट परम गुप्त विषय कहता हूँ, सुनो।—सर्व सन्ताप-हारक सत्सङ्ग से मनुष्य जिस प्रकार मुझ को वशी-

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्व्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २११ ॥

अतएवोक्तं विदुरेण तृतीयस्कन्धे—

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्द्दनः ॥ २१२ ॥

स्वतः परमपुरुषार्थता।

प्रथमस्कन्धे श्रीशौनकादीनाम्—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गि-सङ्गस्य मर्त्त्यानां किमुताशिषः ?॥ २१३ ॥

चतुर्थे श्रीप्रचेतसः प्रति श्रीशिवोपदेशे—

क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गि-सङ्गस्य मर्त्त्यानां किमुताशिषः ?॥ २१४ ॥

द्वादशे श्रीमार्कण्डेयोपाख्याने श्रीशिवस्य—

तथापि सम्वदिष्यामो भवान्येतेन साधुना।

भाषा टीका।

भूत करता है; क्या योग * क्या सांख्य, क्या धर्म्म, क्या स्वाध्याय, (वेदादि का पढ़ना) क्या तपस्या, क्या त्याग, क्या इष्टापूर्त्त, (वापी-कूप-तड़ागादि का वनाना) क्या दक्षिणा, क्या व्रत, क्या यज्ञ, क्या छन्दः, क्या तीर्थ, क्या नियम, क्या यम;—कोई भी उस प्रकार मुझको वशीभूत करने में समर्थ नहीं है ॥ २११ ॥

अतएव तृतीय-स्कन्ध में विदुरजी ने मैत्रेयजी से कहा है कि,—हे तापस ! आपके चरणकमलों की आराधना करने पर, निर्विकार मधुसूदन के चरणकमलों में तीव्र प्रेमोत्सव उत्पन्न होता है, अतएव—वही उत्सव संसार दूर करता है ॥ २१२ ॥

अब भगवद्भक्ति की स्वतः परमपुरुषार्थता का वर्णन किया जाता है।—प्रथम-स्कन्ध में शौनकादि के वाक्य में वर्णित है कि,—मनुष्यों के वाञ्छनीय अन्यान्य विषयों की वात तो दूर रहे, तुम्हारे भक्तों का लेश-मात्र भी सङ्ग होने के साथ स्वर्ग वा मुक्ति की भी तुलना नहीं कर सकती ॥ २१३ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध में प्रचेता के प्रति शिव का उपदेश है कि,—हे प्रभो ! मनुष्यों के राज्यादि-विभव की वात तो दूर रहे, तुम्हारे सङ्गीगण-सङ्ग के आधे क्षण के सहित भी स्वर्ग वा मोक्ष;—इन दोनों की तुल्य गिन्ती नहीं कर सकते ॥ २१४ ॥

द्वादश-स्कन्ध के मार्कण्डेयोपाख्यान में श्रीशिव-जी ने कहा है,—हे देवि ! तो भी तुम्हारे अनुरोध के वशीभूत होकर, मैं इनसे वात चीत करने की इच्छा

---

* योग—अष्टाङ्ग। सांख्य—तत्वविवेक। धर्म्म—सामान्यतः अहिंसादि वा वर्णाश्रमाचारविहित अनुष्ठान। स्वाध्याय—वेद का जप। तप—कृच्छ्रादि। त्याग-सन्न्यास। इष्टापूर्त्त—अग्निहोत्रादि और कूप-आरामादि-निर्म्माण। दक्षिणा—सामान्यतः दान। व्रत—एकादश्युपवासादि। यज्ञ—देव पूजा। छन्दः—रहस्यमन्त्र। नियम—वाह्येन्द्रिय-निग्रहादि। यम—अन्तःकरण-संयमादि।

अयं हि परमो लाभो नृणां साधु-समागमः ॥ २१५ ॥

अतएव श्रीप्रह्लादं प्रति श्रीधरण्योक्तम्, श्रीहरिभक्तिसुधोदये ।

अक्ष्णोः फलं त्वादृश-दर्शनं हि, तन्वाः फलं त्वादृशगात्र-सङ्गः ।
जिह्वा-फलं त्वादृश-कीर्त्तनं हि, सुदुर्लभा भागवता हि लोके ॥ २१६ ॥

अतएव विदुरेण तृतीयस्कन्धे—

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठ-वर्त्मसु ।
यत्रोपगीयते नित्यं देव-देवो जनार्द्दनः ॥ २१७ ॥

श्रीविदेहेनाप्येकादशस्कन्धे—

दुर्ल्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्ल्लभं मन्ये वैकुण्ठ-प्रियदर्शनम् ॥ २१८ ॥

अतएव हि प्रार्थितं श्रीध्रुवेण चतुर्थस्कन्धे—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो भूयादनन्त! महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं नेष्ये भवद्गुण-कथामृतपानमत्तः ॥ २१९ ॥

प्रचेतसः प्रत्युपदेशे श्रीशिवेन च—

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्त्तितीर्थयोरन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।

भाषा टीका ।

करता हूँ, क्यौं कि—साधु-समागम ही मनुष्य के पक्ष में परम लाभ कहा गया है ॥ २१५ ॥

हरि-भक्तिसुधोदय में प्रह्लाद के प्रति वसुमती ने कहा है कि,—तुम्हारे भक्त का दर्शन ही दोनों नेत्रों का फल, तुम्हारे भक्त का गात्र-सङ्ग ही शरीर का फल और तुम्हारे भक्तों का नाम-कीर्त्तन ही जिह्वा का फल है, अतएव एकमात्र भगवद्भक्त ही संसार में परम दुर्लभ हैं ॥ २१६ ॥

अतएव तृतीय-स्कन्ध में विदुरजी ने कहा है कि,—भगवान् अथवा उनके लोक—वैकुण्ठ-धाम के मार्गस्वरूप महापुरुषों की सेवा; अल्पतपा अर्थात् जिनका तप थोड़ा है,—ऐसे मनुष्यों को परम दुर्लभ है, उक्त महात्मा पुरुष सदा देव-देव जनार्द्दन के गुण-कीर्त्तन करते हैं ॥ २१७ ॥

एकादश-स्कन्ध में विदेह ने कहा है,—देहधारीओं में यह क्षणभङ्गुर मनुष्य-देह दुर्लभ है; उस में भी फिर विष्णु के भक्तों का दर्शन दुर्लभ है, ॥ २१८ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध में ध्रुव की प्रार्थना है कि,—हे अनन्त! मैं केवल यही मांगता हूँ कि,—जो विमलमति महा-पुरुष-गण आपके प्रति सदा भक्ति दिखाते हैं; आपकी कथा सुनने के लिये उन पुरुषों से मेरा समागम हो। हे भगवन्! महापुरुषों का सङ्ग होने पर ही मैं भव-दीयगुणकथारूपी अमृत पान से मत्त होकर विना ही यत्न—इस भयङ्कर संसार समुद्र से पार होने में समर्थ होऊँगा; विपुल महाघोर विपद् होने पर भी वह मेरे पक्ष में दुष्पार होगा ॥ २१९ ॥

प्रचेताओं के प्रति शिव का उपदेश है कि,—हे प्रभो! मेरे पर आपका यह अनुग्रह हो कि,—तुम्हारी कीर्त्ति-गान और गङ्गा—इन दोनों में स्नान-द्वारा जिन के क्रम से अन्तः (मनोगत) वहिः (देहगत) पातक धुल गये हैं, जो दयालु, रागादिहीन और ऋजुतादि

भूतेष्वनुक्रोशसुसत्वशीलिनां स्यात सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव॥ २२० ॥

श्रीप्रचेतोभिश्च—

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्म्मभिः।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवेभवे ॥ २२१ ॥

श्रीप्रह्लादेनापि सप्तमस्कन्धे—

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ, आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण, कालात्मनोपनय मां निज-भृत्य-पार्श्वम्
[॥ इति ॥ २२२ ॥

असद्भिः सह सङ्गस्तु न कर्त्तव्यः कदाचन।
यस्मात् सर्व्वार्थ-हानिः स्यादधःपातश्च जायते ॥ २२३ ॥

अथासत्सङ्ग-दोषाः।

श्रीकात्यायनसंहितायाम्—

वरं हुतवहज्वाला-पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।
न शौरि-चिन्ताविमुखजन-सम्वासवैशसम् ॥ २२४ ॥

पाद्मे उत्तरखण्डे श्रीउमा-महेश्वर-सम्वादे—

अवैष्णवास्तु ये विप्राश्चाण्डालादधमाः स्मृताः।
तेषां सम्भाषणं स्पर्शं सोम-पानादि वर्जयेत् ॥ २२५ ॥

भाषा टीका।

गुणसम्पन्न है—उन सब साधुशील पुरुषों के सहित मेरा समागम हो ॥ २२० ॥

प्रचेता ओं ने भी कहा है कि,—हे प्रभो ! हम आपकी माया से जकड़े हुए जब तक कर्म्म के वश होकर इस संसार में विचरण करें, तब तक प्रति जन्म में तुम्हारे सङ्गी-गणों का समागम मिले ॥२२१॥

सप्तम-स्कन्ध में प्रह्लादजी ने कहा है कि,—हे प्रभो ! भोग के पीछे देहधारी ओं के भाग्य में जो जो होता है—वह मैं भली भाँति से जानता हूँ, अतएव आयुः, श्री, विभव, ब्रह्माजी के भोग, सब इन्द्रियों के भोग, विषय अथवा अणिमादि सिद्धि—किसी में मेरी कामना नहीं है, क्यौं कि—स्पष्ट ही दिखाई देता है कि,—आप स्वयं महाविक्रमवान् काल-रूपी होकर, इन सब का भी नाश करते हैं,—इस कारण केवलमात्र इतनी ही भिक्षा चाहता हूँ कि—अपने निज-किङ्करों के पार्श्व में मुझको ले-जाइये ॥२२२॥

कभी असत्सङ्ग न करे, क्यौं कि—उससे अर्थ-क्षय और अधःपतन (नीचे गिरना) होता है ॥ २२३ ॥

अब असत्सङ्ग का दोष कहा जाता है।—कात्यायन संहिता में है,—अग्नि-शिखारूप पिञ्जर के भीतर वास करना भी श्रेष्ठ है, किन्तु तो भी हरि-चिन्ता से विमुख मनुष्य का सङ्गरूप क्लेश भोगना न पड़े ॥ २२४ ॥

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के उमा-महेश्वर-सम्वाद में लिखा है कि,—अवैष्णव ब्राह्मण के साथ बात-चीत, उसको स्पर्श और उसके साथ एकत्र सोम-पानादि न करे, क्यौं कि,—वह चाण्डाल से भी निकृष्ट है ॥ २२५ ॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिल-देवहूति-सम्वादे—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु योषितक्रीड़ामृगेषु च ।
सङ्गं न कुर्य्याच्छोच्येषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ॥ २२६ ॥
न तथास्य भवेद्बन्धो मोहश्चान्य-प्रसङ्गतः ।
योषितसङ्गाद्यथा पुंसो यथा ततसङ्गिसङ्गतः ॥ २२७ ॥

एकादशे च श्रीभगवदुद्धव-सम्वादे—

सङ्गं न कुर्य्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत् ॥ २२८ ॥
भगवद्भक्तिहीना ये मुख्याऽसन्तस्त एव हि ।
तेषां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि ॥ २२९ ॥

अथासतां निष्ठा ।

बृहन्नारदीये प्रायश्चित्त-प्रकरणान्ते—

किं वेदैः किमु वा शास्त्रैः किमु तीर्थनिषेवणैः ।
विष्णु-भक्तिविहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः ? ॥ २३० ॥

श्रीगारुड़े—

अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व्वशास्त्रार्थवेद्यपि ।

भाषा टीका ।

तृतीय-स्कन्ध के कपिल-देवहूति-सम्वाद में लिखा है कि,—हे जननि ! असतसमागम अत्यन्त अहित-कारक है,—इस से—सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, ह्री (लज्जा) शोभा, कीर्त्ति, क्षमा, शम, दम, ऐश्वर्य्यादि सभी नाश को प्राप्त होता है, इसकारण इन सब—मूर्ख, अशान्त, स्त्रियों के क्रीड़ामृगस्वरूप, निन्दनीय, देहात्मबुद्धि असत पुरुषों के सहित सङ्ग करना कभी उचित नहीं है ॥ २२६ ॥

हे जननि ! असतपुरुष के सङ्ग से स्त्री-सङ्ग अहित-कर है और स्त्री-सङ्गी का सङ्ग भी अनिष्ट-उत्पादक है,—इन दोनों के सङ्ग से जिस प्रकार मोह और बन्धन होता है—अन्य के सङ्ग से वैसा नहीं होता ॥ २२७ ॥

एकादश-स्कन्ध के श्रीभगवदुद्धव-सम्वाद में लिखा है,—शिश्नोदर-परायण (स्त्रीविलासी और अपने भोजन-सुखकामी) असत् पुरुष का सङ्ग करने पर, अन्ध के अनुगामी अन्ध के समान अन्धतम कूप में गिरना पड़ता है ॥ २२८ ॥

भगवान् की भक्ति से विमुख पुरुष ही प्रधान असाधु है, सत्कर्म्मनिष्ठ होने पर भी कहीं उसकी शुभगति नहीं होती ॥ ॥ २२९ ॥

अब असत् पुरुषों की गति कही जाती है ।—बृहन्नारदीय-पुराण में प्रायश्चित्त-प्रकरण के अन्त में लिखा है,—जो हरि की भक्ति से विमुख हैं,—उन को—वेद, शास्त्र, तीर्थ-सेवा, अथवा यज्ञानुष्ठान से क्या फल है ? ॥ २३० ॥

गरुड़पुराण में लिखा है,—सर्वेश्वर हरि के प्रति भक्तिमान् न होने पर सर्ववेद-पारदर्शी, सर्व शास्त्रार्थ

यो न सर्व्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ॥ २३१ ॥

तृतीयस्कन्धे श्रीब्रह्म-स्तुतौ—

अह्न्यापृतार्त्तकरणा निशि निःशयाना,नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देवा,युष्मत्-प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥ २३२॥

अतएवोक्तं षष्ठे—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र ! सुरा-कुम्भमिवापगाः ॥ २३३ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

कुतः पाप-क्षयस्तेषां कुतस्तेषाञ्च मङ्गलम्।
येषां नैव हृदिस्थोऽयं मङ्गलायतनो हरिः ॥ २३४ ॥

अतएव वृहन्नारदीये लुब्धकोपाख्यानारम्भे—

हरिपूजा-विहीनाश्च वेदविद्वेषिणस्तथा।
द्विज-गो-द्वेषिणश्चापि राक्षसाः परिकीर्त्तिताः ॥ २३५ ॥

अतएव निज-दूतान् प्रति धर्म्मराजस्यानुशासनं षष्ठस्कन्धे—

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द,-पादारविन्दमकरन्द-रसादजस्रम्।

भाषा टीका।

का जानने वाला पुरुष भी पुरुषाधमों में गिना गया है ॥ २३१ ॥

तृतीय-स्कन्ध की ब्रह्मस्तुति में वर्णित है कि,—हे प्रभो ! पुरुष भी भक्ति हीन होने पर संसार में जो दुर्गतिग्रस्त होते हैं—वही कहते हैं।—दिन के समय इन्द्रिय-ग्राम अनेक विषयों में निरत रहकर, जो क्लेश को प्राप्त होते हैं अतएव सुखप्राप्ति की आशा उस की नहीं रहती, रात्रि के समय निद्रावस्था में भी सुख का लेश नहीं पाते हैं, स्वप्न देखने से वारम्वार अनेक मनोरथों की चिन्ता से जिनकी निद्रा-भङ्ग हो जाती है और अभाग्यवशतः धनोपार्जन के अर्थ उद्यम का भी ह्रास हो जाता है ऐसे ज्ञानी और देवता-गण भी संसार-दुःख पाते हैं ॥ २३२ ॥

षष्ठस्कन्ध में लिखा है,—हे राजन् ! केवलमात्र भक्ति ही पवित्रता विधान में समर्थ है,—इस विषय में दूसरे की अपेक्षा न करे, किन्तु भक्ति के अतिरिक्त सान्तपनादि प्रायश्चित्त अन्यनिरपेक्ष होकर पवित्र करने में समर्थ नहीं है। विशेषतः जिस प्रकार मद्य के पात्र की शुद्धि करने की नदी की सामर्थ्य नहीं है,—ऐसे ही विधिपूर्वक अनुष्ठित महाप्रायश्चित्त भी हरि-विमुख व्यक्ति को शुद्ध करने में समर्थ नहीं है ॥ २३३ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है,—जिन पुरुषों के हृदय में कल्याणमय हरि का निवास नहीं है,—उनका कल्याण कहाँ ? वा पाप-नाश होना ही कहाँ है ? ॥२३४॥

वृहन्नारदीय-पुराण में लुब्धकोपाख्यान के प्रारम्भ में लिखा है,—विष्णु की पूजा से विमुख, वेद-विद्वेषी, गौ और ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले पुरुष राक्षस कहे गये हैं ॥ २३५ ॥

षष्ठ-स्कन्ध में अपने दूतों के प्रति धर्म्मराज के अनुशासन (शिक्षा) प्रसङ्ग में लिखा है कि,—हे दूत-गण ! जो पुरुष—अकिञ्चन रसविद् परमहंस-कुलद्वारा निरन्तर सेवित हरि-चरणकमल का मधुरस पीने से

निष्किञ्चनैः परमहंस-कुले रसज्ञै,-र्जुष्टाद्‌गृहे निरयवर्त्मनि वद्धतृष्णान् ॥ २३६॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्‌गुणनामधेयं, चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि, तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥२३७॥

अथ श्रीवैष्णवनिन्दादि-दोषः।

स्कान्दे मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—

योहि भागवतं लोकमुपहासं नृपोत्तम !
करोति, तस्य नश्यन्ति अर्थ-धर्म्म-यशः-सुताः ॥ २३८ ॥

निन्दां कुर्व्वन्ति ये मूढ़ा वैष्णवानां महात्मनाम्।
पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरवसंज्ञिते ॥
हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट् ॥ १३९ ॥

तत्रैवामृतसारोद्धारे—

जन्मप्रभृति यत् किञ्चित् सुकृतं समुपार्जितम्।
नाशमायाति तत् सर्व्वं पीड़येद्यदि वैष्णवान्॥

द्वारका-माहात्म्ये प्रह्लाद-वलि-सम्वादे—

करपत्रैश्च फाल्यन्ते सुतीव्रैर्यमशासनैः।
निन्दां कुर्व्वन्ति ये पापा वैष्णवानां महात्मनाम् ॥

भाषा टीका।

विमुख और नरक के मार्गस्वरूप स्वधर्म्मरहित गृह में वद्धतृष्ण अर्थात् गृह में जिनका अनुराग-विशेष है,—उन असाधु पुरुषों को मेरे पास ले आना ॥२३६॥

एक समय भी जिनकी जिह्वा भगवान् के गुण-कीर्त्तन वा नामोच्चारण नहीं करती, जिन का मन भगवान् के चरणकमलों को स्मरण भी नहीं करता है और हरि के चरणकमलों में जिनका मस्तक नहीं झुकता तथा जिनके द्वारा भगवान् के व्रत का अनुष्ठान नहीं हुआ; उन सब असाधु पुरुषों को मेरे पास लाओ ॥ २३७ ॥

अव वैष्णव की निन्दादि करने का दोष लिखा जाता है।—स्कन्द-पुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है कि,—हे नृपोत्तम! भगवान् के भक्त की हँसी करने से धर्म्म, अर्थ, कीर्त्ति और सन्तान का नाश होता है ॥ २३८ ॥

माहात्मा वैष्णवजनों की निन्दा करने वाले मूढ़-पुरुष पितरों के सहित महारौरवनामक नरक में गिरते हैं। वैष्णवजन को प्रहार, द्वेष वा अनादर करने से, उनके प्रति क्रोधादि दिखाने से और उनको देख कर हर्ष प्रकाश न करने से नरक में गिरना पड़ता है,—यह छै नरक में गिरने के कारण हैं ॥ २३९ ॥

उक्त पुराण के अमृतसारोद्धार में प्रकाशित है कि,—वैष्णव-जन को पीड़ित करने से समस्त जन्म का सञ्चित पुण्य क्षय होता है। द्वारका-माहात्म्य के प्रह्लाद-वलि-सम्वाद में लिखा है,—महात्मा वैष्णव जनों की निन्दा करने पर यम-दूत अतिशय तीक्ष्ण करपत्र (करोती) से उन सब पापी

पूजितो भगवान् विष्णुर्जन्मान्तर-शतैरपि।
प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चावमानिते॥

दशमस्कन्धे च—

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥ २४०॥

अतएवोक्तं श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे—

जीवितं विष्णु-भक्तस्य वरं पञ्चदिनानि च।
न तु कल्प-सहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे॥ २४१॥

अतएवोक्तं श्रीभागवते ऐलोपाख्यानान्ते—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनो-व्यासङ्गमुक्तिभिः॥ २४२॥
अथ श्रीभगवद्भक्तान् सल्लक्षण-विभूषितान्।
गत्वा तान् दूरतो दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेन्मुदा॥ २४३॥

अथ श्रीवैष्णव-समागमविधिः।

तेजोद्रविणपञ्चरात्रे—

वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेद्भुवि।
उभयोरन्तरा विष्णुः शंख-चक्र-गदा-धरः॥ २४४॥

भाषा टीका।

को चीरते हैं। शत शत जन्म तक पूजित होने पर भी विधाता भगवान् हरि—वैष्णव का अपमान करने वाले के प्रति प्रसन्न नहीं होते। दशम-स्कन्ध में लिखा है कि,—प्रभु हरि की निन्दा वा हरि-भक्त की निन्दा सुन कर, वहाँ से स्थानान्तर में गमन न करने पर—उसको भी पुण्यभ्रष्ट होकर नरक में गिरना पड़ता है॥ २४०॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में कहा है,—हरि-भक्त होकर पाँच दिन जीवन धारण करना भी श्रेष्ठ है, किन्तु तथापि हरि-भक्ति से विमुख होकर सहस्रकल्प तक जीवित रहने का प्रयोजन नहीं है॥ २४१॥

एकादश-स्कन्ध में ऐलोपाख्यान के अन्त में लिखा है,—कुसङ्ग त्यागकर सत्सङ्ग में अनुरागी होना ही बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है, क्यों कि—साधु ओं के दिये हितोपदेश से मन की गृहादि में आसक्ति दूर होती है॥ २४२॥

फिर तप्तमुद्रा—इत्यादि वैष्णव-चिह्न से अलंकृत हरि-भक्त को दूर से देखकर ही प्रसन्नतासहित दण्डवत् प्रणाम करे॥ २४३॥

अब वैष्णव-समागम की विधि का वर्णन किया जाता है।—तेजोद्रविण पञ्चरात्र में लिखा है,— वैष्णव को दर्शन करते ही भूतल में दण्डवत् नमस्कार करना वैष्णव का कर्त्तव्य है, क्यों कि—शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी हरि दोनों जनों के ही बीच में स्थित रहते हैं॥ २४४॥

तत्र च विशेषो बृहन्नारदीये—

सभायां यज्ञ-शालायां देवतायतनेष्वपि ।
प्रत्येकन्तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥ २४५ ॥
वैष्णवाश्चागतं वीक्ष्याभिगम्यालिङ्ग्य वैष्णवम् ।
वैदेशिकं प्रीणयेयुर्दर्शयन्तः स्ववैष्णवान् ॥

तथा चोक्तं श्रीब्रह्मणा तेजोद्रविणपञ्चरात्रे—

नारायणाश्रयं भक्तं देशान्तरसमागतम् ।
प्रीणयेद्दर्शयंस्तस्य भक्त्या नारायणाश्रयान् ॥ इति ॥
ततश्च वैष्णवः प्राप्तः सन्तर्प्य वचनामृतैः ।
सद्बन्धुरिव सम्मान्योऽन्यथा दोषो महान् स्मृतः ॥ २४६ ॥

अथ वैष्णवसम्मान-नित्यता ।

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—

दृष्ट्वा भागवतं दैवात् सम्मुखे यो न याति हि ।
न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम् ॥
यो न गृह्णाति भूपाल ! वैष्णवं गृहमागतम् ।
तद्गृहं पितृभिस्त्यक्तं श्मशानमिव भीषणम् ॥
अथवाभ्यागतं दूराद्यो नार्च्चयति वैष्णवम् ।
स्व-शक्त्या नृपशार्द्दूल ! नान्यः पाप-रतस्ततः ॥ २४७ ॥

भाषा टीका ।

वैष्णव के प्रणाम-विषय में विशेष विधि ।—बृहन्नारदीय-पुराण में लिखा है कि,—सभा, यज्ञशाला, देव-मन्दिर,—इन सब स्थानों में प्रत्येक व्यक्ति को अलग अलग प्रणाम करने से पूर्व-सञ्चित पुण्य नष्ट होता है । पुण्यक्षेत्र वा पुण्यतीर्थ अथवा वेद-पाठ के समय भी अलग अलग प्रणाम करने से पूर्वसञ्चित पुण्य नष्ट होता है ॥ २४५ ॥

बिदेशवासी वैष्णव को आया देख—उनके समीप जाकर आलिङ्गन करे और अपने सङ्गी वैष्णवों को नामोल्लेख द्वारा परिचय देकर उनको आनन्दित करावे। तेजोद्रविण पञ्चरात्र में ब्रह्माजी की भी उक्ति है कि,—विदेश से आये हुए हरि-शरणागत भक्त को देखते ही अपने नारायणाश्रय भक्तों को दिखाकर भक्ति-सहित उनको सन्तुष्ट करे, इस कारण वैष्णव जन के आने पर अमृतमय वचनों से सन्तुष्ट करके सद्बन्धु की समान सन्मान करे, नहीं तो महादोष होता है॥२४६॥

अब वैष्णव-सन्मान की नित्यता कही जाती है ।—स्कन्दपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है कि,—दूर-देश से समागत भगवद्भक्त को देखकर उनके सन्मुख न जाने पर, भगवान् द्वादश वर्ष तक, उस पुरुष की पूजा ग्रहण नहीं करते । हे राजन् ! घर में आये हुए वैष्णव को (सादर) ग्रहण न करने पर, पितृ-गण—उसके श्मशान की समान भयानक घर को त्याग देते हैं । हे नृपशार्द्दूल ! दूर-देश से आये हुए वैष्णव की अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूजा न करने पर, उसकी अपेक्षा पापी और कोई नहीं है ॥२४७॥

श्रान्तं भागवतं दृष्ट्वा कठिनं यस्य मानसम्।
प्रसीदति न दुष्टात्मा श्वपचादधिको हि सः॥
विप्रं भागवतं दृष्ट्वा दीनमातुरमानसम्।
न करोति परित्राणं केशवो न प्रसीदति॥
दृष्ट्वा भागवतं विप्रं नमस्कारेण नार्च्चयेत्।
देहिनस्तस्य पापस्य न च वै क्षमते हरिः॥
अपूजितो यदा गच्छेद्वैष्णवो गृहमेधिनः।
शतजन्मार्ज्जितं भूप! पुण्यमादाय गच्छति॥ २४८॥
अनभ्यर्च्च्य पितॄन् देवान् भुञ्जते हरि-वासरे।
तत् पापं जायते भूप! वैष्णवानामतिक्रमे॥ २४९॥
पूर्व्वं कृत्वा तु सम्मानमवज्ञां कुरुते तु यः।
वैष्णवानां महीपाल! सान्वयो याति संक्षयम्॥

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये यम-ब्राह्मण-सम्वादे—

वैष्णवं जनमालोक्य नाभ्युत्थानं करोति यः।
प्रणयादरतो विप्र! स भवेन्नरकातिथिः॥ २५०॥

चतुर्थस्कन्धे च—

व्यालालयद्रुमा ह्येतेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः।
यद्गृहास्तीर्थपादीय-पादतीर्थविवर्ज्जिताः॥ २५१॥

भाषा टीका

हरि-भक्त पुरुष को श्रान्त (थका हुआ) देखकर जिस का चित्त स्नेहाभिषिक्त (स्नेह से आर्द्र) और प्रसन्न नहीं होता,—उस दुरात्मा को श्वपच (चाण्डाल) से भी अधिक निकृष्ट जानना चाहिये। हे द्विज! भागवत विप्र को दीन और आतुरचित्त देखकर उसका उद्धार न करने से हरि—उसके प्रति अप्रसन्न रहते हैं। भगवद्भक्तिपरायण ब्राह्मण को देखकर प्रणाम-सहित पूजा न करने पर, हरि-उस पातकी मनुष्य को कभी क्षमा नहीं करते। हे राजन्! वैष्णव जन के अपूजित होकर घर से लौटने पर, उस गृही का शतजन्मसञ्चित पुण्य—उस वैष्णव के साथ जाता है॥ २४८॥

हे राजन्! वैष्णवजन को अतिक्रम (अनादर) करने पर, पित्रर्च्चना-विमुख और एकादशी के दिन भोजन करने वाले के पाप में लिप्त होना पड़ता है॥२४९॥

हे राजन्! पहिले वैष्णव का सन्मान करके फिर उसके प्रति अवज्ञा (निरादर) प्रकाश करने से सवंश नाश को प्राप्त होना पड़ता है। पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में यम-ब्राह्मण-सम्वाद में लिखा है कि,—हे विप्र! वैष्णव को देखकर प्रीति और आदर सहित न उठने पर, नरकपुरी का अतिथि होना पड़ता है॥२५०॥

चतुर्थ-स्कन्ध में लिखा है,—सर्व-सम्पत्तिपूर्ण होने पर भी साधु-वैष्णव के चरणोदक से रहित गृह भुजङ्गावास वृक्ष की समान है॥ २५१॥

अथ वैष्णव-स्तुतिः।

स्कान्दे।—"धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं यद्यूयं गृहमागताः।
दुर्ल्लभं दर्शनं नूनं वैष्णवानां यथा हरेः॥ २५२॥
मेरुमन्दारतुल्या वै पुण्य-पुञ्जा मया कृताः।
सम्प्राप्तं दर्शनं यद्वै वैष्णवानां महात्मनाम्" ॥ २५३॥

दशमस्कन्धे श्रीगर्गाचार्य्यं प्रति श्रीनन्दस्य वाक्यम्—
"महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन्! कल्पते नान्यथा क्वचित्॥ २५४॥

चतुर्थस्कन्धे सनकादीन् प्रति पृथुमहाराजस्य—
"अहो! आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः!
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्द्दशानां च योगिभिः॥ २५५॥
अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः।
यद्गृहा ह्यर्हवार्य्याम्बुतृणभूमीश्वराऽवराः॥ २५६॥
कच्चिन्नः कुशलं नाथा! इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्।
व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्म्मभिः॥ २५७॥
भवत्सु कुशल-प्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते।

भाषा टीका।

उल्लिखित वैष्णव की स्तुति का अर्थ।—स्कन्द-पुराण में लिखा है कि,—मेरे घर आपका शुभागमन होने से आज मैं धन्य और कृतकृत्य हुआ। वैष्णवदर्शन—हरि-दर्शन की समान दुर्लभ है, इस में सन्देह नहीं॥ २५२॥

मैंने अवश्य ही सुमेरु और मन्दर पर्वत की समान राशि राशि पुण्य-सञ्चय किया है,—इसी कारण महात्मा वैष्णव का दर्शन मिला॥ २५३॥

दशम-स्कन्ध में गर्ग ऋषि के प्रति श्रीनन्दमहाराज ने कहा है कि,—हे भगवन्! गृही पुरुषों के कल्याणार्थ ही महाजन पुरुष अपने आश्रम से स्थानान्तर में गमन करते हैं, स्वार्थ के लिये नहीं। गृही पुरुष अत्यन्त कृपण हैं, अतएव मुहूर्त्तमात्र के लिये भी घर छोड़ने में समर्थ नहीं हैं, महापुरुषगण कृपापूर्वक स्वयं उनके घर आकर दर्शन देते हैं। हे भगवन्! इसके अतिरिक्त गृही के घर महापुरुषों के उपस्थित होने का दूसरा कारण दिखाई नहीं देता॥ २५४॥

चतुर्थ-स्कन्ध में सनकादिक के प्रति पृथुने कहा है,—अहो महापुरुषगण! आप लोग मङ्गल के आश्रय हैं, आपका दर्शन मिलना योगीओं को भी दुर्लभ है, अतएव मैंने ऐसा क्या मङ्गलाचरण किया है कि,—जो आपलोगों का दर्शन प्राप्त किया॥ २५५॥

अहो! पूज्यगण जिनके घर जाकर जल, तृण, भूमि, गृहस्वामी, और भृत्यगण को स्वीकार करते हैं, निर्धन होने पर भी—वही गृही धन्यवाद के योग्य है॥ २५६॥

हे नाथ! हम अपने अपने कर्म्मफल से समस्त व्यसन [दुःख] के वपनक्षेत्रस्वरूप [अर्थात् जहाँ समस्त ही दुःख उत्पन्न होते हैं] इस संसार में पतित होकर इन्द्रिय-ग्राम के रूप-रसादि विषय-सुख को ही परम पुरुषार्थ जानते हैं, अतएव हमारा मङ्गल कहाँ? ॥२५७॥

हे महापुरुषगण! आप मेरे घर में अभ्यागत हैं,

कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मति-वृत्तयः ॥ २५८ ॥

अथ वैष्णवाभिगमनं-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—

सम्मुखं व्रजमानस्य वैष्णवानां नराधिप !
पदे पदे यज्ञ-फलं प्राहुः पौराणिका द्विजाः ॥ २५९ ॥

अथ वैष्णवस्तुति-माहात्म्यम् ।

तत्रैव ।— प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा ये प्रशंसन्ति वैष्णवम् ॥
ब्रह्महा मद्यपः स्तेयी गुरुगामी सदा नृणाम् ।
मुच्यते पातकात् सद्यो विष्णुराह नृपोत्तमः ! ॥ २६० ॥

किञ्च ।— प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा ये प्रशंसन्ति वैष्णवम् ।
प्रसादाद्वासुदेवस्य ते तरन्ति भवार्णवम् ॥ २६१ ॥

अथ श्रीवैष्णवसम्मानन-माहात्म्यम् ।

तत्रैवामृतसारोद्धारे—

श्रद्धया दत्तमन्नञ्च वैष्णवाग्निषु जीर्य्यते ।
तदन्नं मेरुणा तुल्यं भवते च दिने दिने ॥
दैवे पैत्रे च यो दद्याद्वारिमात्रन्तु वैष्णवे ।
सप्तोदाधि-समं भूत्वा पितॄणामुपतिष्ठति ॥

भाषा टीका ।

अभ्यागत की कुशल पूछना गृही का कर्त्तव्य है, अपने कल्याण का पूछना अनुचित है,—यह सत्य है, किन्तु आप आत्माराम हैं। आप लोगों की बुद्धिवृत्ति कुशल और अकुशल में भी नहीं है,—इस कारण आप लोगों में कुशल का पूछना अनुपयुक्त है॥ २५८ ॥

अब वैष्णव के समीप जाने का माहात्म्य वर्णित होता है।—स्कन्धपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है,—हे राजन्! पौराणिक ब्राह्मणों ने कहा है,—जो वैष्णव के सन्मुख गमन करते हैं—उनको पद पद में यज्ञ का फल मिलता है ॥ २५९ ॥

वैष्णव-स्तुति का माहात्म्य।—इसी पुराण में लिखा है,—"मनुष्यों में निरन्तर ब्रह्मघाती, सुरापायी, सुवर्ण-स्तेयी (सुवर्ण चुराने वाला) और गुरु-पत्नीगामी होने पर भी सन्मुख वा परोक्ष में वैष्णव की प्रशंसा करने वाला पुरुष तत्काल सब पापों से छूट जाता है", स्वयं विष्णुजी ने यह कहा है ॥ २६० ॥

और भी लिखा है,—सन्मुख वा पीछे वैष्णव की प्रशंसा करने पर, हरि के प्रसाद से भवसागर पार हो जाता है ॥ २६१ ॥

अब वैष्णव के सन्मान का माहात्म्य कहते हैं।—उक्त पुराण के अमृतसारोद्धार-प्रस्ताव में लिखा है,—वैष्णवों के उदरानल में श्रद्धासहित दिया हुआ अन्न जीर्णता को प्राप्त होने पर—वह प्रति दिन सुमेरु-पर्वत के समान होता है। देव-कार्य्य अथवा पितृ-कार्य्य में वैष्णव जन को केवल जलमात्र अर्पण करने से—वह जल सात समुद्र की समान होकर पितृ-लोक के समीप पहुँचता है। विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखा है,—दान, तप और अनेक प्रकार यज्ञों के अनुष्ठान से क्या फल है ? हरि के भक्तों की पूजा करने से सभी सम्पत्ति प्राप्त होती है, अतएव

विष्णुधर्म्मे।-किं दानैः किं तपोभिर्वा यज्ञैश्च विविधैः कृतैः।
सर्व्वं सम्पद्यते पुंसां विष्णु-भक्ताभिपूजनात् ॥
पूजयेद्वैष्णवानेतान् प्रयत्नेन विचक्षणः।
स्व-शक्त्या वैष्णवेभ्यो यद्दत्तं स्यादक्षयं भवेत् ॥

वृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्यानान्ते—
हरि-भक्तिरतान् यस्तु हरि-बुद्ध्या प्रपूजयेत्।
तस्य तुष्यन्ति विप्रेन्द्रा ! ब्रह्म-विष्णु-शिवादयः ॥ २६२ ॥
हरि-पूजारतानाञ्च हरि-नामरतात्मनाम्।
शुश्रूषाभिरता यान्ति पापिनोऽपि परां गतिम् ॥

तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानस्यारम्भे—
संसारसागरं तर्त्तुं य इच्छेन्मुनिपुङ्गवाः।
स भजेद्धरि-भक्तानां भक्तांस्ते पापहारिणः ॥ २६३ ॥

तदन्ते च।—यो विष्णु-भक्तान् निष्कामान् भोजयेच्छ्रद्धयान्वितः।
त्रिसप्तकुलसंयुक्तः स याति हरि-मन्दिरम् ॥
विष्णु-भक्ताय यो दद्यान्निष्कामाय महात्मने।
पानीयं वा फलं वापि स एव भगवान् हरिः ॥
विष्णु-पूजापराणान्तु शुश्रूषां कुर्व्वते हि ये।
ते यान्ति विष्णु-भवनं त्रिसप्तपुरुषान्विताः ॥
देव-पूजापरो यस्य गृहे वसति सर्व्वदा।

भाषा टीका।

बुद्धिमान्-पुरुष को यत्नसहित वैष्णव-जन की पूजा करनी चाहिये। अपनी सामर्थ के अनुसार वैष्णव-जन को जो दिया जाता है,—वही अक्षय फल का हेतु होता है। वृहन्नारदीयपुराण में यज्ञमाली के उपाख्यान के अन्त में लिखा है,—हे द्विजसत्तम ! विष्णु-भक्तिनिष्ठ-वैष्णव को हरि जानकर पूजा करने से ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—इत्यादि सभी प्रसन्न होते हैं॥ २६२॥

पातकी होने पर भी विष्णु-पूजानिष्ठ और विष्णु-नामपरायण वैष्णव पुरुषों की सेवा करने वाले परम गति लाभ करते हैं। उक्त पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के प्रथम ही लिखा है,—हे मुनिपुङ्गवगण ! भवसागर से तरने की इच्छा करने वाले पुरुष विष्णुभक्त के भक्त की उपासना करें,—वे संसार-दुःख के हरने वाले हैं॥२६३॥

इसी उपाख्यान के अन्त में लिखा है,—श्रद्धासहित निष्काम हरि-भक्तों को भोजन कराने से इक्कीस कुल के सहित हरि-धाम में गति होती है। निष्काम हरि-भक्तों के जल वा फलदान करने से वह दाता ही श्रीभगवान् हरि के सदृश होता है। हरि-पूजानिष्ठ वैष्णव पुरुष की सेवा करने से इकीस पुरुषों के सहित हरि-धाम में गति होती है। हरि-पूजापरायण वैष्णव सदा जिस पुरुष के घर अधिष्ठित रहते हैं, सम्पूर्ण देवता

तत्रैव सर्व्वदेवाश्च हरिश्चैव श्रियान्वितः ॥ २६४ ॥

लैङ्गे।— नारायणपरो विद्वान् यस्यान्नं प्रीतमानसः।
अश्नाति, तद्धरेरास्यं गतमन्नं न संशयः ॥
स्वार्च्चनादपि विश्वात्मा प्रीतो भवति माधवः।
दृष्ट्वा भागवतस्यान्नं स भुङ्क्ते भक्तवत्सलः ॥ २६५ ॥

ब्राह्मे श्रीभगवद्वाक्यम्—

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं दृष्ट्वैव स्वीकृतं मया।
भक्तस्य रसनाग्रेण रसमश्नामि पद्मज ! ॥ २६६ ॥

पाद्मोत्तरखण्डे श्रीशिवोमा-सम्वादे—

आराधनानां सर्व्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवि ! तदीयानां समर्च्चनम् ॥ २६७ ॥
अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्च्चयेत्तु यः।
न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन वैष्णवान् पूजयेत् सदा।
सर्व्वं तरति दुःखौघं महाभागवतार्च्चनात् ॥ २६८ ॥

एकादशे श्रीभगवद्वाक्यं—

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या ॥ २६९ ॥ मद्भक्त-पूजाभ्यधिका ॥ २७० ॥

भाषा टीका।

और स्वयं हरि लक्ष्मीसहित वहाँ वास करते हैं ॥ २६४ ॥

लिङ्ग-पुराण में लिखा है,—नारायणपरायण बुद्धिमान् पुरुष प्रसन्नचित्त से जो अन्न सेवन (भोजन) करते हैं,—उस अन्न को श्रीभगवान् के मुखकमलगत समझना चाहिये अर्थात् वह भगवान् के ही मुख में जाता है। भक्तवत्सल माधव श्रीकृष्ण अपनी पूजा की अपेक्षा भी वैष्णव का अन्न देखने से प्रसन्न होते हैं और उसको भोजन करते हैं ॥ २३५ ॥

ब्रह्मपुराण में भगवान् ने कहा है,—हे ब्रह्मन् ! मेरी शालग्रामादि मूर्त्ति ओं के सन्मुख जो अन्न अर्पण किया जाता है, मैं दर्शनमात्र से ही उसको स्वीकार करता हूँ, किन्तु भक्त की जिह्वाग्र में रसास्वादन करता हूँ ॥२६६॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के शिव-पार्वती-सम्वाद में लिखा है कि,—सब आराधना ओं में हरि की आराधना ही प्रधान है, किन्तु इसकी अपेक्षा भी वैष्णव की पूजा श्रेष्ठ है ॥ २६७ ॥

गोविन्द की पूजा करके जो वैष्णव की पूजा नहीं करता है,—उस को भगवद्भक्त नहीं कहा जाता, वरने उसको केवल दाम्भिक जानना चाहिये, इस कारण सदा यत्नसहित वैष्णव की पूजा करे, क्यों कि—महाभागवतों की पूजा सब दुःख हरने वाली है ॥ २६८ ॥

एकादश-स्कन्ध में भगवान् ने कहा था,—वैष्णव-अधिष्ठान में मेरी पूजा—बन्धुवत् सम्मानन द्वारा होती है। मेरी पूजा से भी मेरे भक्त की पूजा ही उत्तम रूप से करे ॥ २६९—२७० ॥

किञ्च स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—

कर्म्मणा मनसा वाचा येऽर्च्चयन्ति सदा हरिम् ।
तेषां वाक्यं नरैः कार्य्यं ते हि विष्णुसमा नराः ॥ २७१ ॥

इत्यादृतोऽनुशृणुयाद्भक्ति-शास्त्राणि तत्र च ।
श्रीभागवतमत्रापि कृष्णलीला-कथां मुहुः ॥ २७२ ॥

अथ वैष्णवशास्त्र-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे श्रीब्रह्म-नारद-सम्वादे—

वैष्णवानि च शास्त्राणि ये शृण्वन्ति पठन्ति च ।
धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति ॥ २७३ ॥

वैष्णवानि च शास्त्राणि येऽर्च्चयन्ति गृहे नराः ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्ता भवन्ति सर्व्ववन्दिताः ॥
सर्व्वस्वेनापि विप्रेन्द्र ! कर्त्तव्यः शास्त्र-संग्रहः ।
वैष्णवैस्तु महाभक्त्या तुष्ट्यर्थं चक्रपाणिनः ॥
तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे ।
तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद ! ॥
पौराणं वैष्णवं श्लोकं श्लोकार्द्धमथवापि च ।
श्लोक-पादं पठेद्यस्तु गो-सहस्रफलं लभेत ॥ २७४ ॥
देवतानामृषीणाञ्च योगिनामपि दुर्ल्लभम् ।

भाषा टीका ।

स्कन्द-पुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है,—जो काय-मन-वचन से सदा हरि की पूजा करते हैं, मनुष्यों को—उन सब भजन करने वालों का वचन पालन करना चाहिये । क्यों कि वे हरि के समान हैं ॥ २७१ ॥

इस प्रकार समादृत हो—वैष्णवों के समीप भगवद्भक्तियुक्त शास्त्रों को निरन्तर सुनें, परन्तु भक्ति-शास्त्रों में विशेष प्रकार से श्रीमद्भागवत ही सुनें और श्रीमद्भागवत में भी फिर श्रीदशमस्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण की लीला सदा सुने ॥२७२॥

अब वैष्णव शास्त्र के माहात्म्य का वर्णन किया जाता है ।—स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है कि,—संसार में वैष्णव सास्त्र के सुनने वाले और उसके अध्यायन करने वाले ही धन्य हैं, श्रीकृष्ण सदा उनके प्रति प्रसन्न रहते हैं ॥ २७३ ॥

घर में वैष्णव-शास्त्र की पूजा करने पर, समस्त पापों से उत्तीर्ण होकर सब का पूजनीय हो सकता है । हे विप्रेन्द्र ! श्रीहरि की प्रसन्नता के अर्थ महाभक्ति के सहित वैष्णव-शास्त्र का संग्रह करना वैष्णवों का अवश्य कर्त्तव्य हैं । हे नारद ! लिखा हुआ—वैष्णव शास्त्र घर में अधिष्ठित रहने पर, उस घर में स्वयं नारायण देव विराजमान रहते हैं । पुराण-सम्बन्धीय विष्णु माहात्म्य-प्रकाशक एक श्लोक, श्लोक का अर्द्धांश अथवा पाद-मात्र भी अध्यापना करने से हजार गो-दान का फल मिलता है ॥ २७४ ॥

हे विप्रेन्द्र ! मनुष्य की बात तो दूर रहे, वैष्णव-शास्त्र ऋषि, देवता और योगी जनों को भी दुष्प्राप्य है ।

विप्रेन्द्र ! वैष्णवं शास्त्रं मनुष्याणाञ्च का कथा ॥

तत्रैव श्रीकृष्णार्जुन-सम्वादे—

मम शास्त्राणि ये नित्यं पूजयन्ति पठन्ति च।
ते नराः कुरुशार्दूल ! ममातिथ्यं गताः सदा ॥ २७५ ॥

मम शास्त्रप्रवक्तारं मम शास्त्रानुचिन्तकम् ।
चिन्तयामि न सन्देहो नरं तं चात्मवत् सदा ॥ २७६ ॥

अथ श्रीमद्भागवत-माहात्म्यम् ।

तत्रैव ।— जीवितादधिकं येषां शास्त्रं भागवतं कलौ ॥
न तेषां भवति क्लेशो याम्यः कल्प-शतैरपि ॥
धारयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं हि ये ।
आस्फोटयन्ति वल्गन्ति तेषां प्रीताः पितामहाः ॥ २७७ ॥
यावद्दिनानि विप्रर्षे ! शास्त्रं भागवतं गृहे ।
तावत् पिवन्ति पितरः क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥
येऽर्च्चयन्ति सदा गेहे शास्त्रं भागवतं नराः ।
प्रीणितास्तैश्च विवुधा यावदाहूतसंप्लवम् ॥ २७८ ॥
यच्छन्ति वैष्णवे भक्त्या शास्त्रं भागवतं हि ये ।
कल्प-कोटिसहस्राणि विष्णु-लोके वसन्ति ते ॥
श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा वरं भागवतं गृहे ।
शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्र-संग्रहैः ॥ २७९ ॥

भाषा टीका ।

उक्त पुराण के कृष्णार्जुन-सम्वाद में लिखा है,—हे कुरुप्रवीर ! सदा मेरे शास्त्र को अध्ययन वा श्रवण करने से मेरे सम्बन्ध में निरन्तर अतिथि की समान परम आदरणीय हो सकता है ॥ २७५ ॥

मैं सदा स्वीय-शास्त्रवक्ता को और स्वीय शास्त्र चिन्तक को अपनी समान समझता हूँ ॥ २७६ ॥

अब श्रीमद्भागवत के माहात्म्य का वर्णन किया जाता है ।—उसी पुराण में लिखा है,—कलिकाल में जो मनुष्य भागवत शास्त्र को अपने जीवन से भी अधिक जानते हैं, शत-कल्प में भी उनको यम की यन्त्रणा भोगनी नहीं पड़ती । सदा घर के भीतर भागवत शास्त्र विराजित रहने पर, उस गृहस्थ के पितामहगण प्रफुल्ल मन से चुटकी वजाते और नृत्य करते हैं ॥ २७७ ॥

हे विप्रर्षे ! भागवत शास्त्र जितने दिन घर में विराजित रहता है, पितृ-गण उतने ही वर्ष क्षीर, घृत, मधु और जल सेवन करते हैं । घर में भागवत शास्त्र की पूजा करने से देवता प्रलय-काल तक तृप्त रहते हैं ॥ २७८ ॥

भक्तिमान् होकर वैष्णव के हाथ में भागवत शास्त्र अर्पण करने से, हजार करोड़ कल्प तक विष्णु-धाम में वास होता है । भागवत का आधा श्लोक अथवा एक चरण मात्र भी घर में विराजित रहना श्रेष्ठ है, तथापि शत शत सहस्र सहस्र अन्यान्य शास्त्रों को स्थापन करने की आवश्यकता नहीं है ॥ २७९ ॥

न यस्य तिष्ठते गेहे शास्त्रं भागवतं कलौ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्याम्यात् पाशात् कदाचन॥
कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ।
गृहे न तिष्ठते यस्य स विप्रः श्वपचाधमः॥
यत्र यत्र भवेद्विप्र! शास्त्रं भागवतं कलौ।
तत्र तत्र हरिर्याति त्रिदशैः सह नारद!॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि नदी-नद-सरांसि च।
यत्र भावगतं शास्त्रं तिष्ठते मुनिसत्तम!॥
तत्र सर्व्वाणि तीर्थानि सर्वे यज्ञाः सदक्षिणाः।
यत्र भागवतं शास्त्रं पूजितं तिष्ठते गृहे॥

किञ्च।— नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः।
प्रत्यक्षरं भवेत्तस्य कपिला-दानजं फलम्॥
श्लोकार्द्धं श्लोक-पादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्।
पठेच्छृणोति वा भक्त्या गो-सहस्र-फलं लभेत्॥
यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने!
अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः॥ २८०॥

तत्रैव मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वादे—
यो हि भागवते शास्त्रे विघ्नमाचरते पुमान्।
नाभिनन्दति दुष्टात्मा कुलानां पातयेच्छतम्॥ २८१॥

भाषा टीका।

कलियुग में घर के बीच भागवत शास्त्र विराजित न रहने पर, उसको शमन-बन्धन से फिर लौटना नहीं पड़ता अर्थात् उसको नित्य ही बन्धन प्राप्त रहता है। कलिकाल में घर में भागवत शास्त्र विराजित न रहने पर, उस ब्राह्मण को चाण्डाल से भी अधम जानना चाहिये, उसको किस प्रकार वैष्णव जान सकते हैं? हे नारद! कलियुग में भागवत शास्त्र जहाँ जहाँ विराजित है,—वहाँ स्वयं हरि देवताओं के सहित गमन करते हैं। मुनिसत्तम! जहाँ भागवत शास्त्र विद्यमान रहता है,—वहाँ नद, नदी, सरोवर-इत्यादि सभी तीर्थ विराजित रहते हैं। जिस घर में भागवत शास्त्र पूजित होकर विराजमान रहता है,—वहाँ सम्पूर्ण तीर्थ और दक्षिणा के सहित समस्त यज्ञ अधिष्ठित रहते हैं। और भी लिखा है,—नित्य भागवत पुराण अध्ययन करने पर, प्रतिवर्ण को कपिला-दान करने का फल मिलता है। नित्य भक्तिमान् होकर भागवत का आधा श्लोक वा पाद-मात्र अध्ययन वा श्रवण करने से हजार गो-दान का फल मिलता है। हे मुने! नित्य शुद्धमना होकर भागवत के श्लोक पढ़ने से अष्टादश (अठारह) पुराण के पाठ करने का फल मिल जाता है॥ २८०॥

उक्त पुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्वाद में लिखा है,—जो भागवत प्रशंसा नहीं करता, परन्तु पाठ में विघ्नाचरण करता है,—वह दुरात्मा अपने सौ कुल को अधोगामी करते हैं॥ २८१॥

पाद्मे गौतमाम्बरीषसम्वादे—

अम्बरीष ! शुक-प्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु ।
पठस्व स्व-मुखेनापि यदीच्छसि भव-क्षयम् ॥
श्लोकं भागवतं वापि श्लोकार्द्धं पादमेव वा ।
लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य सदा हरिः ।
वसते नात्र सन्देहो देव-देवो जनार्द्दनः ॥

द्वारका-माहात्म्ये श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-सम्वादे—

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं पठते कृष्ण-सन्निधौ ।
कुल-कोटिशतैर्युक्तः क्रीड़ते योगिभिः सह ॥ २८२ ॥

गारुड़े।— अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ-विनिर्णयः ।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः ॥
पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः ।
द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेदसंयुतः ॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥ २८३ ॥

तस्मिन्नेव श्रीभागवते प्रथमस्कन्धे—

धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किम्वापरैरीश्वरः

भाषा टीका ।

पद्म-पुराण के गौतमारीष-सम्वाद में लिखा है,—हे अम्बरीष ! संसार-वन्धन छेदन करने की इच्छा हो-तो नित्यशुक-कथित भागवत श्रवण वा अपने मुख से अध्ययन करो । भागवत का एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा पाद-मात्र लिखा जाकर जिस पुरुष के घर में विराजित रहता है, देव-देव जनार्द्दन हरि सदा उसके घर में अधिष्ठित रहते हैं;—इस में सन्देह नहीं। द्वारका-माहात्म्य के मार्कण्डेय-इन्द्रद्युम्न-सम्वाद में लिखा है,—श्रीहरि के सन्मुख श्रीमद्भागवत शास्त्र अध्ययन करने से अपने करोड़ कुलों से युक्त होकर भक्तिरसिक वैष्णवों के सहित श्रीकृष्ण के समीप क्रीड़ा कर सकते हैं ॥ २८२ ॥

गरुड़पुराण में लिखा है,—श्रीमद्भागवत—वेदान्त-सूत्र का अर्थस्वरूप, महाभारत का अर्थ-निर्णायक, गायत्री का भाष्यरूप, वेद के अर्थ से परिवर्द्धित और सम्पूर्ण पुराणों में श्रेष्ठ है,—यह श्रीमद्भागवत नामक ग्रन्थ साक्षात भगवान् कर्त्तृक प्रोक्त, द्वादश स्कन्धयुक्त, सौ-प्रकरण युक्त एवं अष्टादश सहस्र श्लोकों में निवद्ध है ॥२८३॥

उक्त श्रीमद्भागवत के पहिले स्कन्ध में लिखा है कि,—पहिले महर्षि श्रीनारायण-कर्त्तृक यह श्रीमद्भागवत विरचित है,—इस शास्त्र में मत्सर-हीन साधुजनों का आदरणीय परम धर्म्म वर्णित हुआ है,—इस से अध्यात्मिकादि त्रिताप-छेदक परमार्थ वस्तु विदित हो जाती है, सुतरां अपरापर शास्त्र वा उनके लिखे हुए अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता है ? पुण्यशील

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्ततक्षणात् ॥ २८४ ॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसाम्मितम् ।
उत्तमःश्लोकरचितं चकार भगवानृषिः ॥ २८५ ॥
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ।
सर्व्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥ २८६ ॥

किञ्च ।— कृष्णे स्व-धामोपगते धर्म्म-ज्ञानादिभिः सह ।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥ २८७ ॥

किञ्च ।— अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥ २८८ ॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोक-मोह-भयापहा ॥ २८९ ॥

द्वितीये श्रीशुकोक्तौ—
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमः श्लोक-लीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान् ॥ २९० ॥
तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् ।

भाषा टीका।

पुरुष इस भागवत-शास्त्र के सुनते ही तत्काल हृदय के भीतर परात्पर परमेश्वर को स्थिर करने में समर्थ होते हैं ॥ २८४ ॥

हे तापसगण ! मैं आपके निकट यह भागवत पुराण वर्णन करता हूँ । यह समस्त वेदों की सदृश है, इस में उत्तमःश्लोक हरि के चरित्र कहे गये हैं। श्रीभगवान्—ऋषि (व्यास) रूप होकर लोकहितार्थ इस शास्त्र की रचना करी है, सुतरां इस शास्त्र से सम्पूर्ण पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं और परम कल्याण लाभ होता है। यह भागवत सब से ही प्रधान हैं, महामुनि द्वैपायन ने इस भागवत में वेदों का और इतिहासों का सार सार अंश निकालकर, अपने पुत्र धीर-प्रवर महामुनि शुकदेवजी को उपदेश दिया है ॥ २८५–२८६ ॥

और भी लिखा है,—श्रीकृष्ण के स्वीय धाम में चले जाने पर कलिकाल में सम्पूर्ण लोकों के ही नेत्र अज्ञान-रूपी अन्धकार से ढक रहे थे,—इसी समय में यह पुराण-रूपी सूर्य्य धर्म्मज्ञानादि-सहित उदित हुआ ॥ २८७ ॥

और भी लिखा है,—अधोक्षज (इन्द्रिय-ज्ञानातीत) श्रीकृष्ण में साक्षात् भक्तियोग संसार-निवर्त्तक है, जो उसको नहीं जानते हैं, वे अज्ञानी मनुष्यों के हितार्थ व्यासजी ने—यह श्रीमद्भागवतरूप सात्वत संहिता प्रणयन की है ॥ २८८ ॥

यह संहिता श्रवण-मात्र ही परम पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति, जो कई पुरुष क्यौं न हो—उनकी शोक-मोह-भय-हारिणी भक्ति का उदय होता है ॥ २८९ ॥

द्वितीय-स्कन्ध में श्रीशुकदेव जी ने कहा है,—हेराजन् ! निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा रहने पर भी उत्तमःश्लोक श्रीहरि की लीलाने मेरे मन को मानों खेंच लिया है,—इसी कारण इस श्रीमद्भागवतरूप आख्यान को अध्ययन किया (पढ़ा) है ॥ २९० ॥

तुमको परम भगवद्भक्त जानकर ही तुम्हारे समीप

यस्य श्रद्धधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥ २९१ ॥

द्वादशे च ।—राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे ।
यावद्भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरः ॥ २९२ ॥
सर्व्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥
निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥ २९३ ॥
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
यत्र ज्ञान-विराग-भक्ति-सहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥ २९४ ॥

अतएवोक्तं।—निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुक-मुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो ! रसिका ! भुवि भावुकाः ! ॥ २९५ ॥

किञ्च ।— यः स्वानुभावमखिलश्रुति-सारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।

भाषा टीका ।

यह शास्त्र कहता हूँ, *इसके प्रति श्रद्धावान् होने-पर मुक्तिदाता श्रीकृष्ण में हेतुरहित प्रेम का सञ्चार होता है ॥ २९१ ॥

द्वादश-स्कन्ध में लिखा है,—जब तक भगवद्भक्ति-रसरूप अमृतसदृश यह पुराण नहीं सुना जाता, तब तक ही सज्जनों के समाज में अन्यान्य पुराणों का आदर दिखाई देता है ॥ २९२ ॥

एक वार इस सर्ववेदान्तसार श्रीभागवत के सुधा-रस में तृप्ति होने पर, फिर कभी अन्य वेदान्तादि शास्त्र में प्रीति नहीं होती । नदी ओं में गङ्गा के समान, देवता ओं में विष्णु के समान और हरि-भक्तों में श्रीमहादेवजी के समान, सब पुराणों में यह श्रीभाग-वत ही श्रेष्ठ हैं ॥ २९३ ॥

यह विमल श्रीमद्भागवत महापुराण वैष्णवों के प्रिय है, इसमें परमहंसों का भी हित करने के योग्य सर्व-मलनिवर्त्तक एकमात्र भगवद्भक्ति-माहात्म्य आदि कथित हुआ है । अतएव प्रथमतः-ज्ञान [तत्व और अतत्व विषय का जानना] तत्पर विराग, [बिषयादि में वैराग्य] तदनन्तर भक्ति, [श्रवण कीर्त्तनादिलक्षणा] तत्सहित नैष्कर्म्म्य अर्थात् निष्कर्म्मा भगवद्भक्तों के प्राप्य प्रेम आविष्कृत हुआ है । अतएव भक्तिमान् होकर इस का श्रवण, पाठ और अर्थ-विचार करने पर, सभी मनुष्यों को विशेषरूप से मुक्ति अर्थात् श्रीवैकुण्ठलोक प्राप्त होती है ॥ २९४ ॥

अतएव प्रथम-स्कन्ध में कहा है कि,—हे रसिक-गण ! हे रसविशेषभावना-चतुरगण ! यह श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण पुरुषार्थ-साधक वेदरूपी कल्प वृक्ष का फल है, यह शुकदेवजी के मुख से स्खलित होकर पृथ्वी तल में अखण्डरूप से गिरा है, अतएव सुधाद्रवयुक्त रसपूर्ण मुक्तपुरुष के भी उपभोग्य-यह फल वार वार पान करो ॥ २९५ ॥

और भी लिखा है कि,—जिन्होंने संसार के घोर अन्धकार से उद्धार होने की इच्छा की है,-ऐसे संसारी मनुष्यों पर कृपा करके यह असाधारणप्रभाव निखिल वेदों का अद्वितीय सारस्वरूप, अध्यात्मदीप (श्रीहरि-

*इस विषय में यही समझा जाता है कि,—वैष्णव के समीप ही श्रीमद्भागवत का पाठ करना उचित है ।

संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं तं व्यास-सूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥२९६॥

भगवद्धर्म्मवक्तारं भगवच्छास्त्र-वाचकम् ।
वैष्णवं गुरुवद्भक्त्या पूजयेज्ज्ञानदायकम् ॥ २९७ ॥

अथ श्रीभगवच्छास्त्रवक्तृ-माहात्म्यम् ।

नारदपञ्चरात्रे ऋषीन् प्रति श्रीशाण्डिल्योक्तौ—

वैष्णवज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद्गुरुम् ।
पूजयेद्वाङ्मनःकायैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः ॥
श्लोकपादस्य वक्तापि यः पूज्यः स सदैव हि ।
किं पुनर्भगवद्विष्णोः स्वरूपं वितनोति यः ॥ २९८ ॥

किञ्च ।— नारायणः परं ब्रह्म तज्ज्ञानेनाथ गम्यते ।
ज्ञानस्य साधनं शास्त्रं शास्त्रञ्च गुरु-वक्त्रगम् ॥
ब्रह्मप्राप्तिरतो हेतोर्गुर्व्वधीना सदैव हि ।
हेतुनानेन वै विप्रा! गुरुर्गुरुतरः स्मृतः ॥ २९९ ॥

यस्माद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मर्त्त्यमयीं तनूम् ।
मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्याच्छास्त्रपाणिना ॥ ३०० ॥

तस्माद्भक्तिर्गुरौ कार्य्या संसार-भयभीरुणा ।
शास्त्र-ज्ञानेन योऽज्ञानं तिमिरं विनिपातयेत् ॥
शास्त्रं पापहरं पुण्यं पवित्रं भोगमोक्षदम् ।

भाषा टीका।

कृपालभ्य प्रेम का प्रकाशक) गुह्य पुराण वर्णन किया है,—उन व्यासजी के पुत्र तपस्वियों में श्रेष्ठ श्रीशुकदेव जी को नमस्कार करता हूँ ॥ २९६ ॥

भगवद्धर्म्मवक्ता, भगवतशास्त्रवक्ता, ज्ञानप्रद वैष्णवों की भक्तिसहित गुरुवत् पूजा करनी चाहिये ॥ २९७ ॥

अब भागवत शास्त्र के वक्ता का माहात्म्य वर्णित होता है।—नारदपञ्चरात्र में ऋषियों से शाण्डिल्य ने कहा है कि,—हरि सम्बन्धीय ज्ञानवक्ता को हरि के समान गुरुरूप में जानकर काय-मन-वचन से पूजा करने पर, उसको शास्त्रवित् और वैष्णव गिना जाता है। जो हरि का तत्व अथवा उनके धर्म्म इत्यादि का माहात्म्य विस्तार करते हैं,—उनकी बात तो दूर रहे, पादमात्रश्लोक-वक्ता भी सदा पूजा करने के योग्य है ॥ २९८ ॥

और भी लिखा है,—हे द्विजगण! परब्रह्म नारायण-उनके ज्ञान से मिलते हैं। शास्त्र ही ज्ञान का साधन और शास्त्र भी फिर गुरु-मुखगत है,—इसी कारण ब्रह्म-लाभ सदा गुरु के ही अधीन है; इसी लिये गुरु सब से प्रधान कहे गये हैं ॥ २९९ ॥

भगवान् जगत्पति हरि मनुष्यमूर्त्ति-ग्रहण करके कृपापूर्वक शास्त्ररूपी हाथों से संसार में निमग्न मनुष्यों की रक्षा करते हैं ॥ ३०० ॥

जो शास्त्र-ज्ञान से अज्ञानान्धकार दूर करते हैं,—उन गुरुदेव के प्रति भक्ति रखना भगवद्भक्त-पुरुषों का अवश्य कर्त्तव्य है। शास्त्र—पापहर्त्ता; पुण्य, विशुद्ध,

शान्तिदश्च महार्थश्च वक्ति यः स जगद्गुरुः ॥ २०१ ॥

अथ श्रीकृष्ण-लीलाकथाश्रवण-माहात्म्यम् ।

स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

तेषां क्षीणं महत पापं वर्ष-कोटिशतोद्भवम् ।
विप्रेन्द्र ! नास्ति सन्देहो ये शृण्वन्ति हरेः कथाम् ॥

तत्रैवान्यत्र—

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्व्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा पावनं नृणां नारायण-कथा यथा ॥ २०२ ॥

वृहन्नारदीये यज्ञध्वजोपाख्यानारम्भे—

अहो ! हरि-कथा लोके पापघ्नी पुण्यदायिनी ।
शृण्वतां ब्रुवतां चैव तद्भावानां विशेषतः ॥ २०३ ॥

प्रथमस्कन्धे—

शृण्वतां स्व-कथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥ २०४ ॥

एकादशे च देव-स्तुतौ—

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य ! दुराशयानां विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।

भाषा टीका ।

भोग-मोक्ष-दायक, शान्तिप्रद और भक्ति का प्राप्तिस्थान है । यह शास्त्रवक्ता ही जगत् के गुरु कहे गये हैं ॥२०१॥

अब श्रीकृष्ण की लीला-कथा श्रवण करने का माहात्म्य कहा जाता है, तिस में उक्त लीला-कथा का पातकादि-शोधकत्व कथित होता है ।—स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है,—हे विप्रोत्तम ! हरि की कथा सुनने से सौ करोड़ वर्ष के इकट्ठे किये महा-पाप भी निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं । उक्त पुराण के दूसरे स्थान में लिखा है कि,—श्रीहरि की कथा मनुष्यों के सम्बन्ध में जिस प्रकार पवित्रता विधान करती है, सम्पूर्ण आश्रमों का धर्म्माचरण करने से अथवा सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान करने से भी वैसी पवित्रता की सम्भावना नहीं है ॥ २०२ ॥

बृहन्नारदीयपुराण में यज्ञध्वजोपाख्यान के प्रथम लिखा है,—अहो ! केवलमात्र श्रीहरि की कथा ही संसार में पातक-विनाश और पुण्य-वर्द्धन करती है । फिर हरि की कथा को भक्तिमान् होकर श्रवण वा कीर्त्तन करने से वह विशेष प्रकार से पातक दूर और पुण्य प्रदान करती है,—इस में सन्देह नहीं ॥२०३॥

प्रथम–स्कन्ध में लिखा है कि,—साधुओं के हित-कारी पुण्यश्रवणकीर्त्तन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कथा सुनने वाले भक्तों के हृदय में अधिष्ठित रहकर उनके चित्त की समस्त कामनाओं का विनाश कर देते हैं ॥ २०४ ॥

एकादश–स्कन्ध की देव-स्तुति में लिखा है,—हे स्तुत्य ! हे ऋषभ ! तुम्हारी कीर्त्ति सुनने से बढ़ी हुई श्रद्धा द्वारा जिस प्रकार सज्जन पुरुषों का चित्त विशुद्ध होता है; क्या उपासना, क्या शास्त्र, क्या अध्ययन, (वेदपाठ) क्या दान, क्या तपस्या (स्वधर्म्मा-

सत्वात्मनामृषभ ! ते यशसि प्रवृद्धसत्श्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥ ३०५

क्षुत्तृड़ादिसर्व्वदुःख-निवर्त्तकत्वम् ।

दशमे श्रीवादरायणिं प्रति श्रीपरीक्षिदुक्तौ—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि वाधते ।
पिवन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरि-कथामृतम् ॥ ३०६ ॥

स्कान्दे च तत्रैव—

श्रीपदं विष्णु-चरितं सर्व्वोपद्रवनाशनम् ।
सर्व्व-दुःखोपशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ॥

प्रकर्षेण सर्व्वमङ्गलकारित्वम् ।

तत्रैव।— श्रोतव्यं साधु चरितं यशो-धर्म्म-जयार्थिभिः ।
पाप-क्षयार्थं देवर्षे ! स्वर्गार्थं धर्म्मवुद्धिभिः ॥
आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं पुण्यवर्द्धनम् ।
चरितं वैष्णवं नित्यं श्रोतव्यं साधुवुद्धिना ॥
कुटुम्व-वृद्धिं विजयं शत्रु-नाशं यशो-वलम् ।
करोति विष्णु-चरितं सर्व्वकामफलप्रदम् ॥ ३०७ ॥

सर्व्वसतकर्म्मफलत्वम् ।

प्रथमस्कन्धे—

धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेन-कथासु यः ।

भाषा टीका ।

चरण) क्या यज्ञादि, किसी से भी वैसी शुद्धि की सम्भावना नहीं है ॥ ३०५ ॥

अव कृष्ण की लीला-कथा से जो भूख-प्यास इत्यादि सर्व दुःख दूर होते हैं, वही कहते हैं।—दशम-स्कन्ध में श्रीशुकदेवजी के प्रति परीक्षित ने कहा है कि,—यद्यपि मैंने प्रायोपवेशन (अन्न-जल परित्याग) करने के लिये जल तक को छोड़ दिया है, किन्तु आपके मुख-कमल से निकला हुआ कृष्ण-कथामृत पान करने से असह-नीय भूख मुझको विन्दुमात्र भी कष्ट देने में समर्थ नहीं होती ॥ ३०६ ॥

स्कन्दपुराण के पूर्वोक्त स्थान में ही लिखा है कि,—हरि-चरित सुनने से सम्पत्ति-लाभ होती है, सम्पूर्ण उप-द्रव शान्त होते हैं, दुःख-समूह दूर होते हैं और कुग्रह नष्ट हो जाते हैं।

हरि की लीलाओं का सुनना भली भाँति जो समस्त मङ्गलदायक है, वही कहते हैं।—उक्त पुराण में लिखा है,—हे देवर्षे ! यश की इच्छा करने वाले, धर्म्म की इच्छा करने वाले, शत्रु के जीतने की इच्छा करने वाले और धर्म्मवुद्धि से पाप-नाशार्थ तथा स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले धर्म्मात्मा मनुष्यों के पक्ष में भगवच्चरित्र सुनना अवश्य कर्त्तव्य है । वुद्धि-मान् मनुष्य परमायु को वढ़ाने वाले, आरोग्यजनक, यशःप्रद और पुण्य की वृद्धि करने वाले हरि-चरित सदा श्रवण करें । हरि-चरित के प्रसाद से कुटम्व-वृद्धि, विजयलाभ, शत्रुक्षय, यशोवृद्धि और वल-पुष्टि होती है और उसके द्वारा सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥ ३०७॥

श्रीहरि की लीला सुनना जो समस्त सत्कर्म्म का फलस्वरूप है, अव वही कहते हैं।—प्रथम-स्कन्ध में लिखा है कि,—हरि की कथा में प्रीति न होने से सम्यक्

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ ३०८ ॥

श्रोत्रेन्द्रिय-साफल्यकारित्वम् ।

तृतीये श्रीविदुर-मैत्रेय-सम्वादे—

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथा-सुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥ ३०९ ॥

आयुः-साफल्यकारित्वम् ।

द्वितीये शौनकोक्तौ—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत् क्षणो नीत उत्तमःश्लोक-वार्त्तया ॥ ३१० ॥

परमवैराग्योत्पादकत्वम् ।

तृतीये श्रीविदुरोक्तौ—

सा श्रद्दधानस्य निवर्द्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते ॥ ३११ ॥

चतुर्थे श्रीपृथु-चरितान्ते श्रीमैत्रेयोक्तौ—

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीहस्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।

भाषा टीका ।

अनुष्ठित धर्म्म भी केवल श्रम-मात्र ही गिना जाता है ॥ ३०८ ॥

हरि-कथा जो श्रवणेन्द्रिय (कानों) को सफल करती है, उसका वर्णन करते हैं।—तृतीय-स्कन्ध के विदुर-मैत्रेय-सम्वाद में लिखा है,—पुण्यश्लोक श्रीहरि-के गुणानुवाद ही पुरुषों के वाक्य का एक मात्र फल कहा गया है । सुधीगण-कर्त्तृक निर्दिष्ट तदीय कथारूपी अमृत में जो कानों का सन्निकर्ष है,—वही दोनों की सार्थकता कही गई है ॥ ३०९ ॥

श्रीहरि की लीला सुनने से जो परमायु सफल होती है, सो कहते है ।—द्वितीय-स्कन्ध में शौनक ने कहा है कि,—हे सूत ! सूर्य्यदेव नित्य उदय और अस्त होकर मनुष्यों की परमायु हरण करते हैं,—इस कारण तुम उत्तमःश्लोक हरि की गुण-कथा सुनाकर हमारा जीवन-काल सफल करो ॥ ३१० ॥

अब श्रीहरि की लीला सुनने से परम वैराग्य का उत्पन्न होना कहते हैं।—तृतीय-स्कन्ध में विदुरजी ने कहा है,—श्रद्धावान् पुरुष के सम्बन्ध में हरि-कथा क्रम-क्रम से सम्वर्द्धित होकर ग्राम्य-सुख (सांसारिक सुख) में विराग उत्पन्न कराती है, फिर उस पुरुष को कृष्ण-चरण कमल के अनुस्मरण में पुलकित करके तत्काल उसके सब दुःख दूर करती है ॥३११॥

चतुर्थ-स्कन्ध के पृथु-चरित में मैत्रेयजी ने कहा है कि,—राजा प्रथु के शरीर में आत्मबुद्धि न रही-वह छिन्न हो गई । भगवत्स्वरूप लाभ होने के कारण अणिमादि सिद्धि ओं में भी उनकी वासना न रही, इसी लिये जिस ज्ञान के बल से असम्भावनादि का आधारस्वरूप हृदयग्रन्थि कटी—उसको त्याग दिया । हे विदुर ! ऐसी अवस्था में राजा पृथु के पक्ष में योग-सिद्धि के विषय में वासनारहित होना ही युक्ति-सङ्गत है । क्यौं कि,—जब तक देव-देव हरि की कथा में अनुराग होकर लोभ की उत्पत्ति न हो,—तब तक योग-गतियुक्त यति, मत्ततारहित होने में समर्थ नहीं

तावन्न योग-गतिभिर्यतिरप्रमत्तो यावद्गदाग्रज-कथासु रतिं न कुर्य्यात् ॥३१२॥

एकादशे च श्रीभगवन्तं प्रत्युद्धव-वाक्ये—

तव विक्रीड़ितं कृष्ण! नृणां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजन्त्यन्य-स्पृहां जनाः ॥ ३१३ ॥

संसारतारकत्वम् ।

चतुर्थे प्रचेतसः प्रति श्रीभगवदुक्तौ—

गृहेष्वाविशताञ्चापि पुंसां कुशलकर्म्मणाम् ।
मद्वार्त्ता-यातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥ ३१४ ॥

सर्व्वार्थ-प्रापकत्वम् ।

स्कान्दे तत्रैव—

धर्म्मार्थकाममोक्षाणां यदिष्टञ्च नृणामिह ।
तत्सर्व्वं लभते वत्स ! कथां श्रुत्वा हरेः सदा ॥ ३१५ ॥

द्वादशे च श्रीशुकोक्तौ—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीला-कथा-रसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्द्दितस्य ॥ ३१६ ॥

भाषाटीका ।

होता । जब भगवान् श्रीकृष्ण की कथा में लोभ की उत्पत्ति होती है,—तब फिर उस में क्या आवश्यकता है ? ॥ ३१२ ॥

एकादश-स्कन्ध में भगवान् से उद्धव ने कहा है, कि,—हे प्रभो ! आपकी क्रीड़ा कानों को अमृतस्वरूप और परम-कल्याणकर है; मनुष्य-गण उनका आस्वाद पाने पर अन्यान्य वासना ओं को छोड़ देते हैं ॥ ३१३ ॥

श्रीहरि की लीला श्रवण करने पर, जो संसार से रक्षा मिलती है, अब उसी का वर्णन किया जाता है ।—चतुर्थ-स्कन्ध में प्रचेता ओं से भगवान् ने कहा है,—हे राजकुमारगण ! गृह में प्रवेश करने पर ही जो आसक्तिमान् होना पड़ता है, इस आसक्ति के कारण ही बन्दी होना होता है, किन्तु ऐसा होने से भक्ति में विघ्न हुआ—इस प्रकार विचार न करना । हे वत्सगण ! यद्यपि गृहस्थाश्रम से बन्धन की उत्पत्ति होती है, किन्तु गृहस्थाश्रम में घुसकर तथा सब कर्म्म मुझको समर्पण करके मेरी कथा में एक प्रहरमात्र व्यतीत करने पर—वह गृहस्थाश्रम कभी बन्धन का हेतु नहीं होता; परन्तु संसारबन्धन-मोचन के हेतु होता है ॥३१४॥

श्रीकृष्ण की लीला सुनने से जो सर्वार्थ-सिद्धि की प्राप्ति होती है, अब उसी का वर्णन करते हैं ।—स्कन्द-पुराण के पूर्व्वोक्त स्थान में लिखा है कि,—हे वत्स नारद ! संसारमें धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष श्रीकृष्ण की कथा सुनें—तो इन चारों पदार्थों को पा सकेंगे ॥ ३१५ ॥

द्वादश-स्कन्ध में श्रीशुकदेवजी ने कहा है,—जो अनेक प्रकार की दुःख-दावाग्नि से क्लिन्न हैं और जो दुष्पार भवसागर के पार जाने का अभिलाष करते हैं, केवलमात्र पुरुषप्रवर श्रीकृष्ण की लीला-कथा का रस सेवन करने के अतिरिक्त उनके पक्ष में दूसरा उपाय नहीं है ॥ ३१६ ॥

द्वारका-माहात्म्ये—

नित्यं कृष्ण-कथा यस्य प्राणादपि गरीयसी।
न तस्य दुर्ल्लभं किञ्चिदिह लोके परत्र च ॥ ३१७ ॥

द्वितीयस्कन्धे—

ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्म्मि-चक्रमात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्य-सम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरि-कथासु रतिं न
[कुर्य्यात् ? ॥ ३१८ ॥

मोक्षाधिकत्वम्।

दशमस्कन्धे श्रुति-स्तुतौ—

दुरवगमात्मतत्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धि-परिवर्त्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ! ते चरणसरोज-हंसकुलसङ्गविसृष्ट-
[गृहाः॥ ३१९॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिल-देवहूति-सम्वादे—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पाद-सेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥ ३२० ॥

श्रीवैकुण्ठलोक-प्रापकत्वम्।

द्वितीये श्रीसूतोक्तौ—

पिवन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।

भाषा टीका।

द्वारका-माहात्म्य में लिखा है,—जो नित्य श्रीहरि की कथा को अपने जीवन से भी अधिक जानते हैं,—उनको इस लोक और पर-लोक में कोई वस्तु भी दुर्लभ नहीं है ॥ ३१७ ॥

द्वितीय-स्कन्ध में लिखा है,—श्रीकृष्ण की कथा सुनते सुनते ही विषयरागादि—परम्परा की शान्त करने वाला ज्ञान होता है, चित्त में प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, विषयों में वैराग्य की उत्पत्ति होती है, अनन्तर कैवल्यरूप-श्रीकृष्ण-प्राप्ति का उपायस्वरूप प्रेम होता है, अतएव अन्य विषय में जिसका आनन्द नहीं होता ऐसा कौन पुरुष हरि कथा में रति नहीं करता ?॥३१८॥

अव हरि-लीला कथा सुनने का मोक्षाधिकत्व कहा जाता है।—दशम-स्कन्ध की श्रुति-स्तुति में लिखा है,—हे प्रभो ! तुमने दुर्वोध्य आत्मातत्त्व प्रकाश करने के अर्थ ही मूर्त्ति का आविष्कार किया है, तुम्हारे चरित-रूपी महासागर में विचरण करके श्रमरहित कोइ कोइ भक्त-पुरुष तुम्हारे चरणकमलों में हंसों के समान कीड़ा करते हुए गृहादि-सुख छोड़कर मोक्ष की भी कामना नहीं करते ॥ ३१९ ॥

तृतीय-स्कन्ध के कपिल-देवहूति-सम्वाद में लिखा है,—हे जननि ! जो पुरुष मेरे चरणों की सेवा में निरत हैं, जो पुरुष मेरे अर्थ चेष्टावान् और जो पुरुष आपस में एकत्र होकर आसक्तियुक्त मन से मेरे पराक्रम का कीर्त्तन करने में आदर दिखाते हैं, उन में अनेकानेक भागवत महापुरुष भी उक्त प्रकार मोक्ष की कामना नहीं करते ॥ ३२० ॥

श्रीकृष्ण की लीला-कथा श्रवण करने से जो वैकुण्ठ-लोक प्राप्त होता है, अव वही कहा जाता है।—द्वितीय-स्कन्ध में श्रीशुकदेवजी ने कहा है,—जो कर्णपुट में

पुनान्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥ ३२१ ॥

तृतीये कपिलदेव-स्तुतौ—

पानेन ते देव ! कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विषदाशया ये ।
वैराग्य-सारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥ ३२२ ॥

स्कान्दे अमृतसारोद्धारे श्रीयमस्य दूतानुशासने—

ये शृण्वन्ति कथां विष्णोर्ये पठन्ति हरेः कथाम् ।
कुलायुतं नावलोक्यं गतास्ते ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३२३ ॥

यस्य विष्णु-कथालापैर्नित्यं प्रमुदितं मनः ।
तस्य न च्यवते लक्ष्मीस्तत्पदञ्च करे स्थितम् ॥ ३२४ ॥

प्रेम-सम्पादकत्वम् ।

द्वादशे ।— यस्तूत्तमःश्लोक-गुणानुवादः सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥ ३२५ ॥

श्रीभगवद्वशीकारित्वम् ।

स्कान्दे ।— यत्र यत्र महीपाल! वैष्णवी वर्त्तते कथा ।
तत्र तत्र हरिर्याति गौर्यथा सुतवत्सला ॥

श्रीविष्णुधर्म्मे श्रीभगवदुक्तौ, स्कान्दे च श्रीभगवदर्ज्जुनसम्वादे—

मत्कथा-वाचकं नित्यं मत्कथा-श्रवणे रतम् ।

भाषा टीका ।

भागवतात्मप्रकाशक श्रीहरि की कथारूप अमृत स्थापन-पूर्व्वक उसको पान करते हैं,—उनका मन विषयों से दूषित होने पर भी, वे उसको शुद्ध करके श्रीहरि का पद प्राप्त करते हैं ॥ ३२१ ॥

तृतीय-स्कन्ध की देव-स्तुति में लिखा है,—हे देव ! जिन पुरुषों का चित्त तुम्हारी कथारूप अमृत-पान द्वारा और वर्द्धनशील भक्तिद्वारा विमलता धारण करता है, वे वैराग्य का सार ज्ञान प्राप्त करके वैकुण्ठ धाम में गमन करते हैं ॥ ३२२ ॥

स्कन्द-पुराण के अमृतसारोद्धार में दूतों के प्रति यमराज के अनुशासन में लिखा है,—हे दूतगण ! तुम हरि की कथा सुनने वाले और हरि की कथा कहने वाले के दश हजार कुलों पर भी दृष्टि न डालना, यह सभी वैकुण्ठ में पहुँच चुके हैं; ऐसा समझ लेना ॥ ३२३ ॥

हरि की कथा के आलाप से नित्य जिनका मन पुलकित होता है, लक्ष्मी उनको कभी नहीं छोड़ती और वैकुण्ठ धाम तो उनके हाथ में है, इस में सन्देह नहीं ॥ ३२४ ॥

श्रीहरि की लीला सुनने की प्रेम-सम्पादकता कहते हैं।—द्वादश-स्कन्ध में लिखा है,—कृष्ण के प्रति विमल भक्तिलाभ होने के निमित्त सदा उनके गुण कीर्त्तन-पूर्व्वक स्तुतिवाद और नित्य वारम्वार उनके गुणों का सुनना ही पारमार्थिक जानना चाहिये ॥ ३२५ ॥

श्रीहरि की लीला सुनने से जो भगवान् को वशीभूत किया जाता है, उसी का वर्णन करते हैं ।—स्कन्द-पुराण में लिखा है,—जिस जिस स्थान में हरि की कथा कीर्त्तन होती है, भगवान् हरि—उस उस स्थान में ही सुतवत्सला धेनु की समान गमन करते हैं। श्रीविष्णु-धर्म्म की भगवदुक्ति और स्कन्दपुराण के भगवान्-

मत्कथा-प्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम् ॥

दशमस्कन्धे श्रीब्रह्मस्तुतौ—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम् ।
स्थानस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित! जितोऽप्यसि तै-
[स्त्रिलोक्याम् ॥ ३२६ ॥

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता ।

तृतीये श्रीसनकादिस्तुतौ—

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किम्वान्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग! त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञा ॥ ३२७ ॥

चतुर्थे श्रीभगवन्तं प्रति सिद्धानां स्तुतौ—

अयं ते कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेशदावाग्नि-दग्धः ।
तृषार्त्तोऽवगाढ़ो न सस्मार दावं न निष्क्रामति ब्रह्म-सम्पन्नवन्नः ॥ ३२८ ॥

अतएवोक्तं प्रथमस्कन्धे श्रीशौनकादिभिः—

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमःश्लोक-विक्रमे ।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥ ३२९ ॥

भाषा टीका।

अर्ज्जुन-सम्वाद में लिखा है कि,—जो मनुष्य नित्य मेरी कथा कीर्त्तन करते हैं, मेरी कथा सुनने में अनुरागी होते हैं और मेरी कथा के प्रति जिनके चित्त में प्रीति रहती है, मैं कभी उन मनुष्यों को त्याग नहीं करता। दशम-स्कन्ध की ब्रह्म-स्तुति में लिखा है,—जो ज्ञान-विषय में यत्न परित्यागपूर्व्वक अपने स्थान परस्थित रहकर जो साधुओं के समीप केवल प्राप्त होते ही स्वयं श्रवण-विवर में प्रवेश करती है, कायमनो वाक्य से सज्जन-गण द्वारा नित्य प्रकाशित तुम्हारी उस कथा का जो सत्कारसहित आश्रर्य करते हैं, अन्य कर्म्म न करने पर, त्रिभुवन में वे दूसरे से अजित होकर भी तुमको जीतते हैं अर्थात् वे सहज में ही तुमको प्राप्त होते हैं ॥ ३२६ ॥

अब श्रीहरि-लीला सुनने की परमपुरुषार्थता वर्णित होती है।—तृतीय-स्कन्ध में सनकादिक की स्तुति में प्रकाशित है,—हे भगवन्! तुम्हारे यशः—कीर्त्तन करने के योग्य और तीर्थस्वरूप हैं। जो सब भवच्च-रणाश्रित निपुण पुरुष आपकी कथा में रसज्ञ हैं—वे इन्द्रादिपद की वात तो दूर रहे, तुम्हारे आत्यन्तिक प्रसादरूप मुक्ति के पद को भी नहीं गिनते। विशेषतः तुम्हारी भ्रूभङ्गमात्र से देवेन्द्रत्वादि पद में भी भय विद्यमान रहता है ॥ ३२७ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध में भगवान् के प्रति सिद्धों की स्तुति में प्रकाशित है,—हे प्रभो! हमारा मनोमातङ्ग (मन-रूपी हाथी) क्लेशरूपी दावाग्नि में दग्ध और प्यास से अत्यन्त कातर हुआ है, इसकारण हरि-संकीर्त्तनरूप विशुद्ध अमृत-नदी में अवगाहन (स्नान) करें, क्यों कि ऐसा होने से भवसन्तापरूप दावाग्नि सम्यक् दूर होगी और परब्रह्म के साथ ऐक्य होकर उस में से फिर निकलना नहीं पड़ेगा ॥३२८ ॥

अतएव प्रथम-स्कन्ध में शौनकादि ने कहा है कि,—हे सूत! यद्यपि याग योगादि से हम तृप्त होचुके हैं,—किन्तु उत्तमःश्लोक श्रीहरि के चरित्र सुनने से अभी तक हमारी तृप्ति का अन्त नहीं हुआ। क्यों कि—उनको सुनते सुनते रस जानने वालों के पक्ष में पद पद में स्वादु, से भी स्वादु वोध होता है ॥ ३२९ ॥

किञ्च।— को नाम तृप्येद्रसवित् कथायां-महत्तमैकान्तपरायणस्य।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुर्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ॥ ३३० ॥

तृतीये श्रीविदुरेण—
क्रीड़न् विधत्ते द्विज-गो-सुराणां क्षेमाय कर्म्माण्यवतार-भेदैः।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ३३१ ॥

दशमस्कन्धे च श्रीपरीक्षिता—
ब्रह्मन्! कृष्ण-कथाः पुण्या माध्वीर्लोक-मलापहाः।
को नु तृप्येत शृण्वान् कृतज्ञो नित्यनूतनाः ॥ ३३२ ॥

अतो हि श्रीपृथुराजेन प्रार्थितम्—
न कामये नाथ! तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥ ३३३ ॥

अतएव निश्चित्योक्तं पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये अम्बरीषं प्रति श्रीनारदेन—
नातः परं परमतोष-विशेषपोषं पश्यामि पुण्यमुचितश्च परस्परेण।
सन्तः प्रसज्य यदनन्तगुणाननन्तश्रेयोविधीनधिकभावभुजो भजन्ति ॥ ३३४ ॥

भाषा टीका।

और भी लिखा है,—योगीश्वर शिव और ब्रह्मा इत्यादि जिनके कल्याणकारक गुणों की सीमा नहीं पा सकते; महात्मागणों के एकमात्र आश्रय प्राकृत-गुणहीन—उन भगवान् हरि की कथा में कौन रसवित विशेष तृप्ति को प्राप्त हो सकता है? ॥ ३३० ॥

तृतीय-स्कन्ध में मैत्रेयजी से विदुरजी ने कहा है कि,—हे ब्राह्मण! वे भगवान् मीनादि अवतारों में अवतीर्ण होकर क्रीड़ापूर्वक गौ, ब्राह्मण और देवताओं का हित करने के लिये जिस प्रकार जिस जिस कार्य्य का अनुष्ठान करते हैं,—वह भी हम से वर्णन कीजिये। पुण्यश्लोक-शिरोमणि श्रीहरि का चरितामृत जितना ही क्यों न सुने—किसी से भी मन की तृप्ति का अन्त नहीं होता ॥ ३३१ ॥

दशम-स्कन्ध में परीक्षित ने कहा है कि,—हे ब्रह्मन्! श्रीकृष्ण की कथा महाफल की देने वाली, कानों को सुखदायक, मनुष्यों के पापों की नाशक और नित्य नूतन नूतन-रूप में प्रतीयमान होती है; अतएव कौन श्रुति-सार को जानने वाला पुरुष उसको सुनकर तृप्ति का शेष कर सकता है? ॥ ३३२ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध में राजा पृथु की प्रार्थना में लिखा है,—हे नाथ! मैं मोक्षकामी नहीं हूँ। मुक्ति पद में साधु-महापुरुष गणों के मुखकमलद्वारा हृदय-मध्य से आप के चरणारविन्द की मकरन्द मिलने की आशा न होने पर अर्थात् आपका यशः कर्ण इत्यादि के द्वारा सुख प्राप्ति की सम्भावना न होने पर, उस पद की भी मैं इच्छा नही करता हूँ। आपके समीप केवलमात्र मेरी यही प्रार्थना है कि,—आपका यशः सुनने के लिये मुझ को दश हजार कान प्रदान कीजिये। यही मेरा प्रार्थनीय 'वर' है ॥ ३३३ ॥

पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में देवर्षि नारद जी ने अम्बरीष से निश्चय करके कहा है कि,—भागवत-गण परस्पर आसक्त और विशेष-भक्तियुक्त होकर जो अनन्त ईश्वर की असीम मङ्गलप्रद गुण-राशि को भजन करते हैं, उसकी अपेक्षा महातुष्टि का विशेष रूप से पोषण करने वाले उचित पुण्य और दिखाई नहीं देता ॥ ३३४ ॥

प्रथमस्कन्धे श्रीसूतेन—

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्म्मणः।
गुणकर्म्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ताबुभूषुभिः ॥ ३३५ ॥

दशमस्कन्ध-शेषे च श्रीबादरायणिना—

इत्थं परस्य निजधर्म्म-रिरक्षयात्त-लीलातनोस्तदनुरूपविडम्वनानि।
कर्म्माणि कर्म्मकषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥इति ॥३३६॥

अतः कृष्ण-कथायान्तु सत्यामन्य-कथाश्रुतिम्।
तदश्रुतिश्च वैमुख्यं तस्यां तृप्तिमपि त्यजेत् ॥ ३३७ ॥

अथ श्रीभगवत्कथात्यागादि-दोषः।

तृतीयस्कन्धे कपिल-देवहूति-सम्वादे—

नूनं दैवेन निहता ये चाच्युत-कथासुधाम्।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥ ३३८ ॥

तत्रैव श्रीवैकुण्ठवर्णने—

यत्र व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादाच्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारास्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥ ३३९ ॥

किञ्च, स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

वाच्यमानन्तु ये शास्त्रं वैष्णवं पुरुषाधमाः।

भाषा टीका।

प्रथम-स्कन्ध में सूतजी ने कहा है,—हे तापस गण ! प्रभु श्रीहरि की गुणकर्म्माश्रित अपरापर जो सव कथा हैं,—उनका सुनना वुभूषु (सद्भावकामी) पुरुष-मात्र को ही अवश्य उचित है ॥ ३३५ ॥

दशम-स्कन्ध के अन्त में श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि,—जिन्होंने अपने धर्म्म की रक्षा के लिये लीला-विग्रह अर्थात् लीला से देहधारण किया है,—उनके चरण कमल के अनुवर्त्तन की इच्छा करने वाले होकर, इन यादवप्रवर श्रीहरि के अनुरूप क्रिया और आचरण का सुनना कर्त्तव्य है ॥ ३३६ ॥

सुतरां हरि की कथा कीर्त्तन के समय अन्यान्य वातों का सुनना, हरि की कथा का न सुनना, हरि की कथा में विमुखीभाव, हरि की कथा में तृप्ति, (थोड़ी सुनकर विरागहेतु सुनने में अनिच्छा) इन सव वातों को छोड़ देना चाहिये ॥ ३३७ ॥

अव भगवान् की कथा को त्यागादि करने से जो दोष होता है, उसी का वर्णन किया जाता है।— तृतीय-स्कन्ध के कपिलदेवहूति-सम्वाद में लिखा है,—मलभोजी शूकर जिस प्रकार विष्ठा सेवन के लिये अनुराग दिखाता है,—ऐसे ही जो हरि कथा-मृत छोड़ कर असद्गाथा सुनते हैं, वे दैव के द्वारा हत हैं—इस में सन्देह नहीं ॥ ३३८ ॥

इसी स्कन्ध के वैकुण्ठवर्णन प्रसङ्ग में लिखा है,— जो श्रीहरि के सृष्टि-इत्यादि पापहारक लीला-गुणों से पराङ्मुख होकर मति-भ्रंश करने वाली अर्थ-कामादिविषयिणी कुकथा सुनते हैं,—उनको वैकुण्ठ गति प्राप्त नहीं होती। हाय ! उनका कैसा दुर्भाग्य ? अपर विषयों की कुकथा सुनने के कारण उनका पूर्वार्जित पुण्य क्षय होता है और वे कुकथा ही उन को आश्रयविहीन नरक में निमग्न करती है ॥३३९॥

स्कन्द पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है,—

न शृण्वन्ति मुनिश्रेष्ठ ! तेषां स्वामी सदा यमः ॥ ३४० ॥

न शृण्वन्ति न हृष्यन्ति वैष्णवीं प्राप्य ये कथाम् ।
धनमायुर्यशो धर्म्मः सन्तानश्चैव नश्यति ॥
न शृणोति हरेर्यस्तु कथां पापप्रणाशिनीम् ।
अचिरादेष देवर्षे ! समूलस्तु विनश्यति ॥

द्वितीयस्कन्धे श्रीशौनकोक्तौ—

विले वतोरुक्रम-विक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वा सती दार्द्दुरिकेव सूत ! न चोपगायत्युरुगाय-गाथाः ॥ ३४१ ॥

तृतीये श्रीब्रह्म-स्तुतौ—

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात् सर्व्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्व्वन्ति कामसुख-लेशलवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत ॥ ३४२ ॥

तान् शोच्य-शोच्यानविदोऽनुशोचे हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषामायुर्वृथावाद-गतिस्मृतीनाम् ॥ ३४३ ॥

श्रीमैत्रेयोक्तौ च—

को नाम लोके पुरुषार्थ-सारवित् पुरा कथानां भगवत्कथासुधाम् ।

भाषाटीका ।

हे तापसप्रवर ! जो पुरुषाधम कीर्त्तन किये हुए वैष्णव-शास्त्र नहीं सुनते, यमराज ही सदा उनके प्रभु अर्थात् वे सदा नरक में यम-यन्त्रणा को प्राप्त होते हैं ॥ ३४० ॥

वैष्णवी कथा को प्राप्त होकर श्रवण वा आनन्द-प्रकाश न करने पर—धन, परमायु, कीर्त्ति, धर्म्म और सन्तान का विनाश होता है। हेदेवर्षे ! पापनाशिनी हरि की कथा श्रवण न करने पर, तत्काल समूल नष्ट होता है । द्वितीय-स्कन्ध में शौनकजी के कहने से स्पष्ट प्रकट है,—हरि के गुणानुवाद-श्रवण न करने पर, कानों के दोनों छेद बृथा गर्त्तमात्र हैं। और हरि की गाथा का गान न करने पर, वह दुष्ट रसना भेक-जिह्वा (मेड़क की रसना) में गिनी जाती है ॥ ३४१ ॥

तृतीय-स्कन्ध की ब्रह्म-स्तुति में वर्णित है,—हे प्रभो ! तुम्हारे गुण श्रवण कीर्त्तनादिरूप सर्वदुःखनाशक प्रसङ्ग से जिनका इन्द्रिय-ग्राम विमुख है, दुर्भाग्यवशतः वे अत्यन्त हतबुद्धि हैं,—इस में सन्देह नहीं । हाय ! कैसे दुःख की बात है कि,—दीन मनुष्य लोभ-वशतः हत-चित्त होकर लोक-काम-सुख प्राप्त करने के लिये सदा अशुभकारक शास्त्रविगर्हित [निन्दित] कर्म्म करते हैं ॥ ३४२ ॥

तृतीय-स्कन्ध की विदुरोक्ति में लिखा है,—पापों के कारण कृष्ण-कथा से विमुख मनुष्य भागवतादि का तात्पर्य्य जानने में असमर्थ हैं, सुतरां वे शोच्य पुरुषों के भी शोचनीय हैं, मैं उन्ही सब पुरुषों के लिये शोक-प्रकाश करता हूँ । हाय ! काल उनकी परमायु बृथा हरण करता है और उनके वाक्य, देह और मन का व्यापार भी विफल होता है ॥ ३४३ ॥

मैत्रेयजी की उक्ति में लिखा है,—अहो ! पशु के अतिरिक्त पुरुषार्थ के सार का जानने वाला और कौन पुरुष पुराण-कथित संसारनाशक हरि-कथा-

आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो ! विरज्येत विना नरेतरम् ॥ ३४४ ॥
यशः शिवं सुश्रव आर्य्यसङ्गमे यदृच्छया चोपशृणोति तेऽसकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं श्रीर्यत् प्रवव्रे गुण-संग्रहेच्छया ॥ ३४५ ॥

दशमारम्भे श्रीपरीक्षितः प्रश्ने—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमःश्लोक-गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥ ३४६ ॥

अतएवोक्तं देवैः पञ्चमस्कन्धे—

न यत्र वैकुण्ठ-कथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेश-मखा महोत्सवाः सुरेश-लोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥ इति ॥ ३४७ ॥

अतो निषेव्यमाणाश्च सर्व्वथा भगवत्कथाम् ।
मुहुस्तद्रसिकान् पृच्छेन्मिथो मोद-विवृद्धये ॥ ३४८ ॥

अथ श्रीभगवत्कथासक्तिः ।

दशमस्कन्धे—

सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणी-श्रुति-चेतसामपि ।

भाषा टीका ।

रूप अमृत श्रवणाञ्जलि के द्वारा पान करके विरत होता है ? ॥ ३४४ ॥

चतुर्थ-स्कन्ध की पृथु-स्तुति में लिखा है,—हे भगवन् ! साधुसङ्ग-द्वारा अपनी इच्छानुसार एक बार आपका परमस्वरूप यशः जिसके कर्ण-गोचर होता है, वह गुणवेत्ता होने पर—क्या फिर उससे शान्त हो सकता है ? वस्तुतः पशु के अतिरिक्त उससे निवृत्ति की वासना और किसी की भी नहीं होती। क्यों कि,—समस्त पुरुषार्थ एकत्र संग्रह की इच्छा से स्वयं लक्ष्मी-देवी ने इस यशः की याचना की थी ॥३४५॥

दशम-स्कन्ध के प्रारम्भ में परीक्षित् के प्रश्न से प्रकाशित है,—हे भगवन् ! त्रिभुवन के बीच हरि के चरित्र सुनने में किसी पुरुष को ही अलम्बुद्धि का उदय नहीं होता, विशेष कर मुक्त पुरुष सदा ही उत्तमःश्लोक हरि के गुणानुवादों को गान करते हैं । यह गुणानुवाद-कीर्त्तन ही संसार-रोग विनाश करने की औषधीस्वरूप है । सुतरां वही मुमुक्षु पुरुष की मुक्ति का एकमात्र उपाय है । श्रीहरि के गुणानुवाद कान और चित्त को तृप्त करते हैं, अतएव वही विषयी जनों के परम विषय-स्वरूप है । सुतरां (जब मुमुक्षु, मुक्त, विषयी,—तीनों मनुष्यों के पक्ष में ही हरि के गुणानुवाद आदरणीय हुए तब—) आत्मघाती वा पशुघाती के अतिरिक्त कौन उससे पराङ्मुख हो सकता है ? ॥ ४३६ ॥

पञ्चम-स्कन्ध में देवता ओं के वाक्य से प्रकाशित है,—देव-देव वैकुण्ठ-पति की कथारूप अमृतवाहिनी नदी जिस स्थान में नहीं बहती, नृत्यादि उत्सवपूर्ण भगवान् यज्ञपति की यज्ञरूप पूजा जहाँ अनुष्ठित नहीं होती,—वह सुर-धाम होने पर भी सेवन के उपयुक्त नहीं है ॥ ३४७ ॥

सुतरां भगवान् की कथा सर्वथा सुनी होने पर भी, भगवत्कथा-रस के रसज्ञ महात्मा ओं से वारम्वार उसको पूछे, क्यों कि—ऐसा होने से परस्पर का हर्ष बढ़ता है ॥ ३४८ ॥

अब भगवत्-कथासक्ति का विषय कहा जाता है ।—दशम-स्कन्ध में लिखा है,—केवल-मात्र हरि की कथा ही—सारग्राही सज्जनों के वाक्य, श्रवणेन्द्रिय और मन

प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्त्ता ॥ ३४९ ॥

अतएव तत्रैव—

तुल्यश्रुत-तपः-शीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥ इति ॥ ३५० ॥
तथा वैष्णव-धर्म्मांश्च क्रियमाणानपि स्वयम् ।
संपृच्छेत्तद्विदः साधूनन्योन्य-प्रीति-वृद्धये ॥ ३५१ ॥
श्रद्धया भगवद्धर्म्मान् वैष्णवायानुपृच्छते ।
अवश्यं कथयेद्विद्वानन्यथा दोषभाग् भवेत ॥

तदुक्तम्।—नाख्याति वैष्णवं धर्म्मं विष्णु-भक्तस्य पृच्छतः ।
कलौ भागवतो भूत्वा पुण्यं याति शताब्दिकम् ॥ ३५२ ॥

अथ श्रीभगवद्धर्म्म-प्रतिपादनमाहात्म्यम् ।

स्कान्दे ब्रह्म-नारद-सम्वादे—

वैष्णवे वैष्णवं धर्म्मं यो ददाति द्विजोत्तमः ।
ससागरमहीदाने यत् फलं लभतेऽधिकम् ॥ ३५३ ॥

किञ्च तत्रैव—

अज्ञानाय च यो ज्ञानं दद्याद्धर्म्मोपदेशनम् ।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं हि तत् स्मृतम् ॥ ३५४ ॥

भाषा टीका ।

का विषय है, स्त्रैण व्यक्ति जिस प्रकार स्त्री की वार्तों को ही नवीन नवीन जानकर आनन्द मानते हैं, इसी प्रकार देव-देव हरि की कथा ही सारग्राही पुरुषों के निकट क्षण क्षण में नूतन वोध होती है ॥ ३४९ ॥

उसी स्कन्ध में लिखा है,—वहाँ के तपस्वियों ने स्वाध्याय, तपस्या और चरित्र विषय में समान एवं शत्रु, मित्र और उदासीन के प्रति समभावापन्न होनें के कारण, प्रवचनोपयुक्त होने पर कौतुकसहित एक पुरुष को वहुत रूपों में निर्देश कर, अन्य ने हरि की कथा सुनना आरम्भ किया ॥ ३५० ॥

स्वयं वैष्णव-धर्म्म का अनुष्ठान करने पर भी उस धर्म्म के जानने वाले पुरुष परस्पर प्रीति वढ़ने के लिये उनके निकट प्रश्न करें ॥ ३५१ ॥

श्रद्धायुक्त होकर वारम्वार वैष्णव-धर्म्म-सम्वन्ध में प्रश्न करने पर, वैष्णव के समीप भगवद्धर्म्म कीर्त्तन करना बुद्धिमान् पुरुष का अवश्य कर्त्तव्य है, नहीं तो—दोष का भागी होना पड़ता है। इस विषय में और भी कहा है कि,—हरि-भक्ति के वैष्णव-धर्म्म-विषय में पूछने पर कलिकाल में उसके समीप यह धर्म्म कीर्त्तन न करने पर, भगवद्भक्त का शतवर्षार्जित पुण्य-ध्वंश होता है ॥ ३५२ ॥

अव भगवद्धर्म्म के प्रतिपादन का माहात्म्य वर्णित होता है।—स्कन्द-पुराण के ब्रह्म-नारद-सम्वाद में लिखा है,—द्विजाति होकर वैष्णव को भगवद्धर्म्म अर्पण करने पर, ससागरा पृथ्वी-दान के फल से भी अधिक फल मिल सकता है ॥ ३५३ ॥

इसी स्थान में और भी लिखा है,—अज्ञानी को धर्म्मोपदेश देने से सम्पूर्ण पृथ्वी-दान के सदृश पुण्य-सञ्चय होता है ॥ ३५४ ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

तत्कथां श्रावयेद्यस्तु तद्भक्तान् मानवोत्तमः ।
गो-दान-फलमाप्नोति स नरस्तेन कर्म्मणा ॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-सम्वादे—

ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवम् ।
अपि देवास्तमर्च्चन्ति भव-बन्धविदारकम् ॥ ३५५ ॥

वृहन्नारदीये—

सत्सङ्ग-देवार्च्चन-सत्कथासु परोपदेशेऽभिरतो मनुष्यः ।
स याति विष्णोः परमं पदं तद्देहावसानेऽच्युत-तुल्यतेजाः ॥ इति ॥ ३५६ ॥

ते च श्रीभगवधर्म्मा भगवद्भक्त-लक्षणैः ।
व्यञ्जिताः कतिचिन्मुख्या लिख्यन्तेऽत्रापरेऽपि ते ॥ ३५७ ॥
ते तु यद्यपि विख्याताःश्रीमद्भागवतादिषु ।
तथापि यत्नादेकत्र संगृह्यन्ते ससाधनाः ॥ ३५८ ॥

अथ भगवद्धर्म्माः ।

ते चोक्ताः काशीखण्डे द्वारका-माहात्म्ये चन्द्रशर्म्मणा—

अद्यप्रभृति कर्त्तव्यं यन्मया कृष्ण ! तच्छृणु ।
एकादश्यां न भोक्तव्यं कर्त्तव्यो जागरः सदा ॥
महोत्सवः प्रकर्त्तव्यः प्रत्यहं पूजनं तव ।

भाषा टीका ।

विष्णु-धर्म्मोत्तर में लिखा है,—हरि-भक्तों को हरि की कथा सुनाने से—वह उत्तम मनुष्य गो-दान का फल प्राप्त करता है । पद्म-पुराण के देवदूत-विकुण्डल-सम्वाद में लिखा है,—जो अज्ञानी को वेद-ज्ञान अर्पण करते हैं,—वे संसार-बन्धन तोड़ने वाले पुरुष; देवताओं के भी पूजनीय हैं ॥ ३५५ ॥

वृहन्नारदीय-पुराण में लिखा है,—सत्सङ्ग में, देव-पूजा में, सत्कथा में और परोपदेश में अनुरागी होने पर, देह के अन्त में हरि के सदृश तेजःपुञ्जशाली होकर हरि के परम पद में गति लाभ होती है ॥ ३५६ ॥

पूर्व्वोक्त भगवद्भक्तलक्षण—द्वारा कितने ही मुख्य भगवद्धर्म्म प्रकट हुए हैं, अब और कतिपय भगवद्धर्म्म वर्णित होते हैं ॥ ३५७ ॥

श्रीमद्भागवत इत्यादि में अनेकानेक भगवद्धर्म्म कीर्त्तित होने पर भी सुलभार्थ साधन के सहित वे सब यत्नपूर्व्वक एकत्र संगृहीत हुए हैं ॥ ३५८ ॥

भगवद्धर्म्म-समूह ।—काशीखण्ड के द्वारका-माहात्म्य में चन्द्रशर्म्मा ने कहा है,—हे कृष्ण ! मैं अब से जिस जिस कार्य्य का अनुष्ठान करूँगा—वह सुनिये । एकादशी के दिन भोजन नहीं करूँगा, सदा जागरण करूँगा, प्रति दिन महोत्सव सहित तुम्हारी पूजा करूँगा, एकादशी जन्माष्टमी—इत्यादि तुम्हारा दिन यदि अर्द्धपलद्वारा भी विद्ध होगा—तो भी उस दिन मैं भोजन करूँगा, तुम्हारी प्रसन्नता के अर्थ व्रतयुक्त अष्ट महाद्वादशी की रक्षा करूँगा, धन-द्वारा और प्राण-पण करके भी भागवती भक्ति का अनुष्ठान करूँगा, नित्य त्वत्प्रिय सहस्र नाम

पलार्द्धेनापि विद्धन्तु भोक्तव्यं वासरं तव ॥
त्वत्प्रीत्याऽष्टौ मया कार्य्या द्वादश्यो व्रतसंयुताः।
भक्तिर्भागवती कार्य्या प्राणैरपि धनैरपि ॥
नित्यं नाम-सहस्रन्तु पठनीयं तव प्रियम्।
पूजा तु तुलसी-पत्रैर्मया कार्य्या सदैव हि ॥
तुलसी काष्ठ-सम्भूता माला धार्य्या सदा मया।
नृत्यगीतं प्रकर्त्तव्यं संप्राप्ते जागरे तव ॥
तुलसी-काष्ठसम्भूतचन्दनेन विलेपनम्।
करिष्यामि तवाग्रे च गुणानां तव कीर्त्तनम् ॥
मथुरायां प्रकर्त्तव्यं प्रत्यब्दं गमनं मया।
त्वत्कथाश्रवणं कार्य्यं तथा पुस्तकवाचनम् ॥ ३५९ ॥
नित्यं पादोदकं मूर्द्धा मया धार्य्यं प्रयत्नतः।
नैवेद्य-भक्षणञ्चापि करिष्यामि यत्नतः ॥
निर्म्माल्यं शिरसा धार्य्यं त्वदीयं सादरं मया।
तव दत्त्वा यदिष्टन्तु भक्षणीयं मुदा मया ॥ ३६० ॥
तथा तथा प्रकर्त्तव्यं तव तुष्टिः प्रजायते।
सत्यमेतन्मया कृष्ण ! तवाग्रे परिकीर्त्तितम् ॥ ३६१ ॥

सप्तम-स्कन्धे श्रीप्रह्लादेन—

गुरु-शुश्रूषया भक्त्या सर्व्वलाभार्पणेन च।

भाषा टीका।

अध्ययन करूँगा, नित्य तुलसी से तुम्हारी पूजा करूँगा, तुलसी के काष्ठ की माला धारण करूँगा, एकादशी—इत्यादि त्वदीय जागरण-रात्रि में नृत्य-गीत का अनुष्ठान करूँगा, अङ्ग में तुलसी-काष्ठ का चन्दन लेपन करूँगा, तुम्हारे सन्मुख तुम्हारे गुणों का कीर्त्तन करूँगा, प्रतिवर्ष मथुरापुरी में जाऊँगा, और त्वदीय कथा श्रवण एवं त्वत्सम्बन्धीय पुस्तक अध्ययन करूँगा ॥ ३५९ ॥

प्रति दिन यत्नसहित तुम्हारा चरणामृत मस्तक पर धारण करूँगा, यथानियम तुम्हारी नैवेद्य सेवन करूँगा, आदरपूर्वक मस्तक में तुम्हारी निर्म्माल्य धारण करूँगा और तुमको प्रथम निवेदन करके प्रिय द्रव्य भोजन करूँगा ॥ ३६० ॥

हे कृष्ण ! मैं तुम्हारे सन्मुख सत्य करके कहता हूँ कि,—जिस जिस कार्य्य से आप प्रसन्न होंगे, विधानानुसार-मैं उन्हीं का अनुष्ठान करूँगा ॥ ३६१ ॥

सप्तम-स्कन्ध में प्रह्लाद ने कहा है कि,—गुरु-सेवा, गुरु-भक्ति, गुरु को प्राप्त द्रव्य दान, सदाचारी भागवत पुरुष का सङ्ग, ईश्वरोपासना भगवत्कथा में श्रद्धा, भगवान् के गुण-कर्म्म-कीर्त्तन, उनके चरण-कमलों की चिन्ता, उनकी मूर्त्तिओं का दर्शन और पूजादि, सर्वभूत में भगवान् को विराजमान-विचारना और सब प्राणीओं का वाञ्छित अर्पण द्वारा

श्रद्धया तत्कथायाञ्च साधु-सङ्गेन चैव हि।
तत्पादवन्दनाद्यैश्च तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥ ३६२ ॥
हरिः सर्व्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधुमानयेत् ॥ ३६३ ॥

एकादशे च श्रीकवियोगेश्वरेण—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया आत्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥ ३६४ ॥

तत्रैव प्रबुद्धयोगेश्वरेण—

सर्व्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥
शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्ज्जवम्।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥
सर्व्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतनम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दान्यत्र चापि हि।
मनो-वाक्-काय-दण्डञ्च सत्यं शम-दमावपि ॥
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्म्मणः।
जन्मकर्म्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।

भाषा टीका।

सम्यक् सन्मान करना चाहिये ॥ ३६२—३६३ ॥

एकादश-स्कन्ध में कवि-योगेश्वर ने कहा है कि,—हे नृपते! मूढ़बुद्धि मनुष्य सहज में ही आत्म लाभ करें—इस लिये भगवान् ने जिन सब उपायों का उपदेश किया है,—उसी को भागवत धर्म्म जानना चाहिये ॥ ३६४ ॥

उक्त स्कन्ध में ही प्रबुद्ध-योगेश्वर की उक्ति में प्रकाशित है कि,—हे राजन्! प्रथम सर्व विषय से चित्त का अनुराग घटा कर, साधु-सङ्ग करना चाहिये। फिर क्रम क्रम से—हीन जनों में करुणा, समकक्ष अर्थात् बराबर वालों से सौहार्द्द, अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति सम्मान की शिक्षा, बाह्याभ्यन्तर-शौच, तपः, (स्वधर्म्मानुष्ठान) तितिक्षा, (क्षमा) मौन, (वृथा वाक्य त्याग) स्वाध्याय, आर्जव, (सरलता) ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा, शीत, उष्ण, सुख, दुःखादि सहने में शिक्षा, सर्वत्र सच्चित्-रूप आत्मा का दर्शन, ईश्वर को नियन्तृ-रूप में देखना, जन-शून्य स्थान में स्थिति, घर-इत्यादि में निरभिमान, पवित्र वल्कल धारण और जिस किसी प्रकार से हो सन्तोष की शिक्षा करे। भागवत शास्त्र में श्रद्धा, अन्य शास्त्र में अनिन्दा, (प्राणायाम-द्वारा—) मन का, (मौन द्वारा—) वाक्य का और (कर्म्म अकरण से—) देह का दण्ड, सत्य कथन, शम (अन्तरिन्द्रिय-निग्रह) और दम (बाह्येन्द्रिय-निग्रह) की शिक्षा करनी चाहिये। विचित्रकर्म्मा श्रीहरि के जन्म, कर्म्म और गुण-समूह श्रवण-कीर्त्तन और चिन्तन करे और उन्हीं के उद्देश से सम्पूर्ण कर्म्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। एक-

दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥ ३६५ ॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्य्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥ ३६६ ॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥ ३६७ ॥

श्रीभगवता च—
मल्लिङ्ग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्च्चनम् ।
परिचर्य्या स्तुतिः प्रह्वो गुणकर्म्मानुकीर्त्तनम् ॥
मत्कथा-श्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव !
सर्व्वलाभोपहरणं दास्येनात्म-निवेदनम् ॥
मज्जन्म-कर्म्म-कथनं मम पर्व्वानुमोदनम् ।
गीत-ताण्डव-वादित्र-गोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥
यात्रा-वलि-विधानञ्च सर्व्ववार्षिकपर्व्वसु ।
वैदिकी तान्तिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥
ममार्च्चा-स्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीड़पुरमन्दिरकर्म्मणि ।
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः ॥ ३६८ ॥

भाषा टीका।

मात्र परमेश्वर के उद्देश में ही—इष्ट, * दत्त, जप, तपः, सदाचार, प्रियद्रव्य, भार्य्या, सन्तति, गृह और प्राण निवेदन करे ॥ ३६५ ॥

इस प्रकार हरि-भक्त पुरुष के सङ्ग सौहार्दस्थापन करे, स्थावर-जङ्गम की सेवा करे। विशेष कर मनुष्यों में धार्म्मिक के प्रति और धार्म्मिकों में साधु के प्रति सेवा के अनुष्ठान का अभ्यास करना चाहिये ॥ ३६६ ॥

फिर परस्पर भगवान् के पवित्र यशः का कथोपकथन, परस्पर प्रीति, तुष्टि और दुःख-निवारण का अभ्यास करना चाहिये ॥ ३६७ ॥

* इष्ट—हरिसम्प्रदानक याग। दत्त—विष्णु और वैष्णवसम्प्रदानक दान। तपः—एकादश्यादि व्रत। जप—हरि-मन्त्रजप।

एकादश-स्कन्ध में भगवान् ने कहा है कि,—हे उद्धव ! मेरी प्रतिमूर्त्ति अथवा मेरे भक्त का दर्शन, पूजा, सेवा, स्तुति, प्रणाम और गुणानुवाद करे। मेरी कथा सुनने में श्रद्धा, मदनुध्यान, (मेरा सदा ध्यान करना) मुझको प्राप्त द्रव्य-प्रदान, दास्य-भाव से आत्मार्पण, मेरे जन्म-कर्म्म-कीर्त्तन, जन्माष्टम्यादि मेरे उचित पर्वों का अनुमोदन, मेरे मन्दिर में नृत्य, गीत, वाद्य और सपरिवार मन्दिर में उत्सव;—यह सब कार्य्य करे। साम्वत्सरिक अर्थात् वर्ष दिन के सम्पूर्ण पर्व-दिनों में मेरी यात्रा, बलिविधान, (पुष्पादिउपहार-प्रदान) वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा, मेरा व्रत धारण, मेरी प्रतिमा के प्रतिष्ठा करने में श्रद्धा, स्वयं वा अन्यान्य पुरुषों के सहित एकत्र होकर उद्यान, उपवन, क्रीड़ा-गृह, पुर और मन्दिरादि मदीय प्रासादसाधन क्रिया (स्थान आदि के निर्म्माण) में उद्यम, सम्मार्जन, गोवर से लीपना, जल-सिञ्चन, सर्व्वतोभद्रमण्डलादि की रचना ॥ ३६८ ॥

गृह-शुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ।
अमानित्वमदाम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्त्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ ३६९ ॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ ३७० ॥

किञ्च ।— श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥
आदरः परिचर्य्यायां सर्व्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्त-पूजाभ्यधिका सर्व्वभूतेषु मन्मतिः ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्व्वकामविवर्जनम् ॥
मदर्थेऽर्थ-परित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥ ३७१ ॥

अपि चाग्रे—

कुर्य्यात् सर्व्वाणि कर्म्माणि मदर्थे शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्म्मात्म-मनो-रतिः ॥
देशान् पुण्यानाश्रयेतमद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥

भाषा टीका ।

सेवककी समान निष्कपट भाव से मेरे मन्दिर की सेवा, मानरहित होना, दम्भहीनता, किये हुए सत्कार्य्य का न कहना;—इन सब का अनुष्ठान करे और मेरे निमित्त जो दीपक प्रदान किया जाय--उसके प्रकाश से दूसरा कोई कार्य्य न करे ॥ ३६९ ॥

जो जो सर्व्वजनवाञ्छित और जो जो वस्तु अपने को अत्यन्त प्रिय है,—वह सब मुझको निवेदन करने से अक्षय फल मिल सकता है ॥ ३७० ॥

उक्त स्कन्ध में उक्त स्थान के कुछ आगे और भी लिखा है,—सदा मेरी अमृतमयी कथा में रति, सदा मेरे नामों का कीर्त्तन, मेरी पूजा में निष्ठा, अविरत मेरी स्तुति, मेरी सेवा में आदर, मुझको अष्टाङ्ग प्रणाम, मेरी-अधिक रूप से भक्त की पूजा, सर्व्वभूत में मद्बुद्धि अर्थात मुझको देखना, मेरे उद्देश में अङ्गचेष्टा (लौकिक कार्य्य का अनुष्ठान) वाक्य द्वारा मेरे गुण-वर्णन, मुझ में चित्त लगाना, सर्व्व कर्म्म-त्याग, मेरे निमित्त धन—भोग और सुख विसर्ज्जन, मेरे निमित्त ही इष्टापूर्त्त, दान, होम, जप, व्रत और तपः—इन सब का अनुष्ठान करना उचित है ॥ ३७१ ॥

इसी स्थान के और भी कुछ आगे लिखा है,—मुझ में चित्त समर्पण और मुझ को स्मरण-पूर्व्वक धर्म्मबुद्धि होकर मेरे अर्थ धीरे धीरे समस्त कर्म्मों का अनुष्ठान करे। जिस देश में मेरे साधु भक्त वास करते हैं,—उसी पवित्र देश का आश्रय लेवे और देवता, दैत्य तथा मनुष्यों में मेरे भक्त जिस प्रकार आचरण करे,—उसी के अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये। परस्पर एकत्र होकर हो अथवा पृथक्‌रूप से हो--नृत्य-गीतादि और महाराज-विभूति द्वारा मेरे अर्थ यात्रा-महोत्सवादि सम्पादन करे। विमलमति

पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्व्व-यात्रा-महोत्सवान्।
कारयेन्नृत्य-गीताद्यैर्महाराज-विभूतिभिः॥
मामेव सर्व्वभूतेषु वहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥ ३७२॥

अथ श्रीभगवद्धर्म्म-माहात्म्यम्।

उक्तञ्च सप्तम-स्कन्धे श्रीप्रह्लादेन—

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।
वासुदेवे भगवति यया संलभ्यते रतिः [illegible]

एकादशे श्रीनारदेन—

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वाऽनुमो[illegible]
सद्यः पुनाति सद्धर्म्मो देव-विश्वद्रुहोऽ[illegible] ३७४॥

तत्रैव श्रीकवियोगेश्वरेण—

यानास्थाय नरो राजन्! न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥ ३७५॥

प्रबुद्धयोगेश्वरेण—

इति भागवतान् धर्म्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥ ३७६॥

श्रीभगवता च—

एवं धर्म्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।

भाषा टीका।

साधु-पुरुष सर्व्वभूतों के भीतर वाहर और आत्मा में गगनवत् अनावृत भाव से मुझ को निरीक्षण करें॥३७२॥

अब भगवद्धर्म्म के माहात्म्य का वर्णन किया जाता है।—सप्तम-स्कन्ध में प्रह्लाद ने कहा है,—इन सब कार्य्यों से कामादि छै शत्रु ओं को जीत कर भगवान् हरि में प्रीति-प्रदर्शन करे, तभी भगवद्विषयक प्रीति प्राप्त हो सकती है॥ ३७३॥

एकादश-स्कन्ध में नारदजी ने कहा है,—हे देव! अहो! भगवद्धर्म्म की महिमा परमाद्भुत है,—उसका श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, आदर से ग्रहण, स्तवन अथवा अनुमोदन करने पर-जगद्द्रोही पुरुष भी सद्यः [तत्काल] पवित्रता लाभ करता है॥ ३७४॥

इसी स्कन्ध में कवि-योगेश्वर ने कहा है,—हे नृप! भागवत धर्म्म का आश्रय ग्रहणपूर्व्वक नेत्र मूँद-कर दौड़ने पर भी कभी किसी प्रकार के विघ्न से उस पुरुष को स्खलित वा पतित होना नहीं पड़ता॥३७५॥

उक्त स्कन्ध में ही प्रबुद्ध योगेश्वर ने कहा है,—हे राजन्! इस प्रकार से भागवत धर्म्म शीखने पर, उस से प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है और इसी कारण हरि-परायण होकर दुष्कर माया को अतिक्रम किया जा सकता है॥ ३७६॥

इसी स्कन्ध में भगवान् ने स्वयं उद्धव से कहा है,—इस प्रकार धर्म्म का आचरण करने से मेरे प्रति

मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ ३७७ ॥

किञ्चाग्रे।— न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्म्मस्योद्धवाण्वपि।

मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ॥ इति ॥ ३७८ ॥

अलाभे सत्सभायास्तु शुश्रूषुश्च निजालये।

देवालये वा शास्त्रज्ञः कीर्त्तयेद्भगवत्कथाम् ॥ ३७९ ॥

[illegible]सते नात्र सन्[illegible]

[illegible]ीभगवल्लीलाकथाकीर्त्तनमाहात्म्यम्।

[illegible]स्ये श्रीमार्कण्डे[illegible]

उक्तञ्च, स्कान्दे[illegible]मद्भागवतं शा[illegible]नं प्रति—

मत्कोटिशतैर्युक्तः [illegible] वैष्णवानां सदाग्रतः।

इह भ[illegible] ब्रह्मसूत्राणां [illegible]देतः [illegible] न संशयः ॥

प्रथम-स्कन्धे श्रीनारदेन[illegible]यरूपोऽसौपि [illegible]

[illegible]पः स[illegible]

इदं हि पुंसस्तपसः [illegible] वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुध-दत्तयोः।

अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमःश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ ३८० ॥

किञ्च।— एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।

भवसिन्धु-प्लवो दृष्टो हरि-चर्य्यानुवर्णनम् ॥ ३८१ ॥

भाषा टीका।

आत्मार्पण करने वाले की भक्ति बढ़ती है, उसका फिर अर्थान्तर-शेष नहीं रहता अर्थात् वह सब विषयों में ही पूर्ण-कृतार्थता लाभ करता है ॥ ३७७ ॥

इस स्थान के कुछ आगे और भी लिखा है कि,—भगवान् ने कहा; हे सखे ! मेरे इस धर्म्म के प्रारम्भ में वैगुण्योत्पत्ति होने पर भी कामनाविहीन मनुष्य के सम्बन्ध में धर्म्म के किञ्चितमात्र भी ह्रास होने की सम्भावना नहीं है, क्यों कि—मदीय वैगुण्य-वशतः मेरे द्वारा ही यह धर्म्म सम्पूर्णरूप में विस्तृत है ॥ ३७८ ॥

यदि सतसभा प्राप्त न हो-तो शास्त्र जानने वाले, अपने घर में वा देव-मन्दिर में जाकर स्वयं ही श्रवणपिपासु पुरुषों के निकट हरि की कथा कीर्त्तन करे ॥ ३७९ ॥

अब श्रीभगवान् की लीला-कथा कीर्त्तन करने का माहात्म्य कहा जाता है।—स्कन्द-पुराण में भगवान् ने अर्ज्जुन से कहा है,—वैष्णव पुरुषों के सन्मुख सदा मेरी कथा-कीर्त्तन करने से इस लोक में भोगवान् हो—पर-लोक में निःसन्देह मुक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रथम-स्कन्ध में नारदजी ने कहा है,—बुद्धिमानों ने इस प्रकार निर्देश किया है कि,—उत्तमःश्लोक भगवान् वासुदेव के गुणानुकीर्त्तन ही तप, स्वाध्याय, (वेद-पाठ) यज्ञ, मन्त्रोच्चारण, ज्ञान, और दान—इत्यादि क्रिया का नित्य फल है ॥ ३८० ॥

और भी लिखा है,—मैंने सम्यक् प्रकार समझा है कि,—जो सब जीव बारम्बार विषयभोग की इच्छा में आर्त्तचित्त है,—इस हरि की लीला का कीर्त्तन ही उनके लिये भवसागर-पार जाने की नौकास्वरूप है ॥ ३८१ ॥

एकादशे श्रीशुकेनापि—

इत्थं हरेर्भगवतो रुचि

अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृ

अतएव श्रीप्रह्लादेन नृसिंह-स्तुतावुक्तम्

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः प

अश्लाध्नितमर्थ्यंतुगृणन् गुणविप्रमु

श्रीगोपिकाभिरपि गीतम्—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कवि

श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि

कीर्त्तनेऽप्यत्र तज्ज्ञेयं माहात्म्यं श्र

सिद्ध्यति श्रवणं नूनं कीर्त्तनात् स्वयं

भाषा टीका ।

एकादश-स्कन्ध में श्रीशुकदेवजी ने कहा है,—हे राजन् ! इस धाम वा अपर लोक में भगवान् वासुदेव की बाल्य-लीला, वीर्य्य (पराक्रम) और कल्याण-कारण अत्यन्त-रुचिर अवतार की कथा श्रवण वा कीर्त्तन करने से मनुष्य परमहंस-गति श्रीहरि में परमा भक्ति को प्राप्त हो सकते हैं ॥ ३८२ ॥

नृसिंह-स्तुति में प्रह्लाद ने कहा है कि,—हे प्रभो ! मैं योनि-मात्र में ही प्रिय-विच्छेद (वियोग) और अप्रिय-समागम देखने से शोकाग्नि में अत्यन्त दग्ध विदग्ध होता हूँ । हे देव ! उक्त विषय में उत्पन्न हुए दुःख को शान्त करने की भी मेरी इच्छा नहीं है, क्यों कि,—दुःख ही दुःख का प्रतिकार करने वाला कह कर निर्दिष्ट है । हे भगवन् ! मैं इस प्रकार से शरीरादि में अहं-बुद्धिमान् होकर आत्माभिमान से मोहित हु

पूर्व्वक मेरी रक्ष

प्रकाश कीजिये ॥ ३८३ ॥

उक्त स्कन्ध में गोपिकाओं के गीत से भी प्रकाशित है कि,—तुम्हारी कथारूपी अमृत तापित पुरुष का जीवनस्वरूप है, ब्रह्मादि देवता भी इसकी स्तुति करते हैं, इसके द्वारा काम-कर्म्म का निरास होता है । यह अमृतमयी कथा सुनने से कल्याण और शान्ति का लाभ होता है । पृथ्वी में जो इसका सविस्तार कीर्त्तन करते हैं,—वही संसार में अवश्य अतिशय दाता होते हैं ॥ ३८४ ॥

सुनने के विषय में जो माहात्म्य लिखा गया है—कीर्त्तन में भी उसी को जानना चाहिये । कीर्त्तन से स्वयं ही श्रवण सम्पन्न होता है—इस में सन्देह नहीं ॥ ३८५ ॥